श्रीश्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिका

एवं

प्रार्थना

❊ श्रील नरोत्तमदास ठाकुर महाशय-विरचित ❊

(श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद की टिप्पणी सहित)

बङ्गला व्याख्या एवं सम्पादक -

श्रीमत् अनन्तदास बाबाजी महाराज

❊

हिन्दी रूपान्तरकार :

ब्रजगोपाल दास अग्रवाल

❊

द्वितीय संस्करण

श्रीकृष्णचैतन्य शास्त्रमन्दिर

श्रीराधाकुण्ड (मथुरा)

श्रीचैतन्याब्द-५२५ (ई० २०१०)
श्रीगुरुपूर्णिमा २०१०
सर्वसत्व संरक्षित

प्रचारानुकूल्य भिक्षा :-
रु. 300/-

प्रकाशक –

श्रीकेशवदास

व्रजानन्द घेरा, पो० राधाकुण्ड

जिला–मथुरा (उ० प्र०), पिन–२८१५०४

प्राप्ति स्थान –

❖ **श्रीकेशव दास**

व्रजानन्द घेरा, पो० राधाकुण्ड

जिला–मथुरा (उ० प्र०), पिन–२८१५०४

❖ **महन्त श्रीश्यामानन्द दासजी महाराज**

४२, केशीघाट ठौर (पीपलवाली कुञ्ज)

वृन्दावन–२८११२१ (उ० प्र०)

तृतीय हिन्दी संस्करण :

❖ **श्रीचैतन्याब्द–५३६ (ई० २०२१)**

कार्तिक मास २०२१

समर्पण

जिनका सुविपुल शास्त्रज्ञान, अगाध पाण्डित्य,
सुविमल भजनानुभूति अति विरल है;
जिनका निर्दोष चरित्र, सरल उदार
मधुर स्वभाव, त्याग वैराग्य
भजननिष्ठा वैष्णव-जगत्
का आदर्श है;

मुझ-जैसे जीवाधम की अज्ञानान्धता
देखकर जिनका स्वाभाविकरूप से
करुण चित्त विगलित हुआ था;
जिन्होंने स्वत:प्रवृत्त होकर
अपने भजन की क्षति
करके भी शास्त्रज्ञान
देकर मुझ-जैसे
नराधम को धन्य
किया है;

जिनकी कृपा से कीट से भी अति नगण्य
मुझ-जैसा जीवाधम व्रजधामवासी
श्रीवैष्णवगण की यत्किञ्चित
सेवा का सौभाग्य पाकर
धन्य हुआ है-

अपने उन्हीं विद्यागुरु काव्य-व्याकरण-
वैष्णवदर्शनतीर्थ न्यायाचार्य १०८
श्रीमत् कृष्णचरणदास बाबाजी महाराज
के श्रीकरकमलों में गङ्गाजल से
गङ्गापूजा की तरह ये ग्रन्थरत्न
परम श्रद्धा-भक्तिपूर्वक
समर्पित हैं।

❋ श्रीश्रीगौरविधुर्जयति ❋

सम्पादकीय निवेदन

'श्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिका' ग्रन्थ श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय का एक अतुलनीय कीर्तिस्तम्भ-विश्व भर के साधकों को उनका एक अनमोल अवदान है। अति उपादेय सारगर्भित उपदेश के रूप में प्रत्येक उपासक के लिये नित्यपाठ्य है। ऐसा सरल, संक्षिप्त, सद्भक्तिपूरित-साधक का परम हितकारी ग्रन्थ जगत् में अति विरल है। श्रील रूप, सनातन, श्रीजीव आदि गोस्वामिपादगण के दुरूह संस्कृत भाषा में रचित भावगम्भीर एवं साधारण पाठक के लिये सुदुर्बोध्य ग्रन्थों का सारसंग्रह भी कहें, तो अत्युक्ति न होगी।

सरल बङ्गभाषा में सुललित पद्यच्छन्दों में रचित होने पर भी इसके उपदेश अति सारगर्भित हैं, मर्म अति सुदूरप्रसारी है। इसलिये इसे श्रीवृन्दावनवासी पूज्य वैष्णववृन्द के कृपाशीर्वाद से इस दीनजन की 'सुधाकणिका' नामक विस्तृत व्याख्या के साथ बङ्गभाषा में श्रील ठाकुर महाशय की 'प्रार्थना' के साथ प्रकाशित किया गया। ग्राहक महानुभावगण के अतिशय आग्रह के कारण प्रथम संस्करण शीघ्र ही बीत गया और द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ।

इधर हिन्दीभाषी भजनशील सज्जनगण ने इसके हिन्दी संस्करण के लिये अत्यन्त आग्रह दिखाया। श्रीवृन्दावनवासी एक विशिष्ट महात्मा ने स्वयं इस दीन की कुटीर पर पदार्पण किया और श्रील व्रजगोपाल दास अग्रवाल महाशय के हिन्दी अनुवाद के साथ प्रेमभक्तिचन्द्रिका ग्रन्थ को प्रकाशित करने का आदेश इस दीनजन को दिया। परम भागवत श्रील अग्रवाल महाशय इससे पहले इस दीनजन द्वारा व्याख्यात श्रीश्रीराधारस- सुधानिधि और श्रीविलापकुसुमाञ्जलि-जैसे अति उपादेय भावगम्भीर दो रसग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद कर हिन्दीभाषी भक्तों के यथेष्ट कृतज्ञता-पात्र बने हैं। मैंने प्रेमभक्तिचन्द्रिका और प्रार्थना ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद के लिये उनसे अनुरोध किया, तो उन्होंने अपने स्वाभाविक उदारता, सरलता और सेवानिष्ठा गुण से इस दुरूह सेवाकार्य का भार सानन्द ग्रहण किया तथा यथासमय अनुवाद प्रस्तुत किया। आपका अनुवाद बड़ा ही सहज और प्राञ्जल है। श्रीकुण्डेश्वरी के श्रीचरणों में प्रार्थना करता हूँ कि वे आपको अपने श्रीचरणों में प्रेमभक्ति दानकर धन्य करें।

हिन्दीभाषी पूज्य वैष्णववृन्द और सहृदय महानुभावगण अपने गुणों से भूल-त्रुटि संशोधित कर ग्रन्थद्वय की रसमाधुरी का आस्वादन करेंगे, तो इस दीन का प्रयास पूरी तरह सार्थक होगा।

वैष्णवकृपाभिक्षु

दीन-सम्पादक

हिन्दी रूपान्तरकार का निवेदन

''वैष्णव जानिते नारे देवेर शकति। मुइँ कोन् छार हओं शिशु अल्पमति॥'' गौर-परिकरों का क्रियाकलाप कौन समझ सकता है? कई वर्ष पूर्व 'श्रीराधारससुधानिधि' के अनुवाद के पश्चात् हमारी इच्छा हुई कि 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका' पर कार्य करें। पूज्य बाबा अनन्तदासजी महाराज के आगे प्रस्ताव रखा, पर परिस्थितिवश वे हमें इस ग्रन्थ की सेवा नहीं दे पाये। श्रीपाद रघुनाथदास गोस्वामी की 'विलापकुसुमाञ्जलि' दे दी। सन् १९९७ के आरम्भ की बात होगी; बाबा स्वयं इस अयोग्य के आवास पर पधारे। कहने लगे-''आपको श्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिका और प्रार्थना का अनुवाद करना है। सुविधा से कीजिये; जो समय लगे, लगने दीजिये।'' महाप्रभु की इच्छा और वैष्णव का आदेश। हमने ग्रन्थद्वय का अनुवाद आरम्भ किया। बड़े आनन्द की बात है कि आज यह पाठकों के आगे है।

सोचते हैं, ठीक ही हुआ। ठाकुर महाशय मर्यादा क्यों त्यागेंगे? यथावस्थित साधकदेह से मञ्जरीभाव-साधना के चरम लक्ष्य तक कैसे पहुँचा जा सकता है, यह बताने के लिये ही तो राधारानी की प्रिय सखी चम्पकमञ्जरी आई हैं ठाकुर महाशय के रूप में! श्रीदासगोस्वामिचरण की कृपा उनके भजनजीवन की आधारशिला है। ''रूप-रघुनाथ पदे रहु मोर आश। प्रार्थना करये सदा नरोत्तमदास॥'' (कबे) ''रूप-रघुनाथ बोलि हइबे आकूति''? ठाकुर महाशय दासगोस्वामिचरण के आगे-आगे कैसे चलते?! आनुगत्य में रहना ही विधि है; आनुगत्य में राग भी है। लगता है, यही रहस्य था। तभी ठाकुर महाशय ने खेल रचकर हमसे पहले दासगोस्वामिपाद की सेवा कराई, पीछे स्वयं की करुणा-धारा में खींचा।

गौड़ीय सम्प्रदाय के पास ग्रन्थरत्नों का भण्डार है। कठिनाई यह है कि ये ग्रन्थ संस्कृत या बङ्गला में हैं। गूढ़-दुरूह भी इतने कि समझ पाना कठिन। समस्या का बहुत-कुछ समाधान किया है पूज्य श्रीअनन्तदास बाबा ने। आपने जीवनभर उक्त अमूल्य ग्रन्थराजि की कठिन विषयवस्तु को अपनी विस्तृत टीका-व्याख्याओं से सुबोध बनाकर साधकों का परम कल्याण किया है। बाबा ने अपनी बङ्गला टीकाओं में जिस प्रचुरता के साथ शास्त्र-वाक्य और महाजन-वाणियाँ दी हैं, वह आपके विस्तृत ज्ञान, पाण्डित्य और अनुभव का परिचायक है। किन्तु बाबा के विषय में यह सब लिखना हमारी अनधिकार चेष्टा है। श्रीगुरु-वैष्णव की कृपा-शक्ति से जो ग्रन्थ-सेवा हम कर पा रहे हैं, वह हमारी मौन एकान्त कृच्छ्र साधना है-यही हमारा सम्बल है।

संस्कृत में हमारी कोई गति नहीं, इसलिये श्लोकादि उतारने में त्रुटियाँ सम्भव हैं। इस बार प्रूफ-रीडिंग भी हमारे हाथों हुआ; त्रुटियाँ सम्भव हैं। अनुवाद-प्रूफ आदि की भूलों के लिये हम क्षमा-प्रार्थी हैं। गौर दयामय!!

- ब्रजगोपाल दास अग्रवाल
अवकाशप्राप्त प्राचार्य
१०६, गौरानगर
वृन्दावन-२८११२१

श्रीगुरुपूर्णिमा
२०१०

बभ्रला संस्करण का

सम्पादकीय निवेदन

ग्रन्थ-वैशिष्ट्य :

श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु के प्रेम की मूर्ति श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय द्वारा विरचित 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका' और 'प्रार्थना' ग्रन्थद्वय वैष्णवजगत की एक अमूल्य भजनसम्पदा है। श्रील ठाकुर महाशय के विशुद्ध-सत्त्वोज्ज्वल चित्त की साध्य-साधनतत्त्व विषयक जो स्वाभाविक गहन अनुभूति है, उसी के रसोद्‌गार हैं ये दोनों ग्रन्थ। इन ग्रन्थों में उन्होंने अति सरल, प्राञ्जल और सुललित बङ्गभाषा में सहज छन्दों में शुद्धभक्ति के या भजन के अति निगूढ़ रहस्यमय तथ्य प्रकाशित किये हैं।

श्रीश्रीराधाकृष्ण-मिलित-विग्रह श्रीश्रीगौराङ्ग महाप्रभु ने जिस अनर्पितचरी व्रज की उन्नत-उज्ज्वल-रसमयी रागभक्ति का विश्व में वितरण किया है, श्रीमन्महाप्रभु की उसी हार्द्द भक्तिसिद्धान्तावलि का जगत् में प्रचार किया है उनके प्रिय पार्षद और अत्यन्त कृपापुष्ट श्रीरूप, सनातन, रघुनाथ, श्रीजीव आदि गौड़ीय वैष्णवाचार्यों ने-अति विपुल ग्रन्थराजि की रचना कर। प्रचार किया है और गौड़ीय वैष्णवसिद्धान्त-रत्न-भण्डार को अतिशय समृद्धशाली बनाया है। किन्तु वे समस्त ग्रन्थ कठिन संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं, साधारण व्यक्ति के लिये दुर्बोध्य हैं। श्रील ठाकुर महाशय ने श्रील गोस्वामिपादगण के ग्रन्थों में निहित रहस्यमय तत्त्व सिद्धान्तों को प्रार्थना के माध्यम से अति सहज सरल बङ्गभाषा में सुललित छन्दों में सभी के लिये सुखबोध्य बनाकर इन दो ग्रन्थो में प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थद्वय मानो श्रीश्रीगौरपार्षद गोस्वामिगण के ग्रन्थराजिरूपी क्षीरसागर के मंथन से निकली अप्राकृत सुधा तुल्य है।

श्रील ठाकुर महाशय ने प्रेमभक्तिचन्द्रिका को स्वयं श्रीमन्महाप्रभु की वाणी कहा है-''श्रीगौराङ्ग प्रभु मोरे जे बलान वाणी। ताहा बिना भालो मन्द किछुइ ना जानि॥'' एक तो श्रीमन्महाप्रभु द्वारा स्फुरित वाणी, दूसरे श्रील ठाकुर महाशय के अन्तर की विशाल अनुभूति-मणि-कञ्चन संयोग से ये दोनों ग्रन्थ ऐसे भजन शक्ति सम्पन्न हो गये हैं कि साधक को हाथ पकड़ कर अभीष्ट श्रीराधामाधव के पादपद्मों के समीप पहुँचा देते हैं!

श्रील ठाकुर महाशय प्रेमतली की निकटवर्ती भजनस्थली में निरन्तर रहते हुए श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु और उनके प्रिय पार्षदों के दु:सह विरह में व्याकुल हो अविरत महाआर्ति से भरे रोदन करते थे। उनका तत्कालीन शोकोच्छ्वास ही प्रेमभक्तिचन्द्रिका और प्रार्थना के रूप में विश्व में प्रकट हुआ है। भक्तप्राणों की विरहार्तिमय वाणी है; तभी इतनी सरस, इतनी मधुर!

प्रेमभक्तिचन्द्रिका और प्रार्थना की तरह बहु-प्रचारित गौड़ीयवैष्णवग्रन्थ और नहीं। गायक के गायन में, वक्ता की वक्तृता में, भक्त वैष्णवों के मुखों पर-सर्वत्र ही इनकी प्रचुर आवृत्ति सुनने को मिलती है। प्रेमभक्ति के रसोद्‌गार के कारण जितनी आवृत्ति की जाती है, उतना है नव-नवायमान आस्वादन अनुभव होता है। इसका ऐसा अपूर्वत्व है कि इसका एक पयार या त्रिपदी का थोड़ा-सा अंश सुनकर ही लोग सहज ही समझ सकते हैं कि यह प्रेमभक्तिचन्द्रिका या प्रार्थना की वाणी है। इनका एक असाधारण वैशिष्ट्य है-श्रीकृष्ण-बहिर्मुख संसारी आदमी से आरम्भ कर श्रद्धावान्, साधक, सिद्ध सभी के लिये अति प्रयोजनीय और हितकर उपदेशावलि इनमें दी गई हैं। इसलिये इन्हें केवल गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय का ही नहीं, सार्वजनीन आध्यात्मिक उपदेश जानना होगा। विशेषत: कलियुग-पावनावतार श्रीमन्महाप्रभु के प्रिय पार्षद श्रीश्रीरूप सनातन आदि गोस्वामिपादगण द्वारा आचरित-प्रचारित मञ्जरीभाव साधना का रहस्य इनमें अति प्राञ्जल और विस्तृत रूप से वर्णित है। इस ग्रन्थद्वय को समस्त गौड़ीय ग्रन्थरत्नों की मञ्जुषा की चाबी कहना भी अतिशयोक्ति न होगा।

ग्रन्थ-सम्पादन का उद्देश्य :

श्रीकार्तिकव्रत या नियमसेवा उद्यापन के उपलक्ष्य में पूज्य श्रीकुण्डवासी वैष्णवगण, बाहर से पधारे पूज्यपाद प्रभु-सन्तान और गोस्वामिगण तथा अनेक श्रद्धाशील भक्तमहोदय श्रीराधाकुण्ड में एक मास नियमपूर्वक श्रीभागवती कथा श्रवण करते हैं। इस अयोग्याधम सम्पादक ने कुछेक वर्ष प्रेमभक्तिचन्द्रिका और प्रार्थना के पाठ एवं व्याख्या से उन लोगों की सेवा का सौभाग्य प्राप्त किया है। ग्रन्थद्वय की व्याख्या सुनकर श्रोताओं के मन में विस्तृत व्याख्या समन्वित संस्करण प्रकाशन की वासना जगी और उन्होंने वह गुरुभार इस दीनातिदीन को सौंपा। उन लोगों का थोड़ा आज्ञापालन कर पाया, इसके लिये स्वयं को अत्यन्त धन्य समझता हूँ।

अनुमान है कि सत्रहवीं शताब्दी में श्रीमोहनमाधुरी दास नामक किन्हीं वैष्णव महात्मा ने 'प्रेमभक्तिचन्द्रिकाकिरण' नाम से प्रेमभक्तिचन्द्रिका का एक व्याख्या ग्रन्थ प्रकाशित किया था। श्रीअद्वैत वंश के प्रभुपाद श्रीयुक्त राधिकानाथ गोस्वामी महोदय ने श्रील ठाकुर महाशय की शिष्य-परम्परा में सुयोग्यतम गौड़ीयवैष्णवाचार्य श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टिप्पणी के साथ प्रेमभक्तिचन्द्रिका की संक्षिप्त व्याख्या प्रकाशित की। बङ्गाब्द १३३७ में पण्डित श्रील नरहरिदास काव्य-वैष्णवदर्शनतीर्थ महोदय ने श्रील चक्रवर्तिपाद की टिप्पणी के साथ अपेक्षाकृत थोड़े विस्तार से प्रेमभक्तिचन्द्रिका की व्याख्या प्रकाशित कर वैष्णवजगत का हित किया। बङ्गाब्द १३७० में श्रील सुन्दरानन्द विद्याविनोद महाशय ने श्रील चक्रवर्तिपाद की टीका के साथ प्रेमभक्तिचन्द्रिका की और पदामृत-समुद्र-रचयिता श्रील राधामोहन ठाकुर की महाभावानुसारिणी टीका के साथ प्रार्थना की 'कृपाकणिका' नामक व्याख्या प्रकाशित की तथा विभिन्न पाठान्तरों का उल्लेख किया। प्रेमभक्तिचन्द्रिका और प्रार्थना-जैसे सारगर्भित ग्रन्थों के लिये उक्त प्राय सभी व्याख्यायें संक्षिप्त कही जायेंगी, कारण-किसी भी संस्करण में सभी

पयारों और त्रिपदी-पदों की विषयवस्तु को लेकर विस्तृत व्याख्या का प्रयास दिखाई नहीं देता। हमने इस संस्करण में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद की टिप्पणी के साथ प्रेमभक्तिचन्द्रिका और प्रार्थना के सभी पदों की 'सुधाकणिका' नामक यथासम्भव विस्तृत व्याख्या देने की चेष्टा की है। प्रभुपाद श्रील राधिकानाथ गोस्वामी महोदय के विख्यात ग्रन्थ से ही अधिकांश पाठ ग्रहण किये हैं, कारण-उन्होंने अपने ग्रन्थ की भूमिका में स्वयं ही लिखा है-''.....करुणानिधि श्रीमन् महाप्रभु की कृपा से हमने संस्कृत टिप्पणी के साथ एक अति प्राचीन जीर्ण-कलेवर अति शुद्ध प्रेमभक्तिचन्द्रिका श्रीहट्टदेश में श्रीनरोत्तमदास ठाकुर महाशय के एक पारिवारिक भक्त से प्राप्त की थी।'' तभी ग्रन्थद्वय के बहुत पाठ-पाठान्तर रहते हुए भी यह मानकर कि यह अपेक्षाकृत निर्भर योग्य है हमने प्रभुपाद के मुद्रित ग्रन्थ का पाठ ही ग्रहण किया है।

- सम्पादक-व्याख्याकार

☆☆☆

श्रीश्रीनरोत्तम-चरित

आविर्भाव :

राजशाही जिले के रामपुर बोयालिया से प्राय छैः कोस दूर गड़ेरहाट परगना में 'खेतुरी' नामक गाँव है। प्रेमविलास में वर्णन है-श्रीमन्महाप्रभु कानाइ नाटशाला ग्राम में एक दिन कीर्तन-नृत्य करते-करते खेतुरी की ओर मुख कर 'नरोत्तम' नाम लेकर बार-बार पुकारने लगे। भावावेश में प्रभु का मन अस्थिर हो गया। श्रीनित्यानन्द प्रभु, हरिदास, वक्रेश्वर आदि पार्षदों ने श्रीमन्महाप्रभु का भाव देखकर प्रेम-पुलकित चित्त से सोचा-प्रभु के कोई प्रेमपात्र 'नरोत्तम' नाम से इस देश में प्रकट होंगे और प्रभु उनसे बहुत कार्य करायेंगे। श्रीमन्महाप्रभु श्रीनित्यानन्द से बोले-

''प्रभु कहे-श्रीपाद बुझि करहो भावना।
आपनार गुण तुमि ना जानो आपना॥
नीलाचल जाइते जतो कान्दियाछो तुमि।
सेइ प्रेमा दिने दिने बान्धियाछि आमि॥
से प्रेम राखिबो आमि पद्मावती-तीरे।
नरोत्तम नामे पात्र दिबो आमि ताँरे॥
प्रेमे जन्म हबे ताँर आमा-विद्यमाने।
एखने राखिया जाबो पद्मावती-स्थाने॥''

(प्रेमविलास)

इसके पश्चात् श्रीमन्महाप्रभु ने कुतुबपुर आकर पद्मावती में स्नान किया और तीर पर पार्षदों के साथ कीर्त्तन आरम्भ किया। विशाल हुङ्कार-गर्जन के बीच प्रेमयुक्त श्रीअङ्ग में महाकम्प का उदय हुआ! प्रभु पद्मावती का आह्वान कर बोले-

''प्रभु कहे-पद्मावती! धरो प्रेम लहो।
नरोत्तम नामे पात्र, प्रेम ताँरे दिहो॥
नित्यानन्दसह प्रेम राखिलो तोमा-स्थाने।
यत्न करि इहा तुमि राखिबा गोपने॥''

तब-

''पद्मावती बोले प्रभु करों निवेदन।
केमने जानिबो कार नाम नरोत्तम?!''

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा -

''जाँहार परशे तुमि अधिक उछलिबा।
सेइ नरोत्तम, प्रेम ताँरे तुमि दिबा॥''

(वही)

श्रीगौराङ्ग महाप्रभु के लीला-संवरण करने के समय सम्भवत: १५३१-३२ ई० में खेतुरी ग्राम में राजा कृष्णानन्द दत्त की सहधर्मिणी नारायणी देवी के गर्भ से माघी पूर्णिमा को गोधूली के समय श्रील नरोत्तम ठाकुर का आविर्भाव हुआ।

बाल्यकाल :

श्रील नरोत्तम चन्द्रकला की तरह दिन-दिन बड़े होने लगे। राजा कृष्णानन्द दत्त ने बड़ी धूमधाम से पुत्र का अन्नप्राशन-उत्सव आरम्भ किया। मुँह में अन्न देना चाहा, तो मुँह फेर लिया। सभी चिन्तित हुए, तो दैवज्ञ ने गणना कर कहा-सम्भवत: यह बालक श्रीकृष्ण-प्रसाद को छोड़ अन्य वस्तु ग्रहण नहीं करेगा। राजा श्रीकृष्णानद के घर में श्रीकृष्णविग्रह की प्राचीन सेवा थी; उन्हीं ठाकुर का प्रसाद लाया गया, तो नरोत्तम ने सहर्ष खा लिया। उसी दिन से श्रीकृष्णानन्द ने पुत्र को श्रीकृष्णप्रसाद के अतिरिक्त अन्य वस्तु देने का निषेध कर दिया।

श्रीनरोत्तम का असाधारण रूप-लावण्य, सुतीक्ष्ण बुद्धि, सुमधुर वाक्य सभी का चित्त आकर्षित करता। पाँच वर्ष की अवस्था में चूड़ाकरण के पश्चात् श्रीनरोत्तम का विद्यारम्भ हुआ। शिशुकाल से ही वे व्याकरण और संस्कृत शास्त्रों के अध्ययन में असाधारण प्रतिभा का परिचय देने लगे। बहुत थोड़े समय में ही उन्होंने समस्त शास्त्रों में व्युत्पत्ति प्राप्त कर ली। बाल्यकाल से ही राजकुमार श्रीनरोत्तम को श्रीहरिनाम में, श्रीमद्भागवत में, श्रीभगवद्भक्त और श्रीभगवद्विग्रह में असामान्य प्रीति तथा भोगविलास में विरक्ति देखकर वात्सल्य परायण राजा कृष्णानन्द एवं पुत्रगतप्राण माता नारायणी चिन्तित हो गये। भक्तगण चमत्कृत आनन्दित हुए।

खेतुरी में श्रीकृष्णानन्द नामक एक परम भागवत ब्राह्मण वास करते थे। श्रीनरोत्तम नित्य ही उक्त विप्र के पास बैठकर श्रीगौरहरि और उनके प्रेममय पार्षदों की चरितकथायें सुनते तथा 'हा गौराङ्ग' कहकर प्रेम से भरकर रोदन करते। एक बार नरोत्तम ने स्वप्न देखा-श्रीनित्यानन्दप्रभु उन्हें पद्मावती में स्नान कर श्रीमन्महाप्रभु की प्रेमरत्न-धरोहर ग्रहण करने का आदेश दे रहे हैं। सुबह उठते ही श्रीनरोत्तम पद्मावती में स्नान करने के लिये गये। जैसे ही जल में उतरे, पद्मावती का जल उच्छ्वसित हो उठा। पद्मावती ने नरोत्तम को पहचान कर श्रीमन्महाप्रभु की धरोहर (प्रेम) उन्हें दान कर दी। वह प्रेम प्राप्त करते ही श्रीनरोत्तम की कान्ति में परिवर्तन आ गया; वे महाप्रेम में विवश होकर आँसुओं से भीगते-भीगते उद्दण्ड नृत्य करने लगे। पुत्र को उन्माद रोगग्रस्त सोचकर माता-पिता चिन्तित हुए।

स्वप्न और वृन्दावन-यात्रा :

श्रीगौरसुन्दर की प्रकटलीला के दर्शन न पाने से श्रील नरोत्तम का हृदय-विदीर्ण होने लगा। वे परम आर्ति से भरकर अहर्निश रोदन करने लगे। एकबार श्रीगौरसुन्दर ने स्वप्न के छल से श्रीनरोत्तम को दर्शन देकर करुणासिक्त वचन कहे-''हे नरोत्तम! तुम शीघ्र वृन्दावन जाकर श्रीलोकनाथ का शिष्यत्व ग्रहण करो।'' निद्रा भङ्ग होने पर श्रीनरोत्तम प्रभु के अदर्शन से मूर्छित हो गये। प्रभु की इच्छा, उन्हें पुनः स्वप्नावेश हुआ। स्वप्न में श्रीमन्महाप्रभु ने सपरिकर अपनी नवद्वीप लीला के दर्शन कराये। भक्तों के साथ नृत्य-कीर्तन करते महाप्रभु की अद्भुत प्रेमलीला देखकर श्रीनरोत्तम अश्रुजल से भीगते हुए प्रभु के श्रीचरणों में गिर पड़े। श्रीगौरसुन्दर ने उनके मस्तक पर श्रीचरण रखे और वात्सल्य से भरकर धरणोतल से उठाकर श्रीनित्यानन्द और श्रीअद्वैत के हाथों उन्हें सौंप दिया। श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु ने भुजायें फैलाकर उन्हें आलिङ्गन किया और विपुल प्रेमसम्पदा दानकर श्रीवृन्दावन जाने का आदेश दिया। श्रीअद्वैतप्रभु ने भी उन्हें श्रीगौरपादपद्मों में समर्पित कर व्रज-यात्रा का आदेश दिया। निद्राभङ्ग होने पर वे प्रभुत्रय की कृपा का स्मरण कर अश्रु वर्षण करने लगे।

खेतुरीग्राम एक अहिन्दू जागीरदार के अधीन था। श्रीकृष्णानन्द के पुत्र के गुणों की बात सुनकर उस जागीरदार ने उन्हें देखना चाहा, तो वे उसके आमन्त्रण को महाप्रभु की ही करुणा समझकर माता-पिता से विदा लेकर प्रहरियों से घिरे उस निमन्त्रण की रक्षा के लिये चल पड़े। मार्ग में एक स्थान पर रात्रि के समय सभी प्रहरी निद्रित हो गये, तो श्रीनरोत्तम वन-पथ से व्रज की ओर पलायन कर गये। पन्द्रह दिनों का रास्ता पारकर वे कुछ निश्चिन्त हुए। तत्पश्चात् राजमार्ग से चलते-चलते मथुरा विश्रामघाट जाकर पहुँचे।

व्रजमण्डल और श्रीगोस्वामिगण के दर्शन :

मथुरा में किन्हीं वैष्णव-ब्राह्मण से श्रीश्रीरूप-सनातन के अन्तर्धान की बात सुनकर श्रीनरोत्तम 'हा रूप! हा सनातन!' कहकर धूल में लोटपोट कर रोदन करने लगे। श्रीरूप-सनातन ने उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर सान्त्वना प्रदान की। प्रभात में वे व्याकुल हृदय से श्रीवृन्दावन चल पड़े। श्रीनिवास आचार्य तब श्रीवृन्दावन रहते थे। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने स्वप्न में श्रीजीव और श्रीनिवास को श्रीनरोत्तम के आगमन की बात बताई। श्रीनरोत्तम श्रीवृन्दावन पहुँचकर श्रीगोविन्ददेव मन्दिर में परम प्रेमावेश के साथ श्रीगोविन्द-दर्शन करने लगे। तभी श्रीमत् जीव गोस्वामिपाद और श्रीनिवासाचार्य वहाँ उपस्थित हुए। श्रीमत् जीवगोस्वामी श्रील नरोत्तम को लेकर परम विरक्तशिरोमणि गौरपार्षद श्रीलोकनाथ गोस्वामी की कुटीर पर गये; नरोत्तम का परिचय कराया और उन पर कृपा करने के लिये अनुरोध किया। इससे पूर्व श्रीमन्महाप्रभु श्रील लोकनाथ गोस्वामी को स्वप्नादेश दे चुके हैं-''कुछ दिनों पश्चात् श्रीनरोत्तम नामक एक राजकुमार तुम्हारा शिष्यत्व ग्रहण करेगा।'' उसी स्मृति को लेकर श्रील लोकनाथ गोस्वामी ने वात्सल्य-द्रवित चित्त से उन्हें बत्तीस वर्णों का श्रीहरिनाम करने का उपदेश दिया। तत्पश्चात् श्रीजीव ने श्रीनरोत्तम को साथ ले श्रील गोपालभट्ट गोस्वामी, श्रीमधु पण्डित और श्रीभूगर्भ गोस्वामी आदि के दर्शन कराये।

श्रीगुरुसेवा और दीक्षा :

श्रीनरोत्तम श्रीपाद लोकनाथ की विशेष कृपा पाने के लिये निशान्त में नियमपूर्वक एक सेवा करने लगे। श्रीलोकनाथ प्रभु जिस स्थान पर शौच के लिये जाते, वे उस स्थान को झाड़ू से साफ करते और झाड़ू को वक्ष से लगाकर 'हा प्रभु लोकनाथ! कृपा करो' कहकर प्रेम से भरकर क्रन्दन करते। श्रीलोकनाथ के पहुँचने से पूर्व ही स्थान-संस्कारादि कार्य सम्पन्न कर श्रीनरोत्तम झाड़ू छिपाकर रख देते। शेषरात्रि में ऐसी गुप्त सेवा कौन करता है, वृन्दावनवासियों की ऐसी नीचसेवा ग्रहण करना महाअपराधजनक है-ऐसा सोचकर प्रभु लोकनाथ अन्यान्य दिनों की अपेक्षा अधिक रात्रि में चल पड़े। दूर से देखा, श्रीनरोत्तम एक सम्मार्जनी (झाड़ू) से शौच स्थान परिष्कार कर रहे हैं। प्रभु लोकनाथ निःशब्द नरोत्तम के पीछे से देखने लगे-वे झाड़ू वक्ष से लगाये आवेग से भरकर रोदन कर रहे हैं। श्रीनरोत्तम उन्हें देखते ही उनके आगे दण्डवत् प्रणत हुए। श्रीनरोत्तम की उस नीच सेवा से श्रीलोकनाथ का हृदय द्रवित हुआ। उन्होंने श्रीनरोत्तम को यमुना-स्नान कर आने को कहा। श्रीगुरुदेव की आज्ञापालन कर श्रीनरोत्तम लौटे, तो श्रीलोकनाथ प्रभु ने उन्हें कुञ्ज में ले जाकर श्रावण पूर्णिमा को श्रीकिशोर-गोपालमन्त्र की दीक्षा प्रदान की और श्रीजीवगोस्वामी को वह संवाद देने को कहा। श्रीनरोत्तम ने श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद के पास जाकर वह शुभसंवाद सुनाया। श्रीलोकनाथ प्रभु ने श्रील ठाकुर महाशय को क्रमशः रागानुगा भजन पद्धति का उपदेश दिया।

भजनसिद्धि, शास्त्राध्ययन और उपाधि-प्राप्ति :

श्रील नरोत्तम श्रीगुरुदेव से भजनपद्धति सीखकर एक बार श्रीवृन्दावन के एक कुञ्ज में भजन में आविष्ट थे। तभी श्रीवृषभानुनन्दिनी ने स्वयं आविर्भूत हो उन्हें आदेश दिया-''नरोत्तम! मध्याह्न में मेरे प्राणवल्लभ के लिये 'दुग्धावर्तन' तुम्हारी नित्यसेवा रही। मेरी प्रिय सखी चम्पकलता की भी यही सेवा है, इसलिये तुम्हारा नाम हुआ चम्पकमञ्जरी।'' श्रीनरोत्तम ने बाह्यदशा प्राप्तकर श्रीलोकनाथ प्रभु के पास जाकर प्रेमविह्वल चित्त से गद्गद स्वर में इस सेवा-आज्ञा की बात निवेदन की। श्रीगोस्वामिपाद उनके सौभाग्य की बात सुनकर परम आनन्दित हुए और उन्होंने परम आवेश के साथ यत्नपूर्वक वह सेवा करने की अनुमति दी। एक बार श्रीनरोत्तम मानसी सेवा (ध्यान) में दूध गरम कर रहे थे और आविष्ट हो लीलादर्शन कर रहे थे; उफनते गर्म दूध से बाहर भी उनका हाथ जल गया।

श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद उनकी भजनसिद्धि देख बड़े आनन्दित हुए और श्रीगोपालभट्ट आदि गोस्वामिवृन्द ने उन पर प्रभूत कृपा की। श्रीनरोत्तम ने कुछ समय श्रीगुरुदेव के निकट श्रीमद्भागवत और श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद के निकट षट्सन्दर्भ, श्रीरूप के नाटक आदि, श्रीसनातन के वृहद्भागवतामृत आदि सिद्धान्त एवं रसग्रन्थ अध्ययन किये। यह देखकर कि श्रीमन्महाप्रभु और श्रीवृषभानुनन्दिनी के साक्षात् कृपापात्र श्रीनरोत्तम के लिये दुर्गम शास्त्र व्याख्या अति सहज ही अनुभवगम्य हो गई है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद अतिशय आनन्दित हुए और वैष्णववृन्द के साथ विचारविमर्श कर उन्होंने श्रीनरोत्तम को 'ठाकुर महाशय' उपाधि प्रदान की।

व्रज परिक्रमा, गौड़देश-गमन, ग्रन्थचोरी और प्राप्ति :

श्रीमत् जीव गोस्वामिपाद की आज्ञा से श्रीनरोत्तम ठाकुर महाशय और श्रीनिवासाचार्य ने श्रीगोवर्धन- गुफावासी श्रीगौरपार्षद श्रील राघव पण्डित महोदय के साथ व्रजमण्डल की चौरासी कोस की परिक्रमा की। भक्तिरत्नाकर (तरङ्ग ५) में इसका अति विस्तार से वर्णन किया गया है। कुछ दिन पश्चात् उत्कल के दण्डकेश्वर गाँव से दु:खी कृष्णदास श्रीवृन्दावन आये। ये श्रीश्रीगौरीदास पण्डित के श्रीचरणाश्रित श्रील हृदयचैतन्य ठाकुर से दीक्षित थे। इन्होंने श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद के निकट भागवत अध्ययन कर परम पाण्डित्य अर्जित किया। एकबार श्रीवृन्दावन का कुञ्ज-संस्कार करते समय इन्हें श्रीराधारानी का नूपुर प्राप्त हुआ। ललिताजी की कृपा से साक्षात् श्रीवृषभानुनन्दिनी के श्रीचरण में वह नूपुर पहनाकर कृतार्थ भी हुए। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने उन्हें 'श्यामानन्द' नाम दिया। श्रीनिवासाचार्य, श्रीनरोत्तम और श्रीश्यामानन्द श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद के शिक्षाशिष्यों के रूप में श्रीवृन्दावन में रहते हुए एकाशय, एकप्राण और अन्तरङ्ग बन्धु बन गये। तीनों ही व्रजरस में सुपण्डित, वैष्णवसिद्धान्तों में सुनिपुण और सङ्गीत विद्या में पारङ्गत थे।

श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद आदि प्रमुख वृन्दावनवासी गोस्वामिवृन्द ने निश्चित किया कि श्रीजीव के सुयोग्य छात्र श्रीनिवास नरोत्तम श्यामानन्द के माध्यम से गौड़देश में श्रीरूप, सनातन, श्रीजीव के रचे विपुल ग्रन्थरत्नों का प्रचार कराया जाय। सभी की इच्छा जान श्रीजीव गोस्वामिपाद ने विशाल ग्रन्थ भण्डार के सम्पुट चार बैलगाड़ियों में रखवाकर दस सशस्त्र प्रहरियों के साथ तीनों बन्धुओं को गौड़ देश भेजा। ग्रन्थराजि निर्विघ्न ही पहुँची, किन्तु अन्त में वनविष्णुपुर में वनविष्णुपुर के तत्कालीन दस्यु-स्वभाव राजा वीरहाम्बीर के अनुचरों ने उनके आदेश से रत्नभरी पेटियाँ समझकर रात के समय उन ग्रन्थ मञ्जूषाओं का अपहरण कर लिया। सुबह हुई तो वे पेटियाँ न देख तीनों बन्धु पृथ्वी पर लोटपोट कर रोने लगे। तब दैववाणी सुनाई दी - ''विष्णुपुर के राजा के पास ग्रन्थ मिलेंगे।'' उधर ग्रन्थसम्पुट देखते ही राजा का चित्त शुद्ध हो गया। निर्जन में पेटियाँ खोलकर अपूर्व ग्रन्थरत्न देखते ही वे आत्मग्लानि के साथ ग्रन्थाचार्यों के दर्शन के लिये अधीर हो उठे। श्रीगौरसुन्दर ने राजा को स्वप्न में आश्वासन दिया। श्रीनिवास आचार्य प्रभु वनविष्णुपुर के श्रीकृष्णवल्लभ पर कृपा कर उनके साथ राजसभा में पहुँचे। राजा वीरहाम्बीर ने श्रील आचार्यप्रभु के श्रीमुख से भ्रमरगीता की अपूर्व व्याख्या सुनकर विमुग्ध होकर उनके श्रीचरणों में आत्मसमर्पण किया। श्रीआचार्य प्रभु ने राजा को शिष्य बनाकर ग्रन्थ लिये और याजिग्राम आकर सभी समाचार श्रीवृन्दावन भिजवाये।

श्रीगौड़ और क्षेत्रमण्डल दर्शन के पश्चात् खेतुरी आगमन :

श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय ने श्रीगौरलीलास्थली श्रीनवद्वीपमण्डल, श्रीगौरपार्षदों की लीला भूमि का दर्शन किया, परिक्रमा की। तत्कालीन प्रकट श्रीगौरपार्षदों के दर्शन भी किये। तत्पश्चात् श्रीनीलाचल जाकर श्रीक्षेत्रमण्डल में श्रीगौराङ्ग के लीलास्थानों के, श्रीगौरपार्षदों के और उनके लीलास्थलों के दर्शन कर खेतुरी लौट आये।

प्रेम की मूर्ति श्रील ठाकुर महाशय के प्रत्यावर्तन पर श्रीपाट खेतुरी उच्च सङ्कीर्तन के सुमधुर रोल और मृदङ्ग-करतालों की ध्वनि से मुखरित हो उठा। श्रील ठाकुर महाशय ने 'गरानहाटी' नामक राग का प्रवर्तन किया। उनके रचे सङ्कीर्तन के अभिनव गीतों, अभिनव राग-रागिनियों, भावों की अभिनव उन्मादना एवं गन्धर्वों को लजाने वाली उनके मधुर कण्ठ की स्वरलहरी से एक अपूर्व रसमाधुरी की वन्या प्रवाहित होने लगी। श्रीश्रीगौर-कृष्ण-नाम सङ्कीर्तनरस मानो मूर्तिमान हो उठा!! श्रील ठाकुर महाशय के समकालीन पद-रचयिता श्रील गोविन्ददास ने गाया है-

''जय रे जय रे जय, ठाकुर नरोत्तम, प्रेम-भकति-महाराज।
जाकर मन्त्री, अभिन्न कलेवर, रामचन्द्र कविराज॥
प्रेम-मुकुटमणि, भूषण भावावली, अङ्गहि अङ्ग विराज।
नृप-आसन, खेतुरी माह बैठत, सङ्गहि भकत-समाज॥
सनातन-रूप-कृत, ग्रन्थ भागवत, अनुदिन करत विचार।
राधामाधव, युगल उज्ज्वलरस, परमानन्द सुखसार॥
श्रीसङ्कीर्तन, विषय-रसे उनमत, धर्माधर्म नाहि जान।
योग-दान-व्रत, आदि भये भागत, रोयत करम गेयान॥
भागवत शास्त्रगण, जो देइ भकति धन, ताक गौरव करु आप।
सांख्य-मीमांसक, तर्कादिक जती, कम्पित देखि परताप॥
अभकत चौर, दूरहिं भागि रहु, नियड़े नाहि परकाश।
दीन हीन जने, देयल भकति धने, वञ्चित गोविन्ददास॥''

खेतुरी महोत्सव और छह विग्रह प्रतिष्ठा :

श्रीनरोत्तम श्रीवृन्दावन से लौटे, तब श्रीलोकनाथ गोस्वामिपाद ने उन्हें आदेश दिया था कि गौड़देश में श्रीमन्महाप्रभु के सङ्कीर्तन का प्रचार करें, श्रीविग्रह-सेवा प्रकट करें और श्रीवैष्णवसेवा करें। उस आदेश के अनुसार वे खेतुरी लौटकर श्रीविग्रह-सेवा आरम्भ करने का उपाय सोचने लगे। श्रीगौरसुन्दर ने स्वप्न में उनसे कहा-''मैं पहले से ही धातुविग्रह रूप धारण कर श्रीविप्रदास नामक गृहस्थ के (धान गोला) में तुम्हारी राह देख रहा हूँ। सर्पों के भय से वहाँ कोई नहीं जा पाता, तुम मुझे वहाँ से लाकर सेवा प्रकाश करो।'' यह कहकर पाँच और विग्रह बनवाकर सेवा आरम्भ करने की आज्ञा दी तथा श्रील ठाकुर महाशय को आलिङ्गन कर वे अन्तर्धान हो गये।

श्रील ठाकुर महाशय ने जगने पर प्रेमानन्द में श्रीनाम सङ्कीर्तन कर शेष रात व्यतीत की। प्रातः कृत्यादि पूरे कर सभी के साथ निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचे। ठाकुर महाशय के पहुँचने पर सभी साँप अन्तर्हित

हो गये। श्रील ठाकुर महाशय ने धान गोला का द्वार खोला, तो प्रियाजी के साथ श्रीगौरसुन्दर विद्युत गति से उनकी गोद में आ गये। घर लौटकर श्रील ठाकुर महाशय श्रीविग्रहों को आसन पर बिठाकर अपूर्व सङ्गीत रचना कर श्रीगौर-गुणगान करने लगे। निश्चित किया कि श्रीगौरसुन्दर के आदेश की अनुपालना में प्रियाजी के साथ अन्य पाँच विग्रह निर्माण करा फाल्गुनी पूर्णिमा को छहों विग्रहों की प्रतिष्ठा हो। यही घटना इतिहास-प्रसिद्ध अभूतपूर्व अद्वितीय 'खेतुरी महोत्सव' के नाम से विख्यात है। फाल्गुनी शुक्ला पञ्चमी को महामहोत्सव का शुभारम्भ हुआ; सङ्कीर्तन-गीति से चारों दिशायें मुखरित हो उठीं। श्रीनिवासाचार्य और श्रील नरोत्तम के सादर आमन्त्रण पर उस समय गौड़देश में स्थित श्रीश्रीगौरनित्यानन्द-अद्वैत पार्षदों और समस्त वैष्णववृन्द ने उस महामहोत्सव में योगदान किया था-ऐसा श्रीभक्तिरत्नाकार और श्रीनरोत्तमविलास ग्रन्थों से पता चलता है।

उत्सव के अधिवासवाले दिन अर्थात् पूर्णिमा के पहले दिन पार्षदवर्ग के साथ श्रीश्रीनित्यानन्दशक्ति श्रीश्रीजाह्नवा माता ठाकुराणी ने खेतुरी शुभागमन किया। श्रीश्रीमाता के आनुगत्य में श्रीखोलमङ्गल और अपूर्व अधिवास कीर्तन सुसम्पन्न हुआ। श्रीफाल्गुनी पूर्णिमा तिथि पर श्रीश्रीजाह्नवा माता की आज्ञा से श्रीनिवासाचार्य प्रभु ने श्रीगोस्वामि-शास्त्रों के विधान के अनुसार श्रीविग्रहों का महाभिषेक सम्पन्न किया। श्रीमन्महाप्रभु ने स्वप्न में श्रीविग्रहों के जो-जो नाम बताये थे, वे नाम ही अभिषेक के समय प्रकाशित किये गये -

''गौराङ्ग, वल्लभीकान्त, श्रीव्रजमोहन।
श्रीकृष्ण, श्रीराधाकान्त, श्रीराधारमण॥''

अभिषेक के बाद अपनी-अपनी प्रिया के साथ ये छैः विग्रह विविध भूषणालङ्कारों से भूषित हो सिंहासन पर अधिष्ठित हुए। तत्पश्चात् समवेत श्रीगौरपार्षदों को प्रसादी माल्यचन्दनादि से भूषित कर श्रील ठाकुर महाशय ने सर्वसम्मति से स्वरचित गीतों से महासङ्कीर्तन आरम्भ किया। देवीदास, गोकुल, गौराङ्ग, गोविन्द आदि के साथ अपूर्व राग-रागिनियों का अलाप-सङ्कीर्तनामृत-रसधारा बरसने लगी! उस रसवन्या में सभी के चित्तमन आप्लावित हो उठे। श्रीगौराङ्ग-नित्यानन्द-अद्वैत प्रभुत्रय श्रीवास-गदाधार आदि के साथ सपार्षद सभी के आगे प्रकट हो नृत्य करने लगे। सभी प्रेम-सागर में मग्न हो गये। सपार्षद श्रीमन्महाप्रभु अन्तर्हित हुए, तो सभी भूमि पर लोटपोट हो रोते-रोते मूर्छित हो गये। मूर्छाभङ्ग होने पर श्रीनिवासाचार्य प्रभु, श्रील नरोत्तम और श्रीश्यामानन्द ने सभी के साथ होली लीला-गायन एवं फागक्रीड़ा में दिन बिताकर सन्ध्या के समय श्रीगौराङ्ग का आविर्भाव-अभिषेक सम्पन्न किया। सङ्कीर्तनानन्द में रात बीती। अगले दिन स्वयं श्रीश्रीजाह्नवा माता ने अपने हाथों रन्धन कर श्रीविग्रहों को भोग लगाया और वैष्णववृन्द में प्रसाद-वितरण किया। अगले दिन प्रत्येक महन्त के घर में महामहोत्सव अनुष्ठित हुआ और चण्डाल तक को प्रसाद वितरित किया गया। इस महोत्सव का सारा व्यय भार उठाया था श्रील ठाकुर महाशय के पितृव्यपुत्र और शिष्य राजा श्रील सन्तोष दत्त महाशय ने। महोत्सव-समापन पर सभी महन्तों ने विदा ली। माता श्रीजाह्नवा ठाकुराणी ने श्रीनिवास, नरोत्तम आदि को सान्त्वना प्रदान कर श्रीवृन्दावन-यात्रा की। श्रीनिवासाचार्य के शिष्य श्रील ठाकुर महाशय के अभिन्नप्राण श्रील रामचन्द्र कविराज ने महन्तों के विरह में अधीर श्रील ठाकुर महाशय को धैर्यदान किया।

भक्तिप्रचार और विप्रलम्भ भाव :

श्रील ठाकुर महाशय ने अनेक नास्तिक पाखण्डियों का भी उद्धार किया। उनकी अलौकिक प्रेमभक्ति का अनुभाव और अति विलक्षण पाण्डित्य-प्रतिभा देखकर तथा भावोद्दीपक सुमधुर कीर्तन सुनकर बहुत-से राजा महाराज ब्राह्मण पण्डितों ने अपने धन-जन-आभिजात्य आदि का अभिमान त्याग कर श्रील ठाकुर महाशय का शिष्यत्व ग्रहण किया।

एकबार श्रील ठाकुर महाशय और श्रीरामचन्द्र कविराज स्नान के लिये जा रहे थे। तभी श्रीहरिराम और श्रीरामकृष्ण आचार्य दोनों भाई वहाँ उपस्थित हुए। श्रील ठाकुर महाशय एवं श्रीरामचन्द्र कविराज से वार्ता कर वे विप्रद्वय विमुग्ध हुए; उनके श्रीचरणों में आत्मसमर्पण कर दिया। घर लौटकर विप्रों को श्रीकृष्णभजन के योग्य समझकर श्रीरामचन्द्र कविराज ने हरिराम आचार्य को और श्रील ठाकुर महाशय ने रामकृष्ण आचार्य को दीक्षा प्रदान कर भक्तिसिद्धान्त का उपदेश दिया।

श्रीगाम्भीला-निवासी पण्डित श्रीगङ्गानारायण चक्रवर्ती ने उन विप्रद्वय की पाण्डित्य-प्रतिभा और अभिनव दिव्य तेज देखकर श्रील ठाकुर महाशय के श्रीचरणों में आत्मसमर्पण किया। प्रेम की मूर्ति श्रीठाकुर महाशय ने उन्हें भी मन्त्रदीक्षा देकर शक्तिसञ्चार कर श्रीकृष्णचैतन्य चरणों में समर्पित कर दिया। श्रीचक्रवर्ती श्रील ठाकुर महाशय की कृपा पाकर भक्तिधन से धनी हुए; उन्होंने श्रीगोस्वामि-शास्त्रों का अध्ययन कर परम पाण्डित्य भी अर्जित किया।

श्रील ठाकुर महाशय विप्रशिष्य बनाते हैं, इस बात को लेकर पक्कपल्ली या पाइकपाड़ा के शाक्तराजा नरसिंह राय, रूपचाँद आदि बहुत-से ब्राह्मण पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ करने आये, तो श्रीरामचन्द्र कविराज और श्रीगङ्गानारायण चक्रवर्ती से परास्त हो गये। उधर अपराधी राजा नरसिंह को स्वप्न में खड़ग् हाथ में लिये देवी भगवती ने भय दिखाकर श्रील ठाकुर महाशय का चरणाश्रय लेने का आदेश दिया। राजा ने ब्राह्मण पण्डितों के साथ श्रील ठाकुर महाशय के श्रीचरणों में आत्मसमर्पण किया; वे दीक्षा-शिक्षादि प्राप्त कर धन्य हुए।

इसके पश्चात् श्रीनिवासाचार्य प्रभु ने अपने शिष्य श्रीरामचन्द्र कविराज महाशय के साथ श्रीवृन्दावन आगमन किया, तो श्रील ठाकुर महाशय का विप्रलम्भ या विरहभाव अत्यन्त बढ़ गया। वे प्रेमस्थली नामक अपने भजनस्थान पर भूमि पर पड़े-पड़े अहर्निश रोदन करें। इससे कुछेक दिन पश्चात् वे गङ्गास्नान की इच्छा से शिष्यवर्ग के साभ गाम्भीला श्रीगङ्गानारायण के घर पधारे। अकस्मात् उनकी देह में ज्वर हुआ, वे चिताशय्या-रचना करने का आदेश देकर समाधिस्थ हो गये। शिष्यगण महाकातर हुए। तीन दिन उसी अवस्था में रहे; श्रील ठाकुर महाशय के आदेश के अनुरूप उन्हें भगवन्निर्माल्य आदि से भूषित कर चिता पर स्थापित किया गया। यह देखकर कतिपय ब्राह्मण पण्डित कहने लगे-''शूद्र होकर ब्राह्मणों को शिष्य बनाने के कारण नरोत्तम की वाग्रोध से मृत्यु हो गई।'' वे लोग गङ्गानारायण

की भी नाना प्रकार से निन्दा करने लगे। इससे परम करुण श्रील गङ्गानारायण चक्रवर्ती महाशय उन सभी विप्रों का महदपराध-पङ्क धोकर उनका निस्तार कराने की दृष्टि से श्रील ठाकुर महाशय के श्रीचरणप्रान्त में हाथ जोड़कर कातर प्रार्थना करने लगे-''हे प्रभो! अपनी करुणा से इन पाखण्डियों का उद्धार कीजिये, अन्यथा ये घोर नरक में जायेंगे।'' भक्त की कातर प्रार्थना पर श्रील ठाकुर महाशय 'श्रीकृष्णचैतन्य' 'श्रीराधाकृष्ण' नामोच्चारण करते हुए सूर्य के समान दिव्य कान्ति प्रकट कर चिता से उठ गये। इस अति आश्चर्यजनक घटना को देख सभी ने हरिध्वनि की; देवगण पुष्पवृष्टि करने लगे। निन्दक विप्रगण अपने अपराध के भय से काँपकर सिरों पर कराघात करते-करते श्रीगङ्गानारायण के चरणों में गिर पड़े। गङ्गानारायण की प्रार्थना पर श्रील ठाकुर महाशय ने उन लोगों को आलिङ्गन कर भक्तिरत्न प्रदान किया और गङ्गानारायण के निकट भक्तिग्रन्थ अध्ययन करने का आदेश देकर वे खेतुरी लौट आये।

खेतुरी आने के बाद श्रील ठाकुर महाशय का श्रीगौराङ्ग और श्रीराधाकृष्ण विरहानल प्रदीप्त हो उठा। वे निरन्तर रसिकभक्तों के साथ कृष्णकथा चर्चा करते और क्षण-क्षण पर 'हा कृष्णचैतन्य' हा राध ोकृष्ण' कहकर भूमि पर लोटपोट कर विलाप करते। प्रबल दैन्य-आर्ति और व्याकुलता को लेकर रोते। उस स्थिति में हृदय के समस्त भाव गीतों में, पद्यों में प्रकट हुए-वे ही आज प्रेमभक्तिचन्द्रिका और प्रार्थना गीतों के रूप में विश्व में प्रकाशित हैं। महा आर्तिमय और महामहत की भगवद्विरहजनित मर्मवाणी है; तभी इतनी मधुर, इतनी मर्मस्पर्शी!

नित्यलीला में प्रवेश :

श्रील ठाकुर महाशय के विरहभाव में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। भक्तगण उनके लीला-संवरण की आशङ्का से अधीर हो उठे। श्रीगौराङ्ग के प्राङ्गण में आकर श्रील ठाकुर महाशय वहाँ से विदा लेकर व्याकुल भाव से श्रीगोविन्द आदि भक्तजनों के साथ बुधरी ग्राम गये। वहाँ श्रीनामसङ्कीर्तन में अहोरात्र बिताकर सभी को भक्ति-उपदेश प्रदान कर गाम्भीला गङ्गातट पर पहुँचे। गङ्गास्नान कर तट के निकट जल में बैठकर श्रीरामकृष्ण आचार्य और श्रीगङ्गानारायण चक्रवर्ती को अपना श्रीअङ्गमार्जन करने का आदेश दिया। जैसे ही उन दोनों ने श्रील ठाकुर महाशय का श्रीअङ्ग स्पर्श किया, उनका वह प्रेममय तनु विष्णुपादोद्भवा (विष्णुचरणों से निकलीं) गङ्गाजी के जल में दुग्धवत् मिल गया। इस प्रकार अचिन्त्य रूप से श्रील ठाकुर महाशय का लीला-सङ्गोपन देख सभी परम विस्मित हुए। उनके आत्म-सङ्गोपन से पाषाण भी पिघल गया। चारों ओर से हरि-हरि ध्वनि उठी। देवगण देवलोक से पुष्प-वर्षण करने लगे।

''मूर्त्तैव भक्तिः किमयं किमेष वैराग्यसारस्तनुमान् नृलोके।
संभाव्यते यः कृतिभिः सदैव तस्मै नमः श्रील नरोत्तमाय॥''

☆☆☆

❖ श्रीश्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिका के श्लोक-पयार एवं त्रिपदियों की सूची ❖

(अकारादि क्रम से)

❖

अज्ञानतिमिरान्धस्य (पृष्ठ १); अज्ञान विमुग्ध जतो (२५८); अन्य अभिलाष छाड़ि (४६); अन्यथा स्वतन्त्र काम (७७); अन्य व्रत अन्य दान (१२२); अन्येर परश जेनो (२२६); असत् क्रिया कुटीनाटी (८७); असत् सङ्गति सदा (५३); अहङ्कार अभिमान (३३१); आन कथा ना बोलिबो (३०६); आन कथा आन व्यथा (११९); आपन भजन पथ (९०); **आपन भजन-कथा** (३४८); आपनि पालाबे सब (८३); आभरण मणिमय (१३८); आर सब परिहरि (२६२); ईषत् मधुरस्मित (१९१); ईश्वरेर तत्त्व जतो (३०९); ऐ सब अनुगा हैया (१५७); कनक केतकी राइ (१३३); कर्मी ज्ञानी मिछा भक्त (२२८); करिये लोचन पान (२७६); काम क्रोध लोभ मोह (७१); कामे मोर हत चित (११३); कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य (१७४); कृष्णनाम गाने भाइ (३२९); कृष्णभक्त अङ्ग हेरि (६२); कृष्णसेवा कामार्पणे (७३); क्रोध बा ना करे किबा (७९); गुपते साधिबे सिद्धि (३४०); गुरुमुखपद्म वाक्य (१४); गोविन्द शरीर सत्य (२०१); गोविन्द गोकुलचन्द्र (३११); गौरहरि अवतरि (३३८); चक्षुदान दिलो जेइ (१७); जगत् व्यापक हरि (२९४); जय जय राधानाम (३२५); जय सनातन-रूप (२६); जल बिनु जेनो मीन (२४९); जलद सुन्दर काँति (१८४); जीवन मरणे गति (१२५); ज्ञान कर्म करे लोक (२९१); ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड (२८७); तार भक्त सङ्ग सदा (३२७); तीर्थयात्रा परिश्रम (५९); तुङ्ग-विद्या इन्दुरेखा (१४२); तुमि तो दयार सिन्धु (१०३); तुमि तो परम देवा (११०); दशनेते तृण धरि (१३०); दुर्लभ भजन हेनो (२७९); देवलोक पितृलोक (९५); देहे ना करिहो आस्था (२८४); देहे बैसे रिपुगण (६९); नवद्वीपे अवतार (३३६); नरोत्तमदास कहे (२६४); नरोत्तमदासे कय (१६९); नरोत्तम बड़ो दुःखी (११६); ना करिहो असत् चेष्टा (८५); नूपुर मराल ध्वनि (१९५); पतित पावन नाम (१०८); परम नागर कृष्ण (२९७); पाप

ना करिहो मन (२२०); पापपुण्यमय देह (२१४); पृथक आवास याग (९७); प्रार्थना करिबो सदा (२३२); प्रेमभक्ति तत्त्व एइ (३१४); प्रेमभक्ति रीति जतो (३०); प्रेमभक्ति सुधानिधि (२२३); भागवत शास्त्रमर्म (३६); मनेर स्मरण प्राण (१८१); महाजनेर जेइ पथ (४९); मध्ये मध्ये आछे दुष्ट (२५८); मृगमद चन्दन (१८८); मो सम पतित नाइ (११५); यावत् जनम मोर (१०५); युगल किशोर प्रेम (३३); युगल-चरण सेवि (१६३); युगल-चरण सेवा (१२७); युगल-चरण प्रीति (१७७); योगी न्यासी कर्मी ज्ञानी (५५); रागेर भजन पथ (१३९); राधाकृष्ण दुँहु प्रेम (२६९); राधाकृष्णे नाहि रति (२८९); राधाकृष्ण करो ध्यान (२४५); राधाकृष्ण सेवन (२३५); राजार जे राज्यपाट (२१७); राधिका प्रेयसी वरा (२७२); राधिकार सखी जतो (१४२); राधिका-चरण रेणु (३२१); **रामचन्द्र कविराज (३४६);** लीलारस सदा गान (३०३); लुबध भ्रमर जेनो (२५२); वचनेर अगोचर (२६६); विषय गरलय (२५४); विषय विपत्ति जानो (३१८); विषय विषम गति (२८२); वृन्दावने दुइ जन (१६०); वैष्णव-चरणरेणु (२३); व्रजपुर वनितार (२११); शीतल किरण कर (२०७); श्रीकृष्णचैतन्यदेव (३३३); **श्रीगौराङ्गप्रभु मोरे (३४९);** श्रीगुरु करुणासिन्धु (२०); श्रीगुरु-चरण-पद्म (११); श्रीगुरु भकतजन (२९९); श्रीचैतन्यमनोभीष्टं (६); श्रीनाथे जानकीनाथे (९२); श्रीमुख सुन्दर वर (१३६); श्रीरूपमञ्जरी सार (१५०); संसार वाटुयारे (३४२); सखीगण चारिपाशे (२४२); सखीनां सङ्गिनीरूपां (१७२); सदा सेवा अभिलाष (१००); समस्नेहा विषमस्नेहा (१४८); साधने जे धन चाइ (१६६); सार्थक भजनपथ (३१६); साधु-शास्त्र-गुरुवाक्य (४४); स्त्री-पुत्र-बान्धव जतो (३४४); हेम-गौरी तनु राइ (२३९); हृषीके गोविन्द सेवा (६४)।

❖

❖ प्रार्थना-सूची (पृथक् पृष्ठ-क्रमाङ्क ❖

❖

गौराङ्ग बोलिते हबे (२); हरि हरि कि मोर (५); राधाकृष्ण! निवेदन (७); हरि! हरि! हेनो दिन (११); हरि! हरि! विफले (१५); हरि! हरि! कबे मोर (२०, १०२, ११९); प्राणेश्वर! निवेदन (२३); श्रीगोविन्द! गोपीनाथ! कृपा (२७); मोर प्रभु मदनगोपाल! (२९); धन मोर नित्यानन्द (३२); निताइ पदकमल (३९); ओरे भाइ! भजो मोर (४४); गौराङ्गेर दुटिपद (५०); श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु! (५६); जे आनिलो प्रेमधन (५९); हरि! हरि! बड़ो शेल (६३); ठाकुर वैष्णव-पद (६७); ठाकुर वैष्णवगण! (७०); एइ बार करुणा करो (७३); किरूपे पाइबो सेवा (७६); हरि! हरि! कि मोर करम (७८, १२३); हरि हरि! आर कि (८१, १०६, १०९); हरि हरि! आर कबे (८६); करङ्ग कौपीन लइया (८८); हरि हरि! कबे हबो (९२); आर कि एमन दशा हबो (९४); राधाकृष्ण सेवों मुइँ (९६); राधाकृष्ण प्राण मोर (९९); हरि हरि! कबे मोर (१०२); गोवर्धन गिरिवर (१०४); प्राणेश्वरि! एइ बार (१११); अरुण-कमलदले (११३); कुसुमित वृन्दावने (११६); प्रभु हे! एइ बार (१२१); श्रीरूपमञ्जरी पद (१२५); शुनियाछि साधुमुखे (१२७); एइ नव दासी बोलि (१२९); श्रीरूप-पश्चाते (१२९); हा हा प्रभु लोकनाथ (१३०); लोकनाथ प्रभु तुमि (१३१); हा हा प्रभु करो दया (१३३); हरि हरि कबे हेनो दशा (१३५); जय जय श्रीकृष्णचैतन्य (१३७); कबे कृष्णधन पाबो (१४०); एइबार पाइले देखा (१४३); गोरा पहुँ ना भजिया (१४५); वृन्दावन रम्यस्थान (१४६); कदम्बतरुर डाल (१४८); आजि रसे बादर (१५०)।

❖

❋ श्रीश्रीगौरविधुर्जयति ❋

श्री श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय-रचित

श्रीश्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिका

●

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन-शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥१॥

अनुवाद -

जिन्होंने ज्ञानरूपी अञ्जन-शलाका द्वारा मेरे अज्ञान-तिमिरान्ध नेत्रों को उन्मीलित कर दिया है, मैं उन्हीं गुरुदेव के श्रीचरणों में प्रणाम करता हूँ॥१॥

टीका -

''अद्वैतप्रकटीकृतो नरहरिप्रेष्ठः स्वरूपप्रियो,
नित्यानन्द-सखः सनातनगतिः श्रीरूप-हृत्केतनः।
लक्ष्मी-प्राणपति र्गदाधररसोल्लासी जगन्नाथभुः,
साङ्गोपाङ्ग-सपार्षदः स दयतां देवः शचीनन्दनः॥''

''तस्मै श्रीगुरवे नमः श्रीगुरं प्रतिनमोऽस्तु। किम्भूतायम्? येन गुरुणा मम चक्षुः नेत्रमुन्मीलितम्। मम किम्भूतस्य-अज्ञानतिमिरान्धस्य अज्ञानमेव तिमिरमक्षिरोगस्तेनान्धस्य दृष्टिशक्तिरहितस्य। किंवा अज्ञानमविद्या तदेव तिमिरमन्धकारस्तेन अन्धस्य। अज्ञानतमसो नामक कैतवं, यथा श्रीचैतन्यचरितामृते-''अज्ञान तमेर नाम कहिये कैतव। धर्म अर्थ काम वाञ्छा आदि एइ सब॥ तार मध्ये मोक्षवाञ्छा कैतव प्रधान। जाहा हइते कृष्ण-भक्ति हय अन्तर्धान। कृष्णभक्ति-बाधक जत शुभाशुभ कर्म। सेह एक जीवेर अज्ञानतमोधर्म॥'' कया ऊन्मीलितं ज्ञानाञ्जन-शलाकया, - ''ईश्वरः परमः कृष्ण सच्चिदानंद विग्रहः। अनादिरादिगोविन्दः सर्वकारण- कारणमित्यनेन'' ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयमित्यनेन'' च कृष्ण-भगवत्ता ज्ञानमेवाञ्जनशलाका तया। ''कृष्णे भगवत्ताज्ञान सम्वितेर सार'' इति श्रीचैतन्यचरितामृतोक्तेः॥१॥

मङ्गलाचरण -

सुधाकणिका व्याख्या-''जो अद्वैतप्रभु द्वारा प्रकट किये गये है, जो नरहरि के अति प्रिय हैं, श्रीस्वरूप दामोदर के प्रियतम हैं, जो नित्यानन्द प्रभु के सखा हैं, श्रीसनातन गोस्वामिपाद की गति हैं, श्रीरूप के

हृदय-केतन हैं, जो लक्ष्मीदेवी के प्राणपति हैं, श्रीगदाधर पण्डित के रसोल्लासप्रदाता हैं और श्रीजगन्नाथ मिश्र के आत्मज हैं-वे ही दिव्य-गौरकान्ति श्रीशचीनन्दन साङ्गोपाङ्ग सपार्षद हम लोगों के प्रति सदय हों।''

श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय द्वारा प्रणीत इस ग्रन्थ का नाम 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका' है। श्रील निताइचाँद के प्रेम की मूर्ति श्रील ठाकुर महाशय के हृदयाकाश में जो प्रेम-सुधाकर सतत समुदित था, उसी की अमृतमयी चन्द्रिका (ज्योत्स्ना-आलोक) इस ग्रन्थ के रूप में विश्व में प्रकाशित है और अविद्या के घने अन्धकार में आच्छन्न जीवों के चित्त में प्रेमभक्ति की आलोक-रश्मियाँ फैलाती उन्हें धन्य कर रही है।

भगवान् की स्वरूपशक्ति ह्लादिनी एवं संवित् का सार ही 'भक्ति' है। स्वरूपशक्ति की ह्लादिनी, संवित् एवं संधिनी ये तीनों वृत्तियाँ भगवान् में ही विराजित हैं; ये जीवशक्ति अथवा बहिरङ्गा-मायाशक्ति में नहीं। भगवत्कृपा से स्वरूपशक्ति की ह्लादिनी एवं संविद् वृत्तियाँ जीव-चित्त में प्रविष्ट होकर साधन-भजन से परिपक्व होने पर चित्त वृत्ति के साथ तादात्म्य पाकर 'प्रेम' कहलाती हैं। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है- ''तस्या ह्लादिन्या एव क्वापि सर्वानन्दातिशायिनी वृत्तिर्नित्यं भक्तवृन्देष्वेव निक्षिप्यमाणा भगवत् प्रीत्याख्यया वर्तते। अतस्तदनुभवेन श्रीभगवानपि श्रीमद्भक्तेषु प्रीत्यतिशयं भजत इति।'' (प्रीतिसन्दर्भ-अनु० ६५) अर्थात् इस प्रकार ह्लादिनी शक्ति भगवान् में नित्य विद्यमान रहने से उसी की सर्वानन्दातिशायिनी नित्य वृत्ति भक्तों में निक्षिप्त होकर 'भगवत्प्रीति' नाम धारण करती है, अतएव भगवान् भी भक्तों के भीतर उस प्रीति को अनुभव कर अतिशय प्रीति प्राप्त करते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे पारे में गन्धक चूर्ण गिरते ही नहीं मिलता; दोनों को मीड़ने पर पारे और गन्धक का आकार बदल कर एक नयी वस्तु सामने आती है-पारे और गन्धक की ऐक्यावस्था। श्रवण-कीर्तनादि भजन के फलस्वरूप भक्तसाधक की प्राकृत मनोवृत्ति सच्चिदानन्दरूपा भक्ति के साथ मिलकर स्वतः चिन्मयत्व प्राप्त करती है, तब साधक की मनोवृत्ति और ह्लादिनी-वृत्ति की मिलित अवस्था का नाम 'प्रेम' होता है। इस ग्रन्थ में उसी प्रेम-साधना का सुनिर्मल आलोक झलमल करता है, तभी इसका सार्थक नाम है 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका'। श्रील ठाकुर महाशय की महा अनुभवमय वाणी इस प्रेमभक्तिचन्द्रिका में एक ओर सहसा प्रेमोत्पादक अचूक साधन-भजन की शक्ति निहित है, तो दूसरी ओर भजन-निपुणता का ऐसा अपूर्व अमृतमय उपदेश है, जिसका आलोक श्रवण-कीर्तन करने वाले के हृदय का अविद्या-तिमिर नष्ट कर शीघ्र ही प्रेमभक्ति का सञ्चार कर हाथ पकड़कर अभीष्ट श्रीराधाकृष्ण के श्रीचरण-सान्निध्य में पहुँचा देगा। जैसे चन्द्रमा का प्रकाश दिग्भ्रान्त पथिक के आगे सही मार्ग प्रकाशित कर उसे गन्तव्य में पहुँचा देता है, वैसे ही यह प्रेमभक्तिचन्द्रिका संसाररूपी मरुभूमि में घूम रहे स्वरूपभ्रान्त जीवों की त्रितापज्वाला शान्त कर अपनी प्रभा से यथार्थ भजनपथ दिखाकर मञ्जरीस्वरूप जाग्रत कर श्रीश्रीराधामाधव के निकुञ्ज द्वार पर पहुँचा देगी। तभी इसका सार्थक नाम है 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका'।

श्रील ठाकुर महाशय की निरुपम अनुभूति से भरी वाणी इस प्रेमभक्तिचन्द्रिका में गौड़ीय वैष्णव साधकों के भजन साधन के अति रहस्यपूर्ण और जटिल तत्त्व-सिद्धान्त अल्प और संक्षिप्त वाक्यों में सरल बङ्गला में प्रकाशित हैं। यही कारण है कि यह ग्रन्थ सचमुच ही गौड़ीय भजनराज्य के महामूल्यवान् और सारभूत उपदेशों के रूप में प्रतिष्ठित है। हाँ, इस भजनानुभूतिपूर्ण वाणी का मर्म महत्कृपा के सहारे और यथासम्भव भजनानुभव से ही समझने की चेष्टा करनी होगी। प्राकृत विद्याबुद्धि से मर्म समझना सर्वथा दुष्कर है। इस विषय में एक सत्य घटना का उल्लेख करते हैं।

एक उच्चशिक्षित व्यक्ति ने बङ्गदेश से अवकाश प्राप्त कर व्रजवास की इच्छा से वृन्दावन आकर एक महत् पुरुष का चरणाश्रय लिया। उस महत् पुरुष ने श्रील ठाकुर महाशय की प्रेमभक्तिचन्द्रिका देकर नित्य पाठ करने का उपदेश दिया। बीच-बीच में उससे पूछते-प्रेमभक्तिचन्द्रिका पढ़ते हैं या नहीं, समझते हैं या नहीं? सुनकर उस शिक्षित भद्रपुरुष के मन में आता-लगता है गुरुदेव भजनावेश में भूल जाते हैं कि मैं इतना बड़ा विद्वान व्यक्ति हूँ; इस सरल बङ्गला त्रिपदी में लिखे ग्रन्थ में मेरे न समझने लायक भला क्या हो सकता है? ऐसा सोचकर वे सज्जन मुँह से कह देते-''हाँ, सब समझ लेता हूँ।'' एक दिन उन महानुभव ने एक त्रिपदी पढ़कर उस सज्जन से व्याख्या करने को कहा। उन्होंने अपनी प्राकृत विद्या की सामर्थ्य के अनुरूप व्याख्या कर दी। सुनकर वे महत् पुरुष थोड़े हँसकर बोले-''भाई, इन त्रिपदियों का मर्म ऐसा नहीं है।'' कहकर उन्होंने उस त्रिपदी का ऐसा अपूर्व अर्थ बताया, जो उस भद्र पुरुष की कल्पना में भी न था। उस दिन से पूरी प्रेमभक्तिचन्द्रिका उन्हें अतिशय कठिन लगने लगी। उन्हें गुरुदेव से मनोयोग के साथ ग्रन्थ का अर्थ सीखना पड़ा था। (यह हमने अपने श्रीगुरु महाराज के श्रीमुख से सुना है)। हम लोग ग्रन्थकार परमपूज्य श्रील ठाकुर महाशय एवं श्रीगुरु-वैष्णव के चरणों में शरणागत होकर उन सबकी कृपा को सम्बल बनाकर इस ग्रन्थ का मर्म यथामति समझने की चेष्टा करेंगे।

श्रील ठाकुर महाशय ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति हेतु यथायथ वैष्णवीय रीति के अनुसार मङ्गलाचरण में श्रीगुरुवन्दना कर रहे हैं। ''ग्रन्थेर आरम्भे करि मङ्गलाचरण। गुरु वैष्णव भगवान् तिनेर स्मरण॥ तिनेर स्मरणे हय विघ्न विनाशन। अनायासे हय निज वांछित पूरण॥ से मङ्गलाचरण हय त्रिविध प्रकार। वस्तुनिर्देश आशीर्वाद आर नमस्कार॥'' (चै० च०) श्रील ठाकुर महाशय प्रेम की मूर्ति होकर भी अतिशय दैन्य के साथ स्वयं को साधारण मायाबद्ध संसारी मानव मानकर श्रीगुरुदेव की असीम करुणा की बात याद कर श्रीगुरुचरणों में अत्यन्त भक्तिपूर्वक प्रणाम कर 'नमस्कार' रूप मङ्गलाचरण कर रहे हैं-'जिन्होंने ज्ञानरूपी अञ्जन-शलाका से मेरे अज्ञान-तिमिरान्ध नेत्रों को उन्मीलित कर दिया है, मैं उन्हीं गुरुदेव के श्रीचरणों में प्रणाम करता हूँ।' यहाँ अज्ञान-तिमिर का अर्थ है जीव का कैतव या कपटता-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की वाञ्छा आदि। श्रीचैतन्यचरितामृत में आया है-''अज्ञान तमेर नाम कहिये कैतव। धर्म अर्थ काम वाञ्छा आदि एइ सब॥ तार मध्ये मोक्ष वाञ्छा कैतव प्रधान। जाहा हैते कृष्णभक्ति हय अन्तर्द्धान॥'' अर्थात् अज्ञानतम का अर्थ है 'कैतव' या 'कपटता' और 'कैतव' का अर्थ है धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की वासना। किन्तु अज्ञानतम का प्रतिशब्द कैतव या कपटता नहीं; कैतव शब्द का प्रतिशब्द भी धर्म अर्थ काम और मोक्ष-वाञ्छा नहीं; फिर किस उद्देश्य से चैतन्यचरितामृत में इन असंलग्न शब्दों की योजना की गई है? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने समाधान किया है श्रीचैतन्यचरितामृत के इस पयार की टीका में-''कृष्णनित्यदासस्य जीवस्य तद्दासत्वं बिना निजसुखार्थम् अन्यं सर्वं कैतवमिति भावः'', अर्थात् जीव स्वरूपतः श्रीकृष्ण का नित्यदास है; नित्यदास का कर्तव्य है प्रभु का दासत्व या उनकी सेवा। नित्यदास जीव जिस क्षण श्रीकृष्ण की सेवा भूला है, उसी क्षण अज्ञान-अन्धकार में गिरा है; अपने स्वरूप को भूलकर मायिक देह-दैहिकादि में मग्न होकर नाना प्रकार के आत्मसुखों को खोज रहा है। इस विविध आत्मसुख को वैज्ञानिक रूप से विभक्त करें तो पता चलेगा कि यह धर्म अर्थ काम और मोक्ष की वाञ्छा के अतिरिक्त और

कुछ नहीं। यहाँ धर्म का अर्थ है याग, यज्ञ, दान, दया आदि स्वर्गसाधक साधारण धर्म, जो सकाम कर्मियों द्वारा आचरित है। इस धर्म से अर्जित पुण्य द्वारा जो स्वर्गादि सुख प्राप्त होता है, वह नश्वर है-''तद् यथेह कर्मार्जितो लोकः क्षीयते''एवमेवात्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते''क्षीण पुण्ये मर्त्तलोकं विशन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से यह पता चलता है। इसलिये स्वरूपभ्रान्त जीव स्वर्ग आदि सुख भोगकर याग-यज्ञादि से अर्जित पुण्य के क्षय हो जाने पर पुनः जन्म-मरण आदि घोर संसार-क्लेश प्राप्त करते हैं। दरअसल अविद्या माया द्वारा स्वरूपभ्रान्त जीव को स्वर्गादि सुख-भोग कराना भी श्रीकृष्णबहिर्मुखता दोष के लिये दण्ड देने का एक अभिनव कौशल विशेष है। श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है (चै० च०) -

''कृष्ण भूलि सेइ जीव-अनादि-बर्हिमुख।
अतएव माया तारे देय संसार दुख॥
कभु स्वर्गे उठाय कभु नरके डुबाय।
दण्ड्य जने राजा जेनो नदीते चुबाय॥''

पूर्वकाल में राजदण्डित व्यक्तियों को दण्डदान की एक ऐसी रीति थी कि राजा के लोग राजदण्डित व्यक्ति को एक लम्बे बाँस के सिरे से बाँध कर नदी या गहरी पुष्करिणी के जल में डुबाये रखते थे। वह जब डूबे-डूबे प्राणान्तक अवस्था में जा पहुँचता, तब ऊपर उठाते। ऊपर उठकर वह 'अहा बच गया' कहकर सुख अनुभव करता। यह सुख भी पुनः दुःख का कारण होता, कारण-उसे इस प्रकार बार-बार डुबाया-उठाया जाता। इसी प्रकार श्रीकृष्ण-विस्मृत अनादि बहिर्मुख जीव को अविद्या माया कभी स्वर्ग में उठाकर पुनः नरक में डुबाकर दण्ड देती रहती है। इसलिये स्वर्ग-साधक याग यज्ञादि धर्म को घोर अज्ञानतम ही मानना होगा।

'अर्थ' का तात्पर्य है चक्षु, कर्ण, जिह्वा, नासिका, त्वक आदि इन्द्रियों के उपभोग्य रूप, शब्द, रस, गन्ध, स्पर्श आदि जड़ीय विषयसमूह। अथवा, अतुल राजवैभव अर्थ-सम्पद आदि। 'काम' का अर्थ है कामना-पाप-पुण्य आदि का विचार किये बिना रूप रस आदि विषयों से अपनी इन्द्रियों के तर्पण की इच्छा। स्वरूपभ्रान्त कृष्ण-नित्यदास जीव मायिकदेह में 'मैं' बुद्धि और उक्त भोग्य विषयों में 'मेरा' बुद्धि रखता है, फलस्वरूप वह जड़ीय संस्कारों में बद्धचित्त होकर जन्म-जन्मान्तर में उन्हीं में एकान्तभाव से आविष्ट रहता है। यही कारण है कि विषयभोग के फलस्वरूप पुनः पुनः जन्म-मरणादि के कराल कवल में पड़कर असहनीय नरक आदि यन्त्रणा भोगा करता है। भगवत् इच्छा से दैवात् ज्ञान-बुद्धिवाली मानवदेह मिल जाती है, तब भी उक्त वासनाओं के मल से चित्त भरे रहने से जीव अपना हित-अहित नहीं समझता और सर्वदा देह-दैहिकादि विषय-भोग में ही अभिनिविष्ट रहता है। इसलिये यह अर्थ और काम जीव का प्रबल अज्ञानतम या कैतव है।

धर्म अर्थ काम तो हैं ही, जिससे अविद्याबन्धन नष्ट होकर ब्रह्मसायुज्य प्राप्त होता है, वह मोक्ष या मुक्ति भी जीवस्वरूप का प्रधान कैतव या सर्वाधिक अज्ञानतम है। कारण यह है कि धर्म अर्थ काम इस त्रिवर्ग की वासनाओं से पङ्किल हुए चित्त में नाना योनियों में घूमते हुए जीव में कभी महत् सङ्ग में अथवा महत्कृपा से कृष्णदासत्व जगने की या भक्ति प्राप्त करने की सम्भावना रह जाती है। श्रीचैतन्यचरितामृत में आया है-

''नित्यबद्ध - कृष्ण हैते नित्य बहिर्मुख।
नित्य संसारी भुञ्जे नरकादि दुख॥
सेइ दोषे मायापिशाची दण्ड करे तारे।
आध्यात्मिकादि तापत्रय जारि तारे मारे॥
काम-क्रोधेर दास हइया तार लाथि खाय।
भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु-वैद्य पाय॥
तार उपदेश-मंत्रे पिशाची पालाय।
कृष्णभक्ति पाय तवे कृष्ण निकट जाय॥''

किन्तु मोक्षवासना से विद्धचित्त मुमुक्षु का ब्रह्म से अभेद सोचने के कारण श्रीकृष्ण के साथ जीव का प्रभु और नित्यदास का सम्बन्ध-ज्ञान सदा-सदा को लुप्त हो जाता है। श्रीकृष्ण भक्त महद्‌गण भी इन मुमुक्षुओं का साथ छोड़ देते हैं। इसलिये भक्ति पाने का मूल एकमात्र हेतु महत्कृपा भी इनके लिये सुदूर पराहत हो उठती है। अन्त में ब्रह्म के साथ सायुज्य प्राप्त होने से श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्धज्ञान जगने या भक्ति पाने की सम्भावना सदा के लिये जाती रहती है। इसीलिये मोक्षवासना को प्रधान कैतव या सर्वाधिक अज्ञानतम कहा गया है। मुक्तिवादी श्रील सार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीमन्महाप्रभु की कृपा से भजनरस का आस्वादन प्राप्तकर कहा था (चै० च०) -

''कृष्णेर विग्रह जेइ सत्य नाहि माने।
जेइ निन्दा-युद्धादिक करे ताँर सने॥
सेइ दुइयेर दण्ड हय-ब्रह्मसायुज्य भक्ति॥
तार मुक्तिफल नहे - जेइ करे भक्ति॥
× × ×
मुक्ति शब्द कहिते मने हय घृणा त्रास।
भक्ति शब्द कहिते मने हयतो उल्लास॥''

श्रीगुरुदेव ज्ञानरूपी अञ्जन-शलाका द्वारा इन सभी अज्ञान-तिमिरों से अन्धे हुए जीवों का नेत्र-रोग नष्ट कर आँखें खोल देते हैं। ज्ञानरूपी अञ्जन-शलाका के सम्बन्ध में श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने अपनी टीका में लिखा है-कया उन्मीलितं ज्ञानाञ्जनशलाकया-''ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणमित्यनेन'' ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयमित्यनेन'' च कृष्ण-भगवत्ताज्ञान-मेवाञ्जनशलाका तया ''कृष्णे भगवत्ता ज्ञान सम्विदेर सार'' इति श्रीचैतन्यचरितामृतोक्ते।'' अर्थात् यहाँ ज्ञान से श्रीकृष्ण में स्वयं भगवत्ता। ज्ञान समझना होगा, वही अज्ञानरूपी चक्षुरोग के विनाश की अञ्जन-शलाका सदृश है। ब्रह्मसंहिता के प्रारम्भ में ही आता है-''परमेश्वर श्रीकृष्ण श्रीगोविन्द सच्चिदानन्द विग्रह, अनादि सभी के आदि हैं और वे सभी कारणों के कारण हैं'', अर्थात् श्रीकृष्ण समस्त भगवत् स्वरूपों के मूलतत्त्व-स्वयं भगवान् हैं। श्रीमद्भागवत में है-''एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' (१/३/२८), अर्थात् अन्यान्य भगवत्स्वरूप कोई अंश,

कोई कला (अंश का अंश) हैं, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। 'स्वयं भगवान्' श्रीमद्भागवत का अपना वचन है। अन्य किसी शास्त्र में अथवा श्रीकृष्ण को छोड़ अन्य किसी भगवत्स्वरूप के लिये इन शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। उक्त श्लोक की सहायता से ही महानुभव आचार्यपादों ने श्रीकृष्णतत्त्व का विचार किया है। उन लोगों के मत में यह श्रीमद्भागवत की मौलिक तत्त्व की 'परिभाषा' है। 'अनियम में नियमकारिणी परिभाषा', अर्थात् जो वाक्य अनियमितभाव से वर्णित विषयवस्तु समूह को किसी नियम में शृंखलित करता है–उसी को परिभाषा कहते हैं। जो शास्त्र में मात्र एकबार ही पठित होता है और इसके द्वारा कोटि–कोटि वाक्य नियमित होते हैं। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' यह श्लोक पूरी भागवत में एकबार ही पढ़ने में आता है। महाराज–चक्रवर्ती की तरह इस महावाक्य की स्वाधीन विजय–पताका अन्य सभी शास्त्र वाक्यों के मस्तक पर सगौरव उड़ती है। यह श्रीकृष्ण में स्वयं भगवत्ताज्ञान ही जीव के अज्ञानरूपी चक्षुरोग के विनाश की अञ्जनशलाका सदृश है। श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने भी लिखा है–''कृष्णे भगवत्ता–ज्ञान–सम्वितेर सार। ब्रह्म ज्ञानादि सब तार परिवार॥''

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, सर्वाराध्य तत्त्व हैं–इस ज्ञान के उदय होते ही 'वे मेरे नित्यप्रभु हैं और मैं उनका नित्यदास हूँ' यह 'सम्बन्ध' ज्ञान उदित होता है। तब सहज स्वाभाविकरूप से 'अभिधेय' और 'प्रयोजन' ज्ञान भी जगते हैं। अभिधेय ज्ञान–उनकी सेवा और भजन ही मेरा एकमात्र कर्तव्य है। प्रयोजन ज्ञान–उनके चरणों में प्रेम ही मेरा एकमात्र काम्य है, कारण बिना प्रेम कोई भी सेवा उन्हें सुखकर नहीं होती। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं–'जिन गुरुदेव ने इस ज्ञानरूपी अञ्जनशलाका द्वारा मेरा अज्ञानरूपी नेत्ररोग नष्ट कर सम्बन्ध–अभिधेय–प्रयोजनतत्त्व के विवेक के रूप में दिव्यज्ञान चक्षुओं का विकास किया है, उन्हीं गुरुदेव को नमस्कार करता हूँ'॥१॥

श्रीचैतन्य–मनोहभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
सोहयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्॥२॥

अनुवाद –

जिन्होंने श्रीचैतन्यमहाप्रभु का मनोभीष्ट विषय जगत में स्थापित किया है, वे श्रीरूपगोस्वामिपाद मुझे अपना श्रीचरणसान्निध्य कब प्रदान करेंगे?

टीका –

श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मनोऽभीष्टं मनोऽभिलषितं श्रीमद् भगवद्भक्तिरस–शास्त्रं भूतले येन रूपेण स्थापितं निरूपितम्। स स्वयं रूपः स्वपदान्तिक निजचरण निकटं कदा भाग्यवशेन मह्यं ददाति। श्रीरूपस्य कृपया निजानुचरत्वेन तत्सेवन–कर्म करवाणीति भावः॥२॥

मङ्गलाचरण :

सुधाकणिका व्याख्या–श्रील ठाकुर महाशय ने प्रथम श्लोक में श्रीगुरुवन्दना में नमस्कार रूप मङ्गलाचरण किया था। अब इस श्लोक में बड़े कौशल के साथ अपने परम अभीष्ट श्रीश्रीचैतन्यदेव एवं श्रीचैतन्यप्रिय पार्षद वैष्णवचूड़ामणि श्रील रूपगोस्वामिपाद के स्मरण के साथ 'वस्तुनिर्देश' और 'आशीर्वाद' रूप मङ्गलाचरण भी कर रहे हैं।

व्रजलीला में किसी अपूर्व विशेष अभिलाषा की सिद्धि के लिये असमोर्द्ध सौन्दर्य-माधुर्य-निकेतन स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीराधा की भावकान्ति लेकर गौर बने हैं। उनका वह मनोभिलाष द्विविध है-एक अपने लिये, दूसरा विश्व के लिये। अपने लिये जो अभिलाषा है, वह मुख्य है। विश्व के लिये, वह गौण आनुषङ्गिक है। श्रील रामानन्द राय ने श्रीमन्महाप्रभु के आगे कहा था-''निज गूढ़कार्य तोमार प्रेम आस्वादन। आनुषङ्गे प्रेममय कैले त्रिभुवन॥'' (चै० च०) ''कैछन राधाप्रेमा कैछन (मोर) मधुरिमा, कैछन भावे तिहों भोर।'' श्रीचैतन्यदेव ने राधाभाव से अपनी अभिलषित ये तीनों वाञ्छायें भलीभाँति पूरी कीं। जो वस्तु स्वयं ने आस्वादन की, वही राधाप्रेम की माधुरी श्रीराधा की किङ्करी के रूप में विश्वमानव को आस्वादन कराने के लिये उनके मन में अभिलाषा जगी थी। अपना वही मनोभिलषित विषय अपने प्रिय पार्षद श्रील रूपगोस्वामिपाद के माध्यम से विश्व में स्थापित प्रचारित किया।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने इस श्लोक की टीका में लिखा है-''श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मनोऽभीष्टं मनोऽभिलषितं श्रीमद् भगवद्भक्तिरस-शास्त्रं भूतले येन रूपेण स्थापित निरूपितम्'', अर्थात् श्रीचैतन्यदेव के मन की अभीष्ट या मनो-अभिलषित वस्तु है श्रीभगवद्भक्तिरसशास्त्र-उन्होंने श्रीरूप के द्वारा इसे विश्व में स्थापित या प्रचारित किया है। तात्पर्य यह है कि प्राक् चैतन्य युग में विविध भक्तिरसशास्त्र के वर्णित प्रचारित होने पर भी श्रीमन्महाप्रभु का विशेष अवदान है-व्रजसुन्दरियों की आनुगत्यमय उन्नत उज्ज्वलरसात्मिका भक्ति, जिसका श्रीरूपगोस्वामिपाद ने भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, विदग्धमाधव, ललितमाधव, स्तवमाला आदि में वर्णन कर विश्व में प्रचार किया है। व्रज का जो उज्ज्वलरस पहले ब्रह्मा, शिव, उद्धव आदि के लिये भी अगम्य था, श्रीमन्महाप्रभु की कृपा से व्रजरस के मंत्रद्रष्टा ऋषि श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने उसी का अपनी रसग्रन्थावली एवं नाटकों में वर्णन कर उसे साधारण कलिजीवों के लिये भी आस्वाद्य बना दिया है। जो जिनकी वस्तु है, उसे उनके अतिरिक्त अन्य कोई भी देने में समर्थ नहीं होता। 'रस' भगवान् का ही स्वरूप है, वे यदि करुणाघन श्रीगौराङ्गरूप में अवतीर्ण होकर उसे विश्व को न देते, तो वह जीव के लिये सदा ही अलभ्य रहता। श्रीमन्महाप्रभु ने ही साक्षात् प्रेरणा देकर श्रीरूपगोस्वामिपाद के माध्यम से रसतत्त्व का प्रचार किया है-यह बात श्रीगोस्वामिपाद ने भक्तिरसामृतसिन्धु के आरम्भ में स्वयं ही बताई है-

''हृदि यस्य प्रेरणया, प्रवर्तितोऽहं वराकरूपोऽपि। तस्य हरेः पदकमलं वन्दे चैतन्यदेवस्य॥'' अर्थात् 'मैं अति क्षुद्रजीव होकर भी जिनकी प्रेरणा से इस भक्तिरसग्रन्थ के प्रणयन में लगा हूँ, उन्हीं श्रीकृष्णचैतन्यदेव के चरणकमलों की वन्दना करता हूँ।' श्रीमन्महाप्रभु की प्रेरणा से ही उनके प्रिय पार्षद श्रीरूपगोस्वामिपाद ने उनके मनोभिलषित व्रजरस का ग्रन्थादि के माध्यम से विश्व में प्रचार किया है। इसलिये जो लोग अप्राकृत भागवतरस की चरमतम कक्षा में आरूढ़ व्रज के मधुर रस के आस्वादन का लोभ रखते हैं अथवा उसकी एकान्त अभिलाषा रखते हैं, उनके लिये श्रीरूपगोस्वामिपाद के चरणों में शरणागत होकर उनके रसग्रन्थादि का अनुशीलन करना नितान्त अपरिहार्य है, कारण-उस रसवस्तु को सर्वसाधारण में वितरण करने वाले आनन्द-लीलामय-विग्रह श्रीगौरसुन्दर के प्रिय पार्षद हैं श्रीगोस्वामिपाद।

श्रीमन्महाप्रभु की करुणा से उनकी मनोभिलषित वस्तु की स्थापना में श्रीरूपगोस्वामिपाद को कितनी सफलता मिली थी, इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है प्रभु और श्रीरामानन्द की श्रीरूप की नाटक

विषयक समालोचना। नीलाचल में नामाचार्य श्रीहरिदास की कुटीर में सपार्षद श्रीमन्महाप्रभु ने रूप का नाटक श्रवण कर यह समालोचना की थी।

''एतो शुनि राय कहे प्रभुर चरणे।
रूपेर कवित्व प्रशंसि सहस्त्र वदने॥
कवित्व ना हय एइ अमृतेर धार।
नाटक-लक्षण सब सिद्धान्तेर सार॥
प्रेम - परिपाटी एइ अद्भुत वर्णन।
शुनि चित्त कर्णेर हय आनन्दघूर्णन॥''

''किं काव्येन कवेस्तस्य किं काण्डेन धनूष्मतः।
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः॥''

अर्थात् उस कवि की काव्य रचना का प्रयोजन क्या, यदि वह अन्य के हृदय से लगकर आनन्द से उसका मस्तक न घुमा दे! और उस धनुर्धारी के वाण-निक्षेप का ही क्या प्रयोजन, यदि वह वाण अन्य के हृदय में लगकर तीव्र वेदना से उसका सिर न घुमा दे!

''तोमार शक्ति बिनु एइ जीवे नहि वाणी।
तुमि शक्ति दिया कहाओ हेनो अनुमानि॥
प्रभु कहे - प्रयागे इँहार हइलो मिलन।
इँहार गुणे इँहाते आमार तुष्ट हइलो मन॥
मधुर प्रसन्न इँहार काव्य सालङ्कार।
ओइछे कवित्व बिनु नहे रसेर प्रचार॥
सबे कृपा करि इँहारे देहो एइ वर।
व्रजलीला प्रेमरस वर्णे निरन्तर॥''

(चै० च० अन्त्य०, परि० १)

श्रीमन्महाप्रभु की करुणा से स्फूरित श्रीरूप के प्रेमरसमय कवित्व के श्रवण कीर्तन स्मरण से प्राकृत रस अति घृणास्पद लगने लगता है और अप्राकृत रसास्वादन से श्रवण-कीर्तनकारी धन्य कृतार्थ हो जाते हैं-यह स्पष्ट है निम्नलिखित महाजनवाणी से :-

''पीयूषसार-शिशिरानपि चन्द्रपादान्, धीरान्मधुरांश्च मधोः समीराम्।
वाञ्छन्ति के भुवि तथामृतसिन्धुपूरान्, श्रीरूपपादकविता सुरसं निपीय॥१॥
पश्यन्ति के सुरवलि रमणीयतां तां, मन्दाकिनी विकच-काञ्चन-पद्मलक्ष्मीम्।
सम्पूर्ण-शारद-सुधाकर-मण्डलं वा, श्रीरूपपादकविता सुरसं निपीय॥२॥
केवा रसालमुकुलेष्वलि-झंकृतानि, शृन्वन्ति किंन्नरवधू-कलकण्ठिनादन।
कुञ्जेषु, मञ्जु कल-कोकिल-कूजितं वा श्रीरूपपादकविता सुरसं निपीय''॥३॥

इस पद्यत्रय का अति सरस बङ्गला पद्यानुवाद देखिये –

''हृदय-कन्दरे जार, झरियाछे एकबार, श्रीरूपेर कवितार रसेर निर्झर।
अमृतेर पारावार, तार काछे कोन् छार, सुधांशुर सुधासार सुमधुर कर।
सुधीर वसन्त-वायु मकरन्द हर॥१॥

मानस-सरसे जार, फुटियाछे एकबार, श्रीरूपेर कवितार भाव-शतदल।
तुच्छ करे सेइजन, प्रफुल्ल नन्दन-वन, विकशित मन्दाकिनी कनक-कमल।
शरतेर परिपूर्ण शशाङ्कमण्डल॥२॥

कर्ण-कुहरे जार, बाजियाछे एकबार, श्रीरूपेर कवितार सुमधुर तार।
से नाहि शुनिबे आर, मञ्जु कुञ्जे कोकिलार, रसाल-मूकुल-मूले, अलिर झङ्कार।
किन्नरीर कलकण्ठ सुधार आधार''॥३॥

इसके अतिरिक्त, श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद ने श्रीमन्महाप्रभु के दर्शनार्थ वृन्दावन से नीलाचल गमन किया–झारखण्ड के रास्ते–तब उनके शरीर में पीब–खुजली हो गई। उस अवस्था में उन्हें महाप्रभु ने आलिङ्गन कर लिया, तो उन्हें बड़ी आत्मग्लानि हुई और उन्होंने रथचक्र के नीचे देह त्यागने की इच्छा की। महाप्रभु ने ऐसा करने के लिये निषेध किया और कहा कि वे अपना अभिलषित धर्म उनके माध्यम से प्रचारित करेंगे। इन विषयों को भी श्रीमन्महाप्रभु का मनोभीष्ट समझना होगा। (चै० च०) –

''भक्त-भक्ति-कृष्णप्रेम-तत्वेर निर्धार।
वैष्णवेर कृत्य आर वैष्णव-आचार॥
कृष्णभक्ति - कृष्णप्रेम - सेवाप्रवर्तन।
लुप्ततीर्थ-उद्धार आर वैराग्य-शिक्षण॥''

श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने भी श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित भजनमार्ग के यथार्थ आचार्य के रूप में विविध ग्रन्थों की रचना कर और स्वयं आचरण कर कृष्णभक्ति, कृष्णप्रेम–तत्त्व, भक्त–तत्त्व वैष्णव–आचरण आदि स्थापित किये हैं। श्रीश्रीगोविन्द और दामोदर विग्रह प्रकट कर सेवा–प्रवर्तन, व्रज में सर्वत्र परिभ्रमण कर लुप्ततीर्थ–उद्धार, सूखी रोटी चना चबाकर और छिन्न कथा मात्र अङ्ग पर धारण कर वैराग्य–आदर्श की प्रतिष्ठा–यह सब करके श्रीमन्महाप्रभु का मनोभीष्ट विश्व में स्थापित किया है।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं–''सोहयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्'' अर्थात् वे ही श्रीरूपगोस्वामिपाद मुझे अपना श्रीचरणासान्निध्य कब प्रदान करेंगे? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने इस अंश की टीका में लिखा है–''स स्वयं रूपः स्वपदान्तिकं निजचरणनिकट कदा भाग्यवशेन मह्यं ददाति। श्रीरूपस्य कृपया निजानुचरत्वेन तत्सेवनकर्म करवानीति भावः।'' अर्थात् वही श्रीरूपगोस्वामिपाद मेरे सौभाग्यवश मुझे अपना श्रीचरणसान्निध्य कब प्रदान करेंगे? और श्रीरूप की कृपा से उन्हीं की आज्ञा से उनके अनुचर के रूप में श्रीराधाकृष्ण की प्रेमसेवा में नियुक्त होकर कब धन्य होऊँगा?

श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद हैं व्रजलीला की समस्त मञ्जरीवर्ग की अध्यक्षा श्रीरूपमञ्जरी। श्रीमन्महाप्रभु के प्रिय पार्षद के रूप में अवतीर्ण हुए हैं-महाप्रभु की मनोभिलषित परम निगूढ़ मञ्जरी भावसाधना का रहस्य जगत् में प्रचारित कर सभी को व्रज के सुगोप्य निकुञ्ज मन्दिर में ले जाकर श्रीश्रीराधामाधव की प्रेमसेवा दानकर धन्य बनाने के लिये! जो लोग रागानुगा मार्ग में मञ्जरीभाव से श्रीश्रीराधामाधव की प्रेमसेवा पाने की इच्छा रखते हैं, वे यथावस्थित साधक देह से श्रीरूपसनातन आदि गोस्वामिगण के आनुगत्य में अपनी अन्तश्चिन्तित (निरन्तर ध्यान की गई) सिद्ध देह से श्रीरूपमञ्जरी आदि के आनुगत्य में सेवा-चिन्तन कर सिद्धि की अवस्था में भी सदा उन लोगों के निकट रहकर उनके आदेश से अपने अभीष्ट की प्रेमसेवा पाकर धन्य हुआ करते हैं। श्रील ठाकुर महाशय ने अपने प्रार्थना-पद में इस विषय पर अति उज्ज्वल प्रकाश डाला है -

''श्रीरूपेर कृपा जेनो आमा प्रति हय।
से पद आश्रय जाँर सेइ महाशय॥
प्रभु लोकनाथ कबे सङ्गे लइया जाबे।
श्रीरूपेर पादपद्मे मोर समर्पिबे॥''

× × ×

''एइ नवदासी बोलि श्रीरूप चाहिबे।
हेना शुभक्षण मोर कतो दिने हबे॥
शीघ्र आज्ञा करिबेन दासी हेथा आय।
सेवार सुसज्जा कार्य करहो त्वराय॥
आनन्दित हइया हिया ताँर आज्ञा बले।
पवित्र मनेते कार्य करिबो तत्काले॥
सेवार सामग्री रत्नथालाते करिया।
सुवासित वारि स्वर्णझारिते पूरिया॥
दोंहार सम्मुखे लये दिबो शीघ्रगति।
नरोत्तमेर दशा किं हइबे एमति?
श्रीरूप-पश्चाते आमि रहिबो भीत हइया।
दोंहे पुन कहिबेन आमा पाने चाइया॥
सदय हृदय दोंहे कहिबेन हासि।
कोथाय पाइले रूप एइ नव दासी॥
श्रीरूपमञ्जरी तबे दोंहा-वाक्य शुनि।
मञ्जुलाली दिलो मोरे एइ दासी आनि॥
अति नम्रचित्त आमि इहारे जानिलो।
सेवाकार्य दिया तबे हेथाय राखिलो।
एइ तत्व दोंहाकार साक्षाते कहिया।
नरोत्तमे सेवाय दिबे नियुक्त करिया॥''

श्रीराधामाधव की ऐसी हार्द्यसेवा पाने के लिये ही श्रील ठाकुर महाशय श्रीरूप के श्रीचरण-सान्निध्य की कामना करते हैं। यही गौड़ीय वैष्णवों की चरम हार्द्य वस्तु है-इस सूचना में वस्तुनिर्देश किया है। श्रीरूपगोस्वामिपाद द्वारा यह वस्तु विश्वभर को सहजलभ्य हुई है, सभी इसका आस्वादन कर धन्य हों-ऐसा निगूढ़ आशीर्वादरूप मङ्गलाचरण भी सम्पन्न हुआ है॥२॥

श्रीगुरु-चरणपद्म, केवल भकति सद्म,
वन्दों मुइ सावधान मते।
जाहार प्रसादे भाइ, ए भव तरिया जाइ,
कृष्णप्राप्ति हय जाहा हते॥३॥

टीका -

भाइ-हे भ्रातः! मनः॥३॥

केवल भकतिसद्म :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय ग्रन्थ के आरम्भ में समस्त साधन-सिद्धि के मूल-स्वरूप श्रीगुरु-तत्त्व की महिमा का कीर्तन कर पुनः विशेष रूप से श्रीगुरुपादपद्मों की वन्दना कर रहे हैं। समस्त शास्त्रों में भगवद्भक्ति को ही परम पुरुषार्थ के रूप में जीव का मूल प्रयोजन बताया गया है, उस भक्तिसाधना का आरम्भ ही नहीं होता सद्गुरु-चरणाश्रय के बिना-यह शास्त्रों और महाजनों का मत है। श्रीपाद रूपगोस्वामी ने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति के चौंसठ अङ्गों का वर्णन किया है; (उनमें से) जो दस अङ्ग भक्तिमन्दिर के प्रवेश द्वार बताये हैं, उनमें तीन को भक्तिमार्ग में प्रवेश करने का प्रथम और प्रधान द्वार कहा है-''गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षादि-शिक्षणम्। विश्रम्भेण गुरोः सेवा'', अर्थात् श्रीगुरुपादाश्रय, श्रीकृष्णमन्त्र की दीक्षा लेकर भागवत धर्म की शिक्षा एवं विश्वासपूर्वक श्रीगुरुदेव की सेवा। अतएव भक्तिमन्दिर में प्रवेश करने के लिये सर्वाग्र श्रीगुरुपदाश्रय लेना कर्तव्य है। उसके बिना भक्ति या भगवत्कृपा पाना सुदूर पराहत है। जैसे तरल जल शैत्य-संयोग से बरफ आकृति धारण कर और भी अधिक शीतलता आदि गुणों से सम्पन्न हो जाता है, वैसे ही भगवान् की करुणा ही सान्द्र (घनीभूत) होकर श्रीगुरु-विग्रह के रूप में भक्तसाधक के आगे प्रकट होकर भजनरसधारा से साधक के त्रितापदग्ध हृदय को सुशीतल करती है, उसे श्रीभगवत् पादपद्मों में प्रेमसेवा देकर धन्य कर देती है।

श्रील ठाकुर महाशय पहले 'श्रीगुरु' कहकर गुरुतत्त्व की ओर इङ्गित करते हैं। 'श्री' का अर्थ है प्रेमसम्पदा; वह सम्पदा जिनके पास है, वे ही 'श्रीगुरु' हैं। श्रीमद्भागवत कहती है-''तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातम् ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥'' (११/३/२१) ''उत्तम श्रेयो ज्ञातुमिच्छुः। शाब्दे ब्रह्मणि वेदाख्ये न्यायतोव्याख्यानतो निष्णातं तत्वज्ञं अन्यथा संशयनिरासकत्वायोगात्। परे च ब्रह्मणि अपरोक्षानुभवेन

निष्णातं अन्यथा बोधसञ्चारा योगात्। परब्रह्मनिष्णातत्वद्योतकमाह उपशमाश्रयमिति।'' (श्रीधर टीका) तात्पर्य यह है कि जो उत्तमश्रेय या परम मङ्गलमय भक्तितत्त्व जानने के इच्छुक हैं, वे शब्दब्रह्म में निष्णात अर्थात् भक्तिशास्त्रों में पारङ्गत (तत्त्वज्ञ) और परब्रह्म में निष्णात अर्थात् भक्ति के कारण भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त श्रीगुरु का चरणाश्रय लें। यदि गुरुदेव तत्त्वज्ञ न हों, तो आश्रित शिष्य का भजन सम्बन्धी सन्देह दूर करने में सक्षम नहीं होंगे। और यदि वे भक्तिमान न हों, तो आश्रित शिष्य में भजन-अनुभव का सञ्चार करने में समर्थ न होंगे। प्रश्न हो सकता है-पाण्डित्य देखकर यह समझा जा सकता है कि श्रीगुरु को तत्त्वज्ञान है या नहीं; पर भक्ति तो मनोवृत्ति विशेष है, साधक यह कैसे जानेगा कि श्रीगुरु में भक्ति है कि नहीं? इसके उत्तर में कहा गया है 'उपशमाश्रयम्', अर्थात् भक्ति के प्रतिकूल काम क्रोध लोभ आदि षड़रिपु जिनमें पूरी तरह उपशम हो गये हैं। ऐसे गुरु ही आश्रित शिष्य के भजन-विरोधी विविध अनर्थ नष्ट कर प्रेमदान कर उसे कृतार्थ कर श्रीभगवत् पादपद्मों के निकट पहुँचा सकते हैं।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'श्रीगुरुचरणपद्म, केवल भकति सद्म'। यहाँ 'चरण' शब्द भक्ति से भरकर पूज्य अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, जैसे स्वामिचरण, गोस्वामिचरण आदि। वस्तुतः श्रीगुरुचरण का अर्थ श्रीगुरुदेव ही है। 'पद्म' शब्द प्रयोग करने का तात्पर्य यह है : पद्म मकरन्दरस का आधार या आश्रय होता है; श्रीगुरुदेव भी 'केवल भकति सद्म'-'केवल' या शुद्धभक्ति के परमाश्रय हैं। 'केवल' या शुद्धभक्ति के लक्षण निरूपण में श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने लिखा है-''अन्याभिलाषिताशून्य ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥'' अन्याभिलाषिताशून्य (अन्य अभिलाषा से रहित) ज्ञानकर्मादि से अनावृत पर आनुकूल्यात्मक श्रीकृष्ण अनुशीलन को ही उत्तमा भक्ति कहा जाता है। 'अनुशीलन' अर्थात् 'शील्' धातु का अर्थशीलन-यह शीलन द्विविध है : प्रवृत्ति मूलक और निवृत्ति मूलक। पहला कायिक, वाचिक चेष्टारूपा और प्रीति विषयात्मक मानसभाव है। अर्थात् शरीर से परिचर्या आदि; वाक्य (मुँह) से गुण-लीलाओं का कीर्तन; कानों से श्रवण; मन से रूप-गुण-लीलादि का चिन्तन और हृदय में सदा प्रीति सम्पादन। दूसरा (निवृत्तिमूलक शीलन) सेवा, नामापराध आदि वर्जनात्मक चेष्टा में निहित है। यह अनुशीलन शुद्धभक्ति तभी कहा जाता है, जब भुक्ति-मुक्ति की वासना से रहित होकर केवल भगवत् प्रीति के लिये श्रवण कीर्तनादि के आवेश से युक्त हो। यही उत्तमा, निर्गुणा, केवला, मुख्या, अनन्या, स्वरूपसिद्धा विभिन्न नामों से जानी जाती है।

श्रील ठाकुर महाशय ने श्रीगुरुदेव को 'केवल भकति सद्म' कहकर एक ओर जैसे श्रीगुरु का स्वरूप-निरूपण किया है, दूसरी ओर श्रीगुरु की महिमा भी प्रकाशित की है। श्रीभगवत् तत्त्व और भक्त तत्त्व के एक अपूर्व समन्वय या मिलनस्थल श्रीगुरुचरण शुद्धभक्ति के आधार, अर्थात् साधन-भक्ति और साध्य प्रेमभक्ति के निवासस्थान हैं। इस शुद्धभक्ति की निदानभूमि श्रीगुरु के चरणाश्रय से ही भाग्यवान् जीव को शुद्ध भक्तिमय भजनामृत प्राप्त होता है। भगवद्भक्तिमय श्रीगुरुचरणों की कृपा से ही साधक के सभी अनर्थ दूर होते हैं; अनायास ही सप्रेम भगवत्प्राप्ति होती है। पक्षान्तर से उन्हीं श्रीगुरुचरणों में अविश्वास हो या अकृतज्ञता हो, तो अपराध-बीज सञ्चित होने से भक्ति या भजन को मृतप्राय शुष्क भी बना देते हैं। इसीलिये श्रील ठाकुर महाशय ने इसके पीछे ही कहा है-''वृन्दों मुइँ सावधान मते।''

जिन गुरुदेव की सेवा से साधक को अनायास सर्वार्थ सिद्धि होती है, उन गुरुदेव की सेवा का कार्य साधक को एकान्त सावधानी के साथ करना होता है। ''विश्रम्भेण गुरोः सेवा'' (श्रीरूप) अर्थात् श्रीगुरुतत्त्व जानकर उस तत्त्व में एकान्त विश्वास रखकर ही श्रीगुरु सेवा करनी है। श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से श्रीउद्धव को श्रीगुरु तत्त्व बताया है (भा० ११/१७/१७) –

''आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥''

''आचार्य को मेरा ही स्वरूप जानना; उनकी अवज्ञा कभी मत करना और न सामान्य मनुष्य समझकर उनमें दोष देखना, कारण–गुरुदेव सर्वदेवमय हैं।'' साधक को इन सभी गुरु–तत्त्वों में पूरा विश्वास रखकर सावधान होकर गुरुदेव की सेवा–परिचर्या करनी होगी जिससे किसी भी प्रकार श्रीगुरु में मर्त्यबुद्धि न आये। बहुत बार श्रीगुरुदेव की सेवा में प्रवृत्त होकर भी हम लोगों की ऐसी कितनी ही असंयत चेष्टायें, भाव और व्यवहार–कायिक, वाचिक, मानसिक–सामने आते हैं, जिनसे सेवाफल के प्रतिबन्धक कितने ही गुरुतर अपराध सञ्चित होते हैं। इसका कारण यही है कि हम लोग श्रीगुरु तत्त्व उत्तम प्रकार से समझकर और शास्त्रों में श्रीगुरु सेवा के सम्बन्ध में जो विधि–निषेध हैं, उन्हें जानकर सावधानी के साथ श्रीगुरु सेवा में प्रवृत्त नहीं हो पाते। तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है–''वन्दों मुइँ सावधान मते।''

श्रीगुरुसेवा के विषय में विधिसमूह :

जैसे साधक श्रीगुरु के पाद–प्रक्षालन स्नान आदि के लिये जल स्वयं लायेगा। उनका चरण सम्वाहन, अङ्गमार्जन, नहलाना, चन्दनादि लगाना, वस्त्र धोना–यह सब स्वयं करेगा। गुरुदेव को आते देखकर उनके आगे आकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करेगा। गुरु की आह्निक पूजा के उपकरण–तुलसी–पत्र पुष्प आदि स्वयं लायेगा। नित्य अन्न–पेय आदि भगवत् प्रसाद श्रीगुरु को निवेदन कर भोजन आदि करेगा। उनका नाम लेना पड़े, तो नतमस्तक हो हाथ जोड़कर 'एक सौ आठ श्री श्री' कहकर उनका नाम लेकर 'प्रभुपाद' या 'विष्णुपाद' शब्द प्रयोग करेगा। सरलभाव से प्रीतियुक्त स्निग्ध अन्तःकरण से कायिक–वाचिक–मानसिक चेष्टाओं द्वारा और अपने धन, देह, गेह (गृह), प्राण आदि द्वारा सदा सभी प्रकार से श्रीगुरु का सन्तोष विधान करेगा। ''वन्दों मुइँ सावधान मते।''

फिर निषेधसमूह :

गुरुदेव के आदेश का, उनके आसन, वस्त्र, शय्या, पादुका आदि व्यवहार की वस्तुओं का कभी लङ्घन न करे। उनके गमन, भाषण, चेष्टा, स्वर आदि का कभी अनुकरण न करे। गुरु के आगे या निकट पैर फैलाकर, जाँघ के ऊपर पैर रखकर, अपना पैर दिखाई दे इस प्रकार–कभी न बैठे। उनके आगे जंभाई लेना, उच्च हास्य, अँगुली चटकाना, शरीर मटकाना, हाथ–पैर नचाना–यह सब कभी न करे। उनके आगे या पास आसन पर न बैठे, शय्या पर न लेटे, अन्य को अभिवादन न करे, अन्य के प्रति प्रभुत्व न दिखाये। उनके निकट रहे, तो उनका आदेश लिये बिना कहीं न जाये। उनकी आज्ञा के बिना किसी को दीक्षा न दे, न कभी शास्त्र–व्याख्या करे। उनसे कोई आज्ञासूचक बात न कहे; हाथ या अँगुली चलाकर कोई

सङ्केत आदि न करे। 'अमुक दीजिये' 'अमुक लीजिये' ऐसे अवज्ञासूचक वाक्य कभी प्रयोग न करे। प्रयोजन हो, तो 'करने की आज्ञा हो' 'कहने की आज्ञा हो' - ऐसे प्रार्थनासूचक वाक्य व्यवहार करे। उनकी आज्ञा के बिना उनकी वस्तु न खाये, न काम में ले। जहाँ उनकी निन्दा हो, उनकी महिमा का अपकर्ष हो, वहाँ कभी न जाये। गुरु-निन्दक का मुँह न देखे। गुरुदेव की ताड़ना-भर्त्सना के प्रति सहिष्णु हो। वे विरुद्ध आचरण भी करें, तो कभी उनके प्रति अन्यथा आचरण न करे। मोटी बात, गुरु के प्रति ऐसा व्यवहार या आचरण कभी न करे, जिससे उनके प्रति मर्त्यबुद्धि या लघुबुद्धि आने की सम्भावना हो, कारण-वे तो गुरु हैं, वे लघु कभी नहीं हो सकते। ''वन्दों मुइँ सावधान मते।''

श्रील ठाकुर महाशय की 'वन्दों मुइँ सावधान मते' इस उक्ति में एक और गहन रहस्य निहित है। ''साधकस्य गुरो भक्तिं मन्दीकुर्वन्ति देवता:। यन्नोऽतीत्य व्रजेद्विष्णुं शिष्यो भक्त्या गुरौ ध्रुवम्।'' अर्थात् अनेक स्थलों में देवता लोग गुरुभक्तिपरायण साधक की बुद्धि भ्रष्ट कर उसकी गुरुभक्ति को मन्द कर देते हैं। कारण यही है कि देवता सोचते हैं-'यह गुरुनिष्ठ साधक असाधारण गुरुभक्ति के प्रभाव से हम लोगों को अतिक्रम कर भगवान् का परमपद निश्चय ही पा लेगा। इसे गुरुभक्ति से वञ्चित कर सकें, तो फिर यह हमें अतिक्रम नहीं कर पायेगा।' हाय! यदि देवता ही इस प्रकार मात्सर्यपरायण होकर साधक की गुरुभक्ति को मन्द करने की चेष्टा करते हैं, तो दूसरे के उत्कर्ष के प्रति असहिष्णु, खलप्रकृति और लाभ-यश आदि अति तुच्छ स्वार्थों में अन्धे मनुष्य साधक की गुरुभक्ति को मन्द करने के लिये नाना प्रकार के अपकौशलों का सहारा लेंगे, इसमें क्या सन्देह? इसलिये गुरुनिष्ठ साधक इस विषय में भी विशेष सावधानी बरतते हुए साधु-शास्त्रों की सहायता से अविचलित भक्ति के साथ श्रीगुरु पादपद्मों की आराधना में लगे रहें। फिर देवता या मनुष्य कोई भी उस सुसहायसम्पन्न साधक की गुरुभक्ति को मन्द नहीं कर सकेगा।

इसके बाद श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''जाँहार प्रसादे भाइ, ए भव तरिया जाइ, कृष्ण-प्राप्ति हय जाहा हते।'' साक्षात् भगवान् के करुणाघन अवतार, शुद्धभक्तिमय-विग्रह, भक्ति के आगार गुरुदेव की श्रीचरण-आराधना के फलस्वरूप साधक साधन और साध्य दोनों ही प्रकार की भक्ति पा जाता है। श्रीगुरु की प्रसन्नता से भगवत्प्राप्ति और उनकी प्रेमसेवा प्राप्तिरूपी परम प्रयोजन अनायास ही सुसिद्ध हो जाता है। आनुषङ्गिकरूप से संसार-दु:खों का चिर अवसान भी हो जाता है। संसार पार करने के लिये कोई चिन्ता नहीं रहती, कारण-भगवत् पादपद्मों की नौका का आश्रय लेते ही संसार-सिन्धु गोपद की तरह अति तुच्छ हो जाता है। हाँ, भक्ति-विघातक अनर्थों के विषय में ही साधक विशेष चिन्तित रहते हैं। कारण यह है कि भक्ति-शास्त्रों में सर्वानर्थ-निवृत्ति के साथ भगवत्प्राप्ति परम पुरुषार्थ के रूप में निरूपित हुई है। श्रीगुरु-प्रसाद से वे अनर्थसमूह अनायास ही नष्ट हो जाते हैं और साधक भगवान् का परम करुणा-अमृत पाकर धन्य हो जाता है। ''तत् प्रसादो हि स्वस्वनानाप्रतीकारदुस्त्यजानर्थहानौ परमभगवत्प्रसादसिद्धौ च मूलम्'' (भक्ति-सन्दर्भ:), अर्थात् जो साधक की भजनावस्था में स्वयं के नाना प्रकार के प्रतिकारों द्वारा भी दुस्त्यज हैं, उन अनर्थों के विनाश और भगवान् की परम प्रसन्नता प्राप्ति के लिये श्रीगुरु की प्रसन्नता ही एकमात्र कारण है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने अपने गुर्वाष्टक में लिखा है-''यस्य प्रसादात् भगवत्प्रसादो यस्याप्रसादान्न गति: कुतोऽपि'' इत्यादि॥३॥

गुरु मुखपद्मवाक्य, हृदि करि महा शक्य,
आर ना करिह मने आशा।
श्रीगुरुचरणे रति, एइ से उत्तम गति,
जे प्रसादे पूरे सर्व आशा॥४॥

टीका -

वाक्य-कृष्णभक्ति-प्रेमरस-तत्त्वोपदेशरूप वाक्यम्। महाशक्य-श्रीकृष्ण प्रापणशक्तियोग्यम्। उत्तमगति- उत्तमा चासौ गतिश्चेति उत्तमगतिः। यद्वा उत्तमगति-प्राप्य वस्तूनां श्रेष्ठम्; श्रीराधा-प्राणबन्धोश्चरण- कमलयोः सम्वाहनादिरूपा प्रेमसेवा। जे प्रसादे पूरे सर्व आशा-श्रीवृन्दावने मणि-निकुञ्ज-मन्दिरे श्रीराधाकृष्णयोश्चामर- व्यजन-पाद-सम्वाहनादिरूपा आशा यस्य प्रसादेन पूर्णा स्यात्॥४॥

श्रीगुरुवाक्य का गुरुत्व :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रीकृष्णतत्त्ववेत्ता सद्गुरु के चरणाश्रय के पश्चात् अर्थात् दीक्षा मन्त्रादि लेने के बाद गुरुदेव साधक को साधन-भजन का उपदेश देते हैं; साथ ही श्रीकृष्णतत्त्व, भक्तितत्त्व, रसतत्त्वादि का उपदेश देते हैं। गुरुदेव की श्रीमुख निःसृत वह उपदेशावलि जितनी मधुमय और हृत्-कर्णरसायन होती है, उतनी ही भजनपथ के लिये महाशक्तिशाली होती है। श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में पहले इसकी सूचना देते हुए कहते हैं-''श्रीगुरु- मुखपद्मवाक्य, हृदि करि महाशक्य, आर ना करिह मने आशा।'' भगवद्भक्तिरसमयविग्रह श्रीगुरुदेव के श्रीमुखकमल से निकला वाक्यरूपी मकरन्द अथवा मधु जितना मधुर स्वादिष्ट है, उतना ही भक्तिरस-उन्मादना से परिपूर्ण है। आश्रित शिष्य के प्रति स्नेह-करुणा से विगलितचित्त गुरुदेव जिस उपदेशवाक्य का प्रयोग करते हैं, उसकी कहीं तुलना नहीं। साधक शुद्ध भगवद्भक्तिमय-विग्रह श्रीगुरुदेव के श्रीमुखनिःसृत 'महाशक्य' अर्थात् भगवत्प्राप्ति में महाशक्ति सम्पन्न 'वाक्य' अर्थात् श्रीकृष्णभक्ति-प्रेमरस विषयक तत्त्वोपदेशमय वाणी को ही हृदय में धारण करे, अन्य सभी आशाओं का परित्याग करें। तात्पर्य यह है कि मायाबद्ध मानव की दुःख-दुर्दशा देखकर उसे तत्त्वोपदेश देकर अपनी भजनानन्दरसमाधुरी आस्वादन करा कृतार्थ करने के लिये जब करुणामय भगवान् का चित्त विगलित होता है, तब भगवत्स्वरूप समष्टि गुरु से भक्तिसिद्ध महापुरुष या व्यष्टिगुरु में गुरुत्व शक्ति का आविर्भाव होता है। वे ही यथार्थ सद्गुरु होते हैं। उन भगवान् के करुणाघन विग्रह श्रीगुरु की तत्त्वोपदेश-वाणी भगवत्प्राप्ति में इतनी महाशक्ति सम्पन्न होगी, इस बात में और सन्देह की गुञ्जाइश नहीं रहती। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं जो कृष्णप्राप्ति का लोभ रखते हैं, वे श्रीगुरु की उस महाशक्ति-सम्पन्न वाणी को हृदय में धारण करें और अन्य सब आशाओं का परित्याग करें।

प्रश्न हो सकता है; गुरुदेव अपने श्रीमुख से जो तत्त्वोपदेश दें, वह यदि शास्त्र-महाजनों के मत के अनुकूल न हो, तब भी क्या साधक उस वाक्य में वैसी निष्ठा रखे? इसके उत्तर में कहा गया है कि सद्गुरु साधु-शास्त्रों के प्रतिकूल उपदेश कभी नहीं दे सकते। कोई देते हैं, तो सत्शिष्य उसे ग्रहण नहीं

करेगा और श्रीगुरु की किसी प्रकार की अवज्ञा भी नहीं करेगा। वह उस उपदेश का मर्म समझने में असमर्थ है, यह समझकर उसका परिहार करेगा। इसीलिये श्रील ठाकुर महाशय ने आगे बारहवीं त्रिपदी में कहा है-''साधु-शास्त्र-गुरु-वाक्य, हृदये करिया ऐक्य, सतत भासिबो प्रेममाझे।''

तत्पश्चात् कहते हैं-''श्रीगुरुचरणे रति, एइ से उत्तम गति, जे प्रसादे पूरे सर्व आशा'', अर्थात् जो लोग श्रीगुरु द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों को हृदय में धारण कर श्रीगुरुपादपद्मों में रति रखते हैं, वे श्रीगुरुचरणों में निष्कपट भक्ति के बल पर ही प्रेमराज्य की समस्त प्राप्त वस्तुओं में सर्वश्रेष्ठ-श्रीराधाप्राणबन्धु की प्रेमसेवा (श्रीचरणकमलों का सम्वाहन आदि) अनायास प्राप्त कर धन्य होते हैं। श्रीगुरु चरणों में रति उत्पन्न होने पर, अर्थात् साधक-चित्त श्रीगुरुपादपद्मों में निष्ठा-भक्तिरूपी राग से सुरञ्जित होने पर, अथवा साधक की चित्तवृत्ति के भजनमय श्रीगुरुविग्रह में भावतन्मय होने पर उत्तमगति अनायास ही प्राप्त हो जाती है। प्रश्न उठ सकता है; गौड़ीय वैष्णवों के लिये 'उत्तमगति' या सर्वश्रेष्ठ प्राप्य विषय है श्रीश्रीराधामाधव की प्रेमसेवा पाना, फिर वहाँ श्रीगुरुचरणों में रति को ही 'उत्तमगति' या सर्वश्रेष्ठ प्राप्य विषय के रूप में उल्लेख करने का हेतु क्या है? इसका तात्पर्य यही है कि श्रीगुरुचरणों में रतिमान् साधक अति सुनिश्चित रूप से श्रीराधाकृष्ण की निकुञ्जसेवारूपी उत्तम गति प्राप्त करता है-इसीलिये हेतु और हेतुमद्भाव (कार्य-कारण सम्बन्ध) से श्रीगुरुचरण-रति एवं भगवत्प्राप्तिरूपी उत्तम गति दोनों का अभिन्नत्व बताया गया है। ''आयुर्घृतमिति''- घृत ही आयु है। देखा जाय तो घृत आयु नहीं; घृत-सेवन से आयु-वृद्धि होती है-आयुवृद्धि अति सुनिश्चित है, इसीलिये कहा जाता है 'घृत ही आयु है।' तभी श्रील ठाकुर महाशय ने श्रीगुरुचरणों में रति और उत्तमगति इन दोनों को अभिन्न बताते हुए निरूपित किया है कि श्रीगुरुचरणों में रति ही साधक का एकमात्र परम साधन और साध्य है। निष्कर्ष यही है कि जहाँ श्रीगुरुचरणों में प्रीतिमयी भक्ति है, वहाँ अव्यभिचारी रूप में उत्तमगति भी विद्यमान है। 'जे प्रसादे पूरे सर्व आशा', अर्थात् जिन गुरुदेव के प्रसाद से या जिनके प्रसन्न होने से श्रीवृन्दावन में मणिनिकुञ्जमन्दिर में श्रीश्रीराधाकृष्ण की प्रेमसेवा (चँवर ढुलाना, चरण दबाना आदि) रूपी समस्त आशायें पूरी हो जाती हैं! 'जे सब आशा' - श्रीराधामाधव की प्रेमसेवा की शाश्वत आकांक्षा साधक के अन्तर में भरी रहती है, अपनी अभीष्ट उसी प्रेमसेवा की आकांक्षा गुरुदेव के प्रसाद से ही पूरी होती है। ग्रन्थकार श्रील ठाकुर महाशय ने वही आशा अपने प्रार्थनापद में व्यक्त की है -

''कुसुमित वृन्दावने नाचत शिखिगणे पिककुल भ्रमर झङ्कारे।
प्रिय सहचरि सङ्गे गाइया जाइबे रङ्गे मनोहर निकुञ्ज कुटिरे॥
हरि! हरि! मनोरथ फलिबे आमारे?
दुहुँक मन्थर गति कौतुके हेरब अति अङ्गभरि पुलक अन्तरे।
चौदिके सखीर माझे राधिकार इङ्गिते चिरुणी लइया करे धरि।
कुटिल कुंतल सब बिथारिया आँचरब बनाइब विचित्र कवरी॥
मृगमद मलयज सब अङ्गे लेपब पराइब मनोहर हार।
चन्दन कुंकुमे तिलक बनाइब हेरब मुख-सुधाकर॥
नील पटाम्बर जतने पराइब पाये दिब रतन मञ्जीरे।

भृङ्गारेर जले राङ्गा चरण धोयाइब मुछाइब आपन चिकुरे॥
कुसुम कोमलदले सेज बिछाइब शयन कराबो दोंहाकारे।
धवल चामर आनि मृदुमृदु बीजब छरमित दुहँक शरीरे॥
कनक संपुट करि कर्पूर ताम्बूल भरि जोगाइब दोंहार वदने।
अधर सुधारसे ताम्बूल सुबासे भोखब अधिक जतने॥
श्रीगुरु करुणासिन्धु लोकनाथ दीनबन्धु मुइँ दीने करो अवधान।
राधाकृष्ण वृन्दावन प्रियनर्म सखीगण नरोत्तम मागे एइ दान''॥४॥

चक्षुदान दिलो जेइ, जन्मे जन्मे प्रभु सेइ,
दिव्यज्ञान हृदे प्रकाशित।
प्रेमभक्ति जाँहा हैते, अविद्या विनाश जाते,
वेदे गाय जाँहार चरित॥५॥

टीका –

चक्षुदान इत्यादि–संसारार्णव–तारणपूर्वकं चर्मचक्षुर्मोचयित्वा परतत्त्वावलोकनयोग्यदिव्यचक्षुर्येनदत्तम। दिव्यज्ञान इत्यादि–कृष्णदीक्षादिशिक्षणरूपं दिव्यज्ञानं हृदि प्रकाशितं येनेति शेष:। वेदे गाय इत्यादि–वेदकर्तृक तच्चरित्रज्ञानम्। यथा–सर्व वेदान्तसार–श्रीभागवते–'आचार्यं मां विजानीयादिति' 'आचार्यवान् पुरुषो वेदे' त्यादि आचार्य देवो भवेदित्याद्याश्च श्रुतौ च॥५॥

दिव्यज्ञान :

सुधाकणिका व्याख्या– श्रीकृष्ण का नित्यदास जीव चिदात्मस्वरूप होकर भी अपने स्वरूप को भूलने के कारण अनादि काल से बहिरङ्गा माया के कवल में पड़कर स्थूलदेह में 'मैं' बुद्धि या दैहिकादि अर्थात् स्त्रीपुत्रादि में 'मेरा' बुद्धि रखकर वासना एवं संस्कार के अनुरूप नाना देह धारणकर जन्म मृत्यु जरा व्याधि आदि दु:सह संसारदु:ख भोगता घूम रहा है। श्रीगुरुपादपद्माश्रय के साथ श्रीकृष्ण–भजन ही एकमात्र उपाय है इस दु:ख से मुक्ति पाने का (चै० च०) –

''कृष्णनित्यदास जीव ताहा भूलि गेलो।
सेइ दोषे माया तार गलाय बान्धिलो॥
ताते कृष्णभजे करे गुरु सेवन।
मायाजाल छुटे पाय कृष्णेर चरण॥''

गुरुदेव शिष्य को दीक्षा–शिक्षादि देकर उसके आध्यात्मिक चक्षु उन्मीलित कर उसे भजनामृत–रसास्वादन करा कृतार्थ किया करते हैं। वह उन आध्यात्मिक नेत्रों से परतत्त्व अवलोकन कर सकता है। उसके मायिक

चर्मचक्षुओं में यह शक्ति नहीं होती कि वह संसार-सागर पार कर सके और भगवतत्त्व समझ सके। गुरुदेव उन चक्षुओं को अपनी दीक्षा-शिक्षा से ढक देते हैं। वे आध्यात्मिक चक्षुओं को तो उन्मीलित करते ही हैं; उपलक्षण से साधक की अन्यान्य इन्द्रियाँ भी भगवद् भजन के योग्य या अप्राकृत हो जाती हैं-यह बात भी बताई गई है। तात्पर्य यह है कि प्राकृत देहेन्द्रिय, मन आदि श्रीकृष्ण-भजन के योग्य नहीं। गुरुदेव अहैतुकी कृपा के वश होकर जब दीक्षामंत्र देते हैं, तो शिष्य ''त्रायस्व भो जगन्नाथ गुरो संसारवन्हिना दग्धं मां कालदष्टञ्च त्वामहं शरणं गतः'' अर्थात् 'भगवान् के करुणाघन-विग्रह हे गुरुदेव! संसार-अग्नि में दग्ध और कालग्रस्त मेरी रक्षा करें। हे प्रभो! मैं आपके शरणागत हूँ'-यह कहकर शिष्य जब देह-मन-प्राण समर्पित कर गुरुदेव की शरण में आता है, तब गुरुदेव अपनी करुणामिश्रित भगवत् तत्त्वामृत शक्ति के स्पर्श से (जैसे पारसमणि लोहे को सोना बनाती है) और अपनी भगवद्भजनमय भक्तिशक्ति शिष्य के तन-मन-प्राणादि में सञ्चारित कर उसकी देहेन्द्रियादि को अप्राकृत या भगवत्पादपद्मभजन के योग्य बना देते हैं। साधक के भगवद्भजनयोग्य देह-मन-प्राण इन्द्रियादि भगवद्भजनतादात्म्य द्वारा जो अप्राकृतत्व प्राप्त करते हैं, एकमात्र श्रीगुरुकृपा ही उन देहादि के प्रत्येक अवयव में विराजमान रहकर उसे सम्पन्न करती है। इसी प्रकार गुरुकृपा शिष्य के देहादि को भगवत्-पादपद्म-भजन के योग्य बनाकर भगवत्पादपद्मों में ही उन्हें समर्पित करती है और भगवान् के साथ जीव का विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित करती है। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''चक्षुदान दिलो जेइ, जन्मे जन्मे प्रभु सेइ, दिव्यज्ञान हृदे प्रकाशित'', अर्थात् जिन्होंने मेरे चर्मचक्षु मुक्त कर भगवत्तत्त्व-दर्शन के योग्य प्रेमाञ्जन लगे भक्तिविलोचन खोल दिये हैं। जिनके प्रसन्न होने पर, जिनकी कृपाशक्ति हृदय में भर जाने से कृष्णदीक्षादि शिक्षणरूपी दिव्यज्ञान उत्पन्न हो जाता है, वे कृष्णप्रेम-प्रदाता, कृष्णज्ञानदाता श्रीगुरु ही जन्म-जन्म में मेरे प्रभु हैं, जन्म-जन्ममें मैं उनका दास हूँ। इससे श्रीगुरु के साथ शिष्य का सेव्य-सेवक भावसम्बन्ध और उस सम्बन्ध की नित्यता बताई गई। कर्मफल के अनुसार नाना योनियों में भ्रमणरत जीव की प्रति जन्म में भिन्न-भिन्न माता, पिता, आत्मीय-स्वजन आदि के साथ सम्बन्ध बनते हैं, किन्तु गुरु-शिष्य सम्बन्ध वैसा नहीं है। एक ही गुरु जन्म-जन्मान्तर में यथासमय शिष्य के निकट आकर उसे भजनामृत रसमाधुरी पिलाकर प्रेमदान कर लीलाराज्य में ले जाकर साक्षात् अभीष्ट की सेवा देकर धन्य किया करते हैं। आहा! गुरुकृपा की कहीं भी तुलना नहीं।

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''प्रेमभक्ति जाँहा हइते, अविद्या विनाश जाते, वेदे गाय जाँहार चरित।'' हमने कहा है, अपार करुणा-पारावार भगवान् की करुणा ही घनीभूत होकर मूर्ति धारण कर जीवों के कल्याणार्थ गुरुरूप में जगत् में प्रकाशित हुई है। भगवान् की करुणा के अवतार इन गुरुदेव से ही हम लोग भगवान् की करुणा का परिचय प्राप्त करते हैं। ह्लादिनी और संवित् शक्ति की साररूपा भक्तिमहारानी का रत्नसिंहासन है गुरुदेव का हृदय। उसी स्थान पर रहकर भक्तिरानी विश्वमानवों को कृपा बाँटती रहती हैं। श्रीगुरु की करुणा को वाहन बना कर उनकी कृपा साधक में सञ्चारित हो प्रेमदान से साधक को धन्य किया करती है। श्रीगुरु के प्रसाद से प्राप्त हुए सम्बन्धज्ञान से साधक देह-दैहिकादि कृष्णेतर वस्तुओं के प्रति ममताशून्य हो जाता है, उसकी ममता श्रीकृष्ण में ही प्रगाढ़ हो जाती है और मन्दाकिनीधारा की तरह प्रेमभक्ति श्रीगुरुप्रणाली के माध्यम से साधक के हृदय में प्रवाहित होने लगती है। इस रहस्यमय तत्त्व का ज्ञान श्रीमद्भागवत (१०/२/३१) से ही होता है-

''स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत् पदाम्भोजनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्॥''

ब्रह्मादि देवताओं ने देवकीजी के गर्भगत श्रीकृष्ण का स्तव करते हुए कहा-''हे स्वप्रकाश! भक्तों के प्रति आपकी असीम कृपा है। आपकी ही कृपा के बल पर आपके भक्त आपकी श्रीचरण-नौका में बैठकर सुदुस्तर भवसागर पार कर जाते हैं। फिर वे विश्वमानवों पर कृपा कर भक्तिमार्ग-सम्प्रदाय के रूप में (श्रीगुरुपरम्परा से) आपकी श्रीचरणतरणी इस विश्व में छोड़ जाते हैं।'' इससे स्पष्ट पता चलता है कि श्रीगुरुपदाश्रय को छोड़ प्रेमभक्ति और संसार-सागर उत्तरण का अन्य कोई उपाय नहीं। श्रीगुरुचरणाश्रय का मुख्य फल ही है प्रेमप्राप्ति अथवा श्रीभगवत् पादपद्मसेवाप्राप्ति-आनुषङ्गिकरूप से संसार की मूल अविद्या का नाश भी हो जाता है। तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है-'अविद्या विनाश जाते।' भगवान् की बहिरङ्गा मायाशक्ति अविद्या से ही स्वरूपविस्मृत जीव में अनादि भगवद्वैमुख्य दोष उत्पन्न हुआ है। यह अविद्या पाँच प्रकार की है-तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिश्र। 'तमः' का अर्थ अज्ञान। अज्ञान को तमः इसलिये कहा है कि घोर अंधकार में हाथ फैलाने पर अपना हाथ भी दिखाई नहीं देता, अन्य कोई कैसे दीखेगा? उसी प्रकार जो अज्ञान जीव को उसका स्वरूप ही देखने नहीं देता, उस अज्ञान या तमः के रहते जीव श्रीकृष्ण को कैसे देखेगा? 'मोह' का अर्थ है कृत्य-अकृत्य विषयों में विवेकशून्यता। 'महामोह' है भोगस्पृहा; तामिस्र-भोगों में बाधा आने पर क्रोध; अन्धतामिस्र-भोग्य वस्तु के विनाश की आशङ्का में उसके रक्षणावेक्षण में अभिनिवेश। ये सब अविद्या के कार्य हैं। श्रीगुरुकृपा के आनुषङ्गिक फल से ही अविद्या के ये कार्य नष्ट हो जाते हैं।

अथवा भजन-प्रवृत्त साधक के भजन-विघातक अनर्थ को भी अविद्या समझना होगा-अविद्या का कार्य-हेतु होने के कारण। अनर्थ चार प्रकार के हैं-दुष्कृतोत्थ, सुकृतोत्थ, अपराधोत्थ, भक्त्युत्थ। दुष्कृति से उपजे अनर्थ को क्लेश के अन्तर्गत माना गया है। क्लेश पाँच प्रकार के हैं-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। यहाँ 'अविद्या' का अर्थ है अनित्य वस्तु को नित्य समझना, अशुचि में शुचिज्ञान, दुःख में सुखबुद्धि और अनात्म में आत्मबोध। 'अस्मिता' का अर्थ है अहङ्कार। 'राग'-सुख का अनुसरण करने की कामना या उसमें आसक्ति। 'द्वेष'-दुःख या उसके कारण को दूर करने की इच्छा। 'अभिनिवेश'-मरने का डर। भोग-अभिनिवेशरूपी सुकृतिजात अनर्थ को भी कुछ लोग क्लेश के अन्तर्गत मानते हैं। श्रीगुरुकृपा से ये सब अनायास ही नष्ट हो जाते हैं। अपराध से उत्पन्न अनर्थ दस प्रकार के नामापराध हैं। भक्त्युत्थ अनर्थ-लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि। श्रीगुरुकृपा से साधक इन सबसे भी मुक्त होकर निर्मल भजनसम्पदा पाकर कृतार्थ होता है।

'वेदे गाय जाँहार चरित'-वेदों और वेदानुगत शास्त्रों में श्रीगुरु-महिमा बार-बार वर्णित हुई है। जिनकी कृपा से प्रेमभक्ति प्राप्त होती है, अविद्या जड़ से नष्ट हो जाती है-ये सब चरित्र वेद सर्वदा गाते हैं। ''आचार्यवान् पुरुषो वेद'' (छान्दोग्य), अर्थात् श्रीगुरुचरणाश्रित श्रीगुरुसेवा-परायण व्यक्ति ब्रह्मतत्त्व प्राप्त करता है।

''यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरो।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥''

(श्वेताश्वतर)

'श्रीहरि और श्रीगुरु में समान भक्ति रखने वाला व्यक्ति जो वेदादि पाठ करता है, हरि-गुरु-भक्ति के प्रभाव से उसके आगे वेदार्थ स्फुरित होता है।''तद्विज्ञानार्थ स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'' (मुण्डक) सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण ने कहा है-''आचार्य मां विजानीयात्'', अर्थात् 'श्रीगुरु को मेरा स्वरूप समझना।'

सामवेद के छान्दोग्य उपनिषद में श्रीगुरुमहिमा सम्बन्धी एक आख्यायिका देखने में आती है। जावाला द्वारा प्रेरित होकर सत्यकाम जावाल ब्रह्मविद्या सीखने के लिये महर्षि गौतम के पास पहुँचे, तो महर्षि ने उन्हें गो-रक्षा आदि कार्यों में नियुक्त कर दिया। सत्यकाम की गुरुनिष्ठा और गुरुसेवा से प्रसन्न होकर ऋषभ, अग्नि, हंस आदि ने उन्हें ब्रह्मविद्या दान की। सत्यकाम ने उनसे विद्या सीखकर भी गौतम को प्रसन्न कर पुनः विद्या प्राप्त की। उपकौशल ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के लिये सत्यकाम के पास पहुँचे तो सत्यकाम ने उन्हें अग्नि लाने आदि के कार्यों में लगा दिया। उपकौशल की गुरुनिष्ठा से प्रसन्न हो अग्नि ने उन्हें ब्रह्मविद्या प्रदान की। अग्नि से ब्रह्मविद्या पाकर भी उपकौशल ने सत्यकाम को प्रसन्न कर उनसे ब्रह्मविद्या प्राप्त की। इत्यादि। वेदानुगत महाभारत में भी उपमन्यु, उत्तङ्क, उद्दालक आदि की गुरुसेवा एवं गुरुनिष्ठा के प्रसङ्ग अनेक लोग जानते हैं। 'वेदे गाय जाँहार चरित'॥५॥

श्रीगुरु करुणासिन्धु, अधम जनार बन्धु,
लोकनाथ लोकेर जीवन।
हा हा! प्रभु करो दया, देहो मोर पदछाया,
एवे यशः घुषुक त्रिभुवन॥६॥

श्रीगुरु के करुणा आदि गुण :

सुधाकणिका व्याख्या-गुरुदेव की महिमा का कीर्तन करते-करते श्रील ठाकुर महाशय को श्रीगुरु के करुणादि कुछेक गुणों का स्फुरण होता है, तो वे उनका वर्णन कर परम दैन्य से भरकर गुरुदेव की करुणा की कामना करते हैं। गुरुदेव हैं अपार करुणा के सिन्धु-''श्रीगुरु करुणा सिन्धु।'' हमने कहा है कि भगवान् की करुणाघनमूर्ति ही हैं गुरुदेव। दूसरे की दुःख-दुर्दशा देखकर चित्त के विगलित होने और उस दुःख को दूर न कर देने तक चित्त की उद्विग्नता को ही 'करुणा' कहते हैं। गुरुदेव की करुणा की विशिष्टता समझने के लिये पहले यह जानना आवश्यक है कि भगवान् की करुणा किसे कहते हैं, कारण-भगवत् करुणा के ही मूर्त रूप हैं श्रीगुरु। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने भगवान् की कृपा का स्वरूप-निरूपण करते हुए लिखा है-''अनुकम्पा च पूर्णेऽपि स्वस्मिन् सेवाद्यभिलाषं सम्पाद्य सेवकादिषु सेवादि सौभाग्य-सम्पादिका भगवश्चित्तार्द्रतामयी तदुपकारेच्छा''

''स्वत: पूर्ण होते हुए भी सेवक आदि में सेवा की अभिलाषा जगाकर सेवा आदि का सौभाग्य दिलाने वाली भगवान् की चित्त-आर्द्रतायुक्त जो उपकार-इच्छा है, उसी को उनकी करुणा कहा जाता है।'' तात्पर्य यह है कि भगवान् आत्माराम आप्तकाम और स्वत: पूर्ण हैं; फिर भी वे प्रेमारामता के कारण श्रीचरणाश्रित भक्त के प्रति कभी उदासीन नहीं रह सकते। पहले भक्त के चित्त में सेवा की अभिलाषा जगाते हैं, कारण-सेवाभिलाष के बिना भक्त का मन भगवान् की सेवाकांक्षा में तन्मय नहीं हो सकता और वैसी सेवा-उत्कण्ठा को ही 'भक्ति' नाम दिया जाता है-''भज् इत्येष वै धातु: सेवायां परिकीर्तित:।'' भक्त के चित्त में सेवा-अभिलाषा जगाकर उसे साक्षात् सेवा-सौभाग्य देने के लिये विगलित चित्त से उपकार करने की वासना को ही भगवान् की करुणा कहा जाता है। भक्त के हृदय में सेवाभिलाष जगाकर क्रमश: सेवादान के लिये प्रयत्नशील भगवान् की जो करुणा है, उसकी प्रकट मूर्ति ही हैं गुरुदेव। श्रीवृहद्भागवतामृत में श्रीमन्नारायण ने गोपकुमार से कहा है (२/४/८५-८६)-

''तत्ते मय्यकृपां वीक्ष्य व्यग्रोऽनुग्रहकातर:।
अनादिं सेतुमुल्लंघ्य त्वज्जन्मेदमकारयम्॥
श्रीमद्गोवर्द्धने तस्मिन् निजप्रियतमास्पदे।
स्वयमेवाभवं तात जयन्ताख्य: स ते गुरु:॥''

अर्थात् 'हे वत्स, मेरे प्रति तुम्हारी ऐसी उपेक्षा देखकर मैं व्याकुल हो गया, तुम्हारे प्रति अनुग्रह-कातर होकर अनादि काल से स्वीकृत धर्म-मर्यादा लंघन कर अपने प्रिय गोवर्द्धन में तुम्हें जन्म-ग्रहण कराया और मैं स्वयं जयन्त नाम से तुम्हारे गुरु के रूप में अवतीर्ण हुआ।' जीव की दु:ख-दुर्दशा देखकर भगवान् श्रीगुरुरूप में ही उसे अदेय प्रेमसम्पदा दान कर धन्य किया करते हैं। गुरुरूप में भगवान् की करुणा का अन्त नहीं, इसीलिये श्रीगुरु करुणासिन्धु हैं। एक अन्य दृष्टि से भी गुरुकृपा की विशिष्टता समझ में आती है। श्रीहरि रुष्ट हों, तो श्रीगुरु रक्षा करने में समर्थ होते हैं; किन्तु श्रीगुरु रुष्ट हों तो कोई रक्षा नहीं कर सकता। इसलिये हर प्रकार का प्रयत्न कर श्रीगुरु को ही प्रसन्न करना होगा। ''हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेत्'' पद्मपुराण में देवहूति देवी की स्तुति में आता है-''भक्तिर्यथा हरौ मेऽस्ति तद्वरिष्ठा गुरौ यदि! ममास्ति तेन सत्येन सन्दर्शयतु मे हरि:॥'' अर्थात् 'श्रीहरि में मेरी जो भक्ति है, यदि उससे अधिक भक्ति गुरु में है, तो उसी सत्य के बल पर श्रीहरि मुझे दर्शन दें।' यहाँ जैसे 'तद्वरिष्ठा' पद में भगवद्भक्ति की अपेक्षा गुरुभक्ति की महिमा अधिक दिखाई गई है, वैसे ही उपलक्षण से श्रीभगवत्स्वरूप की तुलना में श्रीगुरुस्वरूप में कृपा की अधिकता भी बताई गई है। सर्वापेक्षा अधिक दयालु होने के कारण गुरुदेव को श्रील ठाकुर महाशय ने 'करुणासिन्धु' कहा है।

गुरुदेव के एक अन्य गुण का उल्लेख कर रहे हैं - 'अधमजनार बन्धु'। गुरुदेव करुणासिन्धु हैं, फिर भी उनके चरणाश्रित भक्त को अधम या दीन होना होगा, कारण-वे अधम जन के बन्धु हैं। यह 'अधम' या दीनभावापन्न चित्त ही साधुगुरु की करुणा का यथायोग्य आधार है। महत् कृपा के सम्बन्ध में श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है-''सतां कृपा च दुरवस्थादर्शनमात्रोद्भवा न स्वोपासनाद्यपेक्षा, यथा श्रीनारदस्य नलकुवरमणिग्रीवयो:'' (भक्तिसन्दर्भ, अनु० १९३), 'जीवों की दुरवस्था या दु:ख-दुर्दशादि देखकर ही साधुजनों की कृपा उन पर

बरसती है; जीव साधुजनों की उपासना आदि करें, ऐसी कोई अपेक्षा नहीं। जैसे नलकुवर-मणिग्रीव की दुर्दशा देखकर ही उनके प्रति नारदजी की करुणा हुई थी।' श्रीगुरुकृपा के सम्बन्ध में भी यही जानना होगा। कोई-कोई धन जन आभिजात्य आदि के अभिमान में मत्त होकर अर्थ-सम्पदादि देकर यथासम्भव गुरुदेव की सेवा कर सदानन्दमय मूर्ति श्रीगुरु की स्वाभाविक प्रसन्नता आदि देखकर सोचने लगते हैं कि वे यथेष्ट गुरुकृपा पाकर धन्य हुए। इसलिये वे भोग-सम्पदा आदि में कितने ही मत्त क्यों न रहें, गुरुकृपा उन्हें एक दिन भगवान् के चरणों के निकट ले ही जायेगी। ऐसे लोग श्रील ठाकुर महाशय की इस महावाणी को ध्यान में रखें-गुरुदेव 'अधम जनार बन्धु'। अधम, अपकृष्ट, दीनभावापन्न चित्त ही गुरुदेव की करुणा का यथार्थ निश्छिद्र पात्र है। गुरुकृपा कृपापात्र को कभी अति उत्कट नारकीयगन्धपूर्ण विषयगर्त में डालकर नहीं रखती। यथार्थ कृपाप्राप्त व्यक्ति 'हा हा गुरुकृपा!' कहता हुआ तन्मय रहता है। कृपा ही उसके चित्त में अधिकतर दैन्य उच्छलित कर उसे भक्तिरस-सुधाधारा में अभिषिक्त कर श्रीगुरुपादपद्मों में सदा निविष्ट किये रहती है। तभी कहा है गुरुदेव 'अधम जनार बन्धु'।

एक अन्य गुण की बात कहते हैं-'लोकनाथ लोकेर जीवन'। श्रील ठाकुर महाशय के दीक्षागुरु हैं श्रीपाद लोकनाथ गोस्वामी, श्रीमन्महाप्रभु के प्रिय पार्षद। श्रील ग्रन्थकार ने श्रीगुरुदेव की कृपा से जो आध्यात्मिक सम्पदा प्राप्त की है, उसका उल्लेख उन्होंने पहले की त्रिपदियों में किया है। अब गुरुदेव के श्रीनाम का उल्लेख कर श्रीगुरुपादपद्मों में कृतज्ञता-ज्ञापन कर रहे हैं। श्रीगुरुकृपा से उन्होंने जो वस्तु प्राप्त की है, उसका किञ्चित् मात्र भी परिशोध नहीं किया जा सकता (ऋण नहीं चुकाया जा सकता)- जन्म जन्मान्तर में गुरुदेव का दास होकर उनकी आज्ञा पालन करके भी, तन-मन से सेवा करके भी। श्लेषरूप से यह बात भी वे बता रहे हैं। वही लोकनाथ प्रभु 'लोकेर जीवन' हैं, अर्थात् उन्होंने भजनमार्ग का चूड़ान्त आदर्श प्रकाशित कर विश्वमानव को भक्तिमार्ग या भजनमार्ग पर प्रवर्तित किया है-यह बता रहे हैं; कारण-भक्तिमार्ग पर अवस्थान करना ही जीव का जीवन है और अनवस्थान (उस मार्ग से हटना) ही मृत्यु है।

अथवा ''लोकनाथ लोकेर जीवन''-गुरुदेव अखिल लोक या जगत् के नाथ या रक्षक हैं। अखिल लोक के जीवन-इस अर्थ में गुरुदेव के अन्य दो रहस्यमय गुणों की बात प्रकट कर रहे हैं। यह समष्टि गुरु को लक्ष्य कर कहा गया है। भगवान् ही समष्टिगुरु के रूप में नित्यधाम में नित्य विराजमान् हैं। यह समष्टिगुरु साक्षात् भगवत् अवतार हैं। विश्व के मायिक अविद्याग्रस्त, त्रितापज्वाला में निरन्तर दग्ध, विषयश्रृंखलाबद्ध, बहिर्मुख जीवों को मायाजाल से मुक्त कर भगवत् पादपद्म प्राप्त कराने के लिये अहैतुकी अपार करुणा से भरे भगवान् ही समष्टिगुरु-रूप धारण किये हैं! उन्हीं परमकरुण समष्टिगुरु से इस जगत् में भगवद्भजनमय महत्तम भक्तविग्रह में गुरुत्वशक्ति आविर्भूत होकर सभी के अलग-अलग व्यष्टिगुरु में पहुँचती है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है-''य एव भगवानत्र व्यष्टिरूपतया भक्तावतारत्वेन श्रीगुरुरूपो वर्तते, स एव तत्र समष्टिरूपतया स्ववामप्रदेशे साक्षादवतारत्वेनापि तद्रूपी वर्तते इति।'' (भक्तिसन्दर्भ, अनु० २८६) वे समष्टिगुरु ही इस विश्व के समस्त व्यष्टिगुरुओं में प्रकाशित होकर विश्वमानव की माया-कवल से रक्षा कर भगवद्भक्ति प्रदान कर 'लोकनाथ लोकेर जीवन' बनते हैं।

श्रील ठाकुर महाशय इस प्रकार विपुल गुरुमहिमा का स्फुरण प्राप्त कर परम आर्ति से भरकर श्रीगुरु-करुणा के लिये प्रार्थना करते हैं-''हा हा प्रभो करो दया, देहो मोरे पदछाया, एबे यश: घुषुक त्रिभुवन।'' परम दैन्य से भरकर वे स्वयं को सांसारिक बद्ध जीव समझ कर सोच रहे हैं-'श्रीगुरुरूप में भगवान् की कैसी असीम करुणा

है, किन्तु हाय! मुझ-जैसे मायाबद्ध व्यक्ति के दुर्भाग्य की भी तो सीमा नहीं, इसलिये उनका कृपा-कण क्या मुझ पर बरसेगा?' ऐसा सोचकर आर्तिसूचक 'हा हा' शब्द प्रयोग किया है। साथ ही साथ सोचते हैं-'श्रीगुरु परम समर्थ हैं; पतित-उद्धार ही उनकी लीला है, अतएव मेरी शत अयोग्यताओं के रहते हुए भी उनकी सामर्थ्य से ही सब सम्भव होगा।' तभी कहते हैं 'प्रभु', अर्थात् समर्थ। 'हा हा प्रभु! दया कर अपनी पद-छाया में आश्रय दो। श्रीगुरु के श्रीचरण-कल्पतरु की सुशीतल छाया में आश्रय पाने के लिये प्रार्थना करते हैं, जिससे संसार की त्रितापज्वाला में और दग्ध न होना पड़े। अतिशय दैन्य के उदय होने पर कहते हैं-हा हा! प्रभो! मुझ-जैसे अयोग्य अधम को श्रीपदकल्पतरु की छाया में आश्रय देने से आपका पतितपावन यश त्रिभुवन में सर्वत्र विघोषित होगा। 'एबे यशः घुषुक त्रिभुवन'॥६॥

वैष्णव-चरणरेणु, भूषण करिया तनु,
जाहा हैते अनुभव हय।
मार्जन हय भजन, साधु सङ्गे अनुक्षण,
अज्ञान अविद्या पराजय॥७॥

टीका-

जाहा हैते-यस्मात् वैष्णवचरणरेणुभूषणात् अज्ञान अविद्या-अज्ञानं चतुर्वर्गवाञ्छा तद्रूपाविद्या॥७॥

भक्तपदरेणु और साधुसङ्ग :

सुधाकणिका व्याख्या-श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में पहले वैष्णवचरण-रेणु की महिमा का कीर्तन करते हैं। ''वैष्णवचरणरेणु भूषण करिया तनु, जाहा हैते अनुभव हय''। भक्तिप्राप्ति अथवा भजन-अनुभव के विषय में वैष्णवपद-रज की असाधारण महिमा का उद्घोष सभी शास्त्रों ने एकमत होकर किया है। सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत में ब्रह्मर्षि जड़भरत ने महाराज रहूगण से कहा है (५/१९/१२) -

''रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वणपाद् गृहाद् वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्बिना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥''

''हे महाराज रहूगण! महत् जनों की पदरज से अभिषिक्त हुए बिना तपस्या, वैदिक कर्म, अन्नादि-दान, गृहादि-निर्माण के लिये परोपकार, वेदाभ्यास अथवा जल अग्नि सूर्य की उपासना आदि अन्य किसी भी साधना द्वारा भगवत् तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता।'' प्रह्लादजी ने भी अपने पिता हिरण्यकशिपु से कहा है (भा० ७/५/३२) -

''नैषां मतिस्तावदूरुक्रमाङ्घ्रि स्पृशत्दनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥''

''जब तक विषय-अभिमानशून्य महत् पुरुषों की श्रीचरण-धूलि द्वारा अभिषेक नहीं होता, तब तक विश्वमानव की मति श्रीभगवच्चरणों को स्पर्श नहीं कर सकती, अर्थात् श्रीकृष्णपादपद्मों में किसी

की मति उत्पन्न नहीं हो सकती। जिसके द्वारा अर्थात् श्रीकृष्णपादपद्मनिष्ठ मति द्वारा सभी अनर्थ स्वतः दूर हो जाते हैं।'' सत्त्व की परीक्षा करने के लिये भृगुमुनि ने नारायण के वक्ष पर पदाघात किया, तो नारायण बोले (भा० १०/८९/१०-११) -

''पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान्।
पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा॥
अद्याहं भगवन् लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम्।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः॥''

श्रील वृन्दावनदास ठाकुर ने श्रीचैतन्यभागवत में इन दो श्लोकों का अति सुन्दर पद्यानुवाद किया है-

''एइजे तोमार पादोदक पुण्यजल।
तीर्थेरे करये तीर्थ हेनो सुनिर्मल।
जतेक ब्रह्माण्ड बैसे आमार देहेते।
जतो लोकपाल सब आमार सहिते॥
पादोदक दिया आजि करिला पवित्र।
अक्षय हइया रहो तोमार चरित्र॥
एइजे तोमार श्रीचरणचिन्हधूलि।
वक्षे राखिलाम आमि हइ कुतुहली॥
लक्ष्मी सङ्गे निजवक्षे दिलो आमि स्थान।
वेदे जेनो श्रीवत्स-लाञ्छन बोले नाम॥''

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से कहा है-''अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः'' (भा० ११/१४/१६)। ''हे उद्धव! मैं भक्त की चरणधूलि से भक्ति प्राप्त करा ब्रह्माण्ड पवित्र करूँगा इसलिये भक्त का अनुगमन किया करता हूँ।'' (श्रीधरस्वामी की व्याख्या) इस विशेष कलियुग में श्रीराधाकृष्ण-मिलित विग्रह श्रीमन्महाप्रभु ने भक्तिरसास्वादन की लालसा से वैष्णवों की पदरज ग्रहण की है-''सबार चरणधूलि लय विश्वम्भर'' (चै० भा०) श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है-''भक्तपदधूलि आर भक्तपदजल। भक्तभुक्त-अवशेष तिन महाबल॥ एइ तिन सेवा हैते कृष्णप्रेमा हय। पुनः पुनः सर्व शास्त्रे फुकारिया कय॥'' (चै० च०)

श्रील ठाकुर महाशय वैष्णवचरणरेणु से देह को भूषित करने की बात कहते हैं-''वैष्णवचरणरेणु भूषण करिया तनु'', अर्थात् जगत् के नरनारी जैसे देह को अलंकृत करने के लिये बड़े यत्न से भूषणादि धारण करते हैं, वैसे ही अपने आत्मा को अलंकृत करने के लिये यत्नपूर्वक अथवा भक्ति से भरकर वैष्णवचरणरेणु का सेवन करना होगा। इसके द्वारा वैष्णवों के प्रति परम भक्ति का ही उपदेश किया गया है। ''वैष्णवानां परा भक्तिः''

(नारद पञ्चरात्र) अर्थात् 'वैष्णवों के प्रति परम भक्ति रखोगे।' भक्तिमार्ग के साधकों के लिये वैष्णव श्रीविष्णु की तरह ही पूज्य हैं-''वैष्णवा विष्णुवत् पूज्याः।'' भक्तसाधक में वैष्णव-आदर गुण न हो, तो भगवान् उसके साधन-भजन से कभी प्रसन्न नहीं होते।

''ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानाञ्च ये भक्ता स्ते मे भक्ततमा मताः॥''
''तस्माद्विष्णुप्रसादाय वैष्णवान् परितोषयेत्।
प्रसादसुमुखो विष्णुस्तेनैव स्यान्न संशयः॥''

श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा है-'हे पार्थ! जो केवल मुझमें भक्ति रखते हैं, वे मेरे यथार्थ भक्त नहीं; जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, वे ही मेरे सर्वोत्कृष्ट भक्त हैं।' ''इसलिये विष्णु की प्रसन्नता के लिये सभी प्रकार से वैष्णवों का सन्तोष विधान करो। वैष्णवों के प्रसन्न रहने से ही विष्णु प्रसन्न होंगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं।'' पक्षान्तर से यदि वैष्णवगण किञ्चित् भी अपमानित होते हैं, तो विश्वात्मा विष्णु शत-शत प्रकार से पूजित होने पर भी प्रसन्न नहीं होते-''प्रसीदति न विश्वात्मा वैष्णवे चापमानिते।'' तभी भगवान् ने उद्धवजी से कहा है- ''मद्भक्तपूजाभ्यधिका'' (भा० ११/१९/२१) ''अभ्यधिका-मत्पूजातोऽपि तत्र मम सन्तोषविशेषात्'' (वही, टीका श्रीजीव) ''मेरी पूजा की तुलना में मेरे भक्त की पूजा से मुझे कहीं अधिक सन्तोष होता है, यह जानकर भक्त की पूजा करना।'' महत् सेवा से भक्ति-प्राप्ति सुनिश्चित है, इस विषय में बहुत-से शास्त्र और महाजन-वाणियाँ प्रमाण हैं। तभी कहा है 'जाहा हैते अनुभव', अर्थात् वैष्णवचरणरेणु से देह भूषित होने पर साध्य-साधन विषय में या सम्बन्धाभिधेय जानकर प्रयोजन विषय में साधक को अनुभव या अभिज्ञान होता है।

इसके बाद श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''मार्जन हय भजन, साधुसङ्गे अनुक्षण, अज्ञान अविद्या पराजय'', अर्थात् वैष्णवचरणरज को देह का भूषण बनाने से अथवा परम श्रद्धाभक्ति के साथ सर्वार्थ-साधक जानकर वैष्णवपदरज को देह या मस्तक पर धारण करने से निरन्तर साधु-सङ्ग का सौभाग्य प्राप्त होता है, अनुक्षण साधु-सङ्ग में भजन सुमार्जित होता है (निखरता है) और उस सङ्ग के आनुषङ्गिक फल से ही अज्ञान-अविद्या का विनाश हो जाता है। साधुसङ्ग की महिमा के विषय में श्रीमद्भागवत (११/२६/३१) में आता है-'यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्। शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा!'' अर्थात् जैसे भगवान् अग्निदेवता के आश्रय में शीत, भय और अन्धकार नष्ट होता है, वैसे ही साधुगण के आश्रय में जीव की कर्मजड़ता, संसारभय और अज्ञान-अविद्या आदि भजन-विघ्न भी नष्ट हो जाते हैं। अधिक क्या कहें, सत्सङ्ग ही साक्षात् भक्ति है, कारण-वह साक्षात् भगवत् वशीकारक है-

''अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखा॥''

(भा० ११/११/४९)

''न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्ग सर्वसङ्गापहो हि माम्॥''

(भा० ११/१२/१-२)

श्रीभगवान् ने उद्धवजी से कहा-''हे यदुनन्दन! तुम मेरे परम प्रिय भृत्य और सखा हो, अतः अति सुगोप्य तत्त्व भी कहता हूँ, सुनो। अष्टाङ्गयोग, तत्त्वविवेकरूप सांख्य, अहिंसादि धर्म या वर्णाश्रम धर्म, वेदपाठ, तपस्या, संन्यास, इष्टापूर्त अर्थात् अग्निष्टोमयाग और कूपारामादि निर्माण, दान, व्रत, देवपूजा, मन्त्र, तीर्थ, नियम एवं होम आदि मुझे वैसे वशीभूत नहीं कर सकते जैसे असत्सङ्ग नाशक साधुसङ्ग करता है। तभी श्रीमद्भागवत में कहते हैं-''अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः'' (१२/१०/७)-यह साधुसङ्ग ही सभी के लिये परम लाभ है। इस प्रकार साधुसङ्ग की अनिर्वचनीय महिमा सभी आध्यात्मिक शास्त्रों में प्रचुर रूप से वर्णित है। ''साधुसङ्ग साधुसङ्ग सर्वशास्त्रे कय। लवमात्र साधुसङ्गे सर्वसिद्धि हय॥'' (चै० च०) ॥७॥

जय सनातन रूप, प्रेमभक्ति रस-कूप,
युगल उज्ज्वलमय तनु।
जाँहार प्रसादे लोक, पाशरिलो सब शोक,
प्रकट कलपतरु जनु॥८॥

टीका-

जय-शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य भक्तेभ्यः सर्वेभ्यः उत्कर्षेण वर्तसे काव्यप्रकाशे जयत्यर्थेन नमस्कार आक्षिप्यते। जय तौ प्रति मम नमोऽस्त्वित्यर्थः। प्रेमभक्तिरेव रसस्तस्य कूपरूपः॥८॥

युगल-उज्ज्वलमय तनु :

सुधाकणिका व्याख्या-श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्य-वर्य श्रीश्रीरूपसनातन की जय घोषणा कर उनके अलौकिक अवदान की बात बता रहे है। पहले ही कहते हैं ''जय सनातन रूप''। 'जय' शब्द से श्रीरूप-सनातन का सर्वोत्कर्ष बताया गया है। श्रीमन्महाप्रभु का अनन्य अवदान है उन्नत-उज्ज्वलरसात्मिका अनर्पितचरी (जो पहले किसी ने नहीं दी) मञ्जरीभाव-साधना या राधादास्यरूपी सर्वोत्कृष्ट भक्ति। उसी के आचार-प्रचार में श्रीरूप-सनातन की भूमिका सर्वोपरि है। श्रीमन्महाप्रभु ने भक्तिप्रचार में इन दोनों की असामान्य योग्यता जानकर काशी में श्रीसनातन को और प्रयाग में श्रीरूप को स्वयं श्रीमुख से भक्तितत्त्व, रसतत्त्व आदि के विस्तृत उपदेश दिये थे; उसके आचार-प्रचार के लिये उपयोगी प्रेरणा और शक्ति भी कृपाकर उन दोनों में सञ्चारित की थी। श्रीकवि कर्णपूर ने श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक (९/४८) में लिखा है-

''कालेन वृन्दावनकेलिवार्ता लुप्तेति तां ख्यापयितुं विशिष्य।
कृपामृतेनाभिषिषेच देवस्तत्रैव रूपञ्च सनातनञ्च॥''

अर्थात् कालप्रभाव से वृन्दावन-विषयक श्रीकृष्णलीलाकथा विलुप्त होने पर श्रीमन्महाप्रभु ने उसे पुनः विशेषरूप से प्रकाशित करने के लिये उस विषय में (लीला-प्रचार कार्य में) श्रीरूपसनातन को कृपामृत द्वारा अभिषिक्त किया है। इससे गौड़ीयसम्प्रदाय में दोनों का उत्कर्ष विशेषरूप से जाना जाता है।

इसके अतिरिक्त, वृन्दावन में ये दोनों अतुलनीय हैं। उनका भजन-साधन, त्याग-वैराग्य, प्रेम-रसास्वादन सभी ध्रुवतारे की तरह सबके लिये आदर्श बन गया है। श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने उनके भजन-आदर्श का उल्लेख करते हुए लिखा है-

''महाप्रभुर जतो बड़ो-बड़ो भक्त मात्र। रूप सनातन सबार कृपा-गौरव प्राप्त॥ केहो जदि देशे जाय देखि वृन्दावन। तारे प्रश्न करेन प्रभुर पारिषदगण॥ ''कहो-ताँहा कैछे रहे रूप सनातन! कैछे रहे वैराग्य, कैछे बा भोजन? कैछे अष्टप्रहर करेन श्रीकृष्णभजन?' तबे प्रशंसिया कहे सेइ भक्तगण॥ 'अनिकेतन दोंहे रहे, जतो वृक्षगण। एकेक-वृक्षेर तले एकेक रात्रि शयन॥ विप्रगृहे स्थूल भिक्षा काँहा माधुकरी। शुष्क रुटि चाना चाबाय भोग परिहरि॥ करोया मात्र हाते काँथा छिड़ा बहिर्वास। कृष्णकथा कृष्णनाम नर्तन उल्लास॥ अष्टप्रहर कृष्णभजन, चारिदण्ड शयने। नाम-सङ्कीर्तने सेहो नहे कोनोदिने॥ कभु भक्ति-रसशास्त्र करये लिखन। चैतन्य कथा शुने, करे चैतन्य चिन्तन॥'' एइ कथा शुनिया महान्तेर महासुख हय। चैतन्येर कृपा जाहाँ, ताहाँ कि विस्मय॥'' (चै० च० मध्य०, परि० १९)।

इससे श्रीरूप-सनातन का उत्कर्ष भलीभाँति स्पष्ट होता है। अथवा, 'जय' शब्द नमस्कार वाचक है। श्रील ठाकुर महाशय श्रीरूप-सनातन के श्रीचरणों में प्रणत होकर उनका महिमा-कीर्तन कर रहे हैं।

पहले कहते हैं, श्रीरूप-सनातन 'प्रेमभक्तिरसकूप'। इससे पहले श्रीरूप-सनातन के त्याग, वैराग्य और भजनादर्श का उत्कर्ष दिखा दिया है। इससे यदि किसी को लगे कि वे साधारण साधक मात्र हैं, तो कहते हैं, वे 'प्रेमभक्ति-रसकूप' हैं। श्रीरूप-सनातन व्रज की नित्यसिद्ध पार्षद हैं-श्रीरूपमञ्जरी और श्रीलवङ्गमञ्जरी। व्रजरससाधना का प्रचार करने के लिये श्रीमन्महाप्रभु के साथ उनके पार्षदों के रूप में धरणी पर अवतीर्ण हुए हैं। जैसे श्रीमन्महाप्रभु ने साक्षात् राधाकृष्ण मिलित विग्रह होते हुए, निरन्तर राधारानी की प्रेममाधुरी के आस्वादन में मग्न रहते हुए भी स्वयं को साधक समझकर नियमनिष्ठापूर्वक साधना का रसास्वादन किया है, वैसे ही श्रीरूपसनातन ने नित्य व्रजपार्षद होकर भी साधकभक्त की तरह भजन का रसास्वादन किया है। वस्तुतः वे दोनों 'प्रेमभक्तिरसकूप' हैं।

प्रश्न हो सकता है-श्रीरूप सनातन श्रीमन्महाप्रभु और श्रीराधाकृष्ण के श्रीचरणों में ऐसा अगाध अपार प्रेम रखते हैं, उनका प्रेममय अक्षर-समन्वित ऐसा विशाल ग्रन्थभण्डार है-उन्हें तो 'प्रेमभक्तिरससागर' कहना समीचीन था, श्रील ठाकुर महाशय ने 'कूप' क्यों कहा? सागर में विभिन्न नद-नदियों के जल का मिश्रण होता

है, किन्तु कुए के जल में अन्य किसी जल का मिश्रण न होने से कूप-जल स्वरूप में ही अवस्थित रहता है। उसी प्रकार श्रीरूप-सनातन द्वारा प्रचारित प्रेमभक्तिरस परम विशुद्ध है; उसमें ज्ञान-योगादि का मिश्रण तो है ही नहीं, ऐश्वर्यभाव का मिश्रण भी नहीं। वह परम विशुद्ध माधुर्य से युक्त है। दूसरी बात, समुद्र का जल खारी होने के कारण पीने योग्य नहीं होता; नद-नदी-पुष्करिणी आदि का जल भी ग्रीष्म में अतिशय तप्त और पङ्किल हो जाने से सुपेय नहीं रहता। कुएं का जल जितना शीतल, उतना ही सुपेय। उसी प्रकार त्रिताप ज्वाला में सतत सन्तप्त कलिजीवों के शोक-ताप आदि के निवारण में ज्ञान-योगादि कभी समर्थ नहीं, एकमात्र प्रेमभक्तिरस ही उनके प्राणों को शीतल करने में समर्थ है। प्रेमभक्ति ही जीवों को शोक-दु:खादि संसारज्वाला उपशान्त कर उन्हें कृष्णमाधुर्यामृत का आस्वादन प्रदान कर धन्य करती है। उसी परम सुशीतल माधुर्यमय प्रेमभक्तिरस के आश्रय हैं श्रीरूप-सनातन। तभी प्रेमभक्तिरस कूप कहा गया है। वस्तुत: उनकी प्रेमभक्ति आयतन में कूप की तरह क्षुद्र नहीं, सिन्धु की तरह विशाल और सुगम्भीर है। उनका हृदयस्थल प्रेमभक्तिरस उनके विरचित ग्रन्थों के आकार में प्रकाशित हुआ है; उसी ग्रन्थरूपी रसकूप में डूबकर सहस्र-सहस्र मानव आज भी त्रितापज्वाला शान्त कर प्रेमभक्तिरस का आस्वादन कर धन्य हो रहे हैं और अनन्त काल तक धन्य होंगे, इसमें सन्देह नहीं।

श्रील ठाकुर महाशय ने तत्पश्चात् श्रीरूप-सनातन को ''युगल उज्ज्वलमय तनु'' कहा है। वे श्रीश्रीराधामाधव के उज्ज्वलरस से विभावित कलेवर हैं, अथवा युगल-उज्ज्वलरस से ही उनकी देहें गठित हैं। युगल उज्ज्वलरस ही सभी रसों में श्रेष्ठ है। भक्तिरस प्रधानत: पाँच प्रकार का है-शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर (उज्ज्वलरस)। मधुर रस या उज्ज्वल रस में पहले चारों रसों के गुण और भावसमूह रहने से मधुर (उज्ज्वल) रस की श्रेष्ठता है। इस विषय में श्रीरूपगोस्वामिपाद के प्रति श्रीमन्महाप्रभु की उक्ति (चै० च०) है-

''कृष्णनिष्ठा, तृष्णा त्याग शान्तेर दुइ गुणे।
एइ दुइ गुण व्यापे सब भक्तजने॥
शान्तेर स्वभाव कृष्णे ममतागन्धहीन।
परंब्रह्म - परमात्मा - ज्ञान - प्रवीण॥
केवल स्वरूपज्ञान हय शान्तरसे।
पूर्णैश्वर्य - प्रभुज्ञान अधिक हय दास्ये॥
ईश्वर-ज्ञान सम्भ्रम गौरव प्रचुर।
सेवा करि कृष्णे सुख देन निरन्तर॥ ❁
शान्तेर गुण दास्ये आछे अधिक 'सेवन'।
अतएव दास्य रसेर हय दुइ गुण॥

❁ व्रज के रक्तक पत्रकादि दासगण में श्रीकृष्ण के प्रति ईश्वर ज्ञान नहीं रहता, कारण-कहा गया है ''कृष्णेरे ईश्वर नाहि जाने व्रजजन'' (चै० च०), किन्तु राजपुत्रज्ञान के कारण यथासम्भव सम्भ्रम गौरव का उदय हुआ करता है।

शान्तेर गुण, दास्येर सेवन-सख्ये दुइ रय।
दास्येर सम्भ्रम गौरव सेवा, सख्ये विश्वासमय॥
कान्धे चड़े कान्धे चड़ाय, करे क्रीड़ा रण।
कृष्णे सेवे कृष्णे कराय आपन सेवन॥
विश्रम्भप्रधान सख्य-गौरव सम्भ्रमहीन।
अतएव सख्यरसेर तिन गुण चिन॥
ममता अधिक कृष्णे आत्मसम ज्ञान।
अतएव सख्यरसे वश भगवान्॥
वात्सल्ये शान्तेर गुण, दास्येर सेवन।
सेइ सेइ सेवनेर इहा नाम 'पालन'॥
सख्येर गुण, असङ्कोच अगौरव आर।
ममता-आधिक्ये ताड़न-भर्त्सन व्यवहार॥
आपनाके 'पालक' ज्ञान कृष्णे 'पाल्य' ज्ञान।
चारि रसेर गुणे वात्सल्य अमृत-समान॥

× × ×

मधुर रसे कृष्णनिष्ठा, सेवा अतिशय।
सख्येर असङ्कोच लालन ममताधिक हय॥
कान्तभावे निजाङ्ग दिया करेन सेवन।
अतएव मधुर रसे हय पञ्चगुण॥
आकाशादिर गुण जेनो पर - परभूते।
एक दुइ तिन क्रमे पञ्च पृथिवीते॥
एइमत मधुरे सब - भाव - समाहार।
अतएव स्वादाधिक्ये करे चमत्कार॥''

व्रज के मधुररस या उज्ज्वलरस में अत्यन्त चमत्कारित्वपूर्ण परकीयभाव का समावेश रहने से आस्वादन की अनन्त वैचित्री प्रकट हुआ करती है। सबसे बड़ी बात यह है कि युगल उज्ज्वलरस अर्थात् श्रीश्रीराधामाधव की असमोर्ध्व मिलन-माधुरी में ही आस्वादन की पराकाष्ठा है। श्रीराधा के यूथ में उनकी सखियाँ ही उस असमोर्ध्व माधुर्य का आस्वादन कर धन्य होती हैं। उन सखियों में भी राधा-स्नेहाधिका युगल की सेवागत-प्राण श्रीराधा-किङ्करियों या मञ्जरियों का आस्वादन अत्यन्त विचित्र और सबसे बढ़कर है। कारण यह है कि श्रीश्रीराधामाधव की जिन अति रहस्यमय लीलाओं को देखने का अधिकार सखियों को भी नहीं, उन्हीं लीलाओं के रससागर में किङ्करियों की नयन-सफरियाँ (मछलियाँ) परम सुख से स्वच्छन्द होकर तैरा करती हैं और ये

किङ्करियाँ तात्कालिक महारसमय सेवा का सौभाग्य पाकर धन्यातिधन्य होती हैं। इन लोगों का श्रीमती के साथ ऐसा अद्भुत भाव-तादात्म्य है कि श्रीमती इन्हें अपने विग्रह के तुल्य ही समझती हैं; इसलिये इन लोगों के द्वारा युगल के तात्कालिक दर्शन में और रहस्यमय सेवा में श्रीराधामाधव को किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं होता। इतना ही नहीं, श्रीमती के साथ अति अद्भुत भाव-तादात्म्य के फलस्वरूप इन लोगों के अङ्ग में श्रीराधाअङ्गस्थित विलासचिन्ह समूह भी यथावत् प्रकट होते हैं। इसीलिये व्रजलीला की इन नित्यसिद्ध मञ्जरियों की अध्यक्षा श्रीरूपमञ्जरी और लवङ्गमञ्जरी (गौरलीला में श्रीरूपसनातन) को ''युगल-उज्ज्वलमय तनु'' कहा गया है। अथवा, जिनमें युगल-उज्ज्वलरस की प्रचुता देखने को मिलती है। प्राचुर्य अर्थ में मयट्।

प्रश्न हो सकता है : जो व्रज की नित्यसिद्ध मञ्जरियाँ हैं, उन्होंने अब साधारण साधक की तरह दैन्य-आर्ति के साथ ऐसा साधन-भजन क्यों किया ? इसी का विशेष कारण बताते हुए कह रहे हैं-''जाँहार प्रसादे लोक, पासरिलो सब शोक, प्रकट कल्पतरु जनु''। वस्तुतः व्रज की नित्य किङ्करियाँ-श्रीरूपमञ्जरी और लवङ्गमञ्जरी ने राधाकृष्ण-मिलित विग्रह श्रीगौराङ्ग के पार्षदों के रूप में अवतीर्ण होकर व्रज की मधुररस जातीय प्रेम-साधना का स्वयं के आचरण द्वारा और विपुल ग्रन्थभण्डार द्वारा विश्व में प्रचार किया है। इन दोनों की कृपा से जगत्वासियों ने उस आचरण से व्रजरस-साधना का आदर्श और उस ग्रन्थराशि से सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजन तत्त्व की उपलब्धि कर जन्म-मरण त्रिताप आदि की शोक ज्वाला के कवल से सदा-सदा के लिये छुटकारा पाया है। इस दुःख-शोक आदि का विनाश तो आनुषङ्गिकरूप से ही हुआ है; वस्तुतः लोग तो परम अभीष्ट श्रीश्रीराधामाधव के चरणों की प्रेमसेवा पाकर धन्य हुए हैं-यही बताते हुए कहते हैं ''प्रकट कल्पतरु जनु'', अर्थात् श्रील रूप-सनातन व्रज का मधुरसजातीय मञ्जरीभावमय प्रेमफल देने में साक्षात् कल्पतरु बनकर अवतीर्ण हुए हैं। इस जगत् में कल्पतरु का साक्षात्कार अति दुर्लभ है, किन्तु श्रीरूप-सनातन तो 'प्रकट कल्पतरु' हैं, अर्थात् उन्होंने जगत्वासियों के आगे आत्मप्रकाश कर प्रकटकाल में सभी को धन्य किया है और उनके ग्रन्थ-सम्भार में उनके श्रीहस्तलिखित प्रेममय अक्षर विराजित हैं, जो अनन्तकाल तक लोगों को प्रेमसाधना के पथ पर प्रवर्तित कर प्रेम देकर धन्य करेंगे।

'प्रकट' शब्द का एक अन्य अर्थ है 'श्रेष्ठ'। श्रीरूप-सनातन विश्व के कल्पतरु से भी श्रेष्ठ हैं। कारण यह है कि विश्व का कल्पतरु तो आश्रय लेने वाले या प्रार्थी को उसकी प्रार्थित सांसारिक वस्तु ही देता है, प्रेमदान की सामर्थ्य उसमें नहीं होती। उधर श्रीरूप-सनातन हैं प्रेमकल्पतरु; आश्रित को सर्वोत्कृष्ट व्रजप्रेम देकर धन्य करते हैं। अतएव वे श्रेष्ठ या प्रकट कल्पतरु हैं। एक और बात, यदि कोई कल्पतरु से अज्ञानवश अपनी अहितकर वस्तु या विषय की कामना करता है, तो कल्पतरु वही देता है। प्रार्थी का हिताहित विचार कर देने की रीति कल्पतरु में देखने को नहीं मिलती। किन्तु श्रेष्ठ कल्पतरु श्रीरूप-सनातन से कृष्णेतर वस्तु की कामना करने पर भी वे प्रेम देकर ही प्रार्थी को धन्य करते हैं। मानकर नामक गाँव के दरिद्र ब्राह्मण ने काशीश्वर श्रीविश्वनाथ के स्वप्नादेश से श्रीसनातनगोस्वामिपाद से स्पर्शमणि प्राप्त की थी, फिर भी वह श्रीगोस्वामिपाद के दर्शन और सङ्गगुण से मणि को त्यागकर प्रेमसम्पदा पाकर धन्य हुआ था। प्रकट या 'श्रेष्ठ' कल्पतरु श्रीरूप-सनातन की विश्व के कल्पतरु की अपेक्षा यही महान् विशिष्टता है॥८॥

प्रेमभक्ति-रीति जत, निज ग्रन्थे सुबेकत,
लिखियाछे दुइ महाशय।
जाहार श्रवण हैते, प्रेमानन्दे भासे चिते,
जुगल मधुर रसाश्रय॥९॥

टीका -

द्वाभ्यां महाशयाभ्यां श्रीरूपसनातनाभ्यां सर्वप्रेमभक्तिरीतिर्व्यक्तं यथा स्यात्तथा निजग्रन्थे लिखिता। यत् श्रवणात् भक्तानां चित्तं प्रेमानन्दरूपसमुद्रे प्लुतं स्यात्। श्रीगौराङ्ग प्रेमसमुद्रमवगाह्य तस्मात् प्रेमरत्नधनमुद्धृत्य युवां प्रकाशितवन्तौ॥९॥

युगल-मधुर-रसाश्रय :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय अब श्रीश्रीरूप-सनातन की प्रेमाक्षरयुक्त ग्रन्थावली की महिमा-कीर्तन करते हुए उनका अवदान बता रहे हैं। ''प्रेमभक्तिरीति जत, निजग्रन्थे सुबेकत, लिखियाछे दुइ 'महाशय'।'' दोनों ही महाशय अर्थात् महामना या उदारचित्त हैं। यही कारण है कि सतत ध्रुवानुस्मृति-सागर में डूबे रहकर भी या रसास्वादन में सदा निमग्न रहते हुए भी इन्होंने जगज्जीवों के प्रति करुणा-परवश होकर अपने उदार स्वभाव से अपने हृदय की अनुभूति अपने ग्रन्थों में भर दी है। अथवा 'महाशय' का अर्थ है भक्तिरस-लम्पट। दोनों ने जैसे श्रवण कीर्तन स्मरण और मनन में भजनरस या भक्तिरस का आस्वादन किया है, वैसे ही भक्तिरस का आस्वादन किया है ग्रन्थ-रचना में। जो लोग भक्तिग्रन्थादि के प्रणयन में लगे हैं, वे ही समझ सकते हैं कि भक्तिग्रन्थ या रसग्रन्थ लेखन में कैसा अपूर्व भजन या भक्तिरस का आस्वादन होता है! अथवा श्रील ठाकुर महाशय ने स्वयं 'महाशय' शब्द की एक अति सुन्दर व्याख्या दी है- ''राधिका चरणाश्रय, जे करे से महाशय''। श्रीरूप-सनातन ऐकान्तिक रूप से श्रीराधा के श्रीचरणाश्रित हैं; स्वरूप में प्रेममयी श्रीमती की अभिन्नप्राणा नित्यकिङ्करियाँ; अतएव वे ही ऐसे प्रेमाक्षरयुक्त अपूर्व ग्रन्थ लिखने में समर्थ हैं।

श्रील ठाकुर महाशय श्रीरूप-सनातन के ग्रन्थों का अपूर्वत्व बता रहे हैं - ''प्रेमभक्तिरीति जत, निजग्रन्थे सुबेकत, लिखियाछेन दुइ महाशय।'' अभिधान में 'रीति' शब्द के कई अर्थ मिलते हैं-क्रम, प्रकार, स्वभाव, पद्धति, गुण, धर्म आदि। यहाँ सभी अर्थों की उपयोगिता है। श्रील ठाकुर महाशय की ऐसी अद्भुत वाग्मिता है कि उन्होंने 'रीति'- दो अक्षरों वाले एक छोटे-से शब्द के द्वारा श्रील रूप-सनातन की विपुल ग्रन्थराशि में वर्णित विषयवस्तु की एक व्यापक व्याख्या की है।

'रीति' शब्द का अर्थ है 'क्रम'। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने अपने भक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थों में प्रेमभक्ति प्राप्ति के श्रद्धा, साधुसङ्ग, भजनक्रियादि साधन क्रम; प्रेमभक्ति के उर्ध्वतन स्तर स्नेह, मान,

प्रणयादि-महाभाव तक क्रमविकास एवं महाभाव की विविध विलास-वैचित्री-रूढ़, अधिरूढ़, मोदन, मोहन, मादनादि की गहनता-इन सबका अति अलौकिक एवं भावगम्भीर वर्णन किया है। श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद ने श्रीवृहद्भागवतामृत (प्रथमखण्ड) में श्रीकृष्ण-कृपापात्रों में भक्ति का क्रमिक विकास और (द्वितीय खण्ड में) रसानुसार वैकुण्ठ आदि धामों में प्रेमभक्ति का क्रम विकास-इन विषयों का अपूर्व वर्णन किया है।

'रीति' का अर्थ 'प्रकार'। दोनों ने अपने-अपने ग्रन्थों में दृष्टान्तपूर्वक अति निपुणता के साथ प्रेमभक्तिरस के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर आदि के प्रकारभेद बताये हैं। उसी प्रकार प्रेमभक्ति की रीति या स्वभाव है कि समस्त कृष्णेतर विषयों में आवेश दूर कर श्रीकृष्ण में मन को निविष्ट करती है-यह भी दोनों के ग्रन्थों में विपुलरूप से वर्णित है। उन्होंने प्रेमभक्ति की रीति या पद्धति अर्थात् साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति की नियमावली, उनके अलौकिक गुण एवं धर्म आदि की बातें भी अपने ग्रन्थों में विशद् रूप से लिखी हैं। इसके अतिरिक्त श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद ने श्रीहरिभक्ति विलास, लीलास्तव या दशमचरित में, वृहत् वैष्णवतोषणी टीका में भक्तिसाधना की रीति नीति या विविध भक्तिसिद्धान्त की बात बताई है। श्रीरूप गोस्वामिपाद ने लघु-भागवतामृत में, विदग्धमाधव, ललितमाधव, स्तवमाला, दानकेलिकौमुदी आदि में प्रेमभक्ति की परिपाटी या रहस्य वर्णन कर सुदुर्बोध्य भक्तिरस जगज्जीवों के लिये सुखबोध्य बनाया है।

श्रीरूप-सनातन ने अपनी ग्रन्थराशि में प्रेमभक्ति की रीति को सुव्यक्त किया है, अर्थात् अति रहस्यमय प्रेमभक्ति की बात भी व्यक्त कर विस्तृतरूप में वर्णन की है। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने लिखा है-''श्रीमत् प्रभुपदाम्भोजैः सर्वा भागवतामृते। व्यक्तीकृतास्ति गूढ़ापि भक्तिसिद्धान्तमाधुरी॥'' (भ० र० सि० १/४/२०), अर्थात् मेरे प्रभु श्री सनातन गोस्वामिपाद ने अपने वृहद्भागवतामृत ग्रन्थ में भक्ति-सिद्धान्त-माधुरी अति गूढ़ होते हुए भी स्पष्ट रूप से वर्णन की है। श्रीरूप गोस्वामिपाद के ग्रन्थों के विषय में भी यही समझना होगा। जगज्जीवों के कल्याण के लिये इन दोनों ने भक्तिसिद्धान्त प्रकट रूप से वर्णन किया है, इसका एक उज्ज्वल दृष्टान्त है श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद की स्वरचित श्रीवृहद्भागवतामृत की टीका। यद्यपि उन्होंने वृहद्भागवतामृत में पौराणिक दृष्टान्त की अवतारणा कर भक्तिसिद्धान्तसमूह का विस्तृत रूप में वर्णन किया है, तथापि स्वयं प्रत्येक श्लोक की टीका रचनाकर सिद्धान्तों को सभी के लिये सहज-बोध्य बना दिया है। अतएव श्रील ठाकुर महाशय ठीक ही कहते हैं-''प्रेम भक्ति-रीति जतो, निजग्रन्थे सुबेकत, लिखियाछेन दुइ महाशय।''

तत्पश्चात् ''जाहार श्रवण हैते, प्रेमानन्दे भासे चिते, युगल-मधुर रसाश्रय।'' श्रीरूप-सनातन के ग्रन्थों का श्रवण (उपलक्षण से कीर्तन-स्मरण) करने से चित्त-मन प्रेमानन्द रस में सराबोर हो जाता है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रों और महाजन-वाणियों में सजातीयाशय स्निग्ध एवं स्वतोवर (अपने से श्रेष्ठ) महत् पुरुषों के सङ्ग को श्रीकृष्ण प्रेम-प्राप्ति का या भक्तिरसास्वादन का श्रेष्ठतम साधन बताया गया है-वैसा वांछित महत् सङ्ग विश्व में अति दुर्लभ है। श्रीरूप-सनातन ने अपनी ग्रन्थराशि में अपनी विशाल अनुभूति के साथ अपनी हार्द्य साधन-सम्पदा सभी कुछ सञ्जोकर रखी है। दूसरी बात, इन सभी ग्रन्थों की अक्षर राशि प्रेममय है; इसलिये इसका श्रवण-कीर्तनादि प्रेमप्राप्ति और प्रेम-रसास्वादन का अति शक्तिशाली एवं अव्यभिचारी साधन है। विशेषतः युगल-उपासक

गौड़ीय वैष्णवों के लिये यह ग्रन्थराशि कण्ठहार स्वरूप है, कारण–यह युगलमधुर रस का आश्रय या आधार है। श्रीरूप–सनातन की समस्त ग्रन्थराशि श्रीश्रीराधामाधव के रूप–गुण–लीलारस से और युगल की प्रेमसाधना की परिपाटी एवं तदनुकूल सिद्धान्तों से भरपूर है। तभी इनके आस्वादन से युगलोपासक चित्त प्रेमानन्दरस से भर उठता है। 'परानन्द हय चिते' – यह पाठ भी मिलता है। इसका भी यही अर्थ समझना होगा, कारण–प्रेमानन्द ही परानन्द है; जिससे अधिक श्रेष्ठ आनन्द विश्व में और कुछ भी नहीं। पक्षान्तर से इन ग्रन्थों के आस्वादन–अनुशीलन को छोड़ युगल का मधुररसानुभव कभी सम्भव नहीं॥९॥

युगल–किशोर प्रेम, लक्षवान जेनो हेम,
हेनो धन प्रकाशिला जाँरा।
जय रूप! सनातन, देहो मोरे प्रेमधन,
से रतन मोर गले हारा॥१०॥

टीका –

से रतन मोर गले हारा–तेन प्रेमरत्नेन कण्ठे हारं करवाणीति भावः॥१०॥

लाख बार तपाया सोना :

सुधाकणिका व्याख्या – श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय ने पिछली त्रिपदी में श्रीरूप–सनातन के ग्रन्थों को युगलमधुर–रसाश्रय कहा है। इस त्रिपदी में बता रहे हैं कि उन दोनों ने अपने ग्रन्थों में प्रेम की परम विशुद्धता का निरूपण कर वही परमरहस्यमयी प्रेम वस्तु सम्यक रूप से विश्व में प्रकट की है। पहले कहते हैं– ''युगल–किशोर प्रेम, लक्षवान जेनो हेम''। सोने को अग्नि में जितना दग्ध किया जाय, वह उतना ही विशुद्ध या खरा होगा। लाख बार दग्ध किये सोने में किसी प्रकार की खाद की कल्पना भी नहीं की जाती। उसी प्रकार श्रीराधाकृष्ण के पारस्परिक प्रेम में या गोपीप्रेम में आत्मसुख–वासना का लेशमात्र भी नहीं (चै० च०)–

''ना गणि आपन दुःख, सबे वाँछि ताँर सुख, ताँर सुखे आमार तात्पर्य।
मोरे जदि दिले दुःख, ताँर हैलो महासुख, सेइ दुःख मोर सुखवर्य॥''

यह बात व्रजसुन्दरियाँ ही कह सकती हैं, अन्य कोई नहीं, कारण–उनकी रति समर्था है। सम्भोगेच्छा को रति की अनुगत बनाये रखने की सामर्थ्य है, इसीलिये उसे 'समर्था' कहा जाता है। अग्नि के साथ लोहे का तादात्म्य होता है, तो लोहे की शीतलता और उसका तमोगुण दूर हो जाता है; अग्नि की दाहिका–शक्ति और प्रकाश गुण उसमें संक्रमित हो जाते हैं। उसी प्रकार रति या श्रीकृष्ण–सुख–विधान की अनुरागमय वासना के साथ जब सम्भोग–इच्छा तादात्म्य प्राप्त करती है, तो अपनी भोग–इच्छा का घना अन्धकार दूर हो जाता है, हृदय अनुराग के कुंकुमवर्ण से रङ्ग जाता है। जिसके साथ तादात्म्य होता है, उस रति की ही प्रधानता है; सम्भोगेच्छा की गौणता

है। गोपियाँ श्रीकृष्ण की सेवा करके ही कृतकृतार्थ हैं; अपने सुख की इच्छा का अस्तित्व उनके हृदय में नहीं–''आत्म सुख-दु:ख गोपीर नाहिक विचार। कृष्ण-सुख हेतु चेष्टा मनो व्यवहार॥ कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग। कृष्ण-सुख हेतु करे शुद्ध अनुराग॥'' (चै० च०) अतएव ''कान्त-सेवा सुखपूर, सङ्गम हैते सुमधुर'' - यह व्रजगोपियों की ही वाणी है, मर्म की वाणी!

प्रकटलीला में श्रीकृष्ण मथुरा चले गये, व्रजसुन्दरियों के उस दारुण विरह की बात श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों में वर्णित है। उस दारुण विरह में अन्य किसी भक्त के लिये प्राण धारण करना ही सम्भव न था, किन्तु व्रजबालाओं ने प्राणरक्षा की। एकमात्र कारण था प्राणकान्त श्रीकृष्ण के सुख की कामना। उनके प्राण खो देने पर उन लोगों के अभाव में श्रीकृष्ण को दु:ख होगा-बस यही विचार उनकी प्राणरक्षा का एकमात्र हेतु बना। आत्म-सुख-कामना का लेशमात्र भी रहता, तो उस दारुण विरह में प्राण धारण करना उनके लिये सम्भव न होता (चै० च०) -

''प्रिया प्रिय सङ्गहीना, प्रिय प्रिया-सङ्ग बिना, नाहि जीये ए सत्य प्रमाण।
मोर दशा शुने जबे, तार एइ दशा हबे, एइ भये दोंहे राखे प्राण॥''

सर्वोपरि श्रीराधारानी। उनके मादनाख्य महाभाव में अति सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपाधियाँ भी तिरोहित हो गई हैं, इसीलिये वह लाख बार तपाये सोने से भी कहीं अधिक परम विशुद्ध है। श्रील रूप-सनातन ने अपने ग्रन्थों में श्रीश्रीराधामाधव के प्रेम की विशुद्धता का वर्णन दृष्टान्तादि द्वारा विस्तृत रूप से किया है। जो पहले ब्रह्मा-उद्धव आदि के लिये भी दुर्गम या दुर्ज्ञेय था, श्रीश्रीराधामाधव का वही रहस्यमय प्रेम श्रीरूप-सनातन के ग्रन्थों में इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है कि कलियुग के साधारण साधकों के लिये भी सहजबोध्य और साधना की विषयवस्तु बन गया है। ''**हेनो प्रेम प्रकाशिलो जाँरा॥**''

''युगलकिशोर प्रेम, लक्षवान जेनो हेम''। युगलकिशोर श्रीश्रीराधामाधव के प्रति श्रीराधा की सखियों का प्रेम। वह लाख बार तपाये सोने से भी कहीं अधिक विशुद्ध। युगल के सुख में ही वे सुखी हैं। परम विशुद्ध युगल की प्रेममाधुरी का आस्वादन ऐसी सम्पदा है, जिस पर इन लोगों का एकाधिकार है। श्रील कविराज गोस्वामिपाद लिखते हैं-

''राधाकृष्णेर लीला एइ अति गूढ़तर।
दास्यवात्सल्यादि भावेर ना हय गोचर॥
सबे एक सखीगणेर इहा अधिकार।
सखी हैते हय एइ लीलार विस्तार॥
सखी बिनु एइ लीलार पुष्टि नाहि हय।
सखी लीला विस्तारिया सखी आस्वादय॥
सखी बिनु एइ लीलाय अन्येर नाहि गति।''

(चै० च०)

सखियों में भी राधास्नेहाधिका मञ्जरियों या श्रीराधा की किङ्करियों का युगल-प्रेम! उस प्रेम में विशुद्धि की पराकाष्ठा है। कारण यह है कि सखियों में श्रीकृष्ण से मिलने की इच्छा न होने पर भी राधारानी की इच्छा से अथवा चेष्टा से उन लोगों के साथ श्रीकृष्ण का मिलन कदाचित् हुआ करता है (चै० च०, मध्य०, परि० ८)-

''सखीर स्वभाव एक अकथ्य कथन।
कृष्णसह निजलीलाय नाहि सखीर मन॥
कृष्णसह राधिकार लीला जे कराय।
निजकेलि हैते ताहे कोटि सुख पाय॥
× × ×
यद्यपि सखीर कृष्णसङ्गमे नाहि मन।
तथापि राधिका यत्ने कराय सङ्गम॥
नाना छले कृष्णे प्रेरि सङ्गम कराय।
आत्मकृष्णसङ्ग हैते कोटि सुख पाय॥
अन्योन्ये विशुद्ध प्रेमे करे रस पुष्ट।
ता-साभार प्रेम देखि कृष्ण हय तुष्ट॥''

राधास्नेहाधिका किङ्करियों (मञ्जरियों) में श्रीकृष्ण से मिलने की इच्छा कभी नहीं जगती। (विषद विवरण बाद में)। वे हैं सेवानिष्ठ, सेवागतप्राण; सेवारस से ही गढ़ा है उनका स्वरूप। मञ्जरियों की यह भावसाधना ही गौड़ीय वैष्णवों की परम आकांक्षित साध्यवस्तु है-श्रीमन्महाप्रभु की अनर्पितचरी करुणा का अवदान। श्रीरूप-सनातन इस मञ्जरीभाव के ही आचार्य हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में इसी मञ्जरीभाव-साधना के तत्त्व सिद्धान्तों का सविस्तार वर्णन किया है। इसी साधन को लक्ष्य कर इसे सर्वोपरि स्थापित करने की अभिलाषा से उन्होंने नाना प्रकार के तत्त्वसिद्धान्त आख्यान आदि की अवतारणा की है। श्रील सनातन गोस्वामिपाद का श्रीवृहद्भागवतामृत इसका प्रकृष्ट प्रमाण है। इसी प्रकार श्रील रूप-सनातन ने अपने ग्रन्थों में युगलकिशोर के प्रति मञ्जरियों के परम विशुद्ध प्रेम का सम्यक वर्णन किया है।

श्रील ठाकुर महाशय प्रार्थना करते हैं-''जय रूप सनातन, देहो मोरे प्रेमधन, से रतन मोर गले हारा''-'हे कृपामय श्रीरूपसनातन! मुझे वही मञ्जरीभावनिष्ठ प्रेम दान करें। कण्ठहार की तरह वह प्रेमरत्नहार मेरे आत्मा का सतत शोभा-वर्धन करे। प्रेम को धन कहा; धन से दरिद्रता का नाश होता है और भोगादि सम्पन्न होते हैं, उसी प्रकार प्रेम से आनुषङ्गिकरूप से संसार के क्लेश नष्ट होते हैं और प्रेमरस का आस्वादन होता है। फिर प्रेम श्रीकृष्ण की अशेष माधुरी का आस्वादन भी करा देता है-''पञ्चम पुरुषार्थ सेइ प्रेम महाधन। कृष्णेर माधुर्यरस कराय आस्वादन॥'' (चै० च०) मञ्जरीभावमय प्रेम से उस उत्कृष्ट प्रेमरस के साथ-साथ श्रीराधाकृष्ण की अशेष माधुरी का आस्वादन प्राप्त होता है। श्रील ठाकुर महाशय ने वही प्रेमरत्न का हार गले में पहनने के लिये श्रीरूप-सनातन की कृपा-भिक्षा माँगकर उक्त दोनों प्रकार के आस्वादन हेतु प्रार्थना की है, ऐसा समझना होगा॥१०॥

भागवत शास्त्रमर्म, नवविधा भक्ति-धर्म,
सदाइ करिबो सुसेवन।
अन्य देवाश्रय नाइ, तोमारे कहिलो भाइ,
एइ भक्ति परम भजन॥११॥

नवधा भक्ति :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय वैष्णव समाज में 'प्रेमभक्ति के महाराज' आख्या प्राप्त करके भी, अर्थात् अतुल प्रेमभक्ति के अधिकारी होकर भी स्वयं को साधारण साधक समझकर कह रहे हैं-''भागवत शास्त्र मर्म, नवविधा भक्ति-धर्म, सदाइ करिबो सुसेवन''। इसकी दो प्रकार से व्याख्या हो सकती है। 'भागवत शास्त्र का प्रकृत (यथार्थ) मर्म श्रीमन्महाप्रभु की कृपा से श्रील गोस्वामिपादगण की टीकाओं में ही प्रकट हुआ है। वैष्णवतोषणी, क्रम-सन्दर्भ आदि टीकायें, भागवत का गूढ़ार्थ प्रकाशक षट्सन्दर्भ, श्रील गोस्वामिगण के अनुगत श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद, श्रील बलदेव विद्याभूषण महोदय की टीकायें, श्रीमद्भागत की मर्मार्थ प्रकाशक व्याख्यायें-इन सबका सतत अनुशीलन करूँगा और नित्य-कृष्णदास जीव के प्रकृत धर्म (श्रवण-कीर्तन आदि नवधा भक्ति) का सर्वदा सुसेवन करूँगा।'

अथवा 'भागवतशास्त्र का यथार्थ मर्म जो नवधा भक्ति है, उसका सर्वदा सुसेवन करूँगा।' श्रीभागवत में प्रह्लादजी की उक्ति (७/५/२३-२४) से ज्ञात होता है-''श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्। इति पुंसार्पिता विष्णो भक्तिश्चेन्नवलक्षणा क्रियेत भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥''

अर्थात् 'श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन-श्रीविष्णु की यह नवधा भक्ति जीव द्वारा भगवान् को साक्षात् अर्पित हो जाय, तो मैं उसी को उत्तम अध्ययन मानता हूँ।' श्रील ठाकुर महाशय सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत द्वारा निर्दिष्ट इन नवधा भक्ति-अङ्गों के सुसेवन का सङ्कल्प कर साधकसमाज को भी उनके भलीभाँति सेवन की प्रेरणा दे रहे हैं। केवल 'सेवन' न कहकर 'सुसेवन' कहा है। तात्पर्य यह है कि कल्याणकामी साधक को नवधा भक्ति का इस प्रकार भलीभाँति सेवन-अनुशीलन करना होगा कि उसका कामना-वासना से मलिन हुआ चित्त शीघ्र शुद्ध हो जाय और शीघ्र ही रति या प्रेम का उद्रेक हो सके। श्रवण-कीर्तन आदि नवधा भक्ति-अङ्गों का सुसेवन किस प्रकार करना होगा, इस विषय में हम श्रील गोस्वामिपादगण की वाणियों को अवलम्बन बनाकर किञ्चित् समीक्षा करेंगे, कारण-इस सुसेवन के अभाव से ही अथवा इसका कौशल न जानने के कारण ही प्रगतिशील भजनजीवन में प्रेम प्राप्त होने में साधक को बहुत विलम्ब होता है।

(१) श्रवणाङ्ग-भक्ति का सुसेवन या उत्तमरूप से सेवन हो, इस विषय में श्रीजीव गोस्वामिपाद ने लिखा है-''तच्च नामरूपगुणलीलामयशब्दानां श्रोत्रस्पर्शः।.....तत्रापि श्रवणे श्रीभागवत-श्रवणन्तु परमश्रेष्ठ तस्य तादृश प्रभावमयशब्दात्म-कत्वात् परमरसमयत्वाच्च तत्र पूर्वस्माद् यथा (भा० १/१/२) 'श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवापरैरीश्वरः सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रुषुभिस्तत्क्षणात्।' महामुनिः सर्वमहन्महनीय-

चरणपङ्कज श्री-भगवान्। अत्र किंवापरैरित्यादिना शब्दस्वाभाविक-माहात्म्य दर्शितम्। उत्तरस्माद् यथा 'सर्ववेदान्त सारं हि श्रीभागवतमिष्यते। तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद् रतिः क्वचित्॥' तद्रस एवामृतं तेन तृप्तस्य। अत्रैव विवेचनीयम् श्रीभगवन्नामादेः श्रवणं तावत् परमः श्रेयः; तत्रापि महदाविर्भावितप्रबन्धादेः तत्र महत्कीर्त्यमानस्य; ततोऽपि श्रीभागवतस्य। तत्रापि महत्कीर्त्यमानस्येति। तत्रापि सवासनमहानुभव मुखात् सर्वस्य श्रीकृष्णनामादि श्रवणन्तु परमभाग्यादेव सम्पद्यते तस्य पूर्णभगवत्वादिति।'' (भक्ति सन्दर्भ) अर्थात् 'भगवान् के नाम रूप गुण लीलामय शब्द के श्रवणेन्द्रिय स्पर्श का नाम श्रवण है। उस श्रवण में भी श्रीमद्भागवत श्रवण ही परम श्रेष्ठ है, कारण-श्रीमद्भागवत के शब्दसमूह परम प्रभावमय एवं परम रसमय हैं। श्रीमद्भागवत की शब्दराशि परम प्रभावमय है, यह बात ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही वर्णित है-'महापुरुष जिनके श्रीचरणपङ्कजों की आराधना करते हैं, उन्हीं महामुनि भगवान् श्रीमन्नारायण ने ही श्रीमद्भागवत को प्रकाशित किया है। इसमें ऐसे प्रभावमय शब्द और ऐसा परम आस्वादन निहित है कि इसके सुनने की इच्छामात्र से ही तत्क्षणात् भगवान् हृदय में अवरुद्ध हो जाते हैं। अन्य किसी शास्त्र के श्रवण करने से अथवा साधना द्वारा क्या भगवान् तुरन्त हृदय में अवरुद्ध होते हैं? कभी नहीं। इससे श्रीमद्भागवत के शब्दसमूह का स्वाभाविक माहात्म्य प्रदर्शित हुआ है। श्रीमद्भागवत परम रसमय है-'जो सर्ववेदान्तसार इस श्रीमद्भागवतसुधा से परितृप्त होते हैं, उनकी अन्य किसी शास्त्र या साधन में रुचि नहीं होती।' इससे श्रीमद्भागवत के आस्वादन की प्रगाढ़ता दिखाई गई है।

यहाँ विवेच्य है : ''पहली बात तो यह कि भगवान के नाम रूप गुण लीलादि का श्रवण ही परम श्रेयस्कर है। उसमें भी महत् जनों द्वारा रचे प्रबन्ध आदि का श्रवण अधिकतर मङ्गलजनक है। फिर वे प्रबन्ध आदि यदि महत् जनों द्वारा कीर्तित हैं, तो उसका माहात्म्य और भी अधिक है। फिर महा महत् श्रीव्यास-शुक आदि द्वारा रचा श्रीमद्भागवत शास्त्र महत्जनों द्वारा कीर्तित होने पर अत्यन्त मङ्गलप्रद है। फिर वह श्रीमद्भागवत-प्रणिहित श्रीहरि का नाम गुण लीलादि यदि स्वजातीय-वासनायुक्त महानुभव के श्रीमुख से सुनने को मिले, तो वह सर्वाधिक आस्वादन देने वाला होता है। श्रीमद्भागवत में नाना अवतारों की लीलायें वर्णित हैं, फिर भी श्रीकृष्ण के नाम रूप गुण लीलादि का श्रवण परम सौभाग्य-सापेक्ष है, कारण-वे स्वयं भगवान् और साक्षात् माधुर्य-मूर्ति हैं।

श्रील गोस्वामिपाद के इस सिद्धान्त से हमें सार बात यही पता चलती है कि सजातीयाशय महत् पुरुष के श्रीमुख से श्रीमद्भागवत से श्रीकृष्ण के नाम रूप गुण लीलादि का श्रवण महाशक्तिशाली और परम रसमय होकर साधक की श्रवणाङ्ग भक्ति को अति सुसेव्य बना देता है। श्रील गोस्वामिपादगण ने श्रीमद्भागवत को केन्द्र बनाकर श्रीकृष्णलीला-विषयक जितने भी सिद्धान्तग्रन्थ या रसग्रन्थादि रचे हैं, वे सब 'भागवत' पद वाच्य माने जायेंगे। राधाकृष्ण-मिलित विग्रह श्रीमन्महाप्रभु के लीलाविषयक श्रीचैतन्यभागवत, श्रीचैतन्यचरितामृत आदि ग्रन्थ और श्रील ठाकुर महाशय की प्रेमभक्ति-चन्द्रिका, प्रार्थना आदि भी वैसे ही महाशक्तिशाली एवं महारसमय हैं। सजातीयाशय (अपने ही भाव-रसवाले) महत् जनों से इन ग्रन्थों के श्रवण करने से वे सभी अन्तराय शीघ्र दूर हो जाते हैं, जो श्रवणाङ्ग भक्ति के सुसेवन के प्रतिकूल हैं। तब श्रवणाङ्ग भजन में रुचिशील साधक शीघ्र ही प्रेम लाभ कर धन्य हो जाते हैं। यही है श्रवणाङ्ग का 'सुसेवन'।

(२) 'कीर्तन' - श्रीकृष्ण के नाम, गुण, लीलादि का उच्चारण ही कीर्तन है। विशेष रूप से भगवान् का नामकीर्तन ही कलि का युगधर्म है। साधनों में भगवन्नाम-साधन-जैसा श्रेष्ठ साधन और नहीं है, जिससे प्रेम-प्राप्ति हो। देश-काल द्रव्य आदि द्वारा परिच्छेदरहित (सीमाहीन), अधिकार अनधिकार विवर्जित, जीवमात्र का परमहित, सज्जनमात्र द्वारा समादृत, अनन्त सिद्ध साधकों द्वारा आचरित नाम सङ्कीर्तन ही सभी शास्त्रों में प्रेमप्राप्ति के परम उपाय के रूप में निर्णीत हुआ है। ''एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्। योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्।'' (भा० २/१/११) ''साधकानां सिद्धानाञ्च नातः परमन्यत् श्रेयोऽस्तीत्याह एतदिति। इच्छितां कामिनां तत्तत्फलसाधनमेतदेव। योगिनां ज्ञानिना फलञ्चैतदेव निर्णीतम्। नात्रप्रमाणं व्यक्तव्यमित्यर्थ।'' (श्रीधर टीका) अर्थात् साधकों एवं सिद्ध महापुरुषों के लिये भी नामकीर्तन की अपेक्षा और श्रेष्ठ साधन नहीं है, इसी अभिप्राय से कहते हैं-''हे राजन्! जो लोग सकाम हैं, उनके लिये वांछित फल का अव्यभिचारी साधन यह नामकीर्तन ही है। फिर निर्विद्यमान अर्थात् मुमुक्षुओं के लिये मुक्ति का मुख्य साधन भी यही नामसङ्कीर्तन है। योगी एवं ज्ञानियों के योग और ज्ञानसाधन का मुख्यफल भी यह नामसङ्कीर्तन है।''

यह नामसङ्कीर्तनाङ्ग किस प्रकार सुसेव्य होकर प्रेम का साधक बनता है, श्रीमन्महाप्रभु ने स्वयं श्रीमुख से शिक्षाष्टक में व्यक्त किया है-''जेरूपे लइले नाम प्रेम उपजाय। ताहार श्रवण शुनो स्वरूप रामराय॥ तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुणा। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥'' महाप्रभु ने इस श्लोक का अर्थ स्वयं ही बताया है (चै० च०) -

''उत्तम हइया आपनाके माने तृणाधम।
दुइ प्रकारे सहिष्णुता करे वृक्षसम॥
वृक्ष जेनो काटिलेह किछु ना बोलय।
शुखाइया मैले कारे पानी ना मागय॥
जेइ जे मागये तारे देय आपन धन।
घर्म-वृष्टि सहे, आनेर करये रक्षण॥
उत्तम हइया वैष्णव हबे निरभिमान।
जीवे सम्मान दिबे जानि कृष्ण-अधिष्ठान॥
एइमत हइया जेइ कृष्णनाम लय।
कृष्णेर चरणे तार प्रेम उपजय॥''

श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने उक्त श्लोक पर मन्तव्य प्रकट करते हुए लिखा है-

''ऊर्द्धबाह करि कहि शुनो सर्वलोक।
नामसूत्रे गाँथि परो कण्ठे एइ श्लोक॥
प्रभुर आज्ञाय करो एइ श्लोक आचरण।
अवश्य पाइबे तबे श्रीकृष्णचरण॥''

तात्पर्य यही है कि नाम करने के समय यह श्लोक याद रखना होगा और जिस उपाय से ऐसी अवस्था प्राप्त हो, उसके लिये श्रीनाम के निकट ही सकातर प्रार्थना एवं हृदय की व्याकुलता व्यक्त करनी होगी, कारण–जब तक उक्त अवस्था प्राप्त नहीं होती, तब तक नामग्रहण का मुख्यफल प्रेम प्राप्त नहीं होगा। इस श्लोक का यथायथ याजन ही निरपराध होकर नामकीर्तन का अमोघ उपाय है, क्योंकि नामापराध ही महाशक्तिशाली नामसाधना द्वारा प्रेमभक्ति के मार्ग में प्रबलतम अन्तराय (बाधा) है। सापराध व्यक्ति के प्रति श्रीनाम प्रसन्न नहीं होते; अपराधी व्यक्ति बहुत समय तक कीर्तन करे, तब भी वे उसे प्रेम देने की इच्छा नहीं करते। जो लोग कलि के युगधर्म इस हरिनाम–सङ्कीर्तन का सुसेवन कर शीघ्र ही प्रेम प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें दशविध नामापराध छोड़कर ही नामकीर्तन करना होगा। 'राध्' शब्द का अर्थ सन्तोष है। अपराध होने पर नाम का सन्तोष चला जाता है, तब श्रीनाम अपना प्रभाव छिपा लेते हैं, फलस्वरूप नामपाराधी नाम का सुसेवन करने में असमर्थ होता है। सुसेवन दूर की बात; अश्रद्धा, कुटिलता, कृष्णेतर वस्तुओं में अभिनिवेश, लाभ–पूजा–प्रतिष्ठाशा, नामभजन में शिथिलता आदि इस अपराध के ही विषमय फल हैं। फिर 'राध्' का अर्थ है सिद्धि (राध्–घञ्), अपराध से नाम की फल–सिद्धि नष्ट हो जाती है, कारण–यह साधक का सारा साधन–भजन व्यर्थ कर देता है, अप्राकृत वस्तु को प्राकृत वस्तु की तरह दिखाता है, साधक के चित्त–मन में भोगस्पृहा जगाता है, फलस्वरूप साधक नामाश्रय लेकर कृतार्थ होने में सक्षम नहीं होता। यहाँ हम नामापराधों का संक्षेप में उल्लेख करते हैं– (१) साधु निन्दा (२) श्रीविष्णु और श्रीशिव के नामादि को पृथक् समझना (३) गुरुदेव की अवज्ञा अथवा श्रीगुरु में मर्त्यबुद्धि (४) श्रुति और तदनुगत शास्त्रों की निन्दा (५) श्रीहरिनाम की महिमा को स्तुति–वाक्य मानना (६) श्रीहरिनाम में अर्थान्तर की कल्पना (७) नाम के बल पर पापाचरण की प्रवृत्ति (८) अन्य शुभ क्रियादि के साथ श्रीहरिनाम की समता मानना (९) श्रद्धाहीन को नाम का उपदेश देना (१०) नाम–माहात्म्य सुनकर भी नाम में अप्रीति। ❋ इन दस अपराधों से रहित होकर नामकीर्तन करना ही कीर्तनाङ्ग का सुसेवन है।

(३) '**स्मरण**' – भगवान् के नाम, गुण, लीला आदि के साथ मन के संयोग को ही 'स्मरण' कहा जाता है। श्रीहरिस्मृति ही सभी साधनों का प्राण–स्वरूप है। स्मरणाङ्ग भक्ति–याजन में मनः संयोग का एकान्त प्रयोजन है। मन शुद्ध न हो, तो मनःसंयोग सम्भव नहीं होता। अर्थात् अन्य पदार्थों में स्फुरणरूपी मल के नष्ट न होने से चित्त शुद्ध नहीं होता, इसलिये स्मरणाङ्ग–याजन सभी के लिये सम्भव नहीं होता। तभी श्रीजीवगोस्वामिपाद ने लिखा है–''अथ शरणापत्यादिभिः शुद्धान्तः करणश्चेत्.....नामकीर्तनापरित्यागेन स्मरणं कुर्यात्''– अर्थात् शरणापत्ति आदि द्वारा अन्तःकरण के शुद्ध होने पर नामकीर्तन के साथ स्मरणाङ्गभक्ति–याजन कर्तव्य है। तात्पर्य यही है कि श्रद्धा, शरणापत्ति, श्रीगुरु–वैष्णव की सेवा, श्रवण–कीर्तनादि भजनाङ्गों के याजन से जैसे–जैसे साधक का चित्त परिशुद्ध या मार्जित होता जाता है, तैसे–तैसे उसका स्मरणाङ्ग भजन सुखकर या सुसेव्य बनता जाता है। स्मरणाङ्ग भजन में लगा साधक साधन–प्रयत्न से इस स्मरणाङ्ग भजन का सुसेवन करते–करते क्रमशः कई स्तरों का अतिक्रम कर भावसिद्धि के राज्य में पहुँच जाता है। श्रीमत् जीव गोस्वामिपाद ने उन स्तरों का उल्लेख किया है–''तदिदं स्मरणं पञ्चविध, यत्किञ्चिदनुसन्धानं स्मरणम्। सर्वतश्चित्तमाकृष्य सामान्यकारेण मनोधारणं धारणा। विशेषतो रूपादिचिन्तनं ध्यानम। अमृतधारावदविच्छिन्नं तत् ध्रुवानुस्मृतिः। ध्येयमात्रस्फुरणं समाधिरिति।'' (भक्तिसन्दर्भ० २७८ अनु०) अर्थात् पूर्ववर्णित स्मरण पाँच प्रकार का है। किसी भी प्रकार

❋ विस्तृत टीका के लिये मेरे द्वारा सम्पादित 'श्रीश्रीशिक्षाष्टकम्' एवं 'माधुर्यकादम्बिनी' ग्रन्थ देखिये।

श्रीहरि के नाम-रूपादि के अनुसन्धान का नाम 'स्मरण' है; सभी विषयों से चित्त को आकर्षित कर श्रीहरि के रूप-गुणादि को चित्त में धारण करने का नाम 'धारणा' है। विशेष रूप से रूपादि चिन्तन करना 'ध्यान' है। अमृतधारा की तरह अविच्छिन्न (अटूट) भाव से स्मरण करना 'ध्रुवानुस्मृति' है; ध्येय मात्र के स्फुरण को 'समाधि' कहते हैं। स्मरणाङ्ग के सुसेवन के फलस्वरूप साधक क्रमशः भावसमाधि प्राप्त कर धन्य होते हैं।

तत्पश्चात् (४) '**पादसेवन**'। ''पादशब्दो भक्त्यैव निर्दिष्टः। ततः सेवायाः सादरत्वं विधियते। सेवा च कालदेशाद्युचिता परिचर्यादि पर्याया। सा यथा-'यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः। सद्यः क्षीणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदांगुष्ठविनिः सृता सरित्॥'' अर्थात् पादसेवा में 'पाद' शब्द भक्तिपूर्वक या मर्यादा से रखा गया है। अर्थात् सेवा केवल चरणों की ही करनी होगी, श्रीमुखकमल, करकमल आदि अन्यान्य अङ्गों की नहीं-ऐसा नहीं है। सर्वांग-सेवा करनी होगी। अर्थात् अतिशय आदर मर्यादा के साथ सेवा करनी होगी। काल-देश आदि की उचित परिचर्या का नाम सेवा है। 'सेवा' शब्द परिचर्यावाचक है। उसी सेवारुचि की बात श्रीमद्भागवत (४/२१/२९ श्लोक) में श्रील पृथु महाराज ने विष्णुजी से कही है-'हे नाथ, आपकी श्रीचरणसेवा की अभिरुचि के उदय होने से ही वह संसारतप्त मनुष्यों के अशेष जन्मों के सञ्चित चित्त-मल अर्थात् विषय-वासनाराशि को अति शीघ्र विनष्ट कर देती है, ठीक उसी तरह जैसे आपके पदांगुष्ठ से निःसृत गङ्गा त्रिभुवन को पवित्र करती है।' पादसेवनाङ्ग में रुचि या सुसेवन के आनुषङ्गिक फल की बात ही वर्णित है, वस्तुतः भक्त पादसेवन में रुचि के फलस्वरूप उक्त पादसेवा की ही कामना किया करते हैं, और कुछ नहीं। श्रीमुचुकुन्द महाराज ने भगवान् से कहा है (भा० १०/५१/५६) -

''न कामयेऽन्यं तव पादसेवनादकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्वरं विभो!
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे वृणीतो आर्यो वरमात्मबन्धनम्॥''

''हे प्रभो! जिन्होंने समस्त कामनाओं का त्याग कर दिया है, वे अकिञ्चन जन सतत जिस सेवा के लिये प्रार्थना करते हैं, आपकी उस चरणारविन्द सेवा के अतिरिक्त मै अन्य वर की प्रार्थना नहीं करता। हे हरे! आपकी आराधना कर आत्मबन्धन हो, इस प्रकार का अन्य वर क्या कोई लेगा?'' श्रीजीवपाद ने 'अपवर्गदं' शब्द के प्रयोग का तात्पर्य लिखा है-''उपासक भले ही अपने बन्धन की ही प्रार्थना करे, फिर भी मुक्ति ग्रहण नहीं करता।'' इस पादसेवारूपी भक्ति में श्रीमूर्तिदर्शन-स्पर्शन, श्रीमूर्ति की परिक्रमा और अनुव्रज्या (पीछे-पीछे चलना), भगवत् मन्दिर गमन, गङ्गा, पुरुषोत्तम, द्वारका, मथुरा आदि तीर्थों में स्नानादि भी निहित हैं, कारण-ये सब अङ्ग पादसेवन के ही परिकर-जैसे हैं।

अब (५) **अर्चनाङ्ग** सुसेवन की बात। विष्णुमंत्र में दीक्षित व्यक्ति मात्र के लिये अपने इष्ट देवता का नित्य अर्चन विधेय है, अन्यथा घोरतर प्रत्यवाय की बात सुनी जाती है। ''दीक्षितानान्तु सर्वेषां तदकरणे नरकपातः श्रूयते यथा विष्णुधर्मोत्तरे-एककालं द्विकालं वा त्रिकालं पूजयेद्धरिम्। अपूज्य भोजनं कुर्वन्नरकानि व्रजेन्नरः॥'' (भक्तिसन्दर्भ २८३ अनु०) अर्थात् जो लोग विष्णुमंत्र में दीक्षित हैं, वे गृहस्थ हों या त्यागी, अथवा ब्रह्मचारी वाणप्रस्थ-यदि वे अपनी इष्ट-पूजा नहीं करते, तो शास्त्रों में नरकपात की बात देखी जाती है। विष्णुधर्मोत्तर में

लिखा है-'विष्णुमंत्र में दीक्षित व्यक्ति एक समय, दो समय या तीन समय श्रीहरि की पूजा करेंगे। श्रीहरि की पूजा किये बिना भोजन करने से विविध नरकों में जाना पड़ता है।' विशेषत: गृहस्थ भक्तों के लिये अर्चन मार्ग मुख्य भजनाङ्ग है-''ये तु सम्पत्तिमन्तो गृहस्थास्तेषान्त्वर्चनमार्ग एव मुख्य: ..... तदकृत्वा हि निष्किञ्चनवत् केवलस्मरणादिनिष्ठत्वे वित्तशाठ्यप्रतिपत्ति: स्यात्। परद्वारा तत्सम्पादनं व्यवहारनिष्ठत्वस्यालसत्वस्य वा प्रतिपादकम्, ततोऽश्रद्धामयत्वाद्धीनमेव तत्॥'' (वही) अर्थात् विशेषत: जो लोग सम्पत्तिवान् गृहस्थ हैं, उनके लिये अर्चनमार्ग ही मुख्य है। वे भगवान् की अर्चना न कर यदि निष्किञ्चन की तरह केवल स्मरणनिष्ठ हैं, तो वित्तशाठ्य दोष लगता है। स्वयं अर्चना न कर अन्य के द्वारा कराने से अपने व्यवहार-निष्ठत्व अथवा आलस्य का प्रतिपादक होता है। अर्थात् अपने व्यवहार कार्य में आसक्त अथवा सेवा विषय में अत्यन्त अलस-ऐसा समझना होगा। ''विग्रह नह-साक्षात् तुमि व्रजेन्द्र नन्दन'' (चै० च०) इस विश्वास के साथ विग्रह-सेवा करने में ही अर्चनमार्ग का यथायथ 'सुसेवन' होता है। तभी भक्तिसन्दर्भ में लिखा है-''अथ श्रीमत्प्रतिमायान्तु तदाकारैकरूपतयैव चिन्तयन्ति, आकारैक्यात्। 'शिलाबुद्धि: कृता किंवा प्रतिमायां हरेर्मया'-इति भावनान्तरे दोषश्रवणाच्च। ..... परमोपासकाश्च साक्षात् परमेश्वरत्वेनैव तां पश्यन्ति; भेदस्फूर्त्तेर्भक्तिविच्छेदकत्वात् तथैव ह्युचितम्।'' अर्थात् महात्मागण प्रतिमा का श्रीकृष्ण आदि अभीष्ट देवताओं के साथ सर्वथा अभेदरूप में ही चिन्तन करते हैं। अपने इष्टदेवता के साथ श्रीविग्रह की किसी प्रकार की भेदभावना उचित नहीं, कारण-दोनों के आकारों में किसी प्रकार का भेद नहीं। अभीष्ट के साथ श्रीविग्रह की किञ्चिनमात्र भेदभावना करने से अथवा प्रतिमा में शिलाबुद्धि धातुबुद्धि आदि रखने से व्यवहारिक और पारमार्थिक बहुत-से दोषों की बात सुनी जाती है। जब महाराज दशरथ हिरण के भ्रम में अन्धमुनि के पुत्र सिन्धु को वाण से मारकर उसे मुनि के पास लेकर आये, तो मुनि मृत पुत्र को लेकर विलाप करते हुए बोले-''मैंने क्या किसी दिन श्रीहरि की प्रतिमा में शिलाबुद्धि की थी, जिसके अपराध से मुझे ऐसा पुत्रशोक प्राप्त हुआ है?'' वस्तुत: ''नाम विग्रह स्वरूप तिन एकरूप। तिने भेद नाइ-तिन चिदानन्द रूप।'' (चै० च०) इन सब शास्त्र-महाजन वाणियों में दृढ़ विश्वास स्थापित कर अपने इष्ट देवता के साथ सम्पूर्ण अभेद मानकर विग्रह की अर्चना करने में ही अर्चनाङ्ग का यथायथ सुसेवन सम्भव होता है। श्रीजन्माष्टमी, कार्तिक व्रत, श्रीएकादशीव्रत, माघस्नान आदि इसी अर्चनमार्ग के अन्तर्गत हैं।

(६) **'वन्दन'** के सम्बन्ध में श्रीजीवपाद ने लिखा है (वही, अनु० ३०३)-''अथ वन्दनम्-तच्च यद्यप्यर्चनाङ्गत्वेनापि वर्तते, तथापि कीर्तन-स्मरणवत् स्वातन्त्र्येणापीत्यभिप्रेत्य पृथग्विधीयते। ..... वन्दनस्य पृथग्विधानञ्चानन्तगुणैश्वर्य-श्रवणात् तद्गुणानुसन्धानपादसेवादौ विधृतदैन्यानां नमस्कारमात्रे कृताध्यवसायानामर्थे ..... तदेतद्वन्दनं यथा-'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्। हृदाग् वपुभिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्।'' (भा० १०/१४/८) अर्थात् 'अब वन्दनाङ्ग भक्ति की बात कही जा रही है; यद्यपि यह वन्दनाङ्ग भक्ति अर्चनाङ्ग के अन्तर्गत ही है, तथापि कीर्तन-स्मरणाङ्ग की तरह (कीर्तन करने से श्रीहरि का स्मरण भी होता है, फिर भी स्मरण की प्रधानता के कारण स्मरणाङ्ग का पृथक् विधान है। उसी प्रकार स्वतंत्ररूप से वन्दनाङ्ग की प्रधानता देखते हुए प्रथक् अङ्ग किया गया है। कोई-कोई भक्त भगवान का अनन्त गुणऐश्वर्य सुनकर सम्भ्रान्तचित्त से दैन्यवश ऐसा सोच लेते हैं कि उन गुणों के अनुसन्धान का अथवा चरणसेवा

आदि का उन्हें अधिकार नहीं है। वे ऐसा सोचकर केवल नमस्कार मात्र के लिये ही कृतसङ्कल्प होते हैं। ऐसे भक्तों के लिये ही विशेषरूप से इस वन्दनाङ्ग का स्वतंत्र रूप से उल्लेख किया गया है। इस वन्दना के सम्बन्ध में श्रीभागवत में ब्रह्माजी ने भगवान् के स्तव-प्रसङ्ग में कहा है-'हे नाथ! आप तो समस्त गुणों के आकर हैं, सो आपके गुणों का परिमाण करने में कोई भी समर्थ नहीं है। इसीलिये जो व्यक्ति एकमात्र आपकी ही कृपा की ओर दृष्टि लगाये सुख-दु:ख सभी को आपकी करुणा का दान मानकर अपने किये कर्मों का फल भोगता है और कायमनोवाक्य से आपको नमस्कार करता है; जैसे चातक नवीन मेघमुक्त जल पाने की आशा में निहारता रहता है, उसी प्रकार अपार करुणामय आपके कृपाबिन्दु पाने की आशा में जीवन धारण करता है-वह व्यक्ति पैतृक सम्पदा के भाई-बंटवारे की तरह तुम्हारी पादपद्म-सेवा का उत्तराधिकार अवश्य ही प्राप्त करता है।' इसी श्लोक में वन्दनाङ्ग भक्ति के सुसेवन की बात कही गई है। नवधाभक्ति के इन छह अङ्गों का सुसेवन सम्भव होने पर दास्य सख्य और आत्मनिवेदन इन तीन अङ्गों का सुसेवन स्वत: सम्भव हो जाता है। पक्षान्तर से श्रवणकीर्तनादि द्वारा चित्त के शुद्ध हुए बिना बुद्धिपूर्वक इन तीन अङ्गों का सुसेवन सम्भव नहीं होता। फिर भी हम पाठकों की जानकारी के लिये श्रीजीव के वर्णन के अनुसार इन तीनों के लक्षण भी संक्षपे में लिपिबद्ध करते हैं-

(७) ''अथ **दास्यम्**-तच्च श्रीविष्णोर्दासम्मन्यत्वम्-'जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी। दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वान् लोकान् समुद्धरेत्।' इत्युक्तलक्षणम्। अस्तुतावद्भजनप्रयास: केवलतादृशत्वाभिमानेनापि सिद्धिर्भवतीति अभिप्रेत्यैवोत्तरत्र निर्देशश्च तस्य। ..... तदेतद्दास्यसम्बन्धेनैव सर्वमपि भजनं महत्तरं भवतीत्याह-'यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मल:। तस्य तीर्थपद: किंवा दासानामवशिष्यते॥' (भा० ९/५/१६) यस्य भगवतो नामश्रवणमात्रेण यथा कथाञ्चित्तच्छ्रवणेन किं पुन: सम्यक् तत्तद्भजनेनेत्यर्थ:। तर्हि दासोऽस्मीत्यभिमानेन सम्यगेव भजतां सर्वत्र साधने साध्ये च किमवशिष्यते-तदधिकमन्यत् किमपि नास्तीत्यर्थ:।'' (वही, ३०४, ३०५ अनु०) ''अब दास्यभक्ति की बात बताई जा रही है। मैं श्रीविष्णु का दास हूँ, इस अभिमान से भजन-अनुष्ठान करने का नाम 'दास्यभक्ति' है। हजार-हजार जन्मों के सौभाग्य के फलस्वरूप 'मैं वासुदेव का दास हूँ' यह अभिमान जिसके भीतर उदित होता है वह समस्त लोक का उद्धार करता है। भजन करने के यत्न की बात दूर रही, 'मैं भगवान् का दास हूँ'- केवल इस अभिमान से ही सिद्धि या प्रेमभक्ति प्राप्त हो जाती है। इसी अभिप्राय से अन्य भजनाङ्गों के उल्लेख के पश्चात् दास्यभक्तिका उल्लेख किया गया है। दास्यसम्बन्ध से अन्य सभी भजन सर्वश्रेष्ठतमता प्राप्त करते हैं। दुर्वासामुनि ने महाराज अम्बरीष से कहा था-'जिन तीर्थपद भगवान् के यथाकथञ्चित् भाव से नाममात्र सुनने से ही मनुष्य निर्मलता प्राप्त करता है, अर्थात् उनकी भगवत् माधुरी आस्वादन के फलस्वरूप उनके इतर वस्तु में तुच्छबुद्धि उत्पन्न होती है, उनके सम्यक् भजन से वह (मनुष्य) कृतार्थता प्राप्त करेगा-यह कहना ही बहुत है।' और जो लोग 'मैं श्रीहरि का दास हूँ' इस अभिमान से सम्यक् भजन कर रहे हैं, उनके लिये सर्वसाधन और साध्य के बीच क्या पाना बाकी रहता है? अर्थात् इससे अधिक साध्य-साधन और कुछ नहीं।''

(८) ''अथ **सख्यम्** तच्च हिता शंसनमयं बन्धुभावलक्षणम् (भा० १०/१४/३२)-'यन्मित्रं परमानन्दम् इत्यत्र तथैव मित्रपदन्यासात्। यथा रामार्चनचन्द्रिकायाम् 'परिचर्यापरा: केचित् प्रासादादिषु शेरते। मनुष्यमिव तं

द्रष्टुं व्यवहर्तुञ्च बन्धुवत्॥' इति अस्य चोत्तरत्र पाठः प्रेमविश्रम्भवद्भाव-नामयत्वेन दास्यादप्युत्तमत्वापेक्षया। किञ्च परमेश्वररेऽपि यत् सख्यं शास्त्रे विधियते तन्नाश्चर्यं-'नादेवो देवमर्चयेत्' इति तद्भावस्यापि विधान श्रवणात्। किन्तु तद्भावस्तत्सेवा-विरुद्ध इति शुद्धभक्तैरुपेक्ष्यते, सख्यन्तु परसेवानुकूलमित्युपादीयत इति।'' (वही, अनु० ३०६)

''अब सख्य की बात बताई जा रही है। भगवान् के हित की आकांक्षा से युक्त बन्धुभाव का नाम 'सख्य' है। ब्रह्मस्तुति में ब्रह्माजी ने परमानन्दस्वरूप पूर्णब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण को व्रजवासियों का 'मित्र' कहा है। रामार्चनचन्द्रिका में देखने में आता है-'भगवान् को मनुष्य की तरह देखने के लिये और उनके साथ बन्धुजन की तरह व्यवहार करने के लिये कोई-कोई सेवापरायण भक्त मन्दिर में ही शयन करते हैं।' इसी अभिप्राय से 'श्रवणं कीर्तनं' श्लोक में दास्य के बाद सख्य का उल्लेख किया है। दास्य में सेवा-सम्पत्ति रहते हुए भी सम्भ्रम सङ्कोचादि प्रकट होते हैं, किन्तु सख्य में सङ्कोचविहीन बन्धुभावमय प्रीति में विश्वास की प्रधानता होने के कारण दास्य से सख्य की श्रेष्ठता है। फिर परमेश्वर में भी असङ्कोच व्यवहार से युक्त सख्य का विधान शास्त्रों ने रखा है, यह कोई आश्चर्य नहीं, कारण-शास्त्रवाक्यों में ऐसी व्यवस्था भी सुनी जाती है, 'देवता होकर ही देवता की अर्चना करोगे।' किन्तु साधक स्वयं को देवता माने तो अपने प्रभु की सेवा में विरोध घटित होता है, इसलिये शुद्ध भक्त अभीष्ट देव के साथ अपने अभेद की भावना विषयक विधान की उपेक्षा किया करते हैं। सख्यभाव अभीष्ट देवता की सेवा के परम अनुकूल होने के कारण उसे सादर ग्रहण किया करते हैं।''

अन्त में (९) '**आत्मनिवेदन**'-''तच्च देहादिशुद्धात्मपर्यन्तस्य सर्वतोभावेन तस्मिन्नेवार्पणम्। तत्कार्यं चात्मार्थेचेष्टाशून्यत्वं तन्यस्तात्मसाधनसाध्यत्वं तदर्थैकचेष्टामयत्वञ्च। इदं ह्यात्मार्पणं गोविक्रयवत् विक्रीतस्य गोर्वर्त्तनार्थं विक्रीतवता चेष्टा न क्रियते। तस्य च श्रेयः साधकः स क्रीतवानेव स्यात्। स च गौस्तस्यैव कर्म कुर्यात् न पुनर्विक्रीतवतोऽपीति।'' (वही, अनु० ३०९), अर्थात् 'आत्मसमर्पण दो प्रकार का है (१) देह समर्पण (२) शुद्ध आत्मा समर्पण। समर्पण शब्द का अर्थ है सभी प्रकार से भगवान् को ही दान करना। उस आत्मसमर्पण का कार्य है अपने लिये चेष्टा-शून्य होना। अपना साध्य-साधन सभी भगवान् को अर्पित। काय-मनो-वाक्य सभी चेष्टायें भगवान् के लिये। यह आत्मसमर्पण गो-विक्रय की तरह है। गाय बेचने के बाद उसके पालनादि के लिये बेचनेवाला कोई चेष्टा नहीं करता। जिसे गाय बेची गई है, वही उसका मङ्गल सोचता है। गाय भी खरीददार का कार्य करती है, बेचने वाले का कोई कार्य नहीं करती। उसी प्रकार जो साधक श्रीहरि को आत्म-समर्पण करता है, वह देह-दैहिकादि के विषय में निःसंशय निश्चिन्तता प्राप्त कर निरन्तर भजन-सौभाग्य लाभ से धन्य हो जाता है।''

इसके बाद श्रील ठाकुर महाशय परवर्ती अर्धत्रिपदी में कहते हैं-''अन्य देवाश्रय नाइ, तोमारे कहिलो भाइ, एइ भक्ति परम भजन।'' हे भाई मन! ब्रह्म रुद्र आदि अन्य देवताओं का आश्रय न लेकर एकमात्र ❋

❋ अन्य देवताओं के आश्रय में अनन्यभक्ति की हानि-यह प्रसङ्ग त्रिपदी संख्या १३ ''ना पूजिबो देवी देवा'' इस अंश की व्याख्या में देखिये।

श्रीगोविन्द के पादपद्मों के आश्रय में उक्त नवधाभक्ति का सुसेवन करना ही सर्वश्रेष्ठ भजन है। ''भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति'' इत्यादि (चै० च०) ॥११॥

साधु शास्त्र गुरु वाक्य, हृदये करिया ऐक्य,
सतत भासिबो प्रेममाझे।
कर्मी ज्ञानी भक्तिहीन, इहाके करिबो भिन,
नरोत्तम एइ तत्व गाजे॥१२॥

साधु-शास्त्र-गुरु वाक्य :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय ने नवधाभक्ति के सुसेवन की बात कही है। शास्त्रों और महाजन-वाणियों में नवधा भक्ति के बहुत प्रकार भेद हैं, जैसे रूपगोस्वामिपाद ने अपने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ में इस नवधा भक्ति को ही चौंसठ अङ्गों में विभक्त किया है। फिर इस भक्तिमार्ग में साधक को विभिन्न सदाचार आदि का पालन करना होता है; देह-दैहिकादि व्यवहारिक कार्यों के साथ सम्बन्ध रखना पड़ता है-कल्याण चाहने वाले साधक को वह सब साधु-शास्त्र और गुरु वाक्यों के अनुरूप ही करना चाहिये। यही बात इस त्रिपदी के पूर्वार्ध में बताई गई है। इससे पूर्व त्रिपदी संख्या चार में लिखा गया है-''गुरु-मुखपद्म वाक्य, हृदि करि महाशक्य'', इस वाक्य से यही समझा जाता है कि उक्त करणीय कार्य आदि के कर्तव्याकर्तव्य के विषय में श्रीगुरुवाक्य को ही हृदय में दृढ़ता से धारण करना उचित है। अब प्रश्न उठता है-यदि गुरुदेव साधु-शास्त्रवाणी के प्रतिकूल या भजन के विरुद्ध कोई आज्ञा करते हैं, तो क्या वह भी बिना सोचे-विचारे पालनीय है? इस प्रकार के संशय को दूर करने के लिये ही कहते हैं-''साधु-शास्त्र-गुरुवाक्य हृदये करिया ऐक्य'', अर्थात् श्रीगुरुवाक्य के साथ शास्त्रों और सदाचारनिष्ठ साधुओं के वाक्य की एकता या मेल हो, तभी उसका निर्विचार परिपालन करना कर्तव्य है। शास्त्रीय-सदाचारसम्पन्न सद्गुरु का चरणाश्रय मिले, तो उनका आदेश कभी भी शास्त्र और साधु वाक्य के प्रतिकूल नहीं हो सकता। इसीलिये श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों ने शब्दब्रह्म में निष्णात अर्थात् वेदशास्त्रों में पारङ्गत एवं परब्रह्म में निष्णात या भगवान् में भक्तिमान् श्रीगुरु के चरणाश्रय का निर्देश दिया है। जिससे साधनजीवन में साधक के आगे उस प्रकार के किसी सङ्कट का मुहूर्त न आये।

बहरहाल, गुरुदेव साधु और शास्त्रवाक्य के विरुद्ध कोई आदेश करें, तो यह सोचकर कि वे साधक की परीक्षा ले रहे हैं अथवा साधु-शास्त्रों के प्रति उसकी कैसी निष्ठा है यह देखना चाहते हैं उस आदेश का परिहार करने के लिये श्रीगुरुचरणों में कातरतापूर्वक प्रार्थना करनी चाहिये। वे फिर भी साधक को ऐसा आदेश देते रहें, तो साधक उसे कठिन परीक्षा जानकर और यह सोचकर कि वह उसका मर्म समझने में अक्षम है दूर रहकर साधु-शास्त्र के आनुगत्य में भजन करे। शास्त्रवाक्य और साधुवाक्य के प्रतिकूल गुरुवाक्य का आचरण न करे एवं श्रीगुरु के प्रति अश्रद्धा या अवज्ञा भी न दिखाये।

श्रुति शास्त्र भी बहुत प्रकार के हैं। किसी-किसी शास्त्र में कर्म-ज्ञान आदि की प्रधानता बताई गई है। भक्तिप्रतिपादक शास्त्रों में भी भगवत्प्राप्ति के नाना प्रकार के उपाय बताये गये हैं। उन सभी का आचरण किसी भी साधक के लिये सम्भव नहीं। इसलिये स्वसम्प्रदायी शास्त्रोक्त आचारों से सम्पन्न साधु जो बात कहें, यदि उसके साथ शास्त्रवाक्य गुरुवाक्य की एकता हो, तभी वह मङ्गलकामी साधक के लिये ग्रहणीय है। फलितार्थ यही है कि गुरुदेव की आज्ञा शास्त्र और स्वसम्प्रदायी साधुओं द्वारा अनुमोदित हो, तभी वह स्वीकार्य है। फिर वही शास्त्रवाक्य स्वीकार्य है, जो गुरुदेव और स्वसम्प्रदायी साधुओं द्वारा अनुमोदित है। साधुवाक्य भी वही ग्रहणीय है, जो गुरुवाक्य-शास्त्रवाक्य-सम्मत है। केवल एक अर्थात् साधुवाक्य, शास्त्रवाक्य अथवा गुरुवाक्य अन्य दो से भिन्न होने पर वह ग्राह्य नहीं हो सकता। इन तीनों की परस्पर एकता में ही वह ग्रहणीय है, तभी कहते हैं-''साधु शास्त्र गुरुवाक्य हृदये करिया ऐक्य, सतत भासिबो प्रेममाझे''-अर्थात् साधु शास्त्र और गुरुवाक्य की एकता बनाये हुए कृष्ण प्रेम की अनुकूलता से युक्त जो भजन-उपदेश प्राप्त होगा, उसी को हृदय में सुदृढ़ता से धारण करने से शीघ्र ही भजन की बाधायें दूर होंगी और प्रेम का आविर्भाव होगा। प्रेम के आविर्भाव से ह्लादिनी और सम्वित की सारवृत्ति प्रेम का अनिर्वचनीय आस्वादन प्राप्त होगा। इतना ही नहीं, प्रेम तो भगवान् के माधुर्य का आस्वादन प्रदान कर प्रेमी को धन्य करता है। उसी भगवद्रसमाधुरी के आस्वादन में प्रेमी साधक सतत डूबा रहेगा-''सतत भासिबो प्रेममाझे।''

फिर कहते हैं-''कर्मी ज्ञानी भक्तिहीन, इहाके करिबो भिन, नरोत्तम एइ तत्व गाजे''। कर्मी ज्ञानी आदि साधक भक्तिहीन हैं। श्रीकृष्णसेवा या श्रीकृष्ण के सुखविधान का नाम ही 'भक्ति' है। कर्मी ज्ञानी आत्मसुख का अन्वेषण करते हैं, अर्थात् कर्मी के हृदय में स्वर्ग आदि पाने की और ज्ञानी के चित्त में मुक्ति लाभ की कामना विद्यमान है। ये लोग अपने-अपने फल-लाभ की आशा से कर्म-ज्ञान आदि साधना के साथ श्रीहरि का श्रवण-कीर्तनादि भजन भी किया करते हैं, कारण-''भक्ति बिनू कोनो साधन दिते नारे फल। सब फल देय भक्ति स्वतन्त्र प्रबल'' (चै० च०), फिर भी ये सब सकाम होने के कारण भक्तिहीन हैं, कारण-भगवान् की सेवा की अभिलाषा इनके हृदय में कभी नहीं जगती; ये केवल फल सिद्धि के लिये ही भजन किया करते हैं। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'इहाके करिबो भिन'-सत्सङ्ग के समय प्रकृत कृष्णभक्त से इन्हें अलग करना होगा। अर्थात् इनका सङ्ग किसी भी समय नहीं करना। इन लोगों का भजन देखकर इनका सङ्ग करने से इस बात की सम्भावना है कि शुद्ध भजन में लगे साधक के चित्त में भी इन लोगों के हृदय की कृष्णेतर वासना का संक्रमण हो जाय। हरिभक्तिसुधोदय में देखने में आता है-''यस्य यत्सङ्गति पुंसो मणिवत् स्यात् स तद्गुणः'', अर्थात् 'जिसको जैसे गुणों से युक्त पुरुष का सङ्ग होता है, मणि की तरह वह उसके उन्हीं गुणों से युक्त हो जाता है।' इस रीति से जिसका सङ्ग किया जाता है, सङ्ग करने वाले के चित्त में उसकी वासना का संक्रमण अवश्यम्भावी होता है। दृढ़ श्रद्धा रखने वाले साधक के चित्त में उन लोगों के साथ कृष्णेतर वासना संक्रमित न भी हो, फिर भी भिन्नप्रकृति कर्मी ज्ञानी के सङ्ग में चित्त को वेदना होती है, कारण-ये लोग भक्ति से ऊपर कर्म ज्ञान आदि की महिमा का कीर्तन कर भक्ति-महिमा को खर्व करने की चेष्टा करते हैं। इसीलिये कल्याणकामी साधक का इन लोगों के सान्निध्य से दूर रहना ही हर प्रकार से अच्छा। ''नरोत्तम एइ तत्व गाजे''-अर्थात् श्रीनरोत्तम ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में अभिव्यक्त इस सिद्धान्त की गर्जन के साथ या दृढ़तापूर्वक घोषणा करते हैं॥१२॥

अन्य अभिलाष छाड़ि, ज्ञान कर्म परिहरि,
कायमने करिबो भजन।
साधुसङ्ग कृष्णसेवा, ना पूजिबो देवीदेवा,
एइ भक्ति परम कारण॥१३॥

परम कारण :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय ने पूर्व त्रिपदी में भक्तसाधक को कर्मी ज्ञानी आदि का सङ्ग त्यागकर शुद्ध भजन का उपदेश दिया है। इस त्रिपदी में बता रहे हैं कि जीव के लिये परम पुरुषार्थ प्रेम को पाने का एकमात्र साधन अनन्यभक्ति है। ''अन्य अभिलाष छाड़ि, ज्ञान कर्म परिहरि, कायमने करिबो भजन''- साधक के हृदय में शुद्धा या निरुपाधि भक्ति से ही प्रेम का सञ्चार होता है। भक्ति की उपाधियाँ दो हैं- (१) अन्य अभिलाष (२) अन्य मिश्रण। अन्य अभिलाष का अर्थ है भोगवासना और मोक्षवासना। भोग वासनायुक्त भक्ति को 'सकामा' और मोक्षवासनायुक्त भक्ति को 'कैवल्यकामा' नाम भी दिया गया है। 'अन्यमिश्रण' का अर्थ है कर्म ज्ञान आदि का आवरण। यहाँ 'कर्म' का अर्थ है स्मृतिशास्त्र में बताये नित्य-नैमित्तिक दान-व्रत आदि कर्म; और 'ज्ञान' का अर्थ है निर्विशेष ब्रह्मज्ञान या जीव-ब्रह्म की एकता प्रतिपादित करने वाला ज्ञान। भक्ति या भजन जब इस भुक्ति-मुक्ति कामना और ज्ञान-कर्म आदि के आवरण से रहित होकर केवल श्रवण-कीर्तनादि के आवेश से युक्त होती है, तभी उसे 'शुद्धभक्ति' कहा जाता है। इसी को 'अनन्या' 'स्वरूपसिद्धा' आदि भी कहा जाता है।

ऐसा लगता है कि शुद्धभक्ति के श्रवण-कीर्तन आदि और भगवान् की परिचर्या आदि सभी अङ्ग 'कर्म' हैं; भजनीय भगवान् एवं भजनतत्व का अनुसन्धान 'ज्ञान' है। किन्तु ये कर्म और ज्ञान नहीं हैं, साक्षात् भक्ति के ही अङ्ग विशेष हैं। कारण यह है कि भक्ति से निकला जो ज्ञान और क्रिया है वह भगवान् की ही स्वरूपशक्ति की वृत्ति है, अतएव गुणातीत और चिन्मय है। यह चिन्मय स्वरूपशक्ति की वृत्ति साधक की देहेन्द्रियादि में स्वयं ही आविर्भूत होती है, इसलिये भजनीय तत्व के अनुसन्धान में जो ज्ञान आवश्यक होता है, वह ज्ञान और भगवान् की परिचर्या से जुड़ा कर्म भक्ति का अनुशीलन विशेष ही है। श्रील रूपगोस्वामिपाद ने श्रुति-स्मृति-सम्मत शुद्ध भक्ति के पूर्ण लक्षण बताते हुए लिखा है-

''अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥'' ❋

(भ० र० सि०)

❋ किसी-किसी संस्करण में मूल में ही यह श्लोक उद्धृत किया गया है, तत्पश्चात् यह त्रिपदी दी गई है।

अन्य अभिलाषा से शून्य, ज्ञानकर्मादि द्वारा अनावृत एवं श्रीकृष्ण-विषयक अनुकूलता लिये हुए जो अनुशीलन है, उसी को 'उत्तमा भक्ति' कहते हैं। उल्लिखित श्लोक की श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद की टीका का सारमर्म यह है कि यहाँ अनुशीलन क्रियाशब्द की तरह केवल धातु का अर्थ मात्र ही बताता है। धातु के अर्थ दो प्रकार के हैं-प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप से। दोनों ही क्रियायें कायिक वाचिक और मानसिक चेष्टाओं के रूप में प्रकाशित होती हैं। यहाँ 'शील्' धातु का अर्थ जो शीलन है, उसकी प्रवृत्ति मूलक तीन प्रकार की चेष्टायें हैं- देह द्वारा श्रीकृष्ण की परिचर्या आदि; वाक्य से उनके नाम गुण लीलादि का कीर्तन; मन से उनके रूप गुण लीलादि का चिन्तन और अन्तःकरण में सदा प्रीसिम्पादन। निवृत्तिमूलक चेष्टायें हैं : काय-मनो-वाक्य से सेवापराध और नामापराध आदि का वर्जन। 'आनुकूल्य' शब्द श्रीकृष्ण को रुचिकर प्रवृत्ति ही बताता है। भक्तित्व सिद्धि के लिये 'आनुकूल्य' शब्द का प्रयोग हुआ है, कारण-प्रतिकूल आचरण द्वारा भक्तिसिद्धि कभी नहीं होती। फलितार्थ यही है कि कृष्णेतर अभिलाषा से रहित स्मृतिशास्त्र में बताये यज्ञ दान व्रत आदि कर्म, जीव-ब्रह्म-प्रतिपादक ज्ञान के आवरण से शून्य, प्रतिकूलताविहीन, श्रीकृष्ण-सुख के लिये उनसे जुड़ी प्रवृत्ति-निवृत्तिमूलक कायिक-वाचिक-मानसिक चेष्टा का नाम ही भक्ति है। यही विषय श्रील ठाकुर महाशय के इस वाक्य में अभिव्यक्त हुआ है-''अन्य अभिलाष छाड़ि, ज्ञान कर्म परिहरि, कायमने करिबो भजन।''

तत्पश्चात् कहते हैं-''साधुसङ्ग कृष्णसेवा, ना पूजिबो देवीदेवा, एइ भक्ति परम कारण''। अनादि काल से जीव परतत्व-विमुखता के कारण दुरन्त-अनन्त संसार-सन्तापों से सन्तप्त हैं। ऐसे कृष्ण बहिर्मुख जीवों के लिये भगवत्-साम्मुख्य पाने का एकमात्र उपाय है साधु-महापुरुषों का सङ्ग और उनकी कृपा। साधुसङ्ग को छोड़कर अन्य किसी भी उपाय से अनादि कर्मसंस्कारों से दूषित हुआ चित्त रागद्वेष आदि कषाय से शून्य होकर भगवद्भजन में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में श्रीमत् जीव गोस्वामिपाद ने अपने भक्तिसन्दर्भ (अनु० १८०) में विशेष रूप से विचारकर जो सिद्धान्त बताया है, उसका सारमर्म यह है कि भगवान् परमानन्दैकघन हैं, अपापविद्ध हैं, जीव से उनकी यही विलक्षण्ता है। जैसे अशेष तेज के आधार विश्व-प्रकाशक सूर्य में किसी प्रकार के अन्धकार का होना सम्भव नहीं, वैसे ही परिपूर्ण सुखस्वरूप भगवान् में तमोमय दुःख का स्पर्श सर्वथा असम्भव है। श्रुति भी कहती हैं-''आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'' इसीलिये जीव का दुःख उन्हें स्पर्श नहीं कर सकता, वे अपने आनन्द में स्वयं विभोर हैं। तभी, उनमें परिपूर्ण करुणाशक्ति होने पर भी बहिर्मुख जीवों के प्रति उस करुणा का प्रत्यक्ष प्रकाश सर्वथा असम्भव है, क्योंकि अन्य का दुःख चित्त को स्पर्श करता है तभी करुणा का उद्रेक होता है। यहाँ स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है-फिर पतित उद्धार कैसे होता है? उत्तर है : विश्व में परम करुणामय साधुगण हैं; संसार-दुःखों से निपीड़ित मायाबद्ध जीवों के लिये परम भरोसा है। परमानन्दरस में साधु भी नित्य निमज्जित रहते हैं, किन्तु जैसे निद्रा से जगा व्यक्ति स्वप्न में देखे सुख-दुःख आदि की बात याद कर सकता है, वैसे ही मोहनिद्रा से उठे साधुजन भी मायाबद्ध जीवों के दुःख-दुर्दशा की बात याद कर उन पर कृपा करने को प्रवृत्त होते हैं। इसलिये भगवान् की जो करुणा महद्गण के हृदय में विराजती है, वह महत् की कृपा को ही वाहन बनाकर जीवों में संक्रमित होती है, स्वतन्त्ररूप से नहीं। फिर यह साधु-महत् कृपा साधुसङ्ग के बिना अन्य किसी उपाय से प्राप्त नहीं होती।

प्रबल भागवतीशक्तिसम्पन्न साधुमहात्माओं की देह इतनी पवित्र होती है कि उनके हृदय में स्थित भक्ति की आलोक-किरणें चतुर्दिक बिखरकर चारों ओर के लोगों के चित्त में पवित्रभाव का सञ्चार करती रहती हैं। साधु-सङ्ग की ऐसी महीयसी शक्ति है। पुण्य तीर्थ आदि में प्राय: ही साधु-समागम होता है, वहाँ वैसा साधुसङ्ग अपेक्षाकृत सुलभ होता है। इन साधुमहात्माओं के श्रीमुख से श्रीहरिकथा सुनते-सुनते जीव के चित्त में भगवान् के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इसी के फलस्वरूप सद्गुरु-चरणाश्रय प्राप्त होता है। इस साधुसङ्ग से ही श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्ति साधना में क्रमश: निष्ठा रुचि आसक्ति और रति दशा में पहुँचकर साधक परम पुरुषार्थ प्रेम पाकर धन्य हो जाता है। इस प्रकार जीव का चरम प्राप्तव्य या परमपुरुषार्थ यह प्रेम साधुसङ्ग और साधुकृपा से ही प्राप्त होता है। तभी कहा गया है-''भक्तिस्तु भगवद्भक्तसङ्गेन परिजायते। सत्सङ्ग प्राप्यते पुंभि: सुकृतै: पूर्वसञ्चितै:।'' अर्थात् भगवद्भक्त के सङ्ग से भगवद्भक्ति उत्पन्न होती है; पूर्वसञ्चित सुकृतिवाले व्यक्ति को ही सत्सङ्ग मिलता है। ''साधु सङ्ग साधुसङ्ग सर्वशास्त्रे कय। लव मात्र साधुसङ्गे सर्वसिद्धि हय॥'' अतएव ऐसे साधुसङ्ग की कोई तुलना ही नहीं। तभी श्रीमद्भागवत (१/१८/१३) में आया है-''तुलयाम लवेनापि न स्वर्ग नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिष:॥'' अर्थात् अति अल्पकाल का साधुसङ्ग जो फल देता है, उसके साथ स्वर्ग या मुक्ति किसी की तुलना नहीं। मर्त्य मानव के भोग्य तुच्छ राज्यादि सम्पद-सुख के साथ उसकी तुलना नहीं होती, यह तो कहना ही पर्याप्त है।

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर महाशय 'कृष्ण सेवा' की बात कहते हैं। भक्ति का अर्थ ही है 'सेवा' - ''भज् इत्येष वै धातु: सेवायां परिकीर्तित:।'' (गरुड़पुराण) 'भज्' धातु सेवा के अर्थ में ही काम में ली जाती है और 'भज्' धातु के उत्तर 'तिन्' प्रत्यय में 'भक्तिपद' निष्पन्न होता है। तभी यहाँ कृष्णसेवा का अर्थ श्रवण कीर्तन स्मरण अर्चनादि नवधा भक्ति ही जानना होगा। साधुसङ्ग में इन नवधा भक्ति का याजन ही प्रेम प्राप्त करने का अव्यभिचारी उपाय है। ''साधुसङ्गे कृष्णसेवा'' कहीं-कहीं यह पाठ भी मिलता है। अर्थात् साधुसङ्ग में कृष्णभजन से अति शीघ्र ही प्रेमोदय होता है।

तत्पश्चात् कहा है-''ना पूजिबो देवीदेवा'' अनन्य-भजन-निष्ठ एकान्ती भक्त के लिये अन्य देव-देवी की पूजा-आराधना अनन्य भक्ति में हानिकर है। सकाम लोग ही तुच्छ फलसिद्धि के लिये नाना देव-देवियों की आराधना किया करते हैं। गीता (९/२३) में स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है-''येहप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता:। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥'' ''हे कौन्तेय! जो अन्य देवताओं की आराधना करते हैं, वे मूलत: मेरी ही आराधना करते हैं, कारण-मैं सर्वदेवमय हूँ; किन्तु उनकी वह आराधना 'अविधिपूर्वक' होती है।' ''किन्तुविधिपूर्वकं-मत्प्रापकं विधिं विनैव यजन्त्य: पुनरावर्तन्ते'' (टीका श्रील विश्वनाथ), अर्थात् 'अविधिपूर्वक कहने का अर्थ है-वहाँ मुझे पाने की कोई विधि नहीं।' अतएव सकाम अन्यदेवोपासक को सांसारिक तुच्छ फल लाभ हो जाय, पर परमफल श्रीगोविन्दचरण-प्राप्ति कभी नहीं होती। पक्षान्तर से श्रीकृष्ण आराधना में अन्य देव-देवियों की आराधना स्वत: हो जाती है; स्वतन्त्ररूप से उनकी आराधना की आवश्यकता ही नहीं होती। श्रीमद्भागवत (४/३१/१४) में आया है-

''यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति र्तत्स्कन्धभुजोपशाखा:।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हनमच्युतेज्या॥''

'जैसे वृक्षमूल में जल देने से उसके स्कन्ध शाखा उपशाखा आदि तृप्त (उत्फुल्लित) होते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण-आराधना करने से ही सभी की आराधना स्वत: निष्पन्न हो जाती है।'' तात्पर्य यही है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, सर्व मूलस्वरूप हैं। वृक्ष मूल को जल से सीञ्चने पर वृक्ष उस जल को मूल द्वारा खींचकर अपने शाखा-प्रशाखा, पत्र-पल्लव आदि को परिपुष्ट करता है। मूल में जल न देकर पृथक्रूप से पल्लव आदि को जल देने से उनकी परिपुष्टि कभी सम्भव नहीं होती। उसी प्रकार श्रीकृष्ण-आराधना से अन्यान्य देव-देवियाँ आदि स्वत: आनन्द प्राप्त करती हैं, स्वतन्त्ररूप से उनकी सेवा करने से वह कभी नहीं होता। कोई कह सकते हैं-वृक्षमूल में जल-सिञ्चन कर पत्र-पल्लव आदि का सिञ्चन करते भी देखा जाता है; उसी प्रकार श्रीकृष्ण की सेवा कर अन्य देव-देवियों की सेवा भी तो की जा सकती है, फिर ठाकुर महाशय श्रीकृष्ण-उपासक को अन्य देव-देवियों की आराधना के लिये निषेध क्यों करते हैं? उल्लिखित श्लोकार्ध में दृष्टान्त द्वारा ऐसे संशय को दूर किया गया है। जैसे आहार आदि देकर प्राण को पुष्ट रखने से चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी परिपुष्ट रहती हैं, पृथक् रूप से उन्हें भोजन देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अलग से आहार देने से चक्षु अन्ध और कर्ण बधिर हो जाते हैं। वैसे ही श्रीकृष्ण-आराधना से ही अन्यान्य देव-देवियों की यथार्थ परितृप्ति होती है, पृथक् रूप से उनकी आराधना की आवश्यकता नहीं-उससे भक्त की अनन्य भक्ति की हानि होती है।

अन्त में कहते हैं-'एइ भक्ति परम कारण', अर्थात् अन्याभिलाष त्यागकर ज्ञान-कर्म आदि छोड़कर अन्य देवों की आराधना तजकर सत्सङ्ग में रहते हुए कायमनोवाक्य से श्रीकृष्ण भजन करना ही (जीव के) परम पुरुषार्थ प्रेम की प्राप्ति का परमकारण या अव्यभिचारी उपाय मानना होगा॥१३॥

महाजनेर जेइ पथ, ताते होबो अनुरत,
पूर्वापर करिया विचार।
साधन स्मरण लीला, इहाते ना करो हेला,
कायमने करिया सुसार॥१४॥

टीका -

दण्डकारण्यवासि-मुनयो वृहत्वामनोक्तश्रुतयश्च चन्द्रकान्ति-जयदेव-विद्यापति-चण्डिदास-विल्वमङ्गलादयश्च पूर्वमहाजना:। षड्गोस्वामिन: परमहाजना:। सुसार-सुसिद्धम्।१४॥

महाजन-आनुगत्य :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय प्रेमलाभ के परम कारण या एकमात्र उपाय अनन्य भक्ति का उल्लेख कर इस त्रिपदी में महाजनों के आनुगत्य में गौड़ीय वैष्णव के अन्तरङ्ग भजन की बात बता रहे हैं। महामुनि वेदव्यास ने महाजन-अनुगमन को ही आध्यात्मिक राज्य का निर्भूल और निरापद मार्ग बताया है। ''तर्कोऽप्रतिष्ठ: श्रुतयो विभिन्ना, नासावृषिर्षस्य मतं न भिन्नम्। धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गत: स

पन्थाः॥'' (महाभारत वनपर्व ११२ अ०) ''तर्क की प्रतिष्ठा नहीं, अर्थात् एक जन ने बहुत विचारकर जो निर्ण य किया, अन्य पण्डित ने उसका खण्डन कर अपना मत स्थापित कर दिया। इस प्रकार तर्क का कोई स्थायित्व नहीं होता। फिर ऐसे ऋषि नहीं, जिनके मतों में भेद नहीं; इसलिये यथार्थ धर्म का तत्व बड़ा गहन है। अतएव जिस साधनपथ का अवलम्बन कर महाजनों ने अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त की है, उनके द्वारा प्रवर्तित वह पंथ ही अभीष्ट-प्राप्ति का अभ्रान्त उपाय है।'' तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''महाजनेर जेइ पथ, ताते होबो अनुरत'', अर्थात् 'महाजनों द्वारा आचरित या प्रवर्तित साधन-पथ में ही अनुरक्त होऊँगा-उसी में आसक्ति दिखाऊँगा।'

गौड़ीय वैष्णवों के रागभजन में इस महाजन-प्रदर्शित पंथा में अनुरक्ति या आसक्ति की एक अलग विशिष्टता है। केवल महाजनों द्वारा आचरित पंथा में अनुरक्ति रखने से ही काम नहीं चलेगा; स्वसम्प्रदायी महाजनों के पूर्ण आनुगत्य में साधन-भजन करना होगा। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने लिखा है-''सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि। तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारत।'' अर्थात् ''साधक रूप में यथावस्थित देह से और सिद्धरूप में अन्तश्चिन्तित अभीष्ट-सेवोपयोगी देह से व्रज में स्थित अपने अभीष्ट श्रीकृष्ण की रतिविशेष चाहने वाला व्यक्ति व्रजलोकगण के अनुसरण या आनुगत्य में सेवा करे। सिद्धरूप से मानसी सेवा श्रीराधाललिता रूपमञ्जरी के आनुगत्य में और साधक रूप से दैहिकादि सेवा श्रीरूप-सनातन आदि व्रजवासियों के आनुगत्य में ही करें।

श्रील ठाकुर महाशय ने कहा-''पूर्वापर करिया विचार।'' अर्थात् पूर्वमहाजन और परमहाजन का विचार कर उन्हीं परमहाजनों के आनुगत्य में यथायोग्य भजन करें, जो स्वाभीष्टभाव से विभावित हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने इस अंश की टीका में लिखा है-''दण्डकारण्यवासि-मुनयो वृहद् वामनोक्तश्रुतयश्च चन्द्रकान्ति-जयदेव-विद्यापति चण्डिदास-विल्वमङ्गलादयश्च पूर्वमहाजनाः। षड्गोस्वामिनः परमहाजनाः।'' तात्पर्य यही है कि इस विशेष कलियुग में श्रीमन्महाप्रभु की कृपा से गौड़ीय वैष्णवों को व्रज की जिस सर्वोत्कृष्ट मधुर रसोपासना का सौभाग्य मिला है, उसी मधुररस का भजन करने वाले पूर्वमहाजन दण्डकारण्यवासी मुनिजन, वृहत् वामनपुराणोक्त श्रुतियाँ और चन्द्रकान्ति आदि ने श्रीकृष्ण को कान्त रूप में पाने के लिये प्रलुब्ध होकर कान्त-भाव अवलम्बन कर नित्यसिद्धा गोपियों के आनुगत्य में भजन कर गोपीदेह प्राप्तकर कान्तारूप से श्रीकृष्ण की प्रेमसेवा पाई हैं। पद्मपुराण में दण्डकारण्यवासी मुनियों के विषय में लिखा है -

''पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
रामं दृष्ट्वा हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्॥
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले।
हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥''

पुराकाल में दण्डकारण्य में कुछ कृष्णोपासक ऋषि थे। श्रीरामचन्द्र पिता के वचनों के पालनार्थ सीता और लक्ष्मण के साथ दण्डकारण्य पहुँचे, तो उन्हें देखकर उन महर्षियों के मन में कान्ताभाव से अपने उपास्य श्रीकृष्ण का माधुर्य आस्वादन करने का प्रबल लोभ उत्पन्न हुआ। यद्यपि उन लोगों ने लज्जावश इस विषय में

श्रीरामचन्द्र से कोई वर नहीं माँगा, तथापि वाञ्छाकल्पतरु श्रीराम की कृपा से रागभक्ति साधना में सिद्धि प्राप्त कर उन्होंने गोकुल में गोपीरूप से जन्म ग्रहण किया और कान्ताभाव से श्रीकृष्ण की प्रेमसेवा का अधिकार प्राप्त किया।

श्रुति की अधिष्ठात्री देवियों के कान्ता-भाव प्राप्त करने के विषय में वृहद्वामन पुराण में वर्णन है -

''कन्दर्पकोटिलावण्ये-त्वयि दृष्टे् मनांसि नः।
कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयः॥
यथा तल्लोकवासिन्यो कामतत्वेन गोपिका।
भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनि नस्तथा॥''

ब्रह्मलोकवासी श्रुति-अधिष्ठात्री देवताओं ने श्रीकृष्ण दर्शन कर प्रार्थना की थी-''हे कृष्ण! कोटिकन्दर्पों को लजाने वाली आपकी अङ्गकान्ति दर्शनकर हम लोगों का चित्त मदन-विक्षुब्ध हो रहा है और कामिनी-भाव से तुम्हारी सेवा करने की लालसा हो रही है। जैसे श्रीवृन्दावन-वासिनी गोपिकायें प्राणवल्लभज्ञान से मधुरभाव से तुम्हारी सेवा करती हैं, उसी प्रकार तुम्हारी सेवा करने की हमारी प्रबल वासना हो रही है।'' इन लोगों ने भी गोपीदेह प्राप्तकर कान्ताभाव से व्रज में सेवाधिकार पाया था।

पद्मपुराण में चन्द्रकान्ति नामक गन्धर्व-कन्या के विषय में लिखा है कि ये श्रीकृष्ण की आराधना कर श्रीकृष्ण के एकान्त भक्त ब्रह्माजी के वर से श्रीवृषभानु कन्या में मिल गईं। इन सभी ने कान्तारूप से सम्भोगेच्छामयी प्रीति से श्रीकृष्ण की सेवा पाई है। फिर जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, विल्वमङ्गल आदि की सखीभाव की उपासना की बात जानी जाती है। ये सभी महाप्रभु से पहले के थे, सो पूर्वमहाजन हैं। श्रीरूप-सनातन आदि षड्गोस्वामी ही पर-महाजन हैं। ये सभी व्रज की नित्यसिद्धा मञ्जरियाँ या श्रीराधा की नित्यकिङ्करियाँ हैं। श्रीमन्महाप्रभु के साथ उनके पार्षदरूप में आविर्भूत हुए हैं-मञ्जरी भाव-साधना का विश्व में प्रचार कर विश्व के साधकों को व्रज-निकुञ्ज में ले जाकर श्रीश्रीराधामाधव की प्रेमसेवा दानकर उन्हें धन्य करने के लिये!

इन पूर्व और पर महाजनों की साधन-रीति पर विचार करने से पता चलता है कि जो लोग कान्ताभाव से सम्भोगेच्छामयी रति से श्रीकृष्णमाधुरी का आस्वादन करते हैं, वे श्रीकृष्ण का पूरा माधुर्य आस्वादन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं करते। कारण यह है कि श्रीकृष्णमाधुर्य-सिन्धु श्रीराधा के सान्निध्य में ही निःसीम रूप से समुच्छ्वसित और उत्ताल होता है। श्रीचैतन्य-चरितामृत (आदि, परि० ४) में श्रीकृष्ण की उक्ति है-

''यद्यपि निर्मल राधार सत्प्रेम दर्पण।
तथापि स्वच्छता तार बाड़े क्षणे क्षण॥
आमार माधुर्येर नाहि बाड़िते अवकाशे।
ए दर्पणेर आगे नव नव रूपे भासे॥
मन्माधुर्य राधाप्रेम दोंहे होड़ करि।
क्षणे क्षणे बाड़े दोंहे केहो नाहि हारि॥''

जो लोग राधारानी की सखी के भाव से श्रीयुगलकिशोर की उपासना करते हैं, वे युगल के असमोर्द्ध माधुर्य के आस्वादन का सौभाग्य तो पा जाते हैं, किन्तु सर्वाधिक युगल-माधुरी का आस्वादन कर धन्य होते हैं मञ्जरीभाव (राधाकिङ्करी-भाव) के उपासक ही। कारण यह है कि श्रीराधारानी की इच्छा से सखियों का श्रीकृष्ण के साथ कभी-कभी मिलन तो होता है, किन्तु श्रीराधा का सखियों के साथ साम्यभाव रहने से सङ्कोच हेतु इन सखियों को युगलकिशोर के निभृत रहस्यमय विलासस्थान में आने-जाने का अधिकार नहीं होता। मञ्जरियाँ श्रीमती की किङ्करियाँ, अभिन्नप्राण और अभिन्नदेह हैं; इसलिये ये युगलकिशोर की निभृत विलासमाधुरी के दर्शन तो करती ही हैं, साथ में युगल की तात्कालिक सेवा के रसास्वादन का सौभाग्य भी पाकर कृतार्थ होती हैं। श्रीराधारानी के साथ अतुलनीय भाव-तादात्म्य होने के कारण राधारानी के श्रीअङ्ग पर रतिविलास के चिह्नादि भी इन लोगों के अङ्गों पर परिस्फुट हो उठते हैं! इसलिये किङ्करीभाव मे ही युगलमाधुरी के आस्वादन की पराकाष्ठा है।

पर-महाजन श्रीरूप-सनातन आदि षड्गोस्वामिपादगण श्रीमन्महाप्रभु के प्रचार की प्रिय वस्तु इस मञ्जरीभावसाधना के ही आचार्य हैं। यही कारण है कि श्रीमन्महाप्रभु के श्रीचरणाश्रित गौड़ीय वैष्णव पूर्वमहाजनों के आनुगत्य में कान्ताभाव या सखीभाव से उपासना न कर पर-महाजन षड्गोस्वामिपाद के आनुगत्य में ही मञ्जरीभाव से उपासना करते हैं।

फिर कहते हैं-''साधन-स्मरण-लीला, इहाते ना करो हेला, कायमने करिया सुसार।'' लीला स्मरण ही रागानुगामार्ग का मुख्य भजनाङ्ग है, कारण-राग मनोधर्म है, स्मरण भी वही है। भगवान् के नाम रूप गुण लीलादि के साथ मन का संयोग होने पर ही वह 'स्मरण' कहलाता है। यहाँ लीला-स्मरण का उपदेश ही दिया गया है। श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है-''युगलविलास स्मृतिसार।'' साधनकाल में श्रीराधामाधव की अष्टकालीय लीला के माध्यम से ही अपने सिद्धस्वरूप के अभिमान से साधक का सेवाचिन्तन चलता रहता है; साधन की चिन्तनीय सेवा ही सिद्धि में प्राप्त होती है। ''साधने भाविबो जाहा, सिद्धदेहे पाबो ताहा''-श्रील ठाकुर महाशय के कहे इस आध्यात्मिक मनोविज्ञान में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं होता।

स्मरण का कार्य चित्तशुद्धि की अपेक्षा रखता है, इसलिये यह आरम्भ में साधक को कष्टसाध्य या दु:साध्य लगता है, अत: इस भजनाङ्ग में शिथिलता या अवहेलना आ सकती है। साधक अपने पुरुष भाव की चेष्टा आदि का अभिमान त्यागकर भगवान् की कृपा का अवलम्बन कर स्मरण-अभ्यास करता रहे, तो अनायास चित्तशुद्धि होती है और क्रमश: लीलाचिन्तन सुगम सुखकर हो जाता है। स्मरणाङ्ग भक्ति-याजन भगवान् की कृपासापेक्ष है, किन्तु साधक का मन:संयोग भी नितान्त आवश्यक है, कारण-साधक का साधन-प्रयत्न या भजन-उत्कण्ठा ही भगवान् की करुणा का नि:सरण सम्भव बनाती है। तभी श्रीगुरु-प्रदत्त अपने सिद्धस्वरूप में अभिमान स्थापित कर कायमनोवाक्य से साधक को लीलास्मरणाङ्ग भजन में लगना पड़ेगा। 'स्मरणाङ्ग भजन भगवान् की करुणासापेक्ष है, पुरुष-प्रयत्नसाध्य नहीं, इसलिये जिस दिन भगवान् की कृपा होगी, तभी इस भजन

के प्रवृत्त होऊँगा, इस समय स्मरणाङ्ग भजन को प्रचेष्टा की आवश्यकता नहीं,–ऐसे निरुद्यम या नैराश्यपूर्ण चित्त में भगवत् करुणा का आविर्भाव कभी नहीं होता। इसीलिये श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं–''साधन स्मरण लीला, इहाते ना करो हेला, कायमने करिया सुसार''॥४॥

असत् सङ्गति सदा, त्याग करो अन्य गीता,
कर्मी ज्ञानी परिहरि दूरे।
केवल भकत सङ्ग, प्रेमभक्ति रसरग,
लीलाकथा व्रजरसपुरे॥१५॥

भक्तों के साथ कृष्णकथा :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी से आरम्भ कर कुछेक त्रिपदियों में साधकभक्त के लिये अवश्य परिपालनीय कुछ विधि–निषेधों का उल्लेख कर रहे हैं। साधक का आचार दो प्रकार का है (१) वर्जनात्मक (२) ग्रहणात्मक। भगवत्शरणागति के लक्षणों में भी उपदेश दिया गया है कि भजन के अनुकूल विषयों को ग्रहण किया जाय–''आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्य–विवर्जनम्।'' यहाँ कहा जा सकता है–''असत् सङ्गति सदा, त्याग करो अन्य गीता, कर्मी ज्ञानी परिहरि दूरे''। कल्याणकामी साधक को असत् सङ्ग अवश्य–अवश्य त्यागना होगा–''असत्सङ्ग त्याग एइ वैष्णव–आचार। स्त्री–सङ्गी एक असाधु–कृष्णाभक्त आर॥'' (चै० च०) असत् सङ्ग का त्याग वैष्णव का वर्जनात्मक आचार है, यह अवश्य परिपालनीय है, कारण–जैसे सत्सङ्ग के प्रभाव से जीव की परम उन्नति अनिवार्य है, वैसे ही असत्सङ्ग से जीव का पतन या नाश अवश्यम्भावी है। स्वयं साधु होने पर भी असत्सङ्ग से सावधान रहना कर्तव्य है। कारण यह है कि जैसे अभी–अभी रोग से मुक्त हुए व्यक्ति को कुपथ्य छोड़ते हुए चलना पड़ता है; अन्यथा वह रोगवर्द्धक और देह के लिये विनाशकर हो उठता है; वैसे ही किञ्चित् साधनशक्तिसम्पन्न सत्व्यक्ति के लिये असत् सङ्ग का परिणाम सर्वनाशकर हो जाता है। तभी तो शास्त्रों में उपदेश दिया गया है कि विजातीय कालसर्पतुल्य असत् सङ्ग से दूर भागो। इसका विष भीषण मारात्मक है। यह असत् दो प्रकार का है–एक श्रीकृष्ण का अभक्त, दूसरा स्त्री में आसक्तियुक्त। ऐसे लोगों के सङ्ग प्रभाव से श्रीकृष्ण–बहिर्मुखता और स्त्री–आसक्ति संक्रमित होती है तथा साधक के हृदय में स्थित भक्ति अन्तर्हित हो जाती है।

जो सत् नहीं हैं, वे ही असत् हैं; अतः जीवहिंसा–परायण, मिथ्याचारी, खलस्वभाव, दूसरे का धन हरने वाले इत्यादि भी असत् हैं। ऐसे लोगों का सङ्ग भी श्रेयःकामी व्यक्ति के लिये दूर से परित्याज्य है। तथापि असत् सङ्ग त्यागरूपी वर्जनात्मक वैष्णवाचार में श्रीकृष्णबहिर्मुख और स्त्री–सङ्गी के सङ्ग का त्याग ही विशेषरूप से उल्लिखित है, क्योंकि श्रद्धावान् भजननिष्ठ वैष्णव के लिये यह द्विविध असत्सङ्ग वैष्णवता का अत्यन्त

विघातक है। बड़े सौभाग्य के फलस्वरूप साधु-गुरु की कृपा से भगवद्भजनोन्मुख साधक श्रीहरिचरणों में श्रद्धा प्राप्त करता है, जो भगवद् भजन में अधिकार दिलाती है-''श्रद्धावान् जन हय भक्ति अधिकारी'' (चै० च०)। श्रीकृष्णबहिर्मुख व्यक्ति के सङ्ग में कृष्णबहिर्मुखता संक्रमित होती है और साधु-गुरु-शास्त्र एवं भगवान् के प्रति विश्वास रूपी वह श्रद्धा अन्तर्हित हो जाती है। श्रीकृष्णबहिर्मुख व्यक्ति श्रद्धालु साधक के चित्त में कृष्णबहिर्मुखता जगाकर उसका सर्वनाश कर देता है। उसी प्रकार स्त्री-सङ्गी व्यक्ति स्त्री के रूप-गुणादि की बात कर अपने साथी में जैसी स्त्री-आसक्ति जगाता है, वैसी स्त्री स्वयं नहीं जगा सकती। भगवान् का भक्त भी भगवान् के रूप-गुणादि की बात कर साथी के चित्त में जिस प्रकार की भगवत् आसक्ति जगा सकता है, वैसी आसक्ति स्वयं भगवान् कभी नहीं जगा सकते। श्रद्धावान् भजननिष्ठ साधकों के लिये स्त्री का सम्पर्क मात्र कितना वर्जनीय है यह श्रीमद्भागवत से पता चलता है-''योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता। तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम्'' (३/३१/४०) ''योषित्रूपा देवनिर्मिता माया शुश्रुषादि के छल से धीरे-धीरे पुरुष के निकट जाती है, आत्मवान् व्यक्ति उसे घास से ढके कूए की तरह अपनी मृत्यु के रूप में देखे।'' इस श्लोक की टीका में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है-''याच पुरुष विरक्तं ज्ञात्वा स्वीय निष्कामतां व्यञ्जयन्ती शुश्रुषादिमिषेण उपयाति, सापि अनर्थकारिणीत्याह योपयातीति। अत्र तृणाच्छादित कूपस्य मयि जनः पतत्विति भावनाभावात् कस्यचित् पार्श्वेऽप्यनागमात् सर्वत्रोदासीना वा भक्तिज्ञानवैराग्यादिमती वा उन्मादादचेतना निद्राणा वा मृतापि वा स्त्री सर्वथैवदूरे परित्याज्या इति व्यञ्जितम्।'' अर्थात् 'स्त्री देवनिर्मिता माया विशेष है; इस माया-कवल से उद्धार पाना बड़ा ही कठिन काम है। इसलिये कल्याणकामी व्यक्ति के लिये स्त्रियों के संश्रव में आना ही उचित नहीं। पुरुष को विरक्त निष्काम मानकर अपनी भी निष्कामता दिखाकर केवल सेवा-शुश्रुधा के उद्देश्य से भी कोई स्त्री पुरुष के निकट आती है, तब भी उसे अपना सर्वनाश करने वाली समझो। स्त्री को तृणाच्छादित कूप की तरह अपनी मृत्युसदृश जानो। स्त्री भक्तिमती, ज्ञानमती और वैराग्यवती भी हो, अथवा उन्माद व्याधिवश अचेतन भी हो, यहाँ तक कि वह मृत भी हो, तब भी उसके निकटवर्ती न होओ-उसका सान्निध्य सदा दूर से त्यागो।'

साधक को श्रीकृष्ण के लीला-गुणगान को छोड़ सांसारिक गीत-गायनादि में आसक्ति त्यागनी होगी-''त्याग करो अन्य गीता।'' कृष्णेतर विषयों में अभिनिविष्ट या अनुरंजित होते ही साधक का चित्त सांसारिक रूप रस शब्द आदि के प्रति आकृष्ट होकर भजनविघ्न उपस्थित करेगा। श्रुति-वाक्य है-''यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति''-प्रकृत आनन्द आनन्दघनविग्रह भगवान् के चरणों में ही विराजता है; क्षुद्र सांसारिक शब्द-स्पर्श आदि विषयों में आनन्द नहीं। हम लोग आनन्दसिन्धु हृदय में लिये बिन्दु के लिये कितने लालायित रहते हैं। शास्त्र कहते हैं-जिन आनन्दकेन्द्र भगवान् से जगत् में कण-कण आनन्द उत्सारित हो रहा है, आनन्द के मूलकेन्द्र उन्हीं श्रीगोविन्द-चरणों से विच्युत होते ही जीव दुःख पाता है। परम आनन्दतत्व को लेकर लक्ष्यभ्रष्ट होते ही बाहर जड़राज्य में क्षुद्रानन्द उपभोग करने की वासना उत्पन्न होती है और जड़ीय रूप-रस आदि सांसारिक विषयों के पीछे-पीछे दौड़कर पुनः पुनः जन्म-मरण आदि के कवल में पड़ना होता है। इसलिये प्रयत्नशील साधकभक्त सदैव लक्ष्य रखें कि किसी भी दशा से जड़ीय विषयासक्ति उनके हृदय में प्रवेश करने का सुयोग न पाये। केवल

शब्दादि विषयों का सङ्ग ही नहीं, कर्मी-ज्ञानी स्वर्ग-अपवर्ग के साधकों का सङ्ग भी दूर छोड़ना पड़ेगा-''कर्मी ज्ञानी परिहरि दूरे''। कर्मी ज्ञानी आदि विजातीय लोगों के सङ्ग में साधक का कर्म-ज्ञानादि के प्रति आवेश उत्पन्न हो जाने से भजन खर्व हो जाय-इस बात की पूरी सम्भावना है।

इसके पश्चात् आधी त्रिपदी में व्रजरसनिष्ठ साधकों के ग्रहणात्मक अति अन्तरङ्ग आचरण की बात कहते हैं-''केवल भकत सङ्ग, प्रेमभक्ति रसरङ्ग, लीलाकथा व्रजरसपुरे''। अन्तरङ्ग भजन में सजातीय भक्तों के सतत् सङ्ग में भजनरस की परम परिपुष्टि शीघ्र ही हो जाती है। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने लिखा है-''सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्ग स्वतोवरे:'' (भ० र० सि०) भक्तिसाधन में ऐश्वर्यमाधुर्य आदि एवं दास्य सख्य वात्सल्य मधुर आदि भावों के नानाविध प्रकारभेद हैं। इसलिये जो साधक जिस प्रकार का भजनानुष्ठान करता है, वह उसी प्रकार के अपने भाव-रसवाले साधु का ही सङ्ग करे। भक्तिधर्म में अपने से श्रेष्ठ भजन-अभिज्ञ और दयालुता आदि गुणों से स्वभावस्निग्ध सतत स्नेहशील साधु का सङ्ग ही करना चाहिये। 'सजातीयाशय' इस विशेषण से यही बताया गया है कि उस प्रकार के महत् के सङ्ग में भक्तिरस का आस्वादन सुचारुरूप से सम्पन्न होता है। 'सजातीयाशय' और 'स्वतोवर' इन दो विशेषणों से यह भी पता चलता है कि तादृश महत् का सङ्ग करने वाले भक्त के चित्त में भक्तिरस का उदय होता है। 'स्निग्ध' से यह भी बताया गया है कि जो महत् कृपा साधक के चित्त में उन-उन विषयों में योग्यता लाती है, वह कृपा भी उसे सहजलभ्य होती है। भक्ति-शास्त्र का यही सिद्धान्त है कि भक्ताश्रया भगवद्विषया भक्ति रतिदशा पाकर सरस होती है। अतएव वैसे महाभागवत वैष्णव के दर्शन, स्पर्शन, सम्भाषण आदि एवं भवगत्प्रसङ्गमय सङ्ग आदि के द्वार से साधक के चित्त में शीघ्र ही रति का उदय होने से भक्ति-रस का आस्वादन प्राप्त होता है-यह समझ में आता है। इसीलिये कहा गया है-''केवल भकतसङ्ग, प्रेमभक्ति रसरङ्ग''। 'रङ्ग' शब्द से भक्तिरस की विशेष आस्वादन-वैचित्री बताई गई है। उसी का हेतु बता रहे हैं-''लीलाकथा व्रजरसपुरे''-रसपूर्ण इस व्रजपुर में अर्थात् लीला के परम उद्दीपनक्षेत्र श्रीश्रीव्रजधाम में रहकर यदि वैसे महत् के सङ्ग में अभीष्ट श्रीश्रीराधामाधव के लीला कथा-रस के आस्वादन का सौभाग्य प्राप्त हो, तो विचित्र प्रेमभक्ति-रसास्वादन सहजलभ्य हो जाता है, यही बताया गया है। अथवा, व्रजरसपूर्ण लीलाकथा सजातीयाशय महत् के साथ आस्वादन करो, यह उपदेश दिया गया है॥१५॥

योगी न्यासी कर्मी ज्ञानी, अन्य देव पूजक ध्यानी,
इह लोक दूरे परिहरि।
धर्म कर्म दु:ख शोक, जेबा थाके अन्य जोग,
छाड़ि भजो गिरवरधारी॥१६॥

टीका -

अन्य योग-स्त्री-पुत्र-विषयासक्ति।

गिरिधारी का भजन :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय पूर्व त्रिपदी की तरह इस त्रिपदी में भी भक्त का वर्जनात्मक एवं ग्रहणात्मक आचार या विधि-निषेध निरूपण कर रहे हैं। मङ्गलकामी भक्त को असत् सङ्ग की तरह योगी, न्यासी (संन्यासी), कर्मी, ज्ञानी, अन्यदेव-पूजक ध्यानी आदि का सङ्ग भी दूर से त्यागना होगा। प्रेम प्राप्त करने वाले एकनिष्ठ भजनशील भक्त के लिये ऐसे व्यक्ति का सङ्ग मात्र ही असत् सङ्ग है, जो कृष्णेतर वस्तु में अभिनिवेश रखता है। ऐसे व्यक्ति के सङ्ग में भक्त का कृष्णेतर वस्तु में अभिनिवेश होना अवश्यम्भावी है और भजन में विच्युति भी निश्चित है। योगी का अर्थ है यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि-इस अष्टाङ्ग योग का साधक। इन साधकों का मत है कि इस अष्टाङ्ग योग साधना से प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति-चित्त की इन पाँच वृत्तियों का निरोध होने से असम्प्रज्ञात समाधि और परमात्मा-सायुज्य प्राप्त होता है। न्यासी का अर्थ है मायावादी संन्यासी। अद्वैतवादी शङ्कर-सम्प्रदायी दशनामी संन्यासियों को 'मायावादी' संन्यासी कहा जाता है। इन लोगों के मत में निर्विशेष ब्रह्म मायातीत है, सविशेष ईश्वर मायासङ्गी है और ईश्वर की देह मायिक है। ये लोग सोचते हैं कि मायातीत भगवत्ता में, भगवद्धाम में, भगवद्भक्ति में और भक्त में माया है। जीव के गठन में भी माया है। जगत् माया-निर्मित है, अतः मिथ्या है। इस प्रकार समस्त सद्विषयों में माया को लेकर जो विवाद है उसी को 'मायावाद' कहा जाता है। इन लोगों के मत में एक अखण्ड अद्वय निर्गुण ब्रह्म को छोड़कर सभी मिथ्या और मायिक है। मायावाद प्रच्छन्न बौद्धवाद और असत् है, पद्मपुराण उत्तराखण्ड में इसका स्पष्ट उल्लेख है-''मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते। मयैव विहितं देवि कलौ ब्राह्मणमूर्तिना।'' शङ्करजी ने महादेवी से कहा है-'हे देवि! मायावाद असत् शास्त्र और प्रच्छन्न बौद्धमत है। कलियुग में (बौद्धमत या शून्यवाद के विनाश और वैदिक मत की स्थापना के लिये) मैंने ही शङ्कराचार्य रूप में उसकी स्थापना की है।'

'कर्मी' का अर्थ है वे लोग, जो स्वर्ग आदि सुख पाने की आशा से वेदोक्त यज्ञादि कर्मानुष्ठान में, स्मृतिशास्त्रोक्त नित्य-नैमित्तिक कर्मों में अनुरक्त हैं। श्रुति कहती हैं-''क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'' ''प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा'' ''तद् ययेह कर्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेवामूत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते'' इत्यादि, अर्थात् बहुआयाससाध्य याग, यज्ञ व्रतादि कर्म कर स्वर्ग प्राप्त होने पर भी जब पुण्य क्षीण हो जाता है, तो कर्मी को भोगस्थान स्वर्गादि से मर्त्यलोक में लौटना पड़ता है और बार-बार जन्म-मरणादि का दुःख भोगना पड़ता है। इसलिये संसार-सागर पार करने के लिये यज्ञादि सुदृढ़ नौका नहीं। जैसे इस लोक में कृषिकार्यादि से अर्जित धान्य आदि भोग द्वारा क्षय को प्राप्त होते हैं, वैसे ही पुण्य से प्राप्त स्वर्ग भी भोग लिये जाने पर क्षयशील होते हैं। इसलिये जो लोग मोहान्ध हैं, वे ही केवल कर्म में आसक्त होकर मकड़ी की तरह अपने ही कर्म-जाल से अपने बन्धन की सृष्टि करते हैं।

'ज्ञानी' कहते हैं ब्रह्मज्ञानी को, अथवा जीव और ब्रह्म को अभेद मानने वाले को। आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्य में ज्ञान-कर्म के समुच्चयवाद को सर्वत्र नकारा है। उनके मत में कर्म और ज्ञान प्रकाश-अन्धकार की तरह नितान्त विरुद्ध हैं। ये दोनों एक ही समय अनुष्ठित नहीं हो सकते। इसीलिये उन्होंने अपने शारीरक-भाष्य

में नित्य-अनित्य वस्तु के विचार, इहामूत्र (इहलोक-परलोक के) फलभोगों के प्रति विराग, शम-दमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व को ही ब्रह्म जिज्ञासा का साक्षात् कारण बताया है। ब्रह्मज्ञानी इसी साधना द्वारा जीव-चैतन्य और ब्रह्म-स्वरूप का अभेद मनन किया करते हैं। यह ब्रह्मज्ञान मुमुक्षु द्वारा समादृत है, किन्तु भक्तजन इसे भेदवाद या भक्ति का अत्यन्त विघातक होने के कारण अत्यन्त हेय समझते हैं। यही कारण है कि श्रील ठाकुर महाशय ने भक्त-साधक को इन सबका सङ्ग दूर से ही त्यागने को कहा है।

फिर जो लोग ब्रह्म-रुद्र आदि अन्य देवताओं को स्वतन्त्र ईश्वर मानकर उनकी पूजा ध्यान आदि करते हैं, उनका सङ्ग भी दूर से त्यागने योग्य है। श्रीविष्णु ही सर्वेश्वर हैं और ब्रह्म-रुद्र आदि सभी उनके आराधक हैं। ''एकले ईश्वर कृष्ण आर सब भृत्य'' (चै० च०)। श्रीकृष्ण-उपासना के प्रभाव से ही महादेवादि का नित्य ईश्वरत्व है। इसलिये ब्रह्म-रुद्र आदि देवताओं को श्रीनारायण के समान मानने वाले को शास्त्रों में 'पाषण्डी' कहा गया है। ''यस्तु नारायणं देवं ब्रह्म-रुद्रादिदैवतैः। समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम्'' (वैष्णवतन्त्रम्) 'जो श्रीनारायण को ब्रह्म-रुद्रादि देवताओं के समान मानते हैं, वे निश्चय ही पाषण्डी हैं।' पाषण्डी का दर्शन और सङ्ग सर्वथा निषिद्ध है। ब्रह्मा महादेव आदि की परम वैष्णवबुद्धि से (परम वैष्णव मानकर) और श्रीहरि की ही सर्वेश्वर बुद्धि से उपासना करनी होगी। विष्णु को त्यागकर अन्य देवताओं की उपासना में बहुत-से दोष शास्त्रों में बताये गये हैं। स्कन्दपुराण में ब्रह्म-नारद संवाद में आया है-''वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते। स्वमातरं परित्यज्य श्वपचीं वन्दते हि सः।'' 'जो वासुदेव का परित्याग कर अन्य देवता की उपासना करता है, वह मानो अपनी माता को त्यागकर श्वपची अर्थात् कुक्कुरभोजी चण्डालिनी की वन्दना करता है।' महाभारत में भी आया है-''यस्तु विष्णुं परित्यज्य मोहादन्यमुपासते। स हेमराशिमुत्सृज्य पांशुराशिं जिघृक्षति!'' अर्थात् 'जो व्यक्ति विष्णु का परित्याग कर मोहवश अन्य देवता की उपासना करता है, वह स्वर्णराशि परित्याग कर भस्मराशि ग्रहण करने की इच्छा करता है।' इतना ही नहीं, स्कन्दपुराण में कहा गया है कि श्रीहरि को त्यागकर अन्य देवता की उपासना करना अमृत त्यागकर हलाहल पान करने की तरह प्राणनाश भी है। ''वासुदेवं परित्यज्य योहन्यदेवमुपासते। त्यक्त्वामृतं स मूढ़ात्मा भुङ्क्ते हलाहलं विषम्।'' भक्तिपथ के परिपंथी (बाधक) इन सभी व्यक्तियों का सङ्ग भी कल्याणकामी भक्त के लिये दूर से ही त्याज्य है।

तत्पश्चात् कहते हैं-''धर्म कर्म दुःख शोक, जेबा थाके अन्य योग, छाड़ि भजो गिरिवरधारी।'' 'धर्म' का अर्थ है वर्णाश्रमोचित धर्म। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र-चार वर्ण; ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ, संन्यास-चार आश्रम। इनके अन्तर्भुक्त धर्म। 'कर्म' का अर्थ है पुण्यादिजनक नित्यनैमित्तिकादि कर्म। शुद्ध भक्त को उपदेश दिया गया है कि वह इन सब धर्म-कर्म आदि का त्याग करके ही भजन करे। श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से धर्मत्याग के उपदेश में कहा है-''आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्। धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स सत्तमः॥'' (भा० ११/११/३२) अर्थात् 'मेरे वेदशास्त्र-उपदिष्ट स्वधर्म-समूह के अनुष्ठान में गुण और अननुष्ठान में दोष जानकर भी जो सर्वधर्म परित्याग कर मेरा भजन करते हैं, वे श्रेष्ठ साधुरूप में गिने जाते हैं। ''मया वेदरूपेणादिष्टानपि स्वधर्मान् सन्त्यज्य यो मा भजेत सोऽप्येवं पूर्वोक्तवत् सत्तमः। किमज्ञानात् नास्तिक्याद्वा? न, धर्माचरणे सत्वशुद्धादिन् गुणान् विपक्षे दोषांश्च आज्ञाय ज्ञात्वापि मद्भक्त्यानविक्षेपकतया मद्भक्त्यैव सर्वं भविष्यतीति

दृढ़निश्चयेनैव धर्मान् संत्यज्य।'' (उल्लिखित श्लोक की श्रीधर स्वामिकृत टीका) टीका का अर्थ - भगवान् ने कहा-''हे उद्धव! वेदरूप में मेरे द्वारा आदिष्ट स्वधर्मत्याग के साथ जो लोग मेरा भजन करते हैं, वे भी पूर्ववत् श्रेष्ठ साधु गिने जाते हैं। प्रश्न हो सकता है, वे लोग क्या अज्ञानवश या नास्तिकतावश स्वधर्मत्याग करते हैं? इसके उत्तर में कहा जा रहा है-नहीं, धर्माचरण में सत्वशुद्धि और अनाचरण में प्रत्यवाय (पाप, अपराध) आदि दोष जानकर भी 'स्वधर्मानुष्ठान मेरे ध्यान का विक्षेपक हैं' यह मानकर और 'मेरी भक्ति से ही सब होगा' ऐसा दृढ़ निश्चय कर वे धर्म का सम्यक् रूप से त्याग करते हैं।'' गीता में भी भगवान् ने अर्जुन से कहा है-''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज''-हे अर्जुन! तुम सर्व धर्म परित्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण ग्रहण करो।

कर्मत्याग के सम्बन्ध में भी श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण की उक्ति है-''तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥'' (११/२०/९) अर्थात् जब तक विषयों में निर्वेद न जन्मे और मेरी कथा में श्रद्धा न हो, तभी तक नित्य-नैमित्तिक कर्मों का आचरण करो। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने उल्लिखित श्लोक की सारार्थदर्शिनी टीका में लिखा है-''निर्वेदे तु जाते''''निर्विन्नानां ज्ञानयोग' इति मदुक्तेर्ज्ञान एवाधिकारो न कर्मणीति भावः। तथा आकस्मिक महत्-कृपाजनित श्रद्धा या यावदिति श्रद्धान्तः पूर्वमेव कर्माधिकारः श्रद्धायां जातायान्तु 'जातश्रद्धस्तु य पुमान्' इति मदुक्तेर्भक्तावेव केवलायामधिकार न कर्मणीति भावः। श्रद्धा चेयमात्यन्तिक्येव ज्ञेया सा च भगवत्कथाश्रवणादिभिरेव कृतार्थी भविष्यामीति न तु कर्म-ज्ञानादिभिरिति दृढ़ैवास्तिक्यलक्षणैव तादृशशुद्धभक्तसङ्गोद्भूतैव ज्ञेया।'' तात्पर्य यही है कि भगवान् कह रहे हैं-'कर्म में निर्वेद उत्पन्न होने पर 'निर्विन्नगण का ज्ञान-योग' मेरी इस उक्ति के अनुसार ज्ञान में ही उनका अधिकार होता है, कर्म में नहीं। 'आकस्मिक महत्कृपाजनित श्रद्धा जब तक नहीं हो' इस वाक्य में श्रद्धा से पहले ही कर्माधिकार है; श्रद्धा उत्पन्न होने पर 'जो व्यक्ति जातश्रद्ध है' इत्यादि मेरी उक्ति के अनुसार केवल भक्ति में ही श्रद्धावान का अधिकार है, कर्म में नहीं। इस श्रद्धा को आत्यन्तिकी जानना होगा, अर्थात् 'भगवत् कथा श्रवणादि द्वारा ही मैं कृतार्थ होऊँगा, ज्ञान कर्मादि द्वारा नहीं' इस प्रकार इसे दृढ़ आस्तिक्य लक्षण वाले शुद्धभक्त के सङ्ग में उत्पन्न श्रद्धा ही जानना होगा।'' तभी मृदुश्रद्ध व्यक्ति का स्वल्प कर्माधिकार स्वीकार किया गया है-''मृदुश्रद्धस्य कथिता स्वल्पा कर्माधिकारिता'' (भ० र० सि० १/२/१८६)

जो लोग स्वरूपतः वर्णाश्रमधर्म एवं नित्यनैमित्तिकादि कर्म त्यागकर भागवत परमहंस का वेष ग्रहण कर श्रीहरि का भजन कर रहे हैं, वे लोग तो भीतर-बाहर से वर्णाश्रमधर्म त्यागकर कर्मज्ञानादि के प्रति सम्पूर्णतः निरपेक्ष हो गये हैं, किन्तु जो लोग वर्णाश्रमधर्म में अर्थात् गार्हस्थ्य आश्रम में रहकर दृढ़ श्रद्धा प्राप्त कर चुके हैं और हरिचरणों में शरणागत होकर भजन कर रहे हैं, उनका भी वर्णाश्रम-धर्मादि त्याग स्वतः सिद्ध हो गया है, कारण-उसमें उन लोगों का किसी प्रकार का आवेश नहीं रहता।

इसी प्रकार भक्त को जड़ीय दुःख-शोकादि भी त्यागने होंगे, कारण-जिन लोगों के चित्त दुःख-शोकादि से आक्रान्त हैं, उनके चित्त में कभी भी श्रीकृष्ण स्फूर्ति की सम्भावना नहीं। शुद्धभक्तगण दुःख-शोकादि को भगवान् की करुणा का दान समझकर ही ग्रहण कर उनसे बिलकुल भी विगलित न होकर धैर्य रखकर भजन में निविष्ट रहते हैं। फिर 'अन्य योग'-अर्थात् भक्तजन स्त्री-पुत्र विषय आदि के प्रति भी आसक्ति का त्याग करते

हैं। समस्त जड़ीय वस्तुओं या विषयों से मन की आसक्ति को विमुक्त कर भगवत् पादपद्मों में दृढ़तापूर्वक स्थापित करना ही शुद्ध भक्त का भजनकौशल है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं–''इस प्रकार ऐकान्तिक श्रीकृष्णपादपद्मनिष्ठ चित्त से भक्त साधक को श्रीश्री गिरिधारी का भजन करना होगा''॥१६॥

तीर्थयात्रा परिश्रम, केवल मनेर भ्रम,
सर्वसिद्धि गोविन्द-चरण।
सुदृढ़ विश्वास करि, मद मात्सर्य परिहरि,
सदा करो अनन्य भजन॥१७॥

टीका -

सर्वसिद्धि सर्वेषां तीर्थयात्रादि पुण्य-कर्मणां सिद्धिः। मद-विवेकहारी उल्लासः। मात्सर्यपरोत्कर्षा-सहनम्॥१७॥

अनन्य भजन :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में नाना तीर्थों मं गतागतिरूपी चित्तचाञ्चल्यकर परिश्रम त्याग कर स्थिर भाव से वृन्दावन आदि लीलाधाम में सत्सङ्ग के बीच रहते हुए अनन्य भजन का उपदेश दे रहे हैं। ''तीर्थयात्रा परिश्रम, केवल मनेर भ्रम, सर्वसिद्धि गोविन्द-चरण''। यहाँ 'तीर्थ-यात्रा' का अर्थ वृन्दावन, नवद्वीप, नीलाचल आदि स्वाभीष्ट भाव के अनुकूल भगवद्धामों के अतिरिक्त अन्यान्य तीर्थयात्रा ही जानना होगा। कारण स्पष्ट है। चौंसठ भजनाङ्गों में जिन पाँच भजनाङ्गों का उल्लेख प्रेमप्राप्ति के अत्यन्त शक्तिशाली साधन के रूप में किया गया है, उनमें व्रजवास अन्यतम है। श्रीचैतन्यचरितामृत (म०, २२ परि०) में आया है -

''साधुसङ्ग, नामकीर्तन, भागवतश्रवण।
मथुरावास, श्रीमूर्तिर श्रद्धाय सेवन॥
सकल साधन श्रेष्ठ एइ पञ्च अङ्ग।
कृष्णप्रेम जन्माय एइ पाँचेर अल्प सङ्ग॥''

तात्पर्य यही है कि भगवत्पादपद्मों में प्रेम पाने के इच्छुक रागानुगीय साधक स्वाभीष्टभाव के अनुकूल या स्वाभीष्ट भाव-उद्दीपक वृन्दावन नवद्वीप नीलाचल आदि धामों का आश्रय लेकर सजातीयाशय (अपने ही भाववाले) महत् जनों के सङ्ग में श्रवण कीर्तन स्मरण आदि अन्तरङ्ग भजन में लगे रहें। नाना तीर्थों में आने जाने का परिश्रम स्वीकार न करें। यह उनके चित्त के लिये विक्षेपजनक होगा और स्मरण-मनन आदि अन्तरङ्ग भजन

में बाधा ही उत्पन्न करेगा। ''ज्ञाने प्रयासमुदपास्य'' इत्यादि (भा० १०/१४/३) ब्रह्मस्तव की वैष्णवतोषणी टीका में लिखा है-''स्थाने सतां निवास एवाव्यग्रतया स्थिताः न तु तीर्थपर्यनादि क्लेशान् कुर्वन्तः'', अर्थात् 'श्रीवृन्दावन आदि धामों में जहाँ स्वभावतः विशिष्ट महत् जन वास करते हैं, वैष्णव वहीं स्थिर भाव से रहकर महत् सङ्ग में हरिकथा में भजन-जीवन यापन करें। नाना तीर्थ-पर्यटन आदि का क्लेश स्वीकार न करें।'

भजन-साधन के विषय में शास्त्रवाणी की तरह महत्जनों का अनुभव एक विशेष प्रमाण है। व्रजधाम में रणवाड़ी के सिद्ध श्रीकृष्णदास बाबाजी महाराज ने चार धाम करने की इच्छा की, तो राधारानी ने उन्हें स्वप्न में व्रजधाम त्यागकर अन्य धाम में जाने के लिये निषेध किया। उन्होंने उसे स्वप्न मात्र मानकर चार धाम गमन किया और द्वारका पहुँचकर तप्तमुद्रा धारण की। जिस दिन वे व्रज लौट कर आये, उसी दिन रात्रि में राधारानी ने पुनः स्वप्न में आदेश दिया कि वे द्वारकाधाम में तप्तमुद्रा धारण कर सत्यभामा के गणों में आ गये हैं, अतः अब वे व्रज से द्वारका ही चले जायें। तब बाबा ने पहले स्वप्न को सत्य माना और अत्यन्त अनुतप्त होकर अन्य सिद्ध महात्माओं से प्रायश्चित के लिये प्रार्थना करने लगे। ऐसा कोई न था, जो राधारानी के साक्षात् आदेश के ऊपर किसी भी प्रकार के प्रायश्चित का विधान करता। राधारानी के विरह में बाबा के श्रीअङ्ग में विरहानल प्रज्वलित हो उठा और उसी अग्नि में उनकी देह सूखे काठ की तरह भस्म हो गई। ❋ राधारानी ने निजजन के द्वारा रागानुगीय साधकों को यही शिक्षा दी है कि स्वाभीष्ट भाव के अनुकूल व्रजधाम त्यागकर अन्यधाम में जाना व्रजरस-साधक के भाव के प्रतिकूल ही होता है।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''तीर्थयात्रा परिश्रम, केवल मनेर भ्रम'', अथवा भ्रान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। भक्ति-इच्छुक साधक यदि यह सोचते हैं कि नाना तीर्थ करने से उनकी भक्ति-सिद्धि होगी, तो यह एक प्रकार की भ्रान्ति ही है, कारण-नाना तीर्थों में आने-जाने से वे प्रेमप्रापक (प्रेमदायक) श्रीहरि के श्रवण-कीर्तन आदि अन्तरङ्ग भजनाङ्गों का निष्ठापूर्वक याजन करने में समर्थ नहीं होंगे। सर्वत्र आवागमन से नाना जातीय जन-सङ्ग से चित्त की चञ्चलता अवश्यम्भावी है। इधर-उधर की भागदौड़ त्यागकर स्थिर भाव से वृन्दावन आदि प्रेमधामों में रहकर कायमनोवाक्य से निष्ठा के साथ श्रीगोविन्दपादपद्मों का भजन करने से ही साधक प्रेमसिद्धि प्राप्तकर धन्य हो सकेंगे। इसीलिये कहा गया है-''सर्वसिद्धि गोविन्दचरण।'' विविध फलों के इच्छुक या पुण्यकामी व्यक्ति यदि यह सोचते हैं कि नानातीर्थ करने से उनके विभिन्न अभीष्ट पूरे होंगे, तो ऐसे लोगों से भी कहा जा रहा है कि यह उनके भी मन की भ्रान्ति है, कारण-श्रीगोविन्द-चरणों में ही समस्त तीर्थयात्राओं की सिद्धि रहती है। वे यदि विभिन्न फल-सिद्धियों के लिये तीर्थयात्राजनित परिश्रम त्यागकर श्रीगोविन्दचरण भजें, तो अनायास ही अपनी इच्छित फलसिद्धि से कहीं एक अनिर्वचनीय सौभाग्य प्राप्तकर धन्य हो सकते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण अपने गुणों या अपनी करुणा से उन्हें प्रेमभक्ति देकर धन्य करेंगे। (चै० च० मध्य० प० २२) -

---

❋ गौड़ीय वैष्णवजीवन (हरिबोल कुटीर, नवद्वीप) द्वितीय खण्ड

''अन्यकामी करे यदि कृष्णेर भजन।
ना मागिलेओ कृष्ण तारे देन स्वचरण॥
कृष्ण कहे-आमाय भजे, मागे विषय-सुख।
अमृत छाड़ि विष मागे, एइ बड़ो मूर्ख॥
आमि विज्ञ एइ मूर्खे विषय केने दिबो।
स्वचरणामृत दिया विषय भुलाइबो॥
× × ×
काम लागि कृष्ण भजे पाय कृष्णरसे।
काम छाड़ि दास हैते हय अभिलाषे॥''

इसके पश्चात् कहते हैं-''सुदृढ़ विश्वास करि, मद मात्सर्य परिहरि, सदा करो अनन्य भजन।'' इससे पूर्व जो सब भजन-सिद्धान्त बताये गये हैं, उनमें सुदृढ़ विश्वास स्थापित कर वैष्णव-साधक को भजन करना होगा। जो श्रद्धा भक्तिसाधना या भजन का अधिकार लाती है, वह विश्वासमूलक ही है। ''श्रद्धा शब्दे विश्वास कहे, सुदृढ़ निश्चय'' (चै० च०)। साधु शास्त्र गुरु-वाक्य में विश्वास का नाम ही श्रद्धा है। सुदृढ़ विश्वासवाला व्यक्ति ही श्रेष्ठ श्रद्धावान् या भजन का उत्तम अधिकारी है। फिर भजन करने वाले को मद-मात्सर्य आदि का त्याग करना ही होगा, कारण-ये वस्तुएँ भक्ति के लिये अत्यन्त विघातक या मूल बाधायें हैं। परमार्थ लाभ करने के लिये दम्भ अहङ्कार आदि अवश्य ही छोड़ने होंगे। विचार करने पर देखने में आता है कि हम लोग अनात्मवस्तु देह-दैहिकादि को ही 'मैं' 'मेरा' मानते हैं। इसी से मद या अभिमान उत्पन्न होता है। वास्तविक तत्व का ज्ञान होने पर अपना कर्तृत्व अभिमान स्वत: नष्ट हो जाता है। जीव का स्वरूप है शुद्ध चिदात्मा, अत: यह समझने से कि जगत् के समस्त कार्य प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पन्न होते हैं-''प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:'' (गीता) समस्त प्राकृतिक विषयों में निर्लिप्त होने से स्वभावत: भगवच्चरणों में प्रपन्नता (दैन्य, शरणागति) आती है और सभी बातों में अपनी असमर्थता का बोध होता है। तब मद या अहङ्कार की जड़ तक हृदय से उखड़ जाती है और दैन्य अपना मधुमय रूप प्रकट कर उस हृदय को सुशोभित करता है।

'मात्सर्य' चित्त में रहता है, तो भगवान् के भजनाधिकार से ही वञ्चित होना पड़ता है। श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ही (१/१/२) देखने में आता है-''निर्मत्सराणां सताम्'' अर्थात् 'निर्मत्सर सत् या महत् जन ही भागवत धर्म के अधिकारी हैं।' 'परोत्कर्षासहनं मात्सर्यम्'-दूसरे का उत्कर्ष सहन न कर सकना, वह अछा न लगना या उससे मन का विमर्ष हो जाना-ऐसी ही अति हीन सङ्कीर्ण या कदर्य मनोवृत्ति का नाम ही मात्सर्य है। मात्सर्य-परायण व्यक्ति अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के गुण में दोषारोप करता है, समान जन से स्पर्धा रखता है और छोटे से घृणा या अवज्ञा करता है। जो निर्मत्सर है, वह श्रेष्ठजन के प्रति श्रद्धाभक्ति रखता है, समान से प्रीति-मैत्री रखता है और कनिष्ठ के प्रति उसके मन में स्नेह कृपा होती है। मात्सर्य-परायण व्यक्ति के हृदय में प्रतिष्ठाशा या यश पाने की वासना का भी उदय होता है। इस मात्सर्य नामक चण्डाल के औरस एवं प्रतिष्ठाशा नाम की पिशाची के गर्भ से

हिंसा और असूया जुड़वाँ सन्तान का जन्म होता है। इनके ताण्डव से हृदय की सभी सत् वृत्तियाँ चूर-चूर हो जाती हैं, अतएव साधक को मद-मात्सर्य आदि का त्याग ही करना होगा।

फिर कहते हैं-''सदा करो अनन्य भजन''। श्रीमद्भागवत में (४/७/३५) 'अनन्यवृत्या' शब्द की टीका में श्रीधर स्वामी ने लिखा है-''अनन्यवृत्या भक्त्या अव्यभिचारी भक्त्या'' अर्थात् 'अनन्य भक्ति से अव्यभिचारी भक्ति ही समझना होगा।' श्रीकृष्ण-सेवा के अतिरिक्त अन्य कामना ही शुद्धभक्ति का व्यभिचार है, अतएव 'अनन्य भजन' का अर्थ है इहलोक-परलोक की समस्त कामनाओं का त्यागकर श्रीकृष्ण-सुखार्थ भजन। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने श्रीमद्भागवतगीता की (९/३०) टीका में 'अनन्यभाक्' शब्द की व्याख्या में लिखा है-''अनन्यभाक् मत्तोऽन्यदेवतान्तरं मद्भक्तेरन्यत् कर्मज्ञानादिकम्, मत्कामनातोऽन्यां राज्यादिकामनां न भजते स साधुः''-'जो मेरे अतिरिक्त अन्य देवता का भजन नहीं करते, मेरी भक्ति के अतिरिक्त कर्म-ज्ञानादि का अनुष्ठान नहीं करते और मेरी सेवा-कामना के अतिरिक्त जिनके हृदय में अन्य कामना अर्थात् राज्य आदि कामना का स्थान नहीं है, वे ही अनन्यभजन करने वाले हैं, वे ही यथार्थ साधु हैं।' श्रील ठाकुर महाशय भी इसके बाद ही कहेंगे-''हृषीके गोविन्दसेवा, ना पूजिबो देवी-देवा, एइतो अनन्यभक्ति कथा''॥१७॥

कृष्णभक्त अङ्ग हेरि, कृष्णभक्त सङ्ग करि,
श्रद्धान्वित श्रवण कीर्तन।
अर्चन स्मरण ध्यान, नवभक्ति महाज्ञान,
एइ भक्ति परम कारण॥१८॥

टीका -

नामलीला-गुणादिनां श्रुतिः श्रवणम्। नाम-लीला-गुणादिनां मुखेन भाषणं कीर्तनम्। शुद्धिन्यासादि-पूर्वकोपचाराणां मन्त्रेनोपपादनम् अर्चनम्। यथा कथञ्चिन्मानसः सम्बन्धः स्मरणम्। स्मरण-भेद-विशेषः ध्यानम्। श्रद्धान्वित इति सर्वत्रान्वयः॥१८॥

श्रद्धान्वित भजन :

सुधाकणिका व्याख्या - इस त्रिपदी में कृष्ण-भक्त के साथ श्रद्धान्वित होकर श्रवण-कीर्तनादि भजन की बात कही गई है। ''कृष्णभक्त अङ्ग हेरि, कृष्णभक्त सङ्ग करि, श्रद्धान्वित श्रवण कीर्तन''। कृष्णभक्तों के साथ उनके श्रीअङ्ग दर्शनादि के प्रभाव से सामान्य व्यक्ति में भी श्रद्धा आदि क्रम से रुचि उत्पन्न होकर शीघ्र ही रति और प्रेम प्राप्त होता है। साधुओं के शरीर से ऐसी पवित्र तन्मात्रायें निकलती हैं कि उनके दर्शन से साधारण भजनहीन व्यक्ति में भी वे संक्रमित होकर उसे असाधारण भजन-सम्पत्ति से कृतार्थ कर देती हैं। श्रीमद्भागवत के ''शूश्रुषोःश्रद्धधानस्य'' इत्यादि (१/२/१६) श्लोक की व्याख्या में (भ० स०, अनु० ११) श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद

ने लिखा है-''कार्यान्तरेणापि तीर्थे भ्रमतो महतां प्रायस्तत्र भ्रमतां तिष्ठतां वा दर्शन-स्पर्शन सम्भाषणादि-लक्षणा सेवा स्वतएव सम्पद्यते। तत्प्रभावेन तदीयाचरणे श्रद्धा भवति। तदीय-स्वाभाविक-परस्पर- भगवत्कथायां किमेते सङ्कथयन्ति तत्शृणोमीति तदिच्छा जायते। तच्छ्रवणेन च तस्यां रुचिर्जायत इति। तथाच महद्भ्य एव श्रुत्वा झटिति कार्यकरोति भावः। तथाच कपिलदेव वाक्यम् (भा० ३/२५/२५) -

''सतां प्रसङ्गान्मम् वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥''

अर्थात् 'यदि कोई किसी अन्य काम से भी वृन्दावन आदि पवित्र तीर्थों में भ्रमण करता है, तो तीर्थसेवन के उद्देश्य से वहाँ आये या उन पवित्र तीर्थों में रहने सहने वाले महत् जनों की सेवा (दर्श-पर्श सम्भाषणादिरूपी सेवा) बिना प्रयत्न किये स्वतः ही सम्पन्न हो जाती है, कारण-बहिर्मुख जीव के लिये यह सर्वथा असम्भव है कि वह महापुरुषों का अनुसन्धान करे और उनका सङ्ग करने की प्रवृत्ति जगे। उन महानुभव जनों के दर्श-पर्शादि के प्रभाव से उनके आचरण में श्रद्धा-विश्वास उत्पन्न हो जाता है। उन महापुरुषों की स्वभावसिद्ध पारस्परिक भगवत्कथा सुनकर ऐसी इच्छा भी जगती है कि आओ सुनें, ये क्या कह रहे हैं। उनके श्रीमुख से निकली हरिकथा सुनकर उस भगवत्कथा में रुचि भी उत्पन्न होती है। हरिकथा महत् के श्रीमुख से सुनने से अति शीघ्र कारगर होती है। तभी भगवान् कपिलदेव ने अपनी माता देवहूति से कहा है-'हे माता! साधुओं के प्रकृष्ट सङ्ग से मेरा पराक्रम बताने वाली जीव के लिये हृत्कर्णरसायन मेरी कथा सुनने को मिलती है। उसे आसक्ति-पूर्वक सुना जाय, तो अति शीघ्र श्रद्धा रति एवं प्रेमभक्ति का आविर्भाव होता है।'' यह प्रेमभक्ति ही जीव का चरम प्राप्तव्य या परम पुरुषार्थ है; यह एकमात्र साधुसङ्ग और साधुकृपा से ही मिलता है। विष्णुजी ने महाराज पृथु को वर देना चाहा, तो पृथु जी ने कहा (भा० ४/२०/२५) -

''स उत्तमःश्लोक महन्मुखच्युतो भवत् पदाम्भोजसुधाकणानिलः।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्ववर्त्मनां, कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः॥''

''हे भगवन्! हम लोग परमतत्वस्वरूप आपको भूल गये थे, महत् जन के मुख से निकला आपके श्रीपादपद्मों का लेशमात्र माधुर्यमय सौरभ या आपकी लीलाकथामृत हमारे हृदय में आपके श्रीचरण कमलों की स्मृति ले आने में समर्थ है। अतएव महत् जन के मुख से निर्गत आपकी लीलाकथा परम साध्य और साधन स्वरूप है। इसलिये हे प्रभो! हमें इसके अतिरिक्त अन्य वर की आवश्यकता नहीं।'' श्रीमद्भागवत आदि भक्तिशास्त्रों में तो है ही, उपनिषदों में भी उल्लिखित तत्व का वर्णन किया गया है। कठोपनिषद में बहुत ज्ञान की कथा की अवतारणा है, अन्त में ब्रह्म का दुर्विज्ञेयत्व प्रतिपादन किया गया है, और प्रतिपादन किया गया है कि ब्रह्म मन-वचन के अगोचर है। तब ब्रह्म को कैसे जाना जायेगा? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है-''नैव वाचा न मनसा प्राप्तं शक्यो न चक्षुषा, अस्तीति ब्रुवतेहन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।'' अर्थात् 'ब्रह्मवाक्य मन और चक्षु द्वारा अथवा किसी इन्द्रिय द्वारा निश्चित रूप से प्राप्ति का विषय नहीं। फिर उसके विषय में कैसे ज्ञान प्राप्त हो, इसके उत्तर में श्रुति कहती है-आस्तिक श्रद्धावान महापुरुष के निकट ही उसे जाना जायेगा। इस मन्त्र के भाष्य में

श्रीपाद शङ्कराचार्य ने लिखा है–''तस्मादस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्ववादिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्धधानादन्यत्र कथं तत् ब्रह्म उपलभ्यते न कथञ्चनोपलभ्यते इत्यर्थः। अर्थात् आस्तिक महापुरुष के सङ्ग और कृपा के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ब्रह्म को जानने का नहीं। श्रीशङ्कर ने अपनी टीका में यह दृढ़ता से प्रतिपादित किया है। सार्वभौम शास्त्र श्रीमद्भागवतगीता में भी कहा गया है–''उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः'' (४/३४)– 'हे अर्जुन! ज्ञानी अर्थात् शास्त्रज्ञ एवं तत्वदर्शी या अपरोक्ष अनुभव–सम्पन्न महापुरुष तुम्हें उस पारमार्थिक ज्ञान का उपदेश करेंगे।' इन सब शास्त्रवाणियों से सहज ही समझा जाता है कि कोई शास्त्र–अध्ययन कर शब्द ब्रह्म में कितना ही निष्णात क्यों न हो जाय, जब तक सत्सङ्ग द्वारा प्रत्यक्षअनुभव–सम्पन्न तत्वदर्शी महापुरुष की कृपा प्राप्त नहीं करता, तब तक उनकी अनर्थ–निवृत्ति या भक्ति–प्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं–''कृष्णभक्त सङ्ग करि, कृष्णभक्त अङ्ग हेरि, श्रद्धान्वित श्रवण कीर्तन।'' जब तक ऐसे कृष्णभक्त महापुरुष का सङ्ग नहीं मिलता, तब तक महत् पुरुषों द्वारा रचित शास्त्रादि अथवा महापुरुषों की व्याख्या वाले धर्मग्रन्थादि पाठ करना कर्तव्य है। यह भी एक प्रकार का सत्सङ्ग है। प्रसङ्गतः यह भी जानने की बात है।

अब कहते हैं–''अर्चन स्मरण ध्यान, नवभक्ति महाज्ञान, एइ भक्ति परम कारण।'' यहाँ श्रवण कीर्तन अर्चन स्मरण और ध्यान की बात कही गई है। 'ध्यान' स्मरण के ही अन्तर्गत है–''विशेषतो रूपादि चिन्तनं ध्यानम्'' (श्रीजीव) स्मरण परिपक्व होने पर ही ध्यान होता है, तब रूप आदि का विशेष चिन्तन होता है। इस प्रकार इस त्रिपदी में नवधाभक्ति के चार विशेष अङ्गों की बात कहकर 'नवभक्ति महाज्ञान' इस वाक्य में यह उल्लेख किया है कि नवधाभक्ति के सम्बन्ध में ही हमें विशेष ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है। ग्यारहवीं त्रिपदी के ''भागवत शास्त्र मर्म, नवविधभक्ति धर्म, सदाइ करिबो सुसेवन''–इस अंश की व्याख्या में हमने नवधा भक्ति के विषय में यथामति चर्चा की है। ''एइ भक्ति परम कारण'' अर्थात् इस नवधाभक्ति को ही प्रेमप्राप्ति का परमकारण या परम उपाय जानना होगा। (चै० च०) –

''भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधभक्ति।
कृष्णप्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति॥
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नामसङ्कीर्तन।
निरपराध नाम हैते हय प्रेमधन॥''८॥

हृषीके गोविन्दसेवा, ना पूजिबो देवी देवा,
एइतो अनन्यभक्ति कथा।
आर जत उपलम्भ, विशेष सकलि दम्भ,
देखिते लागये बड़ व्यथा॥१९॥

टीका –

देवी–पार्वत्यादयः। देवा–रुद्रादयः। उपालम्भ–श्रीकृष्णकथाश्रवणकीर्तनादिव्यतिरिक्तमन्यज्ञानं दम्भमात्रमेव स्यात्॥१९॥

हृषीकेश सेवन :

सुधाकणिका व्याख्या – श्रील ठाकुर महाशय ने पहले जिस अनन्य भजन की बात कही है, स्वयं उसी अनन्यभक्ति के लक्षण बताकर इस त्रिपदी में निरूपित कर रहे हैं कि उस अनन्य भजन के अतिरिक्त भजन विघातक सभी विषय त्याज्य हैं। ''हृषीके गोविन्दसेवा, ना पूजिबो देवी देवा, एइतो अनन्यभक्ति कथा''। श्रीनारद पञ्चरात्र में शुद्धभक्ति के लक्षण बताये हैं–

''सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृशीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते॥''

अर्थात् 'समस्त उपाधियों या इहलोक–परलोक की सभी प्रकार की कामनाओं का त्यागकर केवल कृष्णप्रीति के लिये अनुष्ठित होने के कारण जो निर्मल है, हृषीक या इन्द्रियों द्वारा हृषीकेश या इन्द्रियों के नियामक श्रीगोविन्द की वैसी (निर्मल) सेवा का नाम ही भक्ति है।' 'गोविन्द' नाम का भी एक अर्थ है–इन्द्रियों का नियामक या अधिपति। गो–इन्द्रिय, इन्द्रियों के अधीश्वर या हृषीकेश–इस त्रिपदी में 'गोविन्द' शब्द का यही श्लेषार्थ है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों (चक्षु, कर्ण, जिह्वा, नासिका, त्वक्), पाँच कर्मेन्द्रियों (वाक्, हाथ, पैर, उपस्थ, पायु) और अन्तरेन्द्रिय मन–इन ग्यारह इन्द्रियों से श्रीगोविन्दसेवन का नाम ही भक्ति है। चक्षुओं से श्रीगोविन्दविग्रह दर्शन, भक्त का श्रीमूर्ति दर्शन प्रेमप्राप्ति का एक अमोघ साधन है। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने लिखा है (भ० र० सि० १/२/२३९) –

''स्मेरां भङ्गित्रयपरिचितां साचिविस्तीर्णदृष्टिं,
वंशीन्यस्ताधरकिशलयामुज्ज्वलां चन्द्रकेण।
गोविन्दाख्यं हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे,
मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे! बन्धुसङ्गेऽस्ति रङ्गः॥''

'हे सखे! यदि बन्धु–बान्धवादि के साथ आमोद–प्रमोद करने की तुम्हारी वासना हो, तो केशी तीर्थ के निकट हास्यमय त्रिभङ्गी मुद्रा में विराजमान, विशाल वक्रनयन, वंशीरन्ध्रों पर अधर–पल्लव, मोरपङ्खयुक्त चूड़े से उज्ज्वल श्रीगोविन्द मूर्ति के दर्शन मत करना।' 'दर्शन मत करना' इस वाक्य में विपरीत लक्षणा से श्रीमूर्ति के दर्शनों की विपुल प्रशंसा ध्वनित हुई है। जिनके दर्शनमात्र से चित्त के समस्त इतर राग विदूरित होकर श्रीगोविन्द–अनुराग में नयन–मन रँग जायेंगे–यही व्यञ्जित है। पक्षान्तर से श्रीभगवत् विग्रह के दर्शन के बिना दर्शनेन्द्रिय अत्यन्त तिरस्कृत होती है। श्रीमद्भागवत (२/३/२२) में आता है–''वर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि

विष्णोर्न निरीक्षतो ये'' अर्थात् श्रीविष्णु के श्रीविग्रह दर्शन न करने से मानव के नेत्र मयूरपुच्छ के लेख की तरह जड़ या निरर्थक हैं। भगवद्भक्त के दर्शन से भक्ति का सञ्चार होता है। तभी हरिभक्तिसुधोदय में भक्त के दर्शन को नेत्रों का फल कहा गया है। ''अक्षणोः फलं त्वादृशदर्शनं हि'' ''त्वादृशानां कथञ्चित् त्वदनुकरणवतामपि दर्शनमेवाक्ष्णोः फलम्'' (टीका हरिभक्तिविलास) अर्थात् 'भक्त दर्शन की बात ही क्या, भक्त के भाव या वेश का अनुकरण करने वाले के दर्शन से भी नेत्र-धारण की फलसिद्धि होती है।'

कानों से श्रीगोविन्दकथा का श्रवण। प्रेमप्राप्ति के श्रेष्ठतम उपाय के रूप में इसका श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों में बार-बार यशोगान किया गया है। श्रीगोविन्दकथा किसी भी प्रकार से कानों में प्रविष्ट हो, उससे समस्त अनर्थादि नष्ट हो जाते हैं और श्रीगोविन्दचरणों में प्रेम प्राप्त होता है। ''यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे। भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥'' (भा० १/७/७)-'श्रीगोविन्दकथामय पारमहंस संहिता इस श्रीमद्भागवत का श्रवण करने से परमपुरुष श्रीकृष्ण में शोक-मोह-भय नाशिनी भक्ति उत्पन्न होती है।' श्रीगोविन्द कथा साक्षात् सुनने की बात दूर, सुनने की इच्छा मात्र से ही श्रीगोविन्द कथा सुनने के इच्छुक व्यक्ति के हृदय में तत्क्षणात् अवरुद्ध हो जाते हैं-यही श्रीमद्भागवत की उपक्रमवाणी है-''सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः श्रुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्'' (भा० १/१/२) ''सद्यएव हृदि अवरुध्यते वशीक्रियत इति प्रेमा सूचितः तस्य प्रेमैकवश्यत्वात्'' (सारार्थदर्शिनी टीका) - श्रीहरि स्वयं कथा श्रवणेच्छु के चित्त में तत्क्षणात् अवरुद्ध हो जाते हैं या वशीभूत हो जाते हैं; इससे प्रेम का उदय बताया गया है, कारण-वे एकमात्र प्रेम के ही वशीभूत होते हैं। पक्षान्तर से श्रीगोविन्दकथा श्रवण के अभाव में कान वृथा रन्ध्रों की तरह विफल होते हैं-''विले वतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य'' (भा० २/३/२०), अर्थात् आदमी के कर्णद्वय श्रीहरि-लीलाकथा श्रवण न करें, तो वे वृथा छिद्र मात्र हैं।

जिह्वा से श्रीगोविन्द के नैवेद्य का आस्वादन। श्रीगोविन्द-अधरामृत जीव की श्रीगोविन्द के अतिरिक्त अन्य विषयों की स्पृहा का विनाश करता है-''इतररागविस्मारणं नृणाम्'' (भा० १०/३१/१४)। उद्धवजी की उक्ति में श्रीगोविन्द-अधरामृत के सेवन से मायाजय की फलश्रुति देखी जाती है-

''त्वयोपभुक्तस्रग्-गन्ध-वासोऽलङ्कारचर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि॥''

(भा० ११/६/४६)

उद्धवजी ने श्रीकृष्ण से कहा-'हे नाथ! आपकी उपभुक्त माला गन्ध वस्त्र-अलङ्कार से विभूषित होकर आपके उच्छिष्टभोजी सेवक हम लोग आपकी माया को जय करने में समर्थ होंगे।' उद्धवजी ने श्रीकृष्ण को त्यागने में असमर्थ होकर ही उनके महाप्रसाद की महिमा का कीर्तन किया है। वस्तुतः महाप्रसाद सेवन से केवल मायाजय मात्र ही होती हो सो नहीं; इसके निषेवन से साधक प्रेम प्राप्त कर धन्य होता है। यहाँ तक कि प्रेमियों के चित्त में भी महाप्रसाद निषेवन की शाश्वत स्पृहा उदय होने की बात जानी जाती है। ब्रह्मपुराण उत्कलखण्ड

में वर्णित है कि नारदजी इस महाप्रसाद सेवा पर प्रलुब्ध होकर लक्ष्मीदेवी की सेवा करते हैं। देवी प्रसन्न होकर उन्हें श्रीनारायण का प्रसाद देती हैं। वह प्रसाद पाकर नारदजी महेश के पास आकर प्रसाद की महिमा का कीर्तन करते हैं। नारदजी के नख के कोने में लगी क्षुद्रतम प्रसाद-कणिका के सेवन से श्रीमन्महादेव में विपुल प्रेमोदय होता है। देवी पार्वती वह प्रसाद न पाकर दु:खी होती हैं और उस देवदुर्लभ महाप्रसाद का जगत् में आपामर जनसाधारण में वितरण करने के लिये तपस्या करती हैं। भगवान् देवी की प्रार्थना पूरी करने के लिये पुरुषोत्तम क्षेत्र में श्रीजगन्नाथ रूप में स्वयं प्रचुर नैवेद्य भोजन कर वही प्रसाद नित्य-निरन्तर वितरण कर रहे हैं। पक्षान्तर से महाप्रसाद त्यागने से श्रीहरि की करुणा से वञ्चित होना पड़ता है। ''उच्छिष्टेर बले हरिदास बल धरे। प्रभु विद्यमाने, उच्छिष्टेर पुरस्कारे॥ हेनो महाप्रसाद मुइँ ना भुञ्जिनु कभु। अन्तरे जानिलो मोरे वञ्चियाछे प्रभु॥'' (श्रीचैतन्यमङ्गल)

नासिका द्वारा श्रीगोविन्द-चरणों में अर्पित निर्माल्य का आघ्राण लेना। वैकुण्ठपति श्रीमन्नारायण के श्रीचरणों में लिप्त तुलसी के सौरभ से ब्रह्मा के मानसपुत्र श्रीसनक-सनन्दन आदि जैसे आत्मा-रामगण के चित्तों में भी प्रेम का सञ्चार हुआ, देह-मन में प्रेम का विकार प्रकट हुआ था-यह श्रीमद्भागवत (३/१५/४३) में वर्णित है-

''तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-किञ्जल्क-मिश्र-तुलसी-मकरन्दवायु:।
अन्तर्गत: स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्ष-रजुषामपि चित्ततन्वो:॥''

'कमलनयन भगवान् के श्रीचरणकमलों की केशर-मिश्रित तुलसी की मकरन्दयुक्त वायु नासा रन्ध्रों से अन्तर में प्रविष्ट होकर ब्रह्मानन्द-सेवी सनक आदि के भी चित्तों और देहों में सम्यक् क्षोभ उत्पन्न कर दिया था, अर्थात् चित्तों में अतिशय हर्ष और देहों में रोमाञ्च आदि प्रकट कर दिये थे।' अतएव यह समझ में आ जाता है कि श्रीगोविन्द के निर्माल्य का आघ्राण प्रेम का साधक है। पक्षान्तर से उसके सेवन के अभाव में मानव जीवन्मृत हुआ रहता है-''श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्या: श्वसञ्छगो यस्तु न वेद गन्धम्।'' (भा० २/३/२३)-जो व्यक्ति श्रीहरि के श्रीचरणों में अर्पित तुलसी का घ्राण नहीं लेता, वह श्वासप्रश्वास लेते हुए भी जीवन्मृत है।

उसी प्रकार त्वगिन्द्रिय से श्रीभगवद्भक्त की श्रीचरणरज का स्पर्श। जिसके बिना किसी प्रकार भी भगवान् के प्रति रति-मति का उदय नहीं होता। श्रीमद्भागवत-वचन है-''महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्'' (७/५/२५)। पक्षान्तर से महाभागवतों की श्रीचरणरज के निषेवन के बिना देह विफल रहती है-''जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलषेत यस्तु'' (भा० २/३/२३) 'जो मरणधर्मी मानव भगवद्भक्त का श्रीचरणरेणु ग्रहण नहीं करता, उसे जीवन्मृत ही समझना होगा।'

वागिन्द्रिय से गोविन्द के नाम-गुण-लीलादि का कीर्तन। कथा-वाचक को भगवान् कभी नहीं त्याग सकते-''मत्कथावाचक: नित्यं मत्कथा श्रवणे रतम्। मत्कथा प्रीत-मनसं नाहं त्यक्षामि तं नरम्'' (विष्णु-धर्मोत्तर) भगवान् ने कहा है-'जो नित्य मेरे कथावाचक, श्रोता और मेरी कथा में प्रीति-सिक्त-मानस हैं, उन्हें मैं कभी नहीं

त्याग सकता।' इसके अभाव में मानव की जिह्वा मेढ़क जिह्वा के समान रहती है-''जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः'' (भा० २/३/२०) अर्थात् जो जिह्वा श्रीहरि का गुणगान नहीं करती, उसे दुष्ट मेढ़कजिह्वा-जैसी समझना होगा।

इसी प्रकार हाथों से श्रीगोविन्द की सेवा, अन्यथा उनकी भी व्यर्थता। ''शावौ करौ नो कुरुत सपर्यां हरेर्लसत काञ्चनकङ्कणौ वा'' (भा० २/३/२१) अर्थात् आदमी के हाथ यदि श्रीहरि का सेवाकार्य न करें, तो समुज्जवल स्वर्ण कङ्कणों से शोभित होने पर भी मृत व्यक्ति के हाथों-जैसे समझने चाहिये। फिर भगवान् के लीलाक्षेत्र या श्रीधाम में जाने में ही पैरों की सार्थकता है, अन्यथा उन्हें स्थावर तुल्य कहा गया है-''पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरे र्यौ'' (भा० २/३/२२) अर्थात् जो पैर हरिक्षेत्र में गमन नहीं करते, उन्हें वृक्षमूल-तुल्य समझना होगा।

पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) इन दो कर्मेन्द्रियों द्वारा भगवान् की साक्षात् रूप से कोई सेवा न भी हो, ये एक दृष्टि से श्रीगोविन्द-सेवा के साधन हैं। ''उत्सर्गान्मलमूत्रादेश्चित्तस्वास्थयं यतो भवेत्। अतोपायोरुप-स्थस्य तदाराधनसाधनम्'' अर्थात् पायु और उपस्थद्वार से मलमूत्रादि उत्सर्ग द्वारा भजन-साधन के मूल उपादान ये देह-मन स्वस्थ रहते हैं, इसलिये प्रकारान्तर से ये दोनों भी भगवान् की आराधना के साधन विशेष हैं।

अन्तरेन्द्रिय 'मन' से ही मुख्य रूप से भगवान् की उपासना होती है, कारण-ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से भजन करने पर भी मनःसंयोगविहीन यान्त्रिक भजन से प्रेमप्राप्ति सुदूर ही छूटी रहती है। इसलिये प्रत्यनशील साधक इस बात का विशेषरूप से ध्यान रखें कि ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय का भजन मनः संयोग के साथ हो। मन में गोविन्द की स्मृति रहने से वे स्मरणकर्ता के निकट आकर उसे आत्मदान करते हैं। ''स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति'' (भा० १०/८०/८) अर्थात् जगद्गुरु श्रीकृष्ण अपने श्रीचरणकमल स्मरण करने वाले के निकट साक्षात् आविर्भूत होकर आत्मदान किया करते हैं। अर्थात् स्वयं को स्मरणकर्ता के वशीभूत कर देते हैं। इसीलिये पद्मपुराण में कहा गया है-''स्मर्तव्यः सततं विष्णोर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्। सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्करा:॥'' अर्थात् सर्वदा विष्णु को स्मरण करना कर्तव्य है, उन्हें कभी भुलाना उचित नहीं। शास्त्र की समस्त विधियाँ या कर्तव्य-उपदेश विष्णुस्मरणरूपी कर्तव्य विधि के अनुगत किङ्कर हैं तथा शास्त्र के समस्त निषेध अर्थात् अकर्तव्य-उपदेश विष्णु-विस्मरणरूपी निषेध-विधि के अनुगत किङ्कर हैं। तात्पर्य यही है कि विष्णु का स्मरण करने से शास्त्र की समस्त विधियों का पालन हो जाता है; दूसरे शब्दों में उनके विस्मरण में समस्त निषेध हो जाते हैं।

इस प्रकार इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियाधीश गोविन्द की सेवा करना और देव-देवियों की उपासना न करना ही 'अनन्यभक्ति' है। विविध फलों की कामना करने वाले लोग श्रद्धापूर्वक भिन्न देवताओं की उपासना किया करते हैं; कृष्ण सर्वदेवमय होने से वह उपासना उन्हीं की होती है, किन्तु उसमें प्रेम प्राप्ति की विधि न होने से उसे अविधिपूर्वक उपासना कहा गया है। ''येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥'' (गीता ९/२३)

इसके पश्चात् कहते हैं-''आर जतो उपालम्भ, विशेष सकलि दम्भ, देखिते लागये बड़ो व्यथा।'' श्रीकृष्ण-भजन के अतिरिक्त जगत् के देह-दैहिकादि विषयक किसी भी कार्य में मनुष्य की प्रवृत्ति हो-वह सभी आत्मा के लिये उपालम्भ या तिरस्कार मात्र ही है। कारण यह है कि कोई भी उसके स्वरूप का कार्य नहीं है, सभी अविद्या कल्पित देह के कार्य हैं और इसीलिये आत्मवञ्चना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। वह केवल इस देह-दैहिकादि विषय में दम्भ या अभिमान की ही सृष्टि करते हैं। इस प्रकार मायाबद्ध जीव का वृथा अभिमान देखकर चित्त में अत्यन्त व्यथा या पीड़ा का ही उद्रेक होता है, और कुछ नहीं॥१९॥

देहे बोइसे रिपुगण, जतेक इन्द्रियगण,
केहो कारो बाध्य नाहि हय।
शुनिले ना शुने कान, जानिले ना जाने प्राण,
दढ़ाइते ना पारे निश्चय॥२०॥

भजन में बाधा :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में भजन-उन्मुख व्यक्ति की भक्ति में प्राथमिक बाधाओं की बात बता रहे हैं। उन रुकावटों के कारण ही मनुष्य भजन की उपकारिता जानकर भी और यह समझते हुए भी कि उसी से आत्मा का प्रकृत कल्याण होगा वह दृढ़ता के साथ भक्ति-पथ पर अग्रसर नहीं हो पाता। उन्हीं बाधा-अवरोधों के कारण मनुष्य को सब जान-बूझकर भी अज्ञ (मूर्ख) की तरह देह-दैहिकादि या विषय-आसक्ति में ही इस मानवदेह का भजनोपयोगी सुदुर्लभ आयुष्काल बिताना पड़ता है। उन्हीं बाधा-विघ्नों की बात कही जा रही है-''देहे बोइसे रिपुगण, जतेक इन्द्रियगण, केहो कारो बाध्य नाहि हय।'' काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य ये षड़रिपु मानवदेह में सतत निवास करते हैं। संसार सागर में पड़ा मानव इन षड़रिपुओं-महाशक्तिशाली नक्र-मकरादि के कवल में ग्रसित हो इनके द्वारा निरन्तर चबाया जा रहा है। ये महाबलशाली हैं, अतिशय उद्दाम हैं। ये जब जड़ीय रूप-रस आदि के प्रति आदमी की इन्द्रियों को आकर्षित करते हैं, तब विद्वान की विद्या, बुद्धिमान की बुद्धि सब स्तिमित हो जाती है। अपनी शक्ति से तो मानव इनके कवल (ग्रास) से कभी मुक्ति नहीं पा सकता। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया था-''अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥'' (गीता ३/३६) 'हे कृष्ण! लोग इच्छा न होते हुए भी किसके द्वारा प्रयुक्त होकर मानो बलपूर्वक नियोजित की भाँति पापाचरण में प्रवृत्त होते हैं?' श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया है-''काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥'' (वही ३/३७)-'हे अर्जुन! यह काम ही क्रोध है। यह रजोगुण से उत्पन्न, अति दुष्पूरणीय एवं अतिशय उग्र है। इसी को शत्रु समझ।' कोई-कोई तो 'काम' शब्द से स्त्री-पुरुष की पारस्परिक मिलन-इच्छा ही समझते हैं। ऐसे सङ्कीर्ण अर्थ में भी काम शब्द का व्यवहार किया जाता है, किन्तु इसका व्यापक अर्थ है कामना या विषयवासना। यह काम या कामना अवरुद्ध होते ही क्रोध में परिणत हो जाती है, इसलिये काम या क्रोध एक ही है। यही कारण है कि उल्लिखित श्लोक में दोनों नामों का उल्लेख होने पर भी एक वचन का प्रयोग हुआ है। केवल क्रोध ही नहीं, अन्य चारों रिपु लोभ मोह मद मात्सर्य भी इस काम के ही रूपान्तर हैं। यह कामना उत्तम भोग्यद्रव्यादि या

धन-ऐश्वर्य के प्रति अति मात्रा में आकृष्ट हो, तो इसे 'लोभ' कहा जाता है। यह कामना या विषयवासना ही जब मानव को अनित्य अथवा नश्वर वस्तु में आसक्त किये रखती है, स्वरूप की उपलब्धि नहीं करने देती, या आत्मज्ञान को आच्छन्न कर देती है, तो इसका नाम होता है 'मोह'। फिर यह मोह या अज्ञान ही जब 'मैं धनी हूँ' 'मैं मानी हूँ' ऐसी अहमिका का आकार धारण करता है, तो उसी का नाम होता है 'मद'। फिर यही अहमिका जब दूसरे के पास अपने से अधिक धन प्रतिपत्ति देखकर अपने धन-मान आदि के गर्व को खर्व समझती है, तो चित्त में एक प्रकार का क्षोभ (असहनशीलता) उत्पन्न होता है-उसका नाम मात्सर्य या परश्री-कातरता होता है। यह हृदय की अत्यन्त जघन्य या कदर्य वृत्ति है और भक्ति या भजन का सर्वाधिक अन्तराय (बाधा-अवरोध) है। बाद में यह विशेषरूप से परिस्फुट होगा।

श्रीकृष्ण के नित्यदास जीव के आत्मज्ञान या स्व-स्वरूप की उपलब्धि में और साधन-भजन में प्रबल अन्तराय ये षड्रिपु इस मानवदेह में ही रह रहे हैं। इस देह में ही हैं ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ-वे ही इन्द्रियाँ जिनके द्वारा की जाने वाली हृषीकेश की सेवा को ही भक्ति कहा जाता है। पिछली त्रिपदी की व्याख्या में इसका विशद वर्णन किया गया है। अनादि काल की श्रीकृष्ण बहिर्मुखता के कारण मानव की ये इन्द्रियाँ स्वभावतः विषयमुखी हैं। आँखें सांसारिक रूप-सौन्दर्य देखने में निविष्ट हैं; कान सांसारिक उत्तम सङ्गीत ग्राम्यवार्ता आदि सुनने के प्यासे हैं, जिह्वा उत्तम मधुररसादि आस्वादन की लोलुप है, नासिका उत्तम गन्धादि आघ्राण के लिये व्यग्र है, त्वक् (त्वचा) कोमल सुखकर स्पर्शादि के लिये लालायित है। ज्ञानेन्द्रियों की तरह कर्मेन्द्रियाँ भी उसी प्रकार अपने-अपने विषयभोग में निविष्ट हैं। वाक्य ग्राम्य-वार्ता या इतर बातों में लगे हैं, हाथ-पैर सांसारिक कामों में पटु हैं और उपस्थ यौन सम्भोग में निविष्ट है। श्रीकृष्णबहिर्मुख जीव की इन्द्रियों का स्रोत अनादि काल से इसी प्रकार विषयों की ओर दौड़ रहा है। फिर देहस्थ काम आदि रिपुओं की ताड़ना से इनका वेग अतिशय प्रबल आकार धारण कर लेता है। इन रिपुओं की ताड़ना से ये इन्द्रियाँ जब मानव-मन को विषयक्षेत्र में आकर्षित करती हैं, तब विवेकी मन भी उस दुर्वार आकर्षण को नहीं रोक सकता। फलस्वरूप 'केहो कार बाध्य नाहि हय', अर्थात् काम आदि शत्रगुण इन्द्रियों के वश नहीं रहते, इन्द्रियाँ विवेकी मन की बात नहीं सुनतीं, मन भी बुद्धि के नियन्त्रण में नहीं रहता! इस प्रकार अनादि काल से जीव के चित्त में अबाध्य स्वेच्छाचारी रिपुओं और इन्द्रियों का ताण्डव चल रहा है!!

गीता में भगवान् ने अर्जुन से कहा है-

''इन्द्रियाणि परान्याहूरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेर्यः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्धवा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥''

(३/४२-४३)

'हे अर्जुन! इन्द्रियों को देह से श्रेष्ठ बताया जाता है। इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है; बुद्धि से जो श्रेष्ठ है, वह आत्मा है। हे महाबाहो! बुद्धि की अपेक्षा आत्मा को जानकर अपने द्वारा स्वयं को निश्चित कर अर्थात् अपने नित्य कृष्णदास स्वरूप की उपलब्धि कर अथवा यह जानकर कि देहेन्द्रियाँ आदि मायिक उपाधि मात्र हैं दुर्जय काम को जय करो। शास्त्र और महाजनों की वाणियाँ हैं-जीव कृष्ण का नित्यदास है, श्रीकृष्ण की सेवा ही उसका एकमात्र कर्तव्य है; देह-दैहिकादि अनित्य माया के दान हैं, जीव के अपने स्वरूप के साथ इसका कोई सम्पर्क नहीं; इसमें अभिमान स्थापित करना ही बन्धन का हेतु है, अभिमान त्यागने से ही जीवन्मुक्ति है। ऐसे शत-शत उपदेश सुनकर भी कान मानो सुनते ही नहीं, अर्थात् कृष्णेतर विषय-वार्ता आदि की ओर दौड़ते हैं। मन जड़ीय विषयों को लेकर नाना सङ्कल्प-विकल्प करता है। जान-सुनकर भी प्राणों में इन सब उपदेशों का कोई स्पन्दन नहीं जगता। एकमात्र परम तत्त्व भगवान् हैं और उनकी प्राप्ति का साधन एकमात्र भक्ति है-मनुष्य अपने विक्षिप्त चित्त में दृढ़ता के साथ इस बात का निश्चय नहीं कर पाता, इसकी धारणा नहीं कर सकता-''शुनिले ना शुने कान, जानिले ना जाने प्राण, दढ़ाइते न पारे निश्चय॥''२०॥

काम क्रोध लोभ मोह, मद मात्सर्य दम्भ सह,
स्थाने स्थाने नियुक्त करिबो।
आनन्द करि हृदय, रिपु करि पराजय,
अनायासे गोविन्द भजिबो॥२१॥

रिपु-दमन का उपाय :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय भजन के प्रबल अन्तराय काम आदि रिपुओं के दमन या वशीकरण का श्रेष्ठतम उपाय निरूपण कर रहे हैं-''काम क्रोध लोभ मोह, मद मात्सर्य दम्भ सह, स्थाने स्थाने नियुक्त करिबो''। श्रीकृष्णभजन-विरोधी रिपुओं को वशीभूत करने का श्रेष्ठतम उपाय है-श्रीकृष्ण-सम्बन्धी एक-एक विषय में एक-एक रिपु को नियुक्त करना। ज्ञानी योगी आदि साधक तो कामादि रिपुओं का विनाश किये बिना सिद्धि कभी प्राप्त नहीं करते। वे कठोर साधनों से इन रिपुओं का विनाश करने की चेष्टा करते हैं और कठोरता से इन्द्रिय-दमन का प्रयास करते हैं। किन्तु इन्द्रियों के द्वारों पर जो इन्द्रिय-अधिष्ठाता देवगण अवस्थान करते हैं, वे हैं भोगप्रिय। उन्हें कठोर त्याग या इन्द्रियनिग्रह कतई पसन्द नहीं। इसलिये वे जब विषय का प्रबल तूफान आते देखते हैं, तो जोर करके इन्द्रियद्वार खोल देते हैं। वह प्रबल अन्धड़ ज्ञानी के हृदय में प्रवेश कर उनके हृदय में स्थित ज्ञानदीप को बुझा देता है। तब पुनः संसारदशा भोगने के अतिरिक्त ज्ञानी साधक के पास और कोई उपाय नहीं रहता। हरिमाया अति प्रबल है; श्रीहरिचरणों में शरणागति या उनकी करुणा को छोड़ अपनी चेष्टा से कोई भी उस माया को पार करने में समर्थ नहीं होता। ''दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'' (गीता ७/१४) भगवान् ने अर्जुन से कहा-''मेरी जीवमोहिनी यह त्रिगुणात्मिका माया अतिशय दुरतिक्रमणीय है। जो मेरे शरणापन्न होते हैं, वे ही इस मायासागर को उत्तीर्ण करने में सक्षम हुआ करते हैं।' भगवान् के चरणों में शरणागत भक्तगण अति सुचतुर होते हैं; वे जानते हैं कि जो रस प्रिय है वह रस चाहेगा ही। जो इन्द्रियाँ कुत्सित रसप्रिय या विषयरसनिष्ठ हैं, उन्हें किसी उत्कृष्टतर रस का आस्वादन प्राप्त न हो, तो

वे उस घृण्य विषयरस का नशा त्यागने में कभी समर्थ नहीं होंगी। तभी ये भक्तगण ''तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्'' अर्थात् अति रुचिर प्रतिक्षण नव-नवायमान और चित्त-मन का परम आनन्ददायक भगवत्माधुर्यरस मन एवं इन्द्रियों के निकट पहुँचा देते हैं। तब मन एवं इन्द्रियाँ घृण्य या वीभत्स विषयरस-स्पृहा सदा-सदा के लिये त्यागकर उस भगवत् माधुर्यरससिन्धु में डूबकर सदा के लिये धन्य हो जाती हैं।

यही कारण है कि श्रीहरिचरणों में शरणागत भक्तगण काम क्रोध आदि रिपुओं की गति को इस प्रकार अति सुकौशल के साथ भगवदुन्मुखी किये रहते हैं कि ये रिपु अपनी स्वाभाविक शत्रुता त्याग कर अचिन्त्य शक्तिशाली भक्तिदेवी की करुणा से चिन्मय बन जाते हैं (ठीक उसी तरह जैसे स्पर्शमणि के स्पर्श से मलिन लोहा स्वर्णत्व पा लेता है)। और तब चिन्मयत्व पाये ये रिपु (काम क्रोध आदि) भक्तों के भजनपथ के महा सहायक या परम मित्र बन जाते हैं। यदि कोई शत्रु किसी पात्र के गुण से, काल के गुण से या स्थान के गुण से वैर त्यागकर महाबान्धव की तरह कार्य करता है, तो कौन बुद्धिमान् व्यक्ति उस शत्रु के विनाश की इच्छा करता है? भगवत् पादपद्मों में शरणागत भक्त के गुण से अथवा उसके हृदय में स्थित भक्ति के गुण से इन महारिपुओं के स्वभाव भी बदल जाते हैं। ''अरेर्मित्रं विषं पथ्यमधर्मो धर्मतां व्रजेत्। सुप्रसन्ने हृषीकेशे विपरीते विपर्ययः॥'' अर्थात् जिसके प्रति श्रीहरि प्रसन्न होते हैं, उसका शत्रु भी मित्र हो जाता है, उसे विष अमृत की तरह अमरत्व प्रदान करता है और अधर्म भी उसके निकट धर्म हो जाता है। उसके प्रति सभी कुछ विपरीत होकर उसकी सेवा किया करते हैं।

तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-हम लोग श्रीहरि के श्रीचरणाश्रित भक्त हैं; हम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य दम्भ आदि को ज्ञानी-योगियों की तरह विनष्ट करने की चेष्टा न कर गोविन्दसेवा के यथायोग्य स्थानों पर नियोजित करेंगे। अर्थात् श्रीहरि-भजन में जहाँ जिसकी उपयोगिता है, वहाँ-वहाँ उन्हें नियुक्त करेंगे। इस प्रकार इन्हें भजन के यथास्थानों में नियुक्त कर सकें, तभी इनका यथार्थ पराभव होगा। महत्व (उदार भाव) द्वारा ही दुष्ट शत्रु की यथायथ पराजय हुआ करती है।

पुराकाल में किसी एक महाशक्तिशाली दुष्ट राजा ने अपने पास के अपेक्षाकृत छोटे राज्य के एक प्रजा-अनुरञ्जक शिष्ट राजा की गुणावली सुनी, तो उसने मात्सर्यवश उसे पराजित कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। इस पर प्रजा उस दुष्ट राजा के प्रति अधिकतर क्षुब्ध होकर शिष्ट नरपति का और भी गुण-कीर्तन करने लगी। फलस्वरूप वह दुष्ट नृपति मात्सर्य की ज्वाला से इतना अस्थिर हो उठा कि उसने घोषणा की कि जो व्यक्ति उस भगोड़े राजा का मस्तक छिन्न कर लायेगा, उसे एक लाख मुद्रायें पुरस्कार दिया जायेगा। यह घोषणा सुनकर वह नरपति जङ्गल में प्रवेशकर दाढ़ी-मूँछ जटा धारण कर प्राण-रक्षार्थ तपस्वी के वेश में आत्मगोपन कर रहने लगा।

एक बार एक ब्राह्मण कन्यादायग्रस्त होकर उसी भले राजा को खोजता हुआ उसी वन में जा पहुँचा। दैवयोग से उसी तपस्वी वेशधारी राजा से उस राजा की बात पूछ बैठा। छद्मवेशी राजा बोला-'हे विप्र! आप अर्थ की आशा में उस हतभाग्य नरपति को खोज रहे हैं; वह तो आज राज्यत्यागी भिक्षुक है, वह आपको धन कैसे

देगा?' विप्र ने कहा-'हे महात्मन्! यदि आप उनके विषय में जानते हों, तो दया कर मुझे बताइये। मेरा दृढ़ विश्वास है, वे किसी भी अवस्था में हों, उन-जैसे महावदान्य व्यक्ति के साथ साक्षात्कार होने से मेरा अभाव निश्चय ही दूर जायेगा।' तब वह छद्मवेशी नरपति ब्राह्मण को तसल्ली देकर उसके साथ उसी दुष्ट राजा की सभा में गया और राजा से बोला-'हे महाराज! आपने घोषणा की है, अमुक राजा का मस्तक लाकर देने पर आप लाख मुद्रायें पुरस्कार में देंगे। मैं ही वह राजा हूँ; आप मेरा मस्तक छिन्न कीजिये और वे लाख मुद्रायें मेरे साथी इस दरिद्र ब्राह्मण को दीजिये, यह कन्यादायग्रस्त है।'

उस भले राजा की अद्भुत शिष्टता और लोकतीत उदारता देखकर दुष्ट राजा हतवाक् हो गया, उसके हृदय का आमूल परिवर्तन हो गया। उसने उस शिष्ट राजा के आगे घुटने टेककर अपने अन्याय आचरण के लिये क्षमा माँगी। उसका राज्य लौटा दिया और सदा के लिये सौहार्द्यपाश में बाँध लिया। इसी को दुष्टता का यथार्थ पराभव कहा जाता है।

इसी प्रकार कामादि रिपु साधक के प्राणघातक शत्रुओं की तरह कार्य किया करते हैं। यदि साधक उन्हें श्रीकृष्णभजन में लगा दे और उन्हें श्रीकृष्णमाधुर्यामृत आस्वादन करने का सौभाग्य प्रदान कर दे, तो वे साधक की अद्भुत शिष्टता और अलौकिक वदान्यता देख अवाक् विस्मय से स्तम्भित हो जाते हैं, साधक के प्रति शत्रुता त्यागकर उसके महा बान्धव की तरह कार्य करने लगते हैं। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-इन काम आदि रिपुओं को श्रीकृष्णभजन में यथास्थान नियुक्त करूँगा और ''आनन्द करि हृदय, रिपु करि पराजय, अनायासे गोविन्द भजिबो।'' शत्रु पराजय स्वीकार कर महा बान्धवों की तरह कार्य करेंगे, तो चित्त में आनन्द का उद्रेक होगा और अनायास ही श्रीकृष्णभजन की सुसिद्धि होगी। अर्थात् जैसे विषयी व्यक्ति के विषयकार्य अनायास (स्वाभाविक रूप से) सम्पन्न होते हैं, वैसे ही तब श्रीकृष्णभजन स्वाभाविक होगा, अनायास ही सम्पन्न होगा॥२१॥

कृष्णसेवा कामार्पणे, क्रोध भक्तद्वेषी जने,
लोभ साधुसङ्गे हरिकथा।
मोह इष्टलाभ बिने, मद कृष्ण-गुण गाने,
नियुक्त करिबो यथा तथा॥२२॥

काम आदि की कृष्णसेवा :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में काम आदि रिपुओं को श्रीकृष्णसेवा में नियुक्त करने के लिये यथायोग्य स्थानों का निरूपण कर रहे हैं। पहले कहते हैं-'**कृष्णसेवा कामार्पणे**'। श्रीकृष्णसेवा में काम को नियुक्त करूँगा। ''आत्मेन्द्रिय-प्रीति इच्छा तारे बलि काम'' ''कामेर तात्पर्य-निज सम्भोग केवल'' (चै० च०) इत्यादि वाक्यों से पता चलता है कि काम या कामना की गति अपने सुख की ओर है। यदि इसे श्रीकृष्ण-सुखार्थ नियुक्त कर दिया जाय, तो यह काम ही प्रेम में परिणत होकर परम पुरुषार्थ के रूप

में गिना जा सकता है। ''कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा-धरे प्रेम नाम'' ''कृष्ण सुख तात्पर्य-हय प्रेम तो प्रबल'' (वही) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण के सुखसाधन की इच्छा ही 'प्रेम' है। 'कम्' धातु के उत्तर घङ् प्रत्यय योग से 'काम' शब्द निष्पन्न होता है एवं 'प्री' धातु के उत्तर 'क्' प्रत्यय में प्रिय, उसके उत्तर भाववाच्य में 'इमन्' प्रत्यय योग से 'प्रेम' शब्द निष्पन्न होता है। 'कम्' और 'प्री' दोनों ही धातुओं का अर्थ है इच्छा। इसलिये 'काम' और 'प्रेम' शब्दों में धातुगत कोई भेद न होते हुए भी लक्ष्यगत विपुल भेद विद्यमान है। काम व्यभिचारी, बहु विषयगामी है; प्रेम एकनिष्ठ है, सिन्धुगामी गङ्गाधारा की तरह उसकी अविच्छिन्न गति है श्रीकृष्ण की ओर। काम का हेय अंश अर्थात् स्वसुख की इच्छा-चेष्टा निकल जाय और उससे भगवत्सुख की अनुकूलता सम्पन्न हो सके, तो यही काम परम पुरुषार्थ प्रेम के रूप में परिणत होकर परम प्रशंसा पा सकता है। जिस सीढ़ी से नीचे उतरा जाता है, उसी सीढ़ी से ऊपर चढ़ा जा सकता है, किन्तु लक्ष्य उतरते समय नीचे की ओर एवं चढ़ते समय ऊपर की ओर रखना होता है। उसी प्रकार जिन लोगों के काम या कामना का लक्ष्य स्वयं का सुख होता है, वे लोग विषय-साधना में बँधकर नाना योनियों में भ्रमण करते नरक आदि दु:ख भोगते रहते हैं। दूसरी ओर जो भजनपथ पकड़ते हैं, उनके हृदय का काम या कामना श्रीकृष्ण के सुख में लगकर भक्तिदेवी के प्रभाव से क्रमश: चिन्मय होकर अन्त में ह्लादिनी की सारवृत्ति के साथ तादात्म्य पाकर 'प्रेम' नाम प्राप्त करता है। श्रीमद्भागवत (११/११/२४) में स्वयं भगवान् ने उद्धवजी से कहा है-''मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन मदपाश्रय:। लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने॥'' 'हे उद्धव! मेरा आश्रित व्यक्ति मेरी प्रीति के लिये धर्म अर्थ और कामसमूह का आचरण कर सनातन पुरुष मुझमें प्रेम प्राप्तकर धन्य होता है।' श्रीकृष्ण-कामना के आचरण में समस्त जड़ीय विषय-कामनाओं का अवसान हो जाता है। भगवान् ने नारदजी से कहा है-''मत्काम: शनकै: साधु सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान्'' अर्थात् साधुगण मेरी कामना हृदय में लिये समस्त कामनाओं का विसर्जन कर देते हैं। अन्य कामनाओं से शून्य होकर कृष्ण-कामना से हृदय के पूर्ण होने का नाम ही **'प्रेम'** है।

तत्पश्चात् कहते हैं-''**क्रोध भक्तद्वेषिजने**''। मानव के महाशत्रु अनिष्टकारी इस क्रोध को साक्षात् रूप से कृष्णसेवा के किसी कार्य में नियोजित नहीं किया जा सकता, फिर भी इसे भक्तद्वेषी लोगों के प्रति नियुक्त करने से भक्ति की परिपुष्टि होती है। भक्तद्वेषी व्यक्ति भक्त की निन्दा करे या ऐसा कार्य करे जिससे भक्त के प्रति विद्वेष अभिव्यक्त हो, तब यदि साधक उसे सहन करता है और उस पर क्रोध या असहिष्णुता प्रकट नहीं करता, तो यह प्रमाणित नहीं होता कि वह श्रीविष्णु एवं वैष्णव में प्रीति रखता है। दक्षप्रजापति के यज्ञ में श्रीमन्महादेव की अवमानना देखकर सतीदेवी ने क्रुद्ध होकर कहा था -

''कर्णौ पिधाय निरियाद्यदकल्प ईशे धर्मावितर्यशृणिभि र्नृभिरस्यमाने।
छिन्द्यात् प्रसह्य रुषतीमसतां प्रभुश्चेज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत् स धर्म:॥''

(भा० ४/४/१७)

'यदि निन्दुक व्यक्ति धर्मरक्षक प्रभु का निन्दावाद कीर्तन करे और उसे सुनकर कोई उसे मारने या स्वयं मरने में समर्थ न हो, तो दोनों कान ढककर क्रोध से भरकर वहाँ से चला जाय; समर्थ होने पर निन्दा करने वाले की कुवाक्यवादिनी जिह्वा बलपूर्वक काट दे और तत्पश्चात् स्वयं प्राण त्याग दे-यही धर्म है।'

वैष्णवों के लिये भजनोपयोगी देह त्यागना अनुचित होने के कारण उनका कर्णद्वय आच्छादन कर श्रीविष्णु का स्मरण करते हुए वह स्थान त्याग देना ही विहित है। इससे समझ में आया कि सामान्य जनों का सर्वनाश करने वाला क्रोध या असहनशीलता जब भक्तद्वेषी के प्रति नियोजित होता है, तो वह वैष्णवों के भजन की परिपुष्टि करता है।

फिर **''लोभ साधुसङ्गे हरिकथा''**-लोभ का अर्थ है लालसा। जड़ीय विषयों में लोभ या लालसा जीव का महा अनिष्टकारी अथवा संसार रोग का मूल हेतु है, पर यही साधुसङ्ग में हरिकथा सुनने में नियुक्त होकर साधक को अनायास ही प्रेम देकर धन्य कर देता है और इसका आनुषङ्गिक फल यह निकलता है कि क्षुधा पिपासा भय मोह आदि भी नष्ट हो जाते हैं। प्रेमदातृत्व यथा ''तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः'' (भा० १२/३/१५) अर्थात् महत् के श्रीमुख से श्रीकृष्ण की यशोगाथा सुनने मात्र से श्रीकृष्ण में प्रेमभक्ति प्राप्त होती है।' क्षुधा-पिपासा आदि संसार धर्मों के नाश के विषय में देवर्षि नारद की प्राचीनबर्हि के प्रति उक्ति है-

''तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्रपीयूषशेषसरितः परितः स्त्रवन्ति।
ता ये पिवन्त्यवितृषो नृप गाढ़कर्णैस्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड् भयशोकमोहाः॥''

(भा० ४/२९/४०)

'हे राजन्! कोई-कोई यह सोचते हैं कि साधुसङ्ग के बिना स्वयं ही हरिकथा का चिन्तन आदि करें तो भगवान् में प्रेमभक्ति हो जायेगी, किन्तु यह अत्यन्त असम्भव है। जहाँ हरिकथामृत छोड़ अन्य कथा प्रसङ्ग नहीं, उस साधुसमाज में हरिकथारूपी सुधातरङ्गिनी चारों ओर सतत प्रवाहित होती है; उसी साधु-स्थान में बैठकर जो लोग एकाग्र चित्त से अघाये बिना (इससे लोभ का सङ्केत मिलता है) हरिकथा-सुधा पान करते हैं, उन्हें क्षुधा पिपासा भय शोक मोह स्पर्श नहीं कर सकते।' साधुसङ्ग में हरिकथा में लोभ ही परम पुरुषार्थ है; भगवान् ने महाराज पृथु को वर देना चाहा तो उन्होंने कहा था -

''ना कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महन्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो, विधत्स्व कर्णायुतमेष वे वरः॥''

(भा० ४/२०/२४)

'हे नाथ! महत्तमगणों के हृदय से उनके मुखकमल से निकला आपका गुणकीर्तनरूपी श्रीपाद-पद्म-मकरन्दरस प्राप्त न हो, ऐसी मुक्ति से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। आप मुझे दस हजार या असंख्य श्रवणेन्द्रियाँ दीजिये, जिससे मैं प्राण भरकर आपकी गुणकथा सुन सकूँ; मेरे लिये यही उत्तम वर है।' इससे समझ में आता है कि साधुसङ्ग में श्रीकृष्णकथा में जो लोभ है, उसकी परम पुरुषार्थता है।

तत्पश्चात् कहते हैं-**''मोह इष्टलाभ बिने''**। मानव की विषय-कामना या देह-दैहिकादि में आसक्ति

आत्मज्ञान को ढके रहती है, तत्त्ववस्तु को समझने नहीं देती; तब उसी को 'मोह' कहा जाता है। तत्त्वज्ञ भक्ति-साधक इस मोह को अपने इष्टलाभ अर्थात् भगवत्प्राप्ति या भगवान् की साक्षात् सेवा प्राप्ति के अभाव में भगवद्विरहजनित मोह या मूर्छा के रूप में ग्रहण कर भजन में नियोजित किया करता है। तात्पर्य यही है कि श्रीकृष्ण के श्रवण कीर्तन स्मरण आदि में साधक लोकातीत आनन्द प्राप्त करता है, पर इस आनन्द में भी यह आवश्यक है कि साधक के हृदय में साक्षात् प्राप्ति का अभाव-बोध या विरहोत्कण्ठा सतत जागरूक रहे। ऐसा न होने पर आत्मारामता की तरह एक अवस्था उदित हो जाती है, जो साधक की साक्षात् सेवाप्राप्ति में विलम्ब कर देती है। जैसे दम्पति के मिलन से ही सन्तान उत्पन्न होती है, वैसे ही प्रेम के साथ उत्कण्ठा का योग होने पर ही भगवद्दर्शन सम्भव होते हैं। श्रीरूप सनातन रघुनाथ आदि षड्गोस्वामिपाद साक्षात् श्रीमन्महाप्रभु के पार्षद थे, फिर भी इष्टलाभ के अभाव में उन सबने कैसी अलौकिक विरह-व्याकुलता दिखाई है, यह उनके चरित्र अनुशीलन करने से पता चलता है। उन लोगों की वह महा विरह-व्याकुलता या इष्ट के लिये सतत मोह मूर्छा आदि सुमेरु-शिखर की तरह संसार भर के भक्ति-साधकों के लिये चिर आदर्श बनी हुई है। यदि प्रयत्नशील साधक षड्रिपुओं में अन्यतम इस मोह को अपने इष्टविरह की नवीं दशा के रूप में ग्रहण कर लें, तो वे अविलम्ब अभीष्ट के दर्शन या सेवा पाकर धन्य हो सकते हैं।

अन्त में कहते हैं-"**मद कृष्णगुण गाने**"। 'मद' का अर्थ है अभिमान या अहङ्कार। यह भक्ति के लिये अत्यन्त विघातक है। अभिमानी व्यक्ति भगवान् से बहुत दूर है। "अहङ्कार-निवृत्तानां केशव नहि दूरगः। अहङ्कार-युतानां मध्ये पर्वतराशयः॥" अर्थात् जिनका अहङ्कार निवृत हो गया है, केशव उनके बड़े सन्निकट हैं; अहङ्कारी व्यक्ति से वे राशि-राशि पर्वत-व्यवधान की तरह दूर अवस्थित हैं। किन्तु बुद्धिमान् भक्तिसाधक इस अभिमान या मद को विनष्ट न कर मत्तता के रूप में श्रीकृष्ण-गुणगान में लगा देते हैं। ('मद' का एक अर्थ है मत्तता) अर्थात् भक्त श्रीकृष्ण-गुणगान में प्रमत्त होकर शीघ्र ही प्रेमसिद्धि प्राप्तकर धन्य हो जाता है। श्रीमद्भागवत (८/३/२०) में श्रीकृष्ण गुणगान में मत्तता भी परम पुरुषार्थ बताई गई है-

"एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं, वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।
अत्यद्भुतं यच्चरितं सुमङ्गलं, गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः॥"

भगवान् के स्तवप्रसङ्ग में गजराज बोले-"भगवत्पादपद्मों में शरणागत अनन्य भक्त कुछ भी कामना नहीं करते; वे अति अद्भुत और सुमङ्गलमय श्रीहरिचरित्र गायन में प्रमत्त होकर आनन्दरस-सागर में निमग्न रहते हैं।"

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'भक्ति साधना के महा अन्तराय (बाधाविघ्न) इन काम आदि रिपुओं को इस प्रकार भगवद्भजन में स्थान-स्थान पर नियुक्त कर इन्हें भक्ति साधना के सहायक बना लूँगा।' श्रील ठाकुर महाशय ने इससे पहली त्रिपदी में छह रिपुओं को भजन में विभिन्न स्थानों में नियुक्त करने का सङ्कल्प किया था। फिर जिस सुकौशल के साथ काम क्रोध लोभ मोह मद को भजन में नियोजित करने के स्थानों का निर्देश किया है, वह सत्य ही अति अपूर्व है। किन्तु वे षड् रिपुओं में अन्यतम मात्सर्य का स्थान नहीं खोज पाये। दूसरे का

उत्कर्ष देखकर उसे सहन न कर पाना, वह अच्छा न लगना अथवा मन का विमर्ष हो उठना-यही मात्सर्य है। षड्रिपुओं के स्थान निरूपण का सङ्कल्प करके भी ठाकुर महाशय इस मात्सर्य की बारी आने पर नीरव रहे हैं। इससे समझना होगा कि इस मात्सर्य रिपु का विनाश किये बिना भजन-अधिकार किसी प्रकार भी नहीं मिलता। निर्मत्सर सत् व्यक्ति ही भागवतधर्म के अधिकारी हैं। श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ही देखने में आता है-''निर्मत्सराणां सताम्'' (भा० १/२)। मात्सर्य का आभास भी हृदय में स्थान पा ले तो भक्ति के अधिकार से वञ्चित होना पड़ता है। इसलिये मात्सर्य को हृदय से विताड़ित करने के अतिरिक्त साधक के पास और कोई उपाय नहीं। इसे हृदय से दूर करने का एकमात्र उपाय है-उदारता और सरल प्राणों से सभी का प्रीति-सम्पादन करना। सभी में श्रीकृष्ण का अधिष्ठान है, इस बुद्धि से जीवमात्र को यथायोग्य सम्मान देना-''जीवे सम्मान दिबे जानि कृष्ण-अधिष्ठान'' (चै० च०)॥२२॥

अन्यथा स्वतन्त्र काम, अनर्थादि जार नाम,
भक्तिपथे सदा देय भङ्ग।
किबा से करिते पारे, काम क्रोध साधकेरे,
जदि हय साधु जनार सङ्ग॥२३॥

स्वतन्त्र काम और उसका उपशम :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय ने पिछली दो त्रिपदियों में काम क्रोध आदि रिपुओं को हरिभजन में नियुक्त करने की बात कहकर उसे स्थान निर्दिष्ट किये हैं। भक्त साधकों को यथास्थान कामादि को नियुक्त कर उन्हें परम बान्धव के रूप में परिणत कर उनकी सहायता से प्रेम प्राप्त करना होगा। यदि साधकभक्त इन्हें अपने-अपने स्थान पर नहीं लगाते, तो ये स्वतन्त्र स्वेच्छाधारी होकर भजन में अनर्थ उत्पन्न करेंगे ही। तभी कहा है-''अन्यथा स्वतन्त्र काम, अनर्थादि जार नाम, भक्तिपथे सदा देय भङ्ग''। भगवत्-कामना के अतिरिक्त देह-दैहिक का प्रयोजन साधने वाले विविध सांसारिक विषय-आशयों की कामना ही 'स्वतन्त्र काम' है। विषय-चिन्तन से ही स्वतन्त्र काम की उत्पत्ति होती है और इसी से क्रोध मोह आदि उत्पन्न होकर जीव को नरकगामी बनाते हैं। भगवान् ने अर्जुन से कहा है-

''ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥''
(गीता २/६२-६३)

निरन्तर विषयों का ध्यान करते-करते ध्यान करने वाले की उनमें आसक्ति जन्म लेती है। आसक्ति से काम या कामना और कामना बाधित होने से क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति में भ्रम, स्मृति में भ्रम होने से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से सर्वनाश होता है-अर्थात् जीव बार-बार संसार-दशा को प्राप्त होता है।'

जिन्होंने भजनपथ का आश्रय लिया है, वे यदि इस काम या कामना को श्रीकृष्ण-सेवाकार्य में नहीं लगाते, तो यह काम स्वतन्त्र स्वेच्छाचारी होकर भजन में अनर्थ उपस्थित करेगा। अनर्थ चार प्रकार का है-दुष्कृतोत्थ, सुकृतोत्थ, अपराधोत्थ एवं भक्त्युत्थ। विचार करने पर समझ में आयेगा कि इन चारों अनर्थों का मूल यह स्वतन्त्र काम ही है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश-ये पाँच प्रकार के क्लेश ही दुष्कृती से उत्पन्न हुए अनर्थ हैं। प्रारब्ध, अप्रारब्ध, कूट, बीजादि पापसमूह भी इन पञ्चक्लेशों के अन्तर्गत हैं। स्वतन्त्र या स्वेच्छाचारी कामना से ही इन सबकी उत्पत्ति है-यह सहज ही समझ में आता है। सुकृतोत्थ अनर्थ विविध भोग-अभिनिवेश हैं।

कोई-कोई इन सुकृतोत्थ अनर्थों को भी उक्त पञ्चक्लेशों के अन्तर्गत ही मानते हैं। इसलिये इनके मूल में भी है वही स्वतन्त्र काम। नामापराध ही अपराधोत्थ अनर्थ है, इसके मूल में भी स्वतन्त्र काम है, जो साधक-हृदय में नाना जड़ीय विषयों का आवेश उत्पन्न करा श्रीगुरु-वैष्णव की महिमा की उपलब्धि नहीं होने देता; फलस्वरूप श्रीगुरु-वैष्णव के प्रति साधारण मानवबुद्धि का उदय होता है और अपराध संघटित होते हैं। लाभ पूजा प्रतिष्ठा आदि की आशा ही भक्त्युत्थ अनर्थ है। इसके मूल में ही वही स्वतन्त्र कामना निहित है, कारण-साधक के चित्त में कृष्णेतर कामना रहने से भजनरसास्वादन का अभाव होता है और लाभ पूजा प्रतिष्ठादि की लालसा जगी रहती है। तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है-''अन्यथा स्वतन्त्र काम, अनर्थादि जार नाम'', अर्थात् इस स्वतन्त्र काम का नाम ही अनर्थ है और यही भक्त-साधकों के अखिल अनर्थों का मूलबीज है। 'अनर्थादि जार धाम'-यह पाठान्तर भी मिलता है। अर्थात् यह अनर्थसमूह इस स्वतन्त्र काम का ही धाम या प्रकाश है। स्वतन्त्र कामना से ही इनकी उत्पत्ति है।

तत्पश्चात् कहते हैं-''भक्तिपथे सदा देय भङ्ग''-यह स्वतन्त्र काम भजन जीवन में विविध अनर्थ उत्पन्न करा भक्तिमार्ग में सतत् बाधा-विघ्नों की सृष्टि करता है। अनर्थ ही प्रगतिशील भक्ति-जीवन का एकमात्र अन्तराय है। अनर्थ नष्ट होने पर साधक साधन-भजन में क्रमशः निष्ठा रुचि आसक्ति एवं भाव या रतिदशा में पहुँचकर अनायास ही प्रेम पाकर धन्य हो जाता है।

प्रश्न उठता है-मानव के हृदय में यह काम या वासना अनादि काल से ही स्वतन्त्र या स्वेच्छाचारी बनी हुई है और यह अति शक्तिशाली दुर्निवार है। साधक स्वयं की चेष्टा से इस उद्दाम विषयमुखी कामना को भगवन्मुखी करने में या श्रीकृष्णभजन में लगाने में समर्थ होगा? इसके उत्तर में कहा गया है-''किबा से करिते पारे, काम क्रोध साधकेरे, जदि हय साधुजनार सङ्ग''-सतत भजनरस में आविष्ट, विषयकामनाशून्य, नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव, पवित्रचेता साधुजनों का सङ्ग यदि थोड़ा-सा भी प्राप्त हो जाय, तो काम आदि रिपु अपना प्रभाव विस्तार करने में समर्थ नहीं होंगे। यदि कभी उनका थोड़ा-सा उद्रेक हो भी, तो महत् सङ्ग के प्रभाव से वे

शीघ्र ही शान्त हो जाते है; स्वतन्त्र होकर अनर्थ उत्पादन में सक्षम नहीं होते। विशेषत: 'साध्नोति साधयतीति साधु'' अर्थात् जो स्वयं साधन-भजन करते हैं और दूसरे से भी साधन-भजन कराते हैं, वे ही साधु हैं। उनके सङ्ग-प्रभाव से साधारण मानव भी भजनशक्ति प्राप्त कर कामादि रिपुओं को जीतने में और समस्त अनर्थों का विनाश करने में समर्थ होता है। सङ्ग की बात दूर, साधुओं के दर्शन से ही जीवों का महाकल्याण होता है। श्रीमद्भागवत (१०/१०/४१ एवं १०/८४/११) में आता है-

''साधुनां समचित्तानां सुतरां महत् कृतात्मनाम्।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोहक्ष्णोः सवितुर्यथा॥''
''न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्यरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥''

भगवान् ने नलकूबर मणिग्रीव से कहा-'जैसे सूर्य के उदय होने पर आँखों को देखने में कोई बाधा नहीं रहती, वैसे ही समदर्शी और मेरे प्रति समर्पितचित्त साधुओं के दर्शन से जीवमात्र का संसार-बन्धन और नहीं रहता।' 'जलमय तीर्थसमूह एवं मिट्टी-शिलामय देवगण जीवों को साधुगण की तरह पवित्र नहीं कर सकते, कारण-वे विलम्ब से या जन्मान्तर में पवित्र करते हैं, किन्तु साधुजन दर्शनमात्र से ही पवित्र कर देते हैं।'

कामादि रिपुओं को श्रीकृष्ण-सेवा में लगाने की जो बात कही गई है, वह एकमात्र महत् सङ्ग एवं महत् कृपा से ही सम्भव हो सकती है। हमने पूर्व त्रिपदी की व्याख्या में उद्धव के प्रति भगवान् की उक्ति का उल्लेख किया है-'मेरे लिये धर्म अर्थ और काम का आचरण कर शरणागत भक्त मुझमें प्रेम-भक्ति प्राप्त करते हैं।' इससे ठीक बाद वाले श्लोक में ही भगवान् ने कहा है-''सत्सङ्ग-लब्ध्या भक्त्या मयि मां स उपासिता। स वै दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम्॥'' (भा० ११/११/२५) ''नन्वेवम्भूत-भक्तिमार्गे प्रवृत्तिर्निष्ठा वा कथं स्यादित्याशंक्य तत्रहेतुमाह सत्सङ्गेति॥'' (क्रमसन्दर्भ टीका) यदि प्रश्न उठे कि शरणागत भक्त की भगवान् में कामादि अर्पणरूपी भक्ति में प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न होती है, तो इसके उत्तर में कहा जा रहा है-'भक्तगण साधुसङ्ग से प्राप्त भक्ति द्वारा उस प्रकार मेरी उपासना करते हैं और महद्गण द्वारा दिखाये मेरे पद अनायास ही प्राप्त करते हैं।' इसलिये साधुसङ्ग में ये कामादि और स्वतन्त्र रहकर भजन में अनर्थ सृष्टि नहीं कर सकते॥२३॥

क्रोध बा ना करे किबा, क्रोध त्याग सदा दिवा,
लोभ मोह एइतो कथन।
छय रिपु सदा हीन, करिबो मनेर भिन,
कृष्णचन्द्र करिया स्मरण॥२४॥

टीका -

''मामेवं ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ते'' इत्यानुसारेण कृष्णं स्मृत्वा रिपुं वशे नयेत्॥२४॥

क्रोधादि का कार्य और उसका प्रतिकार :

सुधाकणिका व्याख्या - इस त्रिपदी में क्रोध लोभ मोहादि का दोष और उनके प्रतिकार का उपाय बताया गया है-''क्रोध बा ना करे किबा, क्रोध त्याग सदा दिवा''। पिछली त्रिपदी में काम का दोष बताया, अब क्रोधादि का दोष बता रहे हैं। क्रोध मानव का महाशत्रु है; ऐसा असत् कार्य कुछ नहीं, जो क्रोध न कर सके। महाभारत में युधिष्ठिर ने द्रौपदी को क्रोध का कुफल बताया है-

''क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते।
क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्यात् गुरूनपि॥
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते।
वाच्यावाच्ये हि कुपितो त प्रजानाति कर्हिचित्।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा॥
हिंसात् क्रोधादवध्यांस्तु वध्यान् सम्पूजयेत च।
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद् यमसादनम्॥
क्रुद्धो हि कार्यं सुश्रोणि न यथावत् प्रपश्यति।
न कार्यं न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति॥''

(वनपर्व)

'हे सुश्रोणि! इहलोक में क्रोध मानव के विनाश का मूल है। क्रुद्ध व्यक्ति पाप कार्य करता है। यहाँ तक कि वह गुरु तक का वध कर देता है। जो मानव के लिये श्रेयः (कल्याणकारी) बताया गया है- क्रुद्ध व्यक्ति उसकी भी अवमानना कर देता है। क्रोध के वशीभूत होने पर वाच्यावाच्य ज्ञान नहीं रहता; जगत् में ऐसा कोई अपकर्म नहीं; जो क्रुद्ध व्यक्ति न कर सके। और ऐसा अवाच्य भी कुछ नहीं, जो वह न बोल सके। क्रोध की उत्तेजना में अबध्य बध्य हो जाता है और बध्य भी पूज्य हो जाता है। क्रुद्ध व्यक्ति स्वयं को यम के घर प्रेरित करता है। क्रुद्ध होने पर उसकी बुद्धि में नहीं आता कि किस कार्य का क्या फल होगा। उचित कार्य क्या है, मर्यादा की रक्षा कैसे की जाती है-क्रुद्ध व्यक्ति यह सब नहीं समझ सकता।'

इसके अतिरिक्त चिकित्साशास्त्र में इस क्रोध को अनेक रोगों का कारण भी बताया गया है-कहीं-कहीं मिरगी, उन्माद, मूर्छा, नाक हृत्पिण्ड और पाकस्थली से रक्तस्राव, रक्तवमन आदि। कभी-कभी क्रोध की उत्तेजना में मृत्यु होते भी देखी गई है। अतएव 'क्रोध बा ना करे किबा, क्रोध त्याग सदा दिबा'-हर समय इस क्रोध के हाथ से आत्मरक्षा करनी होगी। ''यस्तु क्रोधं समुप्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते। तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यते तत्त्वदर्शिनः॥'' (महाभारत वनपर्व) अर्थात् 'जो समुप्पन्न क्रोध को प्रज्ञा द्वारा वशीभूत करते हैं, पण्डितगण उन्हें तेजस्वी कहते हैं।' कृष्णभक्त दैन्य विनय से भूषित होकर इस महाशत्रु को सदा-सदा के लिये त्याग देते हैं। केवलमात्र वैष्णव-विद्वेषी के प्रति सहनशीलता की सीमा-रेखा में आबद्ध रहकर क्रोध उन भक्तों के भजन में सहायता करता है।

कहते हैं-''लोभ मोह एइतो कथन'', अर्थात् लोभ और मोह के विषय में भी यही जानना होगा। क्रोध की तरह इन्हें भी मानव का महाअनिष्टकारी जानकर इनके कवल से आत्मरक्षा का प्रयत्न करना होगा। लोभ कितना अनिष्टकारी है, इस सम्बन्ध में शास्त्र में उल्लेख है-

''लोभः प्रज्ञानमाहन्ति प्रज्ञा हन्ति हता ह्रियम्।
ह्रीर्हता बाधते धर्मं धर्मो हन्ति हतः श्रियम्॥''

(महाभारत उद्योगपर्व)

'लोभ प्रज्ञा को नष्ट करता है, प्रज्ञा नष्ट होने पर लज्जा का नाश होता है, अर्थात् लोभी व्यक्ति निर्लज्ज होकर परायी धन आदि लोभनीय वस्तुओं को ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है। लज्जा विनष्ट होने पर धर्म नष्ट होता है और धर्म के नष्ट होने से जो कुछ भी शुभ है वह सब विनाश को प्राप्त होता है।' हितोपदेश में आया है-

''लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रजायते।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम्॥
लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम्।
तृष्णार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः॥''

अर्थात् 'लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है, लोभ से काम जन्म लेता है, लोभ से मोह और विनाश उपस्थित होता है। एकमात्र लोभ ही पाप का कारण है। लोभ द्वारा बुद्धि विचलित होती है, लोभ से तृष्णा जन्मती है और तृष्णार्त व्यक्ति इहलोक-परलोक दोनों ही लोकों में दुःख पाता है।'

यह लोभ अतिशय दुर्वार है। इस पृथ्वी पर जितना धान्य, जौ, स्वर्ण है, जितने पशु हैं, स्त्रियाँ हैं-ये सब एकत्र कर यदि एक लोभी व्यक्ति को दिये जायें, तो भी उनसे उसके लोभ की निवृत्ति नहीं होगी।

''यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मन-प्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥''

(भा० ९/१९/११)

इस दुर्निवार लोभ की शान्ति भोग से कभी नहीं होती, तभी गीता में भगवान् ने कहा है-''विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः। निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥'' (२/७१) 'जो व्यक्ति समस्त कामनायें त्यागकर निस्पृह या निर्लोभ, निरहङ्कार, निमर्म या जड़ीय वस्तुओं के प्रति ममताशून्य होकर विचरण करता है, वही यथार्थ शान्ति प्राप्त करता है।' मानव लोभ एवं कामना त्याग कर जो सम्पदा प्राप्त करता है, उसकी कोई तुलना नहीं। महाराज भर्तृहरि ने राजा होकर भी वैराग्य-जीवन में राज्यसम्पदा से भी कहीं अधिक सुख अनुभव कर कहा था-

''भू पर्यन्को निजभुजलता कन्दुकं खं वितानं
दीपश्चन्द्रो विरतिवनितालब्धसङ्गप्रमोदः।

दिक्कान्ताभिः पवनचमरैर्वीज्यमानः समन्तात्
भिक्षुः शेते नृप इव भुवि त्यक्तसर्वस्पृहोऽपि॥''

(वैराग्यशतकम्)

'भिक्षु समस्त स्पृहा या लोभ त्यागकर राजा की तरह शयन किये हैं। विशाल धरणी ही उनका पलङ्ग है, स्वयं का हाथ ही तकिया है, आकाश चँदवे की तरह सिर पर फैला है, चन्द्रमा मणिप्रदीप की तरह स्निग्ध आलोक प्रदान कर रहा है, संसार में अनासक्ति ही वनिता की तरह उनकी चिर सङ्गिनी बनी है, दिक्‌रूपी कान्तायें पवनरूपी चँवरों से उनकी हवा कर रही हैं।'

भक्तगण यथालाभ से सन्तुष्ट होकर लोभ का साधुसङ्ग में हरिकथा में नियुक्त कर जड़ीय वस्तुओं की स्पृहा को सदा के लिये त्यागकर इसी प्रकार परमशान्ति प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार ज्ञान को ढकने वाले मोह को भी भजन में प्रबल रुकावट जानकर साधक उसे त्यागने की चेष्टा करें। ''मम पिता मम माता, ममेयं गृहिणी गृहम्। एवम्विधं ममत्वं यत् स मोह इति कीर्तितः॥'' (पद्मपुराण)–मेरे पिता, मेरी माता, मेरी गृहिणी, मेरा घर; जड़ीय वस्तुओं में सर्वत्र यह जो 'मेरा, मेरा' ज्ञान है, इसी का नाम '**मोह**' है। समस्त अनित्य या नश्वर वस्तुओं में आसक्ति का हेतु यह मोह ही है। मोह न होता, तो असार अनित्य देह–दैहिकादि में किसी का इतना लोभ या आसक्ति न जगती। स्वरूप के अनुसन्धान या आत्मतत्वज्ञान से परमार्थ लाभ कर शाश्वत आनन्द की खोज पाकर सभी धन्य हो सकते।

''का तव कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं वा कुत आयातस्तत्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः॥''

(मोहमुद्‌गर)

'कौन तुम्हारी स्त्री है? कौन तुम्हारा पुत्र है? यह संसार अत्यन्त विचित्र है। तुम किसके हो? कहाँ से आये हो? हे भाई! इस तत्व का चिन्तन करो।' योगवाशिष्ठ में महर्षि वशिष्ठ ने रामचन्द्र जी से कहा है–

''कृशोऽतिदुःखी बद्धोऽहं हस्तपदादिमानहम्।
इति भावातुरूपेण व्यवहारेण बध्यते॥
नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कस्मान्मयि स्थितः।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते॥
नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्य परो ह्यहम्।
इति निश्चयवानन्तः क्षीणाविद्यो विमुच्यते॥
कल्पि तैवमविद्येयमनात्मन्यात्मभावनात्।
पुरुषेणाप्रबुद्धेन न प्रबुद्धेन राघव॥''

अर्थात् ''मैं कृश हूँ, मैं अतिशय दुःखी हूँ, मैं बद्ध हूँ, मैं हाथ–पैरों आदि से युक्त मानव हूँ–इसे भाव के अनुरूप व्यवहार द्वारा मनुष्य मोहपाश में बँधता है। मैं दुःखी नहीं हूँ, मेरी देह नहीं है, मेरा बन्धन होगा कैसे?

– इस भाव के अनुरूप व्यवहार द्वारा वह मोहपाश से मुक्त होता है। मैं माँस नहीं हूँ, मैं अस्थि नहीं हूँ, मैं देह से भिन्न चिदात्मा हूँ–ऐसे निश्चयबोध द्वारा जिनके हृदय से अविद्या का क्षय हो गया है, वे विमुक्ति प्राप्त करते हैं। हे राघव! अज्ञानी अनात्मवस्तु में आत्मभावना द्वारा अविद्या की कल्पना करता है, विवेकी वैसा नहीं करता।'' श्रीकृष्णचरणों में शरणागत स्वरूप–अभिमान में स्थितप्रज्ञ भक्तजन श्रीकृष्ण की कृपा से जड़ीय विषयों में मोहपाश छिन्नकर श्रीकृष्ण–विरह में मोह को मूर्छारूप में नियुक्त कर श्रीकृष्ण का माधुर्यामृत आस्वादन कर धन्य होते हैं।

अन्त में कहते हैं–''छय रिपु सदा हीन, करिबो मनेर भिन, कृष्णचन्द्र करिया स्मरण'' अर्थात् श्रीकृष्णचरणाश्रित भक्तों को ज्ञानी–योगियों की तरह विपुल आयास (कष्ट, प्रचेष्टा) के साथ षड् रिपुओं को जीतना नहीं पड़ता। श्रीकृष्ण–शरणागति के प्रभाव से प्रबल शक्तिशाली रिपुओं की शक्ति स्वत: हीन या क्षीणतर हो जाती है; भक्त के स्मरण–मननिष्ठ मन पर उनका कोई प्रभाव प्रतिपत्ति नहीं रहती। भगवान् ने स्वयं कहा है–मेरी शरणागति के प्रभाव से माया और उसके कार्य रिपुगण के चंगुल से भक्त अनायास ही विमुक्ति प्राप्त कर लेते हैं–''मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'' (गीता) ॥२४॥

आपनि पालाबे सब, शुनिया गोविन्द–रव,
सिंहरवे जेनो करिगण।
सकल विपत्ति जाबे, महानन्द सुख पाबे,
जार हय एकान्त भजन॥२५॥

एकान्त भजन :

सुधाकणिका व्याख्या – इस त्रिपदी में कहा गया है कि भक्तों को साधना द्वारा काम–क्रोधादि रिपुओं को हृदय से विताड़ित नहीं करना पड़ता; वे स्वत: ही वहाँ से पलायन कर जाते हैं–'आपनि पालाबे सब, शुनिया गोविन्द रव, सिंहरवे जेनो करिगण''। जैसे सिंहनाद सुनकर मत्त हाथी भाग जाता है, वैसे ही श्रीगोविन्द के नाम गुण लीलादि की ध्वनि सुनकर क्रोधादि रिपु साधक के हृदय से स्वत: ही भाग जाते हैं।

शब्द का अर्थ है 'ध्वनि'। वस्तु या विषय को अनुभव करा देना ही शब्द–ध्वनि की शक्ति है। प्राकृत जगत् में जड़ीय वस्तु के नाम में भी शब्दशक्ति देखी जाती है। 'तेंतुल' (इमली) शब्द सुनते ही मुँह में पानी आ जाता है, 'भूत' शब्द सुनकर भय का सञ्चार होता है। प्राकृत वस्तु के शब्द में ही जब ऐसी शक्ति अनुभव की जाती है, तब इसमें क्या आश्चर्य कि श्रीगोविन्द के महाशक्तिशाली चिन्मय पराक्षरों को सुनकर साधक के हृदय से कामादि रिपु सदा–सदा के लिये पलायन कर जायेंगे। गोविन्द ने तो अपने समस्त नाम, गुण, लीलामय शब्दों में अपनी अखण्ड चिन्मयी शक्ति सदैव निहित कर रखी है! वस्तुत: श्रीगोविन्द का नाम गुणादि सुनने का मुख्य

फल है उनके श्रीचरणों में प्रेम-प्राप्ति; कामादि रिपुगण तो उसके आनुषङ्गिक परिणाम से ही भाग जाते हैं, यह समझना होगा। फिर 'रव' का ध्वनिगम्य अर्थ यही है कि जगत् के 'गोविन्द' नामक किसी भी व्यक्ति को पुकारिये, वह रव या शब्द सुनकर ही कामादि रिपु हृदय से भाग जाते हैं। स्कन्दपुराण में लिखा है-''गोविन्दनाम्ना यः कश्चिन्नरो भवति भूतले। कीर्तनादेव तस्यापि पापं याति सहस्रधा॥'' अर्थात् ''इस जगत् में जिस व्यक्ति का नाम 'गोविन्द' है, उसका नाम कीर्तन करने पर भी सहस्र-सहस्र पापसमूह विदूरित हो जाते हैं।'' इसी को नामाभास कहा जाता है। ''यद्यपि अन्यत्र सङ्केत हय नामाभास। तथापि नामेर तेज ना हय विनाश॥'' (चै० च०) भगवान् के नामसमूह नामी से सम्पूर्णतः अभिन्न होने से नामाभास में भी अपनी महिमा विशेष दिखाते हैं। 'आभास' शब्द का अर्थ है प्रतिबिम्ब। प्रतिबिम्बित सूर्य के आलोक का आकाश स्थित सूर्य के आलोक से अधिक मृदु होना ही स्वाभाविक है। उसी प्रकार आभास स्थल पर नाम भले ही किञ्चित् कम शक्ति दिखाये, तब भी इस नामाभास से चतुर्वर्ग में श्रेष्ठ पुरुषार्थ मुक्ति तक प्राप्त होती है। पापताप आदि या रिपु इत्यादि के नाश के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या!

इसके बाद कहते हैं-''सकल विपत्ति जाबे, महानन्द सुख पाबे, जार हय एकान्त भजन''। रिपुओं के पलायन करने पर साधक विपदमुक्त हो जायेगा, अर्थात् अनर्थ के नष्ट हो जाने से उसके चित्त में क्रमशः भजन-निष्ठा, रुचि एवं भगवान् में आसक्ति उदित होगी। तब साधक अविरत भजनानन्द या भगवत् सेवा-सुख पाकर धन्य हो सकेगा। तभी 'एकान्त भजन' अर्थात् अव्यभिचारी या निष्काम भजन सम्पन्न होगा। तात्पर्य यही है कि जितने दिन साधक के चित्त में कामादि रिपु रहते हैं, उतने दिन उसका चित्त-मन नानाविध कामना-वासनाओं या लाभ-पूजा-प्रतिष्ठा आदि की तरङ्गों से तरङ्गायित रहता है। यद्यपि उसने अनन्यभजन-पथ का ही आश्रय लिया है, तथापि चित्त में कामना-वासना की तरङ्गों के रहते भजन ठीक प्रकार से एकान्त या अव्यभिचारी नहीं होता। पतिनिष्ठ या पतिगतप्राण पतिव्रता का मन पति के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी आसक्त नहीं होता; किन्तु जिस स्त्री की वैसी पतिनिष्ठा नहीं है, उसका मन अन्य सुपुरुष को देखकर विचलित हो जाय, इस बात की सम्भावना रहती है। ठीक इसी प्रकार।

श्रील बलदेव विद्याभूषणपाद ने गोविन्द भाष्य (३/३/९) में लिखा है-''श्रीहरि की आराधना में लगे भक्तगण फलकामी भक्तों से श्रेष्ठ होने के कारण एकान्ती हैं, कारण-ये पारमार्थिक वस्तु में ही निष्ठावान् हैं। फिर इन एकान्ती भक्तों में भी वे भक्त परमश्रेष्ठ हैं, जिनके चित्त श्रीहरि के श्रीव्रजेन्द्रनन्दन स्वरूप में अनुरक्त हैं। उनके ऐकान्तिक अनुराग के आगे श्रीहरि को एकान्त वशीभूत होना पड़ा है।'' श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने भी लिखा है-''तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठो गोविन्दहृतमानसाः। येषां श्रीशप्रसादोऽपि मनोहर्तुं न शक्नुयात्।'' अर्थात् एकान्ती भक्तों में श्रीगोविन्द द्वारा हृत-मानस (जिनके मन गोविन्द ने हर लिये हैं) भक्त ही श्रेष्ठ हैं। वैकुण्ठनाथ भी उनका मनहरण नहीं कर सकते। फिर यह तो कहना ही पर्याप्त है कि अन्य विषय उनका मन हरण नहीं कर सकते। सभी प्रकार की निरपेक्षता-वाला एकान्तिभाव (अनन्यभाव) चार प्रकार का है-(१) धर्म के प्रति अनादर (२) कर्म-ज्ञान आदि की निरपेक्षता (३) विघ्न-व्याकुलता में भी रतिपरता (४) प्रेम में ही परता (लगाव)। इस प्रकार एकान्त भक्त ही श्रीहरि की विशेष कृपा से श्रीहरि के एकान्त प्रसाद-भाजन बनते हैं। श्रीहरि की कृपा से ही सभी प्रकार के अनर्थादि दूर होते हैं और शुद्ध भजनसम्पदा प्राप्त होती है। ऐसा भजनरसास्वादन कर वे यथार्थ आनन्द या सुख पाकर धन्य होते हैं। यही है इस त्रिपदी का निष्कर्ष-अर्थ॥२५॥

ना करिहो असत् चेष्टा, लाभ पूजा प्रतिष्ठा,
सदा चिन्तो गोविन्दचरण।
सकल विपत्ति जाय, महानन्द सुख पाय,
प्रेमभक्ति परम कारण॥२६॥

असत् चेष्टा और प्रतिष्ठाशा त्याग :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में असत् चेष्टा एवं लाभ पूजा प्रतिष्ठा रूपी भजन-बाधाओं की बात बताकर उनके प्रतिकार का निरूपण कर रहे हैं-''ना करिहो असत् चेष्टा, लाभ पूजा प्रतिष्ठा'' - असत् चेष्टा अर्थात् वे सब चेष्टायें, जिनके फल नित्य नहीं, अनित्य या क्षणभंगुर हैं। ऐसी चेष्टायें ही असत् हैं। श्रीकृष्ण, उनके भक्त एवं भक्ति विषयक चेष्टाओं के अतिरिक्त सांसारिक देह-दैहिकादि नश्वर वस्तुओं से जुड़ी सभी चेष्टायें 'असच्चेष्टा' हैं। कल्याणकामी भक्त को इन सब असत् चेष्टाओं से रहित होकर सतत् सच्चेष्टा में देह-इन्द्रियादि को लगाना होगा। सच्चेष्टा, अर्थात् भगवान् श्रीगुरु वैष्णव एवं भक्ति विषयक चेष्टा। प्रश्न हो सकता है-जो गृहस्थ भक्त सद्गुरुचरणाश्रय में भजनपथ पर चल रहे हैं, वे संसार यात्रा के निर्वाह के लिये व्यवसाय, नौकरी, कृषिकार्य आदि करते हैं, वह सब क्या असत् चेष्टायें हैं? इसके उत्तर में कहा गया है-वे सभी सच्चेष्टायें हैं, कारण-श्रीकृष्णचरणाश्रित भक्तों का संसार श्रीकृष्ण का संसार है। उन लोगों का गृह-दार, आत्मीय स्वजन, अर्थसम्पदा सभी श्रीकृष्णचरणों में समर्पित है। श्रीकृष्णसेवा के लिये ही उनके सारे गृहकार्यादि अनुष्ठित होते हैं; स्वतन्त्रभाव से आत्मपोषण के लिये नहीं। इसलिये यह भजन के पर्याय में ही आते हैं। वस्तुतः शरणागत भक्त की सभी चेष्टायें कृष्ण के लिये नियोजित और सभी श्रीकृष्ण के लिये अर्पित होकर व्यावहारिक कार्यादि भी प्रेम के साधक बनते हैं। श्रीकृष्ण ने स्वयं उद्धवजी से कहा है-''मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः। लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने॥'' (भा० ११/११/२४) 'हे उद्धव! मेरे आश्रित भक्त मेरी प्राप्ति के लिये धर्म अर्थ कामसमूह का आचरण कर मुझ सनातन पुरुष में निश्चला भक्ति प्राप्त करते हैं।' इस श्रीमुखवाक्य से यह स्पष्ट ही समझ में आता है कि भक्त के गृहधर्मादि, अर्थ या अर्थसाधक संसार-कार्यादि एवं कामना-वासना इत्यादि श्रीकृष्ण के निमित्त अनुष्ठित होने पर प्रेम के साधक होते हैं। हाँ, साधक को ध्यान रखना पड़ेगा, कहीं **'भाव के घर में चोरी न हो'।** अर्थात् मुँह से तो सब कृष्ण का ही है, और काम के वक्त वह आत्म-सुख के लिये नियोजित हो जाय-ऐसा न हो। आत्मसुख के लिये अनुष्ठित होते ही जड़ीय विषय-आशय संसार-बन्धन के हेतु होंगे और इसीलिये शास्त्र एवं महाजन-वाणियों में असत् चेष्टा त्यागने का निर्देश दिया गया।

इस असत् चेष्टा की तरह भक्त को लाभ, पूजा, प्रतिष्ठारूपी भक्ति के प्रबल अन्तराय को त्यागना होगा। इन अनर्थों को भक्त्युत्थ अनर्थ कहा जाता है, कारण-ये भजन के रूप में ही भक्त के निकट अपना परिचय देकर

'चोराबाली' की तरह भक्त की भजन-नौका को रसातल में ले जाते हैं। श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद ने प्रतिष्ठाशा को 'धृष्टा श्वपचरमणी' कहा है। ''प्रतिष्ठाशा-धृष्टा श्वपचरमणी मे हृदि नटेत्, कथं साधु-प्रेम स्पृशति शुचिरेतन्ननु: मन:॥'' (मन: शिक्षा)-'हे मन! प्रतिष्ठाशारूपी धृष्टा श्वपचरमणी मेरे हृदय में नृत्य कर रही है, साधुप्रेम इसे कैसे स्पर्श करेगा?' धृष्टा का अर्थ है निर्लज्ज। यह किसी भी प्रकार साधक का हृदय नहीं छोड़ना चाहती। श्रीहरिभक्तिविलास के अन्त में (२०/३७०) लिखा है-

''सर्वत्यागेऽप्यहेयाया: सर्वानर्थभुवश्च ये।
कुर्य्यु: प्रतिष्ठाविष्ठाया यत्नमस्पर्शने वरम्॥''

अर्थात् 'जो लोग सब कुछ त्याग करने में समर्थ हैं, वे भी सभी अनर्थों की मूल इस प्रतिष्ठाशा को त्यागने में समर्थ नहीं होते। अतएव इस प्रतिष्ठा-विष्ठा को स्पर्श न करना पड़े-साधक इस विषय में विशेष प्रयत्न करें।' श्रीचैतन्यचरितामृत में लाभ पूजा प्रतिष्ठा को भक्तिकल्पलता की उपशाखायें बताया गया है। श्रवण-कीर्तन आदि के जल से सिञ्चित होकर ये ही बढ़ती रहती हैं, मूल भक्तिकल्पलता स्तब्ध हो और नहीं बढ़ पाती। ''सेकजल पाइया उपशाखा बाढ़ि जाय। स्तब्ध हइया मूलशाखा बाढ़िते ना पाय॥ प्रथमेइ उपशाखार करिये छेदन। तबे मूलशाखा बाढ़ि जाय वृन्दावन।'' (चै० च०) श्रीहरि के नाम गुण लीलादि के आस्वादन के अभाव में ही ये लाभ पूजा प्रतिष्ठाशा साधक के हृदय में अपना प्रभाव विस्तार करते हैं। जिन लोगों का एकमात्र लक्ष्य भगवत्-प्रीति साधन है, वैसे निष्काम पवित्रचेता एवं भजननिष्ठ साधक यथालाभ में सन्तोष, दैन्य विनय आदि गुणों से भूषित होकर अनायास ही इन सब अनिष्ट-साधक अनर्थसमूह को दूर ही रखते हैं।

फिर कहते हैं-''सदा चिन्तो गोविन्द-चरण''। श्रेय:कामी साधक उक्त अनिष्टकारी भजन-अवरोधों को त्यागकर सर्वदा श्रीगोविन्दचरणों का चिन्तन करते हैं। यह 'चरण' शब्द भक्ति से भरकर ही लिखा गया है। वस्तुत: महामाधुर्यमय श्रीकृष्ण के नाम रूप गुण लीलादि के स्मरण से स्मरणकर्ता का चित्त गोविन्द में ही तन्मयता प्राप्त करता है। ठीक उसी तरह जैसे हर समय विषयों का चिन्तन करने वाले का चित्त विषयों में ही अभिनिवेश प्राप्त करता है। ''विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विसज्जते। मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥'' (भा० ११/२४/२७) ''विषयध्यानासक्तं चित्तं यथा विषय-माधुर्य-निमग्नं दृष्टं तथैव मदीय ध्यानासक्तं मन्माधुर्यमात्रनिमग्नं स्यात्'' (सारार्थदर्शिनी टीका) अर्थात् 'जैसे विषयध्यान में आसक्त चित्त विषयों के माधुर्य में ही मग्न हो जाता है, भगवत् चिन्तन आदि की उसकी और सामर्थ्य नहीं रहती; वैसे ही मेरे ध्यान में आसक्ति चित्त मेरे माधुर्य में ही निमग्न रहता है, उसकी अन्य किसी विषय का चिन्तन करने की अथवा जानने की प्रवृत्ति नहीं होती।

तत्पश्चात् कहते हैं-''सकल विपत्ति जाय, महानन्द सुख पाय, प्रेमभक्ति परमकारण''। अर्थात् यदि लाभ पूजा प्रतिष्ठादि त्यागकर सतत श्रीगोविन्दचरण-चिन्तन किया जाय, तो साधक की सभी विपद दूर हो जाती है, महानन्द या अतिशय सुखसम्पदा प्राप्त होती है और उसे प्रेमभक्ति प्राप्त करने का भी श्रेष्ठ कारण मानना होगा।

अथवा, जो प्रेमभक्ति श्रीकृष्ण-प्राप्ति का परमकारण या श्रेष्ठहेतु है, उससे वही प्रेमभक्ति प्राप्त की जाती है। इसलिये प्रेम प्राप्त करने के इच्छुक प्रत्येक साधक का कर्तव्य है कि असत् चेष्टा त्यागने का, लाभ-पूजा-प्रतिष्ठादि त्यागने का और निरन्तर श्रीगोविन्द-पदारविन्द चिन्तन का प्रयत्न करे। श्रीसूत मुनि ने शौनकादि ऋषियों को भगवत् पदारविन्द-चिन्तन का फल बताया है (भा० ११/११/५०)-''अविस्मृतिः कृष्ण पदारविन्दयोः क्षीणोत्यभद्राणि च शंतनोति। सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम्॥'' अर्थात् श्रीकृष्ण-पदारविन्दयुगल की निरन्तर स्मृति समस्त अमङ्गल विनाश करती है, परम मङ्गल विस्तार करती है, चित्त शुद्ध करती है और श्रीभगवच्चरणों में भक्ति का आविर्भाव कराती है एवं अनुभव तथा वैराग्ययुक्त ज्ञान प्रदान करती है॥२६॥

असत् क्रिया कुटि नाटी, छाड़ो अन्य परिपाटी,
अन्य देवे ना करिहो रति।
आपन आपन स्थाने, पिरीति सभाय टाने,
भक्तिपथे पड़ये विगति॥२७॥

टीका -

असत् क्रिया-दुष्ट क्रियाम् अधर्मं त्यज। भक्तिपथे चलितुं न समर्थः स्यात् सभाय-सर्वजनान् इत्यर्थः॥२७॥

भक्तिपथ में विगति :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में भक्तिपथ या भजन के कुछ ऐसे अनर्थों का उल्लेख कर रहे हैं, जो सहज में साधक के बुद्धिगोचर होना नहीं चाहते किन्तु कार्यतः भक्तिपथ पर अग्रसर होना रुद्ध कर देते हैं। पहले कहते हैं-''असत् क्रिया कुटि नाटी, छाड़ो अन्य परिपाटी''। प्रेम लाभ करने के इच्छुक भक्तिसाधकों को असत् क्रिया कुटिनाटी और अन्यान्य परिपाटियाँ त्यागनी होंगी। मिथ्या भाषण, निर्दय आचरण, जीवहिंसा, चोरी आदि 'असत् क्रिया' में आते हैं। ये असत् क्रियायें साधक-जीवन में किस प्रकार प्रश्रय पाकर भक्ति-विघातक अपराधों के रूप में प्रबल अन्तरायों में परिणत होती है, इस विषय में हम किञ्चित् प्रकाश डालने की चेष्टा कर रहे हैं।

भगवद्भक्ति का मुख्य फल है भगवत्प्रेम-जो श्रवण कीर्तन आदि शुद्धभक्ति-याजन से चित्त की अविद्या-मलिनता नष्ट कर भक्त के चित्त में समुदित होता है। भक्तिशास्त्र का यही सिद्धान्त है। इस प्रेमोदय के मार्ग में भयङ्कर अन्तराय (रुकावट) है अपराध। इस विघ्न के रहते श्रवण-कीर्तनादि से भी प्रेम प्राप्त नहीं होता, यह बात भक्तिशास्त्र में भलीभाँति बताई गई है। तभी वैष्णवों में अपराध का विचार प्रबल है। साधारणतः शास्त्रों में बत्तीस सेवापराधों और दस नामापराधों की बात कही गई है। इनके अतिरिक्त भी शास्त्र-विगर्हित साधारण

पापकर्म भजन-जीवन में अन्ततः गुरुतर नामापराध या सेवापराध बन जाते हैं और प्रेम-प्राप्ति के अवरोधक हो जाते हैं। जैसे बातचीतों में, क्रय-विक्रय में, हास-परिहास में मुक्त भाव से असत्य बोलना; दूसरे की वस्तु (ग्रन्थादि) बिना कहे ले लेना; और कहकर लेने पर भी उसके स्वामी के भूल जाने पर उसे न लौटाना; मक्खी-मच्छर खटमल चूहे इत्यादि को अबाध रूप से मारना; लोगों के प्रति आदान-प्रदान आदि व्यवहार में रूखे बोल बोलना या निर्दय आचरण आदि करना-ये सब असत् क्रियायें हैं। लोगों के लिये ये भले ही क्षुद्र पापकार्य हों, साधकों के लिये ये परिणामतः गुरुतर अपराध ही बनते हैं और प्रेमप्राप्ति में प्रबल अन्तराय होते हैं। अतएव प्रयत्नशील भक्त साधक को इन पर दृष्टि रखकर इन्हें त्यागते हुए ही भजनपथ पर चलना होगा।

इसी प्रकार कुटिनाटी का भी त्याग करना है। 'कुटि नाटी' अर्थात् कपटता और अन्यत्र अभिनिवेश (मनोयोग)। साधु गुरु वैष्णव और भगवान् के प्रति बाहर से अर्चना आदि का प्रारम्भ; भीतर हृदय में वैसी श्रद्धा या विश्वास का अभाव-इसी को 'कपटता' कहते हैं। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने भक्तिसन्दर्भ में लिखा है-वर्तमान या प्राक्तन (जन्मान्तर के) वैष्णव अपराध ही ऐसी कपटता के जनक हैं। यह कपटता भक्ति का प्रबल अन्तराय है। महत् कृपा के आश्रय में साधु गुरु वैष्णव के प्रति सरल व्यवहार द्वारा इस कपटता को दूर करना होगा। छल, चतुरता, प्रतारणा, वञ्चना, शठता, धूर्तता इत्यादि कपटता के पर्यायवाची शब्द हैं। इनका श्रीगुरु-वैष्णव के लिये प्रयोग हो, तो परिणाम में भयङ्कर अपराधजनक बन जाते हैं। पर ये सब उस प्रकार के व्यक्ति के मन में किसी प्रकार का अनुताप भी नहीं आने देते, वह तो वरन् यह सोचकर कि ठीक ही किया है बड़ा प्रसन्न होता है। इसका परिणाम यह निकलता है कि इन सबके दूर होने का रास्ता भी रुक जाता है। अतएव साधक को सदैव सतर्क रहना होगा कि ये सब किसी भी छिद्र से चित्त में प्रवेश करने का सुयोग न पायें।

अन्यत्र अभिनिवेश भी उसी प्रकार साधक के चित्त को नाना प्रकार के कृष्णेतर प्राकृत विषयों में निविष्ट किये रहता है। वैसे विषय-विक्षिप्त चित्त में भगवान् के स्मरण-मनन आदि की किसी प्रकार की सम्भावना नहीं रहती। सांसारिक प्राकृत वस्तुओं की नश्वरता, परिणामशीलता आदि के ज्ञात से तुच्छ घृणित प्राकृत विषयों में अभिनिवेश त्यागकर साधक भगवान् के नाम गुण लीलारस में अपने चित्त को अनुरञ्जित करने का प्रयत्न करें। अथवा, असत् क्रियारूपी कुटिनाटी त्यागें-यह व्याख्या भी की जा सकती है।

इसी तरह साधक को अन्य परिपाटी भी त्यागनी होगी। साधक के लिये श्रीकृष्ण-भजन-परिपाटी के अतिरिक्त देह-दैहिकादि के सुख-अनुसन्धान की परिपाटी का त्यागना नितान्त ही आवश्यक है, कारण-देह-दैहिकादि के सुख अभिनिवेश के रहने से भजन-अभिनिवेश का क्रमशः ह्रास होता जाता है। जिस परिमाण में अथवा जिस प्रकार से ग्रास-आच्छादन (खाना-पहनना) आदि साधक के भजन-साधन के अनुकूल हो, उसी परिमाण में ग्रहण करना चाहिये। उससे अधिक लेने से उसमें साधक की क्रमशः आसक्ति या अभिनिवेश उत्पन्न होकर भजन को खर्व करेगा। अपेक्षाकृत कम लेने से भी देह-मन की शुष्कता से भजन की हानि होने की सम्भावना है। भक्तिरसामृतसिन्धु में उद्धृत नारदीय वाक्य देखने में आता है-''यावता स्यात् स्वनिर्वाहः

स्वीकुर्यात्तावदर्थवित्। आधिक्ये न्यूनतायाञ्च च्यवतै परमार्थत:॥'' अर्थात् 'जिससे अपनी भक्ति या भजन का निर्वाह हो, प्रयोजनवेत्ता उसी के अनुरूप देह-दैहिकादि के लिये आवश्यक विषय स्वीकार करेंगे, अधिक या कम ग्रहण करने से परमार्थ से विच्युति होती है।' हम लोग बहुत बार देह-दैहिकादि के विषय में कितने ही कल्पित अभावों की सृष्टि कर बैठते हैं। 'मेरा इसके बिना काम नहीं चलता, उसके बिना नहीं चलता, इसके न होने से मैं काम नहीं कर सकता-इस प्रकार की बात कहकर और 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्प' इत्यादि शरणागति की बोली दुहराकर भजनदेह-रक्षा के बहाने प्रयोजन से अधिक देह-दैहिकादि के सुख-स्वाच्छन्द्यजनक नाना परिपाटियों के द्रव्यादि जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुत: देह-दैहिकादि की ऐसी नाना परिपाटियों में जड़ीय आवेश उत्पन्न होकर भजन खर्व कर देता है और भक्तिपथ पर सुगति के स्थान पर विगति हो जाती है, अर्थात् अग्रगति रुद्ध हो जाती है।

फिर कहते हैं-''अन्य देवे ना करिह रति'' अर्थात् परमेश्वर ज्ञान से ब्रह्म, रुद्रादि देवताओं से रति मत करना। कोई-कोई श्रीकृष्ण-उपासना करके भी अन्य देवताओं में प्रीतिपरायण होते हैं। कोई श्रीकृष्णचरणाश्रय लेकर भी कुलदेवता कहकर अन्याय देव-देवियों की आराधना त्यागने में समर्थ नहीं होते। कुछ ऐसे भी हैं जो अनन्यभक्ति की बात साधुओं से सुनकर या स्वयं ग्रन्थादि में पढ़कर श्रीकृष्ण-प्रसादी द्रव्य से अन्य देव-देवियों की आराधना कर सोचते हैं कि यह शुद्ध या अनन्यभक्ति के लिये हानिकर नहीं। फिर कोई अन्य देवताओं की प्रीतिवश श्रीकृष्णभजन का आश्रय लेकर भी गीता की श्रीमुख की वाणी की बात सुनकर अन्य देव-देवियों की आराधना करते हैं। वह वाणी है-''येहप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता:। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥'' अर्थात् 'हे कौन्तेय, जो लोग अन्य देवताओं में भक्तिमान् होकर श्रद्धायुक्त चित्त से उनकी पूजा करते हैं, वे लोग भी मेरी ही पूजा करते हैं, किन्तु वह अविधिपूर्वक होती है अर्थात् संसारमुक्ति, या भगवत्प्राप्ति की विधि उसमें नहीं रहती।' ये लोग इस वाणी को सुनकर अन्य देव-देवियों की आराधना करते हैं और यह आराधना 'विधिपूर्वक' हो इसके लिये उन्हीं देव-देवियों से कृष्णभक्ति की प्रार्थना करते हैं। यों विविध प्रकार से श्रीकृष्णभजनकारी लोगों को लक्ष्य कर कह रहे हैं, जो उपर्युक्त विविध प्रकार से अन्य देव-देवियों के प्रति प्रीतिपरायण हैं-''आपन आपन स्थाने, पीरिति सभाय टाने, भक्तिपथे पड़ये विगति''। उपर्युक्त किसी भी भाव से हो, श्रीकृष्णचरणाश्रित साधक अन्य देवता के प्रति प्रीतिपरायण न हों, कारण-प्रीति का स्वभाव है अपने स्थान पर आकर्षित करना। अन्य देवताओं से प्रीति करने पर वही प्रीति उन-उन देवताओं के प्रति चित्त को आकर्षित करेगी। इससे साधक के भक्तिपथ पर विगति आ जाती है, अर्थात् अनन्यभक्ति की हानि होकर भजन-साधन में अग्रगति का मार्ग रुक जाता है। हृदय की प्रीति पूरी तरह श्रीकृष्णचरणों में ही समर्पित करनी होगी, इसमें हिस्सेदारी (बँटवारा) करने से काम नहीं चलेगा। यदि किसी कृष्णभजनकर्ता की अन्य देव-देवी में प्रीति हो, तो वह भी एकनिष्ठभाव से श्रीकृष्ण की ही आराधना करे। श्रीकृष्ण आराधना के फलस्वरूप वे देव-देवी जितने सन्तुष्ट होंगे, उतने पृथक् रूप से अपनी सेवा ग्रहण कर कभी नहीं हो सकते॥२७॥

आपन भजन पथ, ताते होबो अनुरत,
इष्टदेव-स्थाने लीलागान।
नैष्ठिक भजन एइ, तोमारे कहिलो भाइ,
हनुमान ताहाते प्रमाण॥२८॥

नैष्ठिक भजन :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय यहाँ नैष्ठिक भजन की बात कर रहे हैं। अपने भजन में और भजनीय भगवान् में निष्ठा-इस त्रिपदी में दोनों ही प्रकार की निष्ठायें बताई गई हैं। पहले भजननिष्ठा की बात कहते हैं-''आपन भजन-पथ, ताते होबो अनुरत, इष्टदेव-स्थाने लीला-गान''-'अपने भजनपथ में अनुरत या निरन्तर अनुरक्त रहूँगा'। 'निष्ठा' का अर्थ है निश्चलता। निष्ठा के उदय होने पर भजन में सतत निश्चलभाव से स्थिति रहती है। साधुमुख से श्रीहरिकथा सुनते-सुनते अनर्थ नष्ट हो जाते हैं और भजन में निष्ठा जगती है। श्रीमद्भागवत में वर्णन है-

''शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यान्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥
नष्टप्रायेश्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्त्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥''

(भा० १/२/१७-१८)

अर्थात् 'साधुगण के सुहृत् भगवान् श्रीकृष्ण (जिनकी कथा का श्रवण-कीर्तन पवित्र बनाता है) अपनी कथा सुनने वालों के हृदय में प्रविष्ट होकर अमङ्गल अर्थात् अनर्थादि नष्ट कर देते हैं। नित्य भागवत-सेवा द्वारा अनर्थादि नष्ट प्राय हो जाने पर उत्तम श्लोक भगवान् में नैष्ठिक भक्ति का उदय होता है। अनर्थ की स्थिति में लय, विक्षेप, अप्रतिपत्ति, कषाय और रसास्वाद इन पाँच प्रकार के विघ्नों के रहने से भजन में निष्ठा का उदय होते नहीं देखा जाता। कीर्तन, श्रवण और स्मरण के समय उत्तरोत्तर अधिक निद्रा आने को 'लय' कहते हैं। इस कीर्तनादि में व्यवहारिक वार्तालाप ही 'विक्षेप' है। लय विक्षेप न रहने पर भी कभी-कभी कीर्तनादि में असामर्थ्य होती है, उसी का नाम 'अप्रतिपत्ति' है। क्रोध, लोभ, गर्व आदि के संस्कार को ही 'कषाय' कहते हैं। विषय-सुखोदय के समय कीर्तनादि में मन का अभिनिवेश न होना-इसी का नाम 'रसास्वाद' है। भजन के समय इन विघ्नों का अभाव ही भजन में निष्ठा उत्पन्न होने का लक्षण है। निष्ठा उदय होने पर साधक निरन्तर श्रवण-कीर्तनादि भजन करके भी श्रान्ति क्लान्ति का बोध नहीं करता। तभी अपने भजनपथ में अनुरत होने को ही या निरन्तर अनुरक्त रहने को ही नैष्ठिक भजन कहा गया है।

इस नैष्ठिक भजन में इष्टदेव के स्थान पर लीला-गायन एक अन्यतम भजनाङ्ग है। इष्टदेव का अर्थ है अपने अभीष्ट अर्चाविग्रह। श्रीगुरु या वैसे महामहद् वैष्णव भी श्रीहरि की तरह आराध्य होने के कारण इष्टदेव हैं। इन सबके निकट अपने अभीष्ट भगवान् की लीलाओं का गायन प्रेम पाने का अव्यभिचारी उपाय है। भगवान् अपनी स्वयं की लीलायें सुनकर अत्यन्त आनन्द प्राप्त करते हैं। श्रील विल्वमङ्गल ठाकुर के श्रीमुख से अपना गुणानुवाद सुनकर श्रीकृष्ण ने परमानन्द प्राप्त कर स्वयं उनके काव्य का नाम रखा है-'श्रीकृष्णकर्णामृतम्'। गुरुदेव एवं भक्तमहानुभवगण की भी विशेष सेवा है उन्हें श्रीकृष्णलीलागान सुनाना। इस भजनाङ्ग द्वारा श्रीगुरु वैष्णव और भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त हो जाय, तो साधक के लिये और कुछ भी अलभ्य नहीं रहता।

अथवा, 'इष्टदेवस्थाने' का अर्थ है-श्रीकृष्ण के लीलास्थान श्रीवृन्दावन आदि धामों में रहते हुए श्रीकृष्णलीलाओं का गायन। यह भजन का एक श्रेष्ठ अङ्ग है। वृन्दावन धाम श्रीकृष्णलीलाओं का महाउद्दीपन क्षेत्र है। यहाँ वक्ता के भीतर श्रीकृष्णलीलारस की जैसी स्फूर्ति होती है, वैसी अन्यत्र कहीं भी सम्भव नहीं। फिर व्रजधाम में उस प्रकार के श्रीकृष्णलीलागायन से व्रजवासी महामहद्गण की सेवा सुसम्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप साधक एक अनिर्वचनीय पुरुषार्थ प्राप्तकर कृतार्थ हो जाता है। मेरे परमाराध्य श्रीश्रील गुरुमहाराज ने एक बार कहा था-''श्रीहरिकथा द्वारा श्रीवृन्दावनवासी वैष्णवों की सेवा भगवान् को प्राप्त करने से भी कहीं अधिक उच्चतम सम्पदा प्राप्त करना है।'' तात्पर्य यह है कि भगवान् को प्राप्त करते ही उनका आस्वादन किया जा सकेगा, सो नहीं-असुरगण इसके प्रमाण हैं-किन्तु वृन्दावनवासी परम महद् भक्तों के साथ श्रीहरिकथा के श्रवण-कीर्तन में भगवत् रस का सुचारु आस्वादन हो जाता है। तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है-

''इष्टदेव स्थाने लीलागान''।

इसके बाद कहते हैं-''नैष्ठिक भजन एइ, तोमारे कहिलो भाइ, हनुमान् ताहाते प्रमाण''। भजन में निष्ठा की बात कहकर अब श्रीहनुमान का दृष्टान्त देकर भजनीय अपने अभीष्ट स्वरूप के प्रति निष्ठा की चर्चा कर रहे हैं। हनुमानजी की इष्टनिष्ठा के दृष्टान्त के सम्बन्ध में श्रीमत् सनातनगोस्वामिपाद ने श्रीवृहद्भागवतामृत के श्लोक १/४/१०७ की टीका में जो लिखा है, उसका तात्पर्य यह है-''एक बार द्वारकापुर में श्रीद्वारकानाथ ने श्रीगरुड़ आदि के गर्वभञ्जनरूपी कौतुक के लिये और भगवान् के स्वयं के पादपद्मों में भक्ति विषयक अनन्यता ख्यापन हेतु गरुड़जी को आदेश दिया-'हे गरुड़! तुम किम्पुरुषवर्ष जाकर मेरी आज्ञा सुनाकर हनुमान को मेरे पास लेकर आओ।' गरुड़जी ने तदनुसार वहाँ पहुँचकर हनुमानजी से कहा-'हे हनुमते! भगवान् द्वारकानाथ श्रीयादवेन्द्र ने आपका आह्वान किया है, शीघ्र ही चलिये।' श्रीहनुमान श्रीरघुनाथ के चरणारविन्दों में एकनिष्ठ भक्ति रखते हैं और उन्हीं की सेवा में निमग्न रहते हैं, इसलिये इस भय से कि श्रीरघुनाथपदों में एकनिष्ठता भङ्ग हो जाय उन्होंने गरुड़जी की बात का आदर न किया। इस पर गरुड़जी क्रुद्ध होकर उन्हें बलपूर्वक द्वारका ले जाने के लिये उन्हें उठाने के लिये प्रस्तुत हुए, तो हनुमानजी ने उन्हें अपनी पूँछ के अग्रभाग से अवहेलना के साथ दूर फेंक दिया। गरुड़जी उसी क्षेपण से सुदूर द्वारकापुर जाकर गिरे। भगवान् ने उन्हें विह्वल देखकर सहास्यवदन कहा-'हे गरुड़! तुम फिर जाओ, हनुमान से कहो-श्रीरघुनाथ ने आह्वान किया है।' श्रीकृष्ण श्रीरामचन्द्र बने,

श्रीबलराम लक्ष्मण हुए, सत्यभामा को सीता बनने के लिये कहा। सत्यभामा सीतारूप धारण करने में असमर्थ हुई, तो भगवान् ने उपहास किया ❋ और रुक्मिणीदेवी को सीता रूप धारण करने को कहा। रुक्मिणीजी के सीतारूप धारण करने पर उन्हें बायीं ओर कर द्वारका में सिंहासन पर बैठे। इधर गरुड़जी ने पुनः हनुमानजी के पास पहुँचकर उनसे भगवान् की बात कही। हनुमानजी सुनते ही परमानन्द में विह्वल हो उठे, फिर भी तत्क्षणात् छलाँग मारकर द्वारका जा पहुँचे; भगवान् को अपने अभीष्ट रघुवरस्वरूप में देखकर अपनी सेवा से सन्तुष्ट किया। भगवान् ने उनकी अभीष्ट-इष्टनिष्ठा देखकर परम प्रसन्न होकर उन्हें अभीष्टवर प्रदान किया।'' इसके पश्चात् हनुमानजी की श्रीमुखवाणी के रूप में एक श्लोक उद्धृत करते हैं॥२८॥

श्रीनाथे जानकीनाथे चाभेदः परमात्मनिः।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः॥२९॥

टीका -

श्रीनाथे लक्ष्मीपतौ श्रीनारायणे, जानकीनाथे सीतापतौ श्रीरामचन्द्रे च अभेदः स्वरूपतो भेदो नास्ति। यतः परमात्मनि-द्वौ एव परमात्मनौ इत्यर्थः। तथापि कमललोचनो रामो मम सर्वस्वं श्रीरामचन्द्रं बिना मम किमपि धनं नास्तीत्यर्थः। अनेन स्वाभीष्टनिष्ठायाः परावधित्त्वं दर्शितम्॥२९॥

अनुवाद -

श्रीहनुमान कहते हैं, लक्ष्मीपति श्रीनारायण और सीतापति श्रीरामचन्द्र दोनों ही अभिन्न परमात्मा हैं, अतएव दोनों में कोई भेद नहीं। तथापि कमललोचन श्रीरामचन्द्र ही मेरे सर्वस्व-सम्पद हैं॥२९॥

इष्टनिष्ठा :

सुधाकणिका व्याख्या - भक्त की इष्टनिष्ठा बताने के लिये श्रीहनुमान के श्रीमुख की वाणी उद्धृत की गई है। भगवान् के विभिन्न स्वरूपों में अपने उपास्य-स्वरूप में भक्त की ऐकान्तिकी (अनन्य) निष्ठा सविशेष प्रशंसनीय है, कारण-एक विशेष स्वरूप में भक्तहृदय के प्रगाढ़ आदर भरे भाव की अभिव्यक्ति रहती है। इससे भगवान् के अन्यान्य स्वरूप अनादृत या उपेक्षित होते हों, ऐसा नहीं है, कारण-एक विशेष स्वरूप के प्रति गाढ़ आदरमय भाव प्रकट होने से समस्त स्वरूप ही समादृत हो जाते हैं, क्योंकि ''अनन्तरूपे एकरूप नाहि कोनो भेद'' (चै० च०)। भगवान् के अनन्तरूपों में एकरूपता और एकरूप में अनन्तरूपता के अभेद या ऐक्य

❋ यहाँ सत्यभामादेवी की श्रीसीतारूप धारण करने में जो असामर्थ्य है, वह उनकी शक्ति की न्यूनता की परिचायक नहीं। वह तो उत्कृष्टता की ही परिचायक है। सीतादेवी के भाव के साथ रुक्मिणीदेवी के भाव का सादृश्य है, किन्तु सत्यभामादेवी भावविशेष में श्रीकृष्ण के प्रति मानिनी भी हुई हैं, यह सीतादेवी में सर्वथा असम्भव है।

का सूत्र निहित है। वस्तुत: एक स्वरूप में भक्त की प्रगाढ़ आदरमय निष्ठा से भगवान् के अन्यान्य स्वरूप परम प्रसन्न ही होते हैं। पिछले श्लोक की व्याख्या में श्रीवृहद्भागवतामृत की जो गरुड़-हनुमान की आख्यायिका उद्धृत हुई है, उससे यही बात दृढ़ता के साथ प्रमाणित होती है।

श्रीहनुमान श्रीराघवेन्द्र के प्रति अनन्य निष्ठा रखते हैं। इस श्लोक में कहते हैं-''लक्ष्मीपति श्रीनारायण और सीतापति राघवेन्द्र दोनों में कुछ भी भेद नहीं है, कारण-दोनों ही स्वरूपत: अभेद परमात्मा हैं; तथापि श्रीराघवेन्द्र ही मेरे सर्वस्व-सम्पद हैं।'' श्रीराघवेन्द्र ही उनके हृदय में अधिकार किये विराजमान हैं। शयन, स्वपन, ध्यान, मनन, श्रवण, कीर्तन-किसी भी स्थिति में वे श्रीरामचन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानते। इस निष्ठा से श्रीहरि उनसे विशेष रूप से सन्तुष्ट हैं। ऐसी निष्ठा अतिशय प्रशंसा का विषय है ही। नीलाचल में श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद ने श्रीमन्महाप्रभु के आगे अपने कनिष्ठ भ्राता श्रीअनुपम की श्रीराम के प्रति दृढ़ निष्ठा की चर्चा की थी -

''सेइ अनुपम भाइ बालक-काल हैते।
रघुनाथ-उपासना करे दृढ़ चित्ते॥
रात्रिदिने रघुनाथेर नाम आर ध्यान।
रामायण निरवधि शुने करे गान॥
आमि आर रूप ताँर ज्येष्ठ सहोदर।
आमा दोंहा सङ्गे सेहो रहे निरन्तर॥
आमा-सभा-सङ्गे कृष्णकथा भागवत शुने।
ताँहार परीक्षा आमि कैलो दुइजने॥
शुनहो वल्लभ! कृष्ण परम मधुर।
सौन्दर्य माधुर्य प्रेम विलास प्रचुर॥
कृष्णभजन करो तुमि आमा-दोंहार सङ्गे।
तिन भाइ एकत्र रहिबो कृष्णकथा रङ्गे॥
एइमत बार बार कहि दुइजन।
आमा दोंहार गौरवे किछु फिरि गेलो मन॥
'तोमा दोंहार आज्ञा आमि कतेक लङ्घिबो।
दीक्षामन्त्र देहो कृष्णभजन करिबो॥'
एतो कहि रात्रिकाले करे विचारण।
केमने छाड़िबो रघुनाथेर चरण॥
सब रात्रि क्रन्दन करि कैलो जागरण।
प्रात:काले आमादोंहा कैलो निवेदन-
रघुनाथेर पदे मुइँ बेचियाछों माथा।
काढ़िते ना पारों माथा पाउँ बड़ो व्यथा॥

कृपा करि मोरे आज्ञा देहो दुइजन।
जन्मे जन्मे सेबों रघुनाथेर चरण॥
रघुनाथेर पादपद्म छाड़न ना जाय।
छाड़िबार मन हैले प्राण फाटि बाहिराय॥'
तबे आमि दोंहे तारे आलिङ्गन कैलो।
'साधु दृढ़भक्ति तोमार' कहि प्रशंसिलो॥

× × ×

गोसाइँ कहेन-एइ मत मुरारि गुपते।
पूर्वें आमि परीक्षिलो, तार एइमते॥
सेइ भक्त धन्य जे ना छाड़े प्रभुर चरण।
सेइ प्रभु धन्य जे ना छाड़े निज जन॥''

(चै० च० अन्त्य०, परि० ४)

भगवान् के किसी एक विशेष स्वरूप में भक्त की ऐसी निष्ठा उत्पन्न हो, तो ऐसे निष्ठावान् भक्त के प्रति भगवान् की भी वैसी ही विशेष करुणा और स्नेह की अभिव्यक्ति होती है। प्रसङ्गवश एक अन्य बात भी जानने की है। भगवान् के किसी एक स्वरूप में ऐसे निष्ठावान् भक्त की निष्ठा विशेष देखने में आती है, तो निष्ठा की दृष्टि से (श्रीहनुमान की तरह) वह विशेषरूप से प्रशंसा भी प्राप्त करती है। फिर भी, रसघन विग्रह, माधुर्यमूर्ति ''रासानां रसतमः'' स्वयं भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन के उपासक जो माधुर्य-आस्वादन प्राप्त करते हैं, वह अन्य किसी भगवत् स्वरूप के उपासक के लिये सम्भव नहीं-यह बात कही जायेगी भक्तिसाधना के मूल लक्ष्य माधुर्यास्वादन की दृष्टि से! विशेषतः श्रीकृष्ण के किशोर स्वरूप में ही माधुर्य की सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है और व्रजबालायें अपनी महाभावरूपी असमोर्द्ध भाव-सम्पदा द्वारा श्रीकृष्ण की उसी असमोर्द्ध माधुरी का आस्वादन करती हैं। उन्हीं व्रजबालाओं में सर्वश्रेष्ठ हैं राधारानी। उनकी चक्षु कान आदि पञ्चेन्द्रियाँ श्रीकृष्ण-रूपादि की आस्वादक (विषयी) हैं और प्रेम ही आस्वादन का करण या द्वार है। जैसे श्रीकृष्ण का माधुर्य अखण्ड असीम है, वैसे ही श्रीराधा का प्रेम भी अखण्ड सीमाहीन है; इसलिये अकेली श्रीराधा ही अपने अखण्ड मादन महाभाव द्वारा श्रीकृष्ण की निःसीम माधुरी का आस्वादन करने में सक्षम होती हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं-

''एइ प्रेमद्वारे नित्य राधिका एकलि।
आमार माधुर्यामृत आस्वादे सकलि॥''

(चै० च०)

श्रीराधा का वह आस्वादन जीवों के लिये सम्भव नहीं, फिर भी श्रीराधा के आनुगत्य में उनके दास्य के प्रति प्रलुब्ध हों, तो भाग्यवान् जीव श्रीराधा की कृपा से वह आस्वादन पाकर धन्य हो सकते हैं। इस विशेष कलियुग में श्रीमन्महाप्रभु और उनके श्रीचरणाश्रित श्रीश्रीरूप-सनातन आदि आचार्यपाद राधा की किङ्करी मञ्जरी के भाव से श्रीश्रीराधामाधव की जिस युगल-उपासना का प्रचार कर गये हैं, उसी में भगवत् माधुरी

आस्वादन की चरम पराकाष्ठा है। श्रील ठाकुर महाशय की इस प्रेमभक्ति चन्द्रिका में बाद में इस विषय पर विशेष रूप से चर्चा होगी। प्रसङ्गवश हमने यहाँ इसका किञ्चित् उल्लेख मात्र किया है॥२९॥

देवलोक, पितृलोक, पाय तारा महासुख,
साधु साधु बोले अनुक्षण।
युगल भजन जारा, प्रेमानन्दे भासे तारा,
ताहार निछनि त्रिभुवन॥३०॥

टीका -

नृत्यन्ति पितरः सर्वे नृत्यन्ति च पितामहाः। मद्वंशे वैष्णवो जातः स मे त्राता भविष्यति॥ मञ्चाः क्रोशन्तीति न्यायेन त्रिभुवनशब्देन त्रिभुवनस्थिता जनाः॥३०॥

युगल भजनानन्द :

सुधाकणिका व्याख्या - अनन्यभजन-निष्ठ भगवत्परायण भक्त सदैव अपने उपास्य भगवान् की आराधना में निविष्ट रहें, कभी अन्यान्य देवताओं की आराधना न करें, कारण-इससे उनकी अनन्यभक्ति की हानि होती है-यह पहले बताया गया है। अब प्रश्न उठता है, पितृऋण एवं देवऋण का परिशोध करने के लिये देवगण और पितृगण की आराधना की बात सुनी जाती है, उस ऋणशोधन का क्या उपाय है? अर्थात् पितृगण इस देह आदि की प्राप्ति के हेतु होते हैं और देवगण वृष्टि आदि देकर देहरक्षा के हेतु होते हैं, इसलिये उन लोगों की आराधना की विधि शास्त्रों में देखने को मिलती है-पिण्डदान आदि द्वारा पितृगण की आराधना और यागयज्ञ या भोग आदि अर्पण द्वारा देवगण की। जो लोग अन्य किसी देवता की आराधना न कर एकनिष्ठ भाव से भगवत्सेवापरायण हुए हैं, उनके लिये इस पितृऋण और देवऋण के शोधन का क्या उपाय है? इसी के उत्तर में कहा जा रहा है-''देवलोक पितृलोक, पाय तारा महासुख, साधु साधु बोले अनुक्षण।'' वृक्ष के मूल में जल डालने से वृक्ष की शाखा-प्रशाखा सभी परम परितुष्टि प्राप्त करती हैं। उसी प्रकार सर्वदेवों और पितृगण के मूलस्वरूप श्रीकृष्ण की आराधना से समस्त देव-देवियाँ एवं पितृमातृलोक परम सुख पाते हैं। तभी ''काम त्यागि कृष्णभजे शास्त्र-आज्ञा मानि। देव-ऋषि-पित्रादिकेर कभु नहे ऋणी॥'' (चै० च०) श्रीमद्भागवत (११/५/४१) में महर्षि करभाजन निमि राजा से कहते हैं-

''देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥''

'हे राजन्! जिन्होंने सभी प्रकार के कृत्य कर्म छोड़कर सभी प्रकार से शरणागतपालक श्रीमुकुन्द की शरण ली है, वे देवता ऋषि पोष्य-कुटुम्ब आदि या पितृगण के और ऋणी नहीं रहते, इसलिये वे उन लोगों के किङ्कर भी नहीं हैं।' इस श्लोक की टीका में श्रीधरस्वामी ने लिखा है-''भक्तस्य विधिनिषेधनिवृतेः कृतकृत्यतामाह

देवर्षीति। आप्ता: पोष्या: कुटुम्बिन: इतरे देवादय: पञ्चयज्ञदेवता: एतेषां यथा अभक्त ऋणी अतएव तेषां किङ्करस्तदर्थं नित्यं पञ्चयज्ञादिकर्ता।.....अयन्तु न तथा। कोऽसौ य: सर्वभावेन श्रीमुकुन्दं शरणं गत:। कर्तं कृत्यं परित्यज्य। यद्वा कर्तं भेदं परिहृत्य। कृतीछेदन इत्यस्मात्। वासुदेव: सर्वमिति बुद्ध्येत्यर्थ:।'' अर्थात् 'भक्त के विधिनिषेध स्वत: निवृत्त हो जाने से उन लोगों की कृतकृत्यता या कृतार्थता की बात इस श्लोक में कही गई है। ''आप्ता:'' का अर्थ है पोष्यजन या कुटुम्ब समूह। अन्यान्य देवादि अर्थात् पञ्च यज्ञदेवता। विष्णुभक्तिविहीन साधारण मनुष्य इनके निकट ऋणी हैं, अतएव इनके किङ्कर भी हैं–इसलिये ये नित्य पञ्चविध यज्ञ किया करते हैं। जो सभी प्रकार से श्रीमुकुन्द के शरणागत हुए हैं, वे इनकी तरह नहीं हैं। किस प्रकार शरणागत हुए हैं? सभी प्रकार के कृत्य–अकृत्य कर्म या भेद त्यागकर, अर्थात् सभी श्रीवासुदेव हैं इस बुद्धि से।' सभी के मूल श्रीवासुदेव के सन्तुष्ट होने से (वृक्ष–मूल में जलसिञ्चन से शाखा–प्रशाखादि की तरह) अन्यान्य देवता, पितृगण, भूतगण सभी अपनी सेवा की अपेक्षा सहस्र गुना अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि कुल में वैष्णव के जन्म लेने से परलोक में पूर्वपुरुष महासुख से नृत्य करने लगते हैं। वे सोचते हैं–ये ही हमारे कुल के परित्राणकर्ता होंगे। ''नृत्यन्ति पितर: सर्वे नृत्यन्ति च पितामहा:। मद्वंशे वैष्णवो जात: स मे त्राता भविष्यति॥'' श्रीकृष्णभजनकर्ता भक्तों के प्रति परम प्रसन्न होकर देवगण 'साधु साधु' कहकर निरन्तर उनकी भूरि–भूरि प्रशंसा करते हैं।

इसके पश्चात् कहते हैं–''युगल भजन जारा, प्रेमानन्दे भासे तारा, ताहार निछनि त्रिभुवन'' – जो श्रीराधाकृष्ण का भजन करते हैं, वे प्रेमानन्द रससागर में डूबे रहते हैं; तीनों लोकों के लोग परम भक्ति के साथ उनका निर्मञ्छन करते हैं। ❋ यह युगल–उपासना अति रहस्यमय और वेदगोप्य है। इस विशेष कलियुग में श्रीगौराङ्ग महाप्रभु की अनर्पितचरी करुणा (पहले कभी नहीं दिखाई गई, ऐसी करुणा) का अवदान है; उनके श्रीचरणाश्रित आचार्यपादगण द्वारा सम्पूर्ण रूप से आचरित और विश्व में प्रचारित है। श्रीश्रीराधामाधव का युगलस्वरूप ही परतत्त्व की चरमसीमा और सम्बन्धतत्त्व की पराकाष्ठा है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने अपने तत्त्व, परमात्म, भगवत् और श्रीकृष्ण इन चार सन्दर्भों में सम्बन्धतत्त्व का निरूपण कर सबसे पीछे कहा है–''तदेवं सन्दर्भचतुष्टयेन सम्बन्धो व्याख्यात:। तस्मिन्नपि सम्बन्धे श्रीराधामाधवरूपेणैव प्रादुर्भावस्तस्य सम्बन्धिन: परम: प्रकर्ष:। तदुक्तं श्रुत्या 'राधया माधवो देव' इति। एतदर्थमेव व्यतानिषमिमा: सर्वा अपि परिपाटीरीति पूर्ण: सम्बन्ध:॥'' (श्रीकृष्ण सन्दर्भ: अनु० १८९) तात्पर्य यही है कि 'श्रीभगवत्सन्दर्भ के चार सन्दर्भों में सम्बन्धतत्त्व या उपास्यतत्त्व की व्याख्या हुई है। सम्बन्धतत्त्व भगवान् का बहुविध प्रकाश है। उसमें श्रीराधामाधवरूप में जो प्रादुर्भाव है, उसी में परम उत्कर्ष विद्यमान है। कारण यह है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं–समस्त भगवत्–स्वरूपों के मूल तत्त्व हैं। ऐश्वर्य में, भगवत्ता में परिपूर्णतम तत्त्व होते हुए भी वे साक्षात् माधुर्य की ही मूर्ति हैं। अधरबिम्ब में मधुर, मन्दहास्य में मञ्जुल, अमृतनाद में शिशिर, दृष्टिपात में शीतल, वेणुनाद में विश्रुत–ऐसा भगवत्स्वरूप और दूसरा नहीं है। फिर मादनाख्य महाभाववती श्रीराधारानी के सान्निध्य में श्रीकृष्णमाधुर्यसिन्धु

❋ ''ताहार निछनि त्रिभुवन'' – ''मञ्चा: क्रोशन्तीति' न्याय से अर्थात् 'मञ्च रव कर रहे हैं' इस बात से लोगों का रव ही समझा जाता है, कारण–मञ्च का रव करना सम्भव नहीं। उसी प्रकार त्रिभुवन की आरति सम्भव नहीं, इसलिये त्रिलोकी के लोगों द्वारा निर्मञ्छन ही जानना होगा।

अत्यन्त उत्ताल हो उठता है!! तभी श्रुति कहती है- 'राधाद्वारा माधव दीप्तिमान्' इत्यादि। श्रीराधामाधव का परम उत्कर्ष बताने के लिए यह सब विचारविमर्श किया गया था। श्रीवृन्दावन में युगलित (कुञ्जविहार-परायण) श्रीश्रीराधामाधव परमस्वरूप और परतत्त्व की चरम सीमा के रूप में निश्चित होने से यह सम्बन्ध-विचार पूरा हुआ।'

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'जो युगलभजन करते हैं, वे प्रेमानन्द में डूबे रहते हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का जो भगवत्स्वरूप जैसा है, अर्थात् जिस परिमाण में अंश और कला है, उस स्वरूप के भक्तों में वैसे ही परिमाण में ही प्रेम की आंशिक अभिव्यक्ति होती है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण परिपूर्णतम स्वरूप हैं, सो श्रीकृष्णचरणाश्रित भक्तों में ही प्रेम की भी परिपूर्णतम अभिव्यक्ति है। व्रज के शुद्ध माधुर्य-उपासक सख्य और वात्सल्य रस के भक्तों में निरतिशय प्रेमरस का प्रकाश है, फिर भी सर्वातिशाया असमोर्द्ध सौन्दर्य-माधुर्य-पारावर श्रीश्रीराधामाधव की सखी-मञ्जरियों में ही प्रेम पूर्णतम रूप से प्रकट होता है। सर्वोपरि श्रीराधा की किङ्करियों में ही प्रेम-रसास्वादन की पराकाष्ठा है। यही मञ्जरीभाव-साधना ही श्रीमन्महाप्रभु के युग में उनके श्रीचरणाश्रित गौड़ीय वैष्णवों की साध्यवस्तु है। तभी कहा जा रहा है, युगलभजनकर्ता मञ्जरीभाव के साधक प्रेमानन्दरस-तरङ्गिणी में डूबे-डूबे श्यामरससिन्धु और राधाप्रेमसिन्धु के मिलन केन्द्र में अर्थात् व्रज के निकुञ्ज में अवगाहन कर धन्यातिधन्य होते हैं। त्रिलोकी के लोग तभी तो उनकी सर्वदा आरति कर स्वयं को भी धन्य समझते हैं॥३०॥

पृथक् आवास योग, दुःखमय विषय-भोग,
व्रजवास गोविन्द-सेवन।
कृष्णकथा कृष्णनाम, सत्य सत्य रसधाम,
व्रजजनेर सङ्ग अनुक्षण॥३१॥

टीका -

व्रजभिन्नदेशे वासो दुःखरूप-विषयभोग एवं स्यात्; व्रजवासस्तु श्रीगोविन्दस्य सुखमय-भजनं स्यात्। तदभावे मनसा वासोऽपि तदेव। श्रीगोविन्दभजनं बिना व्रजभूमावपि वासे सुखे नास्ति। यथा श्रीकृष्णदास कविराजोक्तौ-''वृन्दावने किमथवा निज मन्दिरे वा कारागृहे किमथवा कनकासने वा। ऐन्द्रं भजे किमथवा नरकं भजामि श्रीकृष्ण-सेवनमृते न सुखं कदापि''॥ अनुक्षणे व्रजवासि-भक्त जनैः सह श्रुताः कीर्तिता वा कृष्णकथा, तैः सह श्रुतं कीर्तितं वा कृष्णनाम सत्यं सत्यं रसधाम स्यात्॥३१॥

व्रजवास गोविन्द-सेवन :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में व्रजवास और श्रीगोविन्दभजन की महिमा का वर्णन कर रहे हैं-''पृथक् आवासयोग, दुःखमय विषयभोग, व्रजवास गोविन्दसेवन''-व्रज के अतिरिक्त अन्यत्र अर्थात् जड़ीय विश्व में 'आवासयोग' या वासस्थान बनाने से दुःखमय विषयभोग ही सार हो जाता है।

चिन्मय व्रजधाम के अतिरिक्त समग्र विश्व ही मायिक प्रपञ्च है, इसलिये वहाँ के विषयसमूह भी मायिक उपादान से गठित हैं, जिन्हें भोगने से जन्म मृत्यु त्रितापादि ज्वालाओं के भोग, नाना योनियों में भ्रमण और नरकादि दु:खभोगों की परम्परा चलती रहती है। तभी साधक को 'कुर्याद्वासं व्रजे सदा' कहकर निरन्तर व्रजवास का परामर्श दिया गया है। जो लोग देह से व्रजवास करने में अक्षम हैं, वे यदि मन ही मन व्रजवास करें, तब भी व्रजवास का फल प्राप्त करते हैं या उन्हें श्रीकृष्णभजन का सुख मिल जाता है। तथापि प्रयत्नशील प्रेमलाभेच्छु साधकों के लिये सशरीर व्रजवास ही मुख्य विधि है, तभी मायिक विश्व में आवास-निर्माण को दु:खमय विषयभोग कहा गया है। विशेषत: 'व्रजवास' प्रेमप्राप्ति का अन्यतम सशक्त भजनाङ्ग है। ''साधुसङ्ग, नामकीर्तन, भागवतश्रवण। मथुरावास, श्रीमूर्तिर श्रद्धाय सेवन॥ सकल साधन श्रेष्ठ एइ पञ्च अङ्ग। कृष्णप्रेम जन्माय एइ पाँचेर अल्प सङ्ग॥'' (चै० च०) ''दुरूहाद्भुतवीर्येऽस्मिन् श्रद्धा दूरेहस्तु पञ्चके। यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्ध: सद्धियां भावजन्मने॥'' (भ० र० सि०) अर्थात् 'दुर्ज्ञेय और आश्चर्यजनक रूप से प्रभावशाली इन पाँच भजनाङ्गों में श्रद्धा तो दूर की बात, उनसे अति अल्पमात्र सम्बन्ध भी हो, तो निरपराध व्यक्तियों के चित्त में सहसा भाव उदित हो जाता है।' विश्वमानव के प्रति करुणा कर श्रीकृष्ण की नित्यलीला भूमि चिन्मय व्रजधाम विश्व में अवतीर्ण हो सदैव अवस्थान कर रहा है। स्कन्दपुराण में आया है-''या यथा भुवि वर्तन्ते पूर्य्यो भगवत: प्रिया:। तास्तथा सन्ति वैकुण्ठे तत्तल्लीलार्थमादृता॥'' अर्थात् 'पृथ्वी पर जो सब भगवत्प्रिय पुरियाँ जिस रूप में विराजमान हैं, उन-उन (सम्बन्धित) लीलाओं के लिये आदृत होकर वैकुण्ठ में भी वही-वही पुरियाँ विराज रही हैं।' तात्पर्य यही है कि ब्रह्माण्ड में सप्तस्वर्ग-सप्तपातालात्मक चौदह भुवन हैं। उसके बाहर प्रकृति के आठ आवरण हैं; उसके दूसरी ओर कारण समुद्र या विरजा है। उसके ऊपर सिद्धलोक, सायुज्य मुक्ति का स्थान है; यही निर्विशेष ज्योतिर्मय ब्रह्म है। सिद्धलोक या मुक्तिलोक के ऊपर परव्योम अर्थात् अनन्त भगवत्स्वरूपों के पृथक् पृथक् धाम अनन्त वैकुण्ठ हैं। जब जो भगवत्स्वरूप ब्रह्माण्ड में प्रकट विहार की इच्छा करते हैं, तब उसी धाम और परिकरों के साथ उनका आविर्भाव हुआ करता है। इसीलिये स्कन्दपुराण में एक साथ वैकुण्ठ और पृथ्वी दोनों ही स्थानों पर धाम की स्थिति का वर्णन है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं-सर्वकारणकारण हैं, उनका धाम भी उसी प्रकार सभी चिन्मयधामों के ऊपर विराजमान है। सर्वोपरि विराजित वही वृन्दावन धाम अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से पृथ्वी पर भी विद्यमान है। एक ही धाम की एक साथ दोनों स्थानों पर स्थिति है। श्रीचैतन्यचरितामृत (आदि० परि० ५) में लिखा है-

''प्रकृतिर पार-परव्योम नामे धाम।
कृष्णविग्रह जैछे-विभुत्वादि गुणवान्॥
सर्वग अनन्त विभु वैकुण्ठादि धाम।
कृष्ण कृष्ण अवतारेर ताहाइँ विश्राम॥
ताहार उपरिभागे-कृष्णलोक ख्याति।
द्वारका मथुरा गोकुल-त्रिविधत्वे स्थिति॥
सर्वोपरि श्रीगोकुल व्रजलोकधाम।
श्रीगोलोक श्वेतद्वीप वृन्दावन नाम॥

सर्वग अनन्त विभु कृष्णतनु सम।
उपर्यधो व्यापि आछे-नाहिक नियम॥
ब्रह्माण्डे प्रकाश तार कृष्णेर इच्छाय।
एकइ स्वरूप तार नाहि दुइ काय॥
चिन्तामणि भूमि, कल्पवृक्षमय वन।
चर्मचक्षे देखे तारे प्रपञ्चेर सम॥
प्रेमनेत्रे देखे तारे स्वरूप प्रकाश।
गोप-गोपी सङ्गे जाहाँ कृष्णेर विलास॥''

चिन्मय श्रीव्रजधाम विश्वमानव के हित के लिये विश्वप्रपञ्च का रूप धारण कर विराज रहा है, इसी को धाम का दृश्यमान प्रकाश कहा जाता है। अन्यथा मायाबद्ध मानव श्रीधाम में आने में या वास करने में सक्षम न होता। साधक साधनभजन के महाउद्दीपनमय स्थान इस व्रजधाम में रहकर शीघ्र ही प्रेम प्राप्तकर धन्य हो सकें-इसीलिये परम करुण प्रपञ्चातीत श्रीधाम मायिक प्रपञ्च का रूप अङ्गीकार कर विराज रहा है। ऐसा कौन कृतीसाधक (भाग्यवान् साधक) है, जो साधन-सिद्धि की महामिलनभूमि इस व्रजधाम में वास कर प्रेम प्राप्त कर धन्य होने की इच्छा नहीं करता?

साधक सशरीर व्रजवास कर 'गोविन्द-सेवन' या श्रीगोविन्द का भजन करें-''व्रजवास गोविन्द सेवन''। व्रजवास करके भी यदि श्रीगोविन्दभजन का सौभाग्य प्राप्त न हो, तो साक्षात् व्रजवास से भी सुख प्राप्त नहीं किया जाता। श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है-

''वृन्दावने किमथवा निज-मन्दिरे वा कारागृहे किमथवा कनकासने वा।
ऐन्द्रं भजे किमथवा नरकं भजामि श्रीकृष्णसेवनमृते न सुखं कदापि॥''

अर्थात् 'श्रीवृन्दावन में रहूँ या अपने घर में ही रहूँ, कारागार में रहूँ या स्वर्णासन पर ही बैठूँ, इन्द्रपद प्राप्त करूँ या नरक में ही जाऊँ-श्रीकृष्णभजन को छोड़ कहीं सुख नहीं।' श्रीगोविन्द-भजन कर जीवन धन्य करने के लिये ही व्रजवास है; साधन-भजन के या व्रजरसास्वादन के चरम क्षेत्र इस व्रज में वास करके भी जो बहिर्मुख की तरह भजनहीन जीवन में आहार-निद्रा के सुख में मग्न रहते हैं, वे सचमुच ही शोचनीय हैं। उन-जैसे हतभाग्य व्यक्तियों के लिए ही, लगता है, एक दिन मिथिला के कविकुञ्ज से वह महावाणी ध्वनित हुई थी-''सिन्धु निकटे यदि कण्ठ शुखायब, को दूर करब पियासा?'' (विद्यापति) अमृत-सिन्धु के पास आकर पिपासा शान्त न हो, तो विश्व की अन्य किसी वस्तु से हो सकती है?

व्रजधाम भजनरसास्वादन का सर्वश्रेष्ठ स्थान है-इसी का प्रतिपादन करने के लिये कह रहे हैं-''कृष्णकथा कृष्णनाम, सत्य सत्य रसधाम, व्रजजनेर सङ्ग अनुक्षण''। वृन्दावन वास करने पर व्रजवासी भक्तों के साथ निरन्तर कृष्णकथा और कृष्णनाम 'रसधाम' या महामधुर या परम आस्वाद्य हो जाते हैं-इसे सत्य से भी अधिक परम सत्य या महासत्य समझना होगा। एक तो वैसे ही महापुरुषों के श्रीमुख से श्रीकृष्ण के हृत्कर्ण-रसायन

मधुरातिमधुर रूप-गुण-लीलादि सुनकर अति शीघ्र ही श्रीकृष्ण पादपद्मों में रति या प्रेमभक्ति का उदय होता है, ऊपर से उनकी साक्षात् लीलाभूमि या लीलाविलास आदि के चरम उद्दीपन के क्षेत्र इस व्रजधाम में उसका श्रवण किया जाय-तब तो वह 'रसधाम' या परम सुरसाल के रूप में अनुभूत होता है। फिर इस व्रजधाम में बैठकर महापुरुषों के श्रीमुख से श्रीकृष्ण की लीलाकथा का जैसा स्फुरण होता है, अथवा श्रोताओं को जैसा सुरसाल लगता है-वैसा और कहीं भी सम्भव नहीं। इतना ही नहीं, व्रजवासी महद्गण के सङ्ग में आनुषङ्गिकरूप से ही उन लोगों के हृदय के दैन्य, विनय निरभिमानता आदि गुणसमूह और सदाचार आदि सङ्ग करने वाले में निरन्तर सञ्चारित होते हैं। इससे चित्त-मन अति शीघ्र रसास्वादन के योग्य बन जाते हैं।

श्रीकृष्णनाम और नामी श्रीकृष्ण अभिन्न तत्त्व हैं, इसलिये माधुर्यसिन्धु श्रीकृष्ण का अनन्त-अशेष रस या आस्वादन श्रीकृष्णनाम में निहित है। पर पित्तदूषित जिह्वा पर मिश्री की मिठास अनुभव नहीं होती। उसी प्रकार अविद्या-दूषित चित्त में या अपराधदूषित जिह्वा पर नाम का कोई आस्वान अनुभव नहीं होता। सत्सङ्ग में श्रवण-कीर्तन आदि भजन से जिस परिमाण में चित्त शुद्ध होता है या अपराध आदि नष्ट होते हैं, उसी के अनुरूप क्रमशः स्वप्रकाश श्रीकृष्णनाम साधक के चित्त में अपनी आस्वादनमाधुरी का प्रकाश फैलाता है। व्रजवास से और व्रजवासी भक्तों के सङ्ग से अति शीघ्र ही अपराध आदि अन्तराय (बाधा, रुकावट) दूर होते हैं; श्रीनाम की रसमाधुरी के आस्वादन से साधकात्मा धन्य होते हैं। तभी श्रीरूपगोस्वामिपाद ने अपने उपदेशामृत में समस्त वेदशास्त्रों और महावाणियों का सार दिया है-

''तन्नामरूपचरितादि-सुकीर्तनानुस्मृत्योः क्रमेण रसना मनसी नियोज्य।
तिष्ठन् व्रजे तदनुरागिजनानुगामी कालं नयेदखिलमित्युपदेशसारम्॥''

अर्थात् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के नाम रूप गुण लीला के उत्तमरूप से कीर्तन में और निरन्तर स्मरण आदि में क्रमशः रसना एवं मन को नियुक्त कर व्रजवास करते हुए व्रजवासी श्रीकृष्णानुरागी भक्तों का अनुगत होकर सारा समय बितायें-समस्त उपदेशों का यही सारात्सार है॥३१॥

सदा सेवा अभिलाष, मने करि विशोयास,
सर्वथाइ हइया निर्भय।
नरोत्तमे दासे बोले, पड़िलु असत् भोले,
परित्राण करो महाशय॥३२॥

टीका -

विशोयास-विश्वासः। महाशय-हे श्रीकृष्ण!॥३२॥

सेवाभिलाष :

सुधाकणिका व्याख्या - जड़ीय विश्व के दुःखमय विषयभोग त्यागकर व्रजवास करते हुए श्रीगोविन्द

के भजन से और सर्वदा व्रजाश्रयी महद्‌गण के सङ्ग में श्रीकृष्णकथा और श्रीकृष्णनाम के श्रवण-कीर्तन से भगवन्नाम रूप गुण लीला की रसमाधुरी आस्वादन कर साधक धन्य होता है-यह बात पिछली त्रिपदी में बताई। अब इस त्रिपदी में कहते हैं-जो उल्लिखित विषय में सुदृढ़ विश्वास स्थापित कर हृदय की इतर वासनायें त्यागकर चित्त में सदैव सेवाभिलाषा का पोषण करते हैं, श्रीकृष्णचरणों में शरणागत वे ही साधक व्रजवास कर सर्वथा निर्भय होते हैं।

जो श्रद्धा भक्ति या भजन का अधिकार लाती है-''श्रद्धावान् जन हय भक्ति-अधिकारी'' (चै० च०)-वह श्रद्धा विश्वासमूलक है-''श्रद्धा शब्दे विश्वास कहि सुदृढ़ निश्चय'' (वही)। 'श्रद्धा' और 'विश्वास' दोनों एक ही पर्याय में होते हुए भी पूर्वावस्था को श्रद्धा और परवर्ती अवस्था को विश्वास कहते हैं। इसलिये भगवद्भजन में श्रद्धा को ही भक्ति का अधिकार देने वाली बताया है। फिर भी उस भजनबल से प्राप्त होने वाले श्रीकृष्ण में अनुभव-सम्बलित विश्वास को ही अङ्गरूप में लिया गया है। फिर श्रद्धा या विश्वास के साथ शरणागति का भी उदय होता है, कारण-श्रद्धा और शरणागति एकार्थक हैं। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने अपने भक्तिसन्दर्भ (अनु० १७४) में लिखा है-''श्रद्धाशरणापत्त्योरैकार्थ्यं लभ्यते, तच्च युक्तम्। श्रद्धा हि शास्त्रार्थविश्वासः। शास्त्रञ्च तदशरणस्य भयं तच्छरणस्याभयं वदति। ततो जातायाः श्रद्धायास्तच्छरणापत्तिरेव लिङ्गमिति।'' अर्थात् 'श्रद्धा और शरणागति का एक ही अर्थ होना युक्तिसङ्गत है, कारण-शास्त्रार्थ में दृढ़विश्वास का नाम श्रद्धा है। शास्त्रों ने भी भगवान् में अशरणागत जन के भय का और शरणागत के अभय का उपदेश किया है। अतएव शास्त्रार्थ में दृढ़विश्वासरूपी श्रद्धा का उदय हुआ कि नहीं, इसका चिह्न शरणापत्ति ही है, अर्थात् शरणापत्ति से ही श्रद्धा का परिचय होता है।' शरणागत जन के निर्भय के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (१०/३/२७) में श्रीदेवकीदेवी का स्तव है-

''मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्, लोकान् सर्वान् निर्भयं नाध्यगच्छं।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य, स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति॥''

'हे आद्य! मरणधर्मी मानव मृत्युरूपी कराल व्याल से भयभीत होकर सर्वत्र पलायन करता है, किन्तु कहीं भी निर्भय नहीं होता, कारण-कीट से ब्रह्म। तक सभी काल-कवलित हैं। किसी महत् के सङ्ग या कृपाजनित सौभाग्य के फलस्वरूप तुम्हारे श्रीचरणारविन्दों में आश्रय मिल जाय, तो मानव शान्ति से सोता है और मृत्यु उसके पास से सदा-सदा के लिये पलायन कर जाती है।' इससे यह समझ में आया कि श्रद्धा या विश्वास के साथ भजन करने से शरणागत साधक सर्वथा निर्भय हो जाते हैं। किन्तु निर्भय होना ही कृष्णभक्त का काम्य नहीं है; यह तो भजन का आनुषङ्गिक फल मात्र है; भजन का यथार्थ उद्देश्य अभीष्ट की सेवा-प्राप्ति ही है। तभी कहा है-''सदा सेवा अभिलाष''। अभीष्ट की साक्षात् सेवा-प्राप्ति की अभिलाषा साधक के हृदय में सर्वदा जागरूक होनी चाहिये। भक्ति का अर्थ ही है 'सेवा'। ''भज् इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः''-'भज' धातु का अर्थ सेवा; 'भज्' धातु से ही 'भक्तिपद' निष्पन्न होता है। इसलिये भगवान् की सेवा का नाम ही 'भक्ति' है। भगवान् भी कामना करते हैं-भक्त के हृदय में सेवा-वासना जाग्रत रहे; भक्त-हृदय में सेवा-वासना जगाकर अन्त में सेवा देना ही भगवान् की अनुकम्पा का कार्य है। ''अनुकम्पा च पूर्णेऽपि स्वस्मिन् निजसेवाद्यभिलाषं सम्पाद्य

सेवकादिषु सेवादि सौभाग्य-सम्पादिका भागवतश्चित्तार्द्रतामयी तदुपकारेच्छा'' (प्रीतिसन्दर्भ, अनु० ८४) अर्थात् 'भगवान् स्वत:पूर्ण आत्माराम या आप्तकाम हैं, फिर भी उनके प्रति सेवा की अभिलाषा जगाकर सेवक आदि के लिये सेवा आदि का सौभाग्य सम्पादित करने वाली उनकी चित्त-आर्द्रतामयी सेवकादि के उपकार की इच्छा ही अनुकम्पा है।' इससे समझ में आया कि भगवान् और भक्ति का कार्य ही साधक के हृदय में भगवान् के प्रति सेवाभिलाष सम्पादन करना। साधक को भी सतत विषयमुखी चित्त-मन को संयत कर कृष्णेतर विषय-वैषयिक की अभिलाषा चित्त से दूर कर उसमें सतत भगवत्सेवा-अभिलाष को जागरूक रखना होगा। यह सेवाभिलाषा ही भजन-साधन की परिपक्वता में साधक-चित्त में साक्षात् सेवा पाने के लिये प्रबल उत्कण्ठा या व्याकुलता जगाकर प्रेमदान कर और साक्षात् सेवादान कर उसे धन्य करती है। 'सदा सेवाभिलाष' इस वाक्य का यही अन्तर्निहित रहस्य है।

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''नरोत्तम दासे बोले, पड़िनु असत् भोले, परित्राण करो महाशय''। श्रील ठाकुर महाशय साक्षात् प्रेम की मूर्ति होकर भी दैन्य से भरकर स्वयं को अनर्थयुक्त साधारण साधक समझ रहे हैं। कहते हैं कि वे 'असत्भोले' अर्थात् असत् के प्रलोभन में पड़कर ही इस सेवाभिलाषा को हृदय में जगाये नहीं रख पा रहे हैं। जो 'सत्' नहीं है वही 'असत्' है। जिसकी सार्वकालिक सत्ता है, वही 'सत्' है। जिसकी वह सार्वकालिक सत्ता नहीं है, अर्थात् नश्वर देह-दैहिकादि वस्तुएँ-वे सभी 'असत्' हैं। इस असत् के प्रलोभन में पड़कर ही जीव नित्यकृष्णदास होकर भी उस सत् या नित्य शाश्वत वस्तु परमानन्दघनस्वरूप श्रीगोविन्दचरणों को या उनकी सेवा को भूल गया है। इस परिदृश्यमान् विश्व की क्षणभंगुर नश्वर विषय वस्तुओं का प्रलोभन भी कोई कम नहीं। बड़े-बड़े ज्ञानी, गुणी, विद्वान भी इनके प्रलोभन से छुटकारा न पाकर इस असत् प्रलोभन के खरस्रोत में दु:ख-सिन्धु की ओर बहे जा रहे हैं। कितना शास्त्र-अध्ययन, कितना-कितना सदुपदेश-श्रवण-मानो सभी इस प्रलोभन के आगे व्यर्थ हो रहा है!! भगवान् की त्रिगुणात्मिका बलवान मायाशक्ति से इसकी उत्पत्ति है, इसलिये क्षुद्र जीवशक्ति अपनी चेष्टा से इसके कवल से उद्धार पाने में समर्थ नहीं होती। तभी ''परित्राण करो महाशय''। 'महाशय' के अर्थ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद कहते हैं-''हे कृष्ण!'' ''मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'' (गीता) श्रीकृष्ण-कृपा को छोड़ और किसी की शक्ति नहीं कि इस मायिक प्रपञ्च की विषयवस्तु का प्रलोभन हटा सके। तभी श्रीकृष्ण से ही प्रार्थना की गई है कि इस 'असत् भोल' या प्रापञ्चिक विषयों के प्रलोभन से परित्राण करें, मुक्ति दिलायें।

'महाशय' के पीछे व्यञ्जना यही है कि श्रीकृष्ण का आशय या हृदय अति महान या उदार है। वे जानते हैं, अति बलवती बहिरङ्गा माया की ठगी में पड़कर क्षुद्र जीवशक्ति जड़रसों की उन्मादना में किस प्रकार आध्यात्मिकता या साधन-भजन की शक्ति-सामर्थ्य खो चुकी है। यदि वे अहैतुकी कृपा कर जीव का पारित्राण न करेंगे-अपने यत्किञ्चित भजनरस का आस्वादन देकर जड़ीय रसों के आवेशरूपी 'असत् भोल' (असत् भुलावे) से उद्धार न करेंगे, तो जीव की और कोई गति नहीं। तदनुरूप कृपा-वितरण में परम उदार 'महाशय' श्रीकृष्ण की कोई कृपणता भी नहीं-''गुरुरूपे घरे-घरे, दीक्षा देय सभाकारे, वैष्णवरूपेते देय शिक्षा। शास्त्ररूपे कहे ज्ञान, आत्मारूपे अधिष्ठान, देखो ताँर कारे बा उपेक्षा॥'' ''ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।'' (गीता) ॥३२॥

तुमितो दयार सिन्धु, अधम जनार बन्धु,
मोहे प्रभो! करो अवधान।
पड़िनु असत् भोले, काम तिमिङ्गिले गिले,
ओहे नाथ! करो परित्राण॥३३॥

अधम पर कृपा :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय ने साधकावेश में श्रीकृष्ण 'महाशय' अर्थात् उदारचेता या कृपालु कहकर जड़ीय विषयावेश से परित्राण पाने के लिये उनकी करुणा की कामना की है। श्रीकृष्ण को 'महाशय' कहा है, इससे उन्हें विश्व के अन्य किसी भी महाशय या उदारचेता की तरह न समझ लिया जाय, इसलिये इस त्रिपदी में कहते हैं-''तुमि तो दयार सिन्धु''-जैसे सिन्धु असीम, अपार और अगाध होता है, वैसे ही श्रीकृष्ण की करुणा भी अनन्त अपार है। क्षुद्र जीवशक्ति की बात तो दूर-ब्रह्मा, महेश्वर, अनन्तदेव आदि भी उनके करुणा आदि गुणों का अन्त नहीं पाते। जीव के लिये उसी अपार करुणासिन्धु की एक बूँद को स्पर्श करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। उसी करुणासिन्धु की बात हम किञ्चित् उल्लेख कर रहे हैं। जीव के प्रति श्रीकृष्ण की करुणा दो प्रकार से बरसती है-(१) मायामयी (२) स्वरूपशक्तिमयी। मायाशक्ति के द्वार से जिस करुणा का प्रकाश होता है, वही मायामयी करुणा है। वह मायामयी करुणा भी किसी अंश में कम नहीं। श्रीकृष्ण की तटस्थाशक्ति संख्यातीत चित्कण जीव दो प्रकार के हैं (१) नित्यमुक्त और (२) नित्यबद्ध। इन दो श्रेणियों के जीव अनादिकाल से ही विद्यमान हैं। जो नित्य मुक्त हैं, वे निरन्तर श्रीकृष्ण के सेवानन्द में विभोर रहे हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। नित्यबद्ध जीव अनादिकाल से ही कृष्णबहिर्मुख हैं। इस बहिर्मुखता का कारण यह है कि वे श्रीकृष्ण के नित्यदास होकर भी उनकी सेवा भूलकर स्वतन्त्र रूप से भोग-आकांक्षा कर रहे हैं। भगवान् ने कृपा कर मायाशक्ति द्वारा भोगाकांक्षी श्रीकृष्णबहिर्मुख जीवों के भोगक्षेत्र इस ब्रह्माण्ड की और भोगायतन देह की रचना की है। यद्यपि भोग-आकांक्षा भोगों से निवृत्त नहीं होती, फिर भी भोगों से नरक आदि दुःख प्राप्ति के फलस्वरूप जीव अनुतप्त होकर या निर्वेद पाकर साधु-गुरु कृपा से श्रीकृष्णचरणों में उन्मुख होता है तथा भजन के फलस्वरूप प्रेमसेवा पाकर सदा-सदा को धन्य हो जाता है। यदि श्रीकृष्ण मायाशक्ति द्वारा उन लोगों की भोगभूमि इस ब्रह्माण्ड की रचना न करते, तो उन्हें अनन्तकाल तक श्रीकृष्णबहिर्मुख होकर ही रहना पड़ता। फिर यह ब्रह्माण्ड है विशाल। यहाँ के जीवों के प्राण-धारण के लिये जल, वायु, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और विभिन्न भोग्य पदार्थों की सृष्टि की है भगवान् ने। मायाशक्ति के माध्यम से भगवान् ने यह जो करुणा दिखाई है, वह कम नहीं है। किन्तु इससे जीव का संसार-बन्धन नहीं खुलता और नित्यकृष्णदास जीव अपने स्वरूप की उपलब्धि कर नित्यप्रभु श्रीकृष्ण की सेवा पाकर धन्य नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान् स्वरूपशक्ति के द्वारा श्रीगुरु-वैष्णव की कृपा-सहायता से जीवों को अपनी स्वरूपशक्ति ह्लादिनी और सम्वित् की वृत्ति भक्ति प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं, वे इस मृन्मय ब्रह्माण्ड में अपनी चिन्मयी लीला की अवतारणा कर अपने नाम गुण लीलारूपी

भजन-उपकरणों द्वारा जीवों को प्रेमदान कर एवं साक्षात् प्रेमसेवा देकर धन्य करते हैं। उनकी यह समस्त करुणा अत्यन्त व्यापक, विशाल, अक्षय है-'दयार सिन्धु' से बस यह सूचनामात्र दी गई है। वस्तुतः उनकी दया की विशालता के आगे कोटि-कोटि सिन्धु भी तुच्छातितुच्छ हैं।

श्रीकृष्ण अनन्त अक्षय करुणा के सिन्धु हैं, पर उनकी स्वरूपशक्तिमयी करुणा कभी भी धनजन-आभिजात्य का अभिमान रखने वाले चित्त में स्थान नहीं पाती। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं - ''अधम जनार बन्धु, मोहे प्रभु! करो अवधान'' - 'हे प्रभो! आप अधम जनों के बन्धु हैं और मैं भी अत्यन्त अधम हूँ, अतएव आपकी करुणा पाने के योग्य ही हूँ। मेरी बात एक बार स्मरण करना।' श्री ठाकुर महाशय के इस प्रार्थना-वाक्य में साधक के लिये शिक्षणीय यही है कि भक्तिपथ पर रहते हुए श्रीगुरु-वैष्णव और भगवान् की करुणा प्राप्त करनी है, तो देह-दैहिकादि का समस्त अभिमान त्यागकर 'अधम' बनना होगा। नीच, दीन, अपकृष्ट, निन्दित, तुच्छ इत्यादि 'अधम' शब्द के आभिधानिक अर्थ हैं। भक्त तो समस्त सद्गुणों की खान होकर भी स्वयं को अति दीन, हीन, अपकृष्ट ही समझता है। यह (भाव) सद्गुणखान भागवती भक्ति से ही प्रकट होता है। कारण यह है कि स्वरूपतः जीवात्मा स्वाधीन तत्त्व नहीं है; परमात्मा के अधीन है, फिर मायिक विश्व में काल कर्म गुणादि द्वारा नियन्त्रित है। महत् कृपा से जीव जब भक्तिमय का आश्रय लेता है, तब महत् सङ्ग में यह रहस्य समझता है और इस आत्मज्ञान के उन्मेष से अपने कर्तापने आदि का अभाव-बोध होता है-तब वह सभी कामों में स्वयं को अयोग्य असमर्थ समझता है और इसका ही नाम दैव्य है, यह भक्तगणों की साधन सम्पत्ति है। सर्वत्र ईश्वर का प्रबल कर्तृत्व अनुभव कर सभी प्रकार से उनके श्रीचरणों में शरणागत होता है। तभी वह वस्तु है जो अति शीघ्र ही साधक के प्रति भगवान् की करुणा को आकर्षित कर लाती है। जातरति साधक के लक्षणों में बताया गया है-''सर्वोत्तम आपनाके 'हीन' करि माने''। (चै० च०)

श्रीनरोत्तम ठाकुर महाशय कहते हैं-'हे प्रभो! अति अधम दुर्गत जन हूँ, मेरी बात एक बार मन में लाना।' यदि श्रीकृष्ण कहें, तुम्हारी क्या बात मन में लानी होगी? तो उत्तर देते हैं-''पड़िनु असत् भोले, काम तिमिङ्गिले गिले, ओहे नाथ! करो परित्राण''-'हे नाथ! मैं असत् के भुलावे में आ गया हूँ, काम या कामनारूपी तिमिङ्गिल (एक विशाल सामुद्रिक जन्तु) मुझे निगले जा रहा है, आप उसके कवल से मुझे बचावें।' श्रील ठाकुर महाशय ने पिछली त्रिपदी में असत् भोल की बात की थी, इस बार फिर कर रहे हैं। यहाँ शब्दान्तर का विन्यास देखकर लगता है कि असत् अर्थात् देह-दैहिकादि नश्वर वस्तुओं को सत् या सत्य मानकर भोल या भ्रान्ति में पड़ जाना ही असत् भोल में गिरना है। इसी प्रकार की भ्रान्ति में ही देह-दैहिकादि को सत्य समझकर स्वरूप-विभ्रान्त मानव विश्व की अर्थ-सम्पदा आदि की ही कामना करता है और इनमें उसका ऐसा आवेश उत्पन्न होता है कि इनके नश्वरत्व या दुःखत्व के विषय में शत-शत सदुपदेश सुनकर भी वह इसकी कतई धारणा नहीं कर सकता। परिणाम यह होता है कि काम की सेवा में ही जीवन बिता देता है। काम या कामना भोग की आधार इस देह का स्वरूप सोचे तो देखने में आता है-

''अमेध्यपूर्णे कृमिजालसंकुले स्वभावदुर्गन्धिविनिन्दितान्तरे।
कलेवरे मूत्रपुरीषभाविते रमन्ति मूढ़ा विरमन्ति पण्डिताः॥''

(योगोपनिषद)

अर्थात् 'अमेध्य (विष्ठा) पूर्ण, कृमिजलसंकुल (कीड़ों से भरे), स्वभाव से ही दुर्गन्धयुक्त, मल-मूत्र भरे इस कलेवर में मूर्खजन ही भोग की लालसा करते हैं, पण्डितजन इस जघन्य देहासक्ति से विरत होते हैं।' और भी कहा गया है-

''व्रणमुखमिव देहं पूतिचर्मावनद्धं कृमिकुलशतपूर्णं मूत्रविष्ठानुलेपम्।
विगतबहुलरूपं सर्वभोगादिवासं ध्रुवमरणनिमित्तं किन्तु मोहप्रसक्त्या॥''

अर्थात् 'यह देह व्रणयुक्त है, दुर्गन्ध-चर्मजड़ित है; शत-शत कृमियों से पूर्ण, मूत्र-विष्ठा से लिप्त, भिन्न-भिन्न वयसों में भिन्न-भिन्न रूपों को प्राप्त होने वाली है, जो निश्चितरूप से विनाश को प्राप्त होगी, फिर भी यह देह मोहप्रसक्ति द्वारा सभी प्रकार के कामना-भोगों का हेतु हो गई है।' इन सहज सरल और अति सत्य उपदेशों को सुनकर समझकर भी हम इस देह को ही 'मैं' मानते हैं-यही 'असत् भोल' या असत्य को सत्य मानने की भ्रान्ति है। इसके मूल में है इसी काम या कामना के प्रबल संस्कार। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-वह प्रबल कामना ही मुझे तिमिङ्गिल की तरह निगले जा रही है। समुद्र का वृहत्तर जलजन्तु है तिमि-इस तिमि को भी निगल सके, ऐसे अति वृहत्तम जलजन्तु का नाम ही तिमिङ्गिल है। वही कामनारूपी तिमिङ्गिल ही मानो ग्रसित कर रहा है! इससे कामना की शक्ति या भयावहता का पता चलता है। क्षुद्र मानव अपनी सामर्थ्य से इसके कवल से आत्मरक्षा नहीं कर सकता, तभी ''ओहे नाथ! करो मोरे त्राण।'' हे प्रभो श्रीकृष्ण! एकमात्र तुम्हीं महाशक्तिशाली काम के हाथ से रक्षा करने में समर्थ हो, अतएव इसके कवल से मेरी रक्षा करो॥३३॥

यावत् जनम मोर, अपराधे होइनु भोर,
निष्कपटे ना भजिनु तोमा।
तथापि तुमि से गति, ना छाड़िहो प्राणपति!
आमा सम नाहिक अधमा॥३४॥

निष्कपट भजन :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय के दैन्य का आवेग क्रमशः उच्छ्लित हो रहा है। वे स्वयं को नितान्त अपराधी, अधम और भजन-साधनहीन मानकर कहते हैं-''यावत् जनम मोर, अपराधे होइनु भोर, निष्कपटे ना भजिनु तोमा''। प्रेम की मूर्ति होकर भी श्रील ठाकुर महाशय ने दैन्य के उच्छ्वास में इन त्रिपदियों में जो वाणियाँ प्रस्तुत की हैं, वे साधक के लिये मृतसञ्जीवनी की तरह परम हितकारी हैं। प्रगतिशील भक्ति-जीवन में प्रेमप्राप्ति के मार्ग में जितने भी अन्तराय हैं, उनमें अपराध ही सर्वापेक्षा प्रबल है। श्रीचैतन्यचरितामृत (आदि० परि० ८) में देखने में आता है-

''एक कृष्णनामे करे सर्वपाप नाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश॥
प्रेमेर उदये हय प्रेमेर विकार।
स्वेद-कम्प-पुलकादि गद्‌गदाश्रुधार॥
अनायासे भवक्षय, कृष्णेर सेवन।
एक कृष्णनामेर फले पाइ एतो धन॥
हेनो कृष्णनाम यदि लय बहुबार।
तबे यदि प्रेम नहे, नहे अश्रुधार॥
तबे जानि अपराध ताहाते प्रचुर।
कृष्णनाम बीज ताहे ना हय अंकुर॥''

अंकुरोत्पादन में अति शक्तिशाली पुष्ट बीज यदि मिट्टी में गिरकर वर्षा का जल प्राप्त करता है, तो वह अंकुरित होता है और यत्नपूर्वक उसकी देखरेख हो, जल-सिञ्चनादि हो तो यथासमय फल देगा ही। उसी प्रकार कृष्णनामरूपी बीज हृदयभूमि में गिरकर श्रवण-कीर्तनादि जल से सिञ्चित होने पर भक्ति कल्पलता का अंकुर निकलता है; यथासमय उसमें भाव-कुसुम और प्रेमफल अवश्य ही आयेंगे। यदि वही बीज पाषाण पर जाकर गिरता है, तो उसके अंकुरित होने की कोई भी सम्भावना नहीं रहती। अपराधी चित्त भी पाषाण की तरह है, वहाँ नाम भजन आदि भक्ति-बीजों के अंकुरित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। इसीलिये वैष्णवसम्प्रदाय में अपराध का विचार इतना प्रबल है।

श्रीचैतन्यचरितामृत का जो अंश उद्‌धृत किया गया है, उसके ठीक पीछे ही लिखा है-''चैतन्य-नित्यानन्दे नाहि ए-सब-विचार। नाम लइते प्रेम देन, बहे अश्रुधार॥'' इस वाक्य से लग सकता है कि श्रीचैतन्यदेव और श्रीमन्नित्यानन्द अपराध का विचार नहीं करते, नाम लेते ही वह अपराधी को भी प्रेमदान कर देते हैं। किन्तु श्रीमन्महाप्रभु की नवद्वीप लीला में निन्दक पड़ुया (छात्र), पाखण्डी आदि ने प्रभु की निन्दा की थी, सो प्रभु ने उन निन्दनक अपराधियों को प्रेमदान का अन्य कोई उपाय न देखकर संन्यास ले लिया था। संन्यास के पश्चात् जब वे निन्दक प्रभु के श्रीचरणों में प्रणत हुए और उनके अपराधों का अपगम हुआ, तब उन लोगों को प्रेम दिया था-ऐसा श्रीचैतन्यचरितामृत में वर्णित है। फिर गोपाल चापाल-श्रीवास के प्रति अपराधी था, सो श्रीवास द्वारा उसका अपराध क्षमा करा तब प्रेमदान किया था। इतना ही नहीं, यह भी वर्णित है कि अपनी स्वयं की माता शचीदेवी तक को यह बताया कि वे श्रीअद्वैताचार्य के प्रति अपराधी हैं। माता ने अद्वैत की पगधूलि मस्तक से लगाई, तब उन्हें प्रेमदान किया। इसलिये ऐसा नहीं है कि श्रीचैतन्यनित्यानन्द अपराध का कोई विचार नहीं करते। हाँ, वे प्रेमदान के विषय में कोई पात्रापात्र विचार नहीं करते। यह बात समझना होगा कि उन्होंने अपराधी व्यक्ति का भी अपराध नष्ट कर प्रेमदान किया है। इस सारी मीमांसा से भक्तिसाधना के प्रबलतम अन्तराय (विघ्न) अपराध का गुरुत्व समझ में आता है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''यावत् जनम मोर, अपराधे होइनु भोर'' - अर्थात् 'मैं जन्म से ही अपराध आचरण करते-करते अपराध-पङ्क में फँस गया हूँ, या अपराध से ढक

गया हूँ, अर्थात् सतत अपराध करके भी अपराध विषय में सतर्क होने की बुद्धि या शक्ति खो बैठा हूँ।' हम लोग मुँह से जितना 'अपराध अपराध' कहते हैं, आचरण में अपराध के विषय में उतने सावधान नहीं होते या अपराध कर ही बैठते हैं-वस्तुतः यही है अपराध में भोर होना। जो श्रेयः कामी साधक हैं, उन्हें सतत बड़े यत्न और सावधानी के साथ भजन के महाविघातक नामापराध सेवापराध आदि का सभी प्रकार से त्याग करना होगा और निरपराध होकर भजन करने की प्रचेष्टा करनी होगी। अन्यथा सापराध-भजन से भजन का यथार्थ फल प्रेमप्राप्ति सुदूर ही बना रहेगा।

इसके पश्चात् कहते हैं-''निष्कपटे ना भजिनु तोमा''। श्रील ठाकुर महाशय दैन्य से भरकर अपनी बात कहकर साधक-जगत् को अति मूल्यवान उपदेश दे रहे हैं-''निष्कपटे ना भजिनु तोमा''। माया, भीतर एक बाहर दूसरा भाव, छल, चतुराई, प्रतारणा, शठता आदि 'कपट' के आभिधानिक अर्थ है। माया का सम्बन्ध छोड़कर अन्याभिलाषशून्य होकर अपने स्वरूपाभिमान को लेकर भजन करना ही निष्कपट भजन है। देह-दैहिकादि के आवेश में साधक के चित्त में भजन के समय नाना प्रकार की लाभ पूजा प्रतिष्ठा आदि की अभिलाषायें जगती हैं। यह भी माया की विडम्बना है, जिससे भगवद्भजन निष्कपट या आन्तरिकतापूर्ण नहीं हो सकता। श्रीगुरु-वैष्णव और भगवान् के प्रति बाहर अर्चनादि का आरम्भ, किन्तु हृदय में वैसी श्रद्धा-भक्ति का अभाव-ऐसी कपटता से भक्ति की अनुवृत्ति ही नहीं होती। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने भक्तिसन्दर्भ में ऐसे कापट्य-भाव को प्राचीन महत् अपराध का फल बताया है। यदि धामवास और महत् सङ्ग आदि भक्ति या भजन से भी यह कपटता नष्ट नहीं होती, तो वह दुश्चिकित्स्य (असाध्य) व्याधि-जैसी हो जाती है। फलस्वरूप गुरु वैष्णव भगवान् के प्रति नाना प्रकार का छल चतुराई शठता आदि सामने आते हैं। ऐसा कपटता-दुष्टचित्त व्यक्ति बाहर से भजन का अभिनय मात्र ही करता है। जब तक प्रबल महत् सङ्ग या महत् कृपा से यह कपटता नष्ट नहीं होती, तब तक उसके निष्कपट भजन की या आन्तरिकतापूर्ण भजन की कोई आशा ही नहीं रहती। जो सरलप्राण हो श्रीगुरु वैष्णव और भगवान् के चरणों में शरण लेकर भजन करते हैं, वे ही निष्कपट भाव से सब छोड़कर तुम्हारा होकर सरलप्राणों से एकान्त भाव से तुम्हारा भजन नहीं कर सका, फिर भी तुम्हीं मेरी एकमात्र गति हो। मैं स्वरूपतः तुम्हारा दास हूँ और तुम मेरे नित्यप्रभु हो; तुम्हारी प्रबल बहिरङ्गा मायाशक्ति की विडम्बना से अनादि काल से तुम्हारा श्रीचरण भूलकर देह-दैहिकादि में अनुरक्त हो उसी का अभ्यस्त हो गया हूँ; यह सही है, फिर भी हमारे प्रभु-दास सम्बन्ध का तो लोप नहीं हुआ। तत्वतः तुम मेरी एकमात्र गति के रूप में विद्यमान हो और अनन्तकाल रहोगे, इसलिये हे प्राणपति! तुम्हारी माया की ठगी में पड़कर मैं तुम्हारे चरण छोड़कर अन्य वस्तु की कामना करूँ, तब भी तुम अपने नित्यदास को मत त्यागना। मेरे-जैसा अधम निकम्मा सर्वथा अयोग्य और कोई नहीं है। तुम जब अधमतारण हो और मैं भी सर्वाधिक अधम हूँ, तो इस अधम जन को अपने गुणों से (उदार स्वभाव से) आकर्षित कर अपने अभय चरणों में स्थान देकर धन्य करो।' भगवत्पादपद्मों में आया साधक इस प्रकार दैन्य और आर्ति के साथ उनके पदारविन्द में प्रार्थना प्रस्तुत करेगा, तो उनकी कृपा से निष्कपट भजन का सौभाग्य पाकर धन्य हो सकेगा-यही प्रकरणार्थ है॥३४॥

पतित-पावन नाम, घोषणा तोमार श्याम,

उपेखिले नाहि मोर गति।

यदि होइ अपराधी, तथापिहो तुमि गति,

सत्य सत्य जेनो सती पति॥३५॥

पतितपावन नाम :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय विपुल दैन्य के उद्रेक से स्वयं को नितान्त पतित अधम जन मानकर भगवत्पादपद्मों में ऐकान्तिक शरणागति की कामना करते हैं-''पतित पावन नाम, घोषणा तोमार श्याम, उपेखिले नाहि मोर गति''-'हे श्याम! तुम्हारा पतितपावन नाम जगत् में सर्वत्र ही विघोषित है; मैं भी नितान्त पतितजन हूँ; इसलिये मेरी उपेक्षा करने से मेरी और गति नहीं।' इस त्रिपदी की प्रार्थनावाणी में श्रीकृष्ण को 'श्याम' सम्बोधित करने के पीछे किञ्चित रहस्य छिपा है। 'श्याम' का एक अर्थ अभिधान में इस प्रकार दिया गया है-''श्यायते गच्छति मनोऽस्मिन्निति श्यामः''-जिसकी ओर मन जाय, उसका नाम 'श्याम' है। किन्तु श्याम के प्रति स्वाभाविक रूप से तो सभी का मन नहीं जाता। धन जन मान प्रतिपत्ति आदि देह-दैहिकादि के सुख-स्वाच्छन्द्य की ओर ही प्राय सभी का मन जाता है। यदि स्वाभाविक रूप से सभी का मन श्याम (श्रीकृष्ण) की ओर जाता, तब फिर उसके लिये इतने साधन-भजन की क्या आवश्यकता थी? हमारे मन में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठ सकता है। हम यदि धीर चित्त से इस विषय में सोचें, तो अवश्य ही समझ जायेंगे कि विश्व के समस्त जीवों का मन आनन्द की ओर ही दौड़ रहा है। जीव सुख या आनन्द ही चाहते हैं, और उसी आनन्द की घनीभूत मूर्ति ही हैं श्याम-''रसो वै सः'' ''आनन्दं ब्रह्म'' ''रसानां रसतमः''। इसलिये यथार्थत हम सभी का मन श्याम की ओर दौड़ते हुए भी हममें से अनेक श्याम को नहीं पकड़ पाते-उनसे छिटकता जो आनन्द है, उसकी आभास-कणिकामात्र विश्व के इस जड़ीय रूपरस आदि में ही डूबा रहता है; उसी में विमत्त हो श्याम को भूले हुए है। जो लोग श्रीगुरु-वैष्णव की कृपा से जगत् को भूलकर जगन्नाथ के अप्राकृत सौन्दर्य माधुर्य रूप-रसादि के आस्वादन के लिये लोलुप हैं, वे ही साधन-भजन के परिपक्व होने पर श्याम-माधुरी का आस्वादन कर धन्य होते हैं। विश्व को भूलकर अर्थात् देह-दैहिकादि का अभिमान त्यागकर यथार्थ 'पतित' हुए बिना पतित-पावन का सन्धान पाना अत्यन्त दुष्कर है। श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय कहते हैं-तुम्हारा पतितपावन नाम जगत् में विघोषित है, मैं भी नितान्त पतित ही हूँ; इसलिये मेरी उपेक्षा करोगे तो तुम्हारे पतितपावन नाम पर कलङ्क लगेगा, कारण-ऐसा पतिताधम जन तुम्हें विश्व में खोजने पर नहीं मिलेगा। यदि श्याम कहें-'तुम्हारी उपेक्षा करने से मेरे पतितपावन नाम को कलङ्क लगेगा, लगे; इससे तुम्हें क्या?' तो इसका उत्तर देते हैं-'तुमने उपेक्षा की तो मेरी अन्य कोई गति अर्थात् उपाय या आश्रय कहीं भी नहीं।'

इस अर्द्ध त्रिपदी की व्याख्या इस प्रकार भी हो सकती है–'हे श्याम, तुम्हारे 'कृष्ण' 'गोविन्द' आदि नाम पतितपावन हैं, यह विश्व में सर्वत्र ही विघोषित है। मैं अधम पतित हूँ, तुम्हारे उसी पतित पावन नाम का आश्रय लिये हुए हूँ, इसलिये अनन्यगति, तुम मेरी उपेक्षा नहीं कर सकते।' श्रीकृष्ण पतितपावन हैं, किन्तु उनके नाम में ही इस गुण की सर्वाधिक अभिव्यक्ति है। पुत्र का नाम 'नारायण' उच्चारण करते ही महापातकी मुमुर्षु श्रीअजामिल के निकट विष्णुदूतों का आगमन, यमदूतों का विताड़न कर अजामिल की रक्षा एवं यथासमय वैकुण्ठ में ले आना–ये सब प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत में वर्णित हैं। यमदूतों के प्रति विष्णुदूतों की उक्ति से पता चलता है–

''स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग् ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥''

(भा० ६/२/९-१०)

'स्वर्णस्तेयी (चोर), मद्यप, मित्रद्रोही, ब्रह्मघाती, गुरु–पत्नीगामी, स्त्री राजा पिता और गाय का हत्यारा एवं अन्यान्य जितने प्रकार के महापातकी या अतिपातकी हैं–सभी के लिये श्रीविष्णु का नाम–कीर्तन सभी प्रकार के पापों का श्रेष्ठ और परम पवित्र प्रायश्चित है। कारण यह है कि नाम उच्चारण करने वाले के प्रति श्रीविष्णु की आत्मीय बुद्धि हो जाती है।' तात्पर्य यह है कि अन्य प्रायश्चित्तों से पाप नष्ट हो जाने पर भी पापी के हृदय का शोधन नहीं होता, या उसके चित्त में भगवत्स्मृति नहीं जगती। वरन् 'मैं निष्पाप हूँ' ऐसा अभिमान ही हृदय में उदित होता है। श्रीनामकीर्तनरूपी प्रायश्चित का महत्व यह है कि नामाभास से ही अनन्त महापातक अतिपातक प्रज्ज्वलित अग्नि में रुई के पिण्डों की तरह तत्क्षणात् भस्म हो जाते हैं और पापवासना से मलिन चित्त भी परिशोधित हो जाता है। कारण यह है कि नामाभास से नाम–उच्चारण करने वाले के हृदय में श्रीविष्णु का अनुसन्धान न रहने पर भी, अर्थात् 'मैं विष्णु का नाम ले रहा हूँ' ऐसा अहसास न होने पर भी (जैसे अजामिल ने पुत्र को नारायण कहकर पुकारा था, इसी प्रकार अन्य सङ्केत में नामाभास होता है) श्रीविष्णु को नामोच्चारणकर्ता की बात स्मरण होती है और 'यह मेरा दास है, मेरे द्वारा सर्वदा रक्षणीय है' ऐसी तद्विषया मति का उदय होता है। इसलिये भगवन्नाम में जो पतितपावनता गुण या शक्ति है, वह अन्यत्र कहीं भी सम्भव नहीं।

मानो भगवान् कह रहे हैं–'नाम के वे पतितपावनता आदि गुण तो निरपराधी के प्रति ही प्रकाशित होते हैं, अपराधी के प्रति तो नाम की प्रसन्नता नहीं रहती।' इसके उत्तर में श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं–''यदि होइ अपराधी, तथापिहो तुमि गति, सत्य सत्य जेनो सती पति''। प्रेम की मूर्ति होकर भी विपुल दैन्यवश ठाकुर

महाशय स्वयं को महा अपराधी समझकर कहते हैं-'प्रभु मैं यदि ❋ अपराधी हूँ, तब भी तुम्हीं तो मेरी एकमात्र गति हो; तुम अपराध क्षमा न करोगे, तो मेरा और कोई उपाय नहीं। ठीक उसी प्रकार जैसे पतिव्रता की एकमात्र गति पति ही है। सती रमणी पति चरणों में कोई अपराध करती है, तो पति उसे अवश्य ही क्षमा करता है। क्षमा न करेगा, तो पतिव्रता और किसके पास जायेगी?'

तात्पर्य यह है कि सती रमणी पति के चरणों में कोई अपराध करती है, तो पति उसे अवश्य ही क्षमा करता है। किन्तु पत्नी व्यभिचारिणी हो, तो पति उसे कभी क्षमा नहीं करता; उसका परित्याग ही करता है। श्रीहरि के एकनिष्ठ अनन्य भक्तों की बात भी वही। श्रीहरि के व्रजेन्द्रनन्दन आदि किसी एक विशेष स्वरूप के प्रति निष्ठावान् हैं, अन्य देव-देवियों की उपासना नहीं करते अथवा हृदय में प्रेमसेवा की कामना के अतिरिक्त अन्य किसी कामना के लिये स्थान नहीं है। ऐसे भक्त यदि दैवयोग से असत् सङ्ग के प्रभाव से अथवा असत् संस्कारवश श्रीहरिचरणों में कोई अपराध कर बैठते हैं, तो श्रीहरि उन्हें अवश्य ही क्षमा करते हैं। किन्तु अन्यदेवोपासना या कृष्णेतर कामना हृदय में विद्यमान हो, तो श्रीहरि व्यभिचारिणी रमणी की तरह उसका परित्याग ही करते हैं। अथवा, भगवान् में मन लगाकर उनकी सेवा में नियुक्त होने पर यदि किसी से कोई अपराध होता है, तो भगवान् उसे क्षमा करते हैं। किन्तु भगवत् परिचर्याकार्य में लगे रहकर भी यदि कोई परस्त्री में आसक्त हो व्यभिचार करता है, तो भगवान् उसका अपराध क्षमा नहीं करते, उसकी सेवा भी ग्रहण नहीं करते। हाँ, प्रबल असत् सङ्ग या दुष्ट संस्कार के फलस्वरूप यदि किसी अनन्य-भजनकर्ता की आसक्ति परस्त्री आदि में उत्पन्न होती है और वह उसका परित्याग कर अत्यन्त अनुतप्त होकर यदि श्रीहरिचरणों में ऐकान्तिक भाव से शरणापन्न हो जाय, तो श्रीहरि उस पर प्रसन्न होकर उसे क्षमा कर देते हैं, यह समझना होगा। इसीलिये गीता में कहा है-''क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्त प्रणश्यति''॥३५॥

तुमि तो परम देवा, नाहि मोरे उपेखिवा,

शुनो शुनो प्राणेर ईश्वर।

यदि करि अपराध, तथापिहो तुमि नाथ!

सेवा दिये करो अनुचर॥३६॥

❋ यहाँ 'यदि' शब्द संशय के अर्थ में नहीं, निश्चय के अर्थ में है, कारण-ठाकुर महाशय स्वयं को वास्तव में ही अपराधी समझ रहे हैं। जैसे ''यदि वेदाः प्रमाणं स्युः'' अर्थात् 'यदि वेद की प्रामाणिकता हो'- इसमें 'यदि' शब्द निश्चयार्थ में है, कारण-वेद अवश्य ही प्रामाणिक हैं या वेदों की प्रामाणिकता के विषय में किसी को संशय नहीं हो सकता।

दास्य प्रार्थना :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय अत्यन्त दैन्य या आर्ति से भरकर कृष्णचरणों में दास्य या सेवा की कामना कर रहे हैं-''तुमि तो परम देवा, नाहि मोरे उपेखिवा, शुनो शुनो प्राणेर ईश्वर।'' इससे पूर्व पतिव्रता की पतिनिष्ठा के साथ भक्त की इष्टनिष्ठा की तुलना की गई है। जीव की ऐसी इष्टनिष्ठा केवल परमेश्वर परमदेवता भगवान् में हो, तभी वह प्रकृत परमार्थ लाभ कर धन्य हो सकता है। यदि अन्यदेवोपासक यह सोचें कि वे भी अपने-अपने उपास्यदेव में ऐसी निष्ठा स्थापित करें, तो प्रकृत परमार्थ लाभ करने में सक्षम होंगे-तो यह भूल होगी। कारण यह है कि परमेश्वर भगवान् का नित्यदास जीव भगवत्पादपद्म भूलकर संसारदशा प्राप्त कर चौरासी लाख योनियों में नाना प्रकार के जन्म-मरणादि दु:ख भोगता घूम रहा है। भगवत्पादपद्म-भजन द्वारा उनका दास्य प्राप्त करने के अतिरिक्त प्रकृत परमार्थ लाभ का कोई उपाय नहीं। अन्यान्य देव-देवियों की उपासना निष्ठा के साथ करें तब भी उससे इहलोक के भोग-सम्पदा आदि या परलोक में स्वर्ग-सुखभोग आदि के अतिरिक्त और कुछ मिलने की सम्भावना नहीं। तभी श्रीकृष्ण ने गीताशास्त्र में अर्जुन से कहा है-''मैं सर्वदेवमय हूँ, इसलिये अन्य देवोपासकों की उपासना भले ही मुझे पा ले, वे उपासक मुझे प्राप्त नहीं करते❋, कारण-उनकी उपासना अविधिपूर्वक होती है। अर्थात् उसमें प्रेमप्राप्ति या भगवत्पादपद्मों में सेवाप्राप्ति की कोई विधि नहीं रहती।'' ''येऽप्यन्यदेवताभक्त यजन्ते श्रद्धयान्विता:। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्'' (९/२३)।

श्रीकृष्ण 'परम देवा' ब्रह्म रुद्र आदि देवश्रेष्ठों के भी आराध्य हैं, उनके भी देवता हैं। इतना ही नहीं, ''दिव्यन्तीति देवा:'' अर्थात् भगवान् के अन्यान्य स्वरूप जो परम ज्योतिर्मय या सच्चिदानन्दमय हैं-उन स्वरूपों से भी परम या श्रेष्ठ हैं (श्रीकृष्ण)। अर्थात् वे अंश नहीं हैं, अंशी हैं। कला नहीं हैं, कलानिधि हैं। पुरुष नहीं हैं, पुरुषोत्तम हैं। भगवान् ही नहीं, वे स्वयं भगवान् हैं। अतएव 'परम' शब्द की उन्हीं में पराकाष्ठा है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'प्रभु! तुम सभी भगवत्स्वरूपों के अंशी स्वयं भगवान् हो, इसीलिये मेरी उपेक्षा किसी प्रकार भी नहीं कर सकते; परम करुणामय तुम्हारी तो मेरे प्रति परम अपेक्षा ही वांछनीय है।'

भक्तिशास्त्रों से हमें पता चलता है कि भगवान् को प्राप्त करने की या उनकी सेवा पाने की जितनी आवश्यकता जीव को है, उससे कहीं अधिक व्यापक प्रयोजन है भगवान् को, जीव को भक्तरूप में पाने का। जिन्होंने श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद के श्रीवृहद्भागवतमृत ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड का अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि श्रीगोपकुमार वैकुण्ठ गये, तो श्रीनारायण ने स्वयं श्रीमुख से बताया-गोपकुमार को भक्तरूप में पाने के लिये वे दीर्घकाल से नाना प्रकार से चेष्टा करते आ रहे थे, तदनुरूप करुणा दिखाते आ रहे थे। यह भी कहा

❋ जैसे पर्वत से निकली नदी का प्रवाह समुद्र को पा भी ले, किन्तु जिस पर्वत से वह निकली है वह पर्वत समुद्र को कभी प्राप्त नहीं करता।

कि अब गोपकुमार को पाकर उनकी सुचिरकाल की आशा पूरी हुई है। इन्हीं गोपकुमार ने जब गोलोक में उत्तरगोष्ठकाल में श्रीकृष्ण के दर्शन किये, तो श्रीकृष्ण उन्हें प्रेमावेश में आलिङ्गन कर महानन्द से भरकर मूर्छित हो गये। इससे यह पता चलता है कि सभी भगवत्स्वरूप जीव के प्रति उपेक्षा के बदले परम अपेक्षा रखते हैं; किन्तु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण में इस बात की पराकाष्ठा है।

इसके बाद कहते हैं–''शुनो शुनो प्राणेर ईश्वर''। श्रीकृष्ण की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये या उन्हें सतर्क करने के लिये 'शुनो शुनो' दो बार कहा है। ''प्राणेर ईश्वर''–जो सभी के अन्तरात्मा हैं; सभी के हृदय की बात जिन्हें सर्वदा ही ज्ञात होती है, उन्हें और अधिक क्या कहना! अथवा, ''प्राणेर ईश्वर' का अर्थ है प्राणकोटि प्रिय आराध्य तत्त्व। वे उपेक्षा करें तो जीव की और क्या गति! अथवा, 'प्राणेर ईश्वर' का अर्थ है गौड़ीय वैष्णवसाधकों की प्राणस्वरूपा वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा। उन्हीं के आश्रय में गौड़ीय वैष्णवों का कृष्ण–भजन होता है। उन्हीं वृषभानुनन्दिनी के ईश्वर या प्राणप्रिय रसिकेन्द्र चूड़ामणि श्रीकृष्ण ही प्राणों के ईश्वर हैं। यहाँ प्रार्थना बड़ी भङ्गिमा के साथ श्रीराधामाधव युगलचरणों में ही प्रस्तुत की जा रही है, यह जानना होगा। इसके बाद भी युगल–चरणों में बार–बार प्रार्थना ज्ञापन की गई है। जो प्रार्थना सुनने के लिये श्रीकृष्ण से कहा जा रहा है, वह है – ''यदि करि अपराध, तथापिहो तुमि नाथ, सेवा दिया करो अनुचर''। पिछली त्रिपदी में कहा है–''यदि होइ अपराधी, तथापिहो तुमि गति, सत्य सत्य जेनो सती पति'' अर्थात् 'मैंने बहुत से अपराध किये हैं, अपराधी हूँ, सही, किन्तु पतिगतप्राण पतिव्रता के अपराध क्षमा कर पतिदेवता उससे सन्तुष्ट ही होते हैं; उसी प्रकार तुम्हारे पादपद्ममात्र ही मेरी एकमात्र गति हैं, मेरे अपराध क्षमा कर तुम प्रसन्न होओ।' यदि श्रीकृष्ण कहें–'अच्छा, तुम्हारे समस्त सञ्चित अपराध तो चलो, मैंने क्षमा किये; किन्तु अपराध करना तुम्हारा स्वभाव है, तुम पुनः अपराध न करोगे, इसकी क्या गारण्टी?' अपने असाधारण दैन्य से भरकर इस प्रकार सोचकर कहते हैं–'प्रभु, मेरा स्वभाव तो शत–शत अपराध करना ही है, इसलिये और अपराध न करूँगा, ऐसा नहीं। मैं अपराध करूँ भी, पर प्रभु! तुम तो 'नाथ' हो, अर्थात् सर्वदा रक्षक हो; अपराध–संकुल से तुम्हीं सदा रक्षा करना।' अथवा, ''नाथृ उपतापके'' 'नाथृ' धातु से 'नाथ' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'नाथृ' धातु के बहुत अर्थ हैं; एक है 'उपताप'। 'हे नाथ! यदि अपराध करूँ, तो अपने दास को ताप या दण्ड देकर संशोधन कर लेना।' यदि श्रीकृष्ण कहें–'तुम चाहते क्या हो, सो बोलो।' इसके उत्तर में कहते हैं–''सेवा दिया करो अनुचर''। प्रभु! मुझे अपनी सेवा देकर धन्य करो, अन्य कोई प्रार्थना नहीं करता। तुम्हारी सेवा ही मेरे जीवन का सर्वस्व हो। तुम्हारा अनुचर बनकर सर्वदा निकट रहूँगा और तुम्हारी सेवा करूँगा–यही मेरे जीवन का चरम काम्य है। अथवा 'अनुचर' इस अर्थ में–'तुम लीलामय लीलापुरुषोत्तम हो, अहर्निश श्रीराधारानी के साथ विविध लीलारस में विभोर हो व्रज में जहाँ–जहाँ लीलार्थ परिभ्रमण करोगे, मैं वहाँ–वहाँ सर्वदा तुम दोनों के पीछे–पीछे (अनु–पश्चात्) रहकर सेवा करता हुआ सेवारस में निमग्न रहूँगा–यही कामना है।' तत्वतः प्रेम की मूर्ति होकर भी श्रील ठाकुर महाशय ने दैन्य से भरकर स्वयं को साधारण अनर्थयुक्त साधक जानकर ऐसी प्रार्थना की है। साधकावेश की उक्ति है, इसलिये साधकों के लिये भजनशिक्षा का आदर्श है; ऐसा मानना होगा॥३६॥

कामे मोर हत चित, नाहि माने निज हित,

मनेर ना घुचे दुर्वासना।

मोरे नाथ अङ्गीकुरु, ओहे वांछा-कल्पतरु !

करुणा देखुक सर्वजना॥३७॥

टीका -

दुर्वासना-विषयभोगवासना॥३७॥

वांछाकल्पतरु :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय और भी अधिक दैन्य से स्वयं को कामना-विहतचित्त एवं नितान्त दुर्वासनाग्रस्त मानकर कहते हैं-''कामे मोर हत चित, नाहि माने निज हित, मनेर ना घुचे दुर्वासना''। मन बुद्धि चित्त और अहङ्कार इत्यादि अन्त:करण-वृत्तियों से ही जीव का सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर गठित है। यह सूक्ष्मदेह जीव का पहला आवरण है; दूसरा आवरण है पाञ्चभौतिक स्थूलदेह। सूक्ष्मदेह में ही मानव के असंख्य कर्मसंस्कार निबद्ध रहते हैं। स्थूलदेह बार-बार विनाश को प्राप्त होते हुए भी सूक्ष्म शरीर का नाश मायामुक्ति के पूर्व तक नहीं होता। जीव सूक्ष्मदेह में पूर्व कर्मसंस्कार लेकर कर्मानुरूप स्थूलदेह में प्रवेश करता है। जितने दिन जीव माया के अधिकार में रहता है, उतने दिन एक ही लिङ्गदेह में आबद्ध रहना पड़ता है। इसलिये अनन्त जन्मों की कामना-वासनाओं के संस्कार मानव के चित्तकोष में निबद्ध रहते हैं-यह बात इससे पता चलती है। अनुसन्धानात्मिका अन्त:करण-वृत्ति इस चित्त को 'कामजन्मा' कहा गया है। अर्थात् पूर्व संस्कारों के अनुरूप चित्त से ही कामना का प्रकाश होता है; मन-बुद्धि से उसकी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार वह देहेन्द्रियादि को चञ्चल कर क्रियाशील होती है। तभी कहते हैं-'काम या कामना से मेरा चित्त ''हत'' या विनाश प्राप्त हो गया है।' मेरा चित्त सत्-असत् का विचार करने की शक्ति खो बैठा है। ''नाहि माने निज हित''-अपना हित-अहित विचार कर अहित को त्यागकर अपनी हितकारी वस्तु को ग्रहण करने में सक्षम नहीं है।

तात्पर्य यही है कि अनुसन्धानात्मिका अन्त:करणवृत्ति मानव का यह चित्त उत्तम भगवद्भजन-संस्कार का ही अनुसन्धान करता है। सत्सङ्ग से वह भजनसंस्कार चित्त में स्थापित होता है, तो चित्त समस्त दुष्टता त्यागकर परम शिष्ट बन जाता है और सत्-असत् विचार की यथेष्ट शक्ति पा जाता है। पक्षान्तर से, असत् सङ्ग से दुष्ट वासना चित्त में पैदा होती है, तो दुष्ट चित्त असाधु विषयों में लगकर अतिशय दुर्बल हो जाता है और सत्-असत् विचारशक्ति से शून्य हो जाता है। इसी को हिताहितज्ञानरहित चित्त की 'हत' वत् या मृत्यु तुल्य अवस्था कहा गया है।

इसके बाद कहते हैं-''मनेर ना घुचे दुर्वासना''। चित्त के दुष्ट (दूषित) होने पर मन में दुर्वासना-समूह की अभिव्यक्ति होती है। सङ्कल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरणवृत्ति मन दुर्वासनाओं या विषय-भोग-वासनाओं का ही विविध सङ्कल्प-विकल्प करता है। उन दुर्वासनाओं या विषयवासनाओं के सम्पर्क में आने से अतिशय दुष्ट होकर सत् वस्तुओं के विषय में सोचने की या एकाग्र होकर किसी सत् विषय में स्थिर होने की शक्ति खो बैठता है। मनोवैज्ञानिकों ने चिन्तनशील या बलिष्ठ मन की अपरिमेय शक्ति की बात कही है। आज मनुष्य जड़-विज्ञान-जगत् में तड़ित् (विद्युत) शक्ति को अपने अधिकार में कर नाना प्रकार से आश्चर्यजनक कार्य कर रहा है। जिन कामों को सहस्र-सहस्र लोग दीर्घकाल में भी सम्पन्न नही कर सकते, उन्हें तड़ित्शक्ति से मुहूर्तभर में पूरा कर उससे क्रीतदास की तरह विभिन्न प्रकार से अपने आवश्यक या सुविधाजनक कार्य पूरे करा रहा है। मनुष्य ने जिन समस्त शक्तियों को अपने अधीन कर लिया है, उनमें से प्रत्येक या सम्मिलित शक्तियों की अपेक्षा उसकी स्वयं की शक्ति निश्चय ही कहीं अधिक प्रबल है-यह बात माननी ही होगी। कारण-ऐसा न होता, तो उन समस्त शक्तियों के ऊपर कर्तापना रखकर वह कभी भी उन्हें अपनी आज्ञा के अधीन कर नहीं रख सकता। अन्यान्य शक्तियों के ऊपर कर्तृत्व का कारण ही है मनुष्य का मन। मनुष्य का मनोविज्ञान या चिन्तनशक्ति ही सर्वापेक्षा अधिक शक्तिशाली है। मानव का वही मन या चिन्तनशक्ति यदि सत्सङ्ग में भक्तिमार्ग का आश्रय लेकर भगवत् शरणागति के फलस्वरूप अति प्रबल चित् शक्ति या भक्तिशक्ति की सहायता प्राप्त करता है, तो वह कोटि-कोटि तड़ित् शक्तियों से भी अधिक विपुल बलशाली होकर मानवात्मा को चित् राज्य में ले जाकर उसे भगवत्रसास्वादन देकर सदा-सदा के लिये धन्य बनायेगा-यह कहना ही पर्याप्त है। मानव का वही परम शक्तिशाली मन या विचारशक्ति दुर्वासना-पङ्क में डूबकर चौरासी लाख योनियों के और कुम्भीपाकादि महानरकादि के दुःखों को भोगने का हेतु बना हुआ है-मानव की इससे अधिक भाग्य-विडम्बना और क्या हो सकती है? **''मनेर ना घुचे दुर्वासना''।**

फिर कहते हैं-''मोरे नाथ अङ्गीकुरु, ओहे वांछाकल्पतरु, करुणा देखुक सर्वजना''। 'हे वांछाकल्पतरु प्रभु श्रीकृष्ण! मुझे चिरदास के रूप में श्रीचरणों में स्वीकार कर लो; तुम्हारी यह करुणा विश्व में सभी देखें।' श्रीकृष्ण को वांछाकल्पतरु कहा है। श्रीमद्भागवत (१०/३८/२२) में अक्रूर की उक्ति है-

''न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो नचाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा सुरद्रुमो यद्वदुपश्रितोऽर्थदः॥''

अर्थात् 'यद्यपि भगवान् का प्रिय अप्रिय, सुहृत् द्वेष्य या उपेक्ष्य कोई नहीं, तथापि वे भक्तों को भजनानुरूप फलदान किया करते हैं। ठीक उसी तरह जैसे कल्पतरु आश्रित व्यक्ति को फलदान करता है।' यहाँ कल्पतरु के साथ दृष्टान्त इसी अंश में है कि वह आश्रितजन को फलदान करता है, सभी अंशों में नहीं, कारण-कल्पतरु आश्रितजन को फलदान तो करता है, पर कभी उसके अधीन नहीं होता। फिर भक्तसम्बन्ध से भगवान् का भक्त के सुहृद् के प्रति सौहार्द्य और भक्तद्वेषी के प्रति द्वेष भी रहता है। यह कल्पतरु में सम्भव नहीं। इतना ही नहीं, कल्पतरु आश्रित को उसका वांछित फल ही देता है; यह विचार नहीं करता कि वह उसके लिये हितकर है या अहितकर। किन्तु भगवान् भक्त की ऐसी वस्तु चाहने पर भी नहीं देते जो उसका अनिष्ट करे। वे

तो भक्त को परमश्रेय: या पञ्चम पुरुषार्थ प्रेम ही देते हैं। श्रील ठाकुर महाशय वांछाकल्पतरु श्रीकृष्ण से अपनी प्रेमसेवा देने के लिये प्रार्थना कर रहे हैं। समझना होगा कि श्रीकृष्ण की करुणा का यथार्थ निदर्शन अपनी प्रेमसेवा देने में ही है, तभी कहते हैं-''**करुणा देखुक सर्वजना**''॥३७॥

मो सम पतित नाइ, त्रिभुवने देखो चाइ,

नरोत्तम पावन नाम धर।

घुषुक संसारे नाम, पतितपावन श्याम,

निज दास करो गिरिधर॥३८॥

गिरिधारी का दास्य :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय का दैन्य क्रमश: बढ़कर पराकाष्ठा पर जा पहुँचा है। उनका ऐसा दैन्य प्रेम की ही परिपक्वता-विशेष है। ''देन्यन्तु परमं प्रेम्न: परिपाकेन जन्यते'' (वृ०भा० २/५/२४४)- दैन्य की परिपक्व दशा में प्रेम जितना ही गाढ़ होता है, अभीष्ट की सेवा के लिये उत्कण्ठा भी उतनी बढ़ती है। इसलिये उत्कण्ठा के उत्कर्ष से प्रेम का उत्कर्ष भी पता चलता है। दैन्य और उत्कण्ठा प्रेम के ही स्वरूपगत धर्म हैं। दैन्य ही अभीष्ट की कृपा आकर्षित करता है और दैन्य में ही कृपा की स्थिति होती है। इसीलिये साधक के लिये आवश्यक है कि वह कायमनोवाक्य से सतत पूरे प्रयत्न के साथ दैन्य की रक्षा करे।

''यया वाचेऽया दैन्यं मत्या च स्थैर्यमिति तत्।
तां यत्नेन भजेद्विद्वांस्तद्विरुद्धानि वर्जयेत्॥''

(वृ० भा० २/५/२२३)

'जिस वाक्य द्वारा, जिस चेष्टा द्वारा एवं जिस बुद्धि द्वारा दैन्य स्थिरता प्राप्त करता है, बुद्धिमान साधक यत्नपूर्वक तदनुरूप आचरण करें और उसके विरुद्ध आचरण का वर्जन करें।' श्रील ठाकुर महाशय प्रेम की मूर्ति हैं, इसलिये प्रेम उनकी स्वत:सिद्ध सम्पदा है, तभी परम दैन्य के आवेग में कह रहे हैं-''मो सम पतित नाइ, त्रिभुवने देखो चाइ, नरोत्तम-पावन नाम धरो।''''हे प्रभु श्रीकृष्ण! इस त्रिभुवन में मुझ-जैसा पतित अधम और कोई नहीं है। तुम थोड़ा सा विचार करोगे तो सहज ही समझ जाओगे।' यही प्रकृत दैन्य का स्वभाव है। जो यथार्थ ही पापी तापी अधम पतित हैं, वे स्वयं को पापी या अधम नहीं मानते। जो अपाप-विद्ध महात्मा हैं, जिनकी श्रीचरणरेणु के स्पर्श से विश्व पवित्र हो जाता है, वे स्वयं को त्रिभुवन में सबसे अधिक पापी, तापी, अधम, पतित या जगत का भारस्वरूप मानते हैं। इसलिये यह दैन्य साधारण नहीं; असाधारण महागुणशालिनी जो भागवती भक्ति है, उससे उत्पन्न यह दैन्य भक्त का महागुण या भूषणविशेष है। इस दैन्यभूषण से ही भूषित होकर भक्त भगवत् कृपा को आकर्षित करता है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'प्रभु तुम मेरा उद्धार कर ''नरोत्तम- पावन''

नाम धारण करो। तुम्हारे अनन्त नामों में सर्वाधिक पतित को उद्धार करने के साक्षी-स्वरूप यह नाम विश्व में विघोषित होकर पापी-तापियों के हृदय में आशा का सञ्चार करे'-''घुषुक संसारे नाम, पतित-पावन श्याम, निज दास करो गिरिधर।''' हे श्याम! पतितोद्धार की पराकाष्ठास्वरूप यह ''नरोत्तमपावन'' नाम विश्व में विघोषित होकर अधम पतितों को तुम्हारे श्रीचरण-भजन में उद्बुद्ध कर दे। हे गिरिधर! प्रभो, तुम इस दीनजन को अपना दास बनाकर सेवा प्रदान कर धन्य करो।' यहाँ 'गिरिधर' शब्द प्रयोग करने का तात्पर्य यही है कि श्रीकृष्ण ने इन्द्रयाग खण्डन कर श्रीगोवर्धन की पूजा का प्रवर्तन किया, तो इन्द्र ने कुपित होकर व्रजध्वंस का सङ्कल्प कर प्रलयकालीन मेघों को नियोजित कर भयावह आँधी-वृष्टि की सृष्टि की थी। तब श्रीकृष्ण ने व्रजवासियों की रक्षा के लिये सात दिन-रात सुविशाल गोवर्धन पर्वत को बायें हाथ पर रखकर उन सबको निरापद आश्रय प्रदान किया था। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'हे गिरिधर! काम आदि रिपुगण प्रलयकालीन मेघों की तरह अनर्थ बरसा कर मुझे डुबोकर दु:खसिन्धु की ओर लिये जा रहे हैं! प्रभो! तुम मुझे अपने श्रीचरणरूपी छाते की छाया में थोड़ा-सा स्थान देकर रक्षा कर अपने गिरिधर नाम की सार्थकता करो'॥३८॥

नरोत्तम बड़ो दु:खी, नाथ! मोरे करो सुखी,
तोमार भजन-सङ्कीर्तने।
अन्तराय नाहि जाय, एइ तो परम भय,
निवेदन करि अनुक्षणे॥३९॥

टीका -

अन्तराय-कामादि-कृत-विघ्न:।

भजन-सङ्कीर्तन :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय अब सङ्कीर्तनरूपी भजन हेतु प्रार्थना कर कहते हैं-''नरोत्तम बड़ो दु:खी, नाथ! मोरे करो सुखी, तोमार भजन-सङ्कीर्तने''। 'हे नाथ श्रीकृष्ण! यह नरोत्तम बड़ा ही दु:खी है, तुम्हीं हो इसके भयावह दु:ख से परित्राण करने वाले, (नाथ शब्द का अर्थ रक्षक पालक) इसलिये दु:ख से रक्षा कर सुख देकर इसका पालन करो।' यदि श्रीकृष्ण कहने लगें-'तुम्हें सुख कैसे मिलेगा, सो बताओ।' इसका उत्तर देते हैं-''तोमार भजन सङ्कीर्तने!'' तुम्हारे भजन में और तुम्हारे नाम सङ्कीर्तन में ही मेरा एकान्त सुख है, इसलिये अपने भजन का सौभाग्य प्रदान कर मुझे सुखी करो। श्रील ठाकुर महाशय अत्यन्त दैन्य से भरकर स्वयं को संसारी व्यक्ति समझकर जो कह रहे हैं, वह विषय-विमत्त संसारी जनों के लिये मृतसञ्जीवनी की तरह परम हितकारी उपदेश है। स्वरूपविस्मृत सांसारिक मनुष्य आहार-विहारादि संसार-सुखों में प्रमत्त होकर इसी को परम सुखकर अवस्था मानकर ज्ञान-बुद्धि का आधार मानव शरीर पाकर भी नाना प्रकार की दु:खकर योनियों और भयावह नरकादि दु:ख भोगों का हेतु स्वयं रच लेता है। श्रील ठाकुर महाशय ने स्वयं ही

कहा है-''विषय गरलमय, ताते मानो सुखचय, सेइ सुख दु:ख करि मानो''। किञ्चित् विचार करने पर सभी सहज ही समझ सकेंगे कि संसार-सुखों का मोह नाना प्रकार के अवर्णनीय दु:खों का हेतु है; उसे क्या सुख कहा जा सकता है? वह तो घनीभूत दु:ख या क्लेश का ही आकार है, यह बात सहज ही समझ में आ जाती है। महर्षि गौतम के न्याय-दर्शन मत में दु:ख निवृत्ति का नाम मुक्ति है। उनके मत में दु:ख इक्कीस प्रकार के हैं: शरीर, छह इन्द्रियाँ, छह विषय, छह बुद्धियाँ-ये उन्नीस वस्तुएँ दु:खस्थान होने से 'दु:ख' नाम से अभिहित हैं। सुख भी दु:ख का परिणाम होने से दु:ख ही है और दु:ख तो स्वयं है ही। ये ही इक्कीस दु:ख हैं। इस मत से भी सुख को दु:ख ही माना जाता है। वस्तुत: प्रकृत सुख इस जड़ जगत् की वस्तु नहीं है। तभी कहा गया है-

''सुख नाइ कभु ए संसारे।
सुख आछे मायार ओपारे॥
सुख बोले तुमि देखो जारे।
से तोमाय दु:ख दिबार तरे-॥
आछे सुखेर आकार धरे।
सर्वात्मा गिलिबार तरे॥
जेमन केहो नागिनीरे।
पुष्पमाला बोले परे॥
तार विषे सब अङ्ग जारे।
केबा बाँचाबे तारे॥
साधु धन्वन्तरी धरे।
अकपटे आश्रय करे-॥
झाड़ाओ बाहिरे अन्तरे।
तबे डुबिबे सुख-सायरे॥'' ❋

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''नरोत्तम बड़ो दु:खी''। दु:ख थोड़ा-बहुत हम सभी को है, किन्तु दु:ख का अनुभव नहीं। दु:ख की अनुभूति मानवजीवन की पर्शमणि (पारस) है। इसके स्पर्श से विषय-मलिन चित्त लोहे की तरह भक्ति-वासना से स्वर्णोज्ज्वल हो उठता है। दु:खानुभव करते-करते ही मानव महत् कृपा से सुखमय गोविन्दचरणों की ओर हाथ बढ़ा सकता है। अन्त में वह आनन्दमय श्रीगोविन्द की श्रीपादपद्म-सेवा पाकर धन्य हो जाता है।

❋ मेरे परमाराध्य १०८ श्रीश्रीमत् गुरु महाराज के 'भब कूपे जीवेर गति' ग्रन्थ में कवर पर यह पद्य विन्यस्त है।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-श्रीकृष्ण के भजन-सङ्कीर्तन में ही प्रकृत आनन्द है। आनन्दमय या रसमय श्रीकृष्ण के रूप गुण लीला में ही उनकी आनन्द-रूपता या रसरूपता की अभिव्यक्ति है। श्रवण-कीर्तन आदि भजनाङ्गों के सेवन से ही इन रूप-गुण-लीला आदि की अखण्ड रसमाधुरी भक्त आस्वादन करता है। श्रील ठाकुर महाशय ने जिस भजन की बात कही है, वह श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्ति ही माना जायेगा। फिर कहते हैं 'सङ्कीर्तन'। नवधा भक्ति में ही सङ्कीर्तन आ जाता है, फिर भी उन्होंने श्रेष्ठत्व बताने की इच्छा से विशेषरूप से नाम-सङ्कीर्तन में रति की कामना की है। श्रीचैतन्यचरितामृत में देखा जाता है-''भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति, कृष्णप्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति॥ तारमध्ये सर्वश्रेष्ठ-नाम सङ्कीर्तन। निरपराध-नाम हैते हय प्रेमधन॥'' अनेक लोग एकत्रित होकर उच्चस्वर से श्रीखोलकरताल आदि के सहयोग से जो कीर्तन करते हैं, उसे 'सङ्कीर्तन' कहा जाता है। इससे स्वयं का, दूसरे का, यहाँ तक कि स्थावर-जङ्गम आदि का भी नाम सुनने का सौभाग्य होता है, इसलिये जप आदि से इसका श्रेष्ठत्व है। फिर लीला-चिन्तनादि के साथ नाम-कीर्तन को भी 'सङ्कीर्तन' (सम्यक् कीर्तन) कहा जा सकता है। गौड़ीय वैष्णवसाधकों के रागमार्गीय भजन में लीलाचिन्तन के साथ नामकीर्तन का विधान है। श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय ने 'गरानहाटी' स्वर का प्रवर्तन कर नाम गुण लीलादि के सङ्कीर्तनरस को मूर्तिमान् कर दिया है, तभी लिखा हुआ है-''सङ्कीर्तनानन्दज-मन्दहास्य-दन्तद्युति-द्योतितदिङ्मुखाय। स्वेदाश्रुधारा-स्नपिताय तस्मै नमो नमः श्रील नरोत्तमाय॥'' अर्थात् 'जिनके सङ्कीर्तनादि-जनित मन्दहास्य की दन्तप्रभा से दिङ्मण्डल उद्भासित हो रहा है, जो सङ्कीर्तन के समय स्वेदाश्रुधारा से स्नपिताङ्ग हो रहे हैं (भीग रहे हैं), उन्हीं श्रील ठाकुर नरोत्तम को बार-बार प्रणाम करता हूँ।' सङ्कीर्तनादि में श्रील ठाकुर महाशय के सुखी होने का प्रकृष्ट परिचय इसी से मिलता है।

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर एक अति मूल्यवान बात कहते हैं-''अन्तराय नाहि जाय, एइ से परम भय, निवेदन करि अनुक्षणे''। भक्तिसाधना इतनी अचिन्तशक्तिशाली है कि अपराध आदि अनर्थों के अभाव में अति शीघ्र ही साधक भजन-फल प्रेम प्राप्तकर धन्य हो जाता है। अन्तरायों के तारतम्य से ही प्रेमप्राप्ति में विलम्ब होता है। जो लोग श्रीगुरु-वैष्णवों का श्रीचरणाश्रय लेकर अपराध आदि भजन-विघ्नों की ओर सतत दृष्टि रखकर सतर्क रहते हैं कि किसी भी प्रकार ये विघ्न न आने पायें और इसलिये डरकर उन्हें दूर रखते हुए भजन में लगे रहते हैं, उन सतर्क साधकों के आगे अन्तराय नहीं आ सकते। दैवयोग से किसी असत् सङ्ग या दुष्ट संस्कारवश ऐसा कोई अन्तराय आता भी है तो वे लोग अत्यन्त अनुतप्त होकर और भी दृढ़ता से श्रीगुरु-वैष्णव की कृपा एवं भगवच्चरणशरणागति का सहारा लेकर उसे शीघ्र ही दूर कर लेते हैं। श्रीगुरु-वैष्णवों के चरणों में एवं श्रीभगवत्-पादपद्मों में सकातर प्रार्थना साधक की उन सब अन्तरायों से सतत् रक्षा करती है। अर्थात् साधक की सकातर प्रार्थना से उसके प्रति भगवत् कृपा का निःसरण होता है, फलस्वरूप अन्तराय दूर हो जाते हैं। तभी कहा है-''निवेदन करि अनुक्षणे''॥३९॥

आन कथा आन व्यथा, नाहि जेनो जाइ तथा,

तोमार चरण-स्मृति साजे।

अविरत अविरल, तुया गुण कल कल,

गाइ जेनो सतेर समाजे॥४०॥

टीका -

आन कथा आन व्यथा-यत्रान्यकथास्ति तत्रान्य व्यथास्ति; तत्र नाहं गच्छामि॥

भगवद्-गुणकीर्तन :

सुधाकणिका व्याख्या - इस त्रिपदी में पूज्यपाद श्रील ग्रन्थकार महोदय श्रीकृष्णचरणों में प्रार्थना कर रहे हैं कि वे उस अन्य कथा और अन्य व्यथा का सम्पर्क त्याग सकें, जिससे अन्तरायों का उद्‌गम होता है तथा भगवत् पाद-पद्म स्मृतिरस में डूबकर महत्सङ्ग में सतत हरिगुण-गान में प्रमत्त हो सकें। पहले कृष्णेतर प्रसङ्गों में आसक्ति त्यागने के लिये प्रार्थना करते हैं-''आन कथा आन व्यथा, नाहि जेनो जाइ तथा''-जहाँ कृष्णकथा छोड़कर अन्य कथा या सांसारिक कथा होती है, वहाँ निश्चय ही कृष्ण व्यथा को छोड़ अन्य व्यथा है-यह जानना होगा। कृष्णेतर प्रसङ्ग-अर्थात् भगवान् और उनके भक्तों की कथा को छोड़ देह-दैहिकादि विषयक इतर वार्ता के श्रवण-कीर्तन से चित्त जितना विक्षिप्त होता है, उतना अन्य किसी बात से नहीं होता। कारण यह है कि चित्त दर्पण की तरह सामने आये विषयों का प्रतिबिम्ब ही ग्रहण करता है और उन-उन विषयों के संस्कार ही चित्त में स्थापित हो जाते हैं। संस्कारों के अनुरूप जड़ीय विषयों का चिन्तन करते-करते उनमें आदमी की आसक्ति उत्पन्न हो जाती है और उन्हें भोगने की कामना जन्म लेती है। वह कामना अवरुद्ध होती है, तो क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मोह या कार्याकार्य-विवेकशून्यता, मोह से स्मृतिभ्रंश या बुद्धिनाश और उसी से विनाश या सर्वनाश। अर्थात् चौरासी लाख योनियों में बार-बार भ्रमण और नरकादि यंत्रणाओं का भोग। यही विषय-चिन्तन का विषमय फल है। गीता में देखते हैं-

''ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥''

(२/६२-६३)

अन्य कथा से इसी प्रकार अति विषय या भयावह अन्य व्यथा आ खड़ी होती है। हमारे हृदय के राग या प्रेम के एकमात्र योग्य आश्रय भगवान् ही हैं, किन्तु हम लोग अन्य कथा के संसर्ग में आकर उस राग को जब

विषय-अभिमुखी कर देते हैं, तो राग दुष्ट होकर हृदय की सद्वृत्तियों को चुराकर हमें दरिद्र बना देता है। श्रीमद्भागवत में देखने में आता है-

''तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रि निगड़ो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥''

(१०/१४/३६)

ब्रह्माजी ने कहा-'हे श्रीकृष्ण! जीव जब तक तुम्हारे प्रति प्रीतिपरायण नहीं होता, तब तक उसके हृदय के राग आदि तस्कर, गृह कारागार एवं मोह पैरों की बेड़ियों-जैसा होता है।' इस श्लोक की वैष्णवतोषणी टीका में लिखा है-''तत्र निरुपाधि-प्रेमास्पदस्यात्मनोऽप्यात्मत्वेन त्वमेव रागस्य स्वाभाविकपरमयोग्याश्रयः। अतस्तल्ल-क्षणनिजस्वामिनमनुपलम्येव भ्रमन्नसौ जनानां शुभवासनारूपां तद्भजनसामग्रीं हरंश्चौर एव ततस्तदनुवर्तिनोऽपि तादृशाः। अथ गृहमयोविषयोऽप्यवशिष्टदण्डनायैव कारागारोकृतः स्यात्। तत्पादानुस्मरणविरोधि बोधप्रदत्वात्। मोहोऽप्यसौ तेन तेनावस्थावैशिष्ट्यं प्राप्तस्तत्र स्वंय निगड़ायते।'' अर्थात् ब्रह्माजी बोले-'हे प्रभो! जीव के निरुपाधि प्रेमास्पद आत्मा के भी आत्मा तुम ही उन लोगों के राग (प्रेम) के एकमात्र योग्य आश्रय हो। अतएव वैसे लक्षणयुक्त अपने स्वामी को न पाकर अस्थिर होकर घूमने वाले लोगों का राग उन लोगों की शुभवासनारूपी तुम्हारी भजनसामग्री को चोर की तरह हरण कर उन्हें रिक्त कर देता है। राग की अनुवर्ति दया-उदारता आदि हृदय की वृत्तियाँ भी उसका अनुसरण कर दुष्ट हो जाती है। दुर्विषयमय गृह-अन्धकूप भी उन लोगों के लिये दण्डभोग का स्थान कारागार तुल्य हो जाता है, कारण-वे गृह आदि तुम्हारा स्मृति-विरोधी बोध प्रदान करते हैं। उन लोगों का मोह भी वैसी अवस्थाविशेष प्राप्तकर पादशृंखलावत् महाबन्धनप्रद हो जाता है।' इन सभी को कृष्णेतर विषयवार्ता के सम्पर्क का विषमय फल समझना होगा।

'आनकथा' अर्थात् विषयी के साथ विषयवार्ता त्यागकर सत्सङ्ग में कृष्णकथा श्रवण-कीर्तनादि करते-करते आनव्यथा या निदारुण संसार यंत्रणा के बदले अति वरणीय या श्लाघनीय कृष्णव्यथा साधक को मिलती है। अर्थात् वह शीघ्र ही श्रीकृष्णचरणों में प्रेम प्राप्तकर श्रीकृष्ण के दर्शन या साक्षात् सेवा-प्राप्ति के अभाव में विरहव्यथा लेकर धन्य हो जाता है। श्रीकृष्ण-विरह की व्यथा बाहर से व्यथा की तरह दिखाई देने पर भी वस्तुतः उसे परमस्वादु जाननी होगी। इसलिये प्राण कृष्णविहरव्यथा भोगना चाहते हैं। इसका कारण यही है कि प्रेम के ही दो कलेवर है-एक मिलन, दूसरा विरह। प्रेमिकों को श्रीकृष्ण मिलनानन्द में और श्रीकृष्ण-विरहदुःख के सिन्धु में सतत निमग्न रहना होता है। सांसारिक सुख-दुःख इस अप्राकृत सुख-दुःख की कोई धारण ही नहीं करा सकते, कारण-विश्व के सुख और दुःख परस्पर प्रतियोगी है। सुखानुभव के समय दुःख का अनुभव नहीं रहता और दुःख के अनुभव के समय सुख का कोई संस्पर्श नहीं रहता। प्रेमिक भक्त एक साथ अपने प्रियतम श्रीकृष्ण का मिलनानन्द और विरह ज्वाला भोग करते हैं। ''बहिर्विष ज्वाला हय, अन्तर आनन्दमय, कृष्णप्रेमार अद्भुत चरित।'' (चै० च०)

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं–जहाँ अन्य कथा और अन्य व्यथा है, ''नाहि जेनों जाइ तथा'' अर्थात् वहाँ कभी न जाऊँ। कृष्णेतर विषयों के संस्पर्श में न जाना पड़े, इसका सहज सरल उपाय बताते हैं–''तोमार चरण–स्मृति साजे''–हे प्रभु श्रीकृष्ण! तुम्हारे श्रीचरणकमलों की स्मृति मेरे हृदय में सदा 'साजे' या शोभा पाये। बाद में (त्रिपदी ६० में) कहेंगे–''मनेर स्मरण प्राण।'' भगवत्स्मृति ही मन का प्राणस्वरूप है; स्मृतिविहीन मन मानो निष्प्राण है। देह में प्राण रहते हैं, तो श्रृगाल कुक्कुरादि पास नहीं जाते; निष्प्राण देह का भक्षण कर वे आनन्द पाते हैं। इसी प्रकार जिस मन में हरिस्मृति विराजती है, वहाँ कृष्णेतर प्रसङ्गों या काम–क्रोधादि का उत्पात नहीं रहता–ये सब हरिस्मृतिविहीन मन को लेकर ही आनन्द मानते हैं। श्रीगरुड़पुराण में लिखा है–

''एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मूहूर्ते ध्यानवर्जिते।
दस्युभिर्मूषितेनैव युक्तमाक्रन्दितुं भृशम्॥''

'यदि एक मुहूर्त भी श्रीहरि की स्मृति के बिना निकले, तो साधक को उसी प्रकार रोना चाहिये जिस प्रकार दस्युगण द्वारा सर्वस्व लूट लेने पर लोग आर्त स्वर में रोते हैं।' श्रीहरिस्मृति ही मन का प्राण या सर्वस्व है–ऐसा कहकर श्रील ग्रन्थकार ने अपने मन और चित्त की शोभा बढ़ानी चाही है।

इसके पश्चात् महत् सङ्ग में आवेशमय श्रीहरिगुण–कीर्तन के सौभाग्य हेतु प्रार्थना करते हुए कहते हैं–''अविरत अविकल, तुया गुण कल कल, गाइ जेनो सतेर समाजे''–अर्थात् 'हे प्रभु!' अविकल' या अविक्षिप्तचित्त से महद्गण की सभा में 'कल–कल' अर्थात् मधुर अस्फुट स्वर में निरन्तर तुम्हारा लीला–गुणगान कर सकूँ–ऐसी कृपा करो।' श्रीकृष्ण के लीलागुण स्वभावतः मधुरातिमधुर, प्रतिपद में स्वादु और हृत्कर्ण रसायन हैं–उन्हें मधुर स्वर में गाकर महद्गण की सेवा का सौभाग्य प्राप्त करना भगवान् को पाने से भी अधिक किसी महत्तर वस्तु को पाना है, यह समझना होगा। कारण यह है कि इससे महद्गण की करुणा के साथ भगवान् की सर्वाधिक करुणा पाकर साधक धन्य होता है। श्रीमद्भागवत में गोपीगीत में व्रजदेवियों ने कृष्णकथा–कीर्तनकारी को 'भूरिदा' कहा है। श्रीराधारानी ने स्वयं प्रतिज्ञा की है–''आमार कथा बोले जेइ, आमार मतन हय सेइ, बसिया कहिनु वृन्दावने'' (पदकर्ता श्रीजगदानन्द)। श्रीगीता के अन्त में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है–

''य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥''

अर्थात् 'जो इस परम गूढ़शास्त्र का उपदेश मेरे भक्तों के आगे करता है, वह पराभक्ति पाकर बिना संशय मुझे प्राप्त करता है। मनुष्यों में उससे अधिक मेरा परितोषकारी पहले भी कोई नहीं हुआ, इस समय भी कोई नहीं, भविष्य में भी कोई नहीं होगा। इसलिये पृथ्वी पर मेरा उससे अधिक प्रिय पहले कोई नहीं हुआ, आज भी कोई नहीं, आगे भी नहीं होगा।' इससे यह प्रमाणित हुआ कि भक्त के आगे भगवान् का कथा–कीर्तन करने वाला श्रीकृष्ण का सर्वाधिक प्रेमपात्र है॥४०॥

अन्यव्रत अन्यदान, नाहि करो वस्तुज्ञान,
अन्य सेवा अन्यदेव पूजा।
हा! हा! कृष्ण बोलि बोलि, बेड़ाबो आनन्द करि,
मने आर नाहि जेनो दूजा॥४१॥

टीका -

वस्तुज्ञान-प्रकरणवलादन्यवस्तुज्ञानं, कृष्ण-कृष्णभक्ति-कृष्णदासेतरज्ञानम्। दूजा-द्वैधं सन्देह इति यावत्॥४१॥

सर्वाधिक आनन्द :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय भजन के अन्य कुछेक अनर्थ त्याग कर केवल 'हा हा कृष्ण' कहते हुए सर्वाधिक आनन्द प्राप्त करेंगे, इस त्रिपदी में यही कह रहे हैं। पहले त्याज्य विषय बताते हैं- ''अन्यव्रत, अन्यदान, नाहि करो वस्तुज्ञान, अन्यसेवा अन्यदेव-पूजा।'' अन्यव्रत-श्रीहरिवासर आदि वैष्णव-व्रतों के अतिरिक्त अन्य देव-देवियों के व्रतादि वैष्णव को त्यागने होंगे। एकादशी, श्रीकृष्णाष्टमी, राधाष्टमी, श्रीरामनवमी, वामन द्वादशी, नृसिंहचतुर्दशी, शिवरात्रि, श्रीगौर पूर्णिमा, नित्यानन्द त्रयोदशी, अद्वैत जयन्ती आदि व्रतों का परिपालन गौड़ीय वैष्णव करते हैं। श्रीसनातनशिक्षा में श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है-''एइ सभारे बिद्धा त्याग अबिद्धा-करण। अकरणे दोष कोइले भक्तिलम्भन॥'' (चै० च०) अकरण में दोष या प्रत्यवाय के सम्बन्ध में श्रीमन्नारदीय में लिखा है-''यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यासमानि च। अन्नमाश्रित्य तिष्ठन्ति सम्प्रान्ते हरिवासरे। तानि पापन्यवाप्नोति भुञ्जानो हरिवासरे॥'' अर्थात् विश्व में ब्रह्महत्यादि जितने प्रकार के पाप हैं, वे सभी पाप श्रीहरिवासर में अन्न को आश्रय बनाकर रहते हैं; उस दिन अन्नभोजन के माध्यम से उन्हीं सब पापों को ग्रहण किया जाता है। स्कन्दपुराण में आया है-''मातृहा पितृहा चैव भ्रातृहा गुरुहा तथा। एकादश्यान्तु यो भुङ्क्ते विष्णुलोकाच्च्युतो भवेत्॥''''जो एकादशी को अन्न खाता है, वह माता पिता भ्रातृ एवं गुरुहत्या के पाप से ग्रस्त होता है और उसे सदा के लिये विष्णुलोक से विच्युत रहना पड़ता है।' एकादशी आदि व्रत-पालन से भक्तिप्राप्ति के सम्बन्ध में वैष्णवतंत्र में लिखित है-''एकादशी महापुन्या विष्णोरीशस्य वल्लभा। तस्यामुपोषितो यस्तु द्वादश्यां पूजयेद्धरिम्। तस्य पापानि नश्यन्ति विष्णौ भक्तिश्च जायते॥'' अर्थात् 'महापुन्यमय श्रीएकादशी तिथि श्रीविष्णु की परम प्रिय है; जो एकादशी को उपवास रखकर द्वादशी को श्रीहरि की सेवा करते हैं, उनके सभी प्रकार के पाप विनष्ट होते हैं और विष्णुभक्ति उत्पन्न होती है।' इसी प्रकार श्रीहरिभक्तिविलास में शत-शत शास्त्र वाणियाँ उद्धृत कर द्वादश विलास में वैष्णवव्रत की महिमा-कीर्तन कि गयी है। वैष्णवव्रत छोड़कर अन्यव्रत रखने का दोष भी बताया गया है-''एकादशीं परित्यज्य योऽन्यव्रतमुपासते। सङ्करस्थ महारत्नं त्यक्त्वा लोष्ट्रं हि याचते॥'' (तत्त्वसागर)-'जो एकादशी (उपलक्षण से उल्लिखित वैष्णवव्रत समूह भी) परित्याग कर अन्यव्रत

पालन करता है, वह हाथ में आये महारत्न को त्यागकर उसके बदले मिट्टी का ढेला चाहता है।' इसलिये श्रेय:कामी साधक को अन्यव्रत त्यागने होंगे।

भक्ति पाने के इच्छुक साधक के लिये अन्य दान भी त्याज्य है। श्रीकृष्ण और वैष्णव की प्रीति के अतिरिक्त अन्य उद्देश्य से किया गया दान या अपात्र को किया गया दान ही 'अन्य दान' है। श्रीविष्णु की प्रीति-कामना से वैष्णवों को ही दान करना होगा। ''तस्माद्विष्णुप्रसादाय वैष्णवान् परितोषयेत्'' ''तस्मै देयं ततो ग्राह्यं सच पूज्य यथा ह्यहम्''-अर्थात् 'श्रीविष्णु के प्रसाद की कामना से वैष्णवों को परितुष्ट करो' 'वैष्णवों को दान करो, उन्हीं से ग्रहण करो; वे मेरे तुल्य ही पूज्य हैं'। इन शास्त्रवाणियों से वैष्णव को किये दान का महत्व जाना जाता है। विष्णुभक्त को किया दान ही गुणातीत, भक्तिप्रसू और निर्गुण दान है। उसके अतिरिक्त सात्त्विक, राजस और तामस दान की बात गीता में बताई गई है -

''दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥''

(गीता १७/२०-२२)

'दान करना उचित है-इस प्रकार कर्तव्य बुद्धि से यथायोग्य देश काल पात्र विचार कर अनुपकारी व्यक्ति को (अर्थात् बदले में उपकार की आशा न रखकर) जो दान किया जाता है, उसे सात्त्विक दान कहा जाता है। प्रत्युपकार की आशा से या स्वर्गादि फलों की कामना से अति कष्ट के साथ जो दान किया जाय, उसे राजस दान कहते हैं। अदेश में, अकाल में और अपात्र को सत्कार के बिना और अवज्ञा के साथ जो दान किया जाता है, उसका नाम तामस दान है।' ये सब गुणमय दान ही अन्यदान हैं; इनसे कृष्णभक्ति-प्राप्ति की सम्भावना नहीं, इसलिये भक्त-साधक इनका वर्जन करें। विष्णु-प्रीति की कामना से वैष्णवों को किया दान ही निर्गुण दान है, इसी के फलस्वरूप कृष्णभक्ति प्राप्त होती है।

फिर ''नाहि करो वस्तुज्ञान'' - अर्थात् प्रकरण के अनुरूप श्रीकृष्ण, कृष्णभक्ति और कृष्णदास इस त्रिविध पारमार्थिक तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुज्ञान की (मायिक विश्व के देह-देहिकादि सम्बन्धी वस्तुओं के ज्ञान से आरम्भ कर निर्विशेष ब्रह्म के ज्ञान तक) - भक्त को और किसी भी वस्तु के अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं। जिस वस्तु को जानने के बाद और कुछ भी जानने को नहीं रहता, जिसे पाकर और कुछ भी पाने को नहीं बचता, वह अच्युत ही परम वस्तु हैं-''बिनाच्युतात् वस्तुपरं न वाच्यम्।'' वही वस्तु सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य तत्त्व है-''वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदम्'' (भा० १/१/२)। उसी परम वस्तु को

जानने के लिये साधन, भजन और व्रजवास है। श्रील लीलाशुक ने उसी परम वस्तु का अनुभव प्राप्तकर कहा था –

''अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं
वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्तस्रस्तनिरुद्ध - नीवि - विलसद्गोपीसहस्रावृतं
हस्तन्यस्तनतापवर्गमखिलोदारं किशोराकृति॥''

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्-२)

'जो स्वर्गीय तरुणियों के हाथों के अग्रभाग से बरसाये कल्पतरु के पुष्पों द्वारा लदी ढकी है, वेणुनादलहरी के मोहन-माधुर्यानन्द से झूमती और स्खलित नीवियों (कटिबन्धन) से युक्त सहस्र-सहस्र गोपाङ्गनाओं द्वारा परिवेष्टित है, जिसके हाथों में प्रणतजन का अपवर्ग (परमगति) विद्यमान है, जो सभी के प्रति उदार है-ऐसी एक किशोराकृति वस्तु श्रीवृन्दावन में नित्य विराजमान है।' इस निरुपम माधुर्यमय वस्तु की माधुरी में मन निमग्न हो जाय तो समस्त इतर वस्तुओं में ही अरुचि हो जाती है।

फिर 'अन्यसेवा'। श्रीकृष्ण और उनके भक्तों की सेवा के अतिरिक्त दूसरे की सेवा एवं अन्य देवों की पूजा वैष्णव के लिये निषिद्ध है। साधक के लिये श्रीकृष्णसेवा की या अर्चा-विग्रह सेवा की नित्यता है, उसके साथ वैष्णव की सेवा भी नियमित करणीय है। भगवान् ने उद्धवजी को अपनी स्वयं की सेवा से भी अधिक प्रयोजनीयता वैष्णवसेवा की बताई है-''मद्भक्तपूजाभ्यधिका'' (भा० ११/१९/२१) ''अभ्यधिका मत्पूजातोऽपि तत्र मम सन्तोषविशेषात्'' (क्रमसन्दर्भ टीका) 'मुझे मेरी स्वयं की सेवा से भी अधिक सन्तोष मेरे भक्त की सेवा से होता है, यह जानकर विशेष यत्न के साथ भक्त की सेवा करनी है।' ''तस्माद्विष्णुप्रसादाय वैष्णवान् परितोषयेत्। प्रसादं सुमुखो विष्णुस्तेनैव स्यान्न संशयः॥'' (इतिहास समुच्चय) अर्थात् 'विष्णु के प्रसाद की कामना से वैष्णवों को प्रसन्न करो, उसी से विष्णु का सम्यक् प्रसाद प्राप्त होगा, संशय नहीं।' इसलिये साधक कृष्ण और कृष्णभक्त के अतिरिक्त और किसी की सेवा न करें एवं अन्य देवताओं की पूजा कभी न करें, इससे पहले भी अन्य देवताओं की पूजा के निषेध की बात कही गई है। यह अनन्यभक्ति के लिये विशेष हानिकर है, तभी इस विषय का बार-बार उल्लेख कर एकान्ती भक्तों को सतर्क कर दिया है।

अन्त में कहते हैं-''हा! हा! कृष्ण! बोलि बोलि, बेड़ाबो आनन्द करि, मने आर नाहि जेनो दूजा'' - अर्थात् 'ऊपर कहे अनुसार समस्त कृष्णेतर विषयों का सम्पर्क त्यागकर ऐकान्तिक भाव से कृष्णगतप्राण होकर कृष्णविरह में विश्व को सूना समझते हुए 'हा हा कृष्ण! तुम कहाँ हो, दर्शन दो' कह कर रोता हुआ घूमूँगा। इस प्रकार विश्व को भूलकर चित्त श्रीकृष्ण में आविष्ट हो जाय, तो आत्मा यथार्थ या सर्वाधिक आनन्द का आस्वादन पाकर धन्य होगा।' श्रीकृष्ण-विरह में रोदन और हाहाकार भक्त का परम आकांक्षणीय पुरुषार्थ या घनीभूत आनन्दमय अवस्थाविशेष है, यह जानना होगा। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-श्रीकृष्णविरह में रोदन महासुखमय दशा है, इस विषय में ''मने आर नाहि जेनो दूजा''-मेरे मन में कोई दुविधा या सन्देह न रहे॥४१॥

जीवने मरणे गति, राधाकृष्ण प्राणपति,

दोंहार पिरीति-रससुखे।

जुगल सङ्गति जारा, मोर प्राण गले हारा,

एइ कथा रहु मोर बुके॥४२॥

राधाकृष्ण प्राणपति :

सुधाकणिका व्याख्या :- अब श्रील ठाकुर महाशय श्रीमन्महाप्रभु की करुणा के अवदान गौड़ीय वैष्णव साधकों के हार्द्य रागभक्ति के चरम आदर्श युगल-भजन के लिये लालसा प्रकट कर साधकों को युगल-भजन की परिपाटी सिखा रहे हैं-''जीवने मरणे गति, राधाकृष्ण प्राणपति, दोंहार पिरीति रस सुखे। जुगल सङ्गति जारा, मोर प्राण गले हारा, एइ कथा रहु मोर बुके।'' 'राधाकृष्ण मेरे प्राणपति हैं, वे ही जीवन-मरण में अर्थात् इहलोक-परलोक की मेरी एकमात्र गति या परम आश्रय हैं। युगल के पारस्परिक प्रीतिरससुख पर प्रलुब्ध होकर जो सतत उनके साथ या निकट रहती हैं, वे ही सखी मञ्जरियाँ मेरे प्राणों और गले का हार हैं-यह बात सदा ही मेरे हृदय में बनी रहे।'

श्रील ठाकुर महाशय पहले अपनी इष्टनिष्ठा की बात कर रहे हैं। ''राधाकृष्ण प्राणपति''। गौड़ीय वैष्णवों का साध्य तत्त्व है राधादास्य-मञ्जरीभाव। यही श्रीमन्महाप्रभु की करुणा का अवदान और श्रीरूप-सनातन आदि षड् गोस्वामिपाद द्वारा प्रचारित परम हार्द्य वस्तु है। श्रील गोस्वामिपादगण के मत में यह ''सर्वमहा असाधारण साध्यतत्त्व'' है। जीवशक्ति साधन-भजन द्वारा आध्यात्मिक राज्य के जितने उन्नततम शिखर पर आरोहण कर सकती है-उसका चरम सोपान यही है। ''राधाकृष्ण प्राणपति'' कहने का अर्थ यही है कि श्रीराधारानी ही गौड़ीय वैष्णवों के प्राणों की ईश्वरी हैं, उन्हीं के श्रीचरणाश्रय में श्रीकृष्णभजन है। गौड़ीय वैष्णवसाधक सद्गुरु-चरणाश्रय में श्रीराधादासी या मञ्जरीरूपी अपने सिद्धस्वरूप का परिचय (नाम, वयस, वर्ण, वेश आदि ग्यारह भावों के साथ) प्राप्त करते हैं। इसी स्वरूप के चिन्तन में या इसमें अभिमान स्थापित करके ही उन लोगों का आन्तरिक भजन या रागभजन प्रमुखतः चलता है। भगवान् की आराधना में भूतशुद्धि की बात भी शास्त्रों में कही गई है। इस सिद्धस्वरूप का चिन्तन या इसमें अभिमान की स्थापना ही गौड़ीय वैष्णवों की यथार्थ भूतशुद्धि है। श्रीमत् जीव गोस्वामिपाद ने लिखा है-''तत्र भूतशुद्धि र्निजाभिलषित भगवत्सेवौपयिक तत्पार्षद-देह भावनापर्यन्त्यैव तत्सेवैकपुरुषार्थिभिः कार्या निजानुकूल्यात्'' (भक्तिसन्दर्भ अनु० २८६) अर्थात्-'जिन लोगों का एकमात्र पुरुषार्थ भगवत् सेवा ही है, वे लोग अपने अभीष्ट भगवान् की सेवा की उपयोगी पार्षददेह का चिन्तन करें, यह उन लोगों के भजन के अनुकूल होगा। यही उनकी भूतशुद्धि है।' ''देवो भूत्वा देवं यजेत्'' ''नादेवो देवमर्चयेत्'' अर्थात् 'साधक व्यक्ति स्वयं देवता होकर देवता की अर्चना करें।' ''देवता हुए बिना देवता की अर्चना न करें'' - शास्त्रों की यह जो अन्वय मुख से विधि एवं व्यतिरेक मुख से निषेध है, इससे निःसन्देह

पता चला कि भगवत्सेवाभिलाषी भक्त को अपने आत्मा का चिन्तन भगवत्पार्षदरूप में करना होगा। गौड़ीय वैष्णव की वह पार्षददेह ही 'राधाकिङ्करी' या मञ्जरी देह है। अर्थात् श्रीराधारानी उन लोगों की कोटि प्राणतुल्य आत्मेश्वरी हैं; श्रीकृष्ण राधारानी के प्राणनाथ होने के नाते उन लोगों के प्राणों के ईश्वर हैं। यही बात श्रील ठाकुर महाशय ने ''राधाकृष्ण प्राणपति'' इस भाषा में व्यक्त करनी चाही है। इसीलिये वे श्रीयुगलकिशोर ही ''जीवने मरणे गति'', अर्थात् श्रीश्रीराधाकृष्ण ही जीवन-मरण में इहकाल-परकाल की एकमात्र गति या परमाश्रय हैं। 'राधा-कृष्ण प्राणपति' इस वाक्य में इष्टनिष्ठा का उल्लेख कर 'जीवने मरणे गति' इस वाक्य में उनके चरणों में दृढ़ शरणागति की बात कर रहे हैं।

'जीवने मरणे गति' इस उक्ति में साधकाभिमान एवं सिद्ध देहाभिमान दोनों ही भावों की शरणागति युगल के प्रति विज्ञापित हुई है। साधक-अभिमान में साधक का यह भाव रहता है कि 'मैं मञ्जरीभाव का उपासक हूँ' और वह अन्तश्चिन्तित भावदेह के या उसी देह से आस्वाद्य युगल सेवारस और युगलमाधुरी के स्मरणरस मे निमग्न रहता है। यह भी एक अपूर्व आस्वादन की दशा है। जिन्हें किञ्चित् भी मञ्जरीभाव का स्फुरण हुआ है, वे ही इसे समझ सकते हैं। इसमें साधक धारणा करते हैं-' श्रीराधाकृष्ण ही जीवन और मरण में मेरे एकमात्र आश्रय हैं। जीवन में वे ही अनर्थ आदि से मेरी रक्षा कर अपने भजन का सौभाग्य देकर और रति प्रेम दान कर धन्य करेंगे। मरण में भी वे ही कृपा कर अपनी उदारता से मुझे अपनी श्रीचरण-सेवा देकर धन्य करेंगे। मैं यदि उनकी श्रीचरण-सेवा के योग्य नहीं होता, तो उनकी जहाँ इच्छा, मुझे वहीं रखेंगे। उन दोनों की इच्छा ही मेरा जीवातु होगा।' इस प्रकार जीवन-मरण में श्रीयुगलचरणों को ही एकमात्र आश्रय मानकर शरणागत साधक अपने भजन जीवन में नि:संशय निश्चिन्तता प्राप्त करता है।

साधक जब रतिदशा में पहुँचता है, तब उसे हर समय सिद्धस्वरूप का स्फुरण होता है। तब वह इस यथावस्थित देह को तो जैसे भूल ही जाता है। उस सिद्धस्वरूप में भी वह राधाकृष्ण युगल के चरणों को ही अपने जीवन-मरण की एकमात्र गति या आश्रय समझता है। यही सही है कि सिद्धस्वरूप में जीवनमरण का कोई प्रश्न नहीं, फिर भी नरवत् लीला में जैसे नित्यसिद्धा गोप-गोपियाँ भी स्वयं को साधारण जन्म-मृत्यु-बाध्य जीव ही समझती थीं, वैसे ही स्वरूपाविष्ट साधक का भी तदनुरूप भाव होता है-यह समझना होगा। इससे श्रीराधामाधव की नरवत् माधुर्यमयी लीला के रस का सुष्ठु आस्वादन होता है।

उपास्यनिष्ठा के बाद उपासना-निष्ठा की बात कहते हैं-''दोंहार पिरीति रस सुखे। जुगल सङ्गति जारा, मोर प्राण गले हारा, एइ कथा रहु मोर बुके''। 'श्रीराधामाधव के पारस्परिक प्रेमरस-सुख में आत्महारा होकर जो श्रीयुगल की चिरसङ्गिनी बनी हैं, वे सखी-मञ्जरियाँ ही मेरे प्राणों और गले की हारतुल्य हैं-यही बात मेरे हृदय में सतत विद्यमान हो।' मधुरारति दो प्रकार की है- (१) सम्भोगेच्छायी (नायिका भाव) (२) तद्भावेच्छात्मिका (सखीभाव)। प्रकटलीला में या क्रमलीला में बाल्यकाल से ही नित्यसिद्धा श्रीराधा, ललिता आदि के मन मानो किसी अज्ञात सौन्दर्यमाधुर्यमय पुरुषोत्तम ने हर लिये हैं और उन्होंने भी उसके चरणों में सर्वस्व समर्पित कर दिया है। समय आने पर वे समझ पाईं कि सौन्दर्य-माधुर्य-मूर्ति श्रीव्रजेन्द्रनन्दन ही वह पुरुषोत्तम है। किसी लीलाविशेष

में सभी के आगे जब श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त हुए, तो ललितादि के चित्त श्रीराधाकृष्ण की पारस्परिक भावमाधुरी देख नायिकारूप से एकाकी श्रीकृष्ण को पाने की इच्छा से रहित होकर श्रीराधामाधव युगलमाधुरी आस्वादन के लिये ही प्रलुब्ध हो उठे। जैसे कालीयदमन-लीला में पदकर्ता महाजन ने गाया है-

''कालियदमन दिन माह। कालिन्दी-कूल कदम्बक छाह॥
कत शत व्रज-नव-बाला। पेखलुँ जनु थिर बिजुरिक माला॥
तोहे कहों सुबल साङ्गति। तब धरि हाम ना जानों दिन राति॥
तहिं धनी-मणि दुइ चारि। तहिं मनमोहिनी एक नारी॥
सो रहु मझु मने पैठि। मनसिज धूमे घूम नाहि दिठि॥
अनुक्षण तहिक समाधि। को जाने कैछन विरह-बेयाधि॥
दिने दिने क्षीण भेलो देहा। गोविन्ददास कह ओइछे नव लेहा॥''

(पदकल्पतरु)

इस प्रकार पूर्वराग की भूमि पर युगलमाधुरी दर्शन कर दोनों के पारस्परिक प्रीतिरस आस्वादन सुख में आत्महारा होकर श्रीललितादि 'समस्नेहा' अर्थात् श्रीराधाकृष्ण के प्रति समान स्नेह लेकर उनकी चिरसङ्गिनी हुईं। रूपमञ्जरी आदि 'राधास्नेहाधिका' हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण की अपेक्षा श्रीराधा के प्रति स्नेहाधिक्य रखकर श्रीराधा की सखी होकर भी उनके दास्य पर प्रलुब्ध हो श्रीराधाकृष्ण की सङ्गिनी बनीं। तात्पर्य यह है कि इन सबके अपने-अपने नित्यसिद्ध भावों की अभिव्यक्ति क्रमलीला (प्रकट लीला) में हुई। श्रील ठाकुर महाशय मञ्जरीभाव में कहते हैं-'वे सखीमञ्जरियाँ ही मेरे प्राणों और गले का हार हैं। जैसे हार देह की शोभा बढ़ाता है, वैसे ही ये सब मेरे आत्मा और देह की शोभा बढ़ायें।' ''एइ कथा रहु मोर बुके'' - मेरे चित्त में यही भाव सतत बना रहे; कहीं कोई भावान्तर मेरे चित्त को विक्षिप्त न कर पाये। ''जुगल सङ्गति जारा, मोर प्राण गले हारा''-इसके स्थान पर ''जुगल भजन जारा, प्रेमानन्दे भासे तारा'' यह पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ इस प्रकार है-'श्रीराधा-सखी-मञ्जरीभाव के साधक स्वतंत्र सुख की बात भूलकर युगलभजन में रत रहते हैं, वे ही प्रेमानन्द में डूबे रहते हैं-मेरे हृदय में यही बात सतत बनी रहे, अर्थात् इसी बात पर मेरा चित्त प्रलुब्ध हो।' ऐसा लोभ ही रागभक्ति आविर्भाव का एकमात्र हेतु है, यह समझना होगा॥४२॥

युगल-चरण सेवा, युगल-चरण ध्येवा,
युगलेइ मनेर पीरिति।
युगलकिशोर रूप, कामरतिगण भूप,
मनु रहु ओ लीला कि रीति॥४३॥

कामरतिगण भूप :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय ने पिछली त्रिपदी में गौड़ीय वैष्णवों की उपास्यनिष्ठा और उपासना निष्ठा की बात बताई। अब यहाँ श्रीश्रीयुगलभजन के प्रकार बता रहे हैं। गौड़ीय वैष्णवों की उपासना विधिसम्बलित रागमार्ग की है। वैधीभक्ति के श्रवण कीर्तन अर्चनादि अङ्गों के साथ ही उन लोगों की रागभक्ति का मुख्य स्मरणाङ्ग भजन चलता है। श्रीमत् रूप गोस्वामिपाद ने लिखा है-

''श्रवणोत्कीर्तनादीनि वैधभक्त्युदितानि तु।
यान्यङ्गानि च तान्यत्र विज्ञेयानि मनीषिभिः॥''

(भ० र० सि० १/२/२९६)

''श्रवणोत्कीर्तनादीनि गुरुपादाश्रयादीनि त्वाक्षेपलब्धानि। तानि बिना व्रजलोकानुगत्यादिकं किमपि न सिद्धेदित्यर्थः। मनीषिभिःरिति मनीषया विमृष्यैव स्वीयभाव-समूचितान्येव तानि कार्याणि; नतु तद्विरुद्धानि। तानि चार्चन-भक्तावहहंगहोपासनमुद्रान्यास द्वारकाध्यान-रुक्मिण्यादि पूजनानि आगमशास्त्रविहितान्यपि नैव कार्यानि। भक्तिमार्गेऽस्मिन् किञ्चित् किञ्चिदङ्ग वैकल्येऽपि दोषभाव श्रवणात्''। (टीका श्रील विश्वनाथ) तात्पर्य यह है कि ''वैधीभक्ति में श्रवणकीर्तनादि (श्रीगुरुपादाश्रय आदि भी) जो भक्ति अङ्ग (इसी ग्रन्थ में ६४ प्रकार के भक्ति अङ्ग) पहले बताये गये हैं, उन्हीं अङ्गों की उपयोगिता या अपेक्षा रागानुगामार्ग में भी है। श्रवण कीर्तन अर्चना आदि वैधीभक्ति के अङ्गों के अनुष्ठान के बिना रागमार्ग में व्रजजनों का आनुगत्य आदि कुछ भी सिद्ध नहीं होता। मनीषी अपने-अपने भावोचित अङ्गों का आचरण करें, किन्तु विरुद्ध अङ्गों का आचरण न करें। अर्थात् अर्चन मार्ग में अहंग्रहोपासना, मुद्रा, न्यास (प्राणायाम), द्वारका ध्यान, रुक्मिणी आदि की पूजा आगमशास्त्र में विहित होने पर भी रागमार्ग के साधक उनका वर्जन करें। भक्तिमार्ग में यत्किञ्चित् अङ्गवैकल्य से भी कुछ क्षति नहीं होती, यह जानना होगा।'

तभी श्रील ठाकुर महाशय युगल के भजन प्रकार उल्लेख कर कहते हैं-''युगल-चरण-सेवा, युगल-चरण ध्येवा, युगलेइ मनेर पीरिति''। यहाँ 'चरण' शब्द भक्ति से भरकर ही प्रयोग किया है, ऐसा जानना होगा। वस्तुतः श्रीयुगल की सेवा या अर्चना, उनका ध्यान और श्रीयुगल में ही मन की प्रीति पूरी तरह लगाने के लिये प्रार्थना की जा रही है। जो लोग वैधीभक्ति का याजन करते हैं, उनकी तरह गौड़ीय वैष्णवों का रागमार्ग का भजन शास्त्र-शासन को लेकर नहीं है; यह लोभ या अनुराग का भजन है। तभी अपने अभीष्ट श्रीराधामाधव में मन की प्रीति रखकर ही उन लोगों की भजनधारा श्रवण कीर्तन स्मरण अर्चना आदि के साथ चला करती है। इस प्रकार उनका प्रत्येक भजनाङ्ग अति सरस और मधुमय हो उठता है। याद रखना होगा, साधक अपनी प्रचेष्टा से अभीष्ट युगल-चरणों में प्रीति रखने में सक्षम नहीं होगा; यह केवल श्रीगुरु वैष्णव और भगवान् की कृपासापेक्ष वस्तु है। श्रीमत् रूप गोस्वामिपाद ने अपने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ में रागमार्ग की वर्णना के उपसंहार में लिखा है-

''कृष्णतद्भक्त कारुण्यमात्रलाभैकहेतुका।
पुष्टिमार्गतया कैश्चिदियं रागानुगोच्यते॥''

(१/२/३०९)

'श्रीकृष्ण और उनके भक्तों की कृपामात्र प्राप्ति ही इस रागमार्ग में प्रवृत्ति का एकमात्र सर्वोत्तम कारण है। कोई-कोई (वल्लभ सम्प्रदायी) इस रागमार्ग को पुष्टिमार्ग भी आख्या देते हैं।' ''मात्रपदस्य विधिमार्गे कुत्रचित् कर्मादि समर्पणमपि द्वारं भवतीति तद्विच्छेदार्थः प्रयोग इति भाव।'' (टीका श्रीजीवपाद) अर्थात् 'विधिमार्ग में कभी-कभी कर्मादि समर्पण उस प्रवृत्ति का द्वारस्वरूप हो जाता है, किन्तु रागानुगा में प्रवृत्ति का केवल हेतु एकमात्र कृपा ही जानना होगा।' सजातीयाशय रागमार्गीय भजननिष्ठ भक्त के सङ्ग और कृपा से रागानुगाभजन में भाग्यवान् साधक की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है एवं तादृश श्रीगुरु तथा वैष्णव की मनोमत सेवा के फलस्वरूप साधक में जिस परिमाण में कृपा का सञ्चार होता है, उसी के अनुरूप उसके मन-प्राण श्रीयुगल के प्रति प्रीति-रससिक्त हो उठते हैं, यही निष्कर्षार्थ है।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-युगल के प्रति प्रीतिसिक्त मानस से उनकी सेवा अर्चना और ध्यान करूँगा। यहाँ बाहर साधक देह से यथाशक्ति यथारुचि षोड़शोपचार या पञ्चोपचार से सेवा और मानस में (भीतर) भावदेह से मानसोपचार से सेवा तथा श्रीश्रीराधाकृष्ण के ध्यान की बात कही गई। ''विशेषतो रूपादि चिन्तनं ध्यानम्'' - विशेषभाव से रूपादि चिन्तन का नाम 'ध्यान' है। श्रील ग्रन्थकार अपनी ध्यान-ध्येय युगल-मूर्ति की माधुरी बताते हैं-''युगलकिशोर रूप, कामरतिगण भूप'', अर्थात् युगल कोटि-कोटि कन्दर्पों और रतियों का भूप या अधीश्वर है। श्रीकृष्ण कोटि या असंख्य मदनरूपों के अधीश्वर हैं, जिनकी पदनखछटा पर कोटि कन्दर्प विमोहित हैं-''कोटि मदनविमोहनाशेषचित्ताकर्षक-सहजमधुरतरलावण्यामृतापारार्णवेन महानुभाव-चयेनानुभूयमानतत्तन्महाभावनिवहेन श्रीमदनगोपालरूपेणाधुनापि वृन्दावने विराजमानत्वात्'' (सारङ्गरङ्गदा) अर्थात् 'जो कोटि मदनविमोहन हैं, अशेष अर्थात् अखिल ब्रह्माण्ड के चित्ताकर्षक हैं, स्वाभाविक लावण्यामृत के अपार कल्लोलित-सिन्धु हैं-वे श्रीमदनगोपालरूप में अब भी श्रीवृन्दावन में विराजमान् हैं। महानुभवगण अर्थात् प्रेमिकगण ही अपने प्रेम के अनुरूप उनका माधुर्य अनुभव करते हैं। सर्वोपरि महाभाववती व्रजदेवियों के महाभाव द्वारा साक्षात् अप्राकृत नवीनमदन के आगे कोटि मदन किस गिनती में! फिर उन (श्रीकृष्ण) की विमोहिनी श्रीराधारानी के सान्निध्य में वही सुविशाल रूपसिन्धु महाकल्लोलमालाओं से समुच्छ्वसित हो उठता है। श्यामरूप भी श्रीराधा के माधुर्यसिन्धु को अति विपुलरूप से तरङ्गायित कर डालता है॥ उसी श्रीराधामाधुरी के आगे कोटि रतियों का रूप भी तुच्छतितुच्छ है। विश्व की किसी भी वस्तु के साथ उसकी तुलना सम्भव नहीं। तभी अनुभवी कहते हैं-

''राकानेकविचित्रचन्द्र उदितः प्रेमामृतज्योतिषां
वीचीभिः परिपूरयेदगणित-ब्रह्माण्डकोटिं यदि।

वृन्दारण्य-निकुञ्जसीमनि तदाभासं परं लक्ष्यसे।
भावेनैव यदा तदैव तुलये राधे तव श्रीमुखम्॥''

(राधारससुधानिधि-१२६)

'हे राधे! यदि एक ही समय आकाश में बहुत-से प्रेममय विचित्र चन्द्रमा उदित होकर अपनी प्रेमामृत-ज्योति-तरङ्गों से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों को भर दें, तब भी वह इस निकुञ्ज-सीमा में उदित तुम्हारे मुखचन्द्र की तुलना में आभास-मात्र ही होगा। अतएव केवल भाव द्वारा ही मैंने चन्द्र के साथ इस मुख की तुलना की है। वस्तुतः विश्व में इसकी कोई तुलना ही नहीं।

इसके बाद श्रील ग्रन्थकार ने सदा श्रीयुगल के लीला-स्मरण की प्रार्थना की-''मने रहु ओ लीला कि रीति''। अर्थात् उसी युगलकिशोर की रसमय लीला की परिपाटी मेरे मन में सतत विराज करे। श्रीश्रीराधामाधव की लीला है स्वप्रकाश, साधन द्वारा परिमार्जित चित्त में स्वयं उदित होती है। साधक का साधन-प्रयास केवल चित्तमार्जन एवं लीला की करुणा पाने के लिये है। यह स्मरणाङ्ग भजन ही गौड़ीय वैष्णवों के रागानुगामार्ग में आन्तरिक भजन है। ''बाह्य अन्तर इहार दुइ तो साधन। बाह्य साधक देहे करे श्रवण-कीर्तन॥ मने निज सिद्धदेह करिया भावन। रात्रिदिन चिन्ते राधाकृष्णेर सेवन॥'' (चै० च०) ॥४३॥

दशनेते तृण धरि, हा! हा! किशोर! किशोरि!
चरणाब्जे निवेदन करि।
व्रजराजकुमार श्याम, वृषभानुनन्दिनी नाम,
श्रीराधिका रामा-मनोहारी॥४४॥

टीका -

हे श्रीराधिकादीनां रामाणां मनोहारिन् श्रीकृष्ण॥४४॥

दैन्यपूर्वक निवेदन :

सुधाकणिका व्याख्या : प्रेमभक्ति के महाराज परम पूज्यपाद श्रील ग्रन्थकार महोदय इस त्रिपदी में अभीष्टचरणों में सदैन्य निवेदन ज्ञापन कर रहे हैं-''दशनेते तृण धरि, हा हा किशोर! किशोरि! चरणाब्जे निवेदन करि''। दैन्य ही भक्त की भक्ति साधना की प्राणवस्तु है; दैन्यहीन भजन मानो निष्प्राण है। दैन्य से अजस्र प्रेम का उद्भव होता है और फिर प्रेम से भी वैसे ही दैन्य का प्रकाश होता है। श्रीवृहदभागवतामृत में इसी प्रकार दैन्य और प्रेम की परस्पर कार्य-कारणता बताई गई है। इस दैन्य की पराकाष्ठा श्रीकृष्णविरह-व्यथित गोपियों में ही प्रकट होती है! ''दैन्यन्तु परमं प्रेम्नः परिपाकेण जन्यते। तासां गोकुलनारीनामिव कृष्ण-वियोगतः।'' (वृ० भा० २/५/२२४) ''दृष्टान्तेनानेन श्रीकृष्णस्यानुग्रहविशेषतः प्रायस्तन्माधुर्यानुभवादिनैव प्रेमविशेषोदयात्तद्विरहे दैन्यविशेषो

जायत इति ध्वनितम्'' (वही टीका) अर्थात् प्रकृत दैन्य प्रेम की परिपक्व अवस्था में ही प्रकाशित होता है। श्रीकृष्णविरह में गोकुल-रमणियों का जो परम दैन्य प्रकाशित हुआ था, वह प्रेम की परिपक्व दशा में ही हुआ था- यह समझना होगा। गोकुलरमणियों के दृष्टान्त से समझ में आता है कि श्रीकृष्ण के वैसे अनुग्रहविशेष से उनके विपुल माधुर्यानुभव के द्वारा ही वैसे प्रेमविशेष का उदय होता है और उस प्रेम के अनुसार ही उन लोगों के दैन्यविशेष का भी उदय होता है। उन गोपरमणियों में भी श्रीराधारानी सभी की शिरोमणिस्वरूप हैं। उनकी श्रीचरणाश्रिता किङ्करियों में भी उनके विरह में या युगल-विरह में उनके दैन्यसिन्धु का यत्किञ्चित् सञ्चारित हो जाता है। जैसे श्रीरूप, रघुनाथ आदि गोस्वामिपादगण में असाधारण दैन्य प्रकाशित हुआ था। श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय भी श्रीराधारानी की परमप्रिय किङ्करी व्रज की चम्पक-मञ्जरी हैं, तभी श्रीराधामाधव के विरह में उनके चित्त में असाधारण दैन्य का उदय हुआ है। अत्यन्त दैन्य से भरकर कहते हैं-''हा हा किशोर! किशोरि! श्रीश्रीराधामाधव! दाँतों में तृण रखकर तुम दोनों के चरणकमलों में किञ्चित् निवेदन करता हूँ।' जिनके चरणरेणु के स्पर्श से विश्व पवित्र हो जाता है, वे ही अपापबिद्ध महात्मागण असाधारण दैन्य से भरकर तृणचर पशु की तरह स्वयं को अति अधम समझते हैं, तभी वे तृणगुच्छ दाँतों में रखकर प्रार्थना करते हैं। महापवित्रात्मा महानुभवगण के ऐसे दैन्य-आचरण से भगवान् का चित्त अत्यन्त विगलित हो जाता है। जब श्रीरूप-सनातन रामकेलिग्राम में श्रीमन्महाप्रभु के दर्शन प्राप्त कर तृणगुच्छ दाँतों में दबाकर सकातर प्रार्थना कर रहे थे, तब प्रभु ने उनके दैन्य से विगलित होकर कहा था -

''शुनि प्रभु कहे-शुनो रूप दबीरखास।
तुमि दुइ भाइ मोर पुरातन दास॥
आजि होइते दोंहार नाम-रूप सनातन।
दैन्य छाड़ो, तोमार दैन्ये फाटे मोर मन॥''

(चै० च० मध्य०, परि १)

श्रील ठाकुर महाशय के 'हा हा किशोर किशोरि' इस विरहवाचक सम्बोधन से उनके विरह जनित हृदय का हाहाकार व्यक्त हुआ है। दाँतों में तृण धारण कर श्रीयुगल-पदाब्जों में हाहाकारपूर्वक जैसे ही निवेदन करने को होते हैं, तैसे ही श्रीयुगल का स्फुरण प्राप्त करते हैं। स्फूर्ति प्राप्त युगलरूप-माधुर्य में नयन-मन डूब गये और निवेदन नहीं हो पाया, श्रीयुगल की रूपमाधुरी का वर्णन आरम्भ कर दिया। पहले श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी का वर्णन किया-''व्रजराजकुमार! श्याम! वृषभानुनन्दिनी नाम, श्रीराधिका-रामा-मनोहारि!'' 'हे व्रजराजकुमार! अर्थात् श्रीनन्दराजकुमार! हे श्याम! श्रीवृषभानुनन्दिनी नामक श्रीराधिका के और व्रजरामाओं के मनोहारि श्रीकृष्ण! स्फुरण में श्रीनन्दनन्दन के दर्शन कर श्रील ठाकुर महाशय के नयन-मन में मानो आनन्द मूर्तिमान हो उठा! श्रीकृष्ण को श्रीनन्दनन्दन कहकर सम्बोधित किया। जिन्होंने अपने असाधारण वात्सल्य प्रेम के बल पर स्वयं भगवान् को विश्व में अवतीर्ण करा समस्त विश्ववासियों को अप्राकृत आनन्दरस में निमग्न किया है, उन्हीं श्रीव्रजराज के 'नन्द' नाम की यथार्थ सार्थकता है। ''नन्दयति जगदिति नन्द''-उन्हीं के आनन्दमय कुमार श्रीव्रजराजनन्दन हैं।

स्फूर्तिप्राप्त उसी आनन्दमय पुरुष को अच्छी तरह देखने को होते हैं कि तभी दिगन्त उज्ज्वल करता श्यामल-आलोक आँखों से जा लगता है! तभी सम्बोधन करते हैं-'श्याम!' इसके पश्चात् देखते हैं कि श्यामसुन्दर की रूपमुग्धा श्रीराधारानी अपने नयन-चषकों से श्याम-माधुरी आस्वादन कर रही हैं। रूपमुग्धता उनकी आँखों में मूर्त है! तभी कहा है-''वृषभानुनन्दिनी नाम, श्रीराधिका-रामा मनोहारि!' श्याम की अतुलनीय रूपानुराग-मुग्धा राधारानी ने एक बार सखी से कहा था-

''हेरि मुखचन्द्र सुधारस-लहरी

किरणहिं भुवन उजोर।

तिरपित चाहि चकोरिणी-कामिनी

लोचन निशि-दिशि भोर॥

सजनि! अब हाम ना बुझि विधान।

अतिशय आनन्दे विघिनि घटाओल

हेरइते झरये नयान॥

दारुण दैव कयल दुहुँ लोचन

ताहे पलक निरमाइ।

ताहे अति हरिषे ए दुहुँ दिठि पूरल

कैछे हेरब मुख चाइ॥

ताहे गुरु दुरुजन लोचन कण्टक

सण्कट कतहुँ विथार।

कुलवती वाद विवादकरत कत

धैरज लाज विचार॥

सबहुँ उपेखि जाइ वन पैठव

कानु गीमे करि हार।

निरजने राति दिवस सुखे हेरब

एहि दढ़ायलुँ सार॥

कि करब आन धरम करम मत
जीवन-हीन जनु देह।
गोविन्ददास भण मनमथ-मोहन
मिलने किये करु केह''॥४४॥

कनक केतकी राइ, श्याम मरकत काँइ,
दरप-दरप करु चूर।
नटवर शेखरिणी, नटिनीर शिरोमणि,
दुँहु गुणे दुहु मन बूर॥४५॥

टीका -

काँइ-कान्तिः। नटवरस्य श्रीकृष्णस्य, शेखरिणी शिरोभूषणरूपा। नटिन्याः श्रीराधायाः शिरोभूषण-मणिरूपः॥४५॥

युगल-माधुरी :

सुधाकणिका व्याख्या : स्फूर्ति में उदित श्रीश्रीराधामाधव अनन्त माधुर्यसम्भार लिये श्रील ठाकुर महाशय के आगे खड़े हैं। ठाकुर महाशय चम्पकमञ्जरी रूप में युगलमाधुरी-रस का आस्वादन कर रहे हैं। उसी आस्वादन का रसोद्गार त्रिपदी में किञ्चित् व्यक्त किया है। पहले कहते हैं-''कनक केतकी राइ, श्याम मरकत काँइ, दरप-दरप करु चूर।'' राधारानी की अङ्गकान्ति स्वर्ण केतकी की तरह है। विश्ववासियों को उस अशेष अनन्त रूपमाधुरी की यत्किञ्चित धारणा कराने के लिये कहा है-'कनक केतकी'। वस्तुतः उस महाभाव की कान्ति की तुलना विश्व में नहीं। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने श्रीराधारससुधानिधि ग्रन्थ में लिखा है-''कान्तिः कापि महाद्भुता'' अर्थात् श्रीराधा की अङ्गकान्ति महा अद्भुत है। 'परोज्ज्वला' शब्द से यही समझाजाता है कि यह कान्ति विश्व की किसी वस्तु की कान्ति की तरह नहीं है। कभी कहा है-''गात्रे कोटितड़िच्छवि''-श्रीमती के अङ्ग में कोटि-कोटि विद्युतों की छवि है। एक विद्युत की द्युति से आँखें झुलस जाती है; कोटि विद्युतों की द्युति वे कैसे सहेंगी ? इस प्रकार प्रश्न उठ सकता है, तभी 'द्युति' न कहकर 'छवि' कहा है। अर्थात् इस प्रेम की कान्ति महाउज्ज्वल होते हुए भी उससे आँखे नहीं झुलसतीं। उस ज्योति की माधुरी से आँखे शीतल होती हैं, कारण-उसमें जड़ीय तैजस पदार्थ का विकार बिलकुल नहीं है, उसमें है महाभाव का घन प्रकाश।

इसके बाद श्याम की अङ्गकान्ति बताते हैं-''श्याम मरकत काँइ''। काँइ अर्थात् कान्ति। श्यामसुन्दर की अङ्गकान्ति मरकतमणि की तरह है। यहाँ भी पूर्ववत् अतुलनीय श्यामकान्ति की किञ्चित् अवधारणा कराने का प्रयास मात्र है। महाजन गाते हैं-''कुवलय नीलरतन, दलिताञ्जन, मेघपुञ्ज, जिनि वरण सुचाँद'' (गोविन्ददास)।

प्राकृत रूप देखते-देखते वितृष्णा हो जाती है, किन्तु कृष्णरूप आकांक्षा जगाता है। विशेषत: आनन्दघन अतुलनीय श्रीकृष्णरूप नित्य नवोल्लासमय है। यद्यपि नीलमणि, दलिताञ्जन या मेघपुञ्ज आदि के घनकृष्ण वर्ण के साथ कृष्णरूप की तुलना की गई है, तथापि श्रीराधारानी की स्वर्ण ज्योति उस घनकृष्ण वर्ण में प्रविष्ट होकर श्रीकृष्ण की अङ्गकान्ति को अनतिश्यामल मरकतमणि की तरह प्रतिभात करा रही है (दिखा रही है)।

फिर कहते हैं-''दरप दरप करु चूर''-अर्थात् जो कन्दर्प के दर्प को चूर करते हैं। ''कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्ग इत्यमर:''। अमरकोष में कन्दर्प का एक नाम 'दर्पक' मिलता है। श्रीकृष्ण जब राधारानी के साथ विराजते हैं, वे परिपूर्णत: मदन को विमोहित करते हैं-''राधा-सङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहन:'' (गोविन्दलीलामृतम्)।

''चढ़ि गोपी-मनोरथे मन्मथेर मन मथे,
नाम धरे मदनमोहन।
जिनि पञ्चशर दर्प, स्वयं नव कन्दर्प,
रास करे लइया गोपीगण॥''

(चै० च०)

रासलीला में मदन का दर्प सभी प्रकार से चूर हुआ है। रासलीला की व्याख्या के प्रारम्भ में श्रीधरस्वामी ने लिखा है-''ब्रह्मादिजयसंरूढ़दर्पकन्दर्पदर्पहा। जयति श्रीपति गोपीरासमण्डलमण्डित:॥'' अर्थात् ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्रादि देवताओं के मोहकारी मदन गोपीमण्डलमण्डित श्यामसुन्दर की मधुर मूर्ति देखकर और उनकी लावण्यछटा से आत्महारा होकर स्वयं विमोहित हो गये थे।

युगलरूप से मदन का दर्प चूर होने की बात कहते ही पूज्यपाद ग्रन्थकार के हृदय में भी रासनृत्य की स्मृति उदित हो गई है, तभी युगल-माधुरी का वर्णन करते हुए कहते हैं-''नटवर शेखरिणी, नटिनीर शिरोमणि, दुहुँ गुणे दुहुँ मन बूर'' - अर्थात् 'श्रीराधारानी नटवर श्रीकृष्ण की शेखरिणी या शिरोभूषणरूपा हैं और नटिनी श्रीराधा के शिरोमणिस्वरूप हैं श्रीकृष्ण; एक-दूसरे के गुणों में एक-दूसरे का मन 'बूर' अर्थात् डूबा हुआ है।' महारास में तीन सौ करोड़ गोपिकाओं के समावेश में श्रीराधारानी का श्रेष्ठत्व श्रीशुकदेवजी ने वर्णन किया है। श्रीकृष्ण उन सभी गोपिकाओं के बीच से श्रीमती को ले जाकर अन्तर्हित होकर निर्जन में उनके साथ जिस प्रकार विलास-विहारादि करते हैं, उससे प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण की शिरोभूषणस्वरूपा हैं। सर्वोपरि यह कि सभी के समक्ष नटवर श्यामसुन्दर ने रासचक्र के मध्यस्थल में शिरोमणि राधाजी के साथ नृत्य कर महारास-रसास्वादन किया है। नटिनी श्रीराधा के भी शिरोमणि श्रीकृष्ण हैं, यह भी महारास में पता चला है। श्रीराधा के साथ निर्जन में विहार करते-करते श्रीकृष्ण अन्तर्हित हो गये, तो इसी शिरोमणि के अदर्शन के फलस्वरूप श्रीमती मूर्छित हो गई थीं; किसी भी गोपिका में श्रीकृष्ण अदर्शन से वैसी दशा का उद्भव नहीं हुआ। सर्वोपरि यह कि रासनृत्य के समय नटिनी श्रीमती ने स्वयं रासचक्र के मध्य में रहकर मधुरातिमधुर नृत्य-गीतादि द्वारा एवं कायव्यूह से अनन्त गोपिकाओं के रूप में सुमोहन नृत्य द्वारा अपने शिरोमणि श्रीकृष्ण का अपूर्व आनन्द विधान किया!

इसके पश्चात् युगल की पारस्परिक गुणमुग्धता देखकर कहते हैं-''दुहुँ गुणे दुहुँ मन बूर''। अर्थात् पारस्परिक गुणसिन्धु में श्रीयुगल के मन मानो मग्न हो रहे हैं! महाजन ने श्यामसुन्दर के गुणों पर श्रीमती के मन की मग्नता वर्णन की है-

''रूपे भरल दिठि, सोङरि परश मिठि,
पुलक ना तेजइ अङ्ग।
माहन मुरली रवे, श्रुति परिपूरित,
ना शुने आन परसङ्ग॥
सजनि! अब कि करबि उपदेश।
कानु-अनुरागे मोर, तनु मन मातल,
ना गुणे धरम-भय लेश॥
नासिका से अङ्गेर, सौरभे उन्मत,
वदने ना लय आन नाम।
नव नव गुणगणे बान्धल मझु मने,
धरम रहब कोन ठाम॥
गृहपति-तरजने गुरुजन-गरजने,
को जाने उपजये हास।
तहिं एक मनोरथ, जदि हये अनुरत,
पूछत गोविन्ददास॥''

(कल्पतरु)

श्रीमती राधारानी के गुणों पर मुग्ध श्रीश्यामसुन्दर कहते है-

''सुन्दरि! आन गुणे नह मोर वचन मधुर।
तुया परसादे साध सब पूर॥
आन सङ्ग कभु ना कहबि मोर।
चाँद ना तेजइ कबहुँ चकोर॥
तुया गुण गायन बयन हामार।
तुया हृदि 'शीतल' पङ्कज हार॥
तुहुँ दरशन बिनु सब आन्धियज्ञश्र।
मिछ नह नन्द कहये कत बार॥''

''दुहुँ मन बूर'' के स्थान पर ''दुहुँ मन झूर'' भी पढ़ने में आता है। इससे यह समझना होगा कि श्रीराधामाधव परस्पर की गुणमाधुरी पर अजस्त्र अश्रुपात करते रहते हैं॥४५॥

श्रीमुख सुन्दर वर, हेम नील कान्तिधर,

भाव-भूषण करु शोभा।

नील पीत बास धर, गोरी श्याम मनोहर,

अन्तरेर भावे दुहुँ लोभा॥४६॥

भाव-भूषण :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय अब श्रीराधामाधव के भाव-अलङ्कारों का स्फुरण पाकर उसी का वर्णन कर रहे हैं-''श्रीमुख सुन्दर वर, हेम नील कान्तिधर, भाव-भूषण करु शोभा''। प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले भावुक महाकवियों के चिन्मयरसकाव्य की असाधारण विशिष्टता यही है कि उसके श्रवण-कीर्तन से सहृदय साधक सहज ही कवि के हृदय की अनुभूति का परिचय प्राप्त कर लेते हैं। प्रस्तुत सहज सरल पद्यांश का पाठ कर सहज ही अनुमान किया जाता है कि ग्रन्थकार साक्षात् युगल-रूप के दर्शन कर उसका वर्णन कर रहे हैं। युगलरूप-माधुरी का वर्णन स्वाभाविक है, किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है। 'श्रीमुख सुन्दर वर'! एक छोटे-से शब्द 'वर' द्वारा श्रीश्रीराधामाधव के श्रीमुख के सौन्दर्य-माधुर्य की असीमता बताई गई है। उस श्रीमुख का सौन्दर्य सभी के सौन्दर्य की अपेक्षा वर या श्रेष्ठ है। इस जड़ जगत् की तो बात ही क्या, चिन्मय जगत् समस्त भगवद् राज्य में या भगवत् स्वरूपों में भी ऐसी सुन्दरता नहीं है-इससे यह पता चलता है। यहाँ तक कि श्रीराधाकृष्ण के अलग-अलग विराजमान् होने पर उन दोनों का जो श्रीमुख-सौन्दर्य होता है, उसकी तुलना में भी यह 'वर' अर्थात् श्रेष्ठ या परम रमणीय है। ''गोपीप्रेमे करे कृष्ण-माधुर्येर पुष्टि। माधुर्य बाढ़ाय प्रेमा हैया महातुष्टि॥'' गोपीप्रेम कृष्णमाधुर्य को बढ़ाता है और माधुर्य भी प्रेम को सातिशय वर्धित करता है। सर्वोपरि गोपिका-शिरोमणि महाभावमयी श्रीराधा हैं, उनके सान्निध्य में श्रीकृष्ण का माधुर्यसिन्धु विपुलरूप से समुच्छ्वसित होता है। श्रीकृष्ण का मुखचन्द्र देखकर श्रीराधामाधुर्यसिन्धु भी असीम रूप की तरङ्गों से उद्वेलित हो उठता है। श्रीकृष्ण की उक्ति है-

''यद्यपि निर्मल राधार सत्प्रेम-दर्पण।
तथापि स्वच्छता तार बाड़े क्षणे क्षण॥
आमार माधुर्येर नाहि बाड़िते अवकाशे।
ए दर्पणेर आगे नव नव रूपे भासे॥
मन्माधुर्य राधाप्रेम-दोंहे होड़ करि।
क्षणे क्षणे बाड़े दोंहे केहो नाहि हारि॥''

(चै० च०)

श्रील ठाकुर महाशय स्फूर्ति में श्रीयुगलमाधुरी का आस्वादन कर रहे हैं। पहले श्रीमुखमाधुरी वर्णन कर उज्ज्वल श्रीअङ्गकान्ति का वर्णन कर रहे हैं–''हेम नील कान्तिधर''। गौरश्याम कान्तियों से श्रीराधामाधव की माधुरी उज्ज्वल है। श्रीराधा की हेमकान्ति और श्रीकृष्ण की नीलकान्ति से व्रजवन उज्ज्वल हो रहे हैं। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है (वृ० म० १०/३८)–''अनन्तरति मन्मथोन्मथन दर्पशोभामयं मिथः प्रणयकीलितं किमपि गौरनीलच्छविः। अनन्तरसवारिधौ बूड़ितमन्तपारोज्मिते महः प्रथमयौवनं द्वयमुदेति वृन्दावने॥''

'जो अनन्तरति और कामदेव के मथनशील दर्प और शोभा से युक्त है, परस्पर प्रणयआबद्ध कोई अनिर्वचनीय गौरनील छवियाँ हैं, अनन्त अपार रससिन्धु में मग्न हैं, ऐसे नवकिशोर नील–पीत ज्योतिर्युगल श्रीवृन्दावन में उदित हो रहे हैं।''उदित हो रहे हैं' अर्थात् चन्द्रवत् कान्ति छिटका रहे हैं। ऊपर से ''भाव भूषण करु शोभा''–अश्रुपुलकादि भावभूषणों से वह नीलपीत ज्योतिर्युगल परिशोभित है।

''सर्वांगे पुलकावलीमरुणतामक्ष्णोर्वचोऽनन्वयं
यानञ्च स्खलितं मिथो विवदनं केशाम्बरासंवृतिम्।
माल्यादित्रुटनं मुहुः प्रहसितं भूयो रसातुन्मदं
यत्राभूद्द्वय–गौरनीलमहसस्तन्नौमि वृन्दावनम्॥''

(वही १०/३२)

'(जिस) गौर–नील ज्योतिर्युगल के सर्वांग में निविड़ पुलक, नयनों में अरुणिमा, वचनों में असामञ्जस्य, गमन में स्खलन, परस्पर में प्रेममय विवाद, केश–वस्त्रादि की अस्तव्यस्तता, माल्यादि की छिन्नता, रहरह कर हास्य, बार–बार रसभरी उन्मत्तता इत्यादि अपूर्व भावभूषण जहाँ प्रकाशित होते हैं, उसी श्रीवृन्दावन को मैं प्रणाम करता हूँ।'

अथवा, 'भावभूषण' का अर्थ है बाईस भावालङ्कार ❋ – भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, उदारता, धैर्य, लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विकृत, मुग्धता और चकित। इन भावालङ्कारों से भूषित श्रीराधारानी का श्रीअङ्ग और उसे देखकर श्रीकृष्ण के अङ्ग में अनुरूप भावालङ्कारों का प्रकाश। उन विचित्र और अति अद्भूत भावालङ्कारों से युगलविग्रह परिशोभित हैं।

इसके बाद कहते है–''नीलपीत बास धर, गौरीश्याम मनोहर, अन्तरेर भावे दुहुँ लोभा''। अर्थात् मनोहर गौरी और श्याम क्रमशः नील वस्त्र एवं पीतवस्त्र धारण किये हैं। गौरी श्रीराधारानी अपने प्रेममय अङ्ग में आपादमस्तक नीलवस्त्र धारण कर बता रही हैं कि उनके हृदय में श्यामलसुन्दर ही विराज रहे हैं। उधर श्याम भी पीतवस्त्र धारण कर बता रहे हैं कि उनके हृदय में बसी हैं गौरी श्रीराधारानी। इस प्रकार परस्पर के आन्तरिक सद्भाव से दोनों ही एक–दूसरे के प्रति प्रलुब्ध हैं।

❋ प्रत्येक के लक्षण एवं दृष्टान्त श्रीउज्ज्वलनीलमणि में अनुभाव में दिये गये हैं।

अथवा, ''अन्तरेर भावे दुहुँ लोभा'' इस अंश की व्याख्या इस प्रकार भी सम्भव है–श्रीराधाकृष्ण युगल–उपासक के हृदय के भाव पर ही प्रलुब्ध होते हैं, भावरहित नानाविध बाह्य उपचारों पर नहीं।

''नानोपचार–कृत–पूजनमार्त्तबन्धोः प्रेम्नैव भक्त–हृदयं सुखविद्रुतं स्यात्।
यावत् क्षुदस्ति जठरे जरठा पिपासा तावत् सुखाय भवतो ननु भक्ष्यपेये॥''

(पद्यावली–१३)

'हे भक्त! विविध उपचारों से प्रेम के साथ पूजित होने पर ही आर्तबन्धु श्रीकृष्ण का हृदय सुख से विगलित होता है। जब तक उदर में बलवती क्षुधा–पिपासा रहती है, तभी तक भक्ष्य–पेय आदि सुखप्रद या तृप्तिप्रद होते हैं।' प्रेमिक युगल–उपासक जिस परिमाण में युगल के रूप–गुण–लीलारस पर प्रलुब्ध होगा, साधक के हृदय का वही भाव युगलकिशोर को भी साधक के प्रति उसी मात्रा में प्रलुब्ध करेगा और वे प्रलुब्धचित्त से भाग्यवान् उपासक की भाव–माधुरी के आस्वादन के लिये भीतर–बाहर स्फुरित होंगे॥४६॥

आभरण मणिमय, प्रति अङ्गे अभिनय,

कहे दीन नरोत्तम दास।

निशि दिशि गुण गाइ, परम आनन्द पाइ,

मने मोर एइ अभिलाष॥४७॥

स्वाभिलाष :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय श्रीयुगलकिशोर के स्फूर्तिप्राप्त मणिआभूषणों का वर्णन कर उनके श्रीचरण–प्रान्त में अपनी अभिलाषा निवेदन कर रहे हैं। पहले मणिमय अलङ्कारों की बात कहते हैं–''आभरण मणिमय, प्रति अङ्गे अभिनय, कहे दीन नरोत्तमदास''। श्रीयुगलकिशोर विविध भावालङ्कारों से ही भूषित हैं, सो नहीं। उनके प्रति अङ्ग में विविध मणिरत्नों के आभरण भी शोभा पा रहे हैं। श्रीकृष्ण के अङ्ग पर महामणि कौस्तुभ और श्रीराधारानी के अङ्ग पर महा उज्ज्वल स्यमन्तकमणि सतत शोभा पाती है। ऊपर से माता यशोदा श्रीकृष्ण के अङ्ग पर विविध मणिरत्नों के अलङ्कार पहना देती हैं। श्रीराधारानी का श्रीअङ्ग भी उसी प्रकार सुसज्जित होता है सखी मञ्जरियों द्वारा धारण कराये मणिरत्नालङ्कारों से। फिर जब निकुञ्ज मन्दिर में श्रीयुगल के विविध विलासादि होते हैं, तब सखीमञ्जरियाँ ही युगल के श्रीअङ्गों पर विविध मणिरत्न–अलङ्कार पहनाती हैं। जैसे अभिनेता–अभिनेत्रियों के अङ्ग–प्रत्यङ्ग विविध वेशभूषा से भूषित रहते हैं, वैसे ही श्रीयुगल के अङ्ग–प्रत्यङ्ग विविध विचित्र वेशभूषा से परिशोभित रहते हैं।

श्रील ठाकुर महाशय स्फूर्तिप्राप्त युगल-माधुरी का वर्णन कर उनके श्रीचरणों में निवेदन प्रस्तुत करते हैं-''निशि दिशि गुण गाइ, परम आनन्द पाइ, मने मोर एइ अभिलाष''। भगवान् हैं आनन्दमय या रसमय-''प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' ''रसो वै सः'' इत्यादि श्रुतिवचनों से भगवान् की आनन्दरूपता पता चलती है। भगवान् के नाम रूप गुण लीला में ही उस आनन्द या रस की पूर्णतम अभिव्यक्ति है। तभी श्रील ठाकुर महाशय अपने परम अभीष्ट श्रीश्रीराधामाधव के श्रीचरणों में स्वाभिलाष व्यक्त करते हैं-मैं अहर्निश तुम्हारा गुणगान कर सकूँ। वे इसी से अपना अभिलषित परमानन्द प्राप्त कर धन्य होंगे। भक्तों की आनन्द-प्राप्ति की कोई कामना नहीं रहती, वे इष्ट-सेवा में ही तन्मय रहते हैं। फिर यहाँ श्रील ठाकुर महाशय ''परम आनन्द पाइ'' कहकर स्वयं आनन्द की कामना क्यों कर रहे हैं? ऐसे प्रश्न की सम्भावना है, किन्तु यहाँ ग्रन्थकार स्वयं आनन्द पाने की कामना से यह नहीं कह रहे। वे ''निशिदिशि गुण गाइ'' कहकर श्रीराधामाधव का गुणगान करना ही चाहते हैं। श्रीराधामाधव के गुण-कीर्तन से युगल परम आनन्द पाते हैं, श्रीहरि अपने धाम आदि त्यागकर भी उस स्थान में अवस्थान करते है, जहाँ उनका लीला-गायन होता हैं। ''नाहं वसामि वैकुण्ठे न योगिहृदये रवौ। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥'' (पद्मपुराण) अपना यश श्रवण कर उन्हें जो आनन्द मिलता है, वह आनन्द ही भक्त के हृदय में सुखोल्लास जगाता है। इस स्वरूपोल्लास-सुख को छोड़कर स्वतंत्र रूप से किसी भी सुख की कामना भक्त कभी नहीं करते।

तात्पर्य यह कि भगत्सेवारूपा भक्ति द्वारा भक्त के हृदय में स्वयं सुखस्वरूप भगवान् सुखी हो रहे हैं (''प्रीतिः स्वयं प्रीतिमगात्''-भागवत)-यह अनुभव ही प्रबल होता है। 'भगवान् के उसी सुखानुभव से मुझे सुख होता है या हो रहा है'-स्वतंत्ररूप से इस प्रकार अपना सुखानुसन्धान भक्त के हृदय में उदित न होने पर भी वृक्षमूल-सिञ्चन से शाखा-पल्लवादि के उल्लास की तरह भगवान् के सुख से भक्तचित्त स्वयं समुल्लसित हो उठता है और उसी सुखानुभव से भक्त-हृदय में अधिकतर भगवत् सेवा की तृष्णा ही प्रबल होती है। श्रील ठाकुर महाशय ने यहाँ श्रीभगवत् सेवा के तृष्णामय परमानन्द की अभिलाषा की है-ऐसा समझना होगा॥४७॥

रागेर भजन पथ, कहि एबे अभिमत,

लोक-वेद-सार एइ वाणी।

सखीर अनुगा हैया, व्रजे सिद्ध देह पाइया,

सेइ भावे जुड़ाबे पराणी॥४८॥

टीका -

लोक-वेद-सार एइ वाणी-इयं वाणी लोकवेदयोः साररूपाः॥४८॥

रागानुगा-भजन रीति :

सुधाकणिका व्याख्या - पूज्यपाद श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी से आरम्भ कर रहे हैं रागानुगा-भजनरीति, सर्वोपरि श्रीमन्महाप्रभु का महादान मञ्जरीभाव-साधन-परिपाटी। पहले कहते हैं-''रागेर भजनपथ, एबे कहि अभिमत, लोक-वेद-सार एइ वाणी''-अर्थात् 'अभिमत' या शास्त्र-साधु-सम्मत 'रागेर भजनपथ' या रागमार्ग की भजन विषयक बात इसके बाद बताता हूँ। मेरी यह 'वाणी' 'लोक वेद सार' है, अर्थात् राजमार्गीय जनगण के अनुभवमय वाक्यों का सार है; श्रीगोपालतापनीश्रुति, सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत और रागमार्गीय शास्त्रसमूह ने रागमार्ग के भजन के विषय में जो विस्तृत आलोचना की है, उसी का सार या निष्कर्ष है। श्रील ग्रन्थकार महोदय की इस उक्ति से एक ओर यह पता चलता है कि उनकी वाणी में स्वकपोल-कल्पित कुछ नहीं है, तो दूसरी ओर यह भी समझा जाता है कि साधु-शास्त्रों ने रागमार्ग के सम्बन्ध में जो विस्तृत वर्णन किया है, यह उसका सार-संक्षेप है। अतएव जो लोग रागमार्ग के भजन के विषय में सारात्सार तत्त्व जानने के इच्छुक हैं, उनका कर्तव्य है कि वे श्रील ठाकुर महाशय की प्रेमभक्तिचन्द्रिका का अवश्य ही अनुशीलन करें।

रागमार्ग का भजन एक अति विशाल विपुल रहस्यमय व्यापार है। यह रागभक्ति व्रजवासी नित्यसिद्ध पार्षदों में ही साक्षात् रूप से विराजती है। उनकी आनुगत्यमयी भक्ति को 'रागानुगा भक्ति' कहा जाता है। अतएव 'रागेर भजनपथ' का अर्थ यहाँ रागानुगा भजनपथ ही है।

''विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते॥''

(भ० र० सि० १/२/२७३)

अर्थात् 'व्रजवासी जनादि में प्रकटरूप से विराजमान जो भक्ति है, उसे रागात्मिका कहा जाता है। इस रागात्मिका की अनुगता भक्ति को ही रागानुगा कहते हैं।' इसलिये पहले रागात्मिका के लक्षण जाने बिना रागानुगा भक्ति समझ में नहीं आयेगी। रागात्मिका के लक्षण बताये हैं-

''इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता॥''

(वही १/२/२७२)

अर्थात् 'अपनी अभीष्ट वस्तु में जो स्वाभाविक परम आविष्टता या परम आवेशमूलक प्रेममय तृष्णा है, उसे ''राग'' कहा जाता है, उसी राग से युक्त या राग-प्रचुरा भक्ति ही ''रागात्मिका'' है।

तात्पर्य यह है कि अपने अभीष्ट के प्रति स्वाभाविक प्रेममयी प्रगाढ़ तृष्णा का नाम 'राग' है और यही राग का स्वरूपलक्षण है। जैसे इन्द्रियग्राह्य विषयों के प्रति इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है-इसमें किसी की प्रेरणा या अपेक्षा नहीं-वैसे ही निज अभिलषित भगवान् के प्रति प्रेममयी प्रगाढ़ तृष्णा ही राग है-भक्त की यह तृष्णा स्वाभाविक है, किसी की प्रेरणा से नहीं।

तरल जल शीतलता से जमकर जब बरफ हो जाता है, तब उसमें तृणादि प्रविष्ट नहीं हो सकते (जिस प्रकार जल में प्रविष्ट होते हैं)। उसी प्रकार प्रेममयी तृष्णा प्रगाढ़ होती है, तो कृष्णसुख-अनुसन्धान को छोड़ प्रेमिक के चित्त में स्वसुखानुसन्धान आदि का लेशमात्र भी उदित नहीं हो सकता। तब समस्त चेष्टायें कृष्ण-सुख के लिये ही होती हैं। इस प्रगाढ़ तृष्णा का कार्य है अपने अभीष्ट में परम आविष्टता और यही राग का तटस्थ लक्षण है। ''आकृति प्रकृति दुइ स्वरूपलक्षण। कार्य द्वारा ज्ञान एइ तटस्थलक्षण॥'' (चै० च०) ''यह रागमयी या रागात्मिका भक्ति एकमात्र व्रजवासी नित्यसिद्ध पार्षदों में ही विराजमान है। जो लोग रागात्मिका व्रजवासियों के भावविशेष पर प्रलुब्ध होकर अपने भावोचित रागात्मिका भक्त के भाव का अनुसरण करते हुए भजन करते हैं, उनकी अनुष्ठित भक्ति का नाम रागानुगा भक्ति है। इस रागानुगा भक्ति के अनुशीलन से नित्यसिद्ध व्रजवासियों के हृदय में विराजित रागचन्द्रमा का आलोक रागानुगीय साधक के चित्त में उदित होकर समुद्भासित कर देता है।'' ''यस्य पूर्वोक्त रागविशेषे रुचिरेव जातास्ति नतु रागविशेष एव स्वयं तस्य तादृशराग-सुधाकरकराभास-समुल्लसित-हृदय-स्फटिकमणे शास्त्रादिश्रुतासु तादृशा रागात्मिकाया भक्तेः परिपाटीष्वपि रुचिर्जायते।'' (भक्ति सन्दर्भः अनु० ३१०) अर्थात् जिसकी पूर्व वर्णित रागविशेष में रुचि उत्पन्न हुई है, किन्तु स्वयं रागविशेष का उदय नहीं हुआ, उस भक्त के चित्त में रागात्मिक भक्त के हृदय में स्थित राग-सुधाकर का किरणाभास छिटकने से हृदयरूपी स्फटिकमणि उच्छलित होती है और साधु-शास्त्र-गुरु के मुख से उस रागात्मिका भक्ति की परिपाटियाँ अर्थात् कायिक वाचिक मानसी प्रेमचेष्टायें श्रवण कर उन सब परिपाटियों (चेष्टाओं) में रुचि उदित होती है।

तात्पर्य यह है कि जिस भक्त का हृदय स्फटिकमणि की तरह स्वच्छ है (काम क्रोध आदि दुष्ट भावों से कलुषित नहीं है), वह जब साधु शास्त्र या श्रीगुरु-मुख से नित्यसिद्ध रागात्मिक भक्तों की प्रेममयी चेष्टाविशेष की बात सुनता है, तो उसका हृदय उच्छलित हो जाता है (जैसे चन्द्रमा की किरणों की छटा से स्फटिकमणि जगमगा उठती है)। साथ ही साथ उन भक्तों की प्रेम चेष्टाओं में रुचि का उदय होता है। इस रुचिविशेष से प्रेरित होकर पूर्वोक्त राग के आनुगत्य में जो भक्ति अनुष्ठित होती है, उसी का नाम रागानुगाभक्ति है। रागात्मिक भक्त के आनुगत्य के बिना यह रागानुगा भक्ति या राग का भजन कभी सुसिद्ध नहीं होता।

''व्रजलोकेर भावे जेइ करये भजन।
सेइ जन पाय व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥
श्रुति सब गोपीगणेर अनुगत होइया।
व्रजेश्वरी-सुत भजे गोपीभाव लइया॥
व्यूहान्तरे गोपीदेह व्रजे जबे पाइलो।
सेइ देहे कृष्णसङ्गे रासक्रीड़ा कैलो॥''
''गोपी अनुगति बिना ऐश्वर्यज्ञाने।
भजिलेहो नाहि पाय व्रजेन्द्रनन्दने॥
ताहाते दृष्टान्त-लक्ष्मी करिला भजन।
तथापि ना पाइलो व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥'' (चै० च०)

व्रज के नित्य सिद्ध व्रजवासियों के चार प्रकार के भाव हैं–दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर। इसलिये इन भावों पर प्रलुब्ध लोगों का भजन भी चार प्रकार का है। जो दास्य भाव पर प्रलुब्ध हैं, उनका रागानुगाभजन–रक्तक–पत्रक आदि नित्यसिद्ध दासगण के आनुगत्य में सुसम्पन्न होता है। इसी प्रकार जो सख्यभाव पर लुब्ध हैं, उनका सुबल मधुमङ्गल आदि सखाओं के आनुगत्य में; वात्सल्यभाव के लोगों का नन्द–यशोदादि के आनुगत्य में और मधुरभाववालों का श्रीराधा–ललितादि के आनुगत्य में सुसम्पन्न होता है। इस विशेष कलि में श्रीमन्महाप्रभु और उनके श्रीचरणाश्रित श्रीरूपरघुनाथ आदि गोस्वामिपादगण ने मधुर भाव की चरम कक्षा में स्थित श्रीराधादास्य या मञ्जरी–भाव की उपासना का ही विरतण किया है। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय का यही हार्द्द रागानुगाभजन है। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं–''सखीर अनुगा हैया, व्रजे सिद्धदेह पाइया, सेइ भावे जुड़ाबे पराणी''। सच्च्दिानन्दमय रसघनमूर्ति साक्षात् शृङ्गार श्रीकृष्ण के साथ प्रेमघनमूर्ति महाभावमयी श्रीराधारानी के मिलन से जो रससिन्धु समुद्वेलित हुआ है, श्रीराधा की श्रीचरणाश्रिता किङ्करियों या मञ्जरियों की प्राण–सफरियाँ (मछलियाँ) उसी रससिन्धु में यथेष्ट सन्तरण कर जो आनन्द प्राप्त करती हैं, आध्यात्मिक राज्य के समस्त आनन्द की वही पराकाष्ठा है। श्रीमन्महाप्रभु के श्रीचरणाश्रित गौड़ीयवैष्णव–साधक श्रीगुरु एवं स्वसम्प्रदायी साधु महद्गण की कृपा के फलस्वरूप इसी मञ्जरीभाव–साधना पर ही प्रलुब्ध रहते हैं। श्रीगुरुचरणाश्रय में वे अपने नित्यसिद्ध मञ्जरी–स्वरूप एवं स्वरूपगत एकादश भावों का परिचय प्राप्त करते हैं। इस प्रकार बाहर साधक देह से श्रवण–कीर्तनादि भजन के साथ अन्तश्चिन्तित मञ्जरी देह से श्रीललितादि एवं श्रीरूपमञ्जरी आदि सखी–मञ्जरियों के आनुगत्य में श्रीराधामाधव के अष्टकालीन लीलाचिन्तन और सेवाचिन्तन की धारा चलती रहती है। भजन–सिद्धि पर या प्रेमप्राप्ति के पश्चात् श्रीकृष्ण की योगमायाशक्ति उन्हें लीलाराज्य में उनकी अन्तश्चिन्तित सिद्ध देह से साक्षात् श्रीश्रीराधामाधव की सेवा देकर साधकों को धन्य करती हैं। इसी प्रकार उन लोगों की श्रीराधाकिङ्करीभाव से युगलसेवा पाने की आकांक्षा या चिरपिपासा शान्त होती है, प्राण सुशीतल होते हैं। गौड़ीय वैष्णव साधकों के प्राण शीतल होने का और कोई उपाय नहीं है–''सेइ भावे जुड़ाबे पराणी''॥४८॥

राधिकार सखी जतो, ताहा बा कहिबो कतो,
मुख्य सखी करिबो गणन।
ललिता विशाखा तथा, चित्रा चम्पकलता,
रङ्गदेवी सुदेवी कथन॥४९॥

तुङ्गविद्या इन्दुलेखा, एइ अष्टसखी लेखा,
एबे कहि नर्मसखीगण।
राधिकार सहचरी, प्रिय प्रेष्ठ नाम धरि,
प्रेमसेवा करे अनुक्षण॥५०॥

परमप्रेष्ठ सखी :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय ने पिछली त्रिपदी में रागानुगाभजननिरूपण में जिन नित्यसिद्धा रागात्मिका सखीमञ्जरियों के आनुगत्य में भजन की बात कही है, उनमें मुख्य सखी-मञ्जरियों के नाम बताकर उनका परिचय दे रहे हैं। श्रीराधा की सखी-मञ्जरियों का स्वरूप जानने के लिए हमें किञ्चित् तत्त्व-विचार करना होगा, कारण-तत्त्व सिद्धान्त की नींव पर ही रस या लीला की प्रतिष्ठा होती है। सर्वैश्वर्यपूर्ण, सर्वेश्वर, सर्वकारण-कारण स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व हैं-यही है समस्त श्रुतिशास्त्रों का सुनिर्णय। उन्हीं सच्चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तियों में तीन शक्तियाँ प्रधान हैं-अन्तरङ्गा चिच्छक्ति, तटस्था जीवशक्ति और बहिरङ्गा मायाशक्ति। इनमें अन्तरङ्गा चिच्छक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, कारण-यह श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति है। कार्यक्षमता विशेष ही 'शक्ति' नाम से जानी जाती है। कार्यभेद से इस स्वरूपशक्ति की अभिव्यक्ति तीन प्रकार से होती है। ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्वित्। इनमें ह्लादिनी शक्ति का ही सबसे अधिक उत्कर्ष है, कारण-श्रीकृष्ण अखण्ड परमानन्दस्वरूप होकर भी इस ह्लादिनीशक्ति के द्वारा ही स्वरूपानन्दविशेष स्वयं आस्वादन करते हैं और भक्तों को भी कराते हैं। इसकी विशिष्टता यह है कि यह ह्लादिनी शक्ति श्रीकृष्ण के विग्रह में शक्तिरूप में अमूर्त अवस्था में रहकर उन्हें स्वरूपानन्द आस्वादन कराती है और इसी अमूर्त आह्लादिनी शक्ति की ही अधिष्ठात्री देवी के रूप में बाहर मूर्तरूप से रहकर अखण्ड शृङ्गार-रसघन-मूर्ति श्रीकृष्ण को विचित्र शृङ्गाररसमाधुरी आस्वादन कराती है। यही वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा है। ह्लादिनीशक्ति की वृत्तिविशेष क्रमशः उत्कर्ष पाकर रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग एवं महाभाव के रूप में परिणत होती है। यह महाभाव ही श्रीराधारानी का स्वरूप है। जैसे चीनी की पुतली भीतर-बाहर सब चीनी ही होती है, उसी प्रकार श्रीराधारानी का भीतर-बाहर अङ्ग-प्रत्यङ्ग सब महाभाव के उपादान से गठित है या महाभाव नामक प्रीतिरस से विभावित है। ललितादि सखियाँ इन राधारानी की ही कायव्यूह-स्वरूप हैं।

''कृष्णेर अनन्त शक्ति, ताते तिन प्रधान।
चिच्छक्ति, माया शक्ति, जीवशक्ति नाम॥
अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा, तटस्था कहि जारे।
अन्तरङ्गा स्वरूपशक्ति सबार उपरे॥
सच्चित्-आनन्दमय कृष्णेर स्वरूप।
अतएव स्वरूपशक्ति हय-तिन रूप॥
आनन्दांशे ह्लादिनी, सदंशे सन्धिनी।
चिदंशे सम्वित् जारे ज्ञान करि मानि॥
कृष्णके आह्लादे ताते नाम ह्लादिनी।
सेइ शक्तिद्वारे सुख आस्वादे आपनि॥

सुखरूप कृष्ण करे सुख-आस्वादन।
भक्तगणे सुख दिते ह्लादिनी कारण॥
ह्लादिनीर सार अंश तार 'प्रेम' नाम।
आनन्द-चिन्मय-रस प्रेमेर आख्यान॥
प्रेमेर परमसार महाभाव जानि।
सेइ महाभावरूपा राधा ठाकुराणी॥
प्रेमेर स्वरूप-देह प्रेम-विभावित।
कृष्णेर प्रेयसीश्रेष्ठा जगते विदित॥
सेइ महाभाव हय चिन्तामणि सार।
कृष्णवांछा पूर्ण करे-एइ कार्य जार॥
महाभाव-चिन्तामणि राधार स्वरूप।
ललितादि सखी ताँर कायव्यूहरूप॥''

(चै. च. मध्य., परि. ८)

केवल ललितादि सखियाँ ही नहीं, समस्त व्रजरामायें ही श्रीराधारानी की कायव्यूह-स्थानीया हैं। आकार और स्वभाव आदि भेद से श्रीकृष्ण को विविध वैचित्रीपूर्ण रसमाधुरी आस्वादन कराने के लिये श्रीराधारानी ही अनन्त व्रजबालाओं के रूप में आत्मप्रकाश किये हुए हैं।

''आकार स्वभाव भेदे व्रजदेवीगण।
कायव्यूहरूप ताँर रसेर कारण॥
बहु कान्ता बिना नहे रसेर उल्लास।
लीलार सहाय लागि बहुत प्रकाश॥
तार मध्ये व्रजे नाना भाव रस भेदे।
कृष्णके कराय रासादिक लीलास्वादे॥''

(चै. च. आदि., परि. ४)

श्रीराधारानी ही कायव्यूह से अनन्त गोपियों के रूप में विविध भाव और रस भेद के अर्थात् स्वपक्षा, विपक्षा, सुहृत्पक्षा और तटस्थपक्षा-इन चार श्रेणियों की गोपियों की विचित्र भाव वैचित्री द्वारा श्रीकृष्ण को अपूर्व शृङ्गार-रसमाधुरी आस्वादन कराती हैं। मूलस्वरूप श्रीवृषभानुनन्दिनी को केन्द्र बनाकर ही भावसाजात्य से ये चार गोपिकापक्ष विराजित हैं। श्रीललिता-विशाखा आदि परमप्रेष्ठ सखियाँ श्रीराधारानी की स्वपक्षा हैं; श्रीचन्द्रावली पद्मा शैव्या आदि विपक्षा हैं; श्यामला आदि सुहृत्पक्षा हैं; भद्रा आदि तटस्थपक्षा हैं। इनमें स्वपक्षा और विपक्षा ही सर्वश्रेष्ठ रसप्रद हैं। यद्यपि सभी व्रजबालायें श्रीमती भानुनन्दिनी की कायव्यूह मात्र हैं, इसलिए उनके साथ किसी व्रजबाला के साम्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता, तथापि व्रज का शृङ्गाररस श्रीचन्द्रावली

आदि के साथ श्रीमती की समता का भाव अर्पित कर श्रीमती राधारानी की खण्डिता, मान, कलहान्तरिता आदि अपूर्व भावदशायें उत्पन्न करा श्रीकृष्ण को अति अद्भुत रसमाधुरी आस्वादन कराता है। इन सब भावदशाओं की परिपुष्टि में स्वपक्षा श्रीललितादि सखियों की अति विचित्र भूमिका रहती है। यद्यपि श्रीश्रीराधाकृष्ण का भाव विभु है, अतएव उसकी परिपुष्टि के लिये किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं, तथापि सखियों की सहायता के बिना श्रीराधामाधव का भाव क्षणभर भी रसपुष्ट नहीं होता–ठीक उसी तरह जैसे ब्रह्म विभु–वस्तु होते हुए भी चिच्छक्ति की सहायता के बिना लीलावैचित्री के प्रकाशरूप में रसपुष्टि धारण नहीं करता। ''विभुरपि सुखरूपः स्वःप्रकाशोहपि भावः क्षणमपि न हि राधाकृष्णयो र्या ऋते स्वाः। प्रवहति रसपुष्टि चिद्विभूतीरिवेशः श्रयति न पदमासां कः सखीनां रसज्ञः॥'' (गोविन्दलीलामृतम्–१०/१७)

''सखी–बिनु एइ लीला पुष्टि नाहि हय। सखी लीला विस्तारिया सखी आस्वादय॥'' (चै. च.) श्रीराधा की ये सखियाँ पाँच प्रकार की हैं–''अस्याः वृन्दावनेश्वर्याः सख्य पञ्चविधाः मताः। सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च कश्चन। प्रियसख्यश्च परमप्रेष्ठ–सख्यश्च विश्रुताः॥'' (उज्जवलनीलमणिः)–सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परमप्रेष्ठ सखी। ये फिर तीन भागों में विभक्त हैं–विषमस्नेहा, समस्नेहा और अधिकस्नेहा। कुसुमिका, विन्ध्या, धनिष्ठा आदि सखी हैं, ये विषमस्नेहा या श्रीकृष्णस्नेहाधिका हैं। कस्तूरी, मणिमञ्जरी आदि नित्यसखी हैं और शशिमुखी, वासन्ती, लासिका आदि प्राणसखी हैं–ये अधिकस्नेहा या राधास्नेहाधिका हैं; इन्हीं को मञ्जरी कहा जाता है। कुरङ्गाक्षी, सुमध्य, मदनालसा प्रियसखी है और ललिता विशाखा आदि प्रधान अष्टसखियाँ परमप्रेष्ठसखी हैं–ये समस्नेहा अर्थात् श्रीराधाकृष्ण को समान स्नेह करने वाली हैं। ललिता–विशाखा आदि अष्टप्रधान परमप्रेष्ठ सखियाँ श्रीराधाकृष्ण के प्रति समान स्नेह रखते हुए भी 'हम श्रीराधा की ही हैं' सतत ऐसा अभिमान पोषण करती हैं। श्रील ग्रन्थकार पहले इन्हीं अष्टसखियों की बात कहते हैं–''ललिता विशाखा तथा चित्रा चम्पकलता, रङ्गदेवी सुदेवी कथन। तुङ्गविद्या इन्दुलेखा, एइ अष्टसखी लेखा।'' सखियों के विषय में साधक की विशेष जानकारी के लिये हम श्रीराधाकृष्णणोद्देशदीपिका के आधार पर उनके नाम वेश वस्त्र स्वभाव कार्य आदि का उल्लेख कर रहे हैं।

ललिता :– अष्ट सखियों में श्रीललिता सर्वश्रेष्ठ हैं। राधारानी से सत्ताईस दिन बड़ी हैं। ये अनुराधा नाम से भी प्रसिद्ध हैं; वामा प्रखरा स्वभाव से भूषिता। इनकी अङ्गकान्ति गोरोचना की तरह है; मोरपंख की तरह वस्त्र हैं। माता का नाम शारदी, पिता का विशोक है। पति ❋ भैरव नामक गोप हैं, जो गोवर्धन के सखा हैं।

श्रीललिता राधारानी की सभी सखियों की अध्यक्षा हैं। युगललीला के सभी भाव इनके अधिकार में हैं। श्रीराधामाधव के प्रेमकलह और सन्धिकार्य में सुनिपुण हैं। विग्रह (कलह), प्रौढ़िवाद (सगर्व वाक्य), प्रत्युत्तर और युक्तिदान विषयों में ये क्रोध से भरी नतवदन हो सखियों की कान्ति से आवृत रहती हैं। युगल में प्रेमकलह होने पर ये सखियों को प्रतिभा प्राप्त करा साग्रह कलह सम्पादन करती हैं और श्रीराधामाधव में सन्धि या मिलन

❋ 'पति' अर्थात् पति माने गये गोप। परकीय भाव परिपुष्टि के लिए योगमाया द्वारा पति रूप में प्रतीतिमात्र कराई गई है।

के समय वहाँ आकर भी उदासीन की तरह रहती हैं। कुसुमालङ्कार, छत्र, शय्या, कुञ्जभवन आदि के निर्माण में सुदक्ष हैं। इन्द्रजाल आदि की रचना में, हेंयाली (पहेली) काव्य में सुपण्डित हैं। इनकी सेवा है पानकपूर; कुञ्ज का नाम है ललितानन्दद। इनके यूथ में रत्नप्रभा, रतिकला, सुभद्रा, भद्ररेखा, सुमुखी, धनिष्ठा, कलहंसी, कलापिनी आदि सखियाँ हैं।

विशाखा :- अष्टसखियों में दूसरे नम्बर पर हैं। इनके आचरण, गुण, व्रत आदि सभी प्रिय सखी श्रीराधा की ही तरह हैं। श्रीराधा की जन्मलग्न में ही इनका जन्म है। विद्युत की तरह अङ्गकान्ति, तारावली की तरह वस्त्र। पिता का नाम पावन, जटिला की बहन की लड़की दक्षिणा इनकी माता हैं। पति का नाम वाहिक गोप। विशाखा युगल के परिहास विषय में विशारद नर्मसखी हैं। इनकी मंत्रणा दुर्लंध्य है। श्रीकृष्ण के प्रति परिहासवाक्य प्रयोग करने में अद्वितीय हैं। युगल की मर्मज्ञ, दूतीकार्य में सुनिपुण हैं। श्रीयुगल के पारस्परिक मदन-कलह में सामदाम भेद नीति में निपुण हैं। पत्रभङ्गादि तिलक-रचना, माला किरीट आदि निर्माण, इन्द्रजाल, पुत्तलिका नृत्यादि, सूर्यपूजा की सामग्री रचना, विभिन्न भाषायें, ध्रुपद आदि सङ्गीत-इन विषयों में अतिशय पारङ्गत। इनकी सेवा है वस्त्रालङ्कार; कुञ्ज विशाखानन्दद। इनके यूथ में मालती, माधवी, चन्द्रलेखा, कुञ्जरी, हरिणी, चपला, सुरभी, शुभानना आदि सखियाँ हैं।

चम्पकलता :- अष्टसखियों में तीसरी। अङ्गकान्ति खिले चम्पक पुष्प की तरह है। श्रीराधा से एक दिन छोटी हैं। चाषपक्षी (नीलकण्ठ) के वर्ण की तरह वस्त्र हैं। पिता आराम, माता वाटिका। चण्डाक्ष नामक गोप इनके पति हैं। गुणों में प्रायः विशाखातुल्य हैं।

ये दौत्यकार्य में सुनिपुण हैं। कार्य उद्देश्य गुप्त रखने वाली हैं; वाक्ययुक्ति विशारद हैं। विविध उपायों से प्रतिपक्ष का अपकर्ष और स्वपक्ष का उत्कर्ष साधने वाली हैं। फल, पुष्प, मूल आदि के अचार तैयार करने में सुदक्ष। मिट्टी के पात्रादि बनाने में अतुलनीय। षड्रस परीक्षा में और मिष्टान्न आदि बनाने में सुदक्ष हैं, तभी 'मिष्टहस्ता' नाम से प्रसिद्ध हैं। सेवा है रत्नमाला, चँवर ढुलाना आदि। कुञ्ज चम्पकलतानन्दद कामलताकुञ्ज। कुरङ्गाक्षी, सुचरिता, मण्डली, मणिकुण्डला, चन्द्रिका, चन्द्रलतिका, कन्दुकाक्षी और सुमन्दिरा इनके यूथ में हैं।

चित्रा :- ये चौथी हैं। कुंकुम-जैसी अङ्गकान्ति; काँचवर्ण वस्त्र। श्रीराधा से छब्बीस दिन छोटी। श्रीकृष्ण के आनन्द में आनन्दित। वृषभानुराजा के पितृव्य-पुत्र चतुर इनके पिता हैं। माता का नाम चर्चिका; पति का पीठर। विचित्र कार्य-कुशलता के कारण इन्हें अबाध प्रवेशाधिकार है। सारे इङ्गित (सङ्केत) ज्ञान में, नानादेशीय भाषा-ज्ञान में, देखते ही मधु क्षीर आदि वस्तुओं के ज्ञान में, काँच पात्र निर्माण में, जलतरङ्ग वादन में, ज्योतिषशास्त्र में, पशु-परिचय विद्या में, वृक्षादि के रोपण-पालनादि कार्यों में, शर्बतादि रसवस्तु के सुन्दर निर्माण कार्य में परम अभिज्ञ। कुञ्ज चित्रानन्दद; सेवा लवङ्गमाला। रसालिका, तिलकिनी, शौरसेनी, सुगन्धिका, रमिला, कामनागरी, नागरी, नागवेलिका इनके यूथ में हैं।

तुङ्गविद्या :- ये पाँचवीं हैं। श्रीराधा से पाँच दिन बड़ी हैं। कुंकुम की तरह अङ्गकान्ति; वस्त्र पिङ्गल वर्ण। दक्षिणा प्रखरा स्वभाव। माता मेधा, पिता पुष्कर, पति वालिश। ये अठारह विद्याओं ❋ में पारंगत हैं। सन्धिकार्य में कुशल। श्रीकृष्ण की अति विश्वासपात्र। रसशास्त्र, नीतिशास्त्र, नाटक, आख्यायिकादि शास्त्रों में सुनिपुण। सङ्गीतविद्या की आचार्य। कुञ्ज तुङ्गविद्यानन्दद, सेवा नृत्य गीतादि। इनके यूथ में हैं मञ्जुमेधा, सुमधुरा, सुमध्या, मधुरेक्षणा, तनुमध्या, मधुस्यन्दा, गुणचूड़ा, वरङ्गदा आदि।

इन्दुलेखा :- छठवीं इन्दुलेखा की अङ्गकान्ति हरिताल की तरह उज्ज्वल है। वस्त्र दाड़िम्ब-पुष्प-जैसे। श्रीराधा से तीन दिन छोटी। माता बेला, पिता सागर, पति दुर्बल। ये वामा प्रखरा स्वभाव वाली हैं। ये सर्पशास्त्रोक्त मंत्रों में विशेष समर्थ हैं। विज्ञानमंत्र और ज्योतिषशास्त्र में तत्त्वज्ञ। विचित्र हार आदि गूँथना, दन्तरञ्जन कार्य, रत्नसमूह की परीक्षा, पट्टडोरी निर्माण, सौभाग्यमंत्र लेखन-कौशल-ये सब इनके करतलगत हैं। ये श्रीराधामाधव में एक दूसरे के प्रति अनुराग उत्पन्न कर उत्कृष्ट सौभाग्य विस्तार करती हैं।

रङ्गदेवी :- सातवीं सखी। अङ्गकान्ति कमल-केशर की तरह। वस्त्र जवाकुसुम की तरह रक्तिम। श्रीराधा से सात दिन छोटी। गुणों में प्राय चम्पकलता सदृश। पिता का नाम रङ्गसार, माता करुणा। पति वक्रेक्षण। वक्रेक्षण ललिता के पति भैरव के छोटे भाई हैं। ये आश्चर्यजनक हास्यरङ्ग विस्तार करने वाली हैं। श्रीकृष्ण के आगे भी प्रियसखी श्रीराधारानी से हास्य-कौतुक करती हैं। इन्होंने पहले तपस्या कर श्रीकृष्णाकर्षण मंत्र प्राप्त किया था।

सुदेवी :- आठवीं सखी हैं। रङ्गदेवी की जुड़वाँ बहन हैं। मृदुस्वभाव की हैं। रूप गुण स्वभावादि में बहन के साथ इतनी समानता है कि इन्हें देखकर रङ्गदेवी का भ्रम हो जाता है। रङ्गदेवी के पति वक्रेक्षण के छोटे भाई रक्तेक्षण इनके पति हैं। ये श्रीराधा के निकट रहकर उनके केशसंस्कार, अञ्जन सेवा, अङ्ग-सम्वाहन (मर्दन) आदि सेवा करती हैं। शुक-सारिका पाठ, नौका खेल, कुक्कुट खेल, ज्योतिषशास्त्र की हस्तरेखादि का विचार, पशु-पक्षियों का शब्दज्ञान, चन्द्रोदय पर जो कुसुम खिलते हैं उसका ज्ञान, अग्निविद्या, उबटन कार्य-इन सबमें परम सुदक्ष हैं।

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''एबे कहि नर्म सखीगण। राधिकार सहचरी, प्रिय प्रेष्ठ नाम धरि, प्रेमसेवा करे अनुक्षण''। श्रीराधारानी की परमप्रेष्ठ ललितादि सखियों की बात कहकर अब नर्मसखी-मञ्जरियों की बात बताते हैं। ये श्रीराधा की अति प्रियतम सखियाँ होकर भी स्नेहपात्र किङ्करियाँ हैं। निरन्तर श्रीराधामाधव की प्रेमसेवा में ही तन्मय। सखी की कक्षा में रहकर भी सेवागतप्राण हैं। सेवारस से ही गठित हैं इन लोगों के स्वरूप। यही कारण है कि इन लोगों की सेवा अति सरस है, प्राणवन्त और युगल-उज्ज्वलरसमय है। इन लोगों की बात ही गौड़ीय वैष्णव साधकों को विशेषरूप से जाननी होगी, कारण-इन्हीं के आनुगत्य में उनका भजन होता है। वही बताया जा रहा है अगली त्रिपदी में॥४९-५०॥

❋ ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कला, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, धातुगण, वेदान्त दर्शन, मीमांसादर्शन, न्यायदर्शन, वैशिषिक दर्शन, सांख्य दर्शन, पातंजलदर्शन (योगदर्शन) पुराण, धर्मशास्त्र।

समस्नेहा विषमस्नेहा, ना करिहो दुइ लेहा,

कहि मात्र अधिक स्नेहागण।

निरन्तर थाके सङ्गे, कृष्णकथा लीलारङ्गे,

नर्मसखी एइ सब जन॥५१॥❋

अधिकस्नेहा का आनुगत्य :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय गौड़ीय वैष्णवों के लिये अधिकस्नेहा या राधास्नेहाधिका मञ्जरियों का आनुगत्य प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-''समस्नेहा विषमस्नेहा, ना करिहो दुइ लेहा, कहि मात्र अधिक स्नेहागण।'' इससे पूर्व हमने श्रीराधारानी की पाँच प्रकार की सखियों के विभाग उल्लेख किये हैं- विषमस्नेहा या श्रीकृष्णस्नेहाधिका, समस्नेहा या श्रीराधाकृष्ण में समान स्नेहयुक्ता, अधिकस्नेहा या श्रीराधास्नेहाधिका। श्रील ग्रन्थकार महोदय कहते हैं-'श्रीराधाकृष्ण में समान स्नेह रखने वाली और श्रीकृष्णस्नेहाधिका सखियों के आनुगत्य में हम लोगों का भजन नहीं होगा। अतएव 'ना करिओ दुइ लेहा'-इन दो प्रकार की सखियों में 'लेहा' प्रीति या स्नेह-परायण नहीं होना।' 'लेहा' या प्रीति-परायण नहीं होना, इसका अर्थ यह नहीं है कि उन लोगों के प्रति प्रीति त्यागकर उदासीन होने को कह रहे हैं, कारण-मञ्जरीभाव के साधकों में श्रीराधारानी की सभी सखियों के प्रति यथायोग्य श्रद्धा, प्रीति या मैत्री रहेगी। इसलिये समझना होगा कि यहाँ 'लेहा' का अर्थ विशेष प्रीति या भाव-आनुगत्य ही है। विषमस्नेहा और समस्नेहा सखियों की अपेक्षा अधिकस्नेहा या राधास्नेहाधिका मञ्जरियों के भाव की विलक्षणता के विषय में श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने लिखा है-

''सञ्चारी स्यात् समोना वा कृष्णरत्या सुहृद्रतिः।

अधिका पुष्यमाणा चेद्भावोल्लास इतीर्यते॥''

(भ० र० सि० २/५/१२८)

अर्थात् 'श्रीराधारानी की सखियों में जिनकी श्रीराधा-विषय रति श्रीकृष्णरति के समान है या उससे कुछ कम है, वह (रति) कृष्णरतिरूपी स्थायीभाव के सञ्चारीभाव में ही गिनी जायेगी, कारण-वह श्रीकृष्णरतिमूलक या उसकी पोषक है। किन्तु जिन सखियों की राधा-विषयक प्रीति श्रीकृष्णप्रीति से भी अधिक है और उसमें सतत अभिनिवेशवश सम्यक् रूप से वृद्धिशील है, वह सञ्चारी होने पर भी परमोत्कृष्ट है, उसे 'भावोल्लासा' कहा जायेगा और वही अधिकस्नेहाओं का स्थायीभाव मानी जायेगी।'

❋ हम जिस संस्करण का पाठ ग्रहण कर रहे हैं, उसमें यह त्रिपदी नहीं है। किसी-किसी ग्रन्थ में है। साधकों के लिये अत्यन्त आवश्यक है, अतः ग्रहण की है।

श्रीमन्महाप्रभु के श्रीचरणाश्रित एवं रूप-सनातनादि षड्गोस्वामिओं के अनुगत गौड़ीय वैष्णव इसी मञ्जरीभाव या भावोल्लासा रति के उपासक हैं। तभी व्रज में राधारानी की जो अधिकस्नेहा या श्रीराधास्नेहाधिका नित्यसिद्धा मञ्जरियाँ है, उन्हीं के आनुगत्य में गौड़ीय वैष्णवों का रागानुगा भजन सम्पन्न होगा। अतएव श्रील ग्रन्थकार महाशय ने विषमस्नेहा और समस्नेहा के आनुगत्य में भजन की प्रथा का उल्लेख न कर एकमात्र 'अधिकस्नेहा' या मञ्जरियों के आनुगत्य में ही भजन की प्रथा दिखाई। यही महाप्रभु का महादान है, गौड़ीय वैष्णवाचार्यों की परम हार्द्य साध्यवस्तु है। भावसाधन-राज्य में जीवशक्ति जितनी दूर उन्नततर आस्वादन-भूमि में प्रविष्ट हो सकती है-यह मञ्जरीभाव ही उसकी पराकाष्ठा है!

श्रील ठाकुर महाशय अधिकस्नेहा मञ्जरियों के आस्वादन के आधिक्य का हेतु निरूपण करते हुए कहते हैं-''निरन्तर थाके सङ्गे, कृष्णकथा-लीलारङ्गे, नर्मसखी एइ सब जन''। सब सखियाँ ही श्रीराधामाधव की लीला की नित्यसङ्गिनियाँ हैं, कारण-श्रीयुगल का भाव विभु या व्यापक होने पर भी सखियों की सहयोगिता के बिना परिपुष्ट नहीं हो सकता, फिर भी मञ्जरियों को छोड़ श्रीराधामाधव की लीला की निरन्तर सङ्गिनी और कोई नहीं। ललितादि सखियों का सखीत्व है और राधारानी की इच्छा से कभी-कभी नायिकात्व भी हो जाता है, इसलिये साम्यभाव से उनके साथ लज्जा-सङ्कोचादि के कारण वे श्रीयुगल की रहस्यमय लीला के समय लीला-सङ्गिनी नहीं हो सकतीं। किन्तु भावोल्लासारतियुक्ता मञ्जरियों का श्रीयुगल के विविध परिचर्या-कार्यों में ही विशेष आवेश होने के कारण और भाव-तादात्म्य के कारण श्रीराधारानी इन्हें अपनी देह से अभिन्न मानती है; इनमें किसी भी समय नायिकात्व नहीं आता। युगल की निगूढ़ सेवा के लिये ये लोग श्रीराधामाधव के रहस्यमय मिलनकाल में भी सन्निकट रहती हैं। श्रीयुगल इन्हें अपनी रासक्रीड़ा की आवेश-मूर्ति ही मानते हैं, तभी किसी भी समय इनके आगे लज्जा-सङ्कोच का कोई कारण नहीं रहता। इसलिये एकमात्र ये मञ्जरियाँ ही श्रीयुगल की निरन्तर सङ्गिनी हो सकती हैं। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने मञ्जरियों के निरन्तर सङ्ग और उनकी भाव माधुरी के विषय में श्रीवृन्दावनमहिमामृत (शतक ८) में लिखा है-

''क्षणं चरणविच्छेदाच्छ्रीश्वर्याः प्राणहारिणीम्।
पदारविन्द-संलग्नतयैवाहर्निशं स्थिताम्॥
बहुणा किं स्वकान्तेन क्रीड़न्त्यापि लतागृहे।
पर्यन्काधिष्ठापितां वा वस्त्रैवाच्छादितां क्वचित्॥

× × ×

राधापदाब्जसेवान्यस्पृहा - कालत्रयोज्झिताम्।
राधा प्रीतिसुखाम्भोधावपारे बूड़तां सदा॥
राधा-पदाम्बुजादन्यत् स्वप्नान्तेहपि न जानतीम्।
राधा - सम्बन्धसंधावत्प्रेमसिन्धौघमालिनीम्॥
सेषाशेष - महाविस्मापक - कैशोररूपिणीम्।

क्षणे क्षणे रसास्वाद-प्रोदष्णत्पुलकावलीम्॥
सर्वांगकान्तिसौन्दर्यरपारैः सर्वमोहिनीम्।
राधाकर्माकुलतया तत्र तत्र विचालिनीम्॥''

अर्थात् 'क्षण भर ईश्वरी श्रीराधारानी का श्रीचरण-विच्छेद (जिसके लिये) प्राणहारक हो जाता है, इसलिये मञ्जरी अहर्निश उनके श्रीपादपद्मसान्निध्य में ही रहती है। अधिक और क्या लतागृह में अपने कान्त के साथ क्रीड़ा के समय भी श्रीमती मञ्जरी को शय्या पर ही रखती हैं और कभी वस्त्राच्छादित अवस्था में रखती हैं! मञ्जरी श्रीराधारानी की पादपद्म-सेवा को छोड़ भूत भविष्य वर्तमान कभी भी अन्य स्पृहा नहीं करती; अपार राधा-प्रीति-सुख-सिन्धु में सर्वदा निमग्न रहती है। ये मञ्जरियाँ स्वप्न में भी राधा-पादपद्म छोड़ और कुछ नहीं जानतीं। श्रीराधा-सम्बन्ध में संधावित प्रेम-सिन्धु की तरङ्गावलि द्वारा सुशोभित रहती हैं। ये ईश्वरगण सहित निखिल विश्व के लिये महाविस्मयकार कैशोररूपिणी हैं, प्रतिक्षण रसास्वाद के कारण निविड़ पुलक धारण किये रहती हैं। सर्वांग की अपार कान्ति सौन्दर्य से राधाकिङ्करी सभी में मोह उत्पन्न किये रहती है और श्रीराधा के सेवाकार्य को लेकर व्याकुल होकर सतत इधर-उधर परिभ्रमण करती रहती है।'

इस प्रकार श्रीराधामाधव के मिलनकाल में ये किङ्करियाँ सेवारङ्ग में निरन्तर युगल के साथ रहती हैं। फिर विरहकाल में 'कृष्णकथा-लीलारङ्गे' - कृष्णकथा कहकर विरहिणी श्रीराधा का विरह शान्त करती हैं। युगललीला दर्शन करती हैं, तो ये उन निगूढ़ लीलाओं को प्रेमतूलिका से हृदयपट पर अङ्कित कर रखती हैं और विरहकाल में उसी लीलारङ्ग का वर्णन श्रीमती के आगे कर लीलारङ्गी श्याम को श्रीमती के निकट मूर्त कर देती हैं। इस प्रसङ्गरूपा सेवा के लिये भी ये मञ्जरियाँ श्रीराधारानी के साथ सतत रहती हैं। सतत दास्यकार्य में निरत रहकर भी ये 'नर्मसखी' हैं। श्रीकृष्ण के प्रति, श्रीराधारानी के प्रति, फिर युगल के प्रति समयोपयोगी अति सरस नर्म या परिहासरस विस्तार कर युगल को परम सुख पहुँचाती हैं। ❋ तभी कहा गया है ''नर्म सखी एइ सब जन''॥५१॥

श्रीरूपमञ्जरी सार, श्रीरतिमञ्जरी आर,
लवङ्गमञ्जरी मञ्जुलाली।
श्रीरसमञ्जरी सङ्गे, कस्तूरिका आदि रङ्गे,
प्रेमसेवा करि कुतुहली॥५२॥

नित्यसिद्धा मञ्जरियाँ :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय इस त्रिपदी में नर्म सखियों या नित्यसिद्धा रागात्मिका

❋ हमारे द्वारा सम्पादित श्रीविलापकुसुमांजलि में इसके विविध दृष्टान्त दिये गये हैं।

मञ्जरियों में प्रधान मञ्जरियों के नाम बता रहे हैं-''श्रीरूपमञ्जरी सार, श्रीरतिमञ्जरी आर, लवङ्ग-मञ्जरी❋ मञ्जुलाली। श्रीरसमञ्जरी सङ्गे, कस्तूरिका आदि रङ्गे, प्रेमसेवा करि कुतुहली''। पहले ही कहते हैं 'श्रीरूपमञ्जरी सार'। यहाँ 'सार' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ या मुख्य ही लिया गया है। समस्त मञ्जरियों में श्रीरूपमञ्जरी ही श्रेष्ठ या अध्यक्ष हैं। उनके नियन्तृत्व या आनुगत्य में ही सभी मञ्जरियों की श्रीराधामाधव की समस्त सेवायें सुसम्पन्न होती हैं। रसतत्त्ववेत्ता श्रीपाद स्वरूप दामोदर जब तक परीक्षा न कर लेते, श्रीमन्महाप्रभु किसी का काव्यादि कभी न सुनते, कारण-रसाभास आदि या सिद्धान्त-विरुद्ध होने पर वैसा काव्य श्रवण कर प्रभु के मन में असह्य दु:ख का उद्रेक होता। तभी वे सदैव श्रीस्वरूप की परीक्षा की अपेक्षा रखते। उसी प्रकार व्रज में श्रीरूपमञ्जरी की परीक्षा में रसोत्तीर्ण होने पर ही नवीन मञ्जरियाँ श्रीश्रीराधामाधव के रस-सेवन का अधिकार प्राप्त करती हैं, अन्यथा किसी के लिये युगलसेवा प्राप्ति सम्भव नहीं होती। श्रील ठाकुर महाशय के प्रार्थनापद से हमें इस बात का सुस्पष्ट सङ्केत मिलता है। श्रील ठाकुर महाशय ने अपने मञ्जरीस्वरूप की ही बात की है। वे जब युगलसेवा का सौभाग्य प्राप्त करेंगे, तब श्रीरूपमञ्जरी के आदेश से युगलसेवा का सब सम्भार सुसज्जित कर श्रीरूप के पीछे खड़े रहेंगे-

''श्रीरूप-पश्चाते आमि रहिबो भीत होइया।
दोंहे पुनः कहिबेन आमा-पाने चाइया॥
सदय हृदय दोंहे कहिबेन हासि।
कोथाय पाइले रूप! एइ नव दासी॥
श्रीरूपमञ्जरी तबे दोंह-वाक्य शुनि।
मञ्जुलाली दिलो मोरे एइ दासी आनि॥
अति नम्रचित आमि इहारे जानिलो।
सेवाकार्य दिया तबे हेथाय राखिलो॥
एइ तत्त्व दोंहाकार साक्षाते कहिया।
नरोत्तमे सेवाय दिबे नियुक्त करिया॥''

यहाँ 'नम्रचित्त' से श्रील ठाकुर महाशय के मञ्जरीस्वरूप की युगलसेवा की योग्यता का पता चलता है और यह बात भी सुस्पष्ट रूप से समझ में आती है कि श्रीरूपमञ्जरी की परीक्षा में वे रसोत्तीर्ण हुए हैं। फिर ''सेवाकार्य दिया तबे हेथाय राखिलो''-इस बात से यह भी भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि श्रीयुगलसेवा देने का अधिकार श्रीरूपमञ्जरी को ही है। इसलिये ''साधने भाविबो जाहा, सिद्धदेहे पाबो ताहा'' (त्रिपदी ५५)-इस

❋ किसी-किसी ग्रन्थ में 'अनङ्ग मञ्जरी' है, किन्तु अनङ्ग मञ्जरी का नायिकात्व भी वर्णित है, इसलिये हमने 'लवङ्ग मञ्जरी' समीचीन मान इसी को ग्रहण किया है।

उक्ति के अनुसार साधनकाल में साधकों को मुख्यरूप से ❋ श्रीरूपमञ्जरी के आनुगत्य में ही अपने सिद्धस्वरूप से सेवाचिन्तन आदि करना होगा, यह भी समझा जाता है। इस पद्य में श्रीरूपमञ्जरी आदि छह मञ्जरियों के नामों का उल्लेख कर अन्त में 'कस्तूरिका आदि' कहा है। इस 'आदि' से श्रीगुणमञ्जरी एवं विलासमञ्जरी की बात कही जा रही है, यह जानना होगा। हम अधिकस्नेहागण के स्मरण-मनन आदि की सुविधा के लिये श्रील गोपालगुरु गोस्वामिपाद एवं श्रील ध्यानचन्द्र गोस्वामिपाद-कृत श्रीश्रीगौरगोविन्दार्चन स्मरणपद्धति के अनुसार इन आठ मञ्जरियों के वर्ण-वस्त्रादि का किञ्चित् परिचय दे रहे हैं-

श्रीरूपमञ्जरी :-

''कुञ्जोऽस्ति रूपोल्लासाख्यो ललिताकुञ्जकोत्तरे।
सदा तिष्ठति तत्रैव सुशोभा रूपमञ्जरी॥
प्रियनर्मसखीमुख्या सुन्दरी रूपमञ्जरी।
गोरोचना-सामाङ्गश्रीः केकिपत्रांशुकप्रिया॥
सार्द्धत्रिदशवर्षासौ वाममध्यात्वमाश्रिता।
रङ्गणमालिकां चेति प्रवदन्ति मनीषिणः॥
इयं लवङ्गमञ्जर्या एकेनान्हा कनीयसी।
रत्नभानुः पिता माता यमुना दुर्मेधकः पतिः॥
श्वश्रूश्च जटिला नाम्नी पादसेवनतत्परा।
कलौ गौररसे रूपगोस्वामिपदं समागताः॥''

'श्रीललितानन्दद कुञ्ज के उत्तर में 'रूपोल्लास' नामक कुञ्ज विराजमान है, अति शोभना श्रीरूपमञ्जरी सर्वदा वहाँ रहती हैं। ये प्रियनर्मसखियों अर्थात् मञ्जरियों में मुख्य हैं। अति सुन्दरी हैं, गोरोचना की तरह इनकी अङ्ग-कान्ति है, मयूरपुच्छ की तरह वस्त्र हैं। वयस तेरह वर्ष छह मास। वामामध्या स्वभाव। मनीषी इन्हें 'रङ्गणमाला' भी कहते हैं। लवङ्गमञ्जरी से एक दिन छोटी हैं। पिता का नाम 'रत्नभानु' माता का 'यमुना'। पति 'दुर्मेध' और सास 'जटिला'। ये श्रीराधामाधव के पादसेवन में तत्पर हैं। कलियुग में गौर अवतार में ये 'श्रीरूपगोस्वामी' रूप में अवतीर्ण हुई हैं।'

श्रीरतिमञ्जरी :-

''रत्यम्बुजाख्य कुञ्जोऽस्तीन्दुलेखा कुञ्ज-दक्षिणे।
तत्रैव तिष्ठति सदा सुरूपा रतिमञ्जरी॥
तारावली-दुकूलेयं तड़ित्तुल्य-तनुच्छविः।
दक्षिणा मृद्विका ख्याता तुलसीति वदन्ती याम्॥

❋ 'मुख्यरूप से' इस उक्ति का तात्पर्य यही है कि अगली त्रिपदी में इस पद्य में वर्णित सभी मञ्जरियों का आनुगत्य बताया गया है।

अस्यो वयो द्विमासाढ्यहायनास्तु त्रयोदश।
पितास्या वृषभः कान्तो दिव्याख्यः शारदाप्रसूः॥
श्वश्रूश्च सन्निका प्रोक्ता चामरसेवनान्विता।
इयं श्रीरघुनाथारण्यं प्राप्ता गौररसे कलौ॥''

'इन्दुलेखा सखी के दक्षिण में 'रत्यम्बुज' नामक कुञ्ज विराजित है। अति सुरूपा रतिमञ्जरी वहाँ सर्वदा अवस्थान करती हैं। विद्युत की तरह अङ्गकान्ति, तारावली की तरह वस्त्र। 'दक्षिणामृदु' स्वभाववाली। इन्हें 'तुलसी' भी कहा जाता है। वयस तेरह वर्ष दो मास। पिता 'वृषभ', पति 'दिव्य', माता शारदा, सास सन्निका। इनकी सेवा है चँवर झलना। ये इस कलियुग में श्रीरघुनाथदास गोस्वामिरूप में अवतीर्ण हैं।'

श्रीलवङ्गमञ्जरी :-

''कुञ्जस्य तुङ्गविद्यायाः कुञ्जः पूर्वत्र वर्त्तते।
लवङ्गसुखदो नाम्ना सुदृशां सुमनोहरः॥
लवङ्गमञ्जरी तत्र मुदा तिष्ठति सर्वदा।
सा तु रूपाख्यमञ्जर्या एकेनान्हा वरीयसी॥
उद्यद्-विद्युत्समान-श्रीस्तारावलीपटावृता।
श्रीकृष्णानन्ददा नित्यं दक्षिणा मृद्विका मताः॥
वय एकदिनं सार्द्धहायनास्तु त्रयोदश।
श्वश्रूः सुशीला पितरौ यमुना-रत्नभानुकौ॥
पतिस्यान्मण्डलीभद्रः सर्वाभरण सेविका।
श्रीसनातननामासौ ख्याता गौररसे कलौ॥''

'तुङ्गविद्या सखी के कुञ्ज के पूर्व में 'लवङ्गसुखद' नामक कुञ्ज विद्यमान है-सुनेत्रागणका मनोहर कुञ्ज। वहाँ श्रीलवङ्गमञ्जरी सदा परमानन्दपूर्वक वास करती हैं। श्रीरूपमञ्जरी से एक दिन बड़ी हैं। अङ्गकान्ति उत्कृष्ट विद्युत के तुल्य है, वस्त्र तारावली की तरह। स्वभाव दक्षिणा मृदु। श्रीकृष्ण को नित्य आनन्ददान करती हैं। वयस तेरह वर्ष, छह मास, एक दिन। माता यमुना, पिता रत्नभानु, सास सुशीला, पति मण्डलीभद्र। सभी प्रकार की आभूषण-सेवा करती हैं। अब गौरअवतार में ये श्रीसनातन गोस्वामिरूप में प्रादुर्भूत हैं।'

श्रीरसमञ्जरी :-

''रसानन्दप्रदो नाम्ना चित्राकुञ्जस्य पश्चिमे।
कुञ्जोऽस्ति तत्र वसति सर्वदा रसमञ्जरी॥
श्रीरूपमञ्जरी सम्यग्जीवातुः सा प्रकीर्त्तिता।
हंसपक्ष-दुकूलेयं फुल्लचम्पककान्तिभाक्॥

लवङ्गमञ्जरीतुल्या प्रायेण गुणसम्पदा।
अतीव प्रियतां प्राप्ता श्रीरूपमञ्जरीश्रिता॥
सन्धानचतुरा सेयं दौत्ये कौशलमागता।
त्रयोदशशरद्युक्ता दक्षिणा मृद्विका मता॥
पिता सुभानुर्माता च प्रेममञ्जरी संज्ञिका।
पतिर्विटन्कः श्वश्रूरम्भावती वस्त्रसेविका॥
सा कलौ रघुनाथाख्या-युक्तभट्टत्वमागता॥''

'चित्रा सखी के कुञ्ज के पश्चिम में 'रसानन्दप्रद' नामक कुञ्ज विराजित है, वहाँ श्रीरसमञ्जरी सर्वदा विराज करती हैं। श्रीरूपमञ्जरी की प्राणसम प्रिय! चम्पकपुष्प की तरह अङ्गकान्ति; हंसपंख के तुल्य वस्त्र। जो लवङ्गमञ्जरीतुल्य गुणवती हैं। श्रीरूपमञ्जरी की आश्रिता होकर उनकी अत्यन्त प्रीतिपात्र बनी हैं। ये नाना विषयों में सन्धान-चतुरा हैं और दूतीकार्य में कुशल हैं। वयस तेरह वर्ष; स्वभाव दक्षिणा मृदु। पिता सुभानु, माता प्रेममञ्जरी, पति विटन्क, सास रम्भावती। इनकी वस्त्रसेवा है। इस कलियुग में ये ही श्रीरघुनाथ भट्ट रूप से आविर्भूत हुई हैं।'

श्रीगुणमञ्जरी :-

''ईशाने चम्पकलता कुञ्जात् कुञ्जोऽस्ति शोभनः।
गुणानन्दप्रदो नाम्ना तस्त्रास्ते गुणमञ्जरी॥
रूपमञ्जरिका सौख्याभिलाषा सा प्रकीर्त्तिता।
जवाराजि-दुकूलेयं तड़ित्प्रकार कान्तिभाक्॥
कनिष्ठेयं भवेत्तस्यास्तुलस्यास्तु त्रिभिर्दिनैः।
श्रीकृष्णामोददाक्षिण्यमाश्रिता प्रखरोदिता॥
वयोऽस्या एकमासाढ्या हायनास्तु त्रयोदश।
सप्तविंशतिभियुक्तं दिनैश्च समुदीरितम्॥
चन्द्रभानुः पिता माता यमुना गोभट पतिः।
श्वश्रूस्तारावली ज्ञेया शय्यासेवापरायणा॥
गोपालभट्टनामासौ ख्याता गौररसे कलौ॥''

'चम्पकलता के कुञ्ज के ईशानकोण में 'गुणानन्दप्रद' नामक कुञ्ज हैं, उसमें श्रीगुणमञ्जरी अवस्थान करती हैं, जो श्रीरूपमञ्जरी के साथ सौख्य (मित्रता) की अभिलाषा रखती हैं। अङ्गकान्ति विद्युत की तरह है; वस्त्र जवाकुसुम की तरह। तुलसीमञ्जरी से तीन दिन छोटी हैं। श्रीकृष्ण की आनन्दविधायिनी हैं, दक्षिण प्रखरा स्वभाव है। वयस तेरह वर्ष, एक माह, सत्ताईस दिन। पिता का नाम चन्द्रभानु है, माता का यमुना। पति गोभट, सास तारावली। सेवा शय्यारचना। श्रीगौर अवतार में श्रीगोपालभट्ट रूप में अवतीर्ण हैं।

श्रीविलासमञ्जरी :-

''वैशाख-कुञ्जादाग्नेये कुञ्जोऽस्ति सुमनोहरः।
विलासानन्दो नाम्नात्रास्ते विलासमञ्जरी॥
विलासमञ्जरी रूपमञ्जरी सख्यमाश्रिता।
स्वकान्त्या सदृशी चक्रे या दिव्यां स्वर्णकेतकीम्॥
चञ्चरीक-दुकूलेयं वामामृद्वीत्वमाश्रिता।
कनिष्ठा रसमञ्जर्याश्चतुर्भिर्दिवसैरियम्॥
स्वर्भानुः दुर्बला पिता माता पति विड़म्बकः।
श्वश्रू रमाभिधास्याश्च जलसेवापरायण॥
जीवगोस्वामितां प्राप्ता कलौ गौररसेत्वसौ॥''

'विशाखा के कुञ्ज के अग्निकोण में 'विलासानन्द' नामक अति मनोहर कुञ्ज है; विलासमञ्जरी वहाँ अवस्थान करती हैं। रूपमञ्जरी के साथ इनका सख्यभाव है। अपनी अङ्गछटा से ये सामने की वस्तु को दिव्य स्वर्ण केतकीवत् चमकाती हैं। वस्त्र भौंरे की तरह; स्वभाव वामामृद्वी। रसमञ्जरी की अपेक्षा चार दिन छोटी हैं, अर्थात् इनकी वयस बारह वर्ष, एक मास, छब्बीस दिन। पिता स्वर्भानु, माता दुर्बला। पति का नाम विड़म्बक, सास का रमा। सेवा जलदान। श्रीगौर अवतार में ये श्रीजीवगोस्वामी हैं।'

श्रीमञ्जुलालीमञ्जरी :-

''लीलानन्दप्रदो नाम्ना विशाखाकुञ्जकोत्तरे।
तत्रैव तिष्ठति मुदा श्रीमञ्जुलालीमञ्जरी॥
रूपमञ्जरिकासख्यप्रायेण गुणसम्पदा।
किंशुक पुष्पवस्त्राद्या तप्तहेमतनुच्छविः॥
लीलामञ्जरी नाम्नास्या वाममध्यात्वमाश्रिता।
श्रीराधिकामनोऽभिज्ञा वस्त्रसेवापरायणा॥
वयः सप्ताहयुक्तास्यौ सार्द्धत्रिदशहायना।
कलौ गौररसे लोकनाथगोस्वामितां गता॥''

'श्रीविशाखा के कुञ्ज के उत्तर में 'लीलानन्दप्रद' नामक कुञ्ज में परमानन्द से श्रीमञ्जुलालीमञ्जरी अवस्थान करती हैं। श्रीरूपमञ्जरी के साथ इनकी सख्यप्राय गुणसम्पदा है। पिघले स्वर्ण की तरह अङ्गकान्ति; टेसू पुष्प-जैसे वस्त्र। इनका दूसरा नाम लीलामञ्जरी है। वाममध्या स्वभाव। श्रीराधारानी का मन जानकर सेवा करती हैं। ये वस्त्रसेवा-परायण हैं। वयस तेरह वर्ष, छह मास, सात दिन। गौरअवतार में ये ही श्रीलोकनाथ गोस्वामी हैं।'

श्रीकस्तूरीमञ्जरी :-

''कस्तूर्यानन्ददां नाम्ना सुदेव्याः कुञ्जकोत्तरे।
तत्रैव तिष्ठति मुदा सदा कस्तूरीमञ्जरी॥
काँचतुल्याम्बरा चासौ शुद्धहेमाङ्गकान्तिभाक्।
मणीन्द्रमण्डनैर्युक्ता श्रीखण्डसेवनोत्सुका॥
वयस्त्रिदशवर्षासौ वामामृद्वीत्वमाश्रिता।
श्रीकृष्णकविराजाख्यां प्राप्ता गौररसे कलौ॥''

'सुदेवी सखी के कुञ्ज के उत्तर में 'कस्तूर्यानन्द' कुञ्ज विराजित है, वहाँ कस्तूरीमञ्जरी सर्वदा वास करती हैं। शुद्ध स्वर्ण की तरह अङ्गकान्ति, काँचतुल्य वस्त्र। श्रेष्ठमणिभूषणों से भूषित। सेवा चन्दन की। वयस तेरह वर्ष, स्वभाव वामामृद्वी। इस कलियुग में श्रीगौर अवतार में ये ही श्रीकृष्णदास कविराज रूप में प्रादुर्भूत हैं।'

श्रील ठाकुर महाशय कहते है-'इन सब नित्यसिद्धा मञ्जरियों के साथ अत्यन्त आनन्दपूर्वक कुतूहली होकर या कौतुक से भरकर श्रीराधामाधव की प्रेमसेवा ❋ करूँगा-''प्रेमसेवा करि कुतूहली'' में 'कुतूहली' का प्रयोग किसी विशेष अभिप्राय से ही किया गया है, यह जानना होगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने अपनी 'चमत्कारचन्द्रिका' में रमणीय वस्तु को देखकर चित्त की लोलुपता के अर्थ में 'कुतूहल' शब्द का प्रयोग किया है। 'दर्शन' उपलक्षण से श्रवण-कीर्तनादि भी समझने होंगे। श्रीश्रीराधामाधव के रूप, गुण, लीला-माधुरी के और नित्यसिद्धा किङ्करियों की युगल-सेवा की परिपाटी के श्रवण-कीर्तन से उस प्रकार का भाव प्राप्त करने के लिये चित्त की जो लोलुपता या लोभ होता है, वही रागानुगा भजन का प्रवर्तक या एकमात्र हेतु है। रागानुगीय साधक उल्लिखित नित्यसिद्धा मञ्जरियों की भाव-परिपाटी या सेवा-परिपाटी पर प्रलुब्ध होकर उनके आनुगत्य में उनके साथ अन्तश्चिन्तित मञ्जरी रूप से श्रीयुगल की प्रेमसेवा का चिन्तन करेंगे। भावसिद्ध होने पर उन्हें वही प्राप्त होगी। लगता है, 'कुतूहली' शब्द उसी ओर सङ्केत करता है।

अथवा, 'कुतूहली' का आभिधानिक (शब्दकोषीय) अर्थ 'कौतुकी' है। ''कौतुक'' शब्द वैष्णवशास्त्र में विनोद, चमत्कारिता, उत्सुकता, विस्मय, उत्सव, नर्म आदि नाना अर्थों में प्रयोग किया जाता है। नित्यसिद्धा किङ्करियों के आनुगत्य में और उनके साथ में युगल-सेवा-चिन्तन में इन सभी अर्थों की सार्थकता समझनी होगी। अर्थात् वैसा सेवा-चिन्तन और फिर स्वरूप सिद्ध होने पर साक्षात् सेवा-प्राप्ति अति विनोद या आनन्द के साथ, चमत्कारिता उत्सुकता या विस्मय के साथ, नयन-मन के उत्सव के रूप में तथा नर्म या परिहासरस के साथ सुसम्पन्न होती है। सुधीजन अनुसन्धान करें, तो रसशास्त्र से इन सबका प्रमाण सहज ही मिल सकता है। ग्रन्थविस्तार के भय से हमने उसका उल्लेख नहीं किया।

❋ 'प्रेमसेवा' की व्याख्या अगली त्रिपदी में देखिये।

किसी-किसी ग्रन्थ में ''प्रेमसेवा करे कुतूहली'' पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ होगा-उल्लिखित नित्यसिद्धा मञ्जरियाँ वैसे कुतूहल या कौतुक के साथ श्रीराधामाधव की प्रेमसेवा करती हैं। इस पाठ के साथ अगली त्रिपदी का अपेक्षाकृत अधिक सामञ्जस्य दिखाई देता है॥५२॥

ए सब अनुगा हैया, प्रेमसेवा निबो चाइया,

इङ्गिते बुझिबो सब काज।

रूपे गुणे डगमगि, सदा हबो अनुरागी,

बसति करिबो सखी माझ॥५३॥

प्रेमसेवा की प्रार्थना :-

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में नित्यसिद्धा मञ्जरियों के आनुगत्य में प्रेमसेवा की और तदनुरूप योग्यता प्राप्त करने की अभिलाषा व्यक्त कर रहे हैं। पहले कहते हैं-''ए सब अनुगा हैया, प्रेमसेवा निबो चाइया, इङ्गिते बुझिबो सब काज''। रागात्मिका नित्यसिद्ध पार्षदों के आनुगत्य के बिना व्रजभजन सिद्ध नहीं होता। ''रागमयी भक्तिर हय रागात्मिका नाम। ताहा शुनि लुब्ध हय कोनो भाग्यवान्॥ लोभे व्रजवासिभावे करे अनुगति।'' इत्यादि (चै० च०) व्रजगोपियों के आनुगत्य में भजन कर दण्डकारण्यवासी ऋषियों ने और श्रुतियों की अधिष्ठात्री देवियों ने व्रजगोपीत्व प्राप्त कर व्रज में श्रीकृष्ण-सेवा पाई है। पक्षान्तर से आनुगत्यविहीन वैकुण्ठेश्वरी लक्ष्मीदेवी व्रजधाम में रहकर और तपस्या करके भी श्रीकृष्ण-सङ्ग नहीं पा सकीं, यह पुराणों में श्रीमद्भागवत में वर्णित है। इस विषय में श्रीमन्महाप्रभु ने वेङ्कटभट्ट से कहा है -

''श्रुति सब गोपीगणेर अनुगत हइया।
व्रजेश्वरीसुत भजे गोपीभाव लइया॥
व्यूहान्तरे गोपीदेह व्रजे जबे पाइलो।
सेइ देहे कृष्णसङ्गे रासक्रीड़ा कैलो॥
गोपजाति कृष्ण-गोपी प्रेयसी ताँहार।
देवी बा अन्यस्त्री कृष्ण ना करे अङ्गीकार॥
लक्ष्मी चाहे सेइ देहे कृष्णेर सङ्गम।
गोपिका अनुगा हइया ना कैलो भजन॥
अन्य देहे ना पाइये रासविलास।
अतएव 'नायं' श्लोक कहे वेदव्यास॥''

(चै० च०)

श्रील ग्रन्थकार महोदय कहते हैं-'श्रीरूप आदि मञ्जरियों का अनुगत होकर' प्रेमसेवा माँग लूँगा, अर्थात् उनसे श्रीश्रीराधामाधव की प्रेमसेवा माँगकर ले लूँगा।' केवल सेवा न कहकर 'प्रेमसेवा' शब्द के प्रयोग करने का एक विशेश उद्देश्य है। प्रेम ही भगवत्सेवा का श्रेष्ठ उपचार है। सेवक के हृदय में प्रेम न हो, तो उसके दिये फल जल नैवेद्य आदि उपचार भगवान् के सुख के हेतु नहीं हो सकते। तभी पद्यावली में कहा गया है-

''नानोपचार-कृत-पूजनमार्त्तबन्धोः प्रेम्नैव भक्तहृदयं सुखविद्रुतं स्यात्।
यावत् क्षुदस्ति जठरे जरठा पिपासा तावत् सुखाय भवतो ननु भक्ष्यपेये॥''

अर्थात्-'हे भक्त! प्रेम के साथ विविध उपचारों से पूजित होने पर ही आर्तबन्धु श्रीकृष्ण का हृदय सुख से विगलित होता है-जैसे, जब तक उदर में बलवती क्षुधा-पिपासा रहती है, तभी तक अन्नजल सुख का हेतु या तृप्तिजनक होता है।' भक्त का आर्तिमय प्रेम ही भगवान् के हृदय में भक्त का सेवोपचार ग्रहण करने के लिये प्रबल आकांक्षा जगाता है।

राधाकिङ्करियाँ साक्षात् सेवारस की ही मूतियाँ हैं, सेवारस से ही गठित हैं उनके स्वरूप। उनका प्रेम इतना विशुद्ध और उच्चकोटि का है कि मानो उनके हृदय के प्रेम ने ही सेवारूप में परिणति प्राप्त की है। अग्नितादात्म्यप्राप्त लोहे की तरह उनके प्रेम और सेवा इतने तादात्म्यप्राप्त हैं मानो दोनों एक ही अखण्ड वस्तु हैं। तभी कहा गया है 'प्रेमसेवा'। यह प्रेमसेवा उन नित्यसिद्धा किङ्करियों से माँगकर लेनी होगी। श्रीराधामाधव की प्रेमसेवा उन लोगों की ही निजी सम्पदा है, वे यदि करुणा कर किङ्करीभाव-साधक को दान करें, तभी साधक के लिये उसे प्राप्त करना सम्भव है। 'प्रेमसेवा निबो चाइया' से यही बताया गया है कि साधक की भजन-निपुणता और उसके फलस्वरूप प्रेमोत्कण्ठा सभी उन लोगों की करुणा के उद्रेक के लिये है। उस प्रकार के उत्कण्ठाशील किङ्करीभाव-साधकों को सकातर प्रार्थना कर उन लोगों से श्रीराधामाधव की प्रेमसेवा माँगकर लेनी होगी। वे भी अपार करुणामयी हैं, कातरता देखकर योग्यतासम्पन्न नवदासी को यथायोग्य सेवादान कर धन्य करेंगी-'प्रेमसेवा निबो चाइया' वाक्य का यही ध्वनिगम्य अर्थ है।

फिर कहते हैं-''इङ्गिते बुझिबो सब काज''। राधाकिङ्करियाँ राधारानी की करुणा से उनकी दृष्टि, वाक्य, हाथ-पैर आदि के सभी प्रकार के सङ्केतों को समझने में समर्थ हैं-''श्रीश्वरीदृष्टिवागादि सर्वेङ्गितविचक्षणाम्'' (श्रीवृन्दावन महिमामृतम्-८/३३) - राधाकिङ्करियाँ प्राणेश्वरी की दृष्टि वाक्य आदि के सभी इङ्गित समझने में सक्षम हैं। उसी प्रकार सखियों और रूप आदि मञ्जरियों के भी सभी प्रकार के इङ्गित समझने में निपुण हैं। परकीय मधुररस की सेवा है, पूरे इङ्गितबोध के बिना सेवाकार्य सम्भव ही नहीं। कुञ्ज में निविड़ विलास है। सखी-मञ्जरियाँ नीरव होकर कुञ्जरन्ध्रों पर आँखें रखे जी भरकर युगलमाधुरी आस्वादन कर रही हैं। 'चूँ' भी हुई तो क्रीड़ा का आवेश टूट जायेगा। सभी प्रकार के इङ्गित समझकर सेवाकार्य करने की योग्यता सखीमञ्जरियों में न हो तो वहाँ सेवा पाना सर्वथा असम्भव है। कुञ्जसेवा के अतिरिक्त श्रीमती को अपने गृह में भी सेवा करनी होती है, वहाँ भी किङ्करी को इङ्गित बोध में योग्यता चाहिये। प्रातःकाल जटिला राधारानी के शयनकक्ष में प्रवेश कर उन्हें जगा रही हैं। रजनी-विलास में क्लान्त श्रीमती अपनी सासजी के आह्वान से जगकर शय्या पर उठ कर बैठी हैं। विशाखासखी श्रीमती के अङ्ग पर विलासचिह्न देखकर डर रही हैं। वृद्धा को नयनगोचर होते ही सर्वनाश!

विशाखा श्रीमती की सेवापरायण किङ्करी को आँख से सङ्केत करती हैं; इङ्गित समझने वाली किङ्करी तत्क्षणात् रञ्जकद्रव्य से विलासचिह्न छिपा देती है। इस प्रकार परकीय मधुर रस में सभी सेवाकार्यों के लिये इङ्गित बोध में निपुणता आवश्यक है-''इङ्गिते बुझिबो सब काज।''

इसके पश्चात् कहते हैं-''रूपे गुणे डगमगि, सदा हबो अनुरागी, बसति करिबो सखीमाझ''। श्रीश्रीराधामाधव युगल के रूप और गुणों में डूबकर सदा अनुरागी होऊँगा, अर्थात् प्रतिक्षण नव-नवायमान युगल की रूपगुणादि की माधुरी या सेवामाधुरी आस्वादन में विभोर होऊँगा। अथवा, मञ्जरियों के आनुगत्य में प्रेमसेवा-प्राप्ति की एवं कार्यकुशलता की बात कहकर अब स्वरूप योग्यता की बात कर रहे हैं। राधाकिङ्करी रूप में अर्थात् दैहिक सौन्दर्य में एवं विनय-सुशीलता आदि विविध गुणों में निमज्जमान होगी। मञ्जरीभाव के साधकों के आत्मस्वरूप के ध्यान में उनके सिद्धस्वरूप के रूप गुण आदि की बात बताई गई है-

''श्रीगुरोश्चरणाम्भोज-कृपासिक्त-कलेवराम्।
किशोरीं गोपवनितां नानालङ्कार-भूषिताम्॥
पृथुतुङ्गकुचद्वन्द्वां चतुःषष्टि-कलान्विताम्।
रक्त-चित्रान्तरीयमावृत-शुक्लोत्तरीयकाम्॥
स्वर्णचित्रारुण-प्रान्त-मुक्तादाम-मुकाञ्चलीम्।
चन्दनागुरु-काश्मीर-चर्चिताङ्गीं मधुस्मिताम्॥
सेवोपायन-निर्माण-कुशलां सेवनोत्सुकाम्।
विनयादि गुणोपेतां श्रीराधा-करुणार्थिणीम्॥
राधाकृष्ण-सुखामोद-मात्र-चेष्टां सुपद्मिनीम्।
निगूढ़भावां गोविन्दे मदनानन्द-मोहिनीम्॥
नानारस-कलालाप-शालिनीं दिव्यरूपिणीम्।
सङ्गीतरससञ्जात-भावोल्लास-भरान्विताम्॥
तप्तकाञ्चन-शुद्धाभां स्वसौख्यगन्धवर्जिताम्।
दिवानिशं मनोर्मध्ये द्वयोः प्रेमभराकुलाम्॥
एवमात्मानमीशं भावयेद् भक्तिमाश्रितः॥''

अर्थात् 'जो श्रीगुरु के कृपा-मकरन्द से निषिक्तदेह हैं, किशोर वयस्क हैं, गोपवनिता हैं और नाना अलङ्कारों से विभूषित हैं। जिनके कुच स्थूल और उन्नत हैं। जो चौंसठ कलाओं में सुशिक्षित हैं। जो रक्तवर्ण सुंदर अन्तरीय (कटि) वस्त्र और शुक्ल उत्तरीय धारण किये हैं। विचित्र अरुणवर्ण किनारीवाली और मोतियों की लड़ी से युक्त उत्तम स्वर्णवर्ण कञ्चुलिका धारण किये हैं। (ये सभी श्रीराधारानी की प्रसादी हैं, सेवा से सन्तुष्ट होकर दान की हैं)। अङ्ग चन्दन, अगुरु, कुंकुमादि से चर्चित हैं। मधुर हास्य से विमण्डित हैं। युगलसेवा के द्रव्य निर्माण में अति कुशल हैं, सतत सेवनोत्सुक हैं, विनय आदि गुणों से युक्त हैं और श्रीराधा की करुणा की आकांक्षा रखती हैं। जिनकी समस्त चेष्टायें श्रीराधाकृष्ण को सुख या आनन्द देने के लिये ही हैं। जो सुपद्मिनी रमणी हैं।

जो श्रीगोविन्द के प्रति निगूढ़भाव से सम्पन्न हैं, जिन्हें देखकर श्रीगोविन्द का मदनानन्द विमोहित हो जाता है। (प्रेमिक के प्रेम की जाति और परिमाण के अनुरूप ही प्रेमसेवा ग्रहण करने की वासना श्रीकृष्ण के हृदय में जगती है, यह उनका स्वरूपसिद्ध धर्म है। श्रीराधा-किङ्करियों के हृदय में श्रीकृष्ण के साथ मिलन की आकांक्षा स्वप्न में भी नहीं जगती। तभी अतिशय रूप-गुणवती या यूथेश्वरी बनने के योग्य होने पर भी राधाकिङ्करियों के सेवामय विग्रह देखकर श्रीकृष्ण का मदनानन्द या मिलनवासना विमोहित हो जाती है-गोविन्द के प्रति इन लोगों के निगूढ़ भाव का यही अर्थ है। यह भाव सखीमय की अपेक्षा अति विलक्षण है, इसीलिये यह निगूढ़ है।) रसकलाओं की चर्चा करने वाली, दिव्यरूपिणी या महाकान्तिपूर्ण कलेवर वाली हैं, सङ्गीतरससज्ञात भावोल्लास से पूर्ण हैं-भक्तिपथ का आश्रय लेने वाला गौड़ीय वैष्णवसाधक सतत इसी रूप में स्वयं का चिन्तन करेगा।' इसी प्रकार वह रूप-गुणपूर्ण गोपकिशोरी के रूप में सतत अभिमान स्थापित कर प्रेमानुरागपूर्ण चित्त से सखियों के बीच अपनी अवस्थिति का चिन्तन करेगा॥५३॥

वृन्दावने दुइ जन, चतुर्दिके सखीगण,
समय बुझिबो रस सुखे।
सखीर इङ्गित होबे, चामर ढुलाबो कबे,
ताम्बूल जोगाबो चाँदमुखे॥५४॥

रससुख की सेवा :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में मञ्जरीभावापन्न रागसाधकों की अनुरागमय सेवाभावना का दिग्दर्शन कर रहे हैं। पिछली त्रिपदी में साधक के सिद्धस्वरूप का इङ्गित किया गया। अनुरागी रागानुगीय साधक अपने सिद्धस्वरूप से लीलाराज्य व्रजधाम में सखीमञ्जरियों के बीच रहकर जिस भाव से मानसी सेवा सम्पन्न करेगा, उसकी चर्चा कर रहे हैं-''वृन्दावने दुइ जन, चतुर्दिके सखीगण, समय बुझिया रससुखे। सखीर इङ्गित हबे, चामर ढुलाबो कबे, ताम्बूल जोगाबो चाँदमुखे।'' साधक रसराज्य वृन्दावन के निरुपम शोभाभरे परिवेश में दोनों का अर्थात् शृङ्गार-रसराजमूर्ति श्रीकृष्ण और महा अतुलनीय रूप गुण अनुरागसम्पन्न महाभाव की मूर्ति श्रीराधारानी का चिन्तन करेंगे। राधारानी की ही प्रतिच्छवियाँ उनकी सखियाँ युगलकिशोर को घेरे चारों ओर विराजमान हैं; नाना प्रकार के परिहास से रससिन्धु और प्रेमसिन्धु श्रीश्रीराधाश्याम की शोभा, प्रेम एवं अनुराग की उत्ताल तरङ्गे जगाकर उनमें तैर रही हैं। श्रील ठाकुर महाशय ने अपनी प्रार्थना गीतिका में इसका एक अपूर्व भावचित्र अङ्कित किया है-

''वृन्दावन रम्यस्थान, दिव्य चिन्तामणि धाम,
रतन - मन्दिर मनोहर।
आवृत कालिन्दी नीरे, राजहंस केलि करे,
ताहे शोभे कनक कमल॥

तार मध्ये हेमपीठ, अष्टदलेते वेष्टित,
अष्टदले प्रधाना नायिका।
तार मध्ये रत्नासने, बसि आछेन दुइजने,
श्याम सङ्गे सुन्दरी राधिका॥
ओ रूप-लावण्यराशि, अमिया पड़िछे खसि,
हास्य परिहास सम्भाषणे।
नरोत्तमदास कय, नित्यलीला सुखमय,
सदाइ स्फुरुक मोर मने॥''

श्रील ग्रन्थकार ने आगे लिखा है-

''कदम्ब तरुर डाल, नामियाछे भूमे भाल,
फुटियाछे फूल सारि सारि।
परिमले भरल सकल वृन्दावन,
केलि करे भ्रमरा भ्रमरी॥
राइ कानु विलसइ रङ्गे।
किबा रूप लावणि, वैदगधि-खनि धनी,
मणिमय आभरण अङ्गे॥
राइयेर दक्षिण कर, धरि प्रिय गिरिधर,
मधुर मधुर चलि जाय।
आगे पाछे सखीगण, करे फूल बरिषण,
कोनो सखी चामर ढुलाय॥
परागे धूसर स्थल, चन्द्र-करे सुशीतल,
मणिमय वेदीर उपरे।
राइ कानु करजोड़ि, नृत्य करे फिरि फिरि,
परशे पुलक अङ्गभरे॥
मृगमद चन्दन, करे करि सखीगण,
बरिखये फूल - गन्धराजे।
श्रमजल बिन्दु बिन्दु, शोभा करे मुख-इन्दु,
अधरे मुरली नाहि बाजे॥
हास विलास-रस, सरस मधुर भाष,
नरोत्तम मनोरथ भरु।
दुहुँक विचित्र वेश, कुसुम रचित केश,
लोचन - मोहन लीला करु॥''

जिन लोगों ने भावनेत्रों से रसराज्य वृन्दावन में ससखी युगलकिशोर की लीलामाधुरी साक्षात् अनुभव की है, उनकी वर्णना ही साधकों की ध्यान-धारणा का आधार है। उल्लिखित पद्य में श्रीवृन्दावन में ससखी युगल की विलास-माधुरी का चित्र किस प्रकार सटीक रूप में अङ्कित हुआ है, सहृदय साधक इसे अनुभव करें। ऐसे चिन्मय रसराज्य श्रीवृन्दावन में सखीगण-वेष्टित रूप-गुण-लीलामहासिन्धु श्रीयुगलकिशोर की रागानुगीय साधक समय जानकर रससुख से सेवा करेंगे। 'समय बुझिया' का अर्थ है शीत ग्रीष्म आदि कालोचित सेवा, फिर अभिसार मिलन विलास विच्छेद आदि के समय समयोचित परिचर्या एवं प्रसङ्गरूपा सेवा। 'रससुखे' का अर्थ है ससखी श्रीश्रीराधामाधव की अनुरागमय सेवा से उत्पन्न सुख और उनके रूप गुण लीला के माधुर्यास्वादन से उत्पन्न सुख। स्वयं भगवान् परतम-तत्त्व माधुर्यमूर्ति व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण रूप गुण लीलामृत के कल्लोलित सिन्धु हैं। रागानुगाभक्ति से ही उनके माधुर्यरस का आस्वादन प्राप्त होता है। राधारानी और उनकी सखियों के साथ वही कृष्णमाधुर्यसिन्धु सीमाहीन भाव से उच्छ्वसित हो उठता है! एकमात्र श्रीराधा अपने मादन महाभाव द्वारा उस असीम माधुर्यरस का परिपूर्णरूप से आस्वादन करने में समर्थ हैं। श्रीकृष्ण की उक्ति है -

''अद्भुत अनन्त पूर्ण मोर मधुरिमा।
त्रिजगते इहार केहो नाहि पाय सीमा॥
एइ प्रेमद्वारे नित्य राधिका एकलि।
आमार माधुर्यामृत आस्वादे सकलि॥''

(चै० च०)

श्रीराधारानी की करुणा से उनकी श्रीचरणाश्रिता सखी मञ्जरियाँ युगलमाधुर्य के अशेष रससागर में निरन्तर तैरती रहती हैं। आध्यात्मिक राज्य में उनके आस्वाद्य रससुख की तुलना कहीं भी नहीं। जीवशक्ति साधन-भजन के द्वारा रससुख के जितने उन्नत स्तर पर पहुँच सकती है-यही उसका चरम सोपान है। यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि यह रागानुगा भजन यथावस्थित पाँच भौतिक मानव देह से कभी सम्भव नहीं। इसीलिये साधनदशा में साधक को श्रीरूपमञ्जरी आदि के तुल्य एक मनोरम देह का चिन्तन करना होता है, इसी का नाम 'सिद्धदेह' है। भजनविज्ञ गुरुदेव के प्रसाद से साधक इस सिद्धदेह का परिचय पाते हैं। भगवान् के अभिन्न स्वरूप गुरुदेव अपनी अन्तर्यामीत्व शक्ति के प्रभाव से रागानुगा साधक का परिचय उसके उस नित्यसिद्ध भागवतीतनु से कराते हैं, जो चिन्मयधाम की शोभा के आधार रूप में विराज रहा है। साथ में उसका परिचय एकादश भावों से भी कराते हैं। श्रील गोस्वामिपाद ने इस सिद्धदेह को ही श्रीराधामाधव की साक्षात् सेवोपयोगी देह कहा है। साधक इस सिद्ध देह से व्रजभूमि पर सखीमण्डली में रहते हुए उन लोगों के साथ श्रीराधामाधव की साक्षात् सेवा का चिन्तन करता है। जिसे इस सिद्धदेह का किञ्चित् स्फुरण प्राप्त हुआ है, वही समझ सकता है कि इस मानसी सेवा में कैसा अपूर्व रससुख है। व्याख्या द्वारा समझाने की सामर्थ्य किसी में नहीं।

इसके बाद श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''सखीर इङ्गित होबे, चामर ढुलावो कबे, ताम्बूल जोगाबो चाँदमुखे''। राधाकिङ्करियों के चित्तमन का राधारानी के भाव के साथ इतना तादात्म्य है कि राधारानी उन्हें अपनी

देह से अभिन्न समझती हैं। राधारानी की इच्छा से उनकी सखियों का श्रीकृष्ण के साथ कभी-कभी मिलन-विलास आदि हो जाता है, किन्तु किङ्करियाँ उसे स्वप्न में भी स्वीकार नहीं करतीं। इसीलिये किङ्करियाँ ऐसी रहस्यमय युगलसेवा पाकर धन्य होती हैं, जो सखियों को भी प्राप्त नहीं।

''ताम्बूलार्पण - पादमर्दन - पयोदानाभिसारादिभि-
र्वृन्दारण्यमहेश्वरीं प्रियतया यास्तोषयन्ति प्रियाः।
प्राणप्रेष्ठसखीकुलादपि किलासङ्कोचिता भूमिकाः
केलीभूमिषु रूपमञ्जरीमुखास्ता दासिकाः संश्रये॥''

(व्रजविलासस्तव-३८)

'जो ताम्बूल-अर्पण, पादमर्दन, जलदान और अभिसार आदि कार्यों के द्वारा वृन्दावनेश्वरी श्रीराधा को निरन्तर परितृप्त कर रही हैं और जो प्राणप्रेष्ठ सखी ललिता आदि की तुलना में श्रीराधाकृष्ण की क्रीड़ाभूमि पर आने-जाने में अधिक असंकुचित-चित्त हैं, उन्हीं श्रीराधादासियों का जिनमें श्रीरूपमञ्जरी प्रधान हैं मैं सम्यक् रूप से आश्रय लेता हूँ।' कुञ्जविलास के समय रतिश्रम से श्रीयुगल श्रान्त क्लान्त होते हैं, तो सखियाँ किङ्करियों को ही उस समय की सेवा के लिये सङ्केत करती हैं। उनके सङ्केत पर मञ्जरियाँ निःसङ्कोच युगल की विलासभूमि पर जाकर जलदान, ताम्बूलदान व्यञ्जन आदि सेवा करती हैं।

''रतिरणे श्रमयुत, नागरी नागर, मुखभरि ताम्बूल जोगाय।
मलयज कुंकुम, मृगमद कर्पूर, मिलितहि गात लगाय॥
अपरूप प्रियसखी प्रेम।
निज प्राणकोटि, देई निरमञ्छइ, नह तुल लाखवान हेम॥
मनोहर माल्य दुहुँ गले अर्पई, बीजइ शीत मृदु वात।
सुगन्धि शीतल, करु जल अर्पण, जैछे होत दुहुँ शाँत॥
दुहुँक चरण पुन, मृदु सम्वाहन, करि श्रम करलहिं दूर।
इङ्गिते शयन, करल दुहुँ सखीगण, सबहुँ मनोरथ पूर॥
कुसुमशेजे दुहुँ, निद्रित हेरइ, सेवन-परायण-सुख।
राधामोहन दास, किये हेरब, मेटब सब मनोदुख॥''५४॥

युगल चरण सेवि, निरन्तर एइ भावि,
अनुरागी थाकिबो सदाय।
साधने भाविबो जाहा, सिद्धदेहे पाबो ताहा,
रागपथेर एइ से उपाय॥५५॥

साधन और सिद्धि का साजात्य :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय ने पिछली त्रिपदी में रागानुगीय साधक के जिस सेवा-चिन्तन की बात कही है, उसका प्रकार और फलश्रुति बता रहे हैं इस त्रिपदी में। रागानुगीय गौड़ीय वैष्णव साधक श्रीगुरुप्रदत्त अपने सिद्धस्वरूप में अभिमान स्थापित कर आठों पहर श्रीश्रीगौर-गोविन्द के लीलाचिन्तन में सेवाचिन्तन करते हैं। गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने अपने स्मरणमङ्गल स्तोत्र में अष्टकालीन लीला का संक्षिप्त सूत्रों में वर्णन किया है। इसी को आधार बनाकर श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने श्रीश्रीगोविन्दलीलामृत ग्रन्थ में अति विस्तार से श्रीश्रीराधाकृष्ण की अष्टकालीन लीला का वर्णन कर श्रीभगीरथ की तरह लीलारस की मन्दाकिनीधारा से साधक-समाज को धन्य किया है। तत्पश्चात् श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने श्रीकृष्णभावनामृत ग्रन्थ में उन सब लीलाओं का विस्तृतरूप में वर्णन किया, जिनका गोविन्दलीलामृत में संक्षिप्त वर्णन था। इस प्रकार उन्होंने अष्टकालीन लीलारस के भण्डार को सभी तरह से समृद्ध किया। श्रीश्रीगौराङ्ग के लीलाचिन्तन के बिना श्रीश्रीराधामाधव की लीलाओं का स्फुरण सम्भव नहीं, इसलिये परवर्तिकाल में श्रीगोवर्द्धनवासी श्रील कृष्णदास सिद्धबाबा को स्वयं श्रीराधारानी ने दर्शन देकर अपने भजननिष्ठ वैष्णवों के लिये श्रीश्रीगौर-गोविन्द की अष्टकालीन लीला स्मरणोपयोगी बनाकर प्रकट करने की आज्ञा दी। अभीष्ट श्रीराधारानी का प्रत्यादेश पाकर सिद्धबाबा ने श्रीश्रीगौरगोविन्दलीलामृत गुटिका का प्रणयन कर लीलास्मरण पद्धति को सभी प्रकार से स्मरण-मननोपयोगी बना दिया। साधकसमाज महाजनों की अनुभूति के माध्यम से इस अष्टकालीन लीलारस का आस्वादन कर सके, इस दृष्टि से सिद्धबाबा ने 'भावनासार संग्रह' नामक एक सुवृहत् सङ्कलन भी प्रस्तुत किया। इस प्रकार पूर्व पूर्व महाजनों ने श्रीमन्महाप्रभु के श्रीचरणाश्रित रागानुगीय गौड़ीय वैष्णवों के अंतरङ्ग भजन श्रीश्रीगौर-गोविन्द के अष्टकालीन लीला-रत्नों के भण्डार को अति विशाल और विपुल रूप से समृद्ध बनाया है। गौड़ीय वैष्णवसाधक उन्हीं अष्टकालीन लीलाओं का निरन्तर चिन्तन करते हैं और उस चिन्तन में ही अपनी अभीष्ट सेवा का चिन्तन करते हैं। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''युगल चरण सेवि, निरन्तर एइ भावि, अनुरागी थाकिबो सदाय''। श्रीमत् जीव गोस्वामिपाद ने अपने भक्तिसन्दर्भ ग्रन्थ में नवधा भक्ति में स्मणाङ्ग भक्ति के प्रसङ्ग में श्रीगरुड़पुराण के प्रमाण उद्धृत कर निरन्तर श्रीहरि-चिन्तन की प्रयोजनीयता दिखाई है-

''एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मुहूर्ते ध्यानवर्जिते।
दस्युभिर्मुषितेनैव युक्तमाक्रन्दितुं भृशम्॥''

(श्रीगरुड़पुराण वाक्य)

अर्थात् 'यदि एक मुहूर्त भी श्रीहरि के ध्यान के बिना बीते, तो उसी प्रकार रोदन करना कर्तव्य है, जैसे दस्युगण द्वारा सर्वस्व हरण कर लेने पर आदमी हाहाकार के साथ रोदन करता है।' तभी महाजनों ने अष्टकाल लीलास्मरण का विधान रखा है, जिससे भक्तसाधक का अष्टकाल में या दिवारात्रि में एक मुहूर्त भी व्यर्थ न हो पाये और वह इष्ट के श्रीपादपद्मों की प्रेमसेवा पाकर धन्य हो सके। जो लोग शास्त्र-निर्देशों की अपेक्षा न रख केवल लालसा या लोभ के वशीभूत होकर नित्यसिद्ध रागात्मिक व्रजवासियों के भाव का अनुसरण (अनुकरण

नहीं) कर उनके नित्य आनुगत्य में श्रीश्रीराधामाधव के लीलाचिन्तन के साथ मानसिक सेवा में तत्पर होते हैं, वे ही रागानुगीय रसिकभक्त हैं। तभी रागानुगा भक्ति के साधन के विषय में लिखा है-

''बाह्य अन्तर इहार दुइ तो साधन।
बाह्य-साधकदेहे करे श्रवण कीर्तन॥
मने निज सिद्धदेह करिया भावन।
रात्रि दिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन॥''

(चै० च०)

इसलिये रागानुगीय गौड़ीय वैष्णव साधक विश्व के सम्बन्ध में मूक होकर स्वरूपावेश में भावराज्य में विचरण करते हुए सर्वदा अनुरागमय भजन-जीवन यापन करें। ''अनुरागी थाकिबो सदाय।'' इस प्रकार नित्यसिद्ध स्वरूपशक्तियों के आनुगत्य में भजन करने से उनके भाव के साथ तादात्म्य प्राप्त कर साधक श्रीगुरुरूपा मञ्जरी की कृपा से सम्प्राप्त सिद्धि से व्रजधाम में मञ्जरीस्वरूप से साक्षात् श्रीराधामाधव की कुञ्जसेवा पाकर धन्य होता है।

तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''साधने भाविबो जाहा, सिद्धदेहे पाबो ताहा, रागपथेर एइ से उपाय''। गौड़ीय वैष्णवों की अष्टकाल लीलाचिन्तन-पद्धति में एक परमचिद् वैज्ञानिक सत्य निहित है। छान्दोय उपनिषद् (३/१४/१) में आया है-''ययाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेत: प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत''-अर्थात् इस विश्व में जीव जिस भाव का आश्रय लेता है, यहाँ से गमन करके भी अर्थात् देहत्याग के पश्चात् भी उसी प्रकार भावान्वित होता है। अतएव साधक को भावालम्बी होना चाहिये। वृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/५) में भी आया है-''स यथाकामो भवति तत्क्रतूर्भवति तत् कर्मकुरुते यत् कर्मकुरुते तदभिसंपद्यते इति'' अर्थात् 'जीव जैसी कामना के परायण होता है, वैसे ही कर्म में प्रवृत्त होता है। जिस कर्म में प्रवृत्त होता है, वही कर्म-सम्पादन करता है। जो कर्म सम्पादन करता है, तदनुरूप फल भी प्राप्त करता है।' श्रुतिवाक्य में अन्यत्र भी देखा जाता है-''यथा यथोपासते तदेव भवन्तीति'', अर्थात् जो जैसी उपासना करता है, वह वैसा होता है। श्रीगीता (८/६) में भी भगवान् ने कहा है-''यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित:'' - अर्थात् 'सर्वदा जिस भाव का अनुचिन्तन किया जाता है, उसी भाव में चित्त के तन्निष्ठ होने से अन्तकाल में उसी भाव का स्फुरण होता है और अन्तकाल में जिस भाव का स्मरण कर देहत्याग होता है, वही भाव प्राप्त होता है। अनुचिन्तन या प्रगाढ़ चिन्तन की यह शक्ति वैज्ञानिक सत्य है। श्रीमद्भागवत (११/९/२३) में आया है-

''कीट: पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशित:।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन्॥''

'बलवान भृङ्गी कीड़े को दीवार पर अपने घर में बन्द कर देता है, तो वह दुर्बल कीट भय के कारण प्रगाढ़ चिन्तन के फलस्वरूप देहत्याग किये बिना ही तद्रूप हो जाता है।' प्राकृत वस्तु के अनुचिन्तन या प्रगाढ़

चिन्तन की ही शक्ति है, तब अप्राकृत चिद्घनमूर्ति परम सत्यस्वरूप भगवान् के चिन्तन से-ऊपर से उसमें चिन्मय भक्तिशक्ति की सहायता हो, तो भक्त का सङ्कल्प सत्य या सुसिद्ध होगा, इस बात में सन्देह क्या? श्रीकृष्ण ने उद्धव जी कहा है (११/१५/२६) -

''यथा सङ्कल्पयेद् बुद्ध्यायदा वा मत्परः पुमान्।
मयि सत्ये मनो युञ्जंस्तथा तत् समुपाश्नुते॥''

अर्थात् 'मुझ में परायण व्यक्ति सत्यसङ्कल्प मुझ में मनोनिवेश कर जैसा सङ्कल्प करता है, वैसी ही स्वाभीष्ट वस्तु प्राप्त करता है, अर्थात् तदनुरूप उसका सङ्कल्प सिद्ध होता है।' परमतत्त्व साक्षात् भगवद् वस्तु का आश्रय लेकर जो प्रवर्तित होती है और जिसमें भगवान् की आह्लादिनी शक्ति की सारवृत्ति भक्ति की प्रबल सहयोगिता रहती है, साधक की वह भावना कभी व्यर्थ कल्पना में पर्यवसित नहीं हो सकती। वह साधन में अष्टकाल श्रीराधामाधव की सेवा का चिन्तन करता है, सिद्धदेह से या अन्तश्चिन्तित श्रीगुरुप्रदत्त मञ्जरी देह से वही प्राप्त करता है-इसमें अन्यथा या व्यभिचार नहीं होता। रागभजन के द्वारा स्वाभीष्टसिद्धि का यही परम या सर्वश्रेष्ठ उपाय है॥५५॥

साधने जे धन चाइ, सिद्धदेहे ताहा पाइ,
पक्वापक्व मात्र से विचार।
पाकिले से प्रेमभक्ति, अपक्वे साधन गति,
भकति लक्षण तत्त्वसार॥५६॥

तत्त्वसार :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय पिछली त्रिपदी में साधन और सिद्धि का साजात्य वर्णन कर इस त्रिपदी में उसे दृष्टान्त द्वारा सुस्पष्ट कर रहे हैं-''साधने जे धन चाइ, सिद्धदेहे ताहा पाइ, पक्वापक्व मात्र से विचार''। साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति एक ही वस्तु की तर और तम अवस्थायें हैं। रागानुगीय साधक साधनकाल में अपनी भावना (चिन्तन) में श्रीराधामाधव की सेवा करते-करते जिस साक्षात् प्रेमसेवा-सम्पदा को चाहने लगते हैं, प्रेम सिद्ध होने पर सिद्धस्वरूप से वही प्रेमसेवा प्राप्त करते हैं। लालसायुक्त भक्ति की जो अपूर्ण अवस्था है और जो सिद्धि की ओर सञ्चरणशील है, वही साधनभक्ति है। वह जब सान्द्र (घनी) अवस्था प्राप्त करती है, तो प्रेमभक्ति होती है। इसीलिये कहा गया है-''सिद्धस्य लक्षणं यत् स्यात् साधनं साधकस्य तत्'' (वृ० भा० टीका) अर्थात् 'सिद्ध का जो लक्षण है, साधक का वही साधन है'। साधनभक्ति प्रेमभक्ति पाने की या साक्षात् सेवा-प्राप्ति की आकांक्षा को जगाये रखती है; यही साधन-भक्ति का स्वभाव है। तभी कहते हैं-''साधने जे धन चाइ''। अतृप्ति ही भक्ति का स्वभाव है। साधक भक्तिसाधना के जितने उन्नत स्तर पर चढ़ता है, उसके

हृदय में उतनी ही उत्कण्ठा या व्याकुलता आती है। यह उत्कण्ठा व्याकुलता ही उसे शीघ्र प्रेमसिद्धि या साक्षात् सेवा-प्राप्ति के राज्य में ले जाती है। साधनभक्ति में भी प्रचुर आस्वादन निहित है। विशेषत राग-साधक के लीला-स्मरण में तो साक्षात् की तरह सेवा का चिन्तन होता है; अतएव उसके साधनकाल में जो अपूर्व आस्वादन प्राप्त होता है, उसकी तुलना नहीं। तब साधक उसी से तृप्त होकर प्रेमप्राप्ति सा साक्षात् सेवाप्राप्ति के अभाव को जगाये न रखे, तो अन्त में आत्मारामता-जैसी एक अवस्था आ सकती है। उससे साधक की भक्तिसाधना में अग्रगति रुक जाती है। ''साधने जे धन चाइ''-इस वाक्य में यह तथ्य भी गूढ़रूप से छिपा है, यह समझना होगा।

साधक साधन अर्थात् साधनदशा में जो धन अर्थात् व्रज में साक्षात् श्रीराधामाधव की प्रेमसेवा चाहेंगे, प्रेमप्राप्ति के पश्चात् सिद्धदेह से वही प्राप्त करेंगे, यह सुनिश्चित है-''सिद्धदेहे ताहा पाइ''। गुरुदेव कामबीज कामगायत्री से दीक्षा देने के पश्चात् साथ ही साथ श्रीयुगलोपासना और इष्ट के साथ सम्बन्धज्ञान की प्रतिपादक सिद्धप्रणाली देते हैं। उसमें साधक के सिद्धस्वरूप का नाम, वर्ण, वयस, स्वभाव आदि एकादश भावों का परिचय होता है। जिस प्रक्रिया से मानव के पापादि का विनाश कर दिव्यज्ञान प्रदान किया जाता है, तत्त्वज्ञ पण्डितगण उसी को 'दीक्षा' कहते हैं-''दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयम्। तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्त्वकोविदैः॥'' श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने भक्तिसन्दर्भ के अनुच्छेद २८३ में उल्लिखित श्लोक उद्धृत करने के पश्चात् इस दिव्यज्ञान के तात्पर्य के विषय में लिखा है-''दिव्यं ज्ञानं ह्यत्र श्रीमती मत्रे भगवत्स्वरूपज्ञानं तेन भगवता सम्बन्धविशेषज्ञानञ्च; यथा पाद्मोत्तरखण्डादावष्टाक्षरादिकमधिकृत्य विवृतमस्ति'' अर्थात् यहाँ 'दिव्यज्ञान' से शक्तिसम्पन्न मंत्र में भगवत्स्वरूप का ज्ञान और उसके द्वारा उसी मंत्रदेवता भगवान् के साथ साधक के सम्बन्धविशेष का ज्ञान समझना होगा। इस विषय में श्रीपद्मपुराण के उत्तर खण्डादि में अष्टाक्षरादि मंत्रों के सम्बन्ध में जो विवरण है, उससे 'दिव्यज्ञान' शब्द का ऐसा अर्थ ही प्रतिपादित होता है। गौड़ीयवैष्णव सम्प्रदाय में यह सम्बन्धविशेष ज्ञान हुआ-मंत्रदेवता श्रीगोपीजनवल्लभ के साथ साधक के मञ्जरीस्वरूप के सम्बन्ध आदि एकादश भाव। पद्मपुराण पातालखण्ड में श्रीकृष्णरसतत्त्वज्ञ मधुररसाश्रयी साधक की मानसीसेवा के उपयुक्त सिद्धदेह चिन्तन की बात देखी जाती है। ''नादेवो देवमर्चयेत्'' ''देवो भूत्वा देवं यजेत्'', अर्थात् साधक 'देवता हुए बिना देवता की अर्चना न करे', 'स्वयं देवता होकर ही देवता की अर्चना करेंगे।' शास्त्र का यह जो व्यतिरेकमुख से निषेध और अन्वयमुख से विधि है-इससे यह बात सुदृढ़रूप से स्थिर हुई है कि भगवत्सेवा की अभिलाषा रखने वाले भक्त को स्वयं का भगवत्पार्षद के रूप में चिन्तन करके ही भजन करना होगा। यह पार्षदरूप से चिन्तन ही साधक का सिद्धदेह का चिन्तन है।

कोई-कोई सोचते हैं-''पहले साधक का चिन्तन एक कल्पित मानस देह का आश्रय लेकर ही प्रवर्तित होता है, बाद में भगवान उसके साधक-भजन से सन्तुष्ट होकर 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'' इस नियम के अनुसार साधक के आत्मा को पार्षद बना देते हैं, इस प्रकार परिणाम में साधक की पार्षददेह सत्य होने पर भी चिन्तनकाल में वह कल्पित ही होती है।' यह शास्त्र और महाजन द्वारा अनुमोदित सिद्धान्त नहीं है।

श्रीमद्भागत (३/१५/१४) में आता है-''वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठ-मूर्त्तयः। येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेनाराधयन् हरिम्॥'' अर्थात् 'वे भगवद्धाम में जो वैकुण्ठमूर्ति (भगवान् की तरह चिन्मयमूर्ति) भगवत् पार्षदगण सतत वास करते हैं, वे निष्काम भागवत धर्म द्वारा श्रीहरि की सतत आराधना करते हैं।' श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने प्रीतिसन्दर्भ अनुच्छेद १० में इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है-''वैकुण्ठस्य भगवतो ज्योतिरंशभूता वैकुण्ठलोकशोभारूपा या अनन्ता मूर्तयः तत्र वर्तन्ते तासामेकया सह-मुक्तस्यैकस्य मूर्तिः भगवता क्रियत इति वैकुण्ठस्य मूर्तिरिव मूर्तिर्येषामित्युक्तम्।'' श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद के इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि भगवान् के नित्यधाम में भगवत्पार्षद दो प्रकार के हैं-एक, जो भगवान् की साक्षात् सेवा में रत हैं। दूसरे, भगवान् की ज्योति की अंशभूत भगवान् के विग्रह की तरह अप्राकृत किन्तु निष्क्रिय अनन्त मूर्तियाँ हैं, जो वैकुण्ठलोक की शोभासम्पदा के रूप में नित्य विराज रही हैं। अनन्त जीवों में प्रत्येक ही भगवान् का दास है, प्रत्येक की ही भगवत्सेवोपयोगी देह भगवद्धाम में विद्यमान है। भक्ति के प्रसाद से भगवत्सेवा की योग्यता मिलने पर भगवत्कृपा से वही देह प्राप्त होती है।

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में श्रीगुरुपादपद्मों से जो सिद्धप्रणाली प्राप्त होती है, उसमें इस देह का परिचय रहता है। कोई उसे कल्पित न समझे; वह नित्य सत्य है। भगवल्लोक में स्थित उक्त अनन्त मूर्तियों में से भगवान् जिस मूर्ति में साधक को अङ्गीकार करेंगे, गुरुदेव अपने ध्यान के प्रभाव से वह जानकर उसी मूर्ति को शिष्य का सिद्धदेह निर्दिष्ट करते हैं। साधनकाल में उसी मूर्ति में अभिमान स्थापित कर साधक को साधन-भजन करना होता है। प्रेमसिद्ध होने पर उसी देह से साक्षात् सेवालाभ कर साधक धन्य हो जाता है। ''पक्वापक्व मात्र से विचार। पाकिले से प्रेमभक्ति, अपक्वे साधन गति, भकति लक्षण तत्त्वसार॥'' एक ही फल अपक्व अवस्था में खट्टा या कषायरसयुक्त, पकने पर सुमिष्ट स्वादिष्ट। उसी प्रकार जो साधनभक्ति है, वही परिपक्व होने पर 'प्रेम' आख्या प्राप्त करती है। साधन दशा में अनर्थ आदि के रहने से आस्वादन थोड़ा तरल होता है, प्रेमभक्ति में अत्यन्त सान्द्र (प्रगाढ़) हो जाता है। ''अपक्वे साधन गति'' कहकर श्रील ठाकुर महाशय ने साधनभक्ति के कुछेक तत्त्वों का सङ्केत किया है। 'गति' शब्द का एक अर्थ है 'प्रवाह'। मन्दाकिनी प्रवाह अविराम गति से सिन्धु की ओर दौड़ता है, सिन्धु प्राप्त न होने तक उसमें किसी प्रकार का विराम नहीं आता। उसी प्रकार साधन भक्ति मन्दाकिनी धारा की तरह प्रेमभक्तिरूपी सिन्धु की ओर अविराम दौड़ती रहती है। यद्यपि फल के पक्वापक्व दृष्टान्त के साथ इसका मेल नहीं है, तथापि प्रेमभक्ति की पिपासा साधक के हृदय में सतत जागरूक रहकर उसमें अविराम साधनभक्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न कर उसे प्रेम के राज्य में ले जाती है-इसी अंश में दृष्टान्त की सुसङ्गति है। फिर 'गति' का एक अन्य अर्थ है 'उपाय और उपेय स्वरूप'। साधनभक्ति प्रेमभक्ति का उपाय है उपेय भी, अर्थात् वही प्रेम के रूप में रूपान्तरित होती है। पक्वापक्व फल के दृष्टान्त से यही बताया गया है। अथवा, साधनभक्ति उपाय और उपेय भी है, कारण-साधनभक्ति का आस्वादन भी कम नहीं; प्रेमिकगण भी साधनभक्ति के रसास्वादन की वासना किया करते हैं। जो सुपक्व आम्र खाते हैं, वे भी अपक्व आम्र (अचार अम्लादि के रूप में) सेवन की इच्छा किया करते हैं। फिर 'गति' का एक अर्थ है 'प्रकार'। 'अपक्वे साधनगति' कहने का अर्थ है-श्रद्धा से

आरम्भ कर आसक्ति तक साधनभक्ति के सभी प्रकार अपक्व अवस्था बताते हैं, भावभक्ति या रति ईषत् पक्वावस्था है, प्रेमभक्ति ही परिपक्व अवस्था है।' किसी-किसी ग्रन्थ में ''अपक्वे साधनरीति'' भी देखने में आया है। इससे भी 'रीति' अर्थ में भक्त के वे क्रम ही बताये गये हैं, ऐसा जानना होगा।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं, यही ''भकति लक्षण तत्त्वसार''-अर्थात् भक्ति साधना में जो चाहा जाता है, सिद्धि में वह पाया जाता है; साधन में अपक्व, सिद्धि में पक्व-दोनों में केवल यही भेद है, यही भक्तितत्त्व की सार बात है। अथवा, ''श्रीरूपमञ्जरी सार'' इत्यादि त्रिपदी संख्या ५२ से आरम्भ कर इस त्रिपदी तक मञ्जरीभाव-साधना के जो रहस्य व्यक्त हुए हैं, वे ही भक्तिलक्षण तत्त्व के 'सार' या 'चरम निर्यास' हैं। भगवत् पादपद्मों की निष्काम सेवा ही भक्तितत्त्व का लक्षण है। मञ्जरियों की निष्काम पवित्र सेवा की कहीं तुलना नहीं; उन्हीं में निष्कामता की पराकाष्ठा है॥५६॥

नरोत्तम दासे कय, एइ जेनो मोर हय,
व्रजपुरे अनुरागे वास।
सखीगण गणनाते, आमारे लिखिबे ताते,
तबहि पूरब अभिलाष॥५७॥

अनुरागपूर्वक व्रजवास :

सुधाकणिका व्याख्या : इस त्रिपदी में श्रील ठाकुर महाशय अनुराग के साथ व्रजवास की ओर सखियों के गणों में गिने जाने की अभिलाषा कर रहे हैं। यहाँ साधक और सिद्ध दोनों ही देहों से सानुराग व्रजवास की प्रार्थना समझी जा सकती है। हम पहले साधक की दृष्टि से बात करते हैं। 'अनुराग' का अर्थ स्थायी भाव के अन्तर्गत अनुराग नहीं है, कारण-वह साधक देह में उत्पन्न नहीं हो सकता। तभी श्रील ठाकुर महाशय साधकदेह से प्रीति, आसक्ति या आदर-यत्न के साथ व्रजवास की अभिलाषा प्रकट कर रहे हैं। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने रागानुगीय साधकों को निरन्तर व्रजवास का परामर्श दिया है-''कुर्याद्वासं व्रजे सदा।'' (भ० र० सि०) यहाँ तक कि जो देह से व्रजवास करने में अक्षम हैं, उन्हें भी मन ही मन व्रजवास का सङ्कल्प या अभिलाषा रखने का उपदेश दिया गया है। कारण यह है कि व्रजवास के फलस्वरूव व्रजधाम के अचिन्त्य प्रभाव से निरपराध साधक के चित्त में अति शीघ्र ही भाव का उदय होता है-

''दुरूहाद्भुतवीर्येऽस्मिन् श्रद्धा दूरेहस्तु पञ्चके।
यत्र सल्पोऽपि सम्बन्धः सद्धियां भावजन्मने॥''

(भ० र० सि० १/२/२३८)

अर्थात् ''साधुसङ्ग, भागवतश्रवण, विग्रहसेवन, नामसङ्कीर्तन और व्रजवास-इस साधन-पञ्चक में से प्रत्येक इतना अद्भुत वीर्यशाली है कि उसमें श्रद्धा तो दूर की बात, उसके अल्पमात्र सम्बन्ध से ही निरपराध

साधक के चित्त में अविलम्ब भाव का उदय हो जाता है।' प्रश्न हो सकता है–साधक यथायोग्य साधन–भजन के द्वारा ही श्रद्धा से आसक्ति तक के सोपान चढ़कर भावराज्य में पहुँच पाता है, फिर इस साधन–पञ्चक के अल्प सम्बन्ध से ही वह भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं–''अलौकिकपदार्थानामचिन्त्या शक्तिरीदृशी। भावं तद्विषयञ्चापि या सहैव प्रकाशयेत्॥'' (वही १/२/२४४) अर्थात् 'अलौकिक साधनपञ्चक की ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि इनका स्वल्प सम्बन्ध मात्र ही भाव एवं भावविषय को एक ही समय प्रकट कर देता है।' किन्तु साधक को अनुराग (प्रीति, आसक्ति या आदर यत्न) के साथ ही व्रजवास करना होता है, अन्यथा नामापराध आदि उत्पन्न हो जाते हैं और श्रीधाम की अप्रसन्नता के फलस्वरूप साधक को फल प्राप्त करने में बहुत विलम्ब हो जाता है। तब यथायोग्य दु:ख या अनुताप आदि भोगने के बाद बहुत समय में श्रीधाम के प्रसन्न होने पर ही धामवास की फलप्राप्ति सम्भव हो पाती है।

दूसरी बात, रागानुगीय साधक की भावमय व्रजरस की उपासना में ऐसा उद्दीपक का स्थान विश्व में व्रज को छोड़ और कहीं नहीं है। विश्व की बात दूर, उद्धवजी ने गोपकुमार को परामर्श दिया था कि वे व्रजभाव की सिद्धि के लिये चिन्मयधाम वैकुण्ठ से लेकर ऊर्ध्वद्वारका तक को त्यागकर इस भौमव्रज में ही वास करें।

''तत्रैवोत्पद्यते दैन्यं तत्प्रेमापि सदा सताम्।
तत्तच्छून्यमिवारण्यसरिद्गिर्यादि पश्यताम्॥
सदा हा हा - रवाक्रान्त-वदनानां तथा हृदि।
महासन्तापदग्धानां स्व-प्रियं परिमृग्यताम्॥''

(वृ० भा० २/५/२४३-४४)

अर्थात् ''भौमवृन्दावन में वैसे लक्षणयुक्त शून्यमय अरण्य, सरित्, गिरि आदि देखकर साधुगण में स्वत: सर्वदा दैन्य और प्रेम समुत्पन्न होता है। वहाँ साधुगण सर्वदा हाहा–रवाक्रान्त वदन से और महासन्तापपदग्ध हृदय से व्याकुल होकर अपने इष्टदेव का अनुसन्धान किया करते हैं।' इस भौमव्रज में आकर श्रील गोपकुमार की भी वैसी भावदशा हुई थी –

''सदा महार्त्त्या करुणस्वरै रुदन्नयापि रात्रीर्दिवसांश्च कातर:।
न वेद्मि यद्यत् सुचिरादनुष्ठितं सुखाय वा तत्तदुतार्तिसिन्धवे॥
कथञ्चिदप्याकलयामि नैतत् किमेष दावाग्निशिखान्तरेऽहम्।
वसामि किंवा परमामृताच्छ - सुशीतल - श्रीयमुना - जलान्त:॥''

(वही २/६/३-४)

श्रीगोपकुमार ने श्रीजनशर्मा से कहा–''हे ब्रह्मन्! भौमव्रज में आकर मैं सर्वदा महा आर्ति से भरकर रोदन करता, अर्थात् परम कातर होकर करुण स्वर में 'हा नाथ' कहकर पुकारता–इसी प्रकार दिन–रात बीतते। मैंने बहुत समय तक जो सब अनुष्ठान किये थे, वे सुखप्राप्ति के लिये थे अथवा महादु:खसागर में डूबने के लिये थे, यह नहीं जान पाया। किसी प्रकार भी यह नहीं समझ पाया कि मैं दावाग्नि शिखाओं के बीच रह रहा हूँ अथवा

परम मधुर परम निर्मल सुशीतल यमुनाजल में वास कर रहा हूँ।' यही है मधुर चरित्र साधकदेह से अनुराग के साथ व्रजवास करने का चित्र। श्रीरूप, सनातन, रघुनाथ आदि षड्गोस्वामिगण इसी प्रकार महा अनुरागमय व्रजवास का चरम आदर्श स्थापित कर गये हैं।

फिर इस त्रिपदी से यह भी समझा जा सकता है कि सिद्धदेह से साक्षात् लीलाधाम व्रज में अनुरागपूर्वक वास करने की अभिलाषा क्या होती है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने भी श्रीउज्ज्वलनीलमणि (३/४९-५१ श्लोक) की आनन्दचन्द्रिका टीका में और रागवर्त्मचन्द्रिका में साधक के अन्तश्चिन्तित सिद्धदेह से लीलाराज्य में जन्म लेने एवं अनुरागमय व्रजवास की जो सुसिद्धान्तपूर्ण युक्ति दिखाई है, उसका मर्मार्थ इस प्रकार है-जो लोग व्रजभाव पर लुब्ध होकर रागानुगा मार्ग का भजन करते हैं, वे तद्योग्य रागानुगाभजन-विषयक उत्कण्ठा के अनुसार एकाकी या दो-तीन जन मिलकर समय-समय पर गोपीगर्भ से जन्म लेते हैं। 'व्रजभूमि में गोपीरूप से जन्म लाभ' कहने से अवतार के समय नित्यसिद्धा गोपियों की तरह साधनसिद्धाओं का भी अन्तश्चिन्तित सिद्धस्वरूप से आविर्भाव ही समझ में आता है। वहाँ नित्यसिद्धा गोपियों के सङ्गप्रभाव से दर्शन, श्रवण, गुणकीर्तन आदि के द्वारा स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, महाभाव तक उसी गोपीदेह में ही आविर्भूत होते हैं। साधकदेह में प्रेम तक ही उदित होना सम्भव है; स्नेह से महाभाव तक नहीं। गोपीगृह में गोपीगर्भ से जन्म लिये बिना 'यह किसकी कन्या है, किसकी बहू है, किसकी स्त्री है' इत्यादि नरलीला के व्यवहार भी सुसिद्ध नहीं हो सकते। रागानुगामार्ग में सम्यक् साधननिरत जातप्रेम भक्त के हृदय में दीर्घकाल तक जब श्रीकृष्ण की साक्षात् सेवा पाने के लिये प्रबल उत्कण्ठा जगती रहती है, तो उसके चित्त में (तब) स्नेह आदि प्रेमभेद उदित न होने पर भी श्रीकृष्ण कृपापरवश होकर उसे साधकदेह में ही स्वप्न में या साक्षात् रूप से सपरिकर एकबार दर्शन देते हैं। तत्पश्चात् जैसे नारदजी को चिदानन्दमय देह दान की थी, वैसे ही उस जातप्रेम साधक को भी तद्भावभावित व्रजगोपिका देह दान करते हैं। इसके पश्चात् श्रीवृन्दावनीय प्रकट-प्रकाश में श्रीकृष्णपरिकरगण के आविर्भाव के समय स्नेह आदि प्रेमभेद की सिद्धि के लिये वही देह योगमाया द्वारा गोपीगर्भ से आविर्भावित होती है। इस विषय में मुहूर्त का भी विलम्ब नहीं होता, कारण-उस समय साक्षात् सेवाप्राप्ति के लिये प्रेमिक की जो उत्कण्ठा होती है, (उसे देखते हुए) उसे तत्क्षणात् लीलाराज्य में ले जाने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। इसलिये स्नेह आदि प्रेमपरिपाक सिद्धि के लिये और गोपीगर्भ से जन्म देकर नरलीला सिद्धि के लिये उसे प्रकट लीला में ही लेना होगा। प्रकट लीला का भी विराम नहीं, वह अनन्त ब्रह्माण्डों में आतालचक्र की तरह चल रही है। देहभङ्ग के साथ-साथ योगमाया कृपा कर जातप्रेम भक्त को उसी ब्रह्माण्ड में गोपगृह में जन्म देती हैं, जिस ब्रह्माण्ड में उस समय श्रीकृष्णलीला प्रकट है। इस प्रकार साधक का सिद्धिदेह से नित्यसिद्धाओं के साथ महानुरागपूर्वक व्रजपुर-वास सुसिद्ध होता है। नित्यसिद्धा सखियाँ भी उसे योग्य जानकर अपने गणों में सम्मिलित कर श्रीयुगल की साक्षात् सेवा देकर धन्य करती हैं। इसी से साधक की सभी प्रकार की आशा पूरी हो जाती है। तभी कहा है-''सखीगण गणनाते, आमारे लिखिबे ताते, तबहि पूरब अभिलाष!'' श्रील ठाकुर महाशय के प्रार्थनापद में भी इनके अनुरूप सिद्धान्त मिलता है-

''हरि हरि! आर कबे एमन दशा हबो।
कबे वृषभानु-पुरे, आहिरी गोपेर घरे, तनया हइया जनमिबो॥
जावटे आमार कबे, ए पाणि ग्रहण हबे, बसति करिबो कबे ताय।
सखीर परम प्रेष्ठ, जे हय ताहार श्रेष्ठ, सेवन करिबो तार पाय॥
तेंहो कृपावान् हइया, रातुल चरणे लइया, आमारे करिबे समर्पण।
सफल हइबे दशा, पूरिबे मनेर आशा, सेवि दुँहार युगल-चरण॥''५७॥

सखीनां सङ्गिनीरूपामात्मानं वासनामयीम्।
आज्ञासेवापरां तत्तद्रूपालङ्कार भूषिताम्॥५८॥

अनुवाद -

गौड़ीय वैष्णवसाधक स्वयं को राधारानी की सखियों की सङ्गिनी, सखियों की आज्ञा से श्रीराधाकृष्ण की सेवापरायण एवं राधारानी के प्रसादी वस्त्रालङ्कारों से विभूषिता वासनामय गोपकिशोरी के रूप में चिन्तन करेंगे॥५८॥

टीका -

सखीनां श्रीललिता-श्रीरूपमञ्जर्यादीनां सङ्गिनीरूपाम् आत्मानं ध्यायेदिति शेषः। किन्भूताम्? आज्ञासेवापराम् आज्ञया तासामनुमत्या सेवापरां श्रीराधामाधववयोरितिशेषः। पुनः किम्भूताम्? तत्तद्रूपालङ्कारभूषितां सुप्रसिद्धश्रीकृष्णमनोहररूपेण श्रीराधिका-निर्माल्यालङ्कारेण भूषितां; निर्माल्य-माल्य-वसना-भरणास्तु दास्य इत्युक्तेः। पुनः किम्भूताम्? वासनामयीं चिन्तामयीम् ईक्षेत चिन्तामयमेतमीश्वर-मित्यादिवत्॥५८॥

सिद्धदेह का चिन्तन :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय ने इससे पूर्व मञ्जरीस्वरूप और मञ्जरीभाव का जो सारसिद्धान्त स्थापित किया है, उसी के प्रमाणस्वरूप सनत्कुमार संहिता तंत्र का और एक श्रीमत् रूप गोस्वामिपाद के भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ का श्लोक उद्धृत किया है, कारण-सिद्धान्त की स्थापना में शास्त्रवाणी और महाजनों का अनुभव ही अभ्रान्त प्रमाण है। पहले श्रीसनत्कुमार संहिता का प्रमाण देते हैं-''सखीनां सङ्गिनीरूपामात्मानं वासनामयीम्। आज्ञासेवापरां तत्तद्रूपालङ्कारभूषिताम्॥'' अर्थात् 'रागानुगीय साधक श्रीललिता, विशाखा, श्रीरूपमञ्जरी आदि सखियों की सङ्गिनी के रूप में, उनकी आज्ञानुसार श्रीराधामाधव की सेवापरायणा के रूप में और श्रीराधिका के निर्माल्य वस्त्रभूषणों से भूषिता के रूप में अपनी वासनामयी मूर्ति का चिन्तन करे।' साधक इन सखियों के साथ-साथ श्रीगुरुपरम्परा की सिद्धप्रणाली के अनुसार अपनी श्रीगुरुमञ्जरी का भी श्रीश्रीराधामाधव

की प्रेमसेवापरायणा प्रियनर्मसखी के रूप में चिन्तन कर स्वयं का उनकी आज्ञापरायणा किङ्करी के रूप में चिन्तन करते हैं और श्रीललिता रूपमञ्जरी आदि के आनुगत्य में एवं श्रीगुरुमञ्जरी के आदेश से श्रीराधामाधव की प्रत्येक प्रेमसेवा का चिन्तन किया करते हैं। श्रील ठाकुर महाशय की उक्ति में भी इसके अनुरूप प्रमाण मिलता है-''गुरु रूपा सखी-वामे, त्रिभङ्ग भङ्गिम ठामे, चामरेर वातास करिबो'' इत्यादि (प्रार्थना)। जो श्रीकृष्णमन्त्र-दीक्षा देकर रागानुगीय भजन की शिक्षा प्रदान करते हैं, वे व्रजलीला में गुरुरूपा सखी हैं; फिर भी साधकदेह में श्रीगुरुदेव का साक्षात् भगवान् की कारुण्यघनमूर्ति के रूप में ही चिन्तन करना होगा; साधक बाह्यरूप से कभी भी श्रीगुरु के साथ सख्यवत् व्यवहार न करे, कारण-वह साधुवाणी और शास्त्रवाणी के विरुद्ध है।

श्रीसनत्कुमार संहिता में ''सखीनां सङ्गिनीरूपाम्'' श्लोक से पूर्व एक अन्य श्लोक देखा जाता है-''आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्। रूप-यौवन-सम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥'' अर्थात् 'श्रीकृष्णकान्ता गोपियों और उनकी सखियों के बीच साधक स्वयं का रूपयौवनसम्पन्ना मनोरम किशोरी प्रमदा के रूप में चिन्तन करेंगे।''चिन्तयेत्' शब्द का यही अर्थ है कि (साधक) नित्यसिद्ध सखी के सदृश भाव-रूप आदि से युक्त (श्रीगुरुदेव ने सिद्धप्रणाली में जिन ग्यारह भावों का परिचय प्रदान किया है, उसी प्रकार) अपने आत्मा का ईक्षण करे या साक्षात्कार तुल्य बोध करे-अर्थात् 'इन भाव रूप आदि से युक्त देह ही मैं हूँ', ऐसे दृढ़ अभिमान का पोषण करे। साधक उस स्वरूप में दृढ़ अभिमान स्थापित कर ले, तो सिद्धि तक उसके सन्निकट आ जाती है। तभी श्रीजीवगोस्वामिपाद ने सिद्धान्त स्थापित किया है-''अस्तु तावद्भजनप्रयासः केवल तादृशत्वाभिमानेनापि सिद्धिर्भवतीति'', अर्थात् 'स्वरूपाभिमान में भजन-प्रयास दूर रहा, केवल उस प्रकार के अभिमान से ही सिद्धि हो जाती है।'

गौड़ीय वैष्णवों का रागानुगाभजन एक अद्भुत शक्तिशाली आध्यात्मिक मनोविज्ञान है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि मनुष्य की जितनी शक्तियाँ ज्ञात हैं, उनमें मस्तिष्क में स्वतः प्रकाशमान मनोविज्ञान या चिन्तनशक्ति सबसे अधिक बलशाली है, कारण-पृथ्वी पर जिस जिस विषय का अभ्युत्थान और पतन, निर्माण और ध्वंस, प्रचार और विलोप हुआ है, अनुसन्धान द्वारा पता चलता है कि उनमें से प्रत्येक के मूल में विशेष या समवेतरूप से इस चिन्तनशक्ति का स्वर्णसिंहासन अधिष्ठित है। इस शक्ति की यथारीति अर्चना ही उसका मूल कारण है। इसकी प्रकृति या स्वभाव स्वतंत्र है, इसलिये यह किसी निर्दिष्ट स्थान में आबद्ध नहीं; इसकी असङ्कोच (अबाध) गति पृथ्वी आकाश सभी स्थानों में है। इस शक्ति का फल अविनश्वर है। जिसके मस्तिष्क से शक्ति निकली है, उसके विनाश के पश्चात् भी यह शक्ति रहती है-जैसे घटस्थित आकाश घट-भङ्ग के पश्चात् विनाश को प्राप्त न होकर महाकाश में मिलकर वर्तमान रहता है, वैसे ही इस महाशक्ति का फल भी मनुष्यदेह के साथ ध्वंस नहीं होता, उसके पश्चात् भी उसकी कार्यकारी शक्ति परवर्ती मानव-मन के ऊपर अधिकार करती है। किसी शक्तिशाली लेखक का ग्रन्थ या सङ्गीत आदि रचयिता के जीवन या मृत्यु की कोई खबर न रखकर सदैव जनसमाज का आनन्दवर्धन करता है या मानसिक प्रीति-पुष्पाञ्जलि प्राप्त करता है। उसी प्रकार!

जब जड़ीय मनोविज्ञान की ही ऐसी शक्ति है, तो आध्यात्मिक मनोविज्ञान या साधक का भागवतीय एकाग्र चिन्तन चिन्मयी भक्तिशक्ति की सहायता से कितना प्रबल बलशाली होगा–यह मानव बुद्धि के गोचर नहीं हो सकता। वस्तुतः गौड़ीय वैष्णव साधक अपनी सिद्धदेह के चिन्तन में या स्वरूपाभिमान में स्थित होकर श्रीराधामाधव की मानससेवा के ध्यान में एकाग्रता से निविष्ट हो जाय, तो पूर्वतन मनीषियों की तज्जातीय कृपाशक्ति से युक्त चिन्तनशक्ति की सहायता से अति शीघ्र ही भाव–तन्मयता प्राप्त कर सिद्धि के राज्य में जा पहुँचेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी में आध्यात्मिक मनोविज्ञान की एवं साधकात्मा में भागवतीय महामाधुर्यरस की चरमतम अभिव्यक्ति है!

सिद्धदेह–चिन्तन के सम्बन्ध में साधक को विशेषरूप से यह जानना चाहिये कि उसका मुख्यरूप से गोपीभाव–भावित अन्तःकरण प्रस्तुत करना ही गोपीभाव से रागानुगा साधन है। इसलिये स्वयं का केवल गोपिकाकार चिन्तन करने से ही सिद्धदेह का चिन्तन सुचारु नहीं होगा; गोपीभाव–भावित गोपिकाकार चिन्तन ही सिद्धदेह चिन्तन का सौष्ठव (सौन्दर्य) है। गोपीभाव अङ्गीकार करके ही श्रीराधा कृष्ण के लीला–चिन्तन का उपदेश मिलता है–''अतएव गोपीभाव करि अङ्गीकार। रात्रिदिन चिन्ते राधाकृष्णेर विहार॥ सिद्धदेह चिन्ति करे ताँहाइ सेवन। गोपीभावे पाय राधाकृष्णेर चरण॥'' (चै० च०) इस गोपीभाव के ही चरमपर्याय मञ्जरीभाव से विभावित होकर प्रेमसेवा की लिप्सा रखने वाला साधक सतत यह भावना (चिन्तन) करेगा कि वह श्रीललिता–विशाखा एवं श्रीरूपमञ्जरी आदि की सङ्गिनीरूपा है, उनकी आज्ञा से श्रीराधामाधव की सेवापरायणा किङ्करी है, श्रीराधा के प्रसादी अलङ्कार आदि से विभूषिता है और उसका हृदय श्रीराधामाधव की प्रेमसेवा के सङ्कल्प एवं देह युगल के सेवारस के उपादान से गठित है॥५८॥

कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।

तत्तत् कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥५९॥

अनुवाद –

साधक अपने भावोचित लीलाविलासी श्रीकृष्ण एवं श्रीवृन्दावनेश्वरी, ललिता–विशाखा आदि उनके परिकरों का स्मरण कर उनकी कथा में रत रहकर सर्वदा वृन्दावनवास करे॥५९॥

टीका –

कृष्णं स्मरन्निति। स्मरणस्यात्र रागानुगाया मुख्यत्व रागस्य मनोधर्मत्वात्। श्रेष्ठं निजभावोचित–लीलाविलासिनं कृष्णं वृन्दावनाधीश्वरम्। अस्य कृष्णस्य जनञ्च कीदृशं। निजसमीतिं स्वाभिलषणीयं श्रीवृन्दावनेश्वरी ललिता–विशाखारूपमञ्जर्यादिकं कृष्णस्यापि निजसमीहितत्वेऽपि तज्जनस्य उज्ज्वलभावै–कनिष्ठात्वात् निजसमीहितत्वाधिक्यम्। ब्रजे वासमिति असामर्थ्ये मनसापि। साधकशरीरेण वासं कुर्यात्। सिद्धशरीरेण वासस्तु उत्तर श्लोकार्थः प्राप्त एव॥५९॥

रागानुगा-परिपाटी :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के मूल आचार्य व्रज की साक्षात् रूपमञ्जरी के अवतार श्रीरूपगोस्वामिपाद के भक्तिरसामृतसिन्धु से ''कृष्ण स्मरन्'' (१/२/२९४) श्लोक को दृष्टान्त रूप में देकर अपने वक्तव्य की परिपुष्टि कर रहे हैं। पहले कहते हैं-''कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्''-'अपने भावोचित अर्थात् शृङ्गारभावोचित लीलाविलासी श्रीव्रजेन्द्रनन्दन का एवं श्रीराधा, ललिता, विशाखा, रूपमञ्जरी आदि अपने अभिलषित उनके परिकरों का स्मरण कर'-तात्पर्य यह है कि रागानुगा भजन में स्मरणाङ्ग भक्ति ही मुख्य है, कारण-राग मनोधर्म है; इसलिये मानसिक धर्म राग (तृष्णा या लोभ) मूलक रागानुगाभक्ति में मानसिक भजन स्मरणाङ्ग की ही प्रधानता है। तथापि बाह्यदेह से श्रवण, कीर्तन आदि भजनाङ्ग उपेक्षणीय नहीं हैं, यह भी यहाँ विशेषरूप से ध्यान में रखना है। जैसे श्रवण-कीर्तनादि बाह्य साधन से आन्तरिक साधन लीलास्मरण परिपुष्ट होता है, वैसे ही आन्तरिक साधन से भी बाह्य साधन में रुचि उत्पन्न होती है। दोनों ही एक-दूसरे के पोषक हैं, इसलिये बाह्य साधन की उपेक्षा कर लीलास्मरण में मनोनिवेश करने की चेष्टा करने पर भी उसमें सफलता नहीं मिलती। फिर लीलास्मरण की उपेक्षा कर केवल बाह्य साधन में आग्रह रखने से भी रागानुगा मार्ग का भजन नहीं होता। इसलिये एक साथ दोनों आवश्यक हैं।

जिन नवीन साधकों का अपनी सिद्धदेह का चिन्तन या श्रीराधामाधव का लीलास्मरण सुस्पष्ट नहीं होता, प्रत्युत कुछ कष्टकर लगता है, वे आरम्भ में लीलास्मरण के प्रति अति आग्रह न रख यदि श्रवण-कीर्तनादि के साथ लघु या सहजभाव से स्मरण-मनन करें, गोपीभाव या रागानुगाभजन की महिमा बताने वाली रचनाओं ❋ का श्रवण-कीर्तनादि करें और हृदय में मञ्जरीभाव के संस्कार लाने का प्रयत्न करें, तो वे अनायास ही लीलास्मरणाङ्ग के उपयुक्त अन्तःकरण प्राप्त कर सकेंगे। इसीलिये कहा गया है-''तत्तत्कथारतश्चासौ''-उनकी कथा में रत रहकर, अर्थात् उनकी कथा के श्रवण-कीर्तन में लगे रहकर। श्रीकृष्णकथा और कथनीय श्रीकृष्ण अभिन्न हैं, इसलिये श्रीकृष्ण ही साधुभक्तों के श्रीमुख से कथा रूप में साधक के कर्णपथ से हृदय में प्रवेश करते हैं और हृदय का कामना-वासनादि रूपी मल स्वयं ही दूर कर चित्त परिमार्जित कर देते हैं। यह श्रीमद्भागवत (१/२/२१) में सुस्पष्ट रूप से बताया गया है-''श्रृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः। हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥''

अन्त में कहते हैं-''कुर्याद्वासं व्रजे सदा'' अर्थात् 'रागानुगीय साधक सर्वदा व्रज में वास करें।' ''सामर्थ्ये सति व्रजे श्रीमन्नन्दव्रजावासस्थाने श्रीवृन्दावनादौ शरीरेण वासं कुर्यात् तदभावे मनसापीत्यर्थः'' (टीका-श्रीजीवपाद) अर्थात् समर्थ हों तो देह द्वारा व्रज-वास करें, असमर्थ हों तो मन से करें या व्रजभूमि में रहने की अभिलाषा प्रकट करें। वृहद्गौतमीयतंत्र में श्रीकृष्ण ने स्वयं व्रजवास-महिमा बताई है-

---

❋ श्रील ठाकुर महाशय की प्रार्थना एवं प्रेमभक्तिचन्द्रिका; श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद की स्तवमाला; श्रील रघुनाथदास गोस्वामिपाद की स्तवावली; श्रील कृष्णदास सिद्धबाबा की प्रार्थना-तरंगिणी आदि।

''इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम्।
अत्र ये पशवः पक्षी मृगाः कीटा नरामराः॥
ये वसन्ति ममाधिष्णे मृता यान्ति ममालयम्।
पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्।
कालिन्दीयं सुषुम्नाख्या परामृत-वाहिनी॥
अत्र देवाश्च भूतानि वर्त्तन्ते सूक्ष्मरूपतः।
सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित्॥
आविर्भावस्तिरोभावो भवेन्मेहत्र युगे युगे।
तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा॥''

अर्थात् 'यह वृन्दावन परम रमणीय है और यह केवल मेरा ही वासस्थान है। यहाँ जो पशु-पक्षी, मृग, कीट, मानव और अमरगण वास करते हैं, देहान्त होने पर वे मेरे आलय में ही गमन करते हैं। यह पञ्चयोजन वृन्दावन मेरा देहस्वरूप है, परामृतवाहिनी यमुना उसमें सुषुम्ना है। इस स्थान में देवता और जीवगण सूक्ष्मरूप से या अलौकिक अप्राकृत देह धारण कर विराजमान हैं। सर्वदेवमय मैं यह वन कभी भी त्याग नहीं करता। इस स्थान में प्रत्येक युग में मेरा आविर्भाव और तिरोभाव होता है। यह रमणीय वृन्दावन महातेजोमय अर्थात् शुद्धसत्त्वस्वरूप है, तभी चर्मचक्षुओं के अगोचर है।' श्रीकृष्ण की चिन्मय संधिनी शक्ति का प्रकाश (अप्राकृत) होकर भी श्रीधाम विश्वसाधकों के प्रति कृपापरवश होकर उनकी अनायास भजनसिद्धि के लिये विश्व की आकृति धारण कर प्रकाशमान है। कौन कृतीसाधक है, जो भजनसिद्धि के लिये इस चिन्मय धाम का आश्रय नहीं लेता? ❋

व्रजधाम का आश्रय लेकर सजातीयाशय (अपने ही भाव-रस के) रसिकभक्तों के साथ श्रवण-कीर्तनादि भजनाङ्गों का याजन करे और उल्लिखित प्रकार से स्मरण का अभ्यास करे, तो रागसाधक की हृदय-मञ्जूषा भक्ति की सुविमल किरणधारा से धुलकर निर्मल हो जाती है और मन की एकाग्रता एवं बुद्धि की स्थिरता के क्रम से साधक की भगवान् में प्रगाढ़ रुचि उत्पन्न हो जाती है। ऐसे रुचिमान् साधक के भजनकाल में आत्मा की प्रीतियुक्त सेवावासना अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होती है-वह पहले रुचि द्वारा स्निग्ध हुए चित्त को अनुरञ्जित करती है, फिर बुद्धि को उसकी अवधारणा करा निश्चयता प्रदान करती है और अहङ्कार को स्वरूप के भाव में आविष्ट करती है। तब साधक का भजन सुष्ठरूप से अनुष्ठित होता है; मन में सतत सेवासङ्कल्प या सेवावासना रहती है, बुद्धि में निश्चयात्मिका ज्ञान होता है, अहङ्कारवृत्ति में भावयोग्य अभिमान आता है, चित्त में पूर्वअनुभूत भक्तिसंस्कारों की प्रगाढ़ता से प्रतीति या स्फुरण होता है। तब वह समस्त भावावेग श्रवण-कीर्तनादि के साथ

❋ त्रिपदी ५७, ६६ और ६७ की व्याख्यायें देखिये।

इन्द्रियवृत्तियों में प्रकाशित हो उठता है। फिर यह भावावेग श्रवण-कीर्तनादि के माधुर्य को परिपुष्ट कर स्वयं ही अन्तर्मुखी हो जाता है और मन बुद्धि अहङ्काररूपी अन्तःकरण की वृत्तियों को उस अनुभवलब्ध भाव के आवेग से अनुप्राणित आप्यातित कर देता है-यही साधक भजन अनुभव है॥५९॥

युगल चरणे प्रीति, परम आनन्द तथि,
रति प्रेममय परबन्धे।
कृष्णनाम राधानाम, उपाय करों रसधाम,
चरणे पड़िया परानन्दे॥६०॥

टीका -

परबन्धे-प्रबन्धे, श्रीकृष्ण-भक्ति रसविज्ञ-भक्तजनविरचित प्रेममय-कथायां मम रतिर्भवतु। चरणे राधामाधवयोरिति शेषः॥६०॥

अन्तरङ्ग भजन :

सुधाकणिका व्याख्या : इस त्रिपदी में श्रील ठाकुर महाशय स्वयं प्रार्थना के माध्यम से रागानुगीय साधक के अन्तरङ्ग भजन की कुछ बातें बता रहे हैं। पहले कहते हैं-''युगलचरणे प्रीति, परम आनन्द तथि'', अर्थात् युगल श्रीश्रीराधामाधव के चरणों में मेरी प्रीति रहे, (तथि या तथाय अर्थात्) उस प्रीति से ही परमानन्द प्राप्त होता है। तैत्तिरिय उपनिषद् ने ''सैषानन्दस्य मीमांसा भवति'' कहकर मनुष्यानन्द से प्रजापति या हिरण्यगर्भ आदि के आनन्द का सौ गुना उत्कर्ष दिखाकर फिर उससे परब्रह्मानन्द सौ गुना अधिक स्थापित कर ''यतो वाचो निवर्तन्त अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वन् न विभेति कुतश्चन'' इत्यादि श्लोक में आनन्द तत्त्व की असीमता और विलक्षता दिखाई है। फिर ''को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्'' इत्यादि वाक्य में विभुब्रह्मतत्त्व का आनन्दरूपत्व दिखाया गया है। ''आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'' इत्यादि श्रुतिवाक्य के अनुसार अखिल विश्व का जन्म आनन्द से ही हुआ है; आनन्द में ही स्थित है और आनन्द में ही लीन होगा-इसी प्रकार जगत् में महा आनन्दवाणी का प्रचार हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि विश्व में आनन्द से भिन्न किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं रह सकती। जो ''आनन्दरूपममृतम्'' हैं-जो ''रसो वै सः'' हैं, जो ''सर्वेषां भूतानां मधु'' हैं, उन आनन्दमय, अमृतमय, रसमय और मधुमय भगवान् के रचे विश्व में दुःख कभी नहीं रह सकता। फिर जो सुख-दुःख प्रकाश-अन्धकार की तरह जीवों के जीवन में लगा हुआ है, वह जीवों के कर्मविपाक को छोड़ और कुछ नहीं। स्वरूपतः जीव सच्चिदानन्द का अंशस्थानीय या आनन्दसत्ता है, फिर भी अनादि काल से भगवत बहिर्मुख है। चित्तमालिन्य, तत्त्वज्ञान के अभाव एवं देह-अध्यास से उत्पन्न हुए अनादि संसार-दुःख भोगता है। जिस दिन महत् कृपा से वह फिर अन्तर्मुखी हो भगवत्सेवापरायण हो जायेगा और

भगवान् को ही प्रिय से भी प्रियतर रूप में प्राणों में अनुभव करेगा, उस दिन उसके चित्त में स्वरूपज्ञान का उन्मेष और नित्यसिद्ध प्रेम का आविर्भाव होगा; वह रसस्वरूप या आनन्दस्वरूप भगवान् की माधुरी का आस्वादन कर सदा-सदा के लिये आनन्दसागर में डूब जायेगा। भगवत् माधुरी में भी साक्षात् माधुर्यमूर्ति स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन की माधुरी ही सबसे ऊपर है; फिर वह कृष्ण-माधुरी-सिन्धु राधारानी के सान्निध्य में तो अत्यन्त समुच्छ्वसित हो उठता है। तभी जो लोग श्रीश्रीराधामाधव-युगलचरणों में प्रीति रखते हैं, उन्हें परमानन्द प्राप्त होता है-उसकी तुलना कहीं नहीं! इसीलिये कहा है-''युगलचरण प्रीति, परम आनन्द तथि''।

फिर कहते हैं-''रति प्रेममय परबन्धे' अर्थात् श्रीकृष्णभक्तिरसविज्ञ स्व-सम्प्रदायी महाजनों द्वारा रचित प्रेममय प्रबन्धों या ग्रन्थादि में रति रहे। श्रीपाद रूप रघुनाथ द्वारा विरचित स्तवमाला, स्तवावली; श्रील कृष्णदास कविराज के गोविन्दलीलामृत आदि ग्रन्थ मञ्जरीभावसाधक गौड़ीय वैष्णवों के लिये परम आस्वाद्य हैं, अपने भाव के अत्यन्त पुष्टिकर हैं। महाजन-विरचित इन सभी ग्रन्थों के अक्षर प्रेममय हैं-'प्रेममय अक्षर जाहार'। महाजनप्रणीत ग्रन्थों का प्रत्येक अक्षर ही उन लोगों की अनुभूति के रस से भरा है, इसलिये हृदय की मलिनता धोकर प्रेमभक्ति प्रदान करने में परम समर्थ है। श्रील ठाकुर महाशय की यह प्रेमभक्तिचन्द्रिका उन ग्रन्थों में अन्यतम है। इस सम्बन्ध में एक सत्य कथा का उल्लेख करते हैं।

एकबार एक उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारी (जजसाहब) कार्यवश कुछ दिन पश्चिमबङ्ग के अम्बिकाकालना में रहे। तब कालना के सिद्ध श्रीभगवानदास बाबाजी महाराज प्रकट थे। लोगों से उनकी महिमा सुनकर जजसाहब उनके दर्शन करने गये। उन्हें देखकर सिद्धबाबा ने आने का प्रयोजन पूछा, तो उन्होंने सिद्धबाबा से कहा-'बाबा! क्या करने से प्रेमभक्ति प्राप्त होती है, यह बताइये।' सिद्धबाबा एकाएक बोले-'प्रेमभक्ति दो आने में खरीदी जाती हैं।' सुनकर भद्रपुरुष थोड़े सकपकाये। बोले-'बाबा! मुझसे परिहास क्यों कर रहे हैं?' सिद्धबाबा ने दृढ़ता के साथ कहा-'यह परिहास की बात नहीं है, कलकत्ता के बटतला में दो आने मूल्य की श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय की प्रेमभक्तिचन्द्रिका खरीद लो; उसका नित्य पाठ करो, प्रेमभक्ति प्राप्त करोगे।'

सिद्धबाबा के उपदेशानुसार वे भद्रपुरुष एक प्रेमभक्तिचन्द्रिका खरीदकर नित्य पाठ करने लगे। महत् आज्ञा और महत् कृपामूलक प्रेमभक्तिचन्द्रिका के प्रेममय अक्षरों की नित्य सेवा का परिणाम यह हुआ कि उन्हें चाकरी और अच्छी न लगे। सहसा नौकरी त्यागकर घर बैठकर वे परम आसक्ति के साथ नियमित रूप से प्रेमभक्तिचन्द्रिका पाठ करने लगे। एकाएक नौकरी छोड़ दी, इस बात के लिये वे आत्मीय स्वजनों के क्रोध के पात्र बन गये। उन्हें घर भोगविलास आदि कुछ अच्छा न लगे। एक दिन गृहत्याग कर वे उदासीनवत् इधर-उधर घूमने लगे। छिन्न मलिन वस्त्र पहनें, भिक्षा के अन्न से उदरपूर्ति करें और हृदय की समस्त प्रीति श्रीहरि को अर्पित कर नित्य प्रेमभक्तिचन्द्रिका पाठ करें। इतने बड़े उच्च पदाधिकारी का यह आकस्मिक परिवर्तन लोगों की दृष्टि में 'उन्माद' हो गया। इस प्रकार कुछ समय बीता।

एकबार श्रीनवद्वीपधाम में विबुधजननीसभा के अधिवेशन में भारत के विशिष्ट-विशिष्ट पण्डितगण निमंत्रित होकर आये। सभा के प्रारम्भ में उक्त भद्रपुरुष ने सभा में प्रवेश करने की चेष्टा की, तो द्वारपाल ने उन्हें

उन्मादग्रस्त समझकर भगा दिया। कुछ देर बाद पुनः उन्होंने चेष्टा की, इस बार भी भगा दिये गये। तीसरी बार जब वे द्वार पर आकर सभा में प्रवेश करने की चेष्टा कर रहे हैं और द्वारपाल भी उन्हें विताड़ित करने को है, तब सभापति के आसन पर आसीन महामहोपाध्याय पण्डित श्रीयुक्त अजित न्यायरत्न महाशय ने द्वारपाल को रोककर उन्हें सभा के बीच बुलवाकर प्रश्न किया-'आप बार-बार विताड़ित होकर भी सभा में प्रवेश करना क्यों चाहते हैं, क्या यहाँ कुछ प्रयोजन है?' न्यायरत्न के प्रश्न के उत्तर में भद्रपुरुष ने सारी घटना खोलकर बताई- सिद्ध श्रील भगवान्दास बाबा के उपदेश से नित्य प्रेमभक्तिचन्द्रिका का पाठ करना और सर्वत्र मन की अनासक्ति। अन्त में प्रश्न किया-'सिद्धबाबा ने प्रेमभक्ति पाने की बात कही थी, वह तो मुझे नहीं मिली?' उनकी बात सुनकर सभापति न्यायरत्न महाशय ने उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और यह कहकर कि सिद्धबाबा की कृपा से प्रेमभक्तिचन्द्रिका पाठ करने के फलस्वरूप वे प्रेमभक्तिचन्द्रिका की सुविमल किरणधारा में अभिस्नात होकर धन्य हुए हैं उन भद्रपुरुष की कृपा की आकांक्षा से न्यायरत्न महाशय हाथ जोड़ उनके आगे खड़े हो गये। इतना ही नहीं, उन्होंने सभी के आगे घोषणा की कि उन लोगों की विबुधजननीसभा ने आज प्रारम्भ में ही एक अपूर्व रसमय फल प्रसव किया है। इसका अर्थ यह था कि आर्यशास्त्र या महाजनवाणी के श्रवणकीर्तन की महिमा का प्रचार करने के लिये ही वह सभा बुलाई गई थी; उसी महावाणी के पाठ का आदर्श उन सबके आगे मूर्तरूप में विद्यमान है। इस पर सभी ने अपने को धन्य समझा और भद्रपुरुष के श्रीचरणों में प्रणाम किया ❋। श्रील भगवान्दास सिद्धबाबा के शिष्य वृन्दावन कालीदह निवासी सिद्ध श्रीयुक्त जगदीश बाबा ने भी किसी श्रद्धालु को प्रेमभक्तिचन्द्रिका और प्रार्थना पाठ करने का उपदेश दिया था, ऐसा श्रील हरिदासजी की गौड़ीय वैष्णव जीवनी में देखा गया है। श्रीकृष्णभक्तिरसभावितचित्त महाजनों के रचे प्रेममय प्रबन्धों का श्रवण-कीर्तन ही सफलता है। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने श्रीचैतन्यचरितामृत की फलश्रुति में लिखा है-''जेबा नाहि बुझे केहो, शुनिते शुनिते सेहो, कि अद्भुत चैतन्यचरित। कृष्ण उपजिबे प्रीति, जानिबे रसेर रीति, शुनिलेइ हैबे बड़ो हित॥'' (चै० च०) रति या प्रीति के साथ इन सब प्रेममय प्रबन्धों के अनुशीलन से साधक प्रेमलाभ कर धन्य होंगे, यह कहना ही पर्याप्त है।

फिर कहते है-''कृष्णनाम राधानाम, उपाय करों रसधाम, चरणे पड़िया परानन्दे'' अर्थात् 'परानन्द में श्रीराधाकृष्ण के चरणों में पड़कर या परमानन्दपूर्वक युगलचरणों में अनन्यभाव से शरणागत होकर रसधाम या अखिल रसों के निलय श्रीश्रीराधाकृष्ण के नाम उपाय करूँ अर्थात् भजन करूँ।' भगवत्पादपद्म भजन की मूल भित्ति ही है भगवच्चरणों में शरणागति। जिसके बिना भगवद्भजन नहीं होता। जिसकी जिस मात्रा में शरणागति, उसकी उसी मात्रा में भजन में अग्रगति। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है-''अस्याश्चापूर्वत्वं तां बिना तदीयत्वासिद्धे'' (भक्तिसन्दर्भ-२३७ अनु०) अर्थात् 'शरणागति का यही अपूर्वत्व है कि शरणागति के बिना तदीयत्व सिद्ध नहीं होता।' तदीयत्व सिद्ध होने पर साधक सभी प्रकार से अकुतोभय (निर्भय) हो जाता है।

❋ श्रीराधाकुण्डनिवासी परमभजनानन्दी प्रवीण महात्मा पूज्यपाद श्रीमत् जयनिताइदास बाबाजी महाराज के श्रीमुख से सुनी है।

भगवान् ने उद्धवजी से कहा-''मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्। याहि सर्वात्मभावेन मया स्यात् ह्यकुतोभयः॥'' (भा० ११/१२/१५) अर्थात् 'हे उद्धव! तुम सबकुछ त्यागकर सम्पूर्ण अन्तःकरण से समस्त देहधारियों के आत्मस्वरूप मेरे शरणागत हो सभी प्रकार से अकुतोभय हो जाओ।' केवल अकुतोभय ही नहीं, शरणागत भक्त भजन-साधन में निःसंशय निश्चिन्तता प्राप्त कर यथायथ परमानन्द लाभ करते हैं-''तवास्मीति वदन् वाचा-तथैव मनसा विदन्। तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः॥'' (हरिभक्तिविलास) मुँह से 'हे भगवन्! मैं तुम्हारा हूँ' यह कहकर, मन में भी उसी प्रकार अभिमान पोषित कर एवं देह से भगवान् के लीलास्थान का आश्रय लेकर शरणागत भक्त परमानन्द अनुभव करता है।'

तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'श्रीराधामाधव-युगलचरणों में एकान्तभाव से शरणागत होकर परमानन्दपूर्वक रसधाम या परम आस्वाद्य श्रीराधाकृष्ण नाम को प्रेमप्राप्ति के श्रेष्ठ उपाय के रूप में ग्रहण करूँगा-सर्वश्रेष्ठ भजनाङ्ग के रूप में आश्रय बनाऊँगा।' श्रीनाम हैं अखिल रसों के धाम या आश्रय। भगवन्नाम स्वभावतः परम मधुर या आस्वाद्य है, पर स्वतः रसधाम नाम का आस्वादन अपराध-दूषित जिह्वा पर अनुभूत नहीं होता; नाम-सेवन करते-करते अपराध का अपगम होता है और तब नाममाधुरी का अनुभव होता है। ठीक उसी प्रकार जैसे पित्त-दूषित जिह्वा पर मिश्री की मिष्टता अनुभव नहीं होती, उल्टे वह कड़वी लगती है। मिश्री-सेवन करते-करते जिह्वा का पित्त-विकार नष्ट हो जाता है, तो स्वभावमधुर मिश्री की मिष्टता अनुभव होती है। तभी श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है-''अतएव नन्दरूपत्वमस्य महद्धृदयसाक्षिकं यथा श्रीविग्रहस्य''-साक्षात् भगवत् मूर्ति की तरह भगवन्नाम के भी आनन्दरूपत्व आदि के सम्बन्ध में महतों का अनुभव ही श्रेष्ठ प्रमाण है।' अर्थात् साक्षात् माधुर्यमूर्ति श्रीकृष्ण के दर्शन से भी अभक्त असुर कोई आनन्द नहीं पाते, उल्टे हिंसा-द्वेष से उनके चित्त जल उठते हैं। उसी प्रकार रसधाम नाम के आस्वादन से भी अपराधी की जिह्वा पर कुछ भी अनुभव नहीं होता। भक्त ही अनुभव करते हैं-''कृष्णनामे जे आनन्दसिन्धु आस्वादन। ब्रह्मानन्द तार आगे खातोदक सम॥'' (चै० च०) श्रील ठाकुर महाशय मधुरातिमधुर श्रीराधाकृष्ण नामभजन की अभिलाषा करते हैं। श्रीराधाकृष्णयुगलमाधुरी के विषय में श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद ने अपने अभीष्टसूचनस्तव में लिखा है-''राधेति नाम नवसुन्दर सीधु मुग्धं, कृष्णेति नाम मधुराद्भुत-गाढ़ दुग्धम्। सर्वक्षणं सुरभिरागहिमेन रम्यं कृत्वा तदेव पिव मे रसने क्षुधार्त्ते॥'' अर्थात् 'हे (मेरी) क्षुधार्त रसने! 'राधा' नाम अभिनवसुन्दर अमृत की तरह मनोहर है; 'कृष्ण' नाम अद्भुत घनदुग्ध की तरह अति मधुर है; तुम इन दोनों वस्तुओं को सुगन्धी अनुरागरूपी हिम से रम्य बनाकर सतत पान करती रहो।' श्रीमन्महाप्रभु ने रामराय से प्रश्न किया था-''उपास्येर मध्ये कोन् उपास्य प्रधान?'' रामराय ने उत्तर दिया था-''श्रेष्ठ उपास्य-युगल राधाकृष्णनाम॥'' (चै० च०) इस त्रिपदी द्वारा श्रीराधाकृष्ण में प्रीति, श्रीकृष्णभक्तिरसविज्ञ महाजनों द्वारा रचे ग्रन्थों में रति या आसक्ति और श्रीश्रीराधाकृष्ण का नामसङ्कीर्तन-रागानुगाभजन में यह त्रिविध अन्तरङ्ग साधना दिखाई गई है, यह जानना होगा॥६०॥

मनेर स्मरण प्राण, मधुर मधुर धाम

युगलविलास स्मृतिसार।

साध्य साधन एइ, इहा बइ आर नाइ,

एइ तत्त्व सर्वविधि सार॥६१॥

टीका -

विधिनां कर्तव्योपदेशानां सारः। स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुः विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्। सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्करा:॥६१॥

मन के प्राण :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय इस त्रिपदी में रागानुगा भक्ति के मुख्य साधन स्मरणाङ्गभक्ति का वर्णन कर रहे हैं। पहले कहा गया है-''मनेर स्मरण प्राण'' मानव का मन सभी इन्द्रियों का राजा, सबमें श्रेष्ठ है। यह नीरव होते हुए भी सभी इन्द्रियों के अनुभूत विषयों का आधार है। इन्द्रियाँ इसके अधीन कार्य करती हैं, मानो इसकी क्रीत दासियाँ हैं। पञ्चतन्मात्रायें-रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श क्रमशः हमारी आँखों, कानों, जिह्वा, नासिका और त्वक् द्वारा अनुभूत या आस्वादित होती हैं; ये सब मन के विषयीभूत हैं। कोई द्रव्य पहले देखा है, उसे इस समय बिना देखे भी बता सकते हैं, कारण-उसका चित्र हमारे मन में अङ्कित है। विद्युत को चमकते देखकर ही वज्र-पतन शब्द से हम डर जाते हैं, कारण-विद्युत के साथ वह शब्द हमने पहले सुन रखा है; वह हमें याद है। जो भोज्य पदार्थ पहले आस्वादन किया है, उसका कैसा स्वादविशिष्ट है, इस समय उसे खाये बिना भी बता सकते हैं, कारण-उसकी स्वादुता मन में विद्यमान है। किसी सुन्दर पुष्प को देखते ही बता सकते हैं कि उसकी गन्ध कैसी है, कारण-उसकी गन्ध पहले बड़ी मीठी लगी थी। अवाक्पटु शिशु आग में एक बार ही हाथ देता है, दोबारा नहीं देता; अग्नि देखते ही हटकर खड़ा हो जाता है, कारण-उसके मन में यह बात है कि इसका स्पर्श तप्त और क्लेशकर है। हम भले ही स्थूल इन्द्रिय द्वारा किसी द्रव्य या विषय को स्थूलरूप से ग्रहण करें या काम में लें, मन के संयोग के बिना वह हमारी अनुभूति में नहीं आता। इस प्रकार समस्त इन्द्रियों का समष्टिभूत केन्द्रस्वरूप जो मन है, वह अशरीरी होकर भी सभी प्रकार के बोध उत्पन्न करने में समर्थ है।

अनादि काल से भगवत् बहिर्मुख मानवमन जड़ीय विषय-चिन्तन से इतना दुष्ट (दूषित, विकृत) हो गया है कि वह विषय-चिन्तन की छोटी-बड़ी नाना तरङ्गों से तरङ्गायित रहता है, ठीक उसी प्रकार जैसे समुद्र नाना तरङ्गों से सतत तरङ्गायित रहता है। हमारी बुद्धि सभी चिन्तनों को ग्रहण नहीं कर सकती, विशेष-विशेष चिन्तन ही बुद्धि द्वारा ग्राह्य होते हैं। जाग्रत अवस्था में तो है ही, सुप्त अवस्था में भी विषय-चिन्तन की तरङ्ग

चलती रहती है जिसे हम 'स्वप्न' आख्या देते हैं। केवल सुषुप्ति अवस्था में मन सुप्त रहता है, सो चिन्तन-तरङ्ग में विराम आ जाता है। भक्त-साधक का जितना कुछ खेल है, इस मन को लेकर ही, कारण-मनसंयोगविहीन यांत्रिक भजन से बहुत समय में भी भजन-फल प्रेम प्राप्त नहीं होता। भक्त और भगवान् की कृपा पर आश्रित साधन-भजन के द्वारा विषय-वासना से पङ्किल हुए मन को निर्मल बनाकर, कृष्णेतर जड़ीय विषय-चिन्तन की अनुभूति त्यागकर जो निरवच्छिन्न श्रीकृष्ण-भजन किया जाता है, उसी को शुद्धा या निर्गुणा भक्ति कहा गया है -

''मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगृहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥''

(भा० ३/२९/११-१२)

श्रीकपिलदेव ने अपनी माता देवहूति से कहा है-''हे मातः! मेरे गुण श्रवण करते ही समुद्र की ओर दौड़ती गङ्गाधारा की तरह श्रोता की जो अविच्छिन्न मनोगति सर्वान्तर्यामी मेरे प्रति होती है, वही मुझ पुरुषोत्तम में अहैतुकी एवं अनन्य भक्ति है और उसी का निर्गुण भक्तियोग के लक्षण के रूप में उदाहरण दिया गया है।''

तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है-भगवत् स्मृति ही भक्तसाधक के मन का प्राण या जीवनीशक्ति है। जिस मन में भगवत्स्मृति नहीं है, वह मन प्राणहीन देह की तरह निर्जीव या मृतप्राय है। निष्प्राण देह को शृगाल, कुक्कुरादि स्वच्छन्द भक्षण करते हैं, उसी प्रकार भगवत्स्मृतिविहीन मन को काम-क्रोधादि रिपुगण अविरत दंशन करते रहते हैं। सप्राण या सजीव देह को देखकर ये पशु भय से भाग जाते हैं, उसी प्रकार हरिस्मृतिसम्पन्न सजीव मन को देख ये रिपुगण दूर से भाग जाते हैं। इसलिये यदि इन रिपुओं की यातना से बचकर भजनानन्द का रसास्वादन करना है, तो प्रत्येक भक्त के लिये स्मरणाङ्ग अवलम्बनीय है। किसी भी प्रकार मन के साथ भगवान् का सम्बन्ध हो, उसे 'स्मरण' कहा जाता है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने स्मरणाङ्ग के क्रमिक विकास के पाँच स्तरों की बात कही है-स्मरण, धारणा, ध्यान, ध्रुवानुस्मृति और समाधि। भगवान् के रूप गुण लीलादि के यत्किञ्चित् अनुसन्धान का नाम 'स्मरण' है। अन्य सभी विषयचिन्तनों से मन को खींचकर भगवान् की लीला आदि में सामान्यरूप से मन को लगाने का नाम 'धारणा' है। विशेषरूप से रूप आदि का चिन्तन ही 'ध्यान' है। अमृतधारा की तरह भगवान् के रूप गुण लीलादि के अविच्छिन्न (निरन्तर) स्मरण को 'ध्रुवानुस्मृति' कहते हैं। ध्येयमात्र स्फुरण को 'समाधि' कहा जाता है। यह समाधि ज्ञान, योग आदि साधना से प्राप्त असम्प्रज्ञात समाधि की तरह नहीं है। इसमें स्मरण अति गाढ़ा होता है और भगवान् की लीला आदि का प्रत्यक्ष की तरह ही स्फुरण होता है।

इस स्मरणाङ्ग का सार है युगलविलास-स्मृति, तभी कहा है-''युगलविलास स्मृति सार''। स्मरण चार प्रकार का-नामस्मरण, रूपस्मरण, गुणस्मरण और सपरिकर लीलास्मरण। इनमें लीला-स्मरण ही श्रेष्ठ है,

कारण-इसमें अन्य तीनों स्मरण भी रहते हैं। फिर अन्यान्य भगवत्स्वरूपों की लीला के स्मरण की अपेक्षा माधुर्यमूर्ति ब्रजेन्द्रनन्दन का लीलास्मरण श्रेष्ठ है, कारण-ब्रजेन्द्रनन्दन की लीला परम माधुर्यमय है। उनकी बाल्य-पौगण्ड आदि लीलाओं की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट शृङ्गाररसमयी जो कैशोर लीला है, अर्थात् राधारानी के साथ विलासलीला-वही सभी लीलाओं में श्रेष्ठ है। इसलिये युगलविलास ही स्मृतिसार है, अर्थात् ससखी श्रीश्रीराधाकृष्ण का मिलन, कुसुमचयन, वंशीहरण, वनविहार, मधुपान, रहःकेलि (रहस्यमय निभृत निकुञ्ज लीला), जलक्रीड़ा, पासाक्रीड़ा, रास आदि लीलाओं का स्मरण ही सभी प्रकार के लीलास्मरण का सार है, सबमें श्रेष्ठ है। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में सपार्षद श्रीगौराङ्ग और श्रीराधामाधव की अष्टकालीन या स्वारसिकी लीला एवं मंत्रमयी या योगपीठ-मिलन लीला के स्मरण की जो पद्धति देखी जाती है, वही श्रेष्ठतम स्मरणाङ्ग-भजन है। किन्तु स्मरणनिष्ठ साधक को सतत यह ध्यान रखना होगा कि स्मरणकाल में ससखी श्रीश्रीराधामाधव के 'मधुर मधुर धाम' या मधुरातिमधुर श्रीविग्रह के रूप गुण लीलादि के माधुर्य का आस्वादन अन्तरात्मा को प्राप्त हो। अभीष्ट के माधुर्य का आस्वादन प्राप्त करना ही साधना का मूल लक्ष्य है। विशेषतः लोभमूला रागभक्ति में यदि स्मरणाङ्ग भजन केवल विधिबद्धरूप से नियमपूर्वक अनुष्ठित ही होता है, स्मरणकाल में साधक श्रीराधामाधव के रूप-गुणादि का माधुर्यास्वादन कुछ भी प्राप्त नहीं करता, तो उसे रागभक्ति कैसे कहेंगे? दूसरे शब्दों में, रूपादि का माधुर्यास्वादन प्राप्त होने पर लीलास्मरण अपूर्ण रहे, तो भी यथायथ पूर्णता प्राप्त हो जाती है। श्रील हरिदास दासजी कृत गौड़ीय वैष्णवजीवन द्वितीय खण्ड में गोवर्धन निवासी सिद्ध श्रील कृष्णदास बाबाजी महाराज की जीवनी में लिखा है-जो लोग सिद्धबाबा से भजन की शिक्षा प्राप्त करते, उन सबको वे प्रति रात्रि एक साथ बुलाकर सुनते कौन किस प्रकार भजन कर रहा है और भूल-भ्रान्ति का संशोधन करते। एक दिन एक वैष्णव महात्मा कुछ न कहकर केवल रोने लगे। बाबाजी महाराज ने उन्हें उत्साहित किया, सान्त्वना दी और रोने का कारण पूछा, तो वे बोले-'आज मैं कुछ भी भजन नहीं कर सका। प्रातःकाल प्राणेश्वरी के दायें हाथ में अलङ्कार पहनाने लगा, तो श्रीहस्त की शोभा मन में बैठ गई, सारे दिन वहाँ से मन को हटा नहीं सका।' सिद्ध बाबा बोले-'तुम्हारा ही यथार्थ भजन हुआ है!'

किसी-किसी ग्रन्थ में ''मनेर स्मरण प्राण, मधुर मधुर नाम'' भी देखा गया है। इसका अर्थ इस प्रकार होगा-जो स्मरण मन का प्राण है, वह मधुरादपि मधुर श्रीनाम के आश्रय में ही करना होगा, कारण-स्मरणाङ्ग भजन चित्तशुद्धि की अपेक्षा रखता है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है-''स्मरणन्तु शुद्धान्तःकरण तामपेक्षते।'' (भक्तिसन्दर्भ-२७६) अशुद्ध चित्त या विषय-वासना-मलिन चित्त से मनसंयोग नहीं होता, इसलिये स्मरणाङ्ग भजन भी प्रसन्न नहीं होता। किन्तु नामकीर्तन चित्त शुद्धि की अपेक्षा से रहित है, अशुद्ध चित्त से भी नामकीर्तन होने में बाधा नहीं। नामकीर्तन से चित्तशुद्धि होने पर स्मरणाङ्ग भजन सुचारु रूप से सम्पन्न होता है।

प्रश्न हो सकता है-तब तो शुद्ध अन्तःकरण न होने तक नामकीर्तन का अनुष्ठान किया जाय, शुद्ध अन्तःकरण में स्मरणाङ्ग में मनोसंयोग होने पर नामकीर्तन की और क्या आवश्यकता? इस विषय में श्रीवृहद्भागवतामृत में श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद का सिद्धान्त है कि नामसङ्कीर्तन से स्मरणाङ्ग आस्वादन की

परिपुष्टि होती है और स्मरण या ध्यान से नामरसास्वादन की पुष्टि होती है। दोनों एक-दूसरे के परिपोषक हैं, इसलिये कभी भी नामसङ्कीर्तन को छोड़कर स्मरणाङ्ग भजन की बात नहीं कही जाती। श्रीमत् जीव गोस्वामिपाद ने लिखा है-''शुद्धान्तःकरणश्चेत् नामकीर्त्तनापरित्यागेन स्मरणं कुर्यात्'' (भक्तिसन्दर्भ-२७५) अर्थात् शुद्धान्तःकरण साधक नामकीर्तन के सहयोग से ही स्मरण करें।

फिर कहते हैं-''साध्य साधन एइ, इहा बइ आर नाइ, एइ तत्त्व सर्वविधिसार''। साध्य वस्तु प्राप्ति के लिये जिस उपाय का सहारा लिया जाता है, उसे 'साधन' कहा जाता है और इस साधना या उपाय द्वारा जो वस्तु प्राप्त होती है, उसी उपेय वस्तु को 'साध्य' कहते हैं। ज्ञान योग आदि साधनाओं में साधन और साध्य अलग-अलग होते हैं, किन्तु भक्ति में जो साध्य है वही साधना है। ज्ञानयोग आदि की तुलना में यह भक्तिसाधना की महान् विलक्षणता है। साधनभक्ति, भावभक्ति एवं प्रेमभक्ति एक ही वस्तु की 'तर' और 'तम' अवस्थायें हैं। साधन में जो अपक्व है, सिद्धि में वही परिपक्व है। इसलिये जो लोग साधन में चित्त को लीलास्मरण में अभिनिविष्ट कर सकेंगे, वे सिद्धि में उसी लीला के भीतर स्मरणीय सेवा साक्षात् पाकर धन्य होंगे। इसलिये साध्यवस्तु इससे कोई पृथक् है, सो नहीं, ''इहा बइ आर नाइ''। तभी समस्त शास्त्रों में जीव के लिये कर्तव्य को लेकर जो सब उपदेश दिये गये हैं, उन सबका सारमर्म यही है-''एइ तत्त्व सर्वविधिसार''। श्रीपद्मपुराण में देखा जाता है-''स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुविस्मर्त्तव्यो न जातुचित्। सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्करा:॥'' अर्थात् सर्वदा भगवान् को स्मरण करो, उन्हें कभी भूलना मत। समस्त शास्त्रों में जितने भी विधि-निषेधों का उपदेश है, वे सभी विधियाँ विष्णु स्मरण की और सभी निषेध विष्णु के विस्मरण के किङ्कर या अनुवर्ती हैं। तभी कहा गया है : दस्युओं द्वारा सर्वस्व लूट लिये जाने पर जिस प्रकार विषयी मनुष्य उच्चस्वर से रोदन करता है, उसी प्रकार एक मुहूर्त्त की भी श्रीहरि की विस्मृति होने पर भक्त का उच्चस्वर से रोदन करना उचित है। ''एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मुहूर्त्ते ध्यानवर्जितो दस्युभिर्मुषितेनेव युक्तमाक्रन्दितुं भृशम्॥'' (गरुड़ पुराण) ॥६१॥

जलद-सुन्दर-काँति, मधुर मधुर भाति,

वैदगधि अवधि सुवेश।

पीत-वसन-धर, आभरण-मणिवर,

मयूरचन्द्रिका करु केश॥६२॥

टीका -

मधुर मधुर-मधुरादपि मधुरम् अतिशयमधुरमित्यर्थः॥६२॥

अशेष वेश-वैदग्धी :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय ने रागसाधक के मुख्य साधन स्मरणाङ्ग भक्ति की व्याख्या करते हुए जैसे ही स्मरणकर्ता के (अभीष्ट के) माधुर्य-आस्वादन की बात कही, उनके प्रेममय नेत्रों के आगे माधुर्यमूर्ति श्रीकृष्ण के रूपमाधुर्य का स्फुरण हुआ। तभी वे अब चार त्रिपदियों में उनकी रूपमाधुरी एवं वेशभूषा की परिपाटी वर्णन कर रहे हैं। वे देख रहे हैं, मानो श्रीकृष्ण की मेघश्यामल अङ्गच्छटा से वृन्दावन जगमगा रहा है! तभी पहले उनकी श्रीअङ्गकान्ति की बात करते हैं-''जलद-सुन्दर काँति, मधुर मधुर भाति''। प्रेमिक महाजनों के श्रीकृष्ण-रूप वर्णन में एक आश्चर्यजनक मोहिनीशक्ति विद्यमान है! वे लोग वस्तुतः श्रीकृष्णरूप वर्णन के जादूगर हैं। वह अतीन्द्रिय, केवल प्रेमिकों के प्रेमनेत्रों के गोचर है! यद्यपि श्रीकृष्णरूप वर्णन के योग्य कोई भाषा या भाव विश्व में नहीं, तथापि प्रेमिक कवियों के प्रेमानुभूतिमय भाव और भाषा का ऐसा प्रभाव है कि संक्षिप्त कुछेक बातों से ही वे सहृदय भक्त के चित्त में अप्राकृत भगवत् माधुरी का अपूर्व आस्वादन जगाने में सक्षम हैं। श्रील ठाकुर महाशय ने ''जलद-सुन्दर काँति, मधुर मधुर भाति''-इन छोटे-छोटे कुछेक शब्दों ने श्रीकृष्ण की निरुपम अङ्गकान्ति की कैसी विचित्र अवधारणा कराई है, यह रसिक भावुक भक्त समझेंगे। श्रील ठाकुर महाशय की इस वाणी से हम लोग सामान्यतः यही समझ सकते हैं कि 'जलद' अर्थात् नवीनमेघ से भी अधिक सुन्दर है श्रीकृष्ण की अङ्गकान्ति, जो मधुर से भी सुमधुर रूप में शोभा पा रही है! नीलोत्पल, इन्द्रनीलमणि, दलिताञ्जन, नवजलधर आदि बहुत कुछ वस्तुओं के साथ कविगण श्रीकृष्णरूप की तुलना करते हैं, किन्तु क्या वास्तव में इन प्रापञ्चिक वस्तुओं के साथ प्रपञ्चातीत श्रीकृष्णरूप की तुलना सम्भव है? अनुभवी लोग कहते हैं-श्रीकृष्णरूप अतुलन! उनकी तुलना वे स्वयं हैं। तब भी वे लोग श्रीकृष्ण के रूपानुराग-पिपासु भक्तों को उस रूप की यत्किञ्चित धारणा कराने का प्रयास करते हैं, जैसे श्रीगोविन्ददास ने अपनी पदावली में लिखा है-''कुवलय नीलरतन, दलिताञ्जन मेघपुञ्ज, जिनि वरण सुछान्द'' अर्थात् 'कुवलय' या नीलकमल में कोमलता या स्निग्धता है, किन्तु वह तो रात के समय संकुचित म्लान हो जाता है; तभी कहा 'नीलरतन' या नीलमणि की तरह है श्रीकृष्ण-कान्ति। नीलमणि की प्रभा दिन-रात एक समान रहती है, सही है, किन्तु उसमें क्या श्रीकृष्णकान्ति-जैसी सुचिक्कणता है? तभी कहा-'दलिताञ्जन'। दलिताञ्जन में चिक्कणता है, ठीक, किन्तु रस? सो कहते हैं-'मेघपुञ्ज'। मेघपुञ्ज में रस (जल) तो है, किन्तु क्या उसमें इतनी माधुरी है? सो बोले-'जिनि वरण सुछान्द,' अर्थात् नवकुवलय की स्निग्धता, नीलरतन की प्रभा, दलिताञ्जन को चिक्कणता, मेघपुञ्ज की सरसता-सब मिलकर भी श्रीकृष्णकान्ति के तुल्य नहीं हो सकते। यह अतुलन है। फिर नवीन जलद के साथ दृष्टान्त देने का प्रयास क्यों? भक्त कवि ने उसकी भी सार्थकता दिखाई है-श्रील ज्ञानदास ने राधारानी के रूपानुराग में लिखा है-

''कि रूप देखिलाम कालिन्दीकूले।
अपरूप मेघ कदम्ब-मूले॥

अचल चपला मेघेर गाय।
मृगाङ्करहित शशाङ्क भाय॥
नाचिछे मयूर जलद'परि।
अलिकुल आछे चाँदेरे घेरि॥
आर अपरूप कहिल नहे।
जथा मेघ तथा वारि ना रहे॥
हृदय आकाशे उदय करि।
नयनयुगले बहाय वारि॥
हेन मने लय बिजुरि हये।
जड़ाये थाकि मेघेर गाये॥
ज्ञानदास कहे ना कह आन।
जे कहिला धनि सेइ - त प्रमाण॥''

श्रीराधारानी कह रही हैं-''कालिन्दीकूल पर कदम्बमूल में क्या रूप देखा! अति अपरूप। एक अति आश्चर्यजनक मेघ। आकाश के मेघ में चञ्चल विद्युत शोभा पाती है, किन्तु इस मेघ के अङ्ग में स्थिर विद्युत (पीतवसन) शोभित है। आकाश में मेघ की गोद में पूर्णचन्द्र देखा जाता है, वह सकलङ्क है; इस अपरूप मेघ की गोद में निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र (मुख) परिशोभित है। इस चाँद का भी एक अपूर्वत्व है-इसे घेरे अलिकुल (अलकावली) शोभा पा रहा है! मेघ की एक ओर अपूर्वता यह होती है कि मेघ को आकाश में देखकर पृथ्वी पर मयूर नृत्य करते हैं, किन्तु इस मेघ के ऊपर मयूर नृत्य कर रहा है (मस्तक पर मयूरपुच्छ का चूड़ा)। जहाँ यह मेघ है, वहाँ जल नहीं है; यह तो (दर्शकों के) हृदयाकाश में उदित होकर नेत्रों में जल प्रवाहित कराता है। इस मेघ को देखकर मेरे मन में आता है, बीजुरी (विद्युत) बनकर इस मेघ के शरीर में जड़ी रहूँ।'' ज्ञानदास कहते है-'राधे! अन्य बात (मिथ्या बात) नहीं कही; जो कहती हो, वही प्रामाणिक है।' तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है-यह जलदसुन्दर कान्ति मधुरादपि मधुर है।

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर महाशय श्रीकृष्ण की वेशभूषा की परिपाटी देखकर कहते हैं-''वैदगधि अवधि सुवेश''। ''कलाविलासदिग्धात्मा विदग्ध इति कीर्त्तते'' (भ० र० सि०) विविध कलाविलासों में सुनिपुण को ही 'विदग्ध' कहा जाता है। जिस प्रकार की वेशभूषा से भूषित श्रीकृष्ण हैं, उससे उनकी अशेष केलि-कला-निपुणता का पता चलता है। रूपरस की विशिष्टता में, वेशभूषा की परिपाटी में, भावभङ्गिमा के माधुर्य में धीरललित नायक श्रीब्रजेन्द्रनन्द अद्वितीय हैं। प्राकृत नायक की तो बात ही नहीं, अप्राकृत नायक परव्योमाधिपति मूल नारायण से आरम्भ कर अखिल भगवत् स्वरूपों को रूप-रस की विशिष्टता में पार कर ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही सर्वोपरि विराजमान हैं!! निरपेक्ष दृष्टि से विचार करने पर समझ में आयेगा कि ऐसी रूपमाधुरी भी कहीं नहीं है, वेशभूषा की ऐसी परिपाटी भी कहीं नहीं है। श्रीमन्महाप्रभु के प्रिय पार्षद श्रील रामानन्द राय ने अपने श्रीजगन्नाथवल्लभ नाटक में वर्णन किया है-

''मृदुतर-मारुत-वेल्लि-पल्लववल्ली-वलितशिखण्डम् ।
तिलक-विड़म्बित-मरकत मणितल-बिम्बित, शशधरखण्डम्॥
युवतीमनोहर वेशम्।
कलय कलानिधिमिव धरणीमनु परिणत रूपविशेषम्॥
खेला - दोलायित - मणिमयकुण्डलरुचि - रुचिरनवशोभम्।
हेला - तरलित - मधुर - विलोचन - जनित वधूजन-लोभम्॥''

'मृदुतर मारुत-हिल्लोलों से श्रीकृष्ण के सिर पर शिखिचूड़ा ईषत् आन्दोलित है। मकरत-मणिप्रभ सुनील ललाट पर सुचारु चन्दन का तिलक शशधर-खण्ड की तरह शोभायमान् है। कैसा सुन्दर है युवतीमनोहर वेश!! मानो शारदीय पूर्णशशि ही कोई अपरूप रूप धारण कर धरणी पर अवतीर्ण है! श्रुतिमूलों में मणिमय मकरकुण्डल भाव से भरकर आन्दोलित हैं! खञ्जन तरल दृष्टि वधुओं के लिये लोभोत्पादक है!!' भक्तजन सहज ही समझ सकते हैं कि किसी भी भगवत्स्वरूप की वेश-वैदग्धी इस प्रकार कहीं भी वर्णित नहीं हुई। उल्लिखित श्लोक में श्रील रामानन्द राय के वर्णन में श्रीकृष्ण की वेशपरिपाटी के साथ भाव-परिपाटी का अपूर्व मणिकाञ्चन-संयोग भक्तजनों के लिये परम आस्वाद्य है।

श्रील ठाकुर महाशय इसके पश्चात् स्वयं साढ़े तीन त्रिपदियों में श्रीकृष्ण की वैदग्धीपूर्ण सुवेश-परिपाटी का वर्णन करते हैं। पहले इस त्रिपदी के अर्धांश में कहते हैं-''पीतवसन धर, आभरण मनिवर, मयूरचन्द्रिका करु केश''। श्रीकृष्ण के नवजलद को लजाने वाले श्यामल अङ्ग पर विद्युत की तरह उज्ज्वल पीतवस्त्र सुशोभित है! विचित्र श्रेष्ठ मणिरत्नों के आभरण श्रीअङ्ग पर परिशोभित हैं; अथवा मणिवर कौस्तुभ गले में शोभायमान है। सुकुञ्चित केशकलाप पर मयूरपुच्छ का चूड़ा विन्यस्त है। एक बार नीलाचल में श्रीमन्महाप्रभु को सिन्धुतट पर पुष्पोद्यान में वृन्दावन की स्फूर्ति हुई; रासनायिका गोपिका के आवेश में वे वृक्ष-लतादि से श्रीकृष्ण के विषय में पूछते-पूछते कदम्ब के नीचे कोटि मन्मथ-मोहन श्रीकृष्ण के दर्शन कर मूर्छित हो गये। स्वरूप आदि भक्तजनों के सेवायत्न से जब मूर्छा दूर हुई, तो भावावेश में प्रलाप करते हुए श्रीकृष्ण की अपूर्व रूपमाधुरी का रसोद्गार प्रकट किया -

''नवघन स्निग्ध वर्ण, दलिताञ्जन चिक्कण, इन्दीवर निन्दि सुकोमल।
जिनि उपमानगण, हरे सभार नेत्र-मन, कृष्णकान्ति परम प्रबल॥
कहो सखि! कि करि उपाय?
कृष्णाद्भुत बलाहक, मोर नेत्र चातक, ना देखि पियासे मरि जाय॥
सौदामिनी पीताम्बर, स्थिर रहे निरन्तर, मुक्ताहार बकपाँति भाल।
इन्द्रधनु शिखि-पाखा, उपरे दियाछे देखा, आर धनु वैजयन्ती-माल॥
मुरलीर कलध्वनि, मधुर गर्जन शुनि, वृन्दावने नाचे मोरचय।
अकलङ्क पूर्णकल, लावण्य ज्योत्स्ना झलमल, चित्र चन्द्रेर ताहाते उदय॥
लीलामृत-वरिषणे, सिञ्चे चौद्दभुवने, हेनो मेघ जबे देखा दिलो।
दुर्वैव-झंझा-पवने, मेघ निलो अन्यस्थाने, मरे चातक, पीते न पाइलो॥''

(चै० च० अन्त्य० परि० १५)

श्रीमन्महाप्रभु का आस्वादन (अनुभूति) और श्रील कविराज गोस्वामिपाद की अमर लेखनी! जलदकान्ति श्रीकृष्ण का पीतवसन, मणिभूषण एवं मयूरपुच्छ चूड़ा-यह सब कैसे सरस उपमालङ्कारों में वर्णित हुआ है! सत्य ही यह विश्व में अतुलनीय है॥६२॥

मृगमद - चन्दन, कुंकुम - विलेपन,
मोहन - मूरति - तिरिभङ्ग।
नवीन कुसुमावली, श्रीअङ्गे शोभये भालि,
मधुलोभे फिरे मत्तभृङ्ग॥६३॥

टीका -

नवीन-कुसुमावल्या मधुलोभेन मत्त भृङ्गों यस्य समीपे भ्रमतीत्यर्थः॥६३॥

मोहन त्रिभङ्ग मूर्ति :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में श्रीकृष्ण के श्रीअङ्ग-विलेपन, त्रिभङ्ग-भङ्गिमा (ठाम) एवं कुसुम-माल्यादि की शोभा वर्णन कर रहे हैं। ''मृगमद-चन्दन, कुंकुम-विलेपन''। श्रीकृष्ण के उसी नवजलद-सुन्दर अङ्ग पर कस्तूरी, चन्दन एवं कुंकुमादि की चर्चा या तिलक शोभा पा रहा है। अमृतसिन्धु में जो कुछ पड़ जाता है, वही अमृतमय हो जाता है। उसी प्रकार माधुर्यसिन्धु श्रीगोविन्द के श्रीअङ्ग पर जो पड़ गया, वही माधुर्यमय हो गया! श्रीपाद शुकमुनि ने नन्दप्राङ्गण में घुटनों चलते गोपाल के श्रीअङ्ग में कीचड़ का अङ्गराग वर्णन किया है। कैशोरलीला में उत्तरगोष्ठ में गोरजच्छूरित (गायों के खुरों से उड़ी रज से भरे) श्रीअङ्ग एवं चूर्ण कुन्तलराजि की माधुरी पर व्रजसुन्दरियों की मुग्धता वर्णित हुई है। उसी मधुरातिमधुर श्रीअङ्ग पर कस्तूरी, चन्दन आदि की चर्चा का कैसा मनोहारीत्व है, उसे कौन बता सकता है? उस रसकलेवर पर चन्दनादि का विलेपन अपूर्व माधुर्यमण्डित है, यही व्यक्त हुआ है। कवि जयदेव ने गाया है-

''चन्दनचर्चित नीलकलेवर पीतवसन वनमाली।
केलिचलन्मणि-कुण्डल-मण्डित गण्डयुगस्मितशाली॥''

पूर्वराग की स्थिति में श्रीकृष्ण के ललाट पर चन्दन का मात्र एक टीका देखकर विमोहित हुई राधारानी ने सखी से कहा था-

''कि हेरिलुँ कदम्बतलाते।
बिनि परिचये मोर, पराण केमन करे,
जिते कि पारिये पासरिते॥
कपाले चन्दन चाँद, कामिनी मोहन फाँद,
आन्धारे करियाछे आला।
मेघेर उपरे चाँद, सदाइ उदय करे,
निशिदिशि शशि षोलोकला॥''

(अनन्तदास)

'सखि! कदम्बतले यह क्या देख लिया! उसका परिचय नहीं जानती, फिर भी मेरे प्राण जाने कैसे कर रहे हैं। उसे प्राण रहते क्या भूल सकती हूँ? सखि! उसके कपाल पर लगा है चन्दन का चाँद, मानो कामिनी को मोहित करने के लिये फन्दा है। मरकत शिलातुल्य प्रशस्त ललाट-फलक पर चन्दन का बिन्दु, लगता है जैसे मेघ के ऊपर पूर्णचन्द्र उगा है। अन्धकार में भी प्रकाश किये है। मेघ के ऊपर चन्द्रमा रहता है, तो प्रायशः उसे मेघ ढके रहते हैं, किन्तु यह चन्दन-चाँद मेघ के ऊपर सदा ही उदित रहता है। फिर यह चाँद दिन-रात समान रूप से उज्ज्वल रहता है।'

श्रीज्ञानदास के पद में भी देखा जाता है-

''चन्दनेर चान्द माझे मृगमद धान्दा।
तार माझे पराण पुतली रैला बान्धा॥''

इसके पश्चात् त्रिभङ्गी अदा को माधुरी बताते हैं-''मोहन-मूरति तिरिभङ्ग''। त्रिभङ्ग अर्थात् जानु, कटि और ग्रीवा इन तीन स्थानों में वक्र। त्रिभङ्ग क्यों? ब्रजदेवियाँ सोचती हैं कि माधुर्य का भार वहन करने में अक्षम होकर ही त्रिभङ्ग आकृति बनी है! श्रीराधापादपद्मनिष्ठ गौड़ीय वैष्णव सोचते हैं कि प्रेममयी राधारानी के वस्त्र का प्रान्तदेश (छोर) स्पर्श करने के लिये ही त्रिभङ्गललित भङ्गिमा बनी है! वही त्रिभङ्ग ललित मूर्ति दर्शक के नेत्रों में अत्यन्त मोहन है। केवल प्रेमिक के नयनों में ही नहीं, आब्रह्म स्तम्ब (कीट) तक नयनधारी मात्र को मोहित करने वाली है यह भगवत् माधुरी। हाँ, किञ्चित् महत् कृपा का संयोग चाहिये।

कहते हैं, श्रीरामानुज स्वामी ने कृपा कर धनुर्दास नामक एक मल्ल को श्रीरङ्गनाथ विग्रह के दर्शन कराये थे। धनुर्दास एक सुन्दर रमणी को घोड़े पर बिठाकर धूप से बचाने के लिये उसने सिर पर एक छत्र लगाये रङ्गनाथ-दर्शन के लिये आया था। इस कदाचार के लिये तिरस्कृत होकर उसने कहा था कि इस रमणी का रूपमाधुर्य जगत् में दुर्लभ मानकर ही वह इसकी सेवा करता है। उसकी बात सुनकर श्रीपाद रामानुजस्वामी के हृदय में कृपा का उद्रेक हुआ, उन्होंने उसे सम्बोधित कर कहा-''धनुर्दास! तुम यदि एक बार रङ्गनाथ का रूपमाधुर्य दर्शन कर लो, तो इस कुत्सित स्त्री का मुख और कभी नहीं देखोगे।' उनकी बात पर विस्मित होकर

उसने कहा-'स्वामिन्! मैंने रङ्गनाथ के दर्शन किये हैं, पर कहाँ, आपकी बात की सत्यता तो नहीं देख पाया।' तब स्वामीजी ने स्वयं उसका हाथ पकड़कर ठाकुर के आगे आकर कहा था -

''अयं धनुर्दास रमाधिनाथ श्रीरङ्गनाथो जगतामधीशः।
अस्याक्षिवैपुल्यमिदं त्वयाद्य दृष्टं किलैवाप्रतिमं हि सम्यक्॥''

'वत्स धनुर्दास! तुम एक बार रङ्गनाथ के दर्शन करो। वह देखो, त्रिजगत् के अधीश्वर रमानाथ श्रीरङ्गनाथ तुम्हारे आगे विराजमान हैं। असमोर्ध्व सौन्दर्य-माधुर्य-निकेतन श्रीरङ्गनाथ के इन विशाल नयनों को प्राण भरकर निहारो।'

श्रीपाद रामानुजस्वामी की करुणा से धनुर्दास को जगन्मोहन श्रीरङ्गनाथ के विग्रह-दर्शन से आनन्दमूर्छा आ गई। उसने चिरकाल के लिये उस सौन्दर्यामृतसिन्धु में मग्न हो सब कुछ त्यागकर स्वामीजी के आश्रय में श्रीरङ्गनाथ की सेवा में शेष जीवन बिताया।

साक्षात् माधुर्य-मूर्ति त्रिभङ्ग-ललित श्रीगोविन्द के माधुर्य की तो तुलना ही नहीं; उनके दर्शन कर नयन-मन जिस प्रकार मग्न होते हैं, वैसे आकृष्ट अन्य भगवत्स्वरूप के प्रति भी नहीं होते। श्रील विल्वमङ्गल के श्रीकृष्णकर्णामृत (श्लोक २२) में देखा जाता है-

''विचित्रपत्रांकुरशालिवालास्तनान्तरं यामः वनान्तरं वा।
अपास्य वृन्दावनपादलास्यमुपास्यमन्यं न विलोकयाम्॥''

इस श्लोक के बाह्यार्थ में श्रीमत् कविराज गोस्वामिपाद की 'सारङ्गरङ्गदा' टीका में जो लिखा है, उसका मर्मार्थ इस प्रकार है-प्रेमोन्माद की अवस्था में दक्षिण से वृन्दावन आते समय मार्ग में मूर्छित हुए श्रीलीलाशुक को देखकर साथ के वैष्णवों ने उन्हें चैतन्य करा कहा-'स्वामिन्! आपके प्रिय श्रीकृष्ण तो सर्वत्र ही विद्यमान हैं; यहाँ (दक्षिणदेश में) श्रीविठ्ठलनाथ श्रीरङ्गनाथ रूप में भी वे ही विराजमान हैं, अतएव आप उनकी मूर्तियों के दर्शन कीजिये, विरहतम प्राणों को शान्ति मिलेगी।' इस प्रकार तसल्ली देने वाले सङ्गी से श्रीलीलाशुक बोले-'व्रजबालाओं में सर्वश्रेष्ठ श्रीराधा द्वारा परिवृत श्रीकृष्ण के अतिरिक्त मैं अन्य किसी उपास्य को नहीं देखूँगा, यही मेरी निष्ठा है। इसलिये मैं श्रीवृन्दावन ही जाऊँगा।'

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''नवीन कुसुमावली, श्रीअङ्गे शोभये भालि, मधुलोभे फिरे मत्तभृङ्ग''। उस त्रिभङ्ग-ललित मोहन मूर्ति पर सद्य प्रस्फुटित नवीन कुसुमावली की माला परिशोभित है। कानों में और मस्तक पर अम्लान कुसुमराजि विराजित है। उन कुसुमों की मधुगन्ध से मत्त होकर भृङ्गराजि श्रीअङ्ग के चारों ओर झङ्कार करती फिर रही है। श्रीकृष्ण के श्रीअङ्ग की कुसुमराजि निरन्तर नवीन है, कारण-जिसे श्रीकृष्ण बड़े प्यार और आदर से अपने कण्ठ में या अङ्ग पर धारण करते हैं, वह अच्छेद्य है; अक्लेद्य, अदाह्य और अशोष्य है! व्रजसुन्दरियाँ देखती हैं-

''मालती - फूलेर मालाटि गले, हियार माझारे दोले।
उठिया पड़िया मातल भ्रमरा, घुरिया घुरिया बुले॥''

कोई उस माला को देखकर आनन्दविह्वल चित्त हो सोचती है-

''विनोद गले, विनोद माला, विनोद विनोद दुले।
कोन् विनोदिनी, गाँथिलो माला, विनोद विनोद फूले''॥६३॥

ईषत् मधुरस्मित, वैदगधि-लीलामृत,
लुबधल व्रजवधु वृन्द।
चरण-कमल पर, मणिमय नूपुर,
नखमणि जेनो बालचन्द्र॥६४॥

व्रजवधुओं को लुब्धता :

सुधाकणिका व्याख्या : परमपूज्यपाद श्रील ग्रन्थकार महोदय इस त्रिपदी में श्रीकृष्ण के मृदुमधुर हास्य, विदग्धतापूर्ण लीलामृत, नूपुरों एवं नखचन्द्रमणियों की शोभा का वर्णन कर रहे हैं। ''रसो वै सः'' ''सर्वेषां भूतानाम् मधु'' भगवान् को किस प्रकार रसमय और मधुमय रूप में अनुभव किया जाता है, उनकी सर्वोत्कृष्ट व्रजलीला के रस का आस्वादन कैसे किया जाता है-इस विषय में प्रेमिक कविगण ही उत्तम पथ-प्रदर्शक हैं। उन लोगों के वर्णन में व्रजमाधुरी का झरना बहता है। जिस माधुरी के यत्किञ्चित् अनुभव से विषयवासना-वासित चित्त में भी गोलोक की पवित्रता सञ्चारित होती है और प्रतप्त शुष्क मरुहृदय में भी प्रेमभक्ति की मन्दाकिनीधारा प्रवाहित होने लगती है! फिर प्रेमिक भक्त भले ही प्रचुरतर माधुरी का आस्वादन करे, सर्वग्रासी भूख जगाकर उसके आस्वादन को अनन्त किये रखना ही श्रीकृष्णमाधुर्य का स्वभाव है। श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद के आगे श्रीकृष्णमाधुरी का वर्णन करते-करते श्रीमन्महाप्रभु माधुर्य के असीम प्रवाह में डूब गये थे, फिर भी श्रीसनातन से कहा था-''सनातन! कृष्ण-माधुर्य अमृतेर सिन्धु। मोर मन सान्निपाति, सब पिते करे मति, दुर्दैव वैद्य ना देय एक बिन्दु॥'' जितना आस्वादन, उतनी पिपासा-जितनी पिपासा, उतना आस्वादन!!

श्रील ठाकुर महाशय पहले श्रीकृष्ण के मन्दहास्य की और विदग्धतापूर्ण लीलामृत की माधुरी का वर्णन करते हैं-''ईषत् मधुरस्मित, वैदगधि-लीलामृत, लुबधल व्रजवधुवृन्द'' अर्थात् जो मृदुमधुर हास्य और विदग्धतापूर्ण लीलमृत या विचित्र केलि-कला-रसिकता की भावभङ्गिमा-मधुरिमा द्वारा व्रजवधुओं को प्रलुब्ध कर रहे हैं। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने मृदु मधुर हास्य का प्रभाव बताया है (श्रीगोविन्द-विरुदावली-१९) ''प्रपन्नजनतातमः क्षपणशारदेन्दुप्रभा-व्रजाम्बुजविलोचना- स्मरसमृद्धिसिद्धौषधिः। विड़म्बितसुधाम्बुधिप्रबल-माधुरीडम्बरा, विभर्त्तु तव माधव स्मितकड़म्बकान्तिर्मुदम्॥''

'हे माधव! शरणागतजन का हृदयअंधकार नाश करने वाली, व्रजरमणियों की अनङ्गवृद्धि करने वाली, सुधासिन्धु का माधुर्य हरण करने वाली, चन्द्रकान्ति की तरह तुम्हारी मृदुमधुर हास्यकान्ति मुझे असीम आनन्द प्रदान करे।' श्रीमद्भागवत में श्रीश्रीरासलीला में श्रीकृष्ण के मृदुमधुर हास्य-माधुर्य पर एवं केलिकला-रसिकता की भावभङ्गिमा चातुर्य पर ब्रजसुन्दरियों की लुब्धता उन सबने अपने मुख से ही बार-बार बताई है! श्रीकृष्ण के उपेक्षा-वचन सुनकर कहती हैं (१०/२९/३५) -

''सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतज-हृच्छयाग्निम्।
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥''

'हे श्रीकृष्ण! तुम्हारी सहास्यदृष्टि एवं मधुर मुरलीरव से हम लोगों के हृदय में जो कामाग्नि प्रज्ज्वलित हुई है, उसे अपने ही अधरामृत-प्रवाह से निर्वापित करो, अन्यथा हे सखे! हम सब तुम्हारी विरहाग्नि में दग्ध होकर तुम्हारे श्रीचरणों का ध्यान करते-करते जन्मान्तर में तुम्हारे श्रीचरणों के निकट जा पहुँचेगी।'

फिर कहती हैं (१०/२९/३८)

''तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽन्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्तदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥''

'हे सर्वदुःखहारिन! हम लोग तुम्हारे श्रीचरण से वन की आशा से गृहादि त्यागकर तुम्हारे चरणप्रान्त में आई हैं, हे पुरुषरत्न! तुम्हारे सहास्य कुटिल दृष्टि-निक्षेप से हमारे देह-मन स्मरताप से दग्ध हो रहे हैं। हमारा अभिलषित सेवाधिकार देकर हमें कृतार्थ करो।''

श्रीगोपीगीता (श्लोक १०/३१/१०) में कहती हैं-

''प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितं विहरणञ्च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि॥''

'हे प्रिय! हे कपट-शिरोमणे! तुम्हारा मुदुमधुर हास्य, सप्रेम कटाक्षदृष्टि-सञ्चार एवं मिलन-सङ्केतयुक्त अङ्गभङ्गिमा देखकर, निर्जन में बजी तुम्हारी वंशी का नाद सुनकर, तुम्हारे परिहासवचन सुनकर हमारे चित्तमन क्षुब्ध हो गये हैं।'

फिर (श्लोक १०/३१/१७) कहती हैं-

''रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।
वृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः॥''

'निर्जन में तुमसे रतिप्रार्थना-व्यञ्जक वार्ता कर, ऐसा स्मितवदन जिससे कामोदय हो, सप्रेम दृष्टि, शोभानिकेतन तुम्हारा विशाल वक्षस्थल-यह सब देखकर अत्यन्त स्पृहावश हमारे मन बार-बार मोहग्रस्त हो रहे हैं।'

महाजनों के पदों में श्रीराधा के पूर्वराग में श्रीकृष्ण के ईषत् मधुरस्मित और वैदग्धीलीलामृत पर व्रजसुन्दरियों की लुब्धता या मोहनता का अनवद्य (निर्मल) वर्णन मिलता है-

''चिकन काला गलाय माला वाजन-नूपुर पाय।
चूड़ार फुले भ्रमर बुले तेरछ नयाने चाय॥
कालिन्दीर कूले कि आज पेखलुँ छलिया नागर कान।
घर मुजाइते नारिलुँ सइ आकुल करिलो प्राण॥
चान्द-झलमलि मयूरेर पाखा चूड़ाय उड़ये बाय।
ईषत हासि मधुर बाँशी मधुर मधुर गाय॥
रसेर भरे अङ्ग ना धरे केलि-कदम्बे हेला।
कुलवती सती युवती जनार पराण लइया खेला॥
श्रवणे चञ्चल मकर-कुण्डल पिन्धन पियल बास।
राता उतपल चरण युगल निछनि गोविन्द दास॥''

(पदकल्पतरु)

महाजन ने और भी गाया है-

''ढल ढल सजल, जलद तनु शोहन, मोहन आभरण साज।
अरुण नयन गति, बिजुरि चमक जिति, दगधल कुलवती लाज॥
सजनि! जब धरि पेखलुँ कान।
तब धरि जगभरि, भरल कुसुमशर, नयने ना हेरिये आन॥
मझु मुख दरशि, विहसि तनु मोड़इ, विगलित मोहन वंश।
ना जानिये कोन्, मनोरथे आकुल, किशलय दले करु दंश॥
अतये से मझु मन, ज्वलतहि अनुखन, दोलत चपल पराण।
गोविन्ददास, मिछइ आसोयासल, अबहुँ ना मिलल कान॥''

इसके पश्चात् उत्तरार्ध में श्रीकृष्ण के श्रीचरणकमल, मणिमय नूपुर एवं श्रीचरणनख-इनके माधुर्य का वर्णन करते हैं। ''चरणकमल पर, मणिमय नूपुर, नखमणि जेनो बालचन्द्र''। श्रीकृष्ण के निरुपम श्रीचरणों की कमल के साथ तुलना करने की सार्थकता आनन्दवृन्दावन चम्पू के मङ्गलाचरण में कवि कर्णपूर द्वारा दिखाई गई है-

''शोणस्निग्धांगुलीदलकुलं जातरागं परागैः
श्रीराधायाः स्तनमुकुलयोः कुंकुम-क्षोदरूपैः।
भक्तश्रद्धामधुनखमहः पुञ्ज किञ्जल्कजालं
जङ्घानालं चरणकमलं पातु नः पूतनारे॥''

'रक्तवर्ण स्निग्ध अँगुलियाँ ही जिन चरणकमलों की दलराजि है, श्रीराधा के स्तनमुकुलों से आलिङ्गनबद्ध कुंकुमचूर्ण ही जिनका पराग है, भक्तों की श्रद्धा ही मधु है, नखावली का प्रभापुञ्ज ही जिनका केशरजाल है एवं श्रीकृष्ण के जानुद्वय ही जिन चरणपद्मों के नालस्वरूप हैं, पूतनारि श्रीकृष्ण के वे श्रीचरणकमल ही हम लोगों की सतत रक्षा करें।' वे ही श्रीचरणकमलद्वय मणिनूपुरों से सतत मुखरित हैं। श्रीपाद लीलाशुक ने इसका अनुभव प्राप्त कर कहा है-

''मणिनूपुरवाचालं वन्दे तच्चरणं विभोः।
ललितानि यदीयानि लक्ष्माणि व्रजवीथिषु॥''

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्-१६)

अर्थात् मणिनूपुरों की ध्वनि से मुखरित श्रीकृष्ण के श्रीचरणकमलों की वन्दना करता हूँ; व्रज के पथ-पथ पर जिन चरणों के मनोहर चिन्हसमूह विराजित हैं। इसके पश्चात् उन्हीं मणिमय नूपुरों के माधुर्य का स्फुरण होने पर कहते हैं-

''मम चेतसि स्फुरतु वल्लवीविभोर्मणिनूपुरप्रणयि मञ्जुशिञ्जितम्।
कमलावनेचरकलिन्दकन्यकाकलहंसकण्ठकलकूजितादृतम्॥''

(वही १७)

'कालिन्दी के कमलवनों में विचरण करने वाले कलहंस के कलकण्ठ से निकले कूजन से भी मधुर वल्लवी-वल्लभ श्रीकृष्ण के पदकमलों के मणिमय नूपुरों की मनोज्ञ ध्वनि मेरे चित्त में स्फुरित हो।''

श्रील ठाकुर महाशय श्रीचरणनखराजि के माधुर्य का वर्णन करते हैं-''नखमणि जेनो बालचन्द्र''। चन्द्रकला की तरह उज्ज्वल और आकृतिसमन्वित हैं श्रीकृष्ण की नखमणियाँ। ''नखमणि झलमल चन्द्र'' - यह पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ होगा श्रीचरणों की नखराजिरूपी मणियाँ झिलमिला रही हैं! श्रीचैतन्यचन्द्रोदयनाटक (७/१५) में श्रीपाद कवि कर्णपूर ने लिखा है-

''लीढ़ानेव पथश्चकोरयुवतीयूथेन याः कुर्वते
सद्यः स्फाटिकयन्ति रत्नघटितां याः पादपीठावलीम्।
याः प्रक्षालितमृष्टयोर्जललव प्रस्यन्दशङ्काकृतस्ताः
कृष्णस्य पदाब्जयोर्नखमणिज्योत्स्नाश्चिरं पान्तु नः॥''

अर्थात् 'जो चकोरियों को आकर्षित कर उनके द्वारा पथों को मानो चटवा कर स्वच्छ करा लेता है, जो रत्नजड़ित पादपीठों को सद्य स्फटिकमय करता है, जिसे देखकर भ्रम होता है कि प्रक्षालित एवं मार्जित (धुले-पुछे) चरणद्वय से जलकण क्षरित हो रहे हैं-श्रीकृष्ण के श्रीचरणकमलयुगल का वही नखमणि-ज्योत्स्नापुञ्ज हम लोगों की चिरकाल रक्षा करे'॥६४॥

नूपुर मराल ध्वनि, कुलवधु मरालिनी,
शुनिया रहिते नारे घरे।
हृदये बाड़ाय रति, जेनो मिले पति सती,
कुलेर धरम गेलो दूरे॥६५॥

परकीयरस :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में श्रीकृष्ण की नूपुरध्वनि के माधुर्य के प्रसङ्ग में व्रजरमणियों के परकीयरस की माधुरी का वर्णन कर रहे हैं। श्रीकृष्ण के श्रीचरणों में विन्यस्त नूपुरों की ध्वनि राजहंस की ध्वनि की तरह अत्यन्त मधुर है। जैसे हंस की ध्वनि सुनकर हँसिनियाँ आकृष्ट होकर उसी ओर दौड़ती हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण के नूपुरों की अति मनोज्ञ ध्वनि सुनकर व्रज की कुलवधुएं घरों में और नहीं रह सकतीं; वे राजहँसिनियों की तरह कुलधर्म विसर्जित कर श्रीगोविन्द से मिलने के लिये तीव्र अनुराग के साथ दौड़ती हैं-उसी प्रकार जैसे पतिव्रतायें हृदय के प्रगाढ़ अनुराग को ले अपने पतियों से मिलने जाती हैं।

'कुलवधु मरालिनी' 'कुलेर धरम गेलो दूरे'-इत्यादि से यही ज्ञात होता है कि व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्ण की परोढ़ा कान्तायें या परकीय प्रेयसियाँ हैं। जो श्रीकृष्ण की ही ह्लादिनीशक्ति या नित्यप्रेयसियाँ हैं-शक्ति और शक्तिमान् भाव से अग्नि और उनकी दाहिका शक्ति की तरह श्रीकृष्ण के स्वरूपतः अभिन्न हैं, वे नित्य कान्तायें ही श्रीकृष्ण की अघटन-घटनपटीयसी शक्ति योगमाया के प्रभाव से परोढ़ा अभिमान रखती हैं। वे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य पुरुष को कभी देखती नहीं (उसके विषय में सोचने की बात तो बहुत दूर); जो लोग उनके पतिन्मन्य (पति माने जाते) हैं, वे कभी उनकी छाया तक नहीं देख पाते (दर्श-पर्श की बात तो दूर)। पर योगमाया ने ऐसा अनिर्वचनीय प्रभाव विस्तार किया है कि श्रीकृष्ण की नित्य प्रियायें भ्रान्त हो पतिन्मन्य गोपों को पति और अपने यथार्थ पति श्रीकृष्ण को उपपति समझती हैं। अव्याहतज्ञान (अबाध ज्ञानस्वरूप) श्रीकृष्ण भी अपनी योगमाया शक्ति के प्रभाव से उन नित्यप्रिया व्रजसुन्दरियों के उपपति होने का अभिमान रखते हैं। इसलिये श्रीकृष्ण से भिन्न पतिन्मन्य गोपों को पति समझने पर भी वस्तुतः व्रजदेवियों का सतीत्व नहीं जाता एवं श्रीकृष्ण की परदारिकता भी नहीं होती (परस्त्री में आसक्ति का दोष भी नहीं लगता)। केवल योगमाया के प्रभाव से व्रजवधुएं स्वयं को अन्य गोपों की पत्नियाँ समझती हैं एवं उनके बन्धुबान्धव तथा श्रीकृष्ण भी वही समझते हैं। यही कारण है कि श्रीकृष्ण के दर्शनादि से कुलधर्म नष्ट हो गया ऐसा उन्हें ज्ञान होता है एवं श्रीकृष्ण भी स्वयं को पररमणी-सङ्गी समझते हैं। यह सभी भ्रम है; यह भ्रम अनादि काल से है और अनन्तकाल क इसी प्रकार रहेगा। यह योगमाया कल्पित होने से अज्ञानकार्य नहीं है, चित्शक्ति की वृत्तिविशेष है। इस भ्रम के द्वारा आनन्दमय श्रीकृष्ण एवं आनन्दिनीशक्ति व्रजदेवियाँ परस्पर विपुल आकर्षणमय और अनुरागमय नित्य नवनवायमान आनन्दराशि का आस्वादन किया करते हैं। तभी श्रीचैतन्यचरितामृत (आदि०, परि० ४) में लिखा है-

''परकीयभावे अति रसेर उल्लास।
व्रज बिनु इहार अन्यत्र नाहि वास॥''

परकीयरस का असाधारण धर्म यही है कि इसमें आस्वादन-वैचित्री की असीमता प्रकट होती है। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने अपने उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में भरतमुनि का वचन उद्धृत कर उसका हेतु निरूपित किया है-

''बहुवार्यते खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वञ्च।
या च मिथो दुर्लभता सा मन्मथस्य परमारतिः॥''

अर्थात् ''जिस रति में नायक-नायिका के परस्पर के मिलन में बहुत बाधा रहती है, जिसमें नायक-नायिका का कामभाव प्रच्छन्न रहता है और जो परस्पर दुर्लभतामयी है-वह श्रृङ्गार-विषयिणी रति ही परम श्रेष्ठ है।' कारण-जिस रति में एक-दूसरे से मिलने में बहुत-से निषेध और मृगनयनाओं की दुर्लभता प्रकट होती है, उसी रति में नायकों का चित्त अत्यन्त आसक्त रहता है। नायिकाओं की भी अतिशय उत्कण्ठा या व्याकुलता जगती है और पारस्परिक मिलन अत्यन्त अनुरागमय तथा आस्वाद-मधुर हो जाता है।

प्रश्न हो सकता है, प्राकृतशास्त्रों में परोढ़ाओं का रस स्वीकार नहीं किया गया, उसे वरन् रसाभास-दोष से दूषित कहा गया है, इसलिये परोढ़ा व्रजबालाओं का रस कैसे स्वीकार किया जाय? इसीलिये कहा गया है ''व्रज बिनु इहार अन्यत्र नाहि वास''। श्रीकृष्णप्रिया व्रजनायिकाओं को छोड़ अन्य नायिका में परोढ़ा रसाभास या रस-विघातक है; व्रजदेवियों में यह रसाभास न होकर रसनिर्यास ही हुआ है। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने उज्ज्वलनीलमणि में पूर्वाचार्य का वचन उद्धृत किया है-''नेष्टा यदङ्गिनी रसे कविभिः परोढ़ास्तद्गोकुलम्बुजदृशां कुलमन्तरेण'' अर्थात् कवियों ने मधुरस में जिस परोढ़ा को रसविघातक कहा है, वह ब्रजाङ्गनाओं को छोड़ अन्य नायिका के सम्बन्ध में ही है। व्रज-नायिकाओं में परकीयभाव दोषावह न होने का कारण यही है कि वे आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविता श्रीकृष्ण की स्वरूपभूता ह्लादिनीशक्ति की परिणतिरूपा हैं; वे श्रीकृष्ण की ही नित्यकान्तायें हैं; उनका परकीयभाव योगमायामोहित स्वजनों द्वारा आरोपित भ्रम मात्र है। इसलिये वे भाव में ही परकीय हैं, तत्वतः नित्यकान्तायें हैं। रसिकेन्द्रमौलि श्रीकृष्ण को कोई अद्भुत रसनिर्यास आस्वादन कराने के लिये ही यह योगमाया की परिपाटी (योजना, विशेष व्यवस्था) है। इसलिये व्रज का परकीय भाव रसदूषण न होकर परम रसभूषण हुआ है। तभी उद्धव-जैसे महामनीषी ने सानन्द साश्चर्य व्रजसुन्दरियों के परकीय भाव की भूयसी प्रशंसा की है; उन लोगों के प्रति महा भक्ति उत्पन्न होने पर उनकी मात्र एक श्रीचरणरेणुकणिका द्वारा अभिषिक्त होने की अभिलाषा से व्रजवन में तृण-गुल्म आदि के रूप में जन्म लेने के लिये प्रार्थना की है-

''आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥''

(भा० १०/४७/६१)

'अहा! जिन व्रजदेवियों ने दुस्त्यज पति-पुत्रादि स्वजन एवं आर्यपथ (पातिव्रत्य) का परित्याग कर श्रुतियों द्वारा अन्वेषणीय (अति दुर्लभ) श्रीकृष्ण-प्रेमभक्ति का मार्ग पकड़ा है, उनकी चरणरेणुसेवी वृन्दावन की गुल्म-लता-औषधियों में से कोई एक बन सकूँ।' इस श्लोक की लघुतोषणी टीका में श्रीमत् जीव गोस्वामिपाद ने लिखा है-''श्रुतिभिः कर्त्रीभिर्विमृग्यां परमपुरुषार्थतयान्वेषणीयाम्। किं कृत्वा भेजुः? स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा, लोकमर्यादा वेदमर्यादाञ्च त्यक्त्वेत्यर्थः। तत्तु दुस्त्यजं पूर्वोक्ते श्रीप्रभृतिभिः सर्वैरप्यत्याज्यम्। ते खलु सर्वलोकसर्वमहावेद-पुरुषार्थ-सारबुद्ध्यैव भजन्तीत्यतो न तेषु रागोत्कट्यमेव कारणमित्येता एवासमोर्द्धरागा इति भावः। तदेवं मुकुन्दपदवीमिति तत्रापि श्रुतिभिर्विमृग्यामिति तस्या नित्यत्वं सर्वोत्तमत्वञ्च गम्यते।'' टीका का मर्म यह है : श्रुतियाँ परमपुरुषार्थबोध से जिस प्रेमभक्ति के मार्ग को खोजती रहती हैं, गोपियों ने स्वजन एवं आर्यपथ (पतिव्रता धर्म) त्याग कर अर्थात् लोकमर्यादा एवं वेदमर्यादा का उल्लंघन कर उसी पदवी का सहारा लिया था। लोकमर्यादा और वेदमर्यादा का उल्लंघन अत्यन्त दुरूह है; इस श्लोक से पहले उद्धवजी ने जिस 'नायं श्रियोऽङ्ग' श्लोक में व्रजसुन्दरियों की लक्ष्मी-विजयवार्ता की घोषणा की है, उसके अनुसार लक्ष्मी आदि हरिप्रियाओं के लिये स्वजन और वेदमर्यादा उल्लंघन करना असम्भव है, कारण-वे लोग श्रीकृष्ण को सर्वलोक सर्वमहावेद का पुरुषार्थसार मान उसी बुद्धि से उनका भजन कर रही हैं। अतएव उन लक्ष्मी आदि की राग-उत्कटता या प्रेममयी पिपासा ही श्रीहरि-भजन का कारण नहीं। व्रजाङ्गनायें ही असमोर्द्ध अनुरागवती मानी गई हैं। इससे और भी समक्ष में आता है कि मुकुन्दप्राप्ति के उपाय के रूप में उनका भजन श्रुतियों द्वारा अन्वेषणीय है-ऐसा उल्लेख रहने से उनकी राग-उत्कटता या परकीय भाव का नित्यत्व एवं सर्वोत्तमत्व भी बताया गया है। व्रजवधुओं के परकीय भाव में भगवान् का गाढ़ आवेश और ऋणी होने की स्वीकृति ''न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां'' (१०/३२/२२) श्लोक में वर्णित है। इसलिये साधुकुल-मुकुटमणि उद्धवजी, शास्त्रकुल-मुकुटमणि श्रीमद्भागवत एवं भगवत्स्वरूप-मुकुटमणि श्रीकृष्ण-इन तीनों का ही व्रज के परकीय भाव में परम आवेश देखा जाता है।

कोई-कोई ऐसा सोचते हैं कि परकीय व्यवहार अधर्मभावसम्बलित होने से जो इसका श्रवण कीर्तन स्मरण करता है, उसका चित्त अधर्मभाव से आक्रान्त हो जाय, इसकी सम्भावना है। जो लोग इस प्रकार व्रजवधुओं के परकीयभाव के विरोधी हैं, उन पर आक्षेप करते हुए श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने कहा है-''आः किम्वान्यद् यतस्तस्यामिदमेव महामुनिः। जगौ पारमहंस्याञ्च संहितायां स्वयं शुकः॥'' और की तो बात क्या, मायामुक्त पुरुष साक्षात् महामुनि श्रीशुकदेव ने व्रजवधुओं के इस परकीय व्यवहार का वर्णन परमहंस-संहिता श्रीमद्भागवत की महती सभा में गानच्छद में परम आवेश से भरकर किया है। यदि व्रजवधुओं के परकीयभाव का श्रवण-कीर्तन अनिष्टकारी होता, तो महामुनि श्रीशुकदेव इस प्रकार सुस्पष्टरूप से सम्भोगरस का वर्णन न करते-''कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः। ररामभगवांस्ताभिरात्मारामोऽपिलीलया'', अर्थात् षड़ैश्वर्यशाली स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम होकर भी जितनी गोपियाँ उतनी मूर्तियाँ धारण कर उनके साथ विलास करने लगे। इस महाप्रेम की लीला के श्रवण कीर्तन स्मरण से कोई भी व्यक्ति प्रेमलाभ कर धन्य हो सकता है, यह बात रासलीला के अन्त में फलश्रुति में श्रीशुकमुनि ने सुस्पष्ट रूप से बताई है और इस प्रेममय लीला की महाप्रेमप्रदायिनी शक्ति की बात तारस्वर से घोषित की है-

''विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोहनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीर॥''

अर्थात् 'जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक व्रजवधुओं के साथ श्रीकृष्ण के इस रासादि विहार को निरन्तर श्रवण करता है और वर्णन करता है, वह अविलम्ब श्रीकृष्ण में पराभक्ति प्राप्त कर हृदयरोग काम का परिहार कर परम धीरता प्राप्त करता है।'

कोई-कोई ऐसा कहते हैं-'प्रकटलीला में ही श्रीकृष्ण व्रजवधुओं को परकीयभाव में विभावित कर रसोल्लास आस्वादन करते हैं, अप्रकट में परकीयभाव की स्थिति नहीं है, इसलिए जो लोग परकीय भाव से उपासना करते हैं, उन्हें भी स्वकीयभाव से ही प्राप्ति होती है; श्रीजीवगोस्वामिपाद ने भी गोपालचम्पू ग्रन्थ में स्वकीया लीला के अन्त में परकीयभाव की लीला से ही परिसमाप्तिकी है।'

ऐसा मन्तव्य युक्तिसङ्गत नहीं, कारण-जिन्होंने साधक अवस्था में परकीयभाव का श्रेष्ठरस आस्वादन किया, उनके ऐसा क्या दुर्भाग्य कि सिद्धावस्था में इस आस्वादन से वञ्चित हो अपेक्षाकृत न्यून रस का आस्वादन करेंगे! श्रील ठाकुर महाशय ने इससे पूर्व ''साधने भाविबो जाहा, सिद्ध देहे पाबो ताहा, रागपथेर एइ से उपाय'', ''साधने जे धन चाइ, सिद्धदेहे ताहा पाइ, पक्वापक्व मात्र से विचार'' इत्यादि उक्तियों द्वारा साधनावस्था में प्राप्य एवं सिद्धावस्था में प्राप्त वस्तु का एकत्व वर्णन किया है, उसका व्यभिचार कैसे होगा? भगवान् की प्रत्येक लीला की नित्यता श्रुतिशास्त्र और महाजन-वाक्यों में बार-बार कही गई है। इसलिये सर्वोत्कर्षमय व्रज की परकीय रस की लीला की अनित्यता का मनन करना महा दु:साहसी का ही शास्त्र-महाजन-विरोधी कार्य है। अप्रकट (लीला) में परकीयभाव की विद्यमानता श्रीसनत्कुमार संहिता और पद्मपुराण (पातालखण्ड, अध्याय ५२) में सुस्पष्ट रूप से वर्णित है-

''यथा प्रकटलीलायां पुराणेषु, प्रकीर्तिताः।
तथा ते नित्यलीलायां सन्ति वृन्दावने भुवि॥
गमनागमने नित्यं करोति वनगोष्ठयोः।
गोचारणं वयस्यैश्च बिनासुरविघातनम्॥
परकीयाभिमानिन्यस्तथा तस्य प्रिया जनाः।
प्रच्छन्नैव भावेन रमयन्ति निजप्रियतम्॥''

अर्थात् 'श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणादि में भौमवृन्दावन में प्रकटलीला जिस रूप में वर्णित है, नित्यलीला या अप्रकटलीला भी उसी प्रकार जाननी होगी। नित्यलीला में भी साथियों के साथ श्रीकृष्ण का गोचारण हेतु नित्य वन-गमन और सन्ध्यासमय गोष्ठ में आगमन होता है। केवल असुर-विघातन

लीला ही अप्रकट में नहीं होती। अप्रकटलीला में भी परकीय-अभिमानी व्रजदेवियाँ प्रच्छन्न रूप से प्रियतम श्रीकृष्ण के साथ मिलित होती है।

फिर वृहद्वामनपुराण में देखने को मिलता है कि श्रुतियों ने अप्रकट या नित्यलीला में गोपियों के साथ गोपीनाथ का परकीय भाव का मिलनादि देखकर प्रलुब्ध होकर श्रीकृष्ण से प्रार्थना की थी -

''कन्दर्पकोटि लावण्य त्वयि दृष्टे मनांसि नः।
कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयः॥
यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः।
तजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनि नस्तथा॥''

अर्थात् 'हे कृष्ण! कोटि कन्दर्पतुल्य तुम्हारा लावण्य देखकर हम लोगों के चित्त कामनियों की तरह स्मरक्षुब्ध (कामातुर) हो गये हैं, इस में कोई संशय नहीं। तुम्हारी वृन्दावनवासिनी गोपिकायें जिस प्रकार तुम्हें अपना रमण मानकर कामतत्त्व से अर्थात् उपपति ज्ञान से परकीयभाव से तुम्हारा भजन कर रही हैं, उसी प्रकार हम लोगों की भी कामरूपा रति से भजन करने की इच्छा हो रही है।'

उनकी प्रार्थना सुनकर श्रीकृष्ण बोले -

''दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं सुमनोरथः।
मयानुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुर्महति॥
आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यतेः।
कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ॥
पृथिव्यां भारतेक्षेत्रे माथुरे मम मण्डले।
वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डले॥
जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढ़ं सर्वतोऽधिकम्।
मयि संप्राप्य सर्वेऽपि कृतकृत्या भविष्यथ॥''

अर्थात् तुम लोगों की वासना अति उत्तम है, किन्तु अति दुर्लभ और दुर्घट है। तथापि मैं अनुमोदन करता हूँ-तुम लोगों की मनोवासना सत्य हो। आगामी सृष्टि में ब्रह्मा जन्म लेकर जब सृष्टि (रचना) के लिये उद्यत होंगे, तब उसी सारस्वतकल्प में तुम सबको व्रजगोपीत्व प्राप्त होगा। पृथ्वी पर भारत के अन्तर्गत मथुरामण्डल में वृन्दावन रासमण्डल में तुम लोग मुझे प्रियरूप में पा सकोगी। सर्वापेक्षा अधिक स्नेहमय एवं अति सुदृढ़ उपपतिभाव से मुझे प्राप्त कर तुम सब कृतकृतार्थ होगी।' इसके द्वारा अप्रकट व्रज में परकीयभाव की नित्य स्थिति सुदृढ़रूप से स्थापित हुई है। श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने भी लिखा है-''अतएव मधुररस कहि तार नाम। स्वकीया परकीया रूपे द्विविध संस्थान॥'' 'संस्थान' का अर्थ है सम्यक् रूप से स्थिति, इसलिये मधुररस के स्वकीया-परकीया दोनों ही प्रकारों की नित्य स्थिति समझ में आती है।

श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने गोपालचम्पू ग्रन्थ में परकीयभाव की लीला का वर्णन कर अन्त में श्रीराधामाधव के विवाहादि लीलाओं का उल्लेख कर स्वकीयभाव में पर्यवसान दिखाया है-ऐसा लगता है, तो इसका एकमात्र कारण परम गम्भीर श्रीगोपालचम्पू का प्रकृत तात्पर्य अवधारण न कर पाना ही है। श्रीजीव ने ग्रन्थारम्भ में स्वयं ही लिखा है-''तत्र च प्रकटाप्रकटप्रकाशमयस्य वृन्दावनस्य बहुविधसंस्थानतया बहुविधशास्त्रश्रुत- स्याप्रकटप्रकाशमय-वैभवविशेष एवं सम्प्रति वर्णनीयः। स च गोकुल-प्रधान एवेति स्वविवक्षितहिता ब्रह्मसंहितानुसंहिता क्रियते। तद्वचनानि तु बोधक्रमाय क्रममतिक्रम्यानुक्रम्यन्ते।'' (१/१/१९) तात्पर्य यह है-'चिन्मय व्रजधाम के अनन्त प्रकाश हैं, इन सभी प्रकाशों की दो प्रकार से स्थिति है। एक प्रकार का प्रकाश मानवनेत्रों के आगे अभिव्यक्ति होता है, दूसरे प्रकार का प्रकाश कभी भी मानवनेत्रों के आगे अभिव्यक्त नहीं होता। जिन प्रकाशों की कभी-कभी मानवनेत्रों में अभिव्यक्ति होती है, उनका नाम 'प्रकट प्रकाश' है। जो प्रकाश किसी भी दिन प्राकृत मानवनेत्रों को गोचर नहीं होते, उनका नाम अप्रकट प्रकाश है। उन सब प्रकट अप्रकट प्रकाशों की बात नाना शास्त्रों से नाना प्रकार से सुनी जाती है। उनमें से अप्रकट प्रकाशमय वैभवविशेष श्रीगोलोक ही सम्प्रति मेरा वर्णनीय विषय है। गोकुललीला प्रधानरूप से ही वर्णन की जायेगी। मेरे विवक्षित (अभिप्रेत) विषय के मूल प्रमाण के रूप में ब्रह्मसंहिता के वचन ही मुख्य अवलम्बन है। किन्तु समझने की सुविधा के लिये ब्रह्मसंहिता के उन सब वचनों का यथोक्तक्रम तोड़कर भी अपने अभिप्रेत वर्णनीय विषय के अनुसार वर्णन किया जायेगा।' इससे सुस्पष्टरूप से प्रमाणित होता है कि श्रीजीवगोस्वामिपाद ने गोपालचम्पू ग्रन्थ में जिस-जिस स्थान पर स्वकीया की स्थिति वर्णन की है, वह श्रीवृन्दावनीय अप्रकट प्रकाश के वैभव विशेष गोलोक की ही लीला है। फिर गोकुल के वैभव गोलोक के सभी प्रकाशों में स्वकीय भाव की ही स्थिति हो, ऐसा नहीं; कारण-श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद ने श्रीवृहद्भागवतामृत में गोलोक के लीलावर्णन में परकीय भाव की स्थिति दिखाई है-

''एतत्पादनखाग्रैकसौन्दर्यस्यापि नार्हति।
सौन्दर्यभारः सर्वासामासां नीराजनं ध्रुवम्॥''

(वृ० भा० २/६/१०९)

टीका - ''ननु अन्य जनो मा भवतु नाम इमास्तु गौराङ्ग्यः श्रीराधाद्याः परमसुन्दर्यस्तत्राह एतदिति। सर्वासामासां श्रीराधादीनां सौन्दर्यभारः एतस्य मदीयश्यामसुन्दरस्य यत्पादनखाग्रस्य एकं एकतरं सौन्दर्य तस्यापि नीराजनं नार्हति। ध्रुवं निश्चितम्। भारशब्दस्यायमभिप्रायः यच्च किञ्चित् सौन्दर्यमासां विद्यते, तन्मदीयश्यामसुन्दरस्य वधूत्वाभावेन वैफल्यापत्तेर्भार एवेति।'' इसका तात्पर्य यह है कि परव्योम के ऊपर स्थित श्रीगोलोक माता यशोदा मुखरा से कहती हैं-''दूसरा कोई भी सौन्दर्य में मेरे गोपाल के समान नहीं है, यह कहना ही पर्याप्त। यहाँ तक कि परमसुन्दरी श्रीराधा आदि गौराङ्गी गोपकन्याओं का सौन्दर्य भी श्रीकृष्ण के तुल्य नहीं। इन लोगों का सौन्दर्यभार मेरे श्यामसुन्दर के चरणनखाग्र के किञ्चित् मात्र सौन्दर्य की भी आरति करने में समर्थ नहीं, यह निश्चित है।'' यहाँ 'सौन्दर्यभार' शब्द प्रयोग करने का

तात्पर्य यही है कि 'श्रीराधा आदि गोपकन्याओं के पास निरतिशय सौन्दर्य है, ठीक, किन्तु वे लोग मेरे श्यामसुन्दर की वधु नहीं हो सकतीं, इसलिये उनका सौन्दर्य व्यर्थ है। अतएव वह सौन्दर्य उनके लिये 'भार' अर्थात् बोझ-सदृश हो गया है।' इस वर्णन से श्रीगोलोक में भी परकीयभाव की स्थिति का पता चलता है। इसीलिये महाजन 'अविविक्त स्वकीया-परकीया' (अर्थात् ठीक-ठीक स्वकीया है या परकीया, यह निरूपण करना कठिन है) कहा करते हैं।

जो भी हो, यहाँ निश्चित रूप से समझ में आया कि वृन्दावन के अप्रकट प्रकाश में परकीया की नित्य स्थिति नित्य ही विद्यमान है। अब प्रश्न होगा-अप्रकट प्रकाश में परकीया भाव की नित्य-स्थिति विद्यमान रहती है, तो प्रकट में आकर परकीयाभाव के चमत्कारित्व आस्वादन की इच्छा क्यों उत्पन्न होती है? इसका उत्तर यह है कि जिस गोलोक प्रकाश में स्वकीयभाव से श्रीराधामाधव का विहार वर्णित है, उसी अप्रकट प्रकाश में 'मैं गोपियों का पति हूँ और गोपियाँ मेरी नित्यकान्तायें हैं'- श्रीकृष्ण का यह अभिमान और आवेश रहता है। उसी आवेश में उनके चित्त में प्रकट प्रकाश में परकीयभाव के रसास्वादन की लालसा का उद्‌गम होता है। ''गोलोक व्रजेर सह नित्यविहार'' (चै.च.)-यहाँ 'सह' शब्द से आधारगत साहित्य (सहित होने की स्थिति, सहितता) समझ में आता है। अर्थात् गोलोक आधार में नित्यविहार और व्रज आधार में भी नित्य विहार। गोलोकनाथ और गोकुलनाथ की एकत्र दृष्टि के बिना लीला का प्रकाश सिद्ध नहीं होता। अर्थात् जब भी लीला विश्व में मानवनेत्रों को दिखाई देती है, तभी गोलोकनाथ का प्रकटलीला में परकीया-रसास्वादन का सङ्कल्प उपस्थित होता है और गोकुलनाथ की पूर्वराग आदि क्रम से चमत्कारित्वपूर्ण परकीय रसास्वादन की लालसा जगती है। कारण यह है कि प्रपञ्चलोक में लीलापरिकरों के साथ लीला की अभिव्यक्ति हुए बिना पूर्वरागादि रस-निष्पत्तिकभी नहीं होती। तभी गोलोकनाथ और गोकुलनाथ की भी प्रकटलीला में परकीयरस का चमत्कारित्व आस्वादन करने की वासना जगती है और तभी यह उक्ति देखी जाती है-''से से लीला करिबो जाते मोर चमत्कार'' (चै. च.)।

श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने श्रीगोलोकनाथ को लक्ष्य कर स्वकीयभाव की लीला गोपालचम्पू में वर्णन कर अन्त में श्रीराधामाधव के विवाह के पश्चात् ''यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षमपाः'' इत्यादि काव्यप्रकाश का श्लोक उद्धृत कर स्वकीयभाव पर उनका असन्तोष वर्णन कर परकीय भाव का ही चरम उत्कर्ष प्रतिपादित किया है, यह जानना होगा॥६५॥

गोविन्द-शरीर सत्य, ताहार सेवक नित्य,

वृन्दावन भूमि तेजोमय।

त्रिभुवने शोभासार, हेनो स्थान नाहि आर,

जाहार स्मरणे प्रेम हय॥६६॥

श्रीकृष्ण-विग्रह, भक्त और व्रजतत्त्व :

सुधाकणिका व्याख्या - श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में श्रीकृष्ण-विग्रह की सत्यता, भक्ततत्त्व और श्रीवृन्दावन का तत्त्व वर्णन कर रहे हैं। पहले श्रीकृष्ण-विग्रह की सत्यता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं- ''गोविन्द-शरीर सत्य''। नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण का विग्रह नित्य सत्य है। सच्चिदानन्द ही उस विग्रह के एकमात्र उपादान हैं। जीव का स्वरूप चित्कण या नित्य होते हुए भी उसकी मायिक देह प्रकृति के उपादानों से गठित है, इसलिये अनित्य या नश्वर है। ईश्वर में देह-देही भेद नहीं-''देह-देहि-भिदा चैव नेश्वरे विद्यते क्वचित्।'' श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने भगवत्-सन्दर्भीय सर्वसंवादिनी में महाभारत का प्रमाण उद्धृत किया है-''न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः'' अर्थात् 'परमात्मा की देह कभी भी पाञ्चभौतिक नहीं'। श्रीऋषभदेव ने भी कहा है-''इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यम्'' (भा० ५/५/१९) 'इदं मनुष्याकारं शरीरं मम दुर्विभाव्यं, अवितर्क्यं मदिच्छा-विलसितं नत्वंह प्राकृतो मनुष्य इत्यर्थः' (श्रीधर स्वामी टीका) अर्थात् 'मेरी यह मनुष्याकार देह निश्चितरूप से अवितर्क्य या तर्कातीत है, अपनी इच्छा से विलसित चिदानन्दरूप मैं कभी भी प्राकृत मनुष्य नहीं हूँ।' श्रीकृष्ण का स्वरूप अखण्ड चिदानन्दमय है, उनका विग्रह स्वरूप से भिन्न वस्तु नहीं। ''तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्'' (श्रुति)। भगवान् ने अर्जुन से स्वयं कहा है - ''ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'' (गीता १४/२७), ''नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'' (वही ७/२५) अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म की घनीभूत प्रतिष्ठा हूँ' 'योगमाया द्वारा समावृत रहने से मैं सभी के आगे प्रकट नहीं होता'। श्रीगोपालतापनी श्रुति में आया है-''कृष्णो वै परमं दैवतम्'' कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसेत् तं यजेदिति''। पूर्वतापनी में श्रीसनकादि ऋषियों ने ब्रह्मा से प्रश्न किया था-''परम देवता कौन है?'' ब्रह्मा ने उत्तर दिया-''श्रीकृष्ण ही परमदेवता हैं।'' पूर्वतापनी के उपसंहार में भी देखा जाता है-सर्वोत्कृष्टता के कारण कृष्ण ही परमदेवता हैं, उन्हीं का ध्यान करो, उन्हीं की रसमाधुरी आस्वादन करो और उन्हीं का भजन करो, इत्यादि। इन सभी वाक्यों में श्रीकृष्ण के नराकृति रूप के सर्वपरतमत्व हेतु प्रमाणित होता है कि नराकृति श्रीकृष्ण स्वरूप ही ''परब्रह्म-सर्व परतत्त्व'' है। ''आनन्दमात्रः करपाद मुखोदरादि'' (श्रुति) - चीनी की गुड़िया का सारा अवयव ही चीनी है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-विग्रह के कर-चरण आदि सभी अवयव सच्चिदानन्दमय हैं।

तभी सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में महामुनि व्यासदेव ने ''सत्यं परं धीमहि'' कहकर सत्यस्वरूप परमेश्वर श्रीकृष्ण का ध्यान किया है। कंस-कारागार में देवकीदेवी के गर्भ में पर-ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण की स्तुति के आरम्भ में ही देवताओं ने श्रीकृष्ण की सत्यस्वरूपता और त्रिसत्यता प्रतिपादित कर कहा है-

''सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितञ्च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥

(भा० १०/२/२६)

'हम लोग सत्यसङ्कल्प, सत्य ही जिनकी प्राप्ति का साधन है, भूत-भविष्य-वर्तमान त्रिकालसत्य, पृथ्वी आदि पञ्चभूतों की उत्पत्ति के कारण (इससे सृष्टि के प्राक्काल की सत्यता प्रतिपादित है), अन्तर्यामी (इससे

वर्तमानकाल की सत्यता प्रदर्शित है), परमार्थ शब्द तत्त्व (इससे प्रलय के पश्चात् भी सत्यता प्रमाणित है), सत्यवाक्य और समदर्शन के प्रवर्तक-सत्यस्वरूप श्रीगोविन्द के शरणापन्न हुए।' तभी श्रील ग्रन्थकार ने कहा है-''गोविन्द-शरीर सत्य''।

फिर कहते हैं-''ताहार सेवक नित्य''। श्रीगोविन्द के दास आदि नित्यसिद्ध पार्षदगण भी सच्चिदानन्दमय और नित्य सत्य हैं। ''आत्मकोटिगुणं कृष्णे प्रेमाणं परमं गताः। नित्यानन्दगुणाः सर्वे नित्यसिद्धा मुकुन्दवत्॥'' (भ० र० सि० २/१/२९०) ''मुकुन्दवद् ये नित्यानन्दगुणास्ते नित्यसिद्धा इत्यन्वयः। नित्याश्च आनन्दस्वरूपाश्च गुणास्तदुपलक्षितदेहाश्च येषां ते इति॥'' (वही, टीका श्रीजीवपाद) - जो श्रीकृष्ण को अपने से करोड़ गुना अधिक प्रेम करते हैं, श्रीकृष्ण की तरह ही जिनकी चिन्मयानन्दपूर्ण गुणावली है, उनकी तरह देह भी चिदानन्दमय है-वे ही नित्यसिद्ध पार्षद हैं। यहाँ तक कि श्रीकृष्ण के उन परिकरों के अनुगत सांसारिक भक्तगण भी उनकी कृपा से सच्चिदानन्दमय देह प्राप्त करते हैं। श्रीमन्महाप्रभु ने प्रिय पार्षद श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद से अपने श्रीमुख से कहा है-

''प्रभु कहे-वैष्णवेर देह प्राकृत कभु नय।
अप्राकृत देह भक्तेर चिदानन्दमय॥
दीक्षाकले भक्त करे आत्मसमर्पण।
सेइकाले कृष्ण तारे करे आत्मसम॥
सेइ देह ताँर करे चिदानन्दमय।
अप्राकृत देहे ताँर चरण भजय॥''

(चै० च०)

इसके पीछे ही श्रीमद्भागवत के प्रमाण द्वारा श्रीमन्महाप्रभु ने अपनी उक्ति ही दृढ़ता प्रतिपादित की है-

''मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥''

(भा० ११/२९/३४)

श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से कहा-'हे उद्धव! आदमी जब※ सभी कर्मों का परित्याग कर मुझे आत्मसमर्पण करता है, तो मैं उसे ज्ञानीयोगियों से भी विशिष्ट बनाने की इच्छा करता हूँ, वह अमृतत्व प्राप्त कर मेरा आत्मभूया मेरे-जैसा ही चिदानन्दमय शरीर पाता है।' श्रीमन्महाप्रभु ने जो यह कहा ''सेइ काले कृष्ण तारे करे आत्मसम'', इसका तात्पर्य यह है कि महत् कृपाप्राप्त श्रद्धावान् भक्त जब सद्गुरु-चरणाश्रय या दीक्षा लेता है, तो उसके साथ ही साथ इस प्रक्रिया का सूत्रपात हो जाता है। भजन अनुशीलन के क्रम में साधक का चित्त जिस

※ मेरे परमस्वतंत्र भक्त का स्वाधीन कृपा-प्रसाद प्राप्त होता है तब।

मात्रा में परिमार्जित होता है या साधक क्रमशः निष्ठा, रुचि, आसक्ति स्तर पर पहुँचता है, उसी के अनुसार आंशिकरूप से उसकी देहेन्द्रियाँ मन और बुद्धि जड़ीयत्व त्यागकर क्रमशः चिन्मयत्व प्राप्त करती हैं। रति के स्तर पर भक्त की अन्तरेन्द्रियाँ अर्थात् मन बुद्धि चित्त और अहङ्कार पूरी तरह से चिन्मय हो जाती हैं; प्रेमस्तर पर यथावस्थित देहेन्द्रियाँ भी पूरी तरह चिन्मयत्व प्राप्त कर लेती हैं। तभी श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद ने श्रीवृहद्भागवतामृत में लिखा है-

''कृष्णभक्तिसुधापानाद् देह-दैहिक-विस्मृते।
तेषां भौतिक देहेऽपि सच्चिदानन्दरूपता॥''

अर्थात् 'कृष्णभक्तिरूपी अमृत पीकर जो लोग देह-दैहिकादि सब भूल गये हैं, उनकी पाञ्च भौतिक देह ने भी सच्चिदानन्दरूपता पा ली है, यह जानना होगा।' प्रश्न सम्भव है : भक्त की यथावस्थित पाञ्चभौतिक देह ही सच्चिदानन्दरूपता प्राप्त कर लेती है, तब उस देह में व्याधि जरा मरण आदि क्यों दीखते हैं? फिर भक्त के देहनाश के पश्चात् चिदानन्दमय पार्षददेह मिलने की बात कही गई है; तो अप्राकृत देह का नाश कैसे सम्भव है? यदि देह का नाश नहीं होता है, तो पार्षददेह मिलने के समय उस देह का अवस्थान ही कहाँ कैसे होता है? इत्यादि, इस विषय में बहुत-से संशय जगते हैं! शास्त्रों में और महाजनवाणियों में इन संशयों का जो सदुत्तर मिलता है, उसका सारमर्म यह है-भगवान् रहस्यमय भक्ति को और भक्तिसाधना के कार्य या फल को सतत गुप्त रखना चाहते हैं, कारण-भक्तिसाधना का फल समस्त विश्वमानवगण को दिखाई दे जाय, तो अनधिकारी व्यक्ति भी भक्तिसाधना में हस्तक्षेप कर अपराधी हो सकता है। दूसरे, रहस्यमयी भक्ति भी सदा आत्मगोपन किये रहना पसन्द करती है और दैन्यप्राण भक्तगण भी भक्तिसाधना या भक्ति के फल को सतत गुप्त रखना चाहते हैं। इससे उन लोगों के प्रेम की स्वरूपभूत साधन-सम्पदैन्य की परिपुष्टि होती है। तभी मायापति महाइन्द्रजालिक भगवान् भक्त की चिदानन्दमय देह में भी पाञ्चभौतिक देह की तरह जरा व्याधि मृत्यु आदि लोकगोचर करते हैं। वास्तविकता यह है कि भक्त की चिदानन्दमय देह अपने पार्षद-शरीर के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लीलाराज्य में प्रविष्ट होती है और यादवों की तरह सिद्धभक्त की वैसी एक मायामय आकृति चिता में दग्ध होती दीखती है। इस रहस्य की सत्यता के लिये भगवान् ने स्थालीपुलाक न्याय❋ के अनुसार श्रीमद्भागवत के ध्रुव, श्रीवृहद्भागवतामृत के गोपकुमार आदि भक्तों को यथावस्थित देह से ही लीलाराज्य में प्रवेश कराया है।

इसके बाद श्रीकृष्ण-विग्रह की तरह श्रीवृन्दावनधाम का सच्चिदानन्दरूपत्व निरूपित करते हुए कहते हैं-''वृन्दावनभूमि तेजोमय''। यह जगत् बहिरङ्गा मायाशक्ति का विकार या प्रकृति का परिणाम है; भगवान् के लीलास्थान श्रीवृन्दावनादि धाम वैसे नहीं। श्रीधाम अन्तरङ्गा सन्धिनीशक्ति का प्रकाश है।

❋ चावल सिद्ध किये जाते है। पात्र (पाकस्थाली) के दो-चार चावल लेकर देखते हैं कि सारे चावल सिद्ध हुए कि नहीं। यही स्थालीपुलाक न्याय है।

''सन्धिनीर सार अंश-शुद्धसत्त्व नाम।
भगवानेर सत्ता हय जाहाते विश्राम॥
माता पिता स्थान गृह शय्यासन आर।
ए सब कृष्णेर शुद्धसत्त्वेर विकार॥''

(चै० च०)

श्रुति भी कहती हैं (छान्दोग्य ७/२४) ''स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठत् इति स्वे महिम्नि'' अर्थात् वे भगवान् कहाँ हैं? उत्तर-''वे अपनी अचिन्त्य विभूति में प्रतिष्ठित हैं।'' श्रीगोपालतापनी श्रुति में देखा जाता है-''गोकुलं वन-वैकुण्ठम्'' ''साक्षाद् ब्रह्म गोपाल पुरी हि'' इत्यादि। अर्थात् 'गोकुल का अन्य नाम वन-वैकुण्ठ है', 'गोपालपुरी साक्षाद्ब्रह्म है'। श्रीवृन्दावनधाम प्रपञ्चातीत, नित्य, अलौकिक, भगवान् का नित्यविहार स्थान, चर्मचक्षुओं के अगोचार और तेजोमय है-इसके बहुत शास्त्र प्रमाण हैं। वृहद्गौतमीय तंत्र में देखा जाता है कि नारदजी ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया है-'हे गोपपते! द्वादश-वनात्मक इस वृन्दावन का तत्त्व क्या है? यदि मैं सुनने की योग्यता रखता हूँ, तो कृपया वर्णन कीजिये।' उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं-

''इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम्।
अत्र ये पशवः पक्षिवृक्षाः कीटानरामराः॥
ये वसन्ति ममाधिष्णे मृता यान्ति ममालयम्॥
× × × ×
पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्।
कालिन्दीयं सुषुम्नाख्या परमामृत-वाहिनी॥
अत्र देवाश्च भूतानि वर्तन्ते सूक्ष्मरूपतः।
सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित्॥
आविर्भावस्तिरोभावो भवेदत्र युगे-युगे।
तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा॥''

'हे नारद! यह रमणीय वृन्दावन केवल मेरा ही धाम है। इस धाम में पशु-पक्षी, वृक्ष, कीट, नर, अमर आदि जो वास करते हैं, ये मृत्यु के पश्चात् मेरे नित्यधाम में प्रवेश करते हैं।.....यह पञ्चयोजनव्यापी वृन्दावन मेरी देह-स्वरूप है। परमामृत-वाहिनी यह कालिन्दी सुषुम्ना नाम से अभिहित है। यहाँ देवगण और भूतगण सूक्ष्मरूप से अवस्थान करते हैं। सर्वदेवमय मैं कभी भी वृन्दावन नहीं त्यागता। इस भौमव्रज में युग-युग में मेरा आविर्भाव और तिरोभाव होता है। यह रमणीय वृन्दावन तेजोमय और चर्मचक्षुओं के अगोचार है।'

तत्पश्चात् कहते हैं-''त्रिभुवने शोभासार, हेनो स्थान नाहि आर, जाहार स्मरणे प्रेम हय।'' किसी-किसी की धारणा है कि हम इस समय जिन वृन्दावन आदि धामों को देख रहे हैं, वे वास्तविक चिन्मयधाम नहीं हैं, पृथ्वी

के प्रदेश विशेष ही हैं; श्रीकृष्ण की लीला के समय धाम यहाँ अवतीर्ण हुआ था और लीला के अन्तर्धान के साथ-साथ धाम भी अन्तर्धान हो गया। ऐसी धारण साधु-शास्त्रों के द्वारा विगर्हित है। जैसे श्रीकृष्ण मायातीत सच्चिदानन्द विग्रह होकर भी इस जगत् में प्रकट विहार करते हैं और नरलीला के लिये बहुत प्रकार के मानवधर्म अङ्गीकार करते हैं (इस विषय में उनकी कृपा ही एकमात्र हेतु है), उसी प्रकार जीव जगत् के प्रति निरतिशय कृपा-परवश होकर मायातीत चिन्मयधाम व्रज श्रीकृष्ण की प्रकटलीला के अवसान पर पार्थिवधर्म अङ्गीकार कर स्वयं विराज रहा है। मायातीत चिन्मयस्वरूप से विराजने पर पृथ्वी के मायाबद्ध मानव श्रीधाम की कृपा प्राप्त करने में सक्षम न होते, इसीलिये श्रीधाम की ऐसी करुणा का प्रकाश है। श्रीजीवगोस्वामिपाद ने इस महाकारुण्यमय प्रकाश को दृश्यमान प्रकाश कहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि महाभागवत प्रेमिक भक्तगण आज भी यहीं चिन्मय श्रीधाम का स्वरूप प्रत्यक्ष देखते हैं-''विशेषतस्तादृग लौकिकरूपत्व भगवन्नित्य- धामत्वे तु दिव्यकदम्बाशोकादि-वृक्षादयोऽप्यद्यापि महाभागवतैः साक्षात्-क्रियन्ते इति प्रसिद्धेः।'' (श्रीकृष्णसन्दर्भ)। श्रीचैतन्यचरितामृत (आदि० परि० ५) में वर्णित है-

''सर्वोपरि श्रीगोकुल व्रजलोकधाम।
श्रीगोलोक श्वेतद्वीप वृन्दावन नाम॥
सर्वग अनन्त विभू कृष्णतनु सम।
उपर्यधो व्यापि आछे नाहिक नियम॥
ब्रह्माण्डे प्रकाश तार कृष्णेर इच्छाय।
एकइ स्वरूप तार नाहि दुइ काय॥
चिन्तामणि भूमि कल्पवृक्षमय वन।
चर्मचक्षे देखे तारे प्रपञ्चेर सम॥
प्रेमनेत्रे देखे तार स्वरूप प्रकाश।
गोप गोपी सङ्गे जाँहा कृष्णेर विलास॥''

इस प्रेममय श्रीवृन्दावनधाम की रहनसहन आदि के रूप में सेवा की बात दूर, दूर से इसका स्मरण करने से भी निरपराध चित्त में प्रेम का उद्रेक होता है-''जाहार स्मरणे प्रेम हय''। इस अर्ध त्रिपदी का यह पाठ भी देखने में आता है-''ताहाते यमुनाजल, करे नित्य झलमल, तार तीरे अष्टकुञ्ज हय''। ''नित्य झलमल'' शब्दों द्वारा यमुना की भी वैसी नित्यता या सच्चिदानन्दरूपता एवं अतिशय शोभा वर्णित हुई है। इससे पूर्व वृहद्गौतमीयतंत्र की जो श्लोकावली उद्धृत हुई है, उसमें भगवान् ने यमुनाजी को अपने श्रीविग्रहवत् इस वृन्दावन में 'परमामृतवाहिनी सुषुम्ना' कहा है। ''तार तीरे अष्ट कुञ्ज हय''-इस वाक्य में परम शोभामय और निर्जन श्रीयमुना-तट पर श्रीश्रीराधामाधव के मनोरम विलासकुञ्जों की स्थिति बताई गई है॥६६॥

शीतल-किरण कर, कल्पतरु गुणधर,
तरु-लता छय-ऋतु सेवा।
गोविन्द आनन्दमय, निकटे वनिताचय,
मधुर विहार अति शोभा॥६७॥

वृन्दावन-शोभा :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय ने पिछली त्रिपदी के उत्तरार्द्ध में ''त्रिभुवने शोभासार, हेनो स्थान नाहि आर'' कहकर त्रैलोक्यसुन्दर श्रीवृन्दावन की शोभा की ओर इङ्गित किया था। अब यहाँ संक्षेप में उसी शोभा का वर्णन कर रहे हैं-''शीतल-किरण कर, कल्पतरु गुणधर, तरुलता छय-ऋतु सेवा''। 'शीतल-किरण' अर्थात् चन्द्र, उसके 'कर' या सुस्निग्ध किरणमाला से वृन्दावन सुरञ्जित है। पिछली त्रिपदी में कहा था-''वृन्दावन भूमि तेजोमय'', स्वप्रकाश व्रजभूम स्वयं प्रकाशमान् है; इसके प्रकाश के लिये चन्द्रसूर्य के उदय की कोई आवश्यकता न होते हुए भी लौकिक लीला की परिपुष्टि के लिये यहाँ चन्द्र-सूर्यादि का उदय हुआ करता है। किन्तु वे चन्द्र-सूर्य प्राकृत जगत् की तरह नहीं हैं, वे चिन्मय हैं, सतत महामाधुर्यमय किरण सम्पात करते हैं। श्रीमत् जीव गोस्वामिपाद ने ब्रह्मसंहिता के ''श्रियः कान्ताः'' श्लोक के 'चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च' इस अंश की व्याख्या में लिखा है-''ज्योति-लौकिक-लीला-माधुर्याय महा प्रलयेऽप्यनश्वरं सूर्यादिरूपं यत्तत्र वर्तते तथा तेषामास्वाद्यमपि यत्किञ्चित्तत् सर्वं चिदानन्दरूपं परमपि परमतत्त्वमेव न तु प्राकृतम्। चन्द्रार्कयोः स्थितिश्च तत्र विलक्षणत्वेनैव गौतमीयतंत्रे कथिता। समानोदितचन्द्रार्कमिति हि वृन्दावनविशेषणम्। समानत्वञ्च रात्रौ रात्रौ राकाचन्द्रमयत्वादिति।'' (श्रीकृष्णसन्दर्भ, अनु० १७२) अर्थात् 'वह धाम यद्यपि स्वप्रकाश है-अपनी दीप्ति से समुज्ज्वल है, तथापि लौकिक लीलामाधुर्य आविष्कार के लिये महाप्रलय में भी सूर्यादिरूप में अविनश्वर ज्योति वहाँ विद्यमान है। वह ज्योति एवं चिन्मय धामवासियों की आस्वाद्य जितनी भी वस्तुएं हैं, सभी चिदानन्द स्वरूप हैं-परमतत्त्व वस्तु हैं, वहाँ प्राकृत वस्तु कुछ भी नहीं। वहाँ चन्द्र-सूर्य की विलक्षण रूप में स्थिति गौतमीयतंत्र में ''समानोदित-चन्द्रार्कम्'' वृन्दावन के इस विशेषण में वर्णित हुई है। वहाँ प्रत्येक रात्रि में पूर्णचन्द्र उदय होता है।' उसी पूर्णचन्द्र की स्निग्ध किरणमालायें आकाश को नापती वृन्दावन की चिन्मय प्रकृति के वक्ष पर झरती हैं और गोपियों सहित गोपीनाथ की लीलाभूमि श्रीवृन्दावन को आनन्दोज्ज्वल सुस्निग्ध एवं मधुमय किये रखती हैं।

श्रीवृन्दावन की तरु-लतायें सभी कल्पतरु और कल्पलता के गुण धारण किये रहते हैं। ब्रह्म-संहिता में लिखा हैं-''कल्पतरवो द्रुमाः'' अर्थात् 'वृन्दावन के सभी वृक्ष कल्पतरु हैं'। रुद्रयामलतंत्र में श्रीमन्महादेव ने श्रीगौरीदेवी से कहा है-

''वीथ्यां वीथ्यां निवासोहधरमधुसुवचस्तत्र सन्तानकाना-
मेके राकेन्दूकोट्यातपविशदकरास्तेषु चैके कमन्ते।
रामे रात्रेर्विरामे समुदिततपनद्योतिसिन्धूपमेया।
रत्नाङ्गानां सुवर्ण-चितमुकुररुचस्तेभ्य एके द्रुमेन्द्राः॥
यत्कुसुमं यदा मृग्यं यत् फलञ्च वरानने।
तत्तदैव प्रसूयन्ते वृन्दावन - सुरद्रुमाः॥''

श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने श्रीकृष्णसन्दर्भ (अनु० १७२) में ये दो श्लोक उद्धृत कर जो व्याख्या की है, उसका मर्मार्थ यह है : 'हे अधर-मधु-सुवचः! हे गौरि! श्रीवृन्दावन की प्रत्येक वीथी अर्थात् पथ-पथ पर रत्नमय कल्पवृक्षसमूहों की अवस्थिति है। उनमें कुछेक वृक्षश्रेष्ठ पूर्णचन्द्र कोटि-किरण समुज्ज्वल हैं! हे रामे! कुछेक वृक्ष निशावसान में समुदित सूर्यद्युतिराशि-तुल्य द्युतियुक्त हो विराज रहे हैं और कतिपय वृक्ष इन सभी वृक्षों से अधिक दीप्तिशाली हैं; उन सबकी द्युति स्वर्णरचित दर्पण-जैसी है। हे वरानने! जो फूल, जो फल जब अन्वेषण किया जाता है (जब जिसकी आवश्यकता पड़ती है), श्रीवृन्दावन के कल्पवृक्षसमूह उसी समय वह फूल-फल प्रसव करते हैं।' श्रीवृन्दावन के कल्पवृक्ष प्रार्थी को सभी प्रकार का पुरुषार्थ प्रदान करने में समर्थ हैं, पर माधुर्य लीला में व्याघात के कारण वह ऐश्वर्य प्रकट नहीं करते और कोई वृन्दावनवासी उनकी कामना भी नहीं करता। ''कल्पवृक्ष लता जाहाँ साहजिक वन। फल फूल बिना केहो ना मागे अन्य धन॥'' (चै० च०) कल्पतरु-कल्पलतिकाओं के सभी गुण धारण करके भी श्रीवृन्दावन की वृक्षलतायें श्रीश्रीराधाकृष्ण की विहारभूमि श्रीवृन्दावन को केवल शोभातिशय द्वारा विमण्डित कर युगल को विहारसुख पहुँचा रही हैं। श्रीवृन्दावनमहिमामृत (१०/८३/८४) में लिखा है-

''विचित्र - पत्र - पल्लव - प्रसून - गुच्छजालकैरपार-
मुल्लसन्महामरन्द - सिन्धु - निर्झरम् ।
विचित्ररोचिषाचितं सुधारसात्मकैः फलैः
स्मरामि कृष्णकानने विचित्र - शाखिमण्डलम्॥
अनन्त हरि - राधिका - प्रणय - फुल्ल - वल्लीद्रुमं
तदङ्घ्रिसविह्वलैः खगमृगादिभिर्मण्डितम्।
तदद्भुत - विलासन्नव - निकुञ्ज - पुष्पोदयं
स्मराम्यति - महोज्ज्वलन्मधुरवृन्द - वृन्दावनम्॥''

अर्थात् 'विचित्र पत्र पल्लव, पुष्पस्तवकजालसमूह द्वारा असीमरूप से उल्लसित, महा मधुसमूह की एकमात्र उत्स, विचित्र कान्तिजाल से भरी, सुधारसयुक्त फलों से पूर्ण-श्रीवृन्दावन की विचित्र वृक्ष-मण्डली का स्मरण करता हूँ।'

'श्रीराधाकृष्ण के अनन्त प्रणय-फुल्ल वृक्षलताओं से शोभित-दोनों के पादपद्मरस से विह्वल पशुपक्षियों द्वारा विमण्डित-युगल के अद्भुत विलास से भरे नव-नव निकुञ्जपुजों से समन्वित-अति महोज्ज्वल माधुर्यगुणभूषित श्रीवृन्दावन का स्मरण करता हूँ।'

षड् ऋतुएं इस वृन्दावन की सतत सेवा करती हैं। चन्द्र, सूर्य, वायु, काल सभी लीला के सेवक हैं। श्रीवृन्दावन में श्रीराधाकृष्ण के विहार-सुख-सम्पादन के लिये कहीं पृथक् पृथक् एक-एक ऋतु के वन हैं, कहीं दो ऋतुओं के वन हैं, कहीं एक साथ षड् ऋतुओं के वन शोभित हैं। उन वनों में एक ही समय उन-उन ऋतुओं के अनुरूप जलवायु, पशु-पक्षी, वृक्षराजि, फल-फूल शोभा पाते हैं।❋

इसके पश्चात् कहते हैं-''गोविन्द आनन्दमय, निकटे वनिताचय, मधुर विहार अति शोभा''। उस चिन्मय चन्द्रमा के सुस्निग्ध किरण-सम्पात से समुज्जवल, निरन्तर षड् ऋतुओं द्वारा निषेवित, श्रीवृन्दावन के कल्पतरुवन में आनन्दमय श्रीगोविन्द व्रजदेवियों के साथ मधुरातिमधुर विहाररस में निमग्न हुए शोभा पाते हैं। इस अर्धत्रिपदी में अलौकिक शोभा सम्पन्न श्रीवृन्दावन में गोपियों सहित गोपीनाथ के महा अचिन्त्य योगपीठ का सङ्केत किया गया है। स्वायम्भुवागम में ईश्वर देवी संवाद में अतुलनीय श्रीवृन्दावन के सुन्दर परिवेश में योगपीठ का ध्यान वर्णित है-

''पीयूषलतिकाकीर्णां नानासत्त्वनिषेविताम्।
सर्वर्तुसुखदां स्वच्छां सर्वजन्तु - सुखावहाम्॥
नीलोत्पलदलश्यामां वायुना चालिताः मृदु।
वृन्दावनपरागैस्तु वासितां कृष्णवल्लभाम्॥
सीम्नि कुञ्जतटां योषित्क्रीड़ामण्डपमध्यमाम्।
कालिन्दीं संस्मरेद्धीमान् सुवर्णतटपङ्कजाम्॥
नित्यनूतनपुष्पादिरञ्जितं सुखसंकुलम्।
स्वात्मानन्द-सुखोत्कर्ष-शब्दादि विषयात्मकम्॥
नानाचित्र-विहङ्गादि-ध्वनिभिः परिरञ्जितम्।
नानारत्न-लता-शोभि मत्तालि-ध्वनि-मण्डितम्॥
चिन्तामणि-परिच्छन्नं ज्योत्स्नाजाल-समाकुलम्।
सर्वर्तु-फल-पुष्पाढ्यं प्रवालैः शोभितं परि॥
कालिन्दी-जलसंसर्गी-वायुना कम्पितं मुहुः।
वृन्दावनं कुसुमितं नानावृक्षविहङ्गमैः॥
संस्मरेत् साधको धीमान् विलासैकनिकेतनम्।
एकीभावो द्वयोर्यत्र वृक्षयोर्मध्यदेशतः॥
तदधश्चिन्तयेद्देवि मणिमण्डपमुत्तमम्।
त्रिलोकी-सुखसर्वस्वं सुयंत्रं केलिवल्लभम्॥
तत्र सिंहासने रम्ये नानारत्नमये सुखे।
सुमनोऽधिकमाधुर्यकोमले सुख - संस्तरे॥

× × ×

❋ श्रीगोविन्दलीलामृत, सर्ग 12

तत्र प्रेमभराक्रान्तं किशोरं पीतवाससम्।
कलाय - कुमुमश्यामं लावण्यैकनिकेतनम्॥
लीलारस-सुखाम्भोधि संमग्नं सुखसागरम्।
नवीननीरदाभासं चन्द्रिकाञ्चित कुन्तलम्॥''

'बुद्धिमान् व्यक्ति यमुना का सम्यक् रूप से स्मरण करे-वह यमुना अमृतलताओं से भरी, नाना प्राणियों द्वारा निषेवित, सभी ऋतुओं की सुखप्रदायिनी, स्वच्छसलिला, सभी जन्तुओं को सुख पहुँचाने वाली, नीलोत्पलदल-जैसी श्यामवर्णा, वायु से ईषत् आन्दोलित, अर्थात् मृदुतर तरङ्गयुक्त, वृन्दावन से कुसुम-परागसमूह से सुवासित, श्रीकृष्ण की अति प्रिय। उसके तटभाग पर कुञ्ज, मध्यभाग में व्रजसुन्दरियों का क्रीड़ामण्डप, तीर पर स्वर्णभूमि और नीर में स्वर्णकमलसमूह शोभा पा रहे हैं।

इसके पश्चात् धीमान् साधक विलास के एकमात्र निकेतन कुसुमित वृन्दावन का सम्यक् रूप से स्मरण करे। वह वृन्दावन नित्यनूतन पुष्पादि से रञ्जित है, सतत सुख-समाकुल है, स्वरूपानुभवजनित सुख के उत्कर्षकारी शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध विषयपञ्चक से परिपूर्ण है, नाना प्रकार के विहङ्गादि की ध्वनियों से परिरञ्जित है, नाना प्रकार की रत्नलताओं से शोभित है, मत्त भृङ्गों के गुञ्जन से मण्डित है, चिन्तामणि-परिशोभित, ज्योत्स्नाजाल से परिव्याप्त, सभी ऋतुओं के फल-फूलों से परिपूर्ण, प्रवालसमूह (नवीन किशलय) से चारों ओर परिशोभित है, वह कालिन्दी-जल के संसर्गवाले मृदुल मलयपवन से सतत प्रकाशित हो रहा है, वृक्ष और पक्षी शोभा पा रहे हैं!

हे देवि! वृन्दावन के जिस स्थान पर कल्पवृक्षद्वय बीच में एक हो रहे है, उनके निचले भाग में उत्तम मणिमण्डप का ध्यान करे। उसके बीच त्रिलोकी का सर्वसुखास्पद केलिवल्लभ उत्तम यंत्र नाना-रत्नों से जुड़ा मनोहर सिंहासन है, उस पर कुसुमकोमल माधुर्यपूर्ण सुखमय बिछावन है। उस सिंहासन पर प्रेमभराक्रान्त किशोर, पीतवसन, कलाय-कुसुम की तरह श्यामवर्ण, लावण्यराशि के एकमात्र आश्रय, लीलारससुखसागर में मग्न, सुख के सागर, नवीन, नीरदाभास, मयूरपुच्छचूड़ा-शोभित कुन्तल श्रीकृष्ण विराज रहे हैं।' वे अधरपल्लव पर मृदुमधुर वंशीनाद कर रहे है, उस अव्यक्त मधुरनाद को सुनकर सहस्र-सहस्र अनुरागिनी व्रजबालायें आकृष्ट हो उनके चारों ओर विराज रही हैं। उन प्रेममयी व्रजबालाओं के साथ साक्षात् श्रृङ्गाररसमूर्ति श्रीगोविन्द की मधुरविहार-रस-वन्या से वृन्दावन आप्लावित है। ऐसे नित्यनवीन रस की क्रीड़ा में वे सब मग्न हैं। कवि विद्यापति ने गाया है-

''नव वृन्दावन, नव-नव तरुगण, नव-नव विकसित फूल।
नवल बसन्त, नवल मलयानिल, मातल नव अलिकुल॥
विहरइ नवल-किशोर।
कालिन्दी-पुलिन, कुञ्ज नव शोभन, नव-नव-प्रेम-विभोर॥
नवल-रसाल, मुकुल-मधुमातिया, नव कोकिलकुल गाय।
नव युवतीगण, चित उमतायइ, नव रसे कानने धाय॥
नव युवराज, नवल नव नागरी, मीलये नन नव भाति।
निति निति ऐछन, नव नव खेलन, विद्यापति-मति माति॥''

किसी-किसी ग्रन्थ में इस त्रिपदी से पहले या इसके बाद एक और त्रिपदी देखने में आती है- ''पूर्णचन्द्र-समज्योति, चिदानन्दमय मूर्ति, महालीला-दरशन लोभा।...दुहुँ प्रेमे डगमगि, दोंहे दोंहा अनुरागी, दुहुँ रूपे दुहुँमन लोभा।'' अर्थात् 'ऐसे परम शोभामय वृन्दावन में पूर्णचन्द्र से भी अधिक उज्ज्वल और सुस्निग्ध अङ्गकान्तिमय, चिदानन्दमय विग्रह, लीलामय, परम लोभनीय-दर्शन श्रीगोविन्द व्रजबालाओं के साथ लीलारस में मग्न हैं।' उनमें फिर व्रजरमणीगण-शिरोमणि श्रीराधारानी का प्रेम सौन्दर्य-माधुर्य ही सबसे अधिक है। श्रीराधामाधव एक-दूसरे के प्रेम में निमग्न हैं, एक-दूसरे के प्रति महाअनुराग रखते हैं, एक-दूसरे के प्रेम में दोनों के मन-प्राण एकान्तरूप से प्रलुब्ध हैं॥६७॥

व्रजपुर वनितार, चरण-आश्रय सार,
करो मन एकान्त करिया।
अन्यबोल गण्डगोल, ना शुनहो उतरोल,
राखो प्रेम हृदय भरिया॥६८॥

टीका -

उतरोल उत्तरलः॥६८॥

एकान्त आश्रय :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में स्फूर्ति में विराम आ जाने के कारण साधकावेश में अपने मन को रागानुगा भजन के लिये सर्वाधिक आवश्यक या सारात्सार उपदेश दे रहे हैं-''व्रजपुर वनितार, चरण आश्रय सार, करो मन एकान्त करिया।'' 'हे मन! एकान्त (अनन्य) भाव से व्रजपुर वनिताओं का चरणाश्रय ग्रहण करो।' हमने कहा है-रागानुगा भजन में श्रीगुरु द्वारा उपदिष्ट भावयोग्य सिद्धदेह से सपरिकर श्रीकृष्ण की प्रेमसेवा का चिन्तन करना होगा और उस चिन्तन में भाव का चिन्तन ही मुख्य होगा। कारण यह है कि भाव की ओर ध्यान न रहे तो भावयोग्य देहप्राप्ति सर्वथा दुर्लभ है। गौड़ीय वैष्णवसाधक की उपासना गोपीभाव की ही है, इसलिये गोपीभाव के प्रति जिसकी जिस मात्रा में लालसा बढ़ेगी और उस भाव से चित्त-मन आक्रान्त होगा, वह उसी मात्रा में भजन में अग्रसर हो सकेगा। इसका कारण यह है कि व्रजदेवियों के भाव-माधुर्य का लोभ और उनकी श्रीकृष्ण-माधुर्यास्वादन की परिपाटी के प्रति लोभ ही रागानुगा भजन की विशिष्टता है। व्रजदेवियों की वह भावमाधुरी और उनकी श्रीकृष्णमाधुरी-आस्वादन की वह परिपाटी उन्हीं की निजी सम्पदा है। उनके अतिरिक्त और किसी भक्तकोटि में यह अनन्यसाधारण भावसम्पत्ति नहीं है। इसलिये उन लोगों की कृपा को छोड़ उस सम्पदा में लोभ उत्पन्न करने का और कोई उपाय सम्भव नहीं। उनकी करुणा पाने के लिये साधक को एकान्त भाव से उनके चरणों में ही आश्रय लेना होगा। उनके श्रीचरणाश्रय से उनका भावानुगत्य भी सुसिद्ध होगा। अन्य की तो बात ही क्या, स्वयं वैकुण्ठेश्वरी लक्ष्मीदेवी भी उनके भावानुगत्य के

बिना व्रजेन्द्रनन्दन का श्रीचरणरेणु स्पर्श करने का अधिकार पाने में समर्थ नहीं हुईं। पक्षान्तर से, गोपियों के आनुगत्य में श्रुतियाँ गोपीभाव पाकर गोपीदेह से श्रीकृष्ण के सङ्ग रासक्रीड़ा करने में समर्थ हुई थीं। श्रीचैतन्य चरितामृत में श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीवेङ्कट भट्ट से कहा है –

''श्रुति सब गोपीगणेर अनुगत हइया।
व्रजेश्वरीसुत भजे गोपीभाव लइया॥
व्यूहान्तरे गोपीदेह व्रजे जबे पाइलो।
सेइ देहे कृष्णसङ्गे रासक्रीड़ा कोइलो॥
गोपजाति कृष्ण-गोपी प्रेयसी ताँहार।
देवी बा अन्य स्त्री कृष्ण ना करे अङ्गीकार॥
लक्ष्मी चाहे सेइ देहे कृष्णेर सङ्गम।
गोपिका अनुगा हइया ना कोइलो भजन॥''

श्रुतियों ने गोपियों के आनुगत्य में भजन कर गोपीदेह प्राप्त कर व्रज में श्रीकृष्ण का सेवाधिकार पाया था, यह श्रीमद्भागवत में श्रुतिस्तव (१०/८७/२३) में प्रसिद्ध है–

''निभृतमरुन्मनोदक्षदृढ़योगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययु स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधा॥''

श्रुतियों ने श्रीकृष्ण से कहा–'हे देव! मुनिगण प्राण, मन और इन्द्रियों आदि के संयम से हृदय में जिस ब्रह्मतत्त्व की उपासना करते हैं, श्रुतियों ने भगवान् का स्मण कर वही तत्त्व प्राप्त कर लिया है, फिर आपके शेषनाग तुल्य भुजदण्डों के प्रति प्रगाढ़ लालसा लेकर आपकी नित्य प्रेयसी गोपियों ने और समदृष्टिसम्पन्न हम लोगों ने भी उनके समान भावों से पूर्ण होकर आपकी श्रीचरण-सरोजसुधा प्राप्त कर ली है। अर्थात् गोपियों ने आपके श्रीनन्दनन्दन-स्वरूप का जैसा सेवाधिकार प्राप्त किया है, हमने भी उनके आनुगत्य में गोपीदेह पाकर वह सेवामाधुर्य आस्वादन करने का सौभाग्य पाया है।' ''समदृशः शब्दे कहे सेइ भावे अनुगति। 'समा' शब्दे कहे श्रुतिर गोपीदेह प्राप्ति॥'' (चै० च०) इसलिये व्रजवनिताओं या गोपियों का श्रीचरणाश्रय लिये बिना युगल-उज्ज्वलरस-माधुरी आस्वादन करने का और कोई उपाय नहीं।

श्रील ग्रन्थकार ने अपने मन को एकान्त भाव से गोपिका-चरणों का आश्रय लेने के लिये कहा है। अन्य सभी विषयों में (मन की) आसक्ति या अभिनिवेश त्यागकर सभी प्रकार से कायमनोवाक्य से केवल गोपीचरणों का आश्रय लेना ही एकान्तभाव से आश्रय ग्रहण करना है। गोपिका-शिरोमणि श्रीराधारानी के श्रीचरणों में ऐकान्तिक आश्रय ही राधादास्य के उपासक गौड़ीय वैष्णवों का चरम काम्य है। इन लोगों का 'ऐकान्तित्व' या स्वाभीष्ट-निष्ठा बड़ी अद्भुत है। फलकामी भक्तों की तुलना में श्रीहरि के आराधनापरायण भक्त ही श्रेष्ठ हैं, इसलिये इन्हें एकान्ती कहा जाता है। ये लोग एकमात्र पारमार्थिक

वस्तु में ही निष्ठावान् हैं। फिर श्रीहरि के अन्यान्य स्वरूपों के आराधकों की अपेक्षा व्रजेन्द्रनन्दन स्वरूप में अनुरक्त चित्त वाले भक्त श्रेष्ठ हैं, कारण–इनके तीव्र अनुराग के कारण श्रीहरि को जैसी एकान्त वश्यता स्वीकार करनी पड़ी है, श्रीव्रजेन्द्रनन्दन को छोड़ श्रीहरि का अन्य कोई भी स्वरूप इन लोगों का चित्त–मन उस प्रकार हरण नहीं कर सका। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने लिखा है–

''तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसाः।
येषां श्रीश–प्रसादोऽपि मनो हर्तुं न शन्कुयात्॥''

(भ० र० सि० १/२/५८)

अर्थात् 'श्रीहरि के नाना स्वरूपों के एकान्ती भक्तों में भी श्रीनन्दनन्दन द्वारा हरण किये चित्त वाले भक्तगण ही श्रेष्ठ हैं, कारण–परव्योमाधिपति महानारायण का प्रसाद भी उनका मन–हरण नहीं कर सकता।' फिर श्रीकृष्णप्रिया–शिरोमणि राधारानी के चरणों में समर्पित–प्राण मञ्जरीभावनिष्ठ भक्तों का ऐकान्तित्व ऐसा अद्भुत है कि राधारानी को छोड़कर श्रीनन्दनन्दन का प्रसाद भी इनका मन–हरण नहीं कर सकता। श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद को राधारानी ने श्रीकृष्ण को देना चाहा, तो वे बोले–''तच्चेत् कृपां मयि विधास्यसि नैव किं मे, प्राणैर्व्रजेन व वरोरु वकारिणापि'' (विलापकुसुमाञ्जलि १०२) 'हे वरोरु श्रीराधे! यदि तुम मुझ पर कृपा न करो, तो मेरे प्राण, व्रजवास, यहाँ तक कि श्रीकृष्ण की ही क्या आवश्यकता?' इन लोगों की निष्ठा केवल ''तवैवास्मि तवैवास्मि न जीवामि त्वया बिना'' (वही–९६) 'हा राधे! मैं तुम्हारा ही हूँ, तुम्हारा ही हूँ। तुम्हारे बिना मैं बच नहीं सकता।' इस एकान्त आश्रय की या चरम शरणागति की–इस तदेकप्राणता की कहीं तुलना नहीं। तभी श्रील ग्रन्थकार महोदय ने कहा है–''व्रजपुर वनितार, चरण आश्रयसार, करो मन एकान्त करिया''। देह–दैहिक आदि का आवेश लेकर या प्राकृत स्त्री–पुरुष आदि के अभिमान से एकान्त भाव से श्रीराधाचरणों का आश्रय लेना या उन चरणों को सार बनाना सम्भव नहीं होता। श्रीगुरुप्रदत्त अपने मञ्जरीस्वरूप का जागरण आवश्यक है। यह स्वरूप–अभिमान विश्व में किसी के साथ सम्पर्क स्वीकार नहीं करता। मञ्जरीभाव–आविष्ट साधक के लिये राधारानी के श्रीचरणों के बिना विश्व शून्य है। महत् कृपा एवं साधन–भजन के तारतम्य से साधक के साधन की मन्दता, मध्यता (बीच की अवस्था) और तीव्रता के अनुरूप नित्यसिद्ध सेवोपयोगी पार्षददेह का भी क्रमशः अस्पष्ट, ईषत् स्पष्ट एवं सुस्पष्ट रूप से आविर्भाव होता है। उस देह में अभिमान भी उसी के अनुरूप जगता है; व्रजवनिता–शिरोमणि राधारानी के चरणों में आश्रय भी तदनुरूप एकान्तभाव से ही होता है।

फिर कहते हैं–''अन्य बोल गण्डगोल, ना शुनहो उतरोल, राखो प्रेम हृदये भरिया'' अर्थात् 'अन्य बोल सभी गण्डगोल है, अतएव उस कोलाहल को मत सुनो और उच्छलित प्रेम को हृदय में भरकर रखो।' व्रजवनिताओं के आनुगत्यमय भजन की बात को छोड़कर अन्य सभी वार्ता गण्डगोल या व्यर्थ कोलाहल मात्र है; उसे सुनने की कोई आवश्यकता नहीं। हम जिस विषय का श्रवण–कीर्तन करते हैं, हमारा चित्त–मन उसी विषय में अभिनिविष्ट रहता है। इसलिये जो लोग अभीष्ट विषय में गाढ़ आवेशमयी 'रागानुगा' भक्ति का याजन करेंगे, उनके लिये स्वाभीष्ट आलोचना के अतिरिक्त अन्य सभी बातें चित्त–विक्षेपक होंगी। अतएव मञ्जरीभाव के साधक को

विजातीय जनों का सङ्ग या अन्य वार्ता का श्रवण-कीर्तन-चिन्तनादि त्यागकर स्वजातीयशय स्निग्धचित्त रसिकभक्तों के साथ ही स्वाभीष्ट विषय का ही श्रवण-कीर्तन आदि करना होगा।

कहते हैं, उतरोल या उच्छलित प्रेम हृदय में भरकर रखो, अर्थात् हृदय का प्रेम उच्छ्वसित होकर बाहर प्रकट होने लगे, तो प्रेमवेग को हृदय में धारण कर रखने की चेष्टा करनी होगी। बहिर्मुख सभा में प्रेम की अश्रु-पुलकादि सात्त्विक विकारों या नृत्य विलूठन आदि अनुभावों द्वारा प्रकाशित होने देना उचित नहीं। बुद्धिमान् भक्त बहिर्मुख के आगे प्रेम की गुप्त महानिधि की तरह रक्षा करेंगे। फिर भक्त सज्जनों की सभा में भी प्रेम उच्छलित होकर बाहर प्रकट होने लगे, तो दैन्य की हानि होती है और प्रेमिक के रूप में सभी से सम्मान प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है (यह प्रतिष्ठा भी भजन-विघातक है)। अतः सर्वत्र ही प्रेम को गुप्तरूप से हृदय में सुरक्षित रखना होगा। वाष्पराशि यंत्रविशेष में आबद्ध होकर विपुल शक्तिशाली हो जाती है और उसकी सहायता से अति विशाल यंत्रादि चलते देखे गये हैं; उसी प्रकार महाशक्तिशाली प्रेम भक्त-हृदय में संरुद्ध होकर देहयंत्र को सजोर चलाकर शीघ्र ही अभीष्ट के पादपद्म-समीप पहुँचा देता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने अपने प्रेमसम्पुट ग्रन्थ (६८) में श्रीराधामाधव के पारस्परिक प्रेम के सम्बन्ध में लिखा है-

''प्रेमा द्वयो रसिकयोरयि दीप एव हृद्वेश्म भासयति निश्चल एव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिस्कृतश्चेत् निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥''

अर्थात् 'प्रेमरूपी प्रदीप रसिक नायक और रसिका नायिका दोनों के हृदयरूपी गृहों को आलोकित कर निश्चलभाव से रहता है। वह मुखरूपी द्वार से बाहर निकलता है, पर शीघ्र ही बुझ जाता है या लघुता को प्राप्त करता है।' इस दृष्टान्त से प्रेम के बाहर अभिव्यक्त या प्रकाशित होने पर प्रेम की हानि होने की बात भी पता चलती है। तभी गम्भीरचेता महानुभव भक्तगण प्रेम को बाहर प्रकाशित नहीं होने देते, सतत हृदय में भरे रखते हैं॥६८॥

पाप-पुण्यमय देह, सकलइ अनित्य एह,
धन जन सब मिछा धन्द।
मरिले जाइबे कोया, इहाते ना पाओ व्यथा,
तबु निति करो कार्य मन्द॥६९॥

मिथ्या भ्रान्ति :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय ने पिछली त्रिपदी में श्रीश्रीराधाकृष्ण की प्रेमकथा या भजनकथा को छोड़ अन्य सभी विषयों को गण्डगोल (वृथा कोलाहल मात्र) बताया है और उनके श्रवणकीर्तनादि का निषेध किया है। अब प्रश्न उठेगा - तो क्या देह-दैहिक आदि की अनित्यता, चित्-जड़ की पृथकता आदि

तत्त्वकथायें भी गण्डगोल हैं? आचार्यपादगण ने इतने तत्त्व सिद्धान्तों की अवतारणा की है, वह क्यों? भक्तमहानुभवगण को भी तत्त्वसिद्धान्तों की इतनी समालोचना करते देखा जाता है, वह क्यों? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में इस त्रिपदी की अवतारणा की गई है।

देह में और दैहिकादि वस्तुओं में अर्थात् स्त्री-पुत्र धन-जन आदि में आसक्ति रहने से हरिभजन कभी नहीं होता, कारण-मन की आसक्ति जड़ीय विषयवस्तु में और भगवान् में एक साथ रखना कभी सम्भव नहीं। श्रीमद्भागवत (११/१४/७) में आया है-''विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते। मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥'' श्रीकृष्ण उद्धवजी से कह रहे हैं-'विषयचिन्तनशील व्यक्ति का चित्त विषयों में ही आसक्त रहता है और अनुक्षण मेरे चिन्तन में निविष्ट चित्त मुझ में ही निमग्न हो जाता है।' भगवान् ने यहाँ तक कहा है-''विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम्। वृक्षजीविकया जीवन् व्यर्थ भस्त्रेव यः श्वसन्॥'' (वही ११/९१/२२) अर्थात् 'विषय-अभिनिविष्ट चित्त व्यक्ति स्वयं को, परमात्मा को किसी को भी नहीं जान सकता। वह चेतनाशून्य की तरह वृक्ष की भाँति केवल प्राणधारणोपयोगी विषय ग्रहण करता है और धौङ्कनी की तरह व्यर्थ श्वास-प्रश्वास छोड़ता है। इसलिये वह जीवन्मृत-जैसा है।' देह-दैहिकादि में निविष्टचित्त व्यक्ति जब विधि भक्ति के याजन में ही समर्थ नहीं होता, तो रागभक्ति, सर्वोपरि परमरहस्यमय श्रीराधाकृष्ण-भजन उसके लिये कभी भी सम्भव नहीं होगा, यह कहना ही पर्याप्त। इसलिये देह-दैहिकादि की अनित्यता और चित्-जड़ की पृथकतारूपी तत्त्वालोचना की आवश्यकता भी बनी हुई है।

प्रश्न सम्भव है-भजन के आरम्भ की अवस्था में या प्रथमावस्था में इस तत्त्वालोचना का प्रयोजन हो सकता है, किन्तु भजन-अभिनिविष्ट महद्गण को भी यह तत्त्व-आलोचना करते क्यों देखा जाता है? इस प्रश्न का युक्तिसङ्गत उत्तर यह है कि जिन्होंने सत्सङ्ग-प्रभाव से और शास्त्रालोचना द्वारा यह जान लिया है कि भगवान् के अतिरिक्त अन्यान्य सभी वस्तुएं ही अनित्य हैं, उन लोगों के लिये भी यह सम्भावना रहती है कि विषयीगण और विषयों के सङ्ग-प्रभाव से देह-दैहिकादि में आसक्ति उत्पन्न हो जाय। इसलिये बीच-बीच में इन सभी अनित्य वस्तुओं के नितान्त मिथ्यात्व की आलोचना करने से उनमें आसक्ति कम हो जाती है। रागानुगा साधकगण का मन भी जब स्मरण आदि भजनाङ्गों से हटकर देह-दैहिकादि में निविष्ट होता है, तब यदि वे इन वस्तुओं की अनित्यता के विषय में सज्जनों के साथ आलोचना करें, तो उनका मन इन अनित्य विषयों में आसक्ति त्यागकर स्मरण में निविष्ट हो सकता है। तभी रागानुगीय साधकगण भी समय-समय पर युगलभजन की आलोचना के बीच प्रापञ्चिक वस्तुओं की अनित्यता आदि तत्त्वकथाओं की भी आलोचना किया करते हैं।

श्रील ठाकुर महाशय इस तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए अपने मन को उपदेश दे रहे हैं-''पाप-पुण्यमय देह, सकलि अनित्य एह, धन जन सब मिछा धन्द''। पाप के फलस्वरूप मानव को दुःख-दरिद्रता आदि से युक्त और अविरत रोगशोक-त्रिताप आदि ज्वालाओं से पूर्ण देह प्राप्त होती है। पुण्य के फलस्वरूप विषय-भोगमय शरीर मिलता है। ये सभी देहें अनित्य हैं, अर्थात् जल-बबूले की तरह अति क्षणभंगुर हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति को हर समय यह नश्वर देह त्यागने के लिये प्रस्तुत रहना होगा और सतत याद रखना होगा कि ऐश्वर्य-सम्पदा आत्मीयस्वजन आदि सभी मिछा धन्द अर्थात् मिथ्या भ्रान्ति या मोह को छोड़ और कुछ भी नहीं, कारण-अनात्मा

में आत्मबुद्धि लाना ही मोह का कार्य है। इसके कारण मिछा धन्द (मिथ्या भ्रान्ति) वश जो अस्थिर-अध्रुव है, जो कष्ट ताप दु:ख शोक का आकर है, वही स्थायी ध्रुव और आनन्द का निदान लगता है। जो कभी उसका नहीं, जिस पर उसका कुछ भी अधिकार नहीं, उसी धन-जन आदि नश्वर वस्तु को 'मेरी मेरी' कहकर उसके अभाव में मोहमुग्ध मानव अस्थिर हो उठता है और उन्हीं वस्तुओं के चिन्तन में देवदुर्लभ साधनयोग्य सुदुर्लभ आयुष्काल को वृथा गँवाता है। विषय-चिन्तन के विषमय फल की बात भगवान् ने अर्जुन से कही है -

''ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥''

(गीता २/६२-६३)

इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों का ध्यान करते-करते उनमें मानव की आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से उन्हें भोगने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, भोग की कामना में बाधा आती है तो क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से कार्याकार्यविवेक-नाश के रूप में मोह जन्मता है, मोह से स्मृतिनाश या शास्त्रउपदिष्ट स्वार्थ की विस्मृति होती है, उससे बुद्धि नष्ट होती है, बुद्धिनाश से सर्वनाश होता है, अर्थात् जीव नाना योनियों में बार-बार परिभ्रमण और दु:सह नरक आदि भोगों के रूप में महादु:खमय घोरतर संसार दशा उपस्थित होती है।

तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते है-''मरिले जाइबे कोथा, इहाते ना पाओ व्यथा, तबु निति करो कार्य मन्द''। मरण के समान सुनिश्चित सत्य और कुछ भी नहीं। मरण किसी भी मुहूर्त जीव को ग्रास बना लेगा- यह बात सभी जानते हैं। मृत्यु के साथ-साथ इस विश्व के साथ समस्त सम्पर्क नि:शेष रूप से पुछ जायेंगे-यह भी किसी से छिपा नहीं। किन्तु जीवजगत् के ऊपर माया की ऐसी विमोहिनी शक्ति है कि जिसके समान सुनिश्चित सत्य और कुछ भी नहीं, ज्ञान-बुद्धिवाली मानवदेह पाकर भी आदमी उसी मृत्यु को भूलकर विश्व-वैचित्री पर मुग्ध होकर बार-बार जन्म-मरण आदि के कराल कवल में ग्रस्त हो रहा है! मरण के पश्चात् मायाबद्ध जीव कहाँ जायेगा, किस अंधेरे राज्य में किस दशा में जाकर गिरेगा, और वह कितना भयावह है-इसका चिन्तन कर आदमी का व्यथित होना और शास्त्रों में वर्णित घोर नरक आदि के दु:खों से अवगत होकर मन्द कार्य त्याग कर मरणवारण श्रीगोविन्दपादपद्मों में शरणागत होना उचित है।

मरण को सतत याद रखे तो आदमी के लिये मन्द कार्य करना कभी सम्भव नहीं। इस विषय में एक सुन्दर दृष्टान्त सुना जाता है-एक राजा नाना प्रकार की सांघातिक पीड़ाओं से आक्रान्त हो मृतवत् हो गये। नाना प्रकार की चिकित्साओं से भी उस दुरारोग्य व्याधि से मुक्ति न मिली, तो उन्होंने जीवन की आशा त्याग दी। तभी एक साधु उस राज्य में आये, वे राजा को स्वस्थ-सबल बनाने के लिये किसी वृक्ष के पत्तों का रस पिलाने लगे। जितना रस राजा पीते, उसका तीन गुना रस वे साधु राजा के निकट ही नित्य पीते! मंत्रशक्ति की तरह रसपान से

राजा की व्याधि का नाश हो गया; वे क्रमशः स्वस्थ-सबल होते गये। उनका शरीर क्रमशः तेज से भर उठा, किन्तु तेजोवृद्धि के साथ-साथ उनके मन में अत्यन्त अपवित्र भाव आने लगा और कुप्रवृत्ति की उत्तेजना से उनका चित्त-मन अस्थिर हो उठा। एक दिन रसपान करते-करते वे साधु से बोले-''भगवन्! आपके दिये रस से मैं व्याधि-मुक्त हो गया, मेरी देह पुष्ट तेजःपूर्ण हो गई, किन्तु मेरे मन में अपवित्र भाव जग जाने से मैं क्रमशः नाश के पथ पर अग्रसर हो रहा हूँ। आपसे पूछता हूँ-आप नित्य मुझसे तीन गुना रसपान करते हैं; आपका ब्रह्मचर्य अटूट कैसे है?'' राजा की बात सुनकर साधु तत्क्षणात् बोले-''महाराज! इस प्रश्न का उत्तर पीछे दूँगा। अभी सहसा आपकी हस्तरेखा में आपका मृत्युयोग देखने में आया; जिस दिन एक मास पूरा होगा, उसी दिन आपकी मृत्यु होगी।'' एक माह बाद अपनी मृत्यु की बात सुनकर राजा अत्यन्त भयभीत हुए और साधु से उसके प्रतिकार की बात पूछने लगे। साधु बोले-''महाराज! मृत्यु को निश्चित है; यदि प्रतिकार है, तो इस रस से ही होगा; किन्तु रस की मात्रा चार गुनी करनी होगी।'' राजा साधु के आदेश से चार गुना रस पीने लगे। वस्तुशक्ति से देह तेज से मानो फटने लगी, पर कुभाव मन में और स्थान न पाये, कारण-मन मृत्यु के चिन्तन को लेकर अस्थिर है। दो-तीन दिन बाद साधु ने राजा से पूछा-''महाराज! अब आपकी कुप्रवृत्ति का अत्याचार कैसा है, आप चार गुना रस पी रहे हैं?'' राजा ने कहा-''भगवन्! इस समय तो मेरा मन सतत मृत्यु-चिन्तन में अस्थिर रहता है, वहाँ कुप्रवृत्ति कैसे आयेगी?'' साधु बोले-''महाराज! आपकी मृत्यु के आने में तो एक माह की देर है, अभी से कुभाव लुप्त हो गया; फिर मैं तो मृत्यु को सर्वदा सामने देखता हूँ, मेरे मन में कुप्रवृत्ति कैसे स्थान पायेगी?'' साधु के उपदेश से राजा ने देहरोग से तो मुक्ति पाई ही, साथ में देह-दैहिकादि के नश्वरत्व- बोध से श्रीगोविन्दचरणों में शरणागत हो भवव्याधि से भी विमुक्ति प्राप्त की॥९६॥

राजार जे राज्यपाट, जेनो नाटुयार नाट,

देखिते देखिते किछु नय।

हेनो माया करे जेइ, परम ईश्वर सेइ,

तारे मन! सदा करो भय॥७०॥

अभिनेता का अभिनय :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय ने पिछली त्रिपदी में देह-दैहिकादि की नश्वरता और परलोक में नरक आदि दुःसह दुःखों का वर्णन कर अपने मन को शिक्षा देने के बहाने सांसारिक लोगों को मन्द कार्यों से दूर रहने का उपदेश दिया था। इस त्रिपदी में उल्लेख कर रहे हैं कि साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या, राजा का राज्य-सम्पदा आदि में ममत्वबोध भी अभिनेता के अभिनय-जैसा है, और कुछ नहीं। यह उल्लेख कर पुनः अपने मन को सीख देने के बहाने असत् कार्य करने वालों को उपदेश दे रहे हैं कि मायापति श्रीहरि से डरते हुए पापकार्यादि से बचें-''राजार जे राज्यपाट, जेनो नाटुयार नाट, देखिते देखिते किछु नय''। जो व्यक्ति रङ्गमञ्च

पर राजा का अभिनय करता है, वह राजा की तरह वेशभूषा धारण कर राजा की तरह ही राज्य-शासनादि की या ऐश्वर्यसम्पदा आदि की बात करता है। उसी प्रकार दम्भ गर्व आदि दिखाता है; मंत्री सेनापति आदि से बात करता है, आदेश आदि भी देता है। किन्तु कोई भी वस्तु वास्तविक नहीं है, यह अभिनेता भी जानते हैं, दर्शक भी जानते हैं। अभिनय की अवधि में भी उसे राज्य-सम्पदादि कुछ नहीं मिलता; अभिनय के अन्त में पोशाक उतार फेंकते हैं और वे सब अभिनेता वही राम श्याम यदु साधारण व्यक्ति ही रहते हैं; कोई भी राजा या मंत्री नहीं बन पाता। इसी प्रकार राजा की राज्य-सम्पदा आदि सभी अभिनेता के अभिनय के तुल्य होती है। भेद इतना ही है कि अभिनेता का अभिनय एक रात या कुछेक घण्टों का होता है और राजा का अभिनय कुछ वर्षों का। जीवन-नाट्य का अवसान होने पर या देहरूपी परिच्छद खिसक जाने पर राज्य-सम्पदा आदि के साथ और कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कर्मफलों का बोझ सिर पर लिये अनन्त योनियात्राओं में दु:खमय संसारमरुप्रदेश में चक्कर काटना पड़ता है। राजा का राज्यपाट आदि अभिनेता का अभिनय मात्र होता है, पर जीव पर माया की ऐसी विमोहिनी शक्ति काम करती है कि वह माया-नाट्य के अभिनेता राजा को या अन्यान्य मायामुग्ध जीवों को इतना-सा भी समझने नहीं देती। रङ्गमञ्च का अभिनेता असली राजा नहीं है, इसे तो सभी समझ जाते हैं। लगता है, माया इतना-सा समझ लेने दे तो यह नाटक अच्छी तरह जमेगा नहीं!

अथवा 'नाटुयार नाट' का अर्थ है ऐन्द्रजालिक का इन्द्रजाल मात्र। राजा की राज्य-सम्पदा आदि सभी ऐन्द्रजालिक के इन्द्रजाल की तरह क्षणिक और भ्रान्ति मात्र है। उस महाऐन्द्रजालिक भगवान् ने अपनी त्रिगुणात्मिका मायाशक्ति से विश्व में यह विराट इन्द्रजाल फैला रखा है। कर्मी ज्ञानी योगी कोई भी इस महामायावी के इन्द्रजाल की मोहिनीशक्ति से छुटकारा पा सके, इसका उपाय नहीं। जो ऐन्द्रजालिक के निजजन हैं, या शरणागत सेवक है; उन्हीं को उसका कार्य विमोहित नहीं करता। उसी प्रकार भगवान् के चरणों में शरणागत भक्तों को मायाकार्य का प्रभाव अनुभूत नहीं होता। भगवान् के श्रीमुख की वाणी है-

''दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥''

(गीता ७/१४)

मेरी जीवमोहिनी त्रिगुणात्मिका बहिरङ्गा माया को अतिक्रमण करना बड़ा कठिन है; जो मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे ही इस मायासिन्धु को पार करते हैं। श्रीहरिचरणों में शरणागत व्यक्ति ही सब कुछ त्यागकर श्रीभगवद्भजन-सम्पदा प्राप्त कर सदा-सदा के लिये धन्य होता है। तभी भगवान् ने समस्त मायिक वस्तुओं में आसक्ति त्यागकर उनके चरणों में शरणागति का उपदेश दिया है-

''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥''

(वही १८/६६)

'हे अर्जुन! समस्त वर्णाश्रमादि धर्मों का त्यागकर मेरी शरण ग्रहण करो, मैं तुम्हें सभी पापों से विमुक्त कर दूँगा-अतएव शोक मत करो।' यहाँ राजा की राज्य-सम्पदा को अभिनेता का अभिनय या ऐन्द्रजालिक का इन्द्रजाल कहा गया है-इससे कोई यह न समझें कि मायारचित यह ब्रह्माण्ड इन्द्रजाल की तरह मिथ्या है-यह मायावादियों का सिद्धान्त है। यह ब्रह्माण्ड भगवान् की मायिक विभूति है, इसलिये नश्वर होते हुए भी मिथ्या नहीं, सत्य है। देह-दैहिकादि में 'मैं मेरा' ज्ञान ही इन्द्रजाल की तरह मिथ्या या भ्रान्तिमात्र है, यह समझना होगा।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''हेनो माया करे जेइ, परम ईश्वर सेइ, तारे मन सदा करो भय''। भगवान् मायाधीश या मायातीत सच्चिदानन्दमय तत्त्व हैं, फिर भी उन्हीं के आश्रय में माया उनके श्रीपादपद्मों से विमुख जीवों पर अपनी शक्ति का विस्तार करने में समर्थ होती है। भगवान् का आश्रयरूपी कर्तृत्व है, तभी उनके अधीन माया का भगवद्बहिर्मुख जीव-मोहन कार्य सम्पन्न होता है। इसीलिये कहा गया है-''हेनो माया करे जेइ, परम ईश्वर सेइ''। चतुःश्लोकी में भगवान् ने स्वयं ही माया के लक्षण निरूपण-प्रसङ्ग में कहा है-

''ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥''

(भा० २/९/३३)

भगवान् ब्रह्माजी से कहते हैं-''हे ब्रह्मन्! परमार्थतत्त्व मेरे बिना जिसकी प्रतीति होती है और जिसकी मुझमें प्रतीति नहीं होती, अर्थात् जिस वस्तु की सत्ता मुझमें नहीं है, उसे मेरी माया समझना। जैसे आभास और तमः।'' भगवान् के स्वरूपतत्त्व के बाहर जो प्रतीत होती है, किन्तु स्वरूप-तत्त्व के बिना जिसकी प्रतीति नहीं है, वही माया है। जीवमाया और गुणमाया रूप से यह द्विविध है। भगवान् ने 'आभास और तमः' दृष्टान्तों से उक्त जीवमाया एवं गुणमाया का कार्य ही बताया है। जैसे 'आभास' वैसे जीवमाया। ज्योतिष्मान् वस्तु के अपने अवस्थानदेश (स्थान) से दूर स्थित स्थान पर ज्योतिमय प्रतिबिम्ब को आभास कहते हैं। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब दर्पण आदि पर पड़ता है, उसी प्रतिबिम्ब को आभास कहा जायेगा। वह प्रतिबिम्ब या आभास सूर्य से बहुत दूर विकसित है, पर सूर्य के न होने से उसका होना सम्भव नहीं। उसी प्रकार जीवमाया भी भगवत् स्वरूप से बाहर अवस्थित है। भगवद्विमुख जीवों पर ही उसका प्रभाव है, भगवत् स्वरूप पर नहीं। किन्तु भगवान् के बिना इस माया की सत्ता नहीं हो सकती।

दर्शन पर पड़े प्रतिबिम्ब की वह चमकती तेजोराशि जिन लोगों की दृष्टि में आती है, उनकी दृष्टिशक्ति आवृत हो जाती है, अन्धकार दिखाई देता है और अपने पास नील-पीत आदि नाना वर्ण दिखाई देते हैं। वे वर्ण कभी-कभी नाना प्रकार की आकृतियाँ धारण कर लेते हैं। उसी प्रकार जीवमाया जीव के ज्ञान को आवृत कर उसके आगे सत्त्व रजः और तमोमयी गुणमाया को आविर्भूत कर देती है, जीव के ज्ञान के ऊपर उस त्रिगुण का अज्ञान डाल देती है और विशाल जगत् की सृष्टि करती है। मूल ज्योतिर्बिम्ब में अवस्थित न होकर भी उसके आश्रय के बिना उस तम (अन्धकार) की स्वतः सम्भावना नहीं होती। उसी प्रकार गुणमाया भी परमार्थभूत भगवान् के बिना स्वतःप्रतीत नहीं। जीवमाया निमित्त शक्ति वृत्तियुक्त है और गुणमाया उपादानशक्ति वृत्तियुक्त है।

तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है-''हेनो माया करे जेइ, परम ईश्वर सेइ, तारे मन! सदा करो भय''। 'हे मन! तुम उसी मायापति परमेश्वर से सदा डरो।' जिन्हें ईश्वर का भय नहीं, उनकी पापकार्य में प्रवृत्ति उत्पन्न होना सम्भव है; जिन्हें भय है, उनका मन पाप में कभी नहीं जा सकता। तात्पर्य यह है कि सर्वमय सर्वव्यापी परमेश्वर सभी के चित्त मन बुद्धि और आत्मा के भी द्रष्टा हैं; मन्दकार्य कर उनकी आँखों से बचने की सामर्थ्य किसी में नहीं। छिपकर पापकार्य कर लोगों की दृष्टि से बचकर बाहर साधु सजा जा सकता है, किन्तु सर्वद्रष्टा श्रीहरि की आँखों में धूल झोंकने की सामर्थ्य किसी में नहीं। इसलिये ईश्वर का भय रखने से पाप-प्रवृत्ति जगने की कोई सम्भावना नहीं रहती॥७०॥

पाप ना करिहो मन, अधम से पापी जन,
तारे मुइ दूरे परिहरि।
पुण्य जे सुखेर धाम, तार न लइयो नाम,
पुण्य मुक्ति दुइ त्याग करि॥७१॥

पाप-पुण्य और मुक्ति का त्याग :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में अपने मन को उपदेश दे रहे हैं-भक्ति-विघातक पाप पुण्य यहाँ तक कि मुक्ति की वासना त्यागने का। पहले कहते हैं-''पाप ना करिहो मन, अधम से पापी जन, तारे मुइ दूरे परिहरि''। पापकर्म में अभिनिवेश रहने से चित्त मलिन होता है; उस मलिन चित्त में भगवन्नाम गुण लीलादि का स्फुरण नहीं होता। श्रद्धालु भक्त के मन में पापवासना कभी नहीं जग सकती। उसके हृदय में भोगवासना हो, तो वह भी कभी पापजनक नहीं। ''जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् (भा० ११/२०/२८) अर्थात् श्रद्धालु विषयभोग त्यागने में असमर्थ हो तो उसका फल दुःखकर जानकर निन्दापूर्वक भोग करता है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है ''सहसा त्यक्तुमसमर्थत्वात् कामान् जुषमाणश्च गर्हयंश्च। गर्हणे हेतुःदुःखोदर्कान् शोकादिकृदुत्तरफलानिति। अत्र कामा अपापकारा एव ज्ञेयाः। शास्त्रे कथञ्चिदपि अन्यानुविधानायोगात्। प्रत्युत-'परपत्नी-पर-द्रव्य-परहिंसासु यो मतिम्। न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः।' इति विष्णुपुराणवाक्यादौ कर्मार्पणात् पूर्वमेव तन्नियेधात्।.....विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित् धूनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः' (भा० ११/५/४२) इत्यत्रापि कथञ्चित्-शब्द प्रयोगेण लब्धभक्तीनांश्च स्वतस्तत्प्रवृत्त्ययोगात्। 'नाम्नो बलाद् यस्यहि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः' इति पाद्य-पद्ये नामापराधभञ्जनस्तोत्रादौ हरिभक्तिबलेनापि तत्प्रवृत्तावपराधपाताच्च। 'अपिचेत् सुदुराचारः' (गीता ९/३०) इति तु तदनादरदोयपर एव, न तु दुराचारता-विधानपरः, 'क्षिंप्र भवति धर्मात्मा' (वही गीता ९/३१) इत्यनन्तर वाक्ये दुराचारतापगमस्य श्रेयस्त्वनिर्देशादिति।'' (भक्तिसन्दर्भ १७२) अर्थात् 'श्रद्धावान् सहसा काम त्यागने में असमर्थ होने पर उसका परिणाम फल दुःखद या शोकजनक जानकर निन्दा करते हुए भोग करते हैं। यहाँ 'काम'

पापजनक नहीं है, यह समझना होगा। कारण–शास्त्रों में कहीं भी पापजनक कार्य का विधान नहीं दिया। प्रत्युत: 'हे राजन! जो परस्त्री, परद्रव्य और परहिंसा की इच्छा नहीं करते, श्रीहरि उनसे सन्तुष्ट होते हैं।' – इस विष्णुपुराण की वाणी में कर्मार्पण से पूर्व ही वह निषिद्ध हुआ है।..... 'अपने पादपद्मों के भजन में लगे अनन्यचित्त भक्त का कथञ्चित् दुष्कर्म उपस्थित भी होता है, तो उसके हृदय में स्थित श्रीहरि उसे विनष्ट कर देते हैं, इस श्रीमद्भागवतवाक्य में 'कथञ्चित्' शब्द से यही बताया गया है कि दुष्कर्म के विषय में भक्तों में स्वत: प्रवृत्ति का अभाव होता है। ❋ नामबल पर जिसकी पापाचरण में प्रवृत्ति जगती है, उसकी शुद्धि यमसमूह द्वारा भी नहीं होती' इत्यादि नामापराधभञ्जन–स्तोत्र में भक्तिबल पर पापाचरण में प्रवृत्ति को अपराध कहा गया है। गीता में भगवान् ने 'अपिचेत् सुदुराचार:' आदि श्लोक में भजनशील व्यक्ति दुराचारी होने पर भी उसे साधु मानकर मनन करने के लिये कहा है, इसका अर्थ यह नहीं कि दुराचार का विधान दिया गया है; दुराचार का अनादर कर उसे दोषदुष्ट ही कहा गया है, कारण–उसके बादवाले श्लोक में 'सत्वर ही धर्मात्मा होता है' इस वचन में दुराचारता–विहीनता ही श्रेयरूप में निर्दिष्ट है–यह जानना होगा।'' इसलिये श्रील ठाकुर महाशय ने अति दैन्य से भरकर स्वयं को पापी–तापी मानकर अपने मन से कहा है–''पाप ना करिहो मन''।

स्वयं पापाचरण की बात तो दूर रही, भक्तसाधक को तो पापाचारी व्यक्ति से भी दूर रहना होगा–''अधम से पापी जन, तारे मुइ दूरे परिहरि''। पापीजन अधम अर्थात् असत् नीच या परमदुष्ट है। जैसे सत् सङ्ग के प्रभाव से साधक की परम उन्नति सुनिश्चित होती है, वैसे ही असत् सङ्ग में प्रचुर मात्रा में अवनति होती देखी जाती है। प्रबल महद्गुणसम्पन्न साधु–महात्माओं के देह–मन इतने पवित्र होते हैं कि उनके शरीर में स्थित महद् गुणावली उनके निकट स्थित व्यक्तियों के चित्त में पवित्र भाव का सञ्चार करने में बड़ी समर्थ होती है। दूसरी ओर, दुष्टचित्त पापी के चित्त–मन असत् भाव से इतने कलुषित होते हैं कि उनके चारों ओर रहने वाले लोगों के चित्त भी उनके सङ्ग प्रभाव से कलुषित हो जाते हैं। आरोग्य चाहने वाले रोगी के लिये रोगवर्धक कुपथ्यादि परिणाम में देह–विनाशक होने के कारण सभी प्रकार से त्याज्य होते हैं; उसी प्रकार भक्तिपथ में प्रविष्ट भजनाकांक्षी साधकों के लिये पापी–तापियों का सङ्ग दूर से ही त्याज्य है। इसीलिये असत् सङ्ग त्याग को वैष्णव–सदाचार के अन्तर्गत रखा गया है–''असत् सङ्ग त्याग एइ वैष्णव–आचार'' (चै० च०) अतएव स्वयं साधु होते हुए भी ऐसे असत् सङ्ग से सतत सावधान रहना उचित।

❋ **''विधिधर्म छाड़ि भजे कृष्णे चरण।**
निषिद्ध पापाचारे तार कभु नहे मन॥
अज्ञानेओ यदि हय पाप उपस्थित।
कृष्ण तारे शुद्ध करे ना करे प्रायश्चित॥''

यहाँ 'अज्ञानेओ' शब्द से यही समझा जाता है कि भक्त जानबूझ कर पाप नहीं करता। (चै० च० मध्य०, परि० २२)

प्रश्न हो सकता है–यदि साधु महत् जन पापी–तापी आदि दुर्गत जनों से दूर हटकर रहेंगे, उन्हें अपना सङ्ग प्रदान कर पाप–तापादिरहित बनाकर भजन में प्रवृत्त नहीं करेंगे, तो उन पापी–तापियों की क्या गति होगी? अति सत्य बात। पापी–तापी दुर्गतजनों को सङ्ग प्रदान कर भक्तिपथ पर प्रवर्तित करना होगा साधु सज्जनों को ही, किन्तु उतना शक्तिसम्पन्न होना आवश्यक है। बिच्छूकाटे की औषधि की आशा में कालसर्प का सङ्ग करना उचित नहीं; उससे अनिष्ट ही होगा, इष्टलाभ कुछ नहीं। जहाँ अपना मङ्गल नहीं होता, क्षति की ही सम्भावना रहती है, वहाँ दूर से ही सङ्ग त्यागना कर्तव्य है। श्रील ठाकुर महाशय प्रेम की मूर्ति होकर भी साधक जगत् को शिक्षा देने के लिये पापाचारी व्यक्ति से दूर हटकर रहना चाहते हैं।

इसके बाद कहते हैं–''पुण्य जे सुखेर धाम, ना लइहो तार नाम, पुण्य मुक्ति दुइ त्याग करि''। यहाँ 'पुण्य' का अर्थ है–इहलोक के वैषयिक सुखसाधक और परलोक के स्वर्ग सुखसाधक याग, यज्ञ दया दाक्षिण्य आदि कर्मविशेष। ये पुण्य वैषयिक सुखों के धाम या जड़ीय विषय–सुख देने वाले हैं। दु:ख–साधक पाप–तापादि के फलस्वरूप दु:ख भोगते–भोगते किसी दिन निर्वेद जग जाय और जीव महत् सङ्ग एवं भक्तिमार्ग की ओर झुक जाय इसकी सम्भावना रहती है, किन्तु वैषयिक सुखसाधक पुण्यों के फलस्वरूप विषयसुखों की उन्मादना से तो किसी भी दिन जीव के चित्त में निर्वेद नहीं जग सकता। विषय–आविष्ट चित्त से तो भगवत् आवेश भी सुदूर रहता है। श्रीविष्णुपुराण में आया है–''विषयाविष्ट–चित्तानां विष्ण्वावेश: सुदूरत:। वारुणी दिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात्॥'' अर्थात् 'विषयाविष्टचित्त व्यक्तियों के लिये भगवान् श्रीविष्णु के प्रति मनोनिवेश सुदूर की बात है। जो व्यक्ति पूर्व की ओर जा रहा है, उसे पश्चिम में अवस्थित वस्तु कैसे मिल सकती है?' इस वाक्य से पता चलता है कि भगवत् आवेश विषय–आवेश से पूरी तरह विपरीत है। फिर विषयसुख में डूबे धनमदान्ध व्यक्ति के लिये भक्ति के मौलिक हेतु महत्सङ्ग और महत्कृपा भी बहुत दूर रहते हैं। श्रीमद्भागवत में आया है–''साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम्। उपेक्षै: किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयै:॥''''जो लोग एकमात्र श्रीमुकुन्द–पादपद्मों की सेवा के अभिलाषी हैं, उन–जैसे समद्रष्टा साधुओं को धनगर्वित, दु:सङ्गत, उपेक्षणीय, असत् एवं धनवान् व्यक्तियों की क्या आवश्यकता?' तभी श्रील ठाकुर महाशय अपने मन से कहते हैं–''पुण्य जे सुखेर धाम, ना लइहो तार नाम''। श्रद्धावान् भक्त के लिये विषयसुख–साधक पुण्य का नाम तक लेना उचित नहीं। रागानुगीय साधकों को पाप–पुण्य के साधक धर्माधर्म के साथ कोई भी सम्पर्क रखे बिना इस व्रजधाम में श्रीराधाकृष्ण की प्रचुर परिचर्या करनी होगी–''न धर्म नाधर्म श्रुतिगणनिरुक्तं किल कुरु व्रजे राधाकृष्ण–प्रचुर–परिचर्यामिह तनु'' (श्रीदासगोस्वामिपाद की मन: शिक्षा) 'हे मन! तुम वेदशास्त्रोक्त धर्माधर्म का आचरण कदापि मत करना; इस व्रजधाम में श्रीराधाकृष्ण की प्रचुर परिचर्या करो।'

श्रेय:साधक भक्तों को भुक्ति की तरह मुक्ति को भी सीप की भाँति त्यागना होगा–''पुण्य मुक्ति दुइ त्याग करि''। भोगवासना की बात दूर रही, जिससे जन्म–मृत्यु आदि संसार–दु:खों की चरम निवृत्ति होती है, वह मुक्तिवासना भी भक्तिवासना की विरोधी है। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने लिखा है–''भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते। तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्?'' (भ० र० सि० १/२/२२) अर्थात् 'भुक्ति मुक्ति स्पृहारूपी पिशाची जब तक हृदय में विद्यमान है, तब तक उस हृदय में भक्तिसुख का उदय नहीं हो सकता।'

विशेषत: मुक्तिस्पृहारहित लोग भी भक्तिदेवी की करुणा पाकर धन्य होते हैं। ''तत्रापि च विशेषेण गतिमण्वी-मनिच्छत:। भक्तिर्हृतमन:प्राणान् प्रेम्ना तान् कुरुते जनान्॥' (वही १/२/२३)-'विशेषत: मुक्तिस्पृहारहित लोगों के मनप्राण और इन्द्रियों को भक्तिदेवी प्रेम द्वारा हरण किया करती है।' तभी कहा गया है-''पुण्य मुक्ति दुइ त्याग करि''॥७१॥

प्रेमभक्ति सुधानिधि, ताहे डुबो निरवधि,
आर जतो क्षारनिधि प्राय।
निरन्तर सुख पाबे, सकल सन्ताप जाबे,
परतत्त्व कहिनु उपाय॥७२॥

प्रेमभक्ति सुधानिधि :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय ने पुण्य और मुक्ति आदि भक्ति की आच्छादक और प्रतियोगी सभी वस्तुओं को त्यागने की बात कही। अब इस त्रिपदी में प्रेमभक्ति की रसमाधुरी आस्वादन कर धन्य होने के लिये मन को प्रेरित कर रहे हैं-''प्रेमभक्ति सुधानिधि, ताहे डुबो निरवधि, आर जतो क्षारनिधि प्राय'' अर्थात् प्रेमभक्ति सुधानिधि या अमृत के सिन्धु के तुल्य है। भक्ति श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति की सारभूत ह्लादिनीशक्ति की वृत्ति विशेष है, इसलिये स्वत: ही परम आस्वाद्य है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने श्रीपरमात्मसन्दर्भ में लिखा है-''किञ्च परमसारभूताया अपि स्वरूपशक्ते: सारभूता ह्लादिनी नाम या वृत्तिस्तस्या एव सारभूतो वृत्तिविशेषो भक्ति:'', अर्थात् भगवान् की परम सारभूत स्वरूपशक्ति की प्रधान वृत्ति का नाम ह्लादिनी है। इसी ह्लादिनी की प्रधान या सारभूत वृत्ति का नाम ही भक्ति है।

श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण ने भी अपने सिद्धान्तरत्न ग्रन्थ में उल्लिखित सिद्धान्त की प्रतिध्वनि कर लिखा है-''भगवद्वशीकारहेतु भक्ति: किं स्वरूपेति, किं प्राकृतसत्त्वमय-ज्ञानानन्दरूपा किंवा भगवद्ज्ञानानन्दरूपा अथवा जैवज्ञानानंदरूपा उत ह्लादिनीसार-समवेत सम्वितसाररूपेति? नाद्य: भगवत्तो मायावश्यत्वाश्रवणात्, स्वत: पूर्णत्वाच्च न द्वितीय अतिशयासिद्धे:, नापि तृतीय जैवयोस्तयो: क्षोदिष्टत्वात्। किन्तु चतुर्थ एवासौ भवेदिति।'' अर्थात् भगवान् की वश्यता की एकमात्र हेतु भक्ति का स्वरूप क्या है? भक्ति क्या प्राकृत सत्त्वज्ञानानन्दरूपा है, अर्थात् भक्ति क्या अन्त:करण का धर्म है, या परमात्मा का स्वरूपभूत धर्म है, या जीवात्मा के स्वरूप का धर्म है, अथवा भगवान् की स्वरूपभूत ह्लादिनीशक्ति और सम्वितशक्ति के सारसमवेत की परावस्था है? 'भक्ति' के विषय में ये चार संशयात्मक प्रश्न हैं। संशय का कारण है-भक्ति में सुख या आनन्द है और अनुभव है। प्राकृत सत्वगुण में भी सुख एवं अनुभव है। इस समानता के कारण प्रश्न उठता है-भक्ति क्या प्राकृत सत्वज्ञानानन्दरूपा है? अथवा सच्चिदानन्दमय भगवान् के स्वरूप में जो ज्ञान और आनन्द है, वही जीव के हृदय में प्रतिफलित होकर भक्ति नाम से जाना जाता है? अथवा अणुचित्स्वरूप जैवानन्द ही भक्ति है? अथवा भगवान् की स्वरूपशक्ति की वृत्तियाँ जो ह्लादिनी और सम्वित् हैं, उनकी सारसमवेत परिणति का नाम भक्ति है?

भक्ति को सत्त्वगुण की वृत्ति अन्तःकरण का धर्म कहने से भगवान् में माया के वशीभूत होने का दोष लगता है। भगवान् भक्ति के वश हैं, यह सभी शास्त्रों में देखने में आता है, किन्तु वे मायिक सत्वगुण के वशीभूत होते हैं, यह किसी भी शास्त्र में न देखा जाता है न सुना जाता। इसलिये प्रथम पक्ष छोड़कर दूसरा पक्ष लिया जाता है। दूसरा पक्ष है–भगवान् का स्वरूपभूत ज्ञान और आनन्द ही भक्ति है। किन्तु वह भी कैसे सम्भव है? उसमें तो अतिशयासिद्धि दोष लगता है, कारण–भगवान् के स्वरूपानन्द से कहीं अधिक आनन्द या सुख भक्ति में है, क्योंकि भगवान् स्वरूपानन्द त्यागकर भी भक्तिआनन्द आस्वादन की वासना किया करते हैं। तृतीय पक्ष भी सुसङ्गत नहीं, कारण–जीव का ज्ञान और आनन्द स्वरूपतः अणु है, अतएव अति क्षुद्र है। उस क्षुद्र ज्ञानानन्द द्वारा विभु सच्चिदानन्दमय भगवान् को आकृष्ट करना सर्वथा असम्भव है। अब तीनों पक्षों में असामञ्जस्य या असम्भावना देखकर पारिशेष्य प्रमाण से चौथा पक्ष ही स्वीकार करना पड़ता है–अर्थात् भगवान् की स्वरूपशक्ति की सारभूता जो ह्लादिनी और सम्वित् हैं, उनकी सार समवेत अवस्था ही भक्ति है।

''एषा तु भक्तिस्तन्नित्य–परिकरगणादारभ्येदानीन्तनष्वपि तद्भक्तेषु मन्दाकिनीव प्रचरति। अतस्तद्भक्तकृपैवलभ्येति भागवतादि सम्वादः। सा तथाभूता नित्यधाम्नि नित्यपार्षदेषु नित्यं चकास्ति सुरसरिदिव तद्भक्तप्रणाल्या प्रपञ्चेऽवतरति'' (बलदेव विद्याभूषण)। साधक का हृदय श्रवणकीर्तनादि द्वारा परिमार्जित हो जाता है, तो भगवान् के नित्यपार्षदों में विराजित जो प्रेमभक्ति है, वह मन्दाकिनी प्रवाह की तरह भक्तरूपी प्रणालिका (श्रीगुरुप्रणाली) के माध्यम से प्रपञ्च में अवतरण करती है और वही नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम साधक के चित्त में आविर्भूत होकर उसे अपार्थिव आनन्द देकर चिर कृतार्थ करता है।

प्रेमभक्ति के आस्वादन की तुलना कहीं भी नहीं है, तथापि विश्वमानव को उस अलौकिक अपार्थिव आनन्द की किञ्चित् धारणा कराने के लिये विश्व की सर्वश्रेष्ठ आस्वाद्य वस्तु सुधा के आस्वादन से उसकी तुलना की गई है। किन्तु केवल 'सुधा' न कहकर कहा गया है 'प्रेमभक्ति सुधानिधि'–अमृतसिन्धु की तरह प्रेमभक्तिरस का आस्वादन! जिसकी एक बूँद के आस्वादन से अन्यान्य सभी आनन्द तुच्छ हो जाते हैं। श्रीमत् सनातनगोस्वामिपाद ने श्रीवृहद्भागवतामृत में अपनी स्वरचित दिग्दर्शिनी टीका के मङ्गलाचरण में लिखा है–

''भक्तिर्या निखिलार्थवर्गजननी या ब्रह्मसाक्षात्कृते–
रानन्दातिशयप्रदा विषयजात् सौख्याद्विमुक्तिर्यया।
श्रीराधारमणं पदाम्बुजयुगं यस्या महानाश्रयो
या कार्या व्रजलोकवद्गुरुतरप्रेम्नैव तस्यै नमः॥''

'जो भक्ति समस्त पुरुषार्थों को जन्म देती है, अर्थात् धर्म अर्थ काम मोक्ष देने वाली है; जिससे स्वतः ही ब्रह्मानन्द से कहीं अधिक परम महान सुखराशि प्राप्त होती है; जिसके आगे समस्त विषयसुख अति तुच्छ हो जाते हैं; श्रीराधारमण के पदाम्बुजद्वय जिस भक्ति के महान् आश्रय हैं; व्रजवासियों की तरह गुरुतर प्रीति के साथ

जिसका अनुष्ठान किया जाता है, उसी भक्तिदेवी को नमस्कार।' इस श्लोक में साधनभक्ति के आस्वादन की बात ही कही गई है। साधनभक्ति का आस्वादन भी कम नहीं, कारण–प्रेमभक्ति की समानता साधनभक्ति में भी है। साधनभक्ति और प्रेमभक्ति एक ही अवस्था की 'तर' 'तम' दशायें हैं। साधनभक्ति का आस्वादन तरल और प्रेमभक्ति का अति सघन, यही भेद है। श्रील ठाकुर महाशय ने प्रेमभक्ति सुधानिधि में डूबने का उपदेश दिया है। ''ताहे डूबो निरवधि'' सतत डूबने के लिये उस सिन्धु की आवश्यकता नहीं; प्रेमभक्ति की एक बूँद ही जगत् को डुबा सकती है। श्रीचैतन्यचरितामृत (२/४३) में श्रीमन्महाप्रभु की उक्ति है–''शुद्ध प्रेमसुखसिन्धु, पाइ तार एकबिन्दु, सेइ बिन्दु जगत् डुबाय'' अर्थात् शुद्धप्रेम में जो अपरिमित रस या आस्वादन है, उसके एक बिन्दुमात्र के आस्वादन से ही विश्व के समस्त विषयानन्दों ऋद्धि सिद्धि आदि का सुख, यहाँ तक कि मोक्षानन्द भी तुच्छ अतितुच्छ लगने लगता है। केवल तुच्छ ही नहीं, अति घृणित, नक्कारजनक या तिक्त अर्थात् अति कटु लगता है। इसीलिये श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है–''आर जतो क्षारनिधि प्राय''।

फिर कहते हैं–''निरन्तर सुख पाबे, सकल सन्ताप जाबे, परतत्त्व कहिनु उपाय''। अर्थात् प्रेमभक्ति का आस्वादन नित्य शाश्वत है, वह प्रेमिक को एक अखण्ड आस्वादनसिन्धु में निमग्न किये रखता है। आनुषङ्गिक रूप से ही त्रिताप आदि सभी सन्ताप नष्ट हो जाते हैं। परतत्त्ववस्तु या श्रीश्रीराधामाधव को एकान्तभाव से प्राप्त करने या आस्वादन करने का यही एकान्त उपाय है।

''पञ्चम पुरुषार्थ सेइ प्रेममहाधन।
कृष्णेर माधुर्यरस कराय आस्वादन॥
प्रेमा हैते कृष्ण हय निजभक्तवश।
प्रेमा हैते पाइ कृष्ण-सेवा-सुख-रस॥''

(चै० च०)

अथवा, 'परतत्त्व' का अर्थ है स्वयंसिद्ध अद्वय श्रुति–स्मृति का प्रतिपाद्य पराख्य स्वरूपशक्ति–विशिष्ट। यही परतत्त्व स्वप्रधानता से स्फुरित होने पर 'पुरुषोत्तम' आख्या प्राप्त करता है। पराख्यशक्ति–प्रधानता से स्फुरित होने पर धर्म आदि नाम धारण करती है। जैसे–स्वयं पराशक्ति ही ज्ञान, सुख, करुणा, माधुर्य आदि आकारों में स्फुरित होकर 'धर्म' के रूप में प्रकाशित होती है। शब्द आकार में स्फुरित होने पर भगवान् के नाम और वाक्यादि रूप में, धरित्री के आकार में स्फुरित होने पर धाम रूप में और ह्लादिनी के सार समवेत सम्विदात्मक रमणीरत्नरूप में स्फुरित होने पर श्रीराधा आदि स्वरूपों में विभाजित होती है। (वेदान्त दर्शन ३/३/४२) सूत्र का गोविन्दभाष्य का सिद्धान्त) इससे यह भी बताया गया है कि श्रीराधामाधव के रूपमाधुर्य के साथ उनके नाम गुण आदि की, धाम की, करुणा आदि की माधुरी का आस्वादन प्रेमभक्ति में मग्न होने पर स्वतः ही हो जाता है॥७२॥

अन्येर परश जेनो, नहे कदाचित् हेनो,

इहाते हइबो सावधान।

राधाकृष्ण नामगान, एइ से परम ध्यान,

आर ना करिहो परमाण॥७३॥

टीका -

अन्येर-योगिन्यासिकर्मिज्ञानिप्रभृतीनाम्। कदाचित-आपद्यपि यथा स्पर्शनं न भवेत् तथा सावधानो भवामि॥७३॥

परम ध्यान :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय ने पिछली त्रिपदी में अपने मन को प्रेमभक्ति-सुधानिधि में मग्न होने का उपदेश दिया। अब उसी प्रेमभक्ति को पाने की साधना का उपदेश दे रहे हैं। उपदेश दो प्रकार का (१) वर्जनात्मक और (२) ग्रहणात्मक। पहले वर्जनात्मक उपदेश देते हैं-''अन्येर परश जेनो, नहे कदाचित् हेनो, इहाते हइबो सावधान''। यहाँ अन्य का अर्थ है भक्तिमार्ग के अतिरिक्त कर्म ज्ञान योगादि मार्गों के साधक-अर्थात् योगी, संन्यासी, कर्मी, ज्ञानी आदि के संस्पर्श से भक्तसाधक को दूर हटकर रहना होगा, कारण-उन लोगों के दर्श-पर्श आदि सङ्ग-प्रभाव से उनकी साध्य-साधना के आदर और अपनी शुद्धभक्ति की हानि की यथेष्ट सम्भावना है। श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद के श्रीवृहद्भागवतामृत (द्वितीयखण्ड, प्रथम अध्याय) में देखने में आता है-कामरूपदेश के जनशर्मा नामक एक सरलप्राण ब्राह्मण ने स्वप्न में कामाख्यादेवी से श्रीमन्मदनगोपालदेव का दशाक्षर मंत्र और उनकी उपासना प्राप्त की थी, फिर भी गङ्गासागरसङ्गम में और काशी में कर्मी और ज्ञानियों के सङ्गप्रभाव से उन लोगों के आचरण के प्रति आकृष्ट हो उन्होंने उसी पथ को अपनाने की इच्छा की थी। केवल मंत्रजप के प्रभाव से, देवी और श्रीमन्महादेव का प्रत्यादेश पाकर उस पथ से प्रतिनिवृत्त हुए थे। इसलिये भक्त साधक इन लोगों के संस्पर्श से दूर रहें। यहाँ तक कि सतत सावधान रहें-आपत् काल में भी इनका संस्रव न हो। कारण यह है कि शुद्धभक्त द्वारा ये सदा ही धिक्कारे गये हैं। श्रीमत् प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने श्रीगौरचरण-विमुख कर्मी ज्ञानी आदि को धिक्कारते हुए कहा है-

''धिगस्तु ब्रह्माहं वनदपरिफुल्लान् जड़मतीन्
क्रियासक्तान् धिग् धिग्विकटतपसो धिक् च यमिनः।
किमेतान् शोचामो विषयरसमत्तान् नरपशून्न
केषाञ्चिल्लेशोऽप्यहह मिलितो गौरमधुनः॥''

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम्)

अर्थात् 'कर्मियों को धिक्कार, विकट तपस्वियों को धिक्कार, अष्टाङ्ग योगियों को धिक्कार, ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस वाक्य के उच्चारणमात्र से जो पुलकित हो जाते हैं, उन सब जड़मति ज्ञानवादियों को भी धिक्कार। अहो! इन सब विषयरसमत्त नरपशुओं के लिये और क्या शोक करूँगा? इनमें से किसी को श्रीगौरपादपद्म-मकरन्द का लेशमात्र भी आस्वादन नहीं हुआ।' जो महानुभवों के ऐसे धिक्कार के पात्र हैं, उनका संस्पर्श भक्तों के लिये दूर से वर्जनीय है-इसमें और सन्देह क्या!

फिर ग्रहणात्मक उपदेश - ''राधाकृष्ण नाम गान, एइ से परम ध्यान, आर ना करिहो परमाण''। इस अर्धत्रिपदी में श्रील ठाकुर महाशय मन को रागानुगा भजन का उपदेश दे रहे हैं। रागमार्गीय साधकों के लिये श्रीराधाकृष्ण का नामकीर्तन और उनके रूपलीलादि का ध्यान या स्मरण, मनन आदि-ये दोनों ही श्रेष्ठ भजनाङ्ग हैं। श्रीनारदजी ने गोपकुमार को व्रजभजन का उपदेश देते हुए कहा है-

''तद्धि तत्तद्व्रजक्रीड़ा-ध्यानगानप्रधानया।
भक्त्या सम्पद्यते प्रेष्ठ-नामसङ्कीर्तनोज्ज्वलम्॥''

(वृ० भा० २/५/२१८)

टीका-''अधुना साधनमाह-तद्धीति। तासां-तासां व्रजक्रीड़ानां भगवद् गोकुललीलानां ध्यानं चिन्तनं गानं सङ्कीर्तनं ते प्रधाने मुख्ये यस्यास्तया भक्त्या नवप्रकारया प्रेम सम्पद्यते सुसिद्धति। तत्रैव विशेषमेकमाह-प्रेष्ठस्य निजेष्टतमदेवस्य, प्रेष्ठानां निजप्रियतमानां भगवन्नाम्नां सङ्कीर्तनेन उज्ज्वलं प्रकाशमानं शुद्धं वा। गानेत्युक्त्वा नामसङ्कीर्तने प्राप्तेऽपि निजप्रियतम-नामसङ्कीर्तनस्य प्रेमान्तरङ्गतर-साधनत्वेन पुनर्विशेषेण निर्देशः।''

अर्थात् 'श्रीकृष्ण की व्रजक्रीड़ाओं का स्मरण और कीर्तन जिसमें मुख्यरूप से रहता है, उस नवधा भक्ति द्वारा व्रजप्रेम सुसिद्ध होता है। एक अन्य विशेष बात यह है कि अपने परमप्रिय श्रीभगवन्नाम-सङ्कीर्तन द्वारा यह भक्ति उज्ज्वलीकृत होती है। यद्यपि 'गान' शब्द से नामकीर्तन भी समझा जाता है, तथापि अलग से कहने का उद्देश्य यही है कि निज प्रियतम नामसङ्कीर्तन प्रेम का अति अन्तरङ्ग साधन है।' इसलिये अपने मन को शिक्षा देने के बहाने श्रील ठाकुर महाशय युगलभजननिष्ठ साधकों को उन लोगों के अतिप्रिय श्रीराधाकृष्ण नाम के गायन का उपदेश दे रहे हैं। श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद ने अपने अभीष्टसूचन स्तव में लिखा है-

''राधेति नाम नवसुन्दर-सीधुमुग्धं, कृष्णेति नाम मधुराद्भुतगाढ़ दुग्धम्।
सर्वक्षणं सुरभिराग-हिमेन रम्यं, कृत्वा तदेव पिव मे रसने क्षुधार्ते॥''

'राधा'-यह नाम अभिनव सुन्दर अमृत की तरह मधुर है; 'कृष्ण' नाम अद्भुत गाढ़े दूध की तरह अत्यन्त स्वादिष्ट है, 'हे मेरी क्षुधार्त रसने! तुम सुगन्धी अनुरागरूपी बर्फ से इसे रमणीय बनाकर अनुक्षण पीती रहो।' युगलभजननिष्ठ महात्मागण 'हरे कृष्णेति' बत्तीस अक्षरों वाले महामंत्र-आठ जोड़ी राधाकृष्ण नाम का मनन करते हुए ही कीर्तन करते हैं। 'हरे' शब्द 'हरा' शब्द का सम्बोधन। जो सौन्दर्य माधुर्य और प्रेम द्वारा श्रीकृष्ण का मन हरण करती हैं, वे 'हरा'-श्रीराधा हैं। फिर 'राम' यहाँ दाशरथि राम नहीं; 'रम्' धातु से राम शब्द निष्पन्न

है, इसलिये हरा या श्रीराधा के जो रमण हैं-वे श्रीराधारमण ही 'राम' है। अतएव महामंत्र सम्बोधनात्मक सोलह संख्या वाला श्रीश्रीराधाकृष्ण नाम ही है।

अथवा, 'राधाकृष्ण नाम गान, एइ से परम ध्यान'-अर्थात् श्रीश्रीराधाकृष्ण का नाम-गायन ही साधक की परम ध्येय या निरन्तर चिन्तनीय एकान्त काम्यवस्तु 'प्रेम' है। श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद ने वृहद्भागवतामृत (२/३/१६४-१६६) में लिखा है-

''नामसङ्कीर्तनं प्रोक्तं कृष्णस्य प्रेमसम्पदि।
बलिष्ठं साधनं श्रेष्ठं परमाकर्षकमंत्रवत्॥
तदेव मन्यते भक्तेः, फलं तद्रसिकैर्जनै।
भगवत् प्रेम-सम्पतौ सदैवाव्यभिचारतः॥
सल्लक्षणं प्रेमभरस्य कृष्णे कैश्चिद्रसज्ञैरुत कथ्यते तत्।
प्रेम्नां भरणैव निजेष्टनाम-सङ्कीर्तनं हि स्फुरति स्फुटार्त्या॥''

अर्थात् 'श्रीकृष्णनामसङ्कीर्तन श्रीकृष्णप्रेमसम्पत्ति प्राप्त करने का अन्तरङ्ग और अतिशय बलिष्ठ साधन है, कारण-वह परम आकर्षक मंत्रवत् है। भक्तिरसिकगण श्रीनामसङ्कीर्तन को ही भक्ति का फल भी मानते हैं, कारण-वह अव्यभिचारी भगवत्प्रेम-सम्पत्ति उत्पादन में अति अव्यर्थ (अचूक) है। कोई-कोई रसज्ञ नामसङ्कीर्तन को प्रेम का स्वरूप भी बताते हैं। अपने अभीष्ट का नाम प्राणों की व्याकुलता के साथ कीर्तन करने से वह प्रेम से भरकर स्वयं ही स्फूर्ति को प्राप्त होता है, अतएव सङ्कीर्तन और प्रेम की परस्पर कार्य-कारणता देखी जाती है और कार्य-कारण की अभिन्नता हेतु दोनों का अभेदत्व सिद्ध होता है।'

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''आर ना करिहो परमाण'' अर्थात् श्रीराधाकृष्ण के नामगान को छोड़ और कोई प्रमाण मत लेना-और कोई साध्य-साधन निरूपण करने मत बैठना-अन्य किसी शास्त्र प्रमाण या आदर्श का आचरण स्वीकार मत करना। प्रीतिपूर्वक अभीष्ट का नामकीर्तन करने से श्रीनाम ही नवधाभक्ति के अन्यान्य अङ्गों का स्फुरण करा अति शीघ्र ही प्रेम प्रदान कर साधक को धन्य या कृतार्थ कर देते हैं। श्रीमन्महाप्रभु के श्रीमुख की उक्ति है-''सङ्कीर्तन होइते पाप-संसार-नाशन। चित्तशुद्धि सर्वभक्ति साधन-उद्गम॥ कृष्ण प्रेमोद्गम प्रेमामृत-आस्वादन। कृष्णप्राप्ति, सेवामृतसमुद्रे मज्जन'' (चै० च०)॥७३॥

कर्मी ज्ञानी मिछाभक्त, ना हबे ताते अनुरक्त,
विशुद्ध भजन करो मन।
व्रजजनेर जेइ रीत, ताहाते डुबाओ चित,
एइ से परमतत्त्व धन॥७४॥

परमतत्त्व धन :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में मन को पुनः वर्जनात्मक एवं ग्रहणात्मक उपदेश देकर साधकों को व्रजभजन की परिपाटी सिखा रहे हैं। पहले वर्जनात्मक उपदेश देते हैं–''कर्मी ज्ञानी मिछाभक्त, ना हबे ताते अनुरक्त।'' श्रील ग्रन्थकार महोदय ने पिछली त्रिपदी में विपदकाल में भी कर्मी ज्ञानी आदि का संस्पर्श तक निषेध किया था। इस त्रिपदी में पुनः कर्मी ज्ञानी आदि के प्रति अनुरक्ति या आसक्ति त्यागने के लिये कह रहे हैं। इससे लगता है कि पिछली त्रिपदी में जिन कर्मी ज्ञानियों की बात कही गई है, वे केवल कर्मी ज्ञानी ही हैं, अर्थात् वे लोग हैं जो सोचते हैं कि भक्ति की सहायता के बिना कर्म ज्ञान आदि स्वतंत्र निरपेक्षरूप से स्वर्ग मोक्षादि प्रदान करने में समर्थ हैं। यथार्थ बात तो यह है–''भक्ति बिनु कोनो साधन दिते नारे फल। सब फल देय भक्ति स्वतंत्र प्रबल॥ अजागलस्तनन्याय अन्य साधन। अतएव हरिभजे बुद्धिमान् जन'' (चै० च०)। कर्म ज्ञान योग आदि को साधन–सादृश्य के कारण ही 'साधन' कहा जाता है, बस कहा जाता है, वस्तुतः उनका साधनत्व नहीं है, कारण–साधन उसी को कहना सङ्गत है, जिसके द्वारा साध्य वस्तु पाई जाती है। किन्तु भक्ति की सहायता के बिना कर्म ज्ञान आदि स्वतंत्ररूप से फल देने की कोई सामर्थ्य नहीं रखते। इसीलिये भक्ति को छोड़ अन्य साधन अजागलस्तन की तरह हैं। बकरी के गलदेश के स्तनाकृति मांसपिण्ड को 'स्तन' कहा जाता है, वस्तुतः उसमें दूध कभी नहीं होता। उसी प्रकार भक्ति की सहायता के बिना केवल कर्म ज्ञान आदि कभी भी फल देने में समर्थ नहीं होते। उनके बाहरी अनुष्ठान आदि साधन–जैसे होते हैं, तभी उन्हें साधन कहा जाता है। वस्तुतः ''भक्तिमुख–निरीक्षक कर्म योग ज्ञान'' (चै० च०)।

इसीलिये कर्मी ज्ञानियों में जो अपेक्षाकृत बुद्धिमान् हैं, वे शास्त्र देखकर अपने–अपने साधन की फलप्राप्ति के लिये भक्तिमिश्रित कर्म ज्ञानादि का अनुष्ठान करते है। श्रील ठाकुर महाशय इसीलिये भक्त साधकों को सावधान कर रहे हैं कि वे इन सब बुद्धिमान् लोगों का भजन देखकर उन्हें शुद्धभक्त मानकर उनके प्रति आसक्ति या अनुरक्ति प्रकाश न करें, कारण–उन लोगों का सङ्ग शुद्धभक्ति के लिये हानिकर है। किसी–किसी ग्रन्थ में ''कर्मी ज्ञानी मिश्रभक्त, ना हबे ताय अनुरक्त'' पाठ भी मिलता है। 'मिछाभक्त' का अर्थ है वे लोग, जो कपटाचारी या पाखण्डी हैं। बाहर माला–तिलकादि से भक्तवेश और भजन का दिखावा मात्र, पर वस्तुतः आसक्ति है कामिनी–काञ्चन में ही। भक्त और भजन का ऐसा अभिनय करने वाले कपटाचारी व्यक्तियों के प्रति शुद्धभक्त आसक्ति या अनुरक्ति प्रकट न करें। इन लोगों का सङ्ग अतिशय भयावह होने के कारण दूर से वर्जनीय है; यह (वर्जन) वैष्णवाचार के रूप में निर्दिष्ट हुआ है–''असत् सङ्ग त्याग एइ वैष्णव आचार। स्त्री सङ्गी एक असाधु कृष्णाभक्त आर॥'' (चै० च०)

अथवा, ''कर्मी ज्ञानी मिछाभक्त'' का अर्थ यह होगा–जो लोग काम्यकर्मादि का आचरण करते हैं, उन कमियों में, और जो निर्भेद ब्रह्मज्ञान का साधन करते हैं उन ज्ञानियों में यदि कदाचित् भक्ति देखने को मिले, तो भी उन्हें मिछाभक्त मानना होगा। उन पर किसी महत् की कृपा हो जाय, तो वे भविष्य में सत्य भक्त हो भी सकते हैं, किन्तु इस समय वे जिस अवस्था में स्थित हैं, उसे देखते हुए उनके सङ्ग में भक्तिवृद्धि नहीं होती–यह जानकर साधक उनके प्रति अनुरक्ति का वर्जन करें।

इसके पश्चात् ग्रहणात्मक उपदेश देते हैं–''विशुद्ध भजन करो मन''। शुद्ध भक्तिपथ का आश्रय लेकर भजन करना ही विशुद्ध भजन है। शुद्धभक्ति का स्वरूप निरूपण हुआ है श्रीगोपालतापनीश्रुति में–''भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येन अमुस्मिन् मनःकल्पनमेतदेव हि नैष्कर्म्यम्'' अर्थात् 'भगवान के भजन को ही भक्ति कहते हैं। इहलोक परलोक की सभी प्रकार की कामनाओं से रहित होकर मन आदि सर्वेन्द्रियाँ भगवान् में विनियोग करना ही अर्थात् निरन्तर उनका स्मृतिमय परम आवेश ही भजन है और यही नैष्कर्म्य कहा जाता है।'

यहाँ भजन और नैष्कर्म्य की सामानाधिकरणता से यही बताया गया है कि भजन में प्रवृत्त होते ही भक्त की पहली और वर्तमान सभी कर्मवासनायें ध्वंस हो जाती हैं और गुणवृत्तिशून्य मन केवल भगवान् की सेवा में ही तन्मय रहता है। इसी को विशुद्ध भजन कहा जाता है। स्मृति भी कहती है–''सर्वोपाधिविनिर्मुक्त तत्परत्वेन निर्मलम्। हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥'' (श्रीनारदपञ्चरात्र), अर्थात् इहलोक परलोक की सभी कामनाओं का त्याग कर केवल श्रीकृष्ण की प्रीति के लिये इन्द्रियों द्वारा उन्हीं हृषीकेश या इन्द्रियों के नियामक श्रीकृष्ण की सेवा ही उत्तमाभक्ति है।'

इन सभी श्रुति–स्मृति की उक्तियों पर विचार कर श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ में एक ही श्लोक में विशुद्ध भक्ति के लक्षण बताये हैं। वैधीमार्ग हो या रागमार्ग, साधनभक्ति हो या साध्यभक्ति, भाव–प्रेमादि सर्वत्र ही इन लक्षणों की व्याप्ति है, यह जानना होगा। श्लोक यह है–

''अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥''

अर्थात् 'अन्य अभिलाषशून्य, ज्ञानकर्मादि द्वारा अनावृत, आनुकूल्य (अनुकूलता) – युक्त श्रीकृष्ण विषयक अनुशीलन ही उत्तमा भक्ति है।' यहाँ अनुशीलन क्रियाशब्द की तरह केवल धातु का अर्थ मात्र ही समझाता है। धातु का अर्थ दो प्रकार का है–प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप। ये दोनों प्रकार की क्रियायें कायिक वाचिक और मानसिक चेष्टाओं के रूप में प्रकाशित होती हैं। कायमनोवाक्य से प्रवृत्तिमूलक चेष्टा का अर्थ है–देह से श्रीकृष्ण की परिचर्या, वाक्य से उनके नाम गुण लीलादि का कीर्तन, मन से रूप गुण लीलादि का चिन्तन और हृदय में सदा प्रीतिसम्पादन। निवृत्तिमूलक चेष्टा है–कायमनोवाक्य से नामापराध और सेवापराध आदि का परिवर्जन।

फिर यह भक्ति सोपाधिक (उपाधियुक्त) और निरुपाधिक (उपाधिरहित) भेद से दो प्रकार की है। भक्ति की उपाधि (बाधा, अवरोध) दो प्रकार की है–एक अन्य अभिलाषा, दूसरी अन्य मिश्रण। अन्य अभिलाष का अर्थ है भोगवासना, मोक्षवासना आदि। अन्य मिश्रण का अर्थ है ज्ञान कर्म आदि का आवरण। श्रीकृष्णानुशीलन यदि इस अन्य अभिलाष और अन्य मिश्रण रहित होकर केवल श्रवण कीर्तन आदि के आवेश से युक्त हो–तभी भक्ति निरुपाधिक कही जाती है; यही विशुद्ध भजन है।

उल्लिखित 'कर्म' का अर्थ है–स्मृतिशास्त्रोक्त नित्य–नैमित्तिक दान व्रतादि। 'ज्ञान' का अर्थ है–निर्विशेष ब्रह्मज्ञान या जीव–ब्रह्म की एकता प्रतिपादित करने वाला ज्ञान। कारण, शुद्धभक्ति में भी अर्चनवन्दन आदि कर्म

और साध्य-साधन विषयक ज्ञान या सिद्धान्त ज्ञान-इन दोनों की नितान्त आवश्यकता है, इनके बिना भजन नहीं होता। यही कर्म और ज्ञान साक्षात् भक्ति है।

'आनुकूल्य' शब्द से श्रीकृष्ण को रुचिकर प्रवृत्ति ही समझी जाती है। भक्तित्व सिद्धि के लिये आनुकूल्य शब्द का प्रयोग है, कारण-प्रतिकूल आचरण श्रीकृष्ण को रुचिकर होने पर भी उससे भक्ति सिद्ध नहीं होती। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण की दामबन्धनलीला के प्रसङ्ग में वर्णित है कि माता यशोमती अङ्कस्थित भूखे और अतृप्त कृष्ण को गोद से उतार कर अग्नितप से उफनते दूध को उतारने के लिये चली जाती हैं। उनका यह कार्य श्रीकृष्ण को रुचिकर नहीं होता, तब भी वह श्रीकृष्ण के लिये किया जाने से भक्ति नाम रखता है। पक्षान्तर से, श्रीकृष्ण के साथ युद्ध में असुर लोग महावीर श्रीकृष्ण को युद्धरस आस्वादन कराते हैं, वह श्रीकृष्ण को रुचिकर होने पर भी प्रतिकूलता के कारण उससे भक्तित्व की सिद्धि नहीं होती। अतएव आत्मेन्द्रियसुख-वासना की गन्ध से भी रहित श्रीकृष्णसुख-हेतुक श्रीकृष्ण का श्रवण कीर्तन अर्चन वन्दन आदि अनुशीलन ही विशुद्ध भजन है।

फिर कहते हैं-''व्रजजनेर जेइ रीति, ताहाते डुबाओ चित्त, एइ से परमतत्त्व धन''। विशुद्ध भजन में भी व्रज की मधुररसजातीय रागात्मिका भक्ति का आनुगत्यमय रागानुगा भजन ही इस विशेष कलियुग में श्रीमन्महाप्रभु का अवदान है; श्रीरूपसनातन आदि उनके प्रिय पार्षदों द्वारा आचरित-प्रचारित अति रहस्यमय भक्तियोग है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'व्रजजनेर जेइ रीत, ताहाते डुबाओ चित'। यहाँ 'व्रजजन' का व्यापक अर्थ है व्रज के समस्त नित्यसिद्ध पार्षदगण। वे लोग श्रीकृष्ण में ऐश्वर्यबुद्धि या भगवद् ज्ञान त्यागकर लौकिक सद्बन्धुबुद्धि से 'मोर पुत्र, मोर सखा, मोर प्राणपति' (चै० च०) रूप में उनके प्रीतिरस में डूबकर तन्मय रहते थे। साधक को भी उसी प्रकार उनके आनुगत्य में व्रज की माधुर्योपासना में मग्न होना होगा। तात्पर्य यही है कि व्रज में दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर भावों के नित्यसिद्ध पार्षदगण सदैव लौकिक सद्बन्धुभाव से श्रीकृष्ण की प्रेमसेवा करते हैं। व्रजभाव के उपासक वैसे महत्सङ्ग और महत्कृपा जनित रुचि के अनुसार अपने-अपने भावों के नित्यसिद्ध पार्षदों के आनुगत्य में भजन करते हैं और भजन सिद्ध होने पर उस-उस भाव से श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण की प्रेम-सेवा प्राप्त करते हैं। यही व्रज की विशुद्ध रागमार्गीय भजन-परिपाटी है। श्रीचैतन्यचरितामृत में बेंकटभट्ट के प्रति श्रीमन्महाप्रभु की उक्ति है-

''व्रजलोकेर भावे पाइ ताँहार चरण।
ताँरे 'ईश्वर' करि नाहि जाने व्रजजन॥
केहो ताँरे पुत्र-ज्ञाने उदूखले बान्धे।
केहो ताँरे सखा-ज्ञाने जिनि चढ़े कान्धे॥
'व्रजेन्द्रनन्दन' ताँरे जाने व्रजजन।
ऐश्वर्यज्ञान नाहि-निज सम्बन्ध मनन॥
व्रजलोकर भावे जेइ करये भजन।
सेइ जन पाय व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥''

गौड़ीय वैष्णवों के लिये श्रीराधारानी की किङ्करी या मञ्जरी के भाव से श्रीश्रीयुगल उपासना ही साध्यवस्तु है। इसलिये वे लोग व्रज की नित्यसिद्धा श्रीरूपमञ्जरी, रतिमञ्जरी आदि के आनुगत्य में उन लोगों की भावधारा में मग्न होकर या उनके भाव-आनुगत्य में चित्त डुबाकर राधास्नेहाधिका भावोल्लासा रति के साथ श्रीश्रीराधामाधव का भजन करते हैं। यही रागमार्ग में भजन का चरम पर्याय है। श्रील ठाकुर महाशय श्रीराधारानी की परम प्रिय चम्पकमञ्जरी हैं; मञ्जरीभावसाधना के ही आचार्य हैं, तभी 'व्रज जनेर जेइ रीत, ताहाते डुबाओ चित' के द्वारा व्रज की नित्यसिद्धा मञ्जरियों के भावानुगत्य में ही चित्त डुबाने को कह रहे हैं। जीवशक्ति भक्तिराज्य की जिस सर्वोच्च कक्षा में आरोहण कर सकती है, यही उसका चरम सोपान है। तभी कहा है-''एइ से परमतत्त्व धन''॥७४॥

प्रार्थना करिबो सदा, शुद्धभावे प्रेमकथा,
नाम मंत्रे करिया अभेद।
नैष्ठिक करिया मन, भजो राङ्गा श्रीचरण,
पापग्रन्थि हबे परिच्छेद॥७५॥

नैष्ठिक भजन :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय इस त्रिपदी में अपने मन को नैष्ठिक भजन का उपदेश देते हुए कुछेक मूल्यवान भजनतथ्यों की ओर इङ्गित कर रहे हैं। पहले कहते हैं-''प्रार्थना करिबो सदा, शुद्धभावे प्रेमकथा,'' अर्थात् 'सदा शुद्धभाव से प्रेमकथा प्रार्थना करूँगा'। 'शुद्धभाव' का अर्थ है एकान्तभाव से, अपने सुख की कामना से रहित होकर। हम लोग मुँह से सदैव ही शुद्ध भजन या निष्काम भजन की बात करते हैं, पर वस्तुतः स्व-सुखवासना-वर्जित विशुद्धभजन अति दुर्लभ है, श्रीगुरु-वैष्णव और श्रीहरि की कृपा से ही सम्भव है। कामिनी-काञ्चन, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि की वासनायें-देह-दैहिकादि में आवेश के कारण नाना प्रकार की सूक्ष्म-सूक्ष्म स्वसुख-वासनायें प्रच्छन्नरूप से हृदय में भरी रहती हैं। श्रीहरिभक्तिविलास के अन्त में लिखा है कि प्रतिष्ठाशा सर्वत्यागी के हृदय में भी अवस्थान करती है।

''सर्वत्यागेऽप्यहेयायाः सर्वानर्थभुवश्च ते।
कुर्यु प्रतिष्ठाविष्ठायाः यत्नमस्पर्शने वरम्॥''

'सर्वत्याग की स्थिति में भी समस्त अनर्थों की मूल प्रतिष्ठाशा का त्याग नहीं किया जाता; साधक इस विषय में विशेषरूप से यत्नवान् हो कि यह प्रतिष्ठा-विष्ठा स्पर्श न कर पाये।' श्रीमत् रघुनाथ दास गोस्वामिपाद ने इस प्रतिष्ठाशा को 'धृष्टाश्वपचरमणी' नाम दिया है-''प्रतिष्ठाशा-धृष्टा श्वपचरमणी मे हृदि नटेत् कथं साधु-प्रेमा स्पृशति शुचिरेतन्नु मनः!'' (मनः शिक्षा-७) 'हे मन! प्रतिष्ठाशा-रूपी धृष्ट श्वपचरमणी मेरे हृदय में नृत्य कर रही है। पवित्र साधुप्रेम इस हृदय को कैसे स्पर्श करेगा?' महत् पुरुषों ने साधक की प्रच्छन्न

आत्मसुखवासना पर नाना प्रकार से प्रकाश डालकर साधक का कल्याण किया है। श्रील प्रेमानन्द ठाकुर महाशय ने अपनी मन:शिक्षा में लिखा है-

''ओरे मन! कि तोर बुझिबार भूल।
कहिछो वेदेर पार, करिछो निषिद्धाचार, भाबो देखि आपनार मूल॥
मुक्तिके ऐश्वर्य बलि, दूरेते दियेछो फेलि, इङ्गिते बुझाओ एइ तत्त्व।
अनित्य असार अर्थ, से भलो सदाइ प्रार्थ्य, जा लागि रजनी दिवा मत्त॥
निर्हेतु याजन करो, हेतु से छाड़िते नारो, कथाय विरक्त ए संसार।
सर्वस्व बलिछो जार, दिते एक बट तार, से चाहिले कहो आपनार॥
कहो भजि वृन्दावन, घरे सुख बासो मन, भालोबासो वसन-भूषणे।
सन्तुष्ट मानिछो माने, महाक्रोध अपमाने, आत्मसुख घुचिलो केमने?
कहिछो गोपीर धर्म, कि बुझिछो तार मर्म, स्वभाव छाड़िते नारो तिले।
देखिया पाइछो सुख, प्रकृति बाघिनी मुख, सर्वात्मा सहिते जेइ गिले॥
शुनो कहे प्रेमानन्द, बिचारिले सब धन्द, कहिले शुनिले किबा हय?
'हरि हरि' अविरत, कहो एइ प्रेमपथ, निर्मल हइबे सुनिश्चय॥''

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''निष्काम पवित्र चित्त से आत्मसुखवासना-रहित होकर सतत श्रीराधाकृष्ण की प्रेमकथा का श्रवण कीर्तन स्मरण आदि कर सकूँ-इस बात के लिये अभीष्ट-चरणों में सदैव प्रार्थना करूँगा।' प्रार्थना भगवान् की करुणा की अर्गला खोल देती है। नाना प्रकार की कामना-वासनाओं के संस्कार से ढके चित्तवाला मानव अपनी साधना के बल पर आत्मसुखवासना का त्यागकर शुद्धचित्त नहीं हो सकता। प्रार्थना के फलस्वरूप श्रीहरि की करुणा उतर कर आये, तो अनायास ही निर्मल चित्त में अभीष्ट की प्रेमकथा के सतत अनुशीलन का सौभाग्य मिल सकता है-इस प्रसङ्ग में यही जानने की बात है।

इसके पश्चात् कहते हैं-''नाम मंत्रे करिया अभेद'', अर्थात् भगवान् के कृष्ण-गोविन्द आदि नाम ही ऋषियों द्वारा 'नम:' 'स्वाहा' आदि चतुर्थ्यन्तपद एवं ऋष्यादि षड़ङ्गयुक्त होकर मंत्र बने हैं, इसलिये भगवान् के नाम और मंत्र में स्वरूपत: कोई भेद नहीं। प्रश्न हो सकता है-यदि नाम और मंत्र में कोई भेद नहीं है एवं नाम दीक्षा पुरश्चर्या आदि❋ की अपेक्षा न रखकर निरपेक्ष भाव से कीर्तनकारी को प्रेमदान करते हैं, तो मंत्रदीक्षा की आवश्यकता क्या? इस विषय में श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद कहते हैं-''ननु भगवन्नामात्मका एव मंत्रा:। तत्र विशेषेण नम:-शब्दाद्यलङ्कृता: श्रीभगवता श्रीमदृषिभिश्चाहित-शक्तिविशेषा: श्रीभगवता-सममात्म-सम्बन्धविशेषप्रतिपादकाश्च, तत्र केवलानि भगवन्नामान्यपि निरपेक्षान्येव

❋ श्रीनाम-महिमा प्रसङ्ग में कहा है-''दीक्षा पुरश्चर्या विधि अपेक्षा ना करे। जिह्वास्पर्शे आचण्डाल सबारे उद्धारे'' (चै० च०)।

परमपुरुषार्थ-फलपर्यन्तदान-समर्थानि; ततो मंत्रेषु नामतोऽप्यधिक- सामर्थ्येऽलब्धे कथं दीक्षाद्यपेक्षा? उच्यते,-यद्यपि स्वरूपतो नास्ति, तथापि प्रायः स्वभावतो देहानि सम्बन्धेन कदर्यशीलानां विक्षिप्तचित्तानां जनानां तत् सङ्कोचीकरणाय श्रीमद्दृषिप्रभृतिभिरत्रार्चनमार्गे क्वचित् काचिन्मर्यादा स्थापितास्ति। ततस्तदुल्लङ्घने शास्त्रं प्रायश्चित-मुद्भावयति।'' (भा० ७/५/१८ श्लोक की क्रमसन्दर्भ टीका) अर्थात् 'यदि कहा जाय, मंत्रसमूह भगवन्नामात्मक होने के कारण ही मंत्रों की विशेषता है, कारण-भगवन्नामों के साथ नमः शब्द आदि-भूषित कर भगवद् इच्छा से श्रीनारद आदि ऋषियों द्वारा मंत्रों में शक्तिविशेष लाई गई है, तभी मंत्रसमूह मंत्रजपकर्ता का भगवान् के साथ सम्बन्धविशेष प्रतिपादन करते हैं। किन्तु श्रीभगवन्नामसमूह अन्य अपेक्षाओं से रहित हैं और स्वतः ही परमपुरुषार्थ प्रेम तक देने में समर्थ हैं। अतएव मंत्र की अपेक्षा नाम की अधिक सामर्थ्य देखी जाती है; फिर नामकीर्तनकारी को मंत्रदीक्षा की अपेक्षा क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि यद्यपि तत्त्व विचार से अर्थात् श्रीहरिनाम की शक्ति या महिमा की दृष्टि से (श्रीअजामिल का दृष्टान्त) दीक्षाग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है, तथापि स्वभाविक रूप से भोगों में लिप्त देह आदि के सम्बन्ध से प्रायशः कालिमायुक्त विक्षिप्तचित्त मानवों की उन प्रवृत्तियों को संकुचित करने के लिये श्रीनारदादि ऋषियों ने अर्चनमार्ग में कहीं-कहीं किञ्चित् मर्यादा स्थापित की है और उस मर्यादा के लंघन करने पर शास्त्र प्रायश्चित का विधान किया है, अतः मंत्रदीक्षा का प्रयोजन अवश्य स्वीकार्य है।' विशेषतः शास्त्रीय लक्षणों से युक्त सद्गुरु से मंत्रदीक्षा लेने से श्रीगुरुकृपा से मानव के मायामलिन चित्त की मलिनता दूर होती है। विषय-विक्षिप्त चित्त स्थिर होकर भजन में निविष्ट हो सकता है। स्वयं भगवान् श्रीनन्दनन्दन ने श्रीगौराङ्ग रूप में श्रीपाद ईश्वरपुरी से मंत्रदीक्षा ली है और स्वयं श्रीसनातनशिक्षा में भक्ति के चौंसठ भजनाङ्गों की चर्चा के आरम्भ में ''श्रीगुरुपादाश्रय, दीक्षा, गुरुर सेवन। सद्धर्म-शिक्षापृच्छा, साधुमार्गानुगमन'' (चै० च०) इस वाक्य में श्रीगुरु से मंत्रदीक्षा जो सत्परम्परा से चली आ रही है-उसकी शिक्षा या सदाचार प्रदर्शित किया है। उस प्रकार महदाचरण भी देखा जाता है।

अथवा, 'नाम मंत्रे करिया अभेद'' का अर्थ होगा-नाम और मंत्र में कोई भेद नहीं हैं; नाम को भी मंत्र कहा जाता है, जैसे 'हरे कृष्णेति' बत्तीस अक्षरों वाले नाम को 'महामंत्र' कहते हैं। इस विषय में श्रीमद्भागवत (६/२/१९) में श्रीनाममहिमा वर्णन प्रसङ्ग में आया है-

''यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मंत्रोप्युदाहृतः॥''

अजामिल-उद्धार प्रसङ्ग में श्रीविष्णुदूतों ने यमदूतों से कहा-'जैसे महावीर्यशाली औषध अनजाने में सेवन करने से भी अवश्य व्याधिनाश होता है, वैसे ही अज्ञान से भी नामरूप मंत्र का उच्चारण करने से अवश्य ही नाम का फल प्राप्त होता है; वस्तुशक्ति कभी भी बुद्धि या ज्ञान की अपेक्षा नहीं करती।' इस श्लोक की क्रमसन्दर्भ टीका में श्रीमत् जीव गोस्वामिपाद ने लिखा है-''मंत्रशब्दैनात्र नामोक्तिः-मंत्रस्य तथा प्रभावे श्रद्धाद्यपेक्षत्वादस्य तु तदनपेक्षत्वादत्रैव मंत्र शब्दस्य मुख्यावृत्तिरित्यभिप्रायेण ज्ञेया।'' अर्थात् यहाँ 'मंत्र' कहने का अर्थ 'नाम' है। नाम और मंत्र स्वरूपतः एक होते हुए भी मंत्र में श्रद्धा आदि की अपेक्षा है; नाम में श्रद्धा आदि की अपेक्षा न होने से नाम में ही मंत्र शब्द की मुख्यावृत्ति जाननी होगी।'

इसके पश्चात् कहते हैं-''नैष्ठिक करिया मन, भजो राङ्गा श्रीचरण, पापग्रन्थि हबे परिच्छेद'', अर्थात् 'हे मन! निष्ठापूर्वक श्रीराधामाधव के रातुल (रक्तवर्ण) चरणों का भजन करो; ऐसा करने से पापग्रन्थि या अविद्याग्रन्थि सम्पूर्णरूप से छिन्न हो जायेगी।' भजन में निष्ठा उत्पन्न होने पर भजन-शिथिलता पूरी तरह नष्ट हो जाती है, अविराम भजन में भी श्रान्तिक्लान्ति का बोध नहीं होता और पाँच प्रकार के अनर्थ भी नहीं रहते। ये अनर्थ हैं-लय (श्रवण-कीर्तनादि के समय निद्रा आना), विक्षेप (भजन-काल में व्यावहारिक बातचीत का सम्पर्क), अप्रतिपत्ति (लय विक्षेप न होने पर भी भजन करने में असमर्थता), कषाय (क्रोध, लोभ, गर्व आदि के संस्कार) एवं रसास्वाद (विषय सुख के प्रकट होने के समय भजन में मन न लगना)। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने ध्रुवानुस्मृति अर्थात् तेल की धार की तरह अविच्छिन्न (अटूट) भगवत् स्मृति को ही नैष्ठिकीभक्ति कहा है- ''नैष्ठिकीभक्तिध्यानाख्या ध्रुवानुस्मृतिरित्युच्यते'' (भक्तिसन्दर्भ १९८)। श्रीमद्भागवत (१/२/१७-१८) के वचन हैं-श्रीहरिकथा का श्रवण-कीर्तन ही नैष्ठिकीभक्ति पाने का एकमात्र उपाय है-

''शृण्वतः स्वकथा कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमःश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥''

'पुण्यश्रवण-कीर्तन भगवान् श्रीकृष्ण कथा के द्वारा श्रवण-कीर्तनकारी के भावनापथ पर आकर हृदय के अमङ्गलमय विषयवासनासमूह को विनष्ट कर देते हैं। इसी प्रकार नित्य भागवतसेवा से अमङ्गलसमूह नष्टप्राय होने पर उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण में नैष्ठिकी भक्ति का उदय होता है।' ''आस्तिक करिया मन'' - यह पाठ भी देखा जाता है। ''आस्तिक्यमस्ति वेदैकगम्यं वस्त्विति निश्चयः''- वेदैकगम्य (वेदों द्वारा जानी जाने वाली) वस्तु हैं, इसके निश्चय का नाम ही आस्तिक्य (आस्तिकता) है। अर्थात् शास्त्र और महाजनवाणी में श्रद्धा विश्वासयुक्त होकर ही श्रीराधाकृष्ण का भजन करना होगा। किसी-किसी ने अपने सिद्ध स्वरूप के अभिमान और श्रीराधामाधव के प्रति अपने सम्बन्ध की स्थापना को ही 'आस्तिक्य' कहा है। प्रकरण के अनुरूप यह भी अति साधुव्याख्या है॥७५॥

राधाकृष्ण-सेवन, एकान्त करिया मन,
चरण कमल बलि जाउँ।
दोंहार नाम गुण शुनि, भक्त मुखे पुनि पुनि,
परम आनन्द सुख पाउँ॥७६॥

ऐकान्त सेवन :

सुधाकणिका व्याख्या : इस त्रिपदी में श्रील ठाकुर महाशय अभिलाषा व्यक्त कर रहे हैं - श्रीश्रीराधाकृष्ण के श्रीचरणकमलों के एकान्त सेवन की और भक्त के मुख से अभीष्ट श्रीराधामाधव के नाम गुण सुनकर

परमानन्द पाने की! पहले कहते हैं-''राधाकृष्ण-सेवन, एकान्त करिया मन'', अर्थात् 'हे मन! तुम ऐकान्तिकभाव से श्रीराधाकृष्ण का सेवन अर्थात् परिचर्या उपासना करो' अथवा 'मैं एकान्त मन से श्रीराधाकृष्ण-युगल की उपासन करूँगा।' ऐकान्तिकभाव से उपासना का अर्थ है एकान्तभाव से या तीव्र अनुराग के साथ एकमात्र श्रीराधामाधवगत प्राण होकर श्रीयुगल की आराधना करना। श्रीहरिभक्ति विलास में चार प्रकार के ऐकान्तित्व का उल्लेख है-(१) धर्म में अनादर※ (२) कर्म ज्ञान आदि की सर्वथा निरपेक्षता (३) विघ्नव्याकुलत्व में भी रतिपरता एवं (४) प्रेम में ही संलग्नता। इसी भाव से अभीष्ट की सेवा ही एकान्त सेवन है। अन्य निरपेक्ष होकर तद्गत प्राण होना ही उपासना का लक्ष्य है। ''उपासनं तु यथाशास्त्रसमापितं किञ्चिदालम्बनमुपादाय तस्मिन् समानचित्तवृत्तिसन्तानकरणम्- तद्विलक्षणप्रत्ययान्तरितमिति'' (छान्दोग्य उपनिषद की भाष्य-भूमिका में श्रीपाद शङ्कराचार्य) अर्थात् 'शास्त्रानुसार व्यवस्थित किसी एक आलम्बन (ध्यान के विषय) का आश्रय लेकर उसमें इस प्रकार चित्त वृत्ति की तैलधारावत् निरवच्छिन्न एकतानता रखनी होती है कि उसमें विजातीय अन्यप्रत्यय व्यवधान के रूप में न आ सके।' एकान्तभाव से अभीष्ट के सेवन या आराधना का यही लक्ष्य है। श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण ने अपने सिद्धान्तरत्न में कायमनोवाक्य से परिशीलन करने को ही 'सेवन' कहा है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने प्रीतिसन्दर्भ (अनु० १२९) में लिखा है-''सेवनं चित्तानुवृत्तिः'' अर्थात् सेव्य का मन समझकर परिचर्या करने का नाम ही सेवन है; यथार्थतः यही एकान्तमन से सेवन है। बाहर साधकदेह से राधामाधवगतप्राण होकर अनुरागपूर्वक युगल की अर्चन वन्दन श्रवण कीर्तन आदि सेवा और मन में सिद्धदेह से अष्टकाल लीलास्मरण में श्रीराधामाधव का मन समझकर सेवा का चिन्तन!

इसके पश्चात् कहते हैं-''चरणकमल बलि जाउँ। श्रीश्रीराधामाधव के श्रीचरणकमलों की माधुरी की बलिहारी जाता हूँ, अर्थात् युगलचरणों की माधुरी में मेरा मन-मधुकर प्रलुब्ध होकर सतत उन्हीं श्रीचरणों के शोभा-मकरन्द के रसास्वादन में ही निविष्ट रहे। श्रीश्रीराधामाधव के श्रीचरणकमलों की अँगुलियाँ ही पंखुड़ियाँ हैं, नखरकान्ति ही केशर है, लावण्य ही मकरन्द है, जिसके सौरभ से दिगन्त सतत सुरभित रहता है; सखी-मञ्जरियों के नयन भौंरों की तरह गाढ़ अनुराग से श्रीयुगलचरणों की लावण्य-मकरन्दराशि आस्वादन करते हैं।

गौड़ीय वैष्णवसाधक श्रीराधाकृष्ण के उन्नीस चिन्हों से युक्त श्रीचरणकमलों का नित्य स्मरण कर अपने तापित प्राणों को सुशीतल करते हैं। श्रीचरणचिन्ह ध्यान इस प्रकार है-श्रीकृष्ण के दायें चरणतल पर ग्यारह चिह्न हैं : अंगुष्ठपर्व पर जौ, उसके नीचे चक्र, उसके नीचे छत्र, अंगुष्ठ और तर्जनी के बीच से अर्धचरण तक ऊर्ध्वरेखा, बीच की अँगुली पर पद्म, उसके नीचे ध्वजा, कनिष्ठा पर अंकुश, उसके नीचे वज्र, एड़ी पर अष्टकोण, उसके चारों ओर स्वास्तिक चिन्ह और चारों कोनों पर चार पके जम्बु। बायें चरण पर आठ चिन्ह हैं: अंगुष्ठ पर शङ्ख, मध्यमा पर आकाश, उसके नीचे धनु, उसके नीचे गोष्पद, उसके नीचे त्रिकोण, उसके चारों ओर चार कलश, उसके नीचे अर्धचन्द्र उसके नीचे मत्स्य।

※ यहाँ 'धर्म' से वर्णाश्रम आदि धर्म समझना होगा।

राधारानी के बायें चरण में ग्यारह चिन्ह हैं : अँगूठे के नीचे जो, उसके नीचे, चक्र, उसके नीचे छत्र, अँगूठे और तर्जनी के मध्य भाग से चरण के बीच तक ऊर्ध्वरेखा, मध्यमा के नीचे कमल, उसके नीचे ध्वजा, उसके नीचे पुष्प, उसके दक्षिण में कङ्कन, उसके नीचे वल्ली, उसके नीचे अर्धचन्द्र और कनिष्ठा के नीचे अंकुश। दायें चरण में आठ चिन्ह : अँगूठे के नीचे शंख, मध्यमा के नीचे पर्वत, अनामिका और कनिष्ठा के नीचे वेदी, उसके नीचे कुण्डल, पर्वत के नीचे रथ, उसके दक्षिण में गदा, रथ की बायीं ओर शक्ति, एड़ी में मत्स्य। कुल मिलाकर उन्नीस चिन्ह। स्कन्दपुराण में श्रीकृष्ण के श्रीचरणतलस्थित कुछ विशेष चिन्हों का उल्लेख है और उन्हें धारण करने का हेतु भी बताया है-

''दक्षिणस्य पदोऽङ्गुष्ठमूले चक्रं विभर्त्यजः।
तत्र नम्रजनस्यारिषड़्वर्गच्छेदनाय सः॥
मध्यमाङ्गुलिमूले तु धत्ते कमलमच्युतः।
धातृचित्तद्विरेफानां लोभनायातिशोभनम्॥
पद्मस्याधो ध्वजं धत्ते सर्वानर्थजयध्वजम्।
कनिष्ठामूलतो वज्रं भक्तपापाद्रिभेदनम्॥
पार्ष्णिमध्येऽकुशं भक्तचित्तेभवशकारिणम्।
भोगसम्पन्मयं धत्ते यवमङ्गुष्ठपर्वणि॥
तथा बामपदाङ्गुष्ठमूलतस्तन्मुखोदरम्।
सर्वविद्या-प्रकाशाय दधाति भगवानसौ।
पद्मादीन्यपि चिन्हानि तत्र दक्षिणपादवत्॥''

'श्रीकृष्ण दायें चरण के अँगूठे में चक्र धारण करते हैं, उससे शरणागत के काम आदि षड़रिपु नष्ट होते हैं। बीच की अँगुली में कमल धारण कर स्मरणकर्ता भक्त के चित्त-मधुकर को प्रलुब्ध करते है। पद्म के नीचे ध्वज धारण कर भक्त का सभी अनर्थ जीत कर विजयपताका फहराते हैं। कनिष्ठा में वज्र धारण कर भक्त के पाप-पर्वत को चूर करते हैं। एड़ी पर अंकुश धारण कर भक्त के चित्तरूपी हाथी को वशीभूत करते हैं। अङ्गुष्ठपर्व पर जौ का चिन्ह धारण कर भक्त की भोग-सम्पदा सम्पन्न करते हैं। बायें चरण के अँगूठे में शङ्ख धारण कर चरणस्मरणकर्ता में सभी विद्यायें प्रकट करते हैं। इसी प्रकार दायें चरण की तरह बायें चरण के अन्यान्य चिन्हों की महिमा समझनी होगी।' श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-रूप में, गुण में, महिमा में उन चरणों की बलिहारी जाता हूँ।

फिर कहते हैं-''दोंहार नाम गुण शुनि, भक्त मुखे पुनि पुनि, परम आनन्द सुख पाउँ''। श्रील ग्रन्थकार महोदय भक्त के श्रीमुख से बार बार श्रीराधामाधव के नाम गुण लीलादि सुनकर ही आनन्द-प्राप्ति या सुखलाभ की अभिलाषा व्यक्त करते हैं। महानुभव भक्त के श्रीमुख से श्रीहरिकथा श्रवण की महा महिमा सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत में पुनः पुनः विघोषित हुई है। भगवान् कपिलदेव ने अपनी माँ देवहूति से कहा है-

''सतां प्रसङ्गान्ममवीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥''

(भा० ३/२५/२५)

'हे मात! साधुओं का प्रकृत सङ्ग मिले, तो उनसे मेरी महिमासूचक कथा सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता है। उनके श्रीमुख से सुनी मेरी कथा श्रवणकर्ता के लिये हृत्कर्ण-रसायन बन जाती हैं। फलस्वरूप मुझमें उत्तरोत्तर श्रद्धा, रति और भक्ति का उदय होता है तथा कथा सुनने के आनुषङ्गिक फल से ही अविद्या आदि नष्ट हो जाते हैं। परम महत् कृष्णभक्त महापुरुषों का स्वाभाविक ईश्वर विषयक कथोपकथन सुनते-सुनते जीव के हृदय में भगवान् के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। साधु के शरीर से पवित्र तन्मात्रायें निकल कर साधारण भजनहीन मानव को भी असाधारण भजनसम्पत्ति दान कर कृतार्थ कर देती हैं। क्रमशः हरिकथा-श्रवण से रुचि और श्रवण-कीर्तनादि नवधाभक्ति के साधन से चित्त में परमपुरुषार्थ नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम का उन्मेष होता है। श्रील पृथुमहाराज ने भगवान् से अन्य वर न चाहकर केवल महत् के मुख से श्रीहरिकथा ही सुननी चाही है-

''स उत्तमःश्लोक महन्मुखच्युतो, भगवत्पदाम्भोजसुधाकणानिलः।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः॥''

(भा० ४/२०/२५)

'हे उत्तमश्लोक! महापुरुषों के मुख से निकला तुम्हारे पादपद्मसुधाकणों से युक्त वायु अर्थात् अमृतमधुर तुम्हारी कथा तुम्हारे तत्त्वज्ञान को भूले मुझ-जैसे कुयोगियों को पुनः तुम्हारी स्मृति प्रदान करती है, अतएव अन्य वर की आवश्यकता नहीं।' किन्तु यही वर दो-

''न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥''

(ही ४/२०/२४)

'हे नाथ! मैं मुक्तिवर की कामना नहीं करता, (क्योंकि) महत्तम साधुओं के हृदय से उठे और उनके मुख से निकले तुम्हारे चरणकमल-मकरन्द की प्राप्ति की आशा उसमें नहीं रहती। अतएव महत् का श्रीमुख-निःसृत तुम्हारा कथामृत पीने के लिये मुझे दस हजार कान प्रदान करो-यही वर है।' इससे भक्त के मुख की हरिकथा आस्वादन की विपुल या सर्वाधिक आनन्द चमत्कारिता का पता चलता है।

अथवा, त्रिपदी के पूर्वार्ध में जो बात कही गई है-''राधाकृष्ण-सेवन, एकान्त करिया मन, चरणकमल बलि जाउँ''-एकान्तमन से श्रीराधाकृष्ण के सेवन की और श्रीचरणकमल-माधुरी आस्वादन की अभिलाषा व्यक्त की गई है, उसी का साधन बताया गया है ''दोंहार नाम गुण शुनि, भक्तमुखे पुनि पुनि, परम आनन्द सुख पाउँ'', अर्थात् परमानन्दित चित्त से या आस्वादन के साथ यदि बार-बार भक्त-मुख से श्रीराधागोविन्द का नाम गुण लीलादि सुना जाय, तो अनायास ही बाह्यदेह से ऐकान्तिभाव (कायमनोवाक्य) से श्रीराधाकृष्ण का सेवन

और अन्तश्चिन्ति सिद्धदेह से मन में सेवा-चिन्तन सानुराग सुसम्पन्न होगा-जो रागभजन में प्रेमप्राप्ति या सिद्धिलाभ का अव्यभिचारी अति बलिष्ठ साधन है॥७६॥

हेम गौरी-तनु राइ, आँखि दरशन चाइ,
रोदन करिबो अभिलाष।
जलधर ढर ढर, अङ्ग अति मनोहर,
रूपे भुवन परकाश॥७७॥

अभीष्ट-दर्शन की अभिलाषा :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में अनुराग से भरकर अभीष्ट श्रीश्रीराधाकृष्ण के दर्शन की कामना करते हुए कहते हैं-''हेम-गौरी-तनु राइ, आँखि दरशन चाइ, रोदन करिबो अभिलाष'', अर्थात् 'हेम-गौरी-तनु राधारानी के दर्शन की अभिलाषा से मैं सतत रोदन करूँगा।' कवियों ने स्वर्णकान्ति से राधारानी की अङ्गकान्ति की तुलना की है, किन्तु प्राकृत तैजस पदार्थ के विकार सोने के साथ उन महाभावमयी की दिव्य कान्ति की तुलना क्या वास्तव में सही है? श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने राधारससुधानिधि में कहा है-''गात्रें कोटितड़िच्छवि'' अर्थात् श्रीराधा के अङ्ग में कोटि विद्युतों की कान्ति है; किन्तु वह भी तो अति उत्कट तैजस पदार्थ का विकार ही है। विद्युत-कान्ति आँखों के लिये पीड़ादायक है; उससे आँखे झुलस जाती हैं; राधारानी के अङ्ग में प्रेम की कान्ति है-उससे दर्शक के नयन शीतल होते हैं। इसीलिये श्रील प्रबोधानन्दपाद ने 'छवि' शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुतः इन सब वर्णनों से बस इतना ही समझाने की चेष्टा की गई है कि प्रेममयी राधारानी की अङ्गच्छटा स्वर्ण की तरह उज्ज्वल-पीतवर्ण या विद्युत की तरह अति समुज्ज्वल है। स्वर्ण या विद्युत की तरह ही उनकी अङ्गकान्ति है, इसलिये दृष्टान्त देने के उद्देश्य से ये वर्णन नहीं है। श्रीमती के अङ्ग में महाभाव की कान्ति अतुलनीय है। श्रील प्रबोधानन्दपाद ने लिखा है-

''नव-चम्पक-गौर-कान्तिभिः कृत-वृन्दावन-हेमरूपताम्।
भज कामपि विश्व-मोहिनीं, मधुर-प्रेमरसाधिदेवताम्॥

(सङ्गीतमाधव-१/२)

'जो अभिनव नवचम्पक-गौरकान्ति से श्यामल वर्ण वृन्दावन को सोने के वृन्दावन में परिणत कर रही हैं, उन्हीं (किसी) अनिर्वचनीय मधुर प्रेमरस की अधिदेवी विश्वमोहिनी राधारानी का भजन करो।' इस अभिनव प्रेमरस-अधिदेवी विश्वमोहिनी हेमगौरी राधारानी के चरणों में ऐकान्तिक शरणागत तदगतप्राण प्रेमिक (भक्त) के हृदय में उनके अदर्शन से जो व्याकुलता जगती है, उसकी कहीं तुलना नहीं। श्रीरूप, सनातन, रघुनाथ आदि नित्यपार्षदों की तो बात ही नहीं, गोवर्धन-निवासी साधनसिद्ध श्रील कृष्णदास बाबाजी महाराज ने श्रीमती की दर्शन-उत्कण्ठा में लिखा है-

''हाहा प्राणेश्वरि! तुया विच्छेद अनले।
निरवधि प्राण मोर धिकि धिकि ज्वले॥
ए दु:खसागर हैते उद्धार करिया।
श्रीचरणे राखो मोरे किङ्करी करिया॥
हेनो दिन कि हबे तव श्रीमुखेर वाणी।
कर्णेते शुनिबो आर नूपुरेर ध्वनि॥
तोमार लावण्यामृत नयन-चषके।
कबे वा करिबो पान परानन्द-सुखे॥
आघ्राण करिबो तव अङ्ग परिमल।
पुलके पूर्णित हबे मोर कलेवर॥
कबे तवोच्छिष्टामृत दिबे कृपा करि।
पाइया कृतार्था हबे ए नव किङ्करी॥
तुमि मोर जप तप तुमि मोर ध्यान।
जन्मावधि तोमा बिना नाहि जानि आन॥
कान्तालि सहित तुमि जथाय विहरो।
कृपा करि सेइ स्थाने मोरे दासी करो॥
काँदे दीन कृष्णदास दन्ते तृण धरि।
अभिलाष पूर्ण मोर करो हेमगौरी॥''

प्रेम की मूर्ति श्रील ठाकुर महाशय तभी हेमगौरी श्रीराधा के दर्शन की अभिलाषा से रोने का सङ्कल्प लेते हैं। अभीष्ट की विरह-उत्कण्ठा में रोदन ही अभीष्ट-दर्शन पाने का प्रकृष्ट उपाय है और यह रोदन भी परम आस्वाद्य है। विश्व के प्राकृत बन्धुओं के विरह में रोना तो केवल दु:खमय है, किन्तु प्रेममयी राधारानी के लिये रोना परम सुखमय रसमय है। गोस्वामिपादों ने विरह को 'रस' नाम दिया है। प्रेम के ही दो कलेवर हैं-एक मिलन, दूसरा विरह। प्रेम ही उपादान है, तो विरह में भी आस्वादन विशेष निहित होगा, यह कहना ही पर्याप्त। यहाँ तक कि श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद ने विरहरस के आस्वादन को मिलनानन्द से कहीं अधिक प्रचुर और प्रभूत बताया है :

''तथापि सम्भोगसुखादपि स्तुत:, स कोऽप्यनिर्वाच्यतमो मनोरम:।
प्रमोदराशि: परिणामतो ध्रुवं, तत्र स्फुरेत्तद्रसिकैकवेद्य:॥''

(वृ० भा० १/७/१२६)

अर्थात् 'यद्यपि प्रियजन के विच्छेद-दावानल में दग्ध विरही के दुरन्त शोकावेग में पहले प्रगाढ़ दु:ख होता है, तथापि तत्वत: वह विरहजनित दु:ख मिलनानन्द से अधिक स्तवनीय है, कारण-उसमें परिणामत: किसी अनिर्वचनीयतम मनोरम आनन्दराशि का स्फुरण होता है-इसे श्रीकृष्ण-विरही रसिकजन ही जानते हैं।' तभी श्रील ठाकुर महाशय श्रीराधारानी की दर्शन-लालसा से रोदन करने की अभिलाषा व्यक्त कर रहे हैं।

इसके बाद कहते हैं-''जलधर ढर ढर, अङ्ग अति मनोहर, रूपे भुवन परकाश''। श्रील ठाकुर महाशय एकाकी राधारानी के दर्शन नहीं करना चाहते, युगलकिशोर श्रीराधाकृष्ण की दर्शन-लालसा से ही रोना चाहते हैं। तभी इस त्रिपदी के शेषार्ध में श्रीश्यामसुन्दर की रूपमाधुरी का वर्णन करते हैं। नवजलधरकान्ति श्रीकृष्ण की अङ्गशोभा अति उज्ज्वल मधुर और लावण्यमय है। कुछेक सादृश्य लेकर ही अतुलन श्रीकृष्ण अङ्ग-कान्ति की तुलना नवजलधर से की जाती है। श्रीमन्महाप्रभु का प्रलाप है-

''नवघन स्निग्धवर्ण, दलिताञ्जन-चिक्कण, इन्दीवर-निन्दि सुकोमल।
जिनि उपमानगण, हरे सभार नेत्र मन, कृष्णकान्ति परम प्रबल॥
कहो सखि! कि करि उपाय?
कृष्णाद्भुत बलाहक, मोर नेत्र-चातक, ना देखि पियासे मरि जाय॥
सौदामिनी पीताम्बर, स्थिर रहे निरन्तर, मुक्ताहार बकपाँति भाल।
इन्द्रधनु शिखिपाखा, उपरे दियाछे देखा, आर धनु वैजयन्तीमाल॥
मुरलीर कलध्वनि, मधुर गर्जन शुनि, वृन्दावने नाचे मोरचय।
अकलङ्क पूर्णकल, लावण्य ज्योत्स्ना झलमल, चित्रचन्द्रेर ताहाते उदय॥
लीलामृत वरिषणे, सिञ्चे चौद्दभुवने, हेनो मेघ जबे देखा दिलो।
दुर्दैव-झञ्झापवने, मेघ निलो अन्यस्थाने, मरे चातक पीते ना पाइलो॥''

(चै० च० अन्त्य०, परि० १५)

अर्थात् कविगण श्रीकृष्ण की अङ्गकान्ति की तुलना नवजलधर, दलिताञ्जन, इन्दीवर आदि के साथ करते हैं, पर वस्तुत: वह अतुलनीय है। वह इन सभी उपमानों को पराभूत कर अपनी अद्भुत शक्ति से दर्शक के नयन-मन हरण करती है। मेघ से तुलना करें तो कहना पड़ता है कि श्रीकृष्ण अद्भुत मेघ हैं, कारण-उनका पीताम्बर ही सौदामिनी है; मेघ का विद्युत तो चपल होता है, पर इस अद्भुत मेघ की पीताम्बरस्वरूप सौदामिनी स्थिर है। कण्ठ का मुक्ताहार ही इस मेघ की गोद में मनोहर बकपंक्ति की शोभा है। मस्तक का मोरपंखचूड़ा और वनमाला ही इन्द्रधनुष हैं। त्रैलोक्यमोहिनी मुरली की कलध्वनि ही इस अद्भुत मेघ का मधुर गर्जन है। इस मेघ के ऊपर लावण्यज्योत्स्ना से झिलमिलाता उसका मुखरूपी निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र सतत समुदित रहता है। विश्व का मेघ तो पृथ्वी को ही वारिधारा से सिक्त सरस करता है, किन्तु यह अद्भुत कृष्ण-मेघ लीलामृत-वर्षण से चौदह भुवनों को सिक्त-सरस बनाता है। गोपियों के पिपासित नेत्र ही इस अद्भुत मेघ के रूपबिन्दु के चिरपिपासु चातक हैं।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं- ''ढर ढर'' अर्थात् वह ललित लावण्ययुक्त श्रीकृष्ण का नवजलधर श्यामल अङ्ग अति मनोहर है। विश्व में सभी के मन को हरना ही उसका स्वभाव है-इसीलिये उसका एक नाम है'श्याम'। ''श्यायते गच्छति मनोऽस्मिन्निति श्यामः'' अर्थात् जिनके प्रति सभी का मन गमन करता है, उन्हीं का नाम 'श्याम' है। ''पुरुष जोषित् किबा स्थावर-जङ्गम। सर्वचित्ताकर्षक साक्षात् मन्मथ-मदन॥'' (चै० च०) उन्हीं आनन्दलीलामयविग्रह साक्षात् मदनमोहन श्यामसुन्दर के अप्राकृत सौन्दर्य माधुर्य रूप रस का आस्वादन कर समस्त विश्व आकृष्ट होता है। विश्व का रसिक भावुक भक्त-समाज उस प्रबल आकर्षण के कारण और स्थिर न रह पाकर उसी अप्राकृत माधुर्य-कादम्बिनी श्यामसुन्दर के लीलाधाम श्रीवृन्दावन में आगमन करता है-आकर देखता है श्याम 'रूपे भुवन परकाश'। उसी रूपसिन्धु में भक्तगण डूब जाते हैं; उस रूप का वर्णन करने को होते हैं, पर भाषा खो बैठते हैं। फिर भी, भुवन प्रकाशित करने वाला वह श्याम-रूप हृदय में विपुल आलोड़न की सृष्टि करता है, कुछ कहे बिना भी नहीं रहा जाता। तब वे रूपमुग्ध प्रेमिक अश्रुनीर से नहाते-नहाते कहते हैं-

''मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो र्मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधुगन्धि मधुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्॥''

(श्रीकृष्णकर्णामृत) ॥७७॥

सखीगण चारि पाशे, सेवा करि अभिलाषे,
से सेवा परम सुख धरे।
एइ मन तनु मोर, एइ रसे सदा भोर,
नरोत्तम सदाइ विहरे॥७८॥

सेवा सुख :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय ने युगल-रूपमाधुरी के दर्शन की लालला से रोदन की अभिलाषा व्यक्त की है। श्रीराधा का सान्निध्य श्याम के माधुर्य-सिन्धु में उच्छ्वास लाता है और श्यामरूप राधामाधुरी को विपुल रूप से समुच्छ्वसित कर डालता है! श्रीकृष्ण की उक्ति है-

''यद्यपि निर्मल राधार सत्प्रेम-दर्पण।
तथापि स्वच्छता तार बाड़े क्षणे क्षण॥
आमार माधुर्येर नाहि बाड़िते अवकाशे।
ए दर्पणेर आगे नव नव रूपे भासे॥
मन्माधुर्य राधाप्रेम दोंहे होड़ करि।
क्षणे क्षणे बाड़े दोंहे केहो नाहि हारि॥'' (चै० च०)

फिर युगल के चारों ओर सखी-मञ्जरियाँ विविध शृङ्गाररसमय हास्य-परिहासरस और सेवारस की आँधी से युगल-माधुरी-सिन्धु को उत्ताल कर देती हैं। श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में उसी युगलमाधुरीसागर में मग्न हो अन्तश्चिन्तित सिद्धदेह से ससखी-युगल के सेवारस में विभोर होने की लालसा व्यक्त कर रहे हैं। पहले कहते हैं-''सखीगण चारि पाशे, सेवा करि अभिलाषे, से सेवा परम सुख धरे''। ईश्वर विभुवस्तु हैं, पर चिच्छक्ति की सहायता के बिना परिपुष्ट नहीं होते; वैसे ही श्रीराधाकृष्ण का प्रेम विभु है पर सखियों के साहचर्य के बिना पुष्ट नहीं होता। सखी-मञ्जरियाँ श्रीराधारूपी कृष्णप्रेम-कल्पलता की शाखा-पल्लव हैं। शाखा-पल्लव लता के चारों ओर रहकर उसे सुशोभित करते हैं; वैसे ही श्यामतमाल से बड़े लाड़ के साथ जड़ित कनकलता श्रीराधा के चारों ओर रहकर सखी-मञ्जरियाँ युगल को सुशोभित करती हैं।

श्रीललिता-विशाखा आदि सखियाँ और श्रीरूपमञ्जरी आदि मञ्जरियाँ श्रीश्रीराधाकृष्ण के चारों ओर अवस्थान कर निरन्तर नव-नवायमान अभिलाषा के साथ श्रीयुगल की सेवा करती हैं। सखी-मञ्जरियों में युगल सेवा का तारतम्य समझने के लिये पहले उनके श्रेणी विभाग जानने होंगे। श्रीराधा की सखियाँ असंख्य होते हुए भी पाँच भागों में विभक्त हैं। श्रीमत् रूप गोस्वामिपाद ने लिखा है-

''अस्याः वृन्दावनेश्वर्याः सख्य पञ्चविधाः मताः।
सख्यश्च नित्सख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन॥
प्रियसख्यश्च परमप्रेष्ठ सख्यश्च विश्रुताः॥''

(उज्ज्वलनीमणि)

अर्थात् वृन्दावनेश्वरी श्रीराधा की सखियाँ पाँच प्रकार की हैं-सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परमप्रेष्ठ सखी। फिर ये भावनिष्ठा भेद से तीन प्रकार की हैं-कृष्णस्नेहाधिका, समस्नेहा, राधास्नेहाधिका। सखी-धनिष्ठा, विन्ध्या आदि श्रीकृष्णस्नेहाधिका हैं। प्रियसखी कुरङ्गाक्षी आदि और परमप्रेष्ठसखी ललिता आदि अष्टसखियाँ समस्नेहा अर्थात् श्रीराधाकृष्ण के प्रति समान स्नेह रखने वाली हैं। इन समस्नेहा सखियों में श्रीललिता-विशाखादि अष्ट परमप्रेष्ठ सखियाँ श्रीराधाकृष्ण को समान स्नेह करते हुए भी 'हम श्रीराधारानी की ही हैं' ऐसा अभिमान पोषण करती हैं। श्रीराधाकृष्ण में इनके प्रेम की पराकाष्ठा के कारण समयविशेष पर दोनों में से किसी एक के लिये क्षण भर के लिये प्रेमाधिक्य प्रकट होता है-ऐसी प्रतीति होती है। जैसे खण्डिता अवस्था में श्रीराधा के प्रति और मान की अवस्था में जब राधा श्रीकृष्ण का अनादर करती हैं तब श्रीकृष्ण के प्रति (ये) अनुराग दिखाती हैं। प्राणसखी और नित्यसखी-कस्तूरी, मणिमञ्जरी आदि राधास्नेहाधिका हैं-ये ही 'मञ्जरी' नाम से विख्यात हैं। ये राधास्नेहाधिका मञ्जरियाँ सभी सखियों से भिन्न हैं-इनके भेद या विलक्षता के विषय में वृन्दावन महिमामृत में लिखा है-''अनन्य श्रीराधापदकमलदास्यैकरसधी, हरेः सङ्गे रङ्गं स्वपनसमयेनाऽपिदधती। बलात् कृष्णे कूर्पासकभिदि किमप्याचरति काप्यदश्रुमेवेति प्रलपति ममात्मा च हसति॥''''जो श्रीराधापदकमल के दास्यरस में ही अनन्यचित्त हैं; जो स्वप्न में भी श्रीकृष्ण के साथ रङ्ग स्वीकार नहीं करतीं; श्रीकृष्ण बलपूर्वक उनकी कञ्चुकी छिन्नभिन्न कर कुछ आचरण करते हैं, तो ऐसी कोई भी मञ्जरी अश्रुयुक्त होकर ''ना, ना'' कर

प्रलाप करती है, उसे देखकर मेरी आत्मा या प्राणस्वरूपिणी श्रीराधा हँसती हैं।' इन लोगों की ऐसी निष्ठा देखकर ही राधारानी को हँसी आती है, यह समझना होगा। इस भावनिष्ठा के कारण ही ये मञ्जरियाँ श्रीयुगल की उस रहस्यमय सेवा का सौभाग्य पाकर धन्य होती हैं, जो परमश्रेष्ठ ललितादि सखियों को भी दुर्लभ या अलभ्य है, अन्य सखियों की तो बात ही क्या। श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद ने अपने व्रजविलासस्तव में लिखा है-

''ताम्बूलार्पण - पाद - मर्दन - पयोदानाभिसारादिभि-
वृन्दारण्यमहेश्वरीं प्रियतमा यास्तोषयन्ति प्रियाः।
प्राणप्रेष्ठसखीकुलादपि किलासङ्कोचिता भूमिकाः
केलीभूमिषु रूपमञ्जरीमुखास्ता दासिकाः संश्रये॥''

अर्थात् 'ताम्बूल-अर्पण, पादमर्दन, जलदान एवं अभिसार आदि कार्यों से जो श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीराधा को सदा परितृप्त कर रही हैं और प्राणप्रेष्ठ सखी ललितादि आदि से भी अधिक असंकुचित हैं श्रीराधाकृष्ण की क्रीड़ाभूमि पर आनेजाने में-उन्हीं राधादासियों का जिनमें रूपमञ्जरी प्रधान हैं आश्रय लेता हूँ।' श्रीमन्महाप्रभु और उनके श्रीचरणाश्रित आचार्यपादगण ने इसी मञ्जरी-भावसाधना का ही विश्व में प्रचार किया है। इन लोगों की परम निष्काम पवित्र सेवा से श्रीराधामाधव परमसुख प्राप्त करते हैं और उन्हें सुखी देखकर ये मञ्जरियाँ सुख-सागर में डूबी रहती हैं-''से सेवा परमसुख धरे''। सेवा के समय विलासी युगल के दर्शन कर ये जो आनन्द प्राप्त करती हैं, उसकी तुलना कहीं नहीं। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है-

''राधानागर-केलिसागर-निमग्नालीदृशां यत्सुखं।
नो तल्लेशलवायते भगवतः सर्वोऽपि सौख्योत्सवः॥''

(वृन्दावनमहिमामृतम्-१/५४)

श्रीराधामाधव के केलिसिन्धु में मग्न-नयना सखियों का जो सुख है, उसकी तुलना में भगवद राज्य के समस्त सुखोत्सव लवलेशमात्र भी नहीं।

इसके पश्चात् कहते हैं-''एइ मन-तनु मोर, एइ रसे सदा भोर, नरोत्तम सदाइ विहरे''। श्रील ठाकुर महाशय प्रार्थना करते हैं-मेरा यह मन-तनु अर्थात् अन्तश्चिन्तित सिद्धदेह मञ्जरी भावरस में तन्मय होकर युगल के सेवाकार्य से उनके साथ लीलास्थलों में सदा विचरण करने का सौभाग्य प्राप्त करे। गौड़ीय वैष्णव साधक अपने मन-तनु अर्थात् श्रीगुरुप्रदत्त सिद्धशरीर में अभिमान स्थापित कर आठों पहर श्रीराधामाधव की सेवा का चिन्तन करें; यही रागमार्ग का भजन-कौशल है। बाहर साधकदेह से श्रवणकीर्तन-अर्चन-वन्दन आदि नवधाभक्ति का याजन करते हुए अन्तश्चिन्तित सिद्धस्वरूप से सदा मानससेवा का चिन्तन करना होगा।

''बाह्य अन्तर इहार दुइ तो साधन।
बाह्य-साधकदेहे करे श्रवण-कीतन॥
मने-निज सिद्धदेह करयिा भावन।
रात्रिदिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन॥'' (चै० च०)

श्रील ग्रन्थकार ने कहा है-''एइ रसे सदा भोर'। अभिप्राय यह है कि जिन्हें सिद्धदेह का यत्किञ्चित अभिमान प्राप्त हो गया है, वे ही समझ सकते हैं इसमें कैसा अपूर्व रसास्वादन चमत्कारित्व विद्यमान है। जिन्हें सिद्धदेहाभिमान से श्रीराधामाधव के सेवाचिन्तन आदि का सौभाग्य मिल गया है, उनकी तो बात ही नहीं; इस सिद्धदेह के अभिमान से ही सिद्धि सन्निकट हो जाती है-ऐसा गोस्वामिपादगण का मत है-''अस्तु तावद्भजनप्रयासः केवल तादृशत्वाभिमानेनापि सिद्धिर्भवति'' (भक्ति सन्दर्भ, अनु० ३४४)। इसलिये रागानुगीय साधक को प्राकृत पाञ्चभौतिक देह में आस्था या आवेश त्यागकर अपने मन-तनु या सिद्धदेह में आवेश रखना होगा। साधक भक्त के भक्तिसाधनमात्र में यह तत्त्वज्ञान सर्वत्र जुड़ा रहता है कि मैं भगवान् का नित्य सेवक हूँ और भगवान् मेरे नित्य सेव्य हैं। यह सेव्य-सेवक भाव ही भक्तिमार्ग है, अतएव भगवान् की सेवोपयोगी सिद्धदेह में अभिमान स्थापना हरिप्रिय उत्तम भक्त का ही लक्षण है॥७८॥

राधाकृष्ण करो ध्यान, स्वप्नेओ ना बोलो आन,

प्रेम बिना आन नाहि चाउ।

युगलकिशोर - प्रेम, जेनो लक्षवान हेम,

आरति पीरिति रसे ध्याउ॥७९॥

टीका -

आरति पीरिति रसे ध्याउ-आर्त्या प्रीतिसुखस्वरूपत्वेन ध्यानं कुरु। हे मन! इति शेषः॥७९॥

आर्तिपूर्वक ध्यान :

सुधाकणिका व्याख्या : इस त्रिपदी में श्रील ठाकुर महाशय रागानुगीय मञ्जरीभाव-साधक के अन्तरङ्ग साधन का उल्लेख कर रहे हैं। पहले कहते हैं-''राधाकृष्ण करो ध्यान, स्वप्नेओ ना बोलो आन''। श्रीपद्मपुराण में देखा जाता है-''ध्यायन्ति पुरुषं दिव्यमच्युतञ्च स्मरन्ति ये। लभन्ते तेऽच्युतस्थानं श्रुतिरेषा पुरातनी'', अर्थात् 'जो दिव्यपुरुष श्रीअच्युत का ध्यान या स्मरण करते हैं, वे अच्युतस्थान प्राप्त करते हैं, यही प्राचीन श्रुति है।' श्रीहरिभक्तिविलास (तृतीय विलास) में ध्यानमाहात्म्य में यह श्लोक उद्धृत हुआ है। श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद ने वहाँ इस श्लोक की टीका में लिखा है-''ध्यायन्ति श्रीपादाब्जतलमारभ्य श्रीकेशाग्र सौन्दर्यादिसहितं चिन्तयन्ति। अप्यर्थे चकारः। ध्यायन्तीत्येदस्तु ये स्मरन्त्यपि यथाकथञ्चित् भगवति मनः संयोजयन्ति तेऽपि। एवं ध्याने स्मरणयोरभेदः कल्पनीयः ध्यायन्तीति स्मरन्तीति पृथक् प्रयोगात्''। तात्पर्य यह है कि श्रीअच्युत के श्रीपादपद्मतल से आरम्भ कर श्रीकेशाग्र तक सौन्दर्य आदि के साथ चिन्तन ही 'ध्यान' है। उक्त श्लोक में 'अच्युतञ्च' शब्द में जो चकार है, वह 'अपि' अर्थ में आया है। अर्थात् स्मरण करने पर भी या भगवान् से मन का किसी प्रकार संयोग करने पर भी अच्युतस्थान प्राप्त होता है। यहाँ ध्यान एवं स्मरण में विशेष अन्तर नहीं। स्मरण गाढ़ होने पर ही ध्यान होता है, इसीलिये पृथक् संज्ञा दी है।

विशेषरूप से प्रगाढ़ मन:संयोग का नाम ही ध्यान है। यह ध्यान ही साधना की प्राणवस्तु है। ध्यान या प्रगाढ़ मन:संयोग का फल अति विस्मयजनक है, कारण-जीव की जड़ देह के आकार में भी परिवर्तन हो जाता है। श्रीमद्भागवत (११/९/२३) में आया है-

''कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजम्॥''

श्रीअवधूत महाशय यदुराज से कहते हैं-'कोई कीट भृङ्गी (कुमारिया) से आक्रान्त होकर उसके गर्त में बन्द हो जाता है, तो भय के कारण निरन्तर उस भृङ्गी का ध्यान करने लगता है, इसलिये देह त्यागे बिना ही उसका सारूप्य प्राप्त कर लेता है, अर्थात् उसकी वह कीट-देह ही भृङ्गी देह में बदल जाती है।' ध्यानकर्ता की देह का ध्येय विषय के समान आकार प्राप्त करना-इसे ध्यान का ही अचिन्त्य प्रभाव जानना होगा। जब जड़देह के ध्यान के फलस्वरूप जड़देह ही इस प्रकार बदल जाती है, तब सच्चिदानन्दघनमूर्ति श्रीकृष्ण के ध्यान के फलस्वरूप साधक की देह चिदानन्द-आकारता प्राप्त करेगी, इसमें और क्या सन्देह? श्रीमद्भागवत में ऐसा वर्णित है कि श्रील ध्रुव महाशय की साधकदेह ही भगवद अनुध्यान के प्रभाव से चिदानन्दमय हो गई थी।

श्रीराधाकृष्ण के रूप गुण लीला सेवा आदि के सुष्ठु चिन्तन को ही श्रीयुगल का 'ध्यान' कहा जाता है। इसलिये ध्यान चार प्रकार का है-रूपध्यान, गुणध्यान, लीलाध्यान और सेवाध्यान। रूपध्यान-श्रीश्रीराधाकृष्ण के नखाग्र से शिखाग्र तक अङ्गप्रत्यङ्ग की रूपमाधुरी या अपार सौन्दर्य का चिन्तन। जैसे श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने श्रीकृष्णसन्दर्भ के अन्त में श्रीश्रीराधामाधव की रूपमाधुरी का वर्णन किया है-

''गौरश्यामरुचोज्ज्वलाभिरमलैरक्ष्णोर्विलासोत्सवै
नृत्यन्तीभिरशेषमादनकलावैदग्ध्य-दिग्धात्मभिः।
अन्योन्य-प्रियता-सुधा-परिमलस्तोमोन्मदाभिः सदा
राधामाधव-माधुरीभिरभितश्चित्तं ममाक्रम्यताम्॥''

'गौरश्याम दीप्ति से उज्ज्वल, नयनयुगल के अमल उत्सव-विलास से नृत्यशील, अशेष मादन-कला-वैदग्धी द्वारा लिप्तस्वरूप एवं परस्पर के प्रियता-सुधा-परिमल द्वारा परम आमोदित-श्रीश्रीराधामाधव के माधुरीसमूह से मेरा चित्त सर्वदा सभी प्रकार से आक्रान्त हो।' तात्पर्य यह है कि श्रीराधाकृष्ण की रूपमाधुरी गौर श्याम द्युतियों से उज्ज्वल है, अर्थात् श्रीराधा की गलित काञ्चनसदृश गौर छटा से और श्रीकृष्ण की नीलमणि कान्तिजयी श्याम छटा से दिगन्त उज्ज्वल हो रहे हैं! प्रियसङ्ग के कारण श्रीराधा के दायें नेत्र और श्रीकृष्ण के बायें नेत्र की विचित्र भङ्गिमा से उल्लसित होकर युगल की अनिर्वचनीय रूपमाधुरी मानो नृत्य कर रही है! दोनों के अपरूप अङ्ग मादनाख्य-महाभाव की अशेष विलास-निपुणता से परिवृत है, अर्थात् मादन के अनुभावरूप आलिङ्गन-चुम्बन आदि अनन्त अद्भुत माधुरी से दोनों के श्रीअङ्ग विमण्डित हैं। परस्पर की प्रियता ही लेपन है (अङ्ग से लगा

कुंकुम आदि)–जनमनमोहन गन्धसमूह–उससे वह माधुरी आमोदित है। श्रीराधामाधव का वह सम्मिलित अनिर्वचनीय रूप मेरे हृदय में इस प्रकार उदित हो कि चित्त में अन्य स्फूर्ति का लेश भी न रहे। मूल के 'आक्रान्त' शब्द का तात्पर्य यही है कि वह रूप मेरे चित्त को किसी तरह भी न छोड़े। इससे यह समझा जाता है कि श्रीराधामाधव की स्वप्रकाश रूपमाधुरी विशुद्धचेता ध्यानकर्ता भक्त के चित्त में स्वयं ही कृपाकर प्रकट होती है। गुणध्यान–श्रीराधाकृष्ण के अनन्त गुण हैं, पर मधुररस वाले भक्त के लिये उनके मधुररस के पच्चीस गुण ही ध्येय हैं। श्रीकृष्ण के गुण हैं : सुरम्य, मधुर, समस्त सुलक्षणों से युक्त, बलिष्ठ, नवयौवनसम्पन्न, वक्ता, प्रियभाषी, बुद्धिमान, सुपण्डित, प्रतिभासम्पन्न, धीर, विदग्ध चतुर, सुखी, कृतज्ञ, दक्षिण, प्रेमवश्य, गम्भीर, वरीयान्, कीर्तिमान, नारीजन–मनोहारी, नित्यनूतन, अतुल्यकेलि, सौन्दर्य, श्रेष्ठ वंशीवादनशील। श्रीराधा के गुण हैं : मधुरा, नवीन वयस, चपलनयन, मधुरहास्यमण्डित, चारु सौभाग्य रेखासम्पन्न, जिनकी अङ्गगंध से माधव उन्मादित होते हैं, सङ्गीत–अभिज्ञ, रम्यवाक्, परिहासविशारद, विनीत, करुणापूर्ण, विदग्ध, सुचतुर, लज्जाशील, सुमर्यादा, धैर्यशालिनी, गम्भीर, सुविलासा, महाभावमयी, गोकुल वासियों की प्रेमपात्र, जिनके यश से ब्रह्माण्ड परिपूर्ण है, जो गुरुजनों के प्रति भक्तिपरायण है, सखियों के प्रणय के अधीन, कृष्ण–प्रियाओं में प्रमुख, केशव निरन्तर जिनके अधीन रहते हैं।❋ इन सब गुणों का प्रगाढ़ चिन्तन ही गुणध्यान है। लीलाध्यान–गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में श्रीराधामाधव के अष्टकालीन लीला–चिन्तन की जो पद्धति प्रचलित है, वही लीलाध्यान है। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद के संक्षिप्त लीलासूत्रों और कवि कर्णपूर की कृष्णान्हिककौमुदी को लेकर श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने श्रीगोविन्दलीलामृत ग्रन्थ की रचना की है–उसमें विस्तृत रूप से श्रीराधाकृष्ण की अष्टकालीन लीलाओं का वर्णन किया है। परवर्ती गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने अपने श्रीकृष्णभावनामृत ग्रन्थ में गोविन्दलीलामृत के संक्षिप्त अंशों का विस्तार से वर्णन कर श्रीश्रीराधाकृष्ण के लीलाध्यान के भण्डार को समृद्ध किया है। तत्पश्चात् श्रीराधारानी का साक्षात् कृपादेश प्राप्तकर गोवर्धनवासी श्रील कृष्णदास सिद्धबाबा ने श्रीश्रीगौरगोविन्द की अष्टकालीय गुटिका तैयार की, गौरलीला के साथ श्रीराधामाधव के लीलाचिन्तन की पद्धति का प्रवर्तन किया और 'भाावनासारसंग्रह' नामक वृहत् संग्रहग्रन्थ तैयार कर इस बात की चेष्टा की कि गुटिका में वर्णित लीलायें महाजनवाणियों द्वारा अनुभूत या आस्वाद्य हों। लीलाध्यान में रूप–गुण आदि एवं सेवाध्यान भी जुड़ा रहता है, इसलिये रागानुगीय साधक के लिये लीलाचिन्तन का ही विशेष विधान है।

सेवाध्यान–इसे मानससेवा भी कहते हैं। गौड़ीय सम्प्रदाय में योगपीठ में ससखी श्रीश्रीराधामाधव की सेवा का नियम प्रचलित है। लीला दो प्रकार की है– (१) स्वारसिकी (२) मंत्रमयी। स्वारसिकी स्रोतवत् है; मंत्रमयी ह्रदवत्। ह्रद (तालाब, विहार) स्रोत के ही अन्तर्गत है, स्वतंत्र कुछ भी नहीं, फिर भी इसकी पृथक् स्थिति और नाम हैं। अष्टकालीन लीला स्वारसिकी है और योगपीठ मिलन लीला मंत्रमयी। सिद्धस्वरूप के आवेश में इस मंत्रमयी योगपीठमिलनलीला का ध्यान किया जाता है, मानस उपचार द्वारा श्रीयुगल की सेवा की

❋ युगल के सभी गुण भक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थों में देखिये।

जाती है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने भक्तिरसामृतसिन्धु की टीका में मानससेवा की महिमा बताते हुए ब्रह्मवैवर्तपुराण का एक उपाख्यान दिया है–प्रतिष्ठानपुर के एक दरिद्र ब्राह्मण की सेवा–पूजा आदि करने की तीव्र लालसा थी, पर दरिद्रता के कारण पूजा–सामग्री संग्रह करने में असमर्थ हो सेवा नहीं कर पाते थे। एकबार उन्होंने वैष्णवसभा में भागवत–धर्म के सन्दर्भ में यह बात सुनी–'मानस उपचार से श्रीहरि की मनोमयी मूर्ति की सेवा करने से भी श्रीहरि प्रसन्न होते हैं'। सुनकर मानससेवा का सङ्कल्प लिया। एक बार गोदावरी–स्नान और नित्यक्रिया सम्पन्न कर वे निर्जन में बैठ गये। उन्होंने श्रीहरि की मनोमयीमूर्ति की प्रतिष्ठा की और महाराजोपचार से मानससेवा कर परमानन्द प्राप्त किया। इस प्रकार प्रतिदिन नित्यनूतन मानसद्रव्यादि से श्रीहरि का सेवाध्यान कर महासुख पाने लगे। कुछ दिन बीत गये। एकबार मानस सेवा में उत्तम खीर पकाकर उसे स्वर्णपात्र में रखकर सुशीतल करने के लिये तालवृन्त से हवा करने लगे। कुछ देर बाद यह देखने के लिये कि वह शीतल हुई कि नहीं ब्राह्मण ने अपनी अँगुली डाली, तो उस मानसखीर के ताप से अँगुली जल गई। अँगुली के जल जाने से वह खीर श्रीहरि के भोग के अयोग्य हो गई, यह सोचकर दु:ख से उनकी समाधि भङ्ग हो गई। देखा कि बाहर भी उनकी अँगुली जलकर पीड़ा पहुँचा रही है। इससे तो वे दु:खी न हुए, किन्तु यह सोचकर कि सेवा–द्रव्य नष्ट हुआ, सेवा सम्पन्न नहीं हुई वे विलाप करने लगे। ब्राह्मण का दु:ख देखकर श्रीहरि ने विमान भेजकर उन्हें चिन्मय धाम में अपने निकट बुला लिया।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं–''स्वप्नेओ ना बोलो आन'', अर्थात् जाग्रत दशा में तो नहीं ही, स्वप्न में भी श्रीहरिकथाप्रसङ्ग छोड़ अन्य प्रसङ्ग की चर्चा मत करना। कृष्णेतर वार्ता का श्रवण–कीर्तनादि चित्त में विक्षेप लाता है। इतर प्रसङ्ग से चित्त विक्षिप्त होने से निविष्टमन से श्रीश्रीराधाकृष्ण का ध्यान उनके प्रति मन:संयोग कभी सम्भव नहीं। निविष्टमन से श्रीश्रीराधाकृष्ण का लीलाचिन्तन करना है, तो एकान्तभाव से इतर वार्ता का सम्पर्क त्यागना होगा और प्रेम के अतिरिक्त अन्य वाञ्छाओं से रहित होना होगा–''प्रेम बिना आन नाहि चाउँ''। प्रेम पाने के इच्छुक साधक को प्रेम के अतिरिक्त अन्य समस्त कामनाओं का त्याग करना होगा। भक्ति का अर्थ ही सेवा है, अत: भक्तसाधक अभीष्ट की सेवा को छोड़ अन्य कोई आकांक्षा नहीं करते। वह सेवा 'प्रेम' के बिना अभीष्ट को कभी सुखकर नहीं होती, तभी प्रेम की आकांक्षा शुद्धभक्त के चित्त में जगी रहती है। जिनके मन में प्रेम की आकांक्षा है, वे ही प्रेम के उपाय या कारणस्वरूप साधनभजन में निविष्टचित्त रहते हैं और प्रेमप्राप्ति की विरोधी वस्तुओं के प्रति उनकी उपेक्षा भी जगी रहती है। इसलिये प्रेमप्राप्ति की पिपासा प्रेम पाने का अन्यतम हेतु है।

फिर कहते हैं–''युगल किशोर प्रेम, जेनो लक्षवान हेम, आरति पीरिति रसे ध्याउँ''। सोने की खाद या मलिनता निकालकर उसे विशुद्ध बनाने के लिये स्वर्णकार उसे अग्नि में दग्ध करते हैं, इसे प्रचलित भाषा में 'वान' कहा जाता है। जितनी बार आग में तपाया जाता है, उतना वान स्वर्ण कहा जाता है। प्रत्येक वान से सोना अधिकाधिक उज्ज्वल और विशुद्ध होता है। पाँचवान सोने में कोई मलिनता नहीं रह सकती, जितना शुद्ध होना है हो जाता है। इसलिये स्वर्ण कभी लक्ष (एक लाख) वान नहीं होता। 'लक्षवान हेम' यह विशेषण अनुपमतासूचक

है। श्रीयुगलकिशोर का प्रेम इतना विशुद्ध और उज्ज्वल है कि उसकी कोई उपमा ही नहीं। स्वर्ण भी लक्षवान नहीं होता, श्रीराधामाधव के प्रेम की भी तुलना नहीं होती। इसलिये साधक के हृदय में प्रेम की कामना के अतिरिक्त अन्य कामना के जागरूक रहने से युगल की उपासना नहीं होती–इस बात का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

अतएव प्रीतिरस की मूर्ति श्रीश्रीराधामाधव का केवल आर्ति से भरकर ध्यान करना होगा। भक्त की आर्ति ही भगवान् की यथेष्ट कृपा का नि:सरण सम्भव बनाती है। भगवान् के लिये सुतीव्र आकुति या आर्ति का नाम ही 'प्रेम' है। व्रजरस की–सर्वोपरि मधुररस की साधना में आर्ति की चरमता है। आर्ति या उत्कण्ठा–सिन्धु को समुच्छ्वसित करने के लिये ही श्रीराधामाधव ने परकीयाभाव अङ्गीकार किया है। इसलिये प्रगाढ़ आर्तिपूर्ण ध्यान ही प्रीतिरस की ऐसी मूर्ति श्रीराधामाधव के श्रीचरणों में प्रेम पाने की योग्य साधना है॥७९॥

जल बिनु जेनो मीन, दु:ख पाय आयुहीन,
प्रेम बिनु एइ मत भक्त।
चातक जलद गति, एमति एकान्तरीति,
जेइ जाने सेइ अनुरक्त॥८०॥

एकान्ती भक्त की रीति :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय ने प्रेम पाने के इच्छुक साधकों को समस्त कामनाओं का वर्जन कर प्रेमनिष्ठ होने का उपदेश दिया है। अब इस त्रिपदी में वे एकान्ती (अन्त्य) भक्त का दृष्टान्त देकर उसी को दृढ़ता के साथ प्रमाणित कर रहे हैं। ''जल बिनु जेनो मीन, दु:ख पाय आयुहीन, प्रेम बिनु एइमत भक्त''–जो लोग प्रेम के अतिरिक्त अन्य समस्त कामनाओं का सभी प्रकार से वर्जन कर एकान्तभाव से प्रेमनिष्ठ हो सके हैं, वे ही प्रेम पाने के योग्य अधिकारी हैं। मछली की ऐकान्तिक प्रीति जल में ही होती है; उसके प्राण जलगत हैं; जल से निकाल दिये जाने पर महादु:ख से छटपटाती आयुहीन होकर तत्क्षणात् प्राण त्याग देती है। प्रेमनिष्ठ भक्त को भी उसी प्रकार प्रेमगतप्राण होना होगा। प्रेम को छोड़ उसका विश्व में और कुछ भी काम्य न रहे। नारदजी ने श्रीव्यास से कहा है (श्रीमद्भागवत १/५/१८) –

''तस्यैव हेतो: प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यध:।
तल्लभ्यते दु:खवदन्यत: सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥''

'ऊर्ध्व या देवादि योनियों से नीचे स्थित स्वावर या वृक्षादि योनियों तक भ्रमण करने पर भी जो प्राप्त नहीं होता, उसी के लिये या भगवत् प्रेम के लिये ही यत्न करना पंडित व्यक्ति का कर्तव्य है। विषयसुख पुराने कर्मोवश यथासमय दु:खों की तरह बिना चेष्टा सर्वत्र मिल जाते हैं।' श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने प्रीतिसन्दर्भ में

लिखा है–''तस्मात्तत्तद्भक्तानां तत्प्रीतिमनोरथ एवोपादेयः। तदन्यस्तु सर्वोऽपि हेय'' इत्याह....''किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने। तथापि तत्परा राजन्नहि वाञ्छन्ति किञ्चन॥''..... यथैवाह–''पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते रति प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु। महत्सु यां यामुपयामि सृष्टं मैत्रस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः॥''.....अतएवाह–''न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयोः रजोजुषस्तात भवादृशा जनाः। वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो यदृच्छया लब्धमनः समृद्धयः॥ यदृच्छया अनायासेनैव लब्धा मनः समृद्धिर्येषां ते। स्वेतो भक्तिमाहात्म्यबलेन सर्वपुरुषार्थप्रतीक्षितकृपादृष्टिलेशा अपीत्यर्थः।'' अर्थात् भगवद्भक्तों की भगवत् प्रीति वाञ्छा ही आदरणीय है; उसके अतिरिक्त अन्य सभी तुच्छ हैं; शुकदेवजी ने परीक्षित से कहा है–'भगवान् श्रीनिवास प्रसन्न हों तो अलभ्य क्या रहता है, तथापि भगवत्परायण व्यक्ति कुछ भी आकांक्षा नहीं करते।' महाराज परीक्षित ने भी ब्रह्मशापग्रस्त होकर मुनियों से प्रार्थना की थी–'हे विप्रगण! मैं किसी भी जन्म में जन्मग्रहण क्यों न करूँ, उसी जन्म में भगवान् में मेरी रति रहे, महत् भक्त का सङ्ग और सभी जीवों से मैत्री हो–आप लोगों के चरणों में प्रणत होकर इसी आशीर्वाद की कामना करता हूँ।' भक्तों के लिये भगवत् प्रीति ही एकमात्र वाञ्छनीय है, अतएव श्रीमैत्रेय ऋषि ने विदुरजी से कहा है–'हे वत्स! तुम लोगों–जैसे श्रीमुकुन्दपादपद्म–परागसेवी भक्त उनके दास्यामृत को छोड़ और कुछ भी कामना नहीं करते। जो अनायास मिल जाता है, उसी से वे लोग तृप्त हो जाते हैं; उनके मन में कोई अभाव–बोध नहीं रहता।' श्लोकार्थ–यदृच्छा–जिन लोगों के मन की समृद्धि अनायास प्राप्त वस्तु से हो जाती है, (भक्तिलेश–माहात्म्य के कारण) समस्त पुरुषार्थ स्वतः ही जिनके कृपादृष्टिलेश की प्रतीक्षा करते हैं, उनके लिये प्रेम के अतिरिक्त और क्या काम्य हो सकता है?' भक्त परम पुरुषार्थ प्रेम के लिये ही परम पिपासार्त या प्रेमगतप्राण बने रहते हैं, इसीलिये प्रेम बिना भक्त की तुलना वारि–विहीन मत्स्य से की गई है।

फिर कहते हैं–''चातक जलदगति, एमति एकान्त रीति, जेइ जाने सेइ अनुरक्त''। चातक पक्षी की आसक्ति मेघमुक्त वारिबिन्दु में ही होती है; वह पिपासार्त होने पर भी नद–नदी पुष्करिणी' कहीं भी पानी नहीं पीता। वह तो गर्मियों भर पिपासा गले में लिये आकाश की ओर निहारता रहता है–कब वर्षा ऋतु आयेगी और वह मेघमुक्त पानी की बूँद पीकर अपने तन–मन की पिपासा शान्त करेगा। इसी प्रकार एकान्ती भक्त अभीष्ट चरणों में प्रेम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते। विश्व में मानव की काम्य भुक्ति मुक्ति सिद्धि आदि नाना प्रकार की भोगसम्पदायें हैं, फिर भी एकान्ती भक्त के प्राणपक्षी केवल प्रेमबिन्दु के लिये ही चिर पिपासित बने रहते हैं।

श्रीगरुड़पुराण में एकान्तीभक्त के लक्षण प्रसङ्ग में लिखा है–''एकान्तेन सदा विष्णौ यस्मादेव परायणाः। तस्मादेकान्तिनः प्रोक्ता तद्भावगतचेतसः॥''' भगवद्भाव में आविष्टचित्तवाले भक्त भगवद्–विषयों में ही एकान्तभाव से तत्पर हुए रहते हैं, इसलिये उन्हें ''एकान्ती'' कहा जाता है।'' श्रीमद्भागवत (८/३/२०) में गजेन्द्रवाक्य में देखा जाता है–''एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।'' 'जो लोग एकान्तभाव से श्रीहरि के शरणागत हैं, वे श्रीहरि से अन्य कुछ भी कामना नहीं करते।' श्रीरुद्र की उक्ति (भा० ४/२४/५५) में भी आया है–''तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया। एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत् पादमूलं बिना वहिः॥'' 'हे भगवन्! सुदुर्लभा एकान्त भक्ति के साथ सज्जनों को भी दुराराध्य तुम्हारी आराधना कर कौन व्यक्ति तुम्हारे पादमूल के अतिरिक्त अन्य विषय की कामना करता है?'

श्रीहरिभक्तिविलास में दृष्टान्त के साथ चार प्रकार के एकान्तित्व की बात कही गई है-(१) धर्म के प्रति अनादर (२) कर्म ज्ञान आदि के प्रति सर्वथा निरपेक्षता (३) विघ्न आदि के होने पर भी रतिपरता (४) प्रेमैकपरता (प्रेम में ही लगाव)।

(१) धर्म के प्रति अनादर -

''आज्ञायैव गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः॥''

(भा० ११/११/३२)

''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥''

(गीता-१८/६६)

भगवान् ने कहा-''रे उद्धव! मेरे वेद-शास्त्रउपदिष्ट स्वधर्मों के अनुष्ठान में गुण और उनका अनुष्ठान न करने में दोष जानकर भी उन धर्मानुष्ठानों को मेरे ध्यान का विक्षेपक समझकर तथा मेरी भक्ति से ही सर्वसिद्धि होती है, ऐसा दृढ़ निश्चय कर सभी धर्मों का परित्याग कर जो मेरी सेवा करते हैं, वे उत्तम साधुरूप में गिने जाते हैं।''

''हे अर्जुन! वर्णाश्रम-विहित सभी धर्मों का परित्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण लो, मैं तुम्हें सभी पापों से विमुक्त करूँगा; अतएव शोक मत करो।''

(२) कर्म ज्ञान आदि के प्रति सर्वथा निरपेक्षता -

''सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शनः।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥''

(भा० ११/२६/२७)

श्रीकृष्ण ने कहा-''हे उद्धव! साधुगण निष्काम, मद्गतचित्त, प्रशान्त, समदर्शी, ममत्वबुद्धिरहित, निरहङ्कार, सभी प्रकार के परिग्रह से शून्य होते हैं।''

(३) विघ्न आदि के होते हुए भी रतिपरता-

''यस्य कृच्छ्रगतस्यापि - केशवे रमते मनः।
न विच्युता च भक्तिर्वै स वैभागवतो नरः॥
आपदगतस्य यस्येह भक्तिरव्यभिचारिणी।
नान्यत्र रमते चित्तं स वै भागवतो नरः॥'' (स्कन्दपुराण)

अर्थात् 'जो व्यक्ति कष्ट में पड़कर भी केशव के प्रति मन की अनुरक्ति नहीं त्यागता और केशव में जिसकी भक्ति की च्युति नहीं होती, वह निश्चय ही भगवद्भक्त है। फिर जो व्यक्ति विपदापन्न होकर भी श्रीकृष्ण के प्रति ऐकान्तिकी भक्ति करता है-जिसका चित्त अन्यत्र अनुरक्त नहीं होता, वह 'भागवत' कहा जाता है।'

(४) प्रेमैकपरता -

''ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु, न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके॥''

(भा० ५/५/३)

श्रीऋषभदेव ने कहा-''जो लोग मुझ में सौहार्द स्थापित कर उसी को परमपुरुषार्थ समझते हैं, विषयी व्यक्तियों, गृह, स्त्री-पुत्रादि, बन्धुबान्धवादि के प्रति प्रीतियुक्त नहीं हैं, जीवनरक्षा के लिये उपयोगी धन से अधिक की स्पृहा नहीं करते, वे ही महत् हैं।'' इस प्रकार जो लोग एकान्ती भक्त की रीति-नीति जानते हैं, वे ही एकान्तभाव से पञ्चमपुरुषार्थ प्रेम के प्रति अनुरक्त होते हैं॥८०॥

लुबध भ्रमर जेनो, चकोर चन्द्रिका तेनो,
पतिव्रताजन जेनो पति।
अन्यत्र ना चले मन, जेनो दरिद्रेर धन,
एइ मतो प्रेमभक्ति रीति॥८१॥

प्रेमभक्ति की रीति :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय एकान्तीभक्त की रीति की बात कर अब प्रेमभक्ति की रीति या स्वभाव बता रहे हैं-''लुबध भ्रमर जेनो, चकोर चन्द्रिका तेनो, पतिव्रताजन जेनो पति। अन्यत्र ना चले मन, जेनो दरिद्रेर धन, एइ मतो प्रेमभक्ति रीति''। जिसके हृदय से श्रीराधाकृष्ण-विषयक प्रेम विराजता है, उसका स्वभाव मकरन्दलुब्ध भृङ्ग, चन्द्रिकालुब्ध चकोर और पतिगतप्राण पतिव्रता रमणी की तरह हो जाता है। जैसे मकरन्दलुब्ध भ्रमर तन-मन से निरन्तर कमलिनी में ही आसक्त रहता है, वैसे ही भक्त का मनोभृङ्ग सतत श्रीराधाकृष्ण के चरणकमल के मकरन्द के आस्वादन में ही लोलुप रहता है। जैसे लुब्ध चकोर पूर्णचन्द्र की चन्द्रिका के आस्वादन में विभोर हो जाता है वैसे ही भक्त के प्राण-चकोर सतत श्रीश्रीराधागोविन्द के मुखचन्द्र की माधुरी आस्वादन में विभोर रहते हैं। जैसे पतिगतप्राण पतिव्रता जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति किसी भी अवस्था में पति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानती, सतत पतिसेवा में लगी रहती है, कब दिन जाता है कब रात आती है कुछ भी नहीं जान पाती; प्रेमिक भक्त भी उसी प्रकार कायमनोवाक्य से श्रीराधामाधव की सेवा में एकान्त भाव से तन्मय रहते हैं।

अथवा, जैसे लुब्ध भृङ्ग चकोर और पतिव्रता की क्रमशः कमल चन्द्र एवं पति में ही ऐकान्तिक निष्ठा होती है, वैसे ही प्रीतिमान् भक्त की श्रीराधामाधव-चरणों में ही ऐकान्तिक निष्ठा होती है। श्रीगोविन्दभाष्य में श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण ने लिखा है-फलकामी भक्तों से श्रीहरि के आराधना-परायण भक्त ही श्रेष्ठ हैं, एकान्ती हैं, कारण-ये एकमात्र पारमार्थिक वस्तु के प्रति ही निष्ठावान् हैं। फिर ऐसे एकान्तियों से व्रजेन्द्रनन्दनस्वरूप में अनुरक्तचित्त भक्तगण श्रेष्ठ हैं। श्रीमन्नारायण का प्रसाद भी इन लोगों का मनहरण नहीं कर सकता। श्रीश्रीराधामाधव के पादपद्मनिष्ठ भक्तगण निष्ठावान् एकान्तियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, कारण-श्रीराधारानी के बिना अकेले व्रजेन्द्रनन्दन भी इनके चित्त-विनोदन में सक्षम नहीं होते।

प्रीतिसन्दर्भ में श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने एकान्ती भक्तों का भेद और निष्ठा का तारतम्य दिखाया है- ''एकान्तिस्तावद्द्विविधाः अजातजातप्रीतिस्त्वभेदेन। जातप्रीतयश्च त्रिविधाः एके तदीयानुभवमात्रनिष्ठाः शान्तभक्तादयः अन्ये तदीयदर्शनसेवनादिरसमयाः परिकरविशेषाभिमानिनः स्वयं परिकरविशेषाश्च। तत्र तेषु अजातप्रीतिभिः सर्वपुरुषार्थत्वेन तत्प्रीतिरेव प्रार्थनीया। अथ जातप्रीतिषु शान्तभक्तादयस्तु कदाचिद्दर्शनादिकं वा प्रार्थयन्ते सेवादिकं विनैव; तद्वासनाया अभावात्। सकृदपि कृपादृष्ट्यादिलाभेन तृप्ताश्च भवन्ति; 'नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्ग-विलोकनादिति' श्रीकर्दम वर्णनात् अतएव तत्सामीप्यार्दिकेऽपि तेषामनाग्रहः। ये तत्परिकरविशेषाभिमानिनस्ते खलु तत्तत्प्रीतिविशेषात्कण्ठितो यदा भवन्ति तदा तत्तत्सेवाविशेषेच्छया प्रार्थयन्त एव तत्सामीप्यादिकम्। तत्प्रार्थना च प्रीतिविलासरूपैव। पुष्णाति च तामिति गुण एव। यदा च तेषां दैन्येन तत्प्राप्त्यसंभावना जायते तदापि च तत्प्रीत्यविच्छेदमात्रं प्रार्थयन्ते। सोऽपि च गुण एव। यत्तु केवलसंसारमोक्षतत्सामीप्यानन्दविशेषप्रार्थनं प्रीतिविकारताशून्यं तत्, पुनः सर्वथा केषाञ्चिदप्येकान्तिनां नाभिरुचितम्।'' (अनु० ५१)

तात्पर्य यही है कि एकान्ती भक्त दो प्रकार के हैं-जातप्रीति और अजातप्रीति। जातप्रीति तीन प्रकार के (१) भगवत् अनुभावमात्र में निष्ठासम्पन्न शान्तभक्त आदि (२) भगवान् के दर्शन-सेवनादि के समय परिकर-विशेषाभिमानी (३) स्वयं परिकरविशेष। अजातप्रीतिभक्त सर्वथा ही सर्वपुरुषार्थरूप में भगवत्प्रीति की ही प्रार्थना करेंगे। जातप्रीति शान्तभक्त कदाचित् सेवादि को छोड़ केवल दर्शनादि की ही प्रार्थना करते हैं। उन लोगों की सेवावासना भी नहीं; एकबार मात्र कृपादृष्टि पाकर ही वे तृप्त हो जाते हैं। श्रीभागवत में देखने में आता है-'श्रीकर्दम मुनि ने भगवान् की स्निग्ध दृष्टि पाई थी और उनके वाक्यरूपी चन्द्र का अमृतपान किया था, इसलिये तपस्या से कृश होने पर भी अपने को अतिशय क्षीण अनुभव नहीं किया।' इससे समझा जाता है कि वे सर्वदा दर्शन और सेवा के अभिलाषी नहीं थे। किन्तु इन लोगों का सतत अन्तःसाक्षात्कार विद्यमान रहता है। तभी इनका भगवत् सामीप्य आदि के लिये भी आग्रह नहीं होता।

भगवत्परिकर-विशेषाभिमानी भक्त जब दास्य-सख्य आदि प्रीतिविशेष को लेकर उत्कण्ठित होते हैं, अपने-अपने योग्य सेवा-अभिलाषा से सामीप्य आदि की भी प्रार्थना करते हैं। उन लोगों की प्रार्थना प्रीतिविलासमयी प्रीतिपोषिका होती है; इसलिये दूषण नहीं-भूषण ही हैं। फिर भगवत्प्राप्ति की असम्भावना के बोध से कभी भगवत्प्रीति न टूट जाय--इस बात को लेकर भी दैन्यवश ये लोग प्रार्थना करते हैं-यह भी गुण है, दोष नहीं। पक्षान्तर से, केवल संसार-मोक्ष एवं भगवत् सामीप्य के आनन्दविशेष से युक्त किन्तु प्रीतिशून्य जो प्रार्थना है-वह

एकान्तियों को कभी रुचिकर नहीं।' इसीलिये श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है-''अन्यत्र ना चले मन, जेनो दरिद्रेर धन, एइमतो प्रेमभक्ति रीति''॥८१॥

विषय गरलमय, ताते मानो सुखचय,

सेइ सुख दुःख करि मान।

गोविन्द-विषय रस, सङ्ग करो तार दास,

प्रेमभक्ति सत्य करि जान॥८२॥

गोविन्द-विषयरस :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय ने प्रेमभक्ति की रीति या स्वभाव पर प्रकाश डाला। अब विषयरस-निष्ठचित्त व्यक्तियों को भक्ति पाने का उपाय बात रहे हैं-''विषय गरलमय, ताते मानो सुखचय, सेइ सुख दुःख करि मान''। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि पाँच प्रकार के इन्द्रियभोग्य विषय या अर्थसम्पदा कामिनीकाञ्चन आदि विषय विषयुक्त हैं, अर्थात् निदारुण ज्वालामय एवं सद्य (तुरन्त) प्राणहारक हैं। मोह में अंधा मानव विषयों की इस विषज्वाला को समझ नहीं पाता, इसलिये वह उन्हें सुखदायक अमृत मानकर भोगता रहता है।

''अजानन् दाहार्त्तिं विशति शलभो दीपदहनं
न मीनोऽपि ज्ञात्वा वृतवड़िशमश्नाति पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येतान् वयमिहविपज्जालजटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह ! गहनो मोहमहिमा॥''

(शान्तिशतक)

'पतङ्ग नहीं जानता कि जल मरने की ज्वाला कैसी होती है, तभी वह दीपक की अग्नि में प्रवेश करता है। मछली भी नहीं जानती कि जिस माँसखण्ड को वह खा रही है, उसके भीतर उसकी मृत्यु है, तभी वह बंसी का मांसखण्ड निगल जाती है। किन्तु हम सब जानते हैं कि हमारे भोगों के विषय महाविपदपूर्ण हैं; उन्हें भोगते ही कोटि-कोटि जन्म महाज्वालामयी तिर्यग् (पक्षी आदि) योनियों में भ्रमण करना होगा और नरक आदि दुःख भोगने होंगे; फिर भी हम इनका त्याग नहीं करते। अहा! मोह की कैसी भयावह मोहिनी शक्ति है।'

अज्ञानी जीव तो एकमात्र विषय का सेवन कर प्राण गँवाता है; और ज्ञान-बुद्धिसम्पन्न मानव एक साथ पाँच विषयों का सेवन कर रहा है-इससे वह महाविपदजाल में फँसेगा, इसमें और सन्देह क्या? गरुड़पुराण में देखा जाता है-

''कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीनाः हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकं प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥''

'कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग भृङ्ग और मीन-ये पाँच विषयों में से एक-एक विषय का सेवन कर प्राण गँवाते हैं। मात्र एक ही विषय के सेवन से ऐसा सर्वनाश होता है, तब मनुष्य तो एक साथ पाँच विषयों का निरन्तर सेवन कर रहा है, वह (प्राण) क्यों नहीं गँवायेगा?'

हिरन व्याध की वंशीध्वनि सुनकर विमोहित हो जाता है, उस शब्द विषय से कानों की तृप्ति के लिये अधीर हो उठता है और ज्ञानशून्य होकर व्याध की ओर दौड़कर जाल में गिरकर मृत्यु का वरण करता है। जो लोग हस्ती पकड़ते हैं, वे अपने पालतू हस्ती को लेकर वन में जाते हैं। वन्यहस्ती उस गृहपालित हस्ती के स्पर्श की लालसा की व्याकुल होकर उस हस्ती के पास आकर बन्दी होकर मृतप्राय हो जाता है। पतङ्ग अग्निशिखा का रूप देखकर अधीर हो जाता है, उसमें अपनी आहुति दे देता है। भौंरा कमलगन्ध पर लुब्ध होकर पद्मकोरक में डूब जाता है, शाम होने पर कमल की पंखुड़ियाँ बन्द हो जाती हैं; अगले दिन सुबह कमल के खिलने पर देखते हैं कि भृङ्ग मर गया। मछली रसलुब्ध हो बंसी-विद्ध खाद्य निगल जाती हैं और उसी समय मृत्यु-मुख में पहुँच जाती है। ये सब एक-एक विषय के सेवन से प्राण खो बैठते हैं। उधर मानव एक साथ पाँच विषयों का पूरी मात्रा में सेवन करता है, इसलिये उस विषय-विष के सेवन से उसकी मृत्यु होगी-इसमें और सन्देह क्या?

श्रील ग्रन्थकार कहते हैं-''विषय गरलमय, ताते मानो सुखचय'', अर्थात् विषय साधक के लिये वस्तुतः महा ज्वालामय होता है, पर विषयआसक्त मनुष्य को सुखमय या आनन्दपूर्ण ही लगता है। विषधर सर्प में विष रहता है, किन्तु वह उस विष की कोई ज्वाला अनुभव नहीं करता; वह विष तो उल्टे उसके सुख या पुष्टि का हेतु ही बना रहता है, कारण-विषय के न रहने से तो वह निवीर्य होकर दुःख पाता है। वह जब अन्य प्राणी को काटता है, तो वह साँप का काटा प्राणी उसके विषय की ज्वाला का अनुभव करता है। इसी प्रकार विषयासक्त व्यक्ति विष की कोई ज्वाला अनुभव नहीं करता, वह तो उल्टे उसके न होने पर ही दुःख पाता है। साधकगण ही सर्पकाटे व्यक्ति की तरह विषयों द्वारा काटे जाने पर (आहत होने पर) उनकी विष-ज्वाला का अनुभव करते हैं। विष की ज्वाला मरण के बाद शान्त हो जाती है, किन्तु विषय-विष की ज्वाला जन्म-जन्मान्तर तक देह-मन को जर्जरित करती है, अर्थात् मानवकुल विषय-सेवन के फलस्वरूप विषय-वासना के संस्कार हृदय में लिये दुःखयातनामय नाना जीवयोनियों में परिभ्रमण करता है और भयावह नरक आदि के दुःख भोगता है। साधक इसका अनुभव प्राप्त करते हैं, पर विषयआसक्त व्यक्ति विषयों में सुख अनुभव कर मोहवश विषय-सेवन का विषमय परिणाम भूलकर उन्हीं में सुखी रहता है। तभी श्रील ग्रन्थकार कहते हैं-''विषय गरलमय, ताते मानो सुखचय, सेइ सुख दुःख करि मानो''। जिस विषय-सुख का मोह अनन्त दुःखमय नाना योनी-यात्राओं का और भयावह नरकादि दुःखों का एकमात्र हेतु है, उसे क्या सुख कहा जा सकता है? इसलिये बुद्धिमान् मानवमात्र के लिये यही उचित है कि विषय-सुख को दुःख माने, समझे। अनादि काल से जड़ीय विषयरस भोगते-भोगते जीव की इन्द्रियाँ रसलोलुप हो गई हैं। भक्तगण अति सुचतुर हैं-''जेइ जन कृष्ण भजे से बड़ो चतुर'', तभी वे ज्ञानी-योगियों की तरह नीरस या कठोर शुष्क ज्ञान, वैराग्य आदि द्वारा इन्द्रियों को जीतने का प्रयास न कर

इन्द्रियाँ जिस घृण्य या निकृष्ट विषयरस को भोग रही हैं, उसके स्थान पर उन्हें अति उपादेय और उत्कृष्ट 'श्रीगोविन्द विषयरस' आस्वादन कराने की चेष्टा करते हैं। उसी अति उपादेय हृषीकेश श्रीगोविन्द के पञ्चविध विषयरस (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) का जो कल्लोलित सिन्धु है, उसके बिन्दुमात्र का आस्वादन पाते ही इन्द्रियाँ को (प्राकृत) विषयरस अतिशय घृणित और वीभत्स लगता है। वस्तुतः मानव-हृदय का प्रेम, अन्तरिन्द्रियाँ मन बुद्धि आदि, बहिरिन्द्रियाँ चक्षु कर्ण आदि-ये सभी श्रीगोविन्दविषय-रस की ही कामना करती हैं, वह नहीं मिलता तभी जघन्य विषयरस-लोलुप या दूषित होती हैं और चोर की तरह मानव-हृदय की सत् वृत्तियों का अपहरण करती हैं। श्रीमद्भागवत में ब्रह्मस्तव में आया है-''तावद्रागादयस्ते- नास्तावत् कारागृहं गृहम्। तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगड़ो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥'' ब्रह्माजी ने कहा-''हे श्रीकृष्ण! तभी तक मानव-हृदय के राग आदि तस्कर होते हैं, गृह कारागार होता है और मोह पादशृंखलातुल्य होता है, जब तक ये राग आदि तुम्हारे प्रति समर्पित नहीं होते।'' इस श्लोक की लघुतोषणी टीका में श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है-''तत्र निरुपाधिप्रेमास्पदस्यात्मनोऽप्यात्मत्वेन त्वमेव रागस्य स्वाभाविक-परमयोग्याश्रयः। अतस्तल्लक्षणानिजस्वामिनमनुपलभ्यैव भ्रमन्नसौ जनानां शुभवासनारूपां त्वद्भजन-सामग्रीं हरं श्चौर एव ततदनु-वर्तिनोऽपि तादृशाः।'' अर्थात् 'जीवों की आत्मा से भी करोड़ गुने प्रिय निरुपाधि प्रेमास्पद तुम ही उनके राग या प्रेम के परमयोग्य आश्रय हो, अतएव उन लक्षणों से युक्त अपने स्वामी तुम्हें न पाकर हृदय का राग आदमी की शुभवासनारूपी तुम्हारी भजनसामग्री को चोर की तरह अपहरण कर लेता है, तब हृदय के राग की अनुगामी इन्द्रियाँ आदि भी दुष्ट हो जाती हैं।'

श्रीकृष्ण के शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि की माधुरी का यत्किञ्चित् आस्वादन पाकर उसी रससिन्धु में मग्न होकर इन्द्रियाँ सदा-सदा के लिये धन्य हो जाती हैं। अपने रूपरसादि के माधुर्य से सभी का चित्त अपनी ओर आकर्षित करते हैं, इसीलिये उनका नाम कृष्ण है। श्रीमन्महाप्रभु के प्रलाप से श्रीकृष्ण के रूपरसादि विषयों की अद्भुत आकर्षणशक्ति का पता चलता है-

''कृष्ण-रूप-शब्द-स्पर्श, सौरभ्य अधररस, जार माधुर्य कहन ना जाय।
देखि लोभि पञ्चजन, एक अश्व मोर मन, चड़ि पञ्च पाँचदिगे धाय॥
सखि हे ! शुनो मोर दुःखेर कारण।
मोर पञ्चेन्द्रियगण, महालम्पट दस्युगण, सभे करे हरे परधन॥
एक अश्व एकक्षणे, पाँच पाँचदिके टाने, एक मन कोन् दिगे जाय?
एककाले सभे टाने, गेलो घोड़ार पराणे, एइ दुःख सहन ना जाय॥
इन्द्रिये ना करि रोष, इह सभार काहाँ दोष, कृष्ण-रूपादि महा आकर्षण।
रूपादि पाँच पाँचे टाने, गेलो पाँचेर पराणे, मोर देहे ना रहे जीवन॥

कृष्ण-रूपामृत-सिन्धु, ताहार तरङ्गबिन्दु, एक बिन्दु जगत डुबाय।
त्रिजगते जतोनारी, तार चित्त उच्चगिरि, ताहा डुबाय आगे उठि धाय॥
कृष्णेर वचन-माधुरी, नानारस-नर्मधारी, तार अन्याय कहन ना जाय।
जगतेर नारीर काने, माधुरी गुणे बान्धि टाने, टानाटानि कानेर प्राण जाय॥
कृष्ण-अङ्ग सुशीतल, कि कहिबो तार बल, छटाय जिने कोटीन्दु चन्दन।
सशैल नारीर वक्ष, ताहा आकर्षिते दक्ष, आकर्षये नारीगण मन॥
कृष्णाङ्ग-सौरभ्यभर, मृगमद-मदहर, नीलोत्पलेर हरे गर्वधन।
जगत-नारीर नासा, तार भितर करे बासा, नारीगणेर करे आकर्षण॥
कृष्णेर अधरामृत ताते कर्पूर मन्दस्मित, स्वमाधुर्ये हरे नारी-मन।
छाड़ाय अन्यत्र लोभ, ना पाइले मने क्षोभ, व्रजनारीगणेर मूलधन॥''

(चै० च० अन्त्य०, परि० १५)

अथवा, श्रीगोविन्द ही समस्त रसभावनाचतुर रसिक भक्तवृन्द के रसास्वादन के विषय या विषयतत्त्व हैं, कारण-वे रस या रसस्वरूप हैं। ''रसौ वै सः'' ''रसानां रसतमः'' ''आनन्दं ब्रह्म'' इत्यादि श्रुतिवाणियाँ ही उनकी रसरूपता की घोषणा करती आई हैं। उनका आस्वादन करके ही जीव यथार्थतः आनन्दी हो सकता है- ''रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति'' (श्रुति)।

प्रश्न हो सकता है : मानव की अन्तरेन्द्रियाँ और बहिरेन्द्रियाँ श्रीकृष्ण के रूप-रसादि विषयों के यत्किञ्चित माधुर्य का आस्वादन प्राप्त कर लें, तो जड़ीय विषयरस घृणित लगेंगे; ठीक है; किन्तु विषयासक्त जीव के लिये उस चिन्मय गोविन्दमाधुरी का आस्वादन क्या सम्भव है? इसी प्रकार के प्रश्न की सम्भावना देखकर श्रील ठाकुर महाशय ने श्रीकृष्णमाधुरी आस्वादन का साधन-उपाय बताया है-''सङ्ग करो तार दास, प्रेमभक्ति सत्य करि जानो''। महत्सङ्ग और महत्कृपा के फलस्वरूप साधारण मानव के चित्त में भी श्रीकृष्ण- माधुर्यास्वादन का लोभ और कृष्णेतर वस्तुओं में अरुचि जगेगी। भजनानन्दी महानुभव श्रीकृष्णभक्तों के देह-मन में श्रीकृष्णमाधुर्य-आस्वादन की ऐसी पावनीशक्ति विराजती है कि वह उनकी देह से चारों ओर छिटक कर उनके चारों ओर बसे लोगों के भीतर भी श्रीकृष्ण-माधुरी आस्वादन की शक्ति का सञ्चार कर देती है। पर्शमणि के स्पर्श से मलिन लोहा तत्क्षणात् स्वर्ण में बदल जाता है; उसी प्रकार महामहत् वैष्णवगण के सङ्ग से मानव का विषयवासना-मलिन चित्त भक्तिवासना से स्वर्णोज्ज्वल हो उठता है। अतएव श्रीकृष्णदास का सङ्ग जड़ीय विषयवासनारहित होकर श्रीकृष्ण के रूपरसादि-चिन्मय 'गोविन्दरस'-का आस्वादन करने का परम उपाय है। श्रीकृष्ण-नित्यदास जीव के लिये प्रेमभक्ति को छोड़ यथार्थ सत्यवस्तु और कुछ नहीं। तभी कहा है- ''प्रेमभक्ति सत्य करि जानो''॥८२॥

मध्ये मध्ये आछे दुष्ट, दृष्टि करि हय रुष्ट,
गुण विगुण करि माने।
गोविन्द विमुखजन, स्फूर्ति नहे हेनो धन,
लौकिक करिया सब जाने॥८३॥

अज्ञान विमुग्ध जत, नाहि लय सत मत,
अहङ्कारे ना जाने आपना।
अभिमानी भक्तिहीन, जगमाझे सेइ दीन,
वृथा तार अशेष भावना॥८४॥

टीका -

दृष्टि करि-श्रीकृष्णभक्तानां प्रेमाचरणं दृष्टवा॥८३॥

सतर्क वाणी :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रंथकार महोदय ने पिछली त्रिपदी में उपदेश दिया था कि जड़ीय विषयरस से विमुक्ति पाने के लिये साधुसङ्ग में गोविन्दविषयरस-आस्वादन और प्रेमभक्ति को ही सत्य मानें। अब दुष्टसङ्ग से आत्मरक्षा करने के लिये किञ्चित् सतर्क वाणी का प्रयोग कर रहे हैं। पहले कहते हैं-''मध्ये मध्ये आछे दुष्ट, दृष्टि करि हय रुष्ट, गुण विगुण करि माने'', अर्थात् भक्त साधकों द्वारा असत् सङ्ग छोड़ने पर भी बीच-बीच में उन्हें एक अन्य प्रकार से दुष्टसङ्ग का सामना करना पड़ सकता है। उसी दुष्टसङ्ग का स्वरूप बताते हुए श्रील ग्रन्थकार उससे भी सावधान रहने का परामर्श देते हैं।

यहाँ 'दुष्ट' का अर्थ है अतिशय दोषयुक्त, दुरात्मा या अति दुरन्त व्यक्ति। ये लोग साधक का भक्ति-आचरण या भजन-साधन, यहाँ तक कि प्रेमिक का प्रेमाचरण या प्रेमानन्द-अनुभाव अश्रुपुलक, नृत्यगीत, हास्यरोदन आदि देखकर रुष्ट या मात्सर्ययुक्त होते हैं। वे इन सब महागुणों को विगुण या दोष मानकर ही रुष्ट होते हैं-''गुण विगुण करि माने''। साधक वर्णाश्रम धर्म या कामादि त्यागकर श्रवण-कीर्तन आदि भजन करते हैं, तो ये पापाशय दुरात्मा व्यक्ति उस भजन को अज्ञ या आलसी व्यक्ति का काम मानते हैं और प्रेमिक प्रेमाचरण या प्रेमानन्द से उत्पन्न अनुभाव नृत्य गीत रोदन आदि को उन्माद समझते हैं-इसीलिये रुष्ट होते हैं। उन लोगों के ऐसे दुष्ट आचरण से भक्त महानुभव सतत आत्मरक्षा करते चलें। इन दुष्ट व्यक्तियों का सङ्ग भक्तों के लिये दूर से त्याज्य है। श्रील ठाकुर महाशय की तो ये सब साक्षात् अनुभवमय वाणियाँ हैं। श्रीश्रीगौर-नित्यानन्द के उन-जैसे प्रेम-विग्रह एकान्त निजजन के प्रति भी इस प्रकार का आक्रमणात्मक व्यापार बहुत हुआ है, यह उनके चरित्र से पता चलता है।

प्रश्न हो सकता है : यदि भक्त महानुभव इन दुष्टों का सङ्ग त्यागकर इन्हें दूर ही रखेंगे, परमार्थ का उपदेश देकर इनकी दुष्टता का शोधन नहीं करेंगे, तो इनकी दुष्टता नष्ट कैसे होगी? इसी प्रकार के प्रश्न की सम्भावना देखकर श्रील ग्रन्थकार कहते हैं-''गोविन्दविमुखजन, स्फूर्ति नहे हेनो धन, लौकिक करिया सब जाने''। ये लोग गोविन्द-विमुख अर्थात् नास्तिक या पाखण्डी हैं; वेदशास्त्रों की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करते। ''पालनाच्च त्रयीधर्म पा शब्देन निगद्यते। षण्डयन्ति तु तं यस्मात् पाषण्डस्तेन कीर्त्तितः॥'' अर्थात् 'वेदधर्म के पालन को ''पा'' कहा जाता है; जो स्वतंत्र मत से उसका खण्डन करते हैं, वे ही पाषण्डी हैं।' इसलिये इन लोगों को शास्त्र-उपदेश देने से कोई फल निकलने वाला नहीं; उल्टे वे शास्त्र-उपदेश की अवमानना करेंगे, खण्डन करेंगे; इससे उपदेष्टा को दुःख होगा और अपराध को छोड़ कुछ भी नहीं मिलेगा। यही कारण है कि शास्त्रों में पाषण्डियों का दर्शन तक निषिद्ध है। उनके दर्शन से भक्त के घोरतर बाधा-विघ्न की बात भी सुनी गई है।

गोविन्द-विमुख दुरात्मा नास्तिक या पाषण्डी को भक्तिधन की स्फूर्ति कभी सम्भव नहीं; इसलिये भक्तिधन को इन लोगों से सर्वदा अति गुप्तरूप से सुरक्षित रखना होगा। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने लिखा है-

''फल्गुवैराग्य - निर्दग्धाः शुष्कज्ञानाश्च हेतुकाः।
मीमांसका विशेषेण भक्त्यास्वादबहिर्मुखाः॥
इत्येष भक्तिरसिकश्चौरार्दिव महानिधिः।
जरन्मीमांसकाद् रक्ष्यः कृष्णभक्तिरसः सदा॥
सर्वथैव दुरूहोऽयमभक्तैर्भगवद्रसः।
तत्पादाम्बुज - सर्वस्वैर्भक्तैरेवानुरस्यते॥''

(भ० र० सि० २/५/१२९-१३१)

'जिनका चित्त फल्गुवैराग्य या भक्तिविषयक उदासीनता से दग्ध है, जो शुष्क ज्ञानान्वेषी हैं, तार्किक पूर्वमीमांसक या कर्मवादी और द्वैतवस्तु मात्र के मिथ्यात्ववादी उत्तरमीमांसक हैं-ये सब भक्ति के आस्वादन से विमुख हैं। जैसे गृहस्थ महानिधि को चोरों से छिपाकर सुरक्षित रखते हैं, वैसे ही भक्तिरसिकजन श्रीकृष्णभक्तिरसरूपी महानिधि को भी इन लोगों से छिपायें रखें। विशेषतः जरन्मीमांसकों (कुमारिल भट्ट के अनुगामी) से सदा ही छिपाकर रखें, कारण-ये लोग सर्वथा ही भक्ति-आस्वाद बहिर्मुख हैं और प्राकृत युक्ति द्वारा भक्ति का खण्डन करने वाले हैं। अभक्तों के लिये भक्तिरस सर्वथा ही दुर्बोध्य है। श्रीहरिचरणारविन्द ही जिनकी सर्वस्व सम्पदा है, वे भक्तगण ही इसके एकमात्र आस्वादक हैं।' इसलिये सन्देह नहीं कि कृष्णबहिर्मुख दुरात्माओं को भक्ति सर्वथा ही सुगोप्य है। ये लोग सभी कुछ लौकिक मानते हैं, अर्थात् भक्तिपथ के लोकातीत व्यवहार को भी व्यवहारिक और कर्मफलबाध्य जीव के कार्य की तरह प्राकृत व्यापार समझते हैं। इसलिये अप्राकृत भक्ति के व्यवहार के विषय में ये लोग कुछ भी नहीं समझ सकते॥८३॥

अज्ञान-विमुग्ध लोगों को भक्तिविषयक उपदेश देना व्यर्थ है, यही कहा है- ''अज्ञान विमुग्ध जत, नाहि लय सत मत, अहङ्कारे ना जाने आपना''। जो लोग अज्ञान-विमुग्ध हैं, अर्थात् कृष्ण-विमुखता के कारण अविद्या-कुहक (छल) में पड़कर मोहदशा को प्राप्त हैं, वे सदैव ही देह-दैहिकादि प्राकृत विषयों में निविष्ट रहते हैं, कारण-अज्ञान, विपर्यास, भेद, भय और शोक-इन पाँच प्रकार के दोषों से युक्त व्यक्ति को ही अज्ञानविमुग्ध कहा जाता है। अज्ञान-अपने स्वरूप की विस्मृति; विपर्यास-देह-दैहिकादि में मैं-मेरा बुद्धि; भेद-भोगवासना; भय-भोगवासना के प्रतिघात से चित्त की भीति; शोक-भोगवासना के नाश से 'मैं मरा' ऐसी बुद्धि। इसलिये अज्ञान-विमुग्ध व्यक्ति के लिये कृष्णभक्त महद्गण के सदुपदेश का मर्म ग्रहण करना कभी सम्भव नहीं।

किसी के मन में यह बात आ सकती है कि जो लोग अज्ञान-विमुग्ध या देह-दैहिकादि नश्वर विषयों में आसक्त हैं, वे भी तो देह-दैहिकादि की नश्वरता देख रहे हैं; इसलिये यदि महत् लोग उन्हें नित्य शाश्वत वस्तु भक्ति या भगवान् का सन्धान दें, तो वे उस सत-मत को ग्रहण क्यों नहीं करेंगे? इसके उत्तर में कहा जा रहा है-''अहङ्कारे ना जाने आपना''। वे लोग अहङ्कार में विमत्त होकर अपने को भूल गये हैं, वे अभिमान की मत्तता में अप्रकृतिस्थ हैं; इसलिये देह-दैहिकादि की नश्वरता देखकर भी नहीं देखते। देह आदि का नश्वरत्व-बोध या अपने स्वरूप को जानने की प्रवृत्ति तो दूर रही, अहङ्कारी व्यक्ति का हृदय तो कितनी ही अमानुषिक हीन प्रवृत्तियों की लीलाभूमि बना रहता है। महाभारत उद्योगपर्व -

''मदोऽष्टादशदोषः स्यात् पुरा यः स प्रकीर्त्तितः।
लोकद्वेष्यं प्रातिकूल्यमभ्यसूया मृषावचः॥
कामक्रोधौ पारतन्त्रं परिवादोऽथ पैशुनम्।
अर्थहानिविवादश्च मात्सर्यं प्राणिपीड़नन्॥
ईर्ष्यामोहोऽतिवादश्च संज्ञानाशोऽभ्यसूयिता।
तस्मात् प्राज्ञो न माद्येत सदा ह्येतद्विगर्हितम्॥''

अर्थात् 'अहङ्कारी व्यक्ति में अठारह दोष प्रत्यक्ष देखने में आते हैं। मद या अहङ्कार से आक्रान्त व्यक्ति लोगों के विद्वेष का पात्र होता है। बहुत बार ऐसी कल्पना कर कि उसके अभिमान में आघात पहुँचेगा या पहुँचा है वह नाना विषयों में लोगों के प्रतिकूल आचरण करता है। गुणीजनों के प्रति असूया परवश हो वह उन पर दोषारोपण करता है। कोई उसके समान आदरणीय न हो जाय, इसलिये वह नाना प्रकार की मिथ्या बातें कहने में सङ्कोच नहीं करता। जिस बात को लेकर उसे अहङ्कार है, उस विषय में उसकी नितान्त कामना या आसक्ति उत्पन्न हो जाती है; उसकी काम्य वस्तु के विरुद्ध कोई कुछ बोलता है, तो वह क्रोध में अग्निवत् जल उठता है। जो व्यक्ति उसकी अभिमान-अग्नि में ईंधन डालता है, उसके वह अधीन हो जाता है। अभिमानी व्यक्ति दूसरे का सतत दोष-कीर्तन करता है। वह नाना प्रकार की खलता या कपटता का आधार बन जाता है। अहङ्कार के विषयों को अक्षुण्ण रखने के लिये (मामले-मुकदमे आदि में) अनर्थक प्रचुर धन खर्च करता है। दूसरों के साथ उसका

सतत वादविसम्वाद लगा रहता है। मात्सर्य या परश्रीकातरता अहङ्कारी के हृदय में जमकर बैठती है। प्राणियों को पीड़ित करना उसकी स्पर्धा का विषय बन जाता है। ईर्ष्या की आग से उसका हृदय सदा जलता रहता है। चित्त मोह से विभ्रान्त हो जाता है। अहङ्कारी सदा दूसरे की मर्यादा का लंघन करता है। उसे काण्ड-अकाण्ड का ज्ञान नहीं रहता; परद्रोह उसकी मज्जा में बस जाता है। अहङ्कार इन सब दोषों या विगर्हित कार्यों का हेतु है, इसलिये बुद्धिमान् व्यक्ति इसका सतत वर्जन करें।'

अभिमानी व्यक्ति के उक्त अठारह दोषों पर विचार करें, तो सभी अनायास ही समझ सकते हैं कि उसके इर्दगिर्द भक्ति की गंध भी नहीं रह सकती और उस-जैसा दु:खी भी विश्व में अन्य कोई नहीं। तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है-''अभिमानी भक्तिहीन, जगमाझे सेइ दीन, वृथा तार अशेष भावना''। एकमात्र इस अहङ्कार के कारण ही उसकी समस्त भावनायें अभिमान-अग्नि में भस्म हो जाती हैं। इसीलिये भगवान् ने अभिमानी व्यक्ति को विमूढ़ात्मा कहा है-''अहङ्कार-विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते'' (गीता ३/२७)-अहङ्कार में विमूढ़ात्मा व्यक्ति सभी कार्यों में स्वयं को कर्ता मानकर अभिमान करता है। अतएव अहङ्कार ही मानव के पतन का मूल है।

महापुरुषों ने स्वयं आचरण कर विश्वमानव को अभिमान त्यागने का उपदेश दिया है। भीम ने युधिष्ठिर से सहदेव के पतन का कारण पूछा, तो धर्मराज ने कहा-''आत्मन: सदृशं प्राज्ञं नैषाऽमन्यत कञ्चन। तेन दोषेण पतितस्तस्मादेष नृपात्मज:॥'' अर्थात् ये नृपनन्दन किसी को भी अपने बराबर प्राज्ञ (ज्ञानी) नहीं समझते थे, इसी दोष के कारण इनका पतन हुआ। अब अन्य चारों भाई अग्रसर हुए। कुछ समय पश्चात् नकुल गिर पड़े। भीम के पूछने पर युधिष्ठिर बोले-''रूपेण मत्समो नास्ति कश्चिदित्यस्य दर्शनम्। अधिकश्चाहमेवैक इत्यस्य मनसि स्थितम्। नकुल: पतितस्तस्मादागच्छ त्वं वृकोदर॥'' अर्थात् 'ये समझते थे कि मेरे तुल्य रूपवान् और कोई नहीं; यह अभिमान ही इनके पतन का कारण है। हे वृकोदर (भीम)! तुम चलते रहो।' नकुल के पश्चात् अर्जुन के पतन पर पूछे जाने पर धर्मराज ने कहा-''एकान्हा निर्दहेयं वै शत्रुनित्यर्ज्जुनोऽब्रवीत्। न च तत्कृतवानेष शूरमानी ततोऽपतत्॥ अवमेने धनुग्राहानेष सर्वांश्च फाल्गुन:। तथा चैतन्न तु तथा कर्तव्यं भूतिमिच्छता॥'' अर्थात् 'इन शौर्य-अभिमानी अर्जुन ने कहा था-मैं एक दिन में शत्रुओं को दग्ध कर डालूँगा। वस्तुत: ये ऐसा नहीं कर सके। मैं धनुर्धारियों में अग्रगण्य हूँ ऐसा मानकर ये अन्य धनुर्धारियों की अवज्ञा करते थे, तभी इनका पतन हुआ। जो अपना भला चाहते हैं, वे ऐसा कभी नहीं करेंगे।' फिर कुछेक पग चलने के पश्चात् भीम गिर पड़े। गिरकर भीम ने अपने विषय में पूछा, तो युधिष्ठिर बोले-'अतिभुक्तञ्च भवता प्राणेन तु विकत्थसे। अनवेक्ष परं पार्थ तेनासि पतित: क्षितौ॥''' हे भीम! तुम अतिरिक्त भोजन करते थे और दूसरे के बल को न मानकर अपने बल की श्लाघा करते थे, इसीलिये तुम भूतल पर गिरे हो।' एकाकी निरहङ्कार युधिष्ठिर ही स्वर्गारोहण में समर्थ हुए।

यथार्थत: पाँचों पाण्डव श्रीकृष्ण के पार्षद हैं, कोई साधारण कर्मबाध्य जीव नहीं, इसलिये उनमें अभिमान नहीं रह सकता, फिर भी महाराज युधिष्ठिर ने भीम आदि के गिरने के माध्यम से विश्वमानव को यह मूल्यवान शिक्षा दी है कि अहङ्कार ही पतन का मूल है। भक्तसाधक दैन्य के अवलम्बन से इस अभिमानरूपी महाशत्रु को सदैव दूर ही रखते हैं॥८४॥

आर सब परिहरि, परम ईश्वर हरि,

सेवो मन ! प्रेम करि आश।

एक व्रजराजपुरे, गोविन्द रसिकवरे,

करहो सदाइ अभिलाष॥८५॥

टीका -

एक व्रजराजपुरे-मर्त्यं व्रजमण्डल इत्यर्थः॥८५॥

प्रेमसेवा का आशाबन्ध :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय अपने मन को उपदेश देते हुए विश्व के साधक भक्तों को इस बात की प्रेरणा दे रहे हैं कि वे समस्त आशाओं का त्यागकर एकमात्र श्रीराधामाधव के प्रेमसेवन की दृढ़ आशा हृदय में पोषित करें। पहले कहते हैं-''आर सब परिहरि, परम ईश्वर हरि, सेवो मन! प्रेम करि आश''। भक्ति का अर्थ ही है सेवा-''भज इत्येष वै धातु सेवायां परिकीर्त्तितः'' (गरुड़पुराण)। इसलिये भगवान् की सेवा की कामना के अतिरिक्त भजननिष्ठ भक्त के हृदय में अन्य कोई कामना ही नहीं रहती। अनादि काल से भगवत् विस्मृति के फलस्वरूप जीव के लिये संसार-बन्धन दशा की सृष्टि हुई है, इसलिये अनादि काल से ही मायाबद्ध जीव के हृदय में नाना प्रकार की विषय-वासनाओं का साम्राज्य बना हुआ है। भक्तिपथ पर पहली बार आये साधक में भगवत् सेवा-कामना के अतिरिक्त अन्य वासना का रहना स्वाभाविक है। हृदय में अन्य कामना के रहने से भक्ति आभासित होती है, प्रेमफल नहीं देती। इसलिये साधु-शास्त्रों का आश्रय लेकर भक्ति का यथार्थ स्वरूप जानकर समस्त कृष्णेतर कामनाओं का त्याग करके ही भजन करना होता है। शाण्डिल्य भक्तिसूत्र में भक्ति का स्वरूप बताया गया है-''सा परानुरक्तिरीश्वरे'' अर्थात् 'भक्ति से ईश्वर में परा अनुराग ही समझा जाता है'। श्रीपाद स्वप्नेश्वराचार्य ने इस सूत्र के भाष्य में कहा है-''अनुस्तु न लक्षणान्तर्गतः किन्तु भगवन्महिमादिज्ञानादनु पश्चाज्जायमानत्वादनुरक्तिरित्युक्तम्'' अर्थात् 'अनु' शब्द लक्षण के अन्तर्गत नहीं है, किन्तु श्रीहरि की महिमा एवं भक्ति का स्वरूप आदि जानने के पश्चात् उनके प्रति जो आसक्ति है, उसी को 'भक्ति' कहा जाता है। (अनु-पश्चात्; रक्ति-आसक्ति)। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''आर सब परिहरि''। अन्यान्य समस्त इतर वासनाओं को शुद्धभक्ति में बाधक जानकर साधक उनका परित्याग करके ही भजन करें।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के भजन का ही उपदेश दे रहे हैं। कहते हैं-''परम ईश्वर हरि''। सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत ने श्रीकृष्ण को ही सर्वअवतारी अर्थात् समस्त भगवत्स्वरूपों का मूल तत्त्व या स्वयंरूप बताया है। केवल श्रीमद्भागवत ही नहीं, समस्त श्रुति-शास्त्र श्रीकृष्ण को ही परमेश्वर या समस्त अवतारों के मूल के रूप में प्रतिपादित करते हैं-''कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसेत्'' (श्रुति), ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' (भागवत), ''मत्तः परतरं नास्ति किञ्चिदस्ति धनञ्जय'' (गीता), ''ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः'' (ब्रह्मसंहिता)।

एक अन्य दृष्टि से भी श्रीकृष्ण का परमेश्वरत्त्व जाना जाता है। श्रुति ने ईश्वर के स्वरूप का इङ्गित करते हुए कहा है–''रसो वै सः''रस भगवान् का स्वरूप है अर्थात् वे रसमय हैं।' रस भगवान् का स्वरूप होने पर भी उनके किसी–किसी अवतार में किसी–किसी रस की अभिव्यक्ति देखी जाती है; किसी भी अवतार में एक साथ समस्त रसों का समावेश नहीं मिलता। स्वयं भगवान् परमेश्वर श्रीकृष्ण अखिल रसामृतमूर्ति हैं; उनमें सभी रस सुविकसित हैं। इसका कारण यह है कि उनमें रस–पोषक कुछेक गुण हैं। श्रील गोस्वामिपादगण ने इन गुणों को उनकी माधुरी कहा है। ये सब अनन्यसाधारण माधुर्य व्रज में ही प्रकाशित हैं। इस माधुरी के द्वारा ही श्रीकृष्ण सभी के चित्त–मन का निरतिशयरूप से हरण किया करते हैं, इसलिये श्रील ठाकुर महाशय ने परम ईश्वर कहकर 'हरि' कहा है।

फिर कहते हैं–''सेवो मन! प्रेम करि आश'' हमने कहा है, भक्ति का अर्थ ही सेवा है; इसलिये इष्ट की सेवा की ही आशा–आकांक्षा भक्त के हृदय को भरे रहती है। किन्तु वह सेवा प्रेम के बिना इष्ट को सुखकर नहीं होती, इसलिये साधक के हृदय में प्रेम–प्राप्ति की आशा बद्धमूल रहती है। प्रेमप्राप्ति की आशा सेवन की ही आशा है, कारण–प्रेमशून्य सेवा से श्रीकृष्ण को सुख नहीं होता, इसलिये सेवा भी प्राप्त नहीं होती। तभी कहा है–''प्रेमा हैते पाइ कृष्णेर सेवासुखरस'' (चै० च०)। श्रील ठाकुर महाशय ने इससे पूर्व त्रिपदी संख्या ८० में कहा है–''प्रेम बिना आन नाहि चाउँ''।

गौड़ीय वैष्णव एकाकी श्रीकृष्ण के उपासक नहीं, श्रीश्रीराधाकृष्ण युगल के उपासक हैं। इससे पहले कहा है–''युगलचरण सेवा, युगलचरण ध्येवा, युगलेइ मनेर पिरीति'' (४३); ''राधाकृष्ण सेवन, एकान्त करिया मन'' (७६); ''राधाकृष्ण करो ध्यान, स्वप्नेओ ना बोलो आन'' (७९) इत्यादि। इसीलिये इस त्रिपदी में ''परम ईश्वर हरि, सेवो मन! प्रेम करि आश'' कहकर ''एक व्रजराजपुरे, गोविन्द रसिकवरे, करहो सदाइ अभिलाष'' कहा है। भगवान् रसस्वरूप हैं, यह हम कह चुके हैं। वे रस के आस्वादक भी हैं। प्रीतिरसास्वादन धर्म भगवान् की निजी सम्पदा है। काल, कर्म, माया, जीव–इनमें से कोई भी प्रीतिरसास्वादन करना नहीं जानता। भगवत्स्वरूप का ही असाधारण धर्म है रसिकत्व। इस रसास्वादन धर्म के बिना भगवान् की कोई भी लीला सिद्ध नहीं हो सकती, कारण–आत्माराम, आप्तकाम भगवान् की किसी भी प्रकार की स्पृहा का उद्गम होना सम्भव नहीं। प्रीतिरसास्वादन की आकांक्षा पूर्णकाम भगवान् का स्वतःसिद्ध स्वभाव है। अन्यान्य भगवत्स्वरूप भक्त के हृदय में स्थित ऐश्वर्यज्ञानयुक्त प्रीतिरस के आस्वादन से परितृप्त होते हैं, इसलिये वे 'रसिक' संज्ञा से जाने जाते हैं। स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन व्रजजनों के ऐश्वर्यज्ञान–गन्धशून्य विशुद्ध प्रीतिरस का आस्वादन करते हैं, इसलिये वे रसिकशेखर हैं।' सर्वोपरि, प्रेममयी राधारानी के मादन नामक रस का आस्वादन करने के कारण वे 'रसिकवर' या रसिकेन्द्रमौलि हैं।

श्रीपाद ग्रन्थकार करते हैं–'हे मन! उन रसिकवर श्रीगोविन्द की सदा अभिलाषा करो, अर्थात् राधारानी के साथ लीलाविलास श्रीगोविन्द ही तुम्हारे चिर अभिलषित अभीष्टदेव हैं।' लीलायित ससखी श्रीश्रीराधामाधव ही गौड़ीय वैष्णवों के आराध्य तत्त्व हैं। वे लोग सदा श्रीश्रीराधामाधव की साक्षात् सेवा–प्राप्ति की अभिलाषा हृदय में रखते हैं; भजनकाल में श्रवण–कीर्तनादि के साथ अपने सिद्धस्वरूप का चिन्तन करते हैं; व्रजधाम में

अष्टकाल लीलारत श्रीश्रीराधामाधव के लीला-स्मरण में अपनी अभीष्ट सेवा का चिन्तन करते हैं। फिर सिद्धि में ''साधने भाविबो जाहा, सिद्धदेहे पाबो ताहा'' मनोविज्ञान के इस खरे-अचूक नियम के अनुसर सिद्धस्वरूप से वही (साधन में चिन्तनीय या चिर-अभिलषित) सेवा पाकर धन्य कृतार्थ होते हैं॥८५॥

नरोत्तम दास कहे, सदा मोर प्राण दहे,
हेनो भक्त-सङ्ग न पाइया।
अभाग्येर नाहि ओर, मिछाइ हइनु भोर,
दुःख रहु अन्तरे जागिया॥८६॥

भक्तसङ्ग कामना :

सुधाकणिका व्याख्या : पिछली त्रिपदी में श्रील ठाकुर महाशय ने अन्यान्य समस्त आशाओं का परित्याग कर केवल प्रेम की आकांक्षा हृदय में लेकर 'परम ईश्वर हरि' श्रीकृष्ण की सेवा करने की कामना व्यक्त की थी। साथ ही इस बात की कामना भी अभिव्यक्ति की थी कि वृन्दावन में रसिकवर श्रीगोविन्द या श्रीश्रीराधामाधव की अभिलाषा हृदय में सदा जागरूक रहे। अब दैन्य का उदय हुआ है, तो सोच रहे हैं कि परम भक्तजनों को सुलभ ये सब गुण उनके विषयनिष्ठ मन में उदित होंगे-इसकी तो कोई सम्भावना ही नहीं। हाँ, यदि उन्हें ऐसे गुणवान् किसी महत् भक्त का सङ्ग मिल पाता, तो उस भक्त के सङ्ग-बल या कृपाशक्ति से ऐसे भागवतीय गुण उनके मन में भी सञ्चारित हो सकते थे। ऐसे महत् के सङ्ग के बिना भगवद्-विमुखता दोष दूर नहीं होता, देह-दैहिकादि का अभिमान विनष्ट नहीं होता; श्रीकृष्णप्रेम-प्राप्ति के लिये और युगलमाधुरी आस्वादन के लिये प्रबल लालसा भी उत्पन्न नहीं होती। भगवान् की करुणा महत् सङ्ग या महत् कृपा के माध्यम से ही जीव के भीतर आविर्भूत होती है, स्वतंत्र रूप से नहीं। संसार-सन्तप्त जीव के लिये साधूकृपा की ही प्रमुखता है, साक्षात् सम्बन्ध से भगवत्कृपा गौण है। फिर साधाकृपा सत्सङ्ग के बिना प्राप्ति नहीं होती। श्रीकृष्ण के प्रति महाराज मुचुन्द की उक्ति है-

''भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गम यर्हि तदैव सदगतौ परावरेशे त्वयि जायते रतिः॥''

अर्थात् 'हे अच्युत! जब संसारी व्यक्ति के भवबन्धन के नाश का समय आता है, तभी सत्सङ्ग होता है; सत्सङ्ग होने से ही साधुओं की एकमात्र गति परावरेश (जड़-चेतन-स्वामी) तुम में रति उत्पन्न होती है।' महद्गण के श्रीमुख से स्वाभाविक ईश्वर-विषयक बातें सुनते-सुनते जीव के हृदय में भगवान् के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, क्रमशः उनकी कथा सुनने में रुचि होती है और श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्ति के पञ्चम पुरुषार्थ प्रेम का उन्मेष होता है।

श्रील ठाकुर महाशय दैन्य से भरकर आक्षेप के साथ कहते हैं–''नरोत्तमदास कहे, सदा मोर प्राण दहे, हेनो भक्तसङ्ग पा पाइया''। भक्तसङ्ग के अभाव में श्रील ठाकुर महाशय प्राणों में प्रबल ज्वाला अनुभव कर रहे हैं। उन्हें महत् सङ्ग अति दुर्लभ लग रहा है। महत् सङ्ग ऐसी ही परम काम्य वस्तु है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है–

''मद्भक्तो दुर्लभो यस्य स एव मम दुर्लभः।
तत्परो दुर्लभो नास्ति सत्यं सत्यं धनञ्जय॥

× × ×

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः॥
ये केचित् प्राणिनो भक्ता मदर्थे त्यक्त बान्धवाः।
तेषामहं परिक्रीतो नान्यक्रीतो धनञ्जय॥''

(श्रीहरिभक्तिविलास में आदिपुराण वचन)

'हे पार्थ! जिन्हें मेरे भक्त दुर्लभ लगते हैं, वे मुझे अति दुर्लभ लगते हैं; सत्य–सत्य ही मेरे लिये उनसे अधिक दुर्लभ जगत् में और कुछ भी नहीं। जो केवल मेरे भक्त हैं, वे मेरे यथार्थ भक्त नहीं; जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, वे ही मेरे भक्तश्रेष्ठ हैं। जो भी प्राणी मेरे भक्त होकर बान्धव आदि का त्याग कर देते हैं, मैं उनके द्वारा खरीद लिया जाता हूँ; मैं अन्य के द्वारा कभी भी नहीं खरीदा जाता।' भक्तसङ्ग की अति दुर्लभता का मन में आना भगवत्कृपा पाने का एक श्रेष्ठतम साधन है–श्रीकृष्ण की इस श्रीमुखवाणी से यह बात प्रमाणित होती है। भक्तसङ्ग से ही भक्त की करुणा प्राप्त की जाती है; जिस भाग्यवान् जीव पर महापुरुष की करुणा उतरकर जितना अधिक प्रभाव विस्तार करती है, वह उतना ही भगवत्कृपा या प्रेम पाने का अधिकारी होता है।

फिर कहते हैं–''अभाग्येर नाहि ओर, मिछाइ हइनु भोर, दुःख रहु अन्तरे जागिया''। प्रेम की मूर्ति होकर भी अतिशय दैन्य जाग्रत होने के कारण श्रील ठाकुर महाशय यह मान बैठते हैं कि ऐसे भक्त सङ्ग से वञ्चित होने का हेतु उनका अपना दुर्भाय ही है। 'अभाग्येर नाहि ओर', अर्थात् मेरे दुर्भाग्य का 'ओर' – सीमा–परिसीमा नहीं, फिर भी व्यर्थ ही अपने को सौभाग्यवान् या भक्त मानकर 'भोर' या प्रमत्त हो रहा हूँ। वस्तुतः दुर्भागा होकर भी अपने को सौभाग्यवान् मानकर वञ्चित हो रहा हूँ–यही दुःख हृदय में जगा रहा, मर्मस्पर्शी बना रहा। श्रील ठाकुर महाशय की इस दैन्योक्ति से हम यही सीखते हैं कि हम लोग बहु बार अपने को प्रकृत भक्तिमान् या भजनानन्दी मानकर आत्मप्रसाद पाया करते हैं; वस्तुतः अतृप्ति ही भक्ति का स्वभाव है। ''प्रेमेर स्वभाव–जाँहा प्रेमेर सम्बन्ध। से–इ माने–कृष्णे मोर नाहि प्रेमगन्ध॥'' (चै० च०) भक्ति साधक–हृदय में अतृप्ति जगाकर उसे चित्त में भक्ति या भजन के प्राणतत्त्व दैन्य को सतत सञ्जीवित किये रखती है। तब साधक अपनी अधम अवस्था स्मरण कर कातर प्राणों से भगवान् से प्रार्थना करता है–

''मत्तुल्यो नास्ति पापात्मा नापराधी च कश्चन।
परिहारेऽपि लज्जा मे किं ब्रुवे पुरुषोत्तम॥''

'हे पुरुषोत्तम! मेरे समान पापी और कोई नहीं। और क्या कहूँ, तुम मेरे दोष क्षमा करो-तुम्हारे चरणों में यह प्रार्थना करने में भी मुझे लज्जा-बोध हो रहा है।' सर्वोत्तम या सभी गुणों से गुणवान् होकर भी जब साधक यह प्रार्थना करता है, तो उसकी यह आर्ति भगवान् के करुणा-केन्द्र को कम्पित कर देती है और उसकी ओर भगवान् की अजस्र करुणाधारा को आकर्षित कर ले आती है। तब साधक को अलभ्य कुछ भी नहीं रहता॥८६॥

वचनेर अगोचर, वृन्दावन हेनो स्थल,

स्वप्रकाश प्रेमानन्दघन।

जाहाते प्रकट सुख, नाहि जरा-मृत्यु-दुःख,

कृष्णलीलारस अनुक्षण॥८७॥

टीका -

श्रीवृन्दावनं विशिनष्टि 'वचनेर' अगोचर' इत्यादिना। वचनेर अगोचर-अनिर्वचनीय निर्वक्तुमशक्य-मित्यर्थः॥८७॥

श्रीवृन्दावन का स्वरूप :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय इस त्रिपदी में श्रीवृन्दावन का तत्त्व प्रकट करते हुए पहले कहते है-''वचनेर अगोचर, वृन्दावन हेनो स्थल''। गौड़ीय वैष्णव आचार्यों ने जैसे भगवत्स्वरूपों, उनकी लीलाओं एवं विग्रहपरिकर आदि का चिन्मयत्व या नित्यत्व प्रतिपादित किया है, वैसे ही भगवद्धामों का भी चिन्मयत्व एवं नित्यत्व स्थापित किया है। जगत् बहिरङ्गा मायाशक्ति या प्रकृति का परिणाम है, किन्तु श्रीधाम आँखों से दिखाई देने वाले इस विश्व में अवस्थान करते हुए भी अन्तरङ्गा चिच्छक्ति का विकार है। श्रीधाम की प्रतिष्ठा सन्धिनीशक्ति से है। श्रीवृन्दावनधाम प्रपञ्च में स्थित होकर भी प्रपञ्चातीत है, चिन्मय है; अतएव प्रकृति के जड़ अंश से सर्वथा निर्लिप्त है। श्रीव्रजधाम प्रपञ्चातीत, नित्य, अलौकिक एवं चर्मचक्षुओं को अदृश्य या वाक्य मन के अगोचर है-इस बात के बहुत-से शास्त्र-प्रमाण हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (७/२४) में आया है-''स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि'' अर्थात् 'वे भूमाख्य हरि कहाँ प्रतिष्ठित हैं? उत्तर-वे अपनी अचिन्त्य विभूति में प्रतिष्ठित हैं।' श्रीगोपालतापनी श्रुति कहती हैं-''साक्षाद् ब्रह्मगोपाल पुरीहीति'' अर्थात् 'गोपालपुरी व्रजधाम साक्षात् ब्रह्म है'! श्रीवृन्दावनधाम के प्रपञ्चातीत होने के सम्बन्ध में वराहपुराण में वर्णित है- ''अन्यैव काचित् सा सृष्टि-र्विधातुव्यतिरेकिण इति'', अर्थात् ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुओं की सृष्टि ब्रह्मा करते हैं, किन्तु मथुरा की सृष्टि ब्रह्मा के बिना है, वह सृष्टि अन्य प्रकार की है। व्रज के नित्यत्व के सम्बन्ध में पद्मपुराण पातालखण्ड में आया है-''ऋषिर्माथुरनामात्र तपः कुर्वति शाश्वत इति।'' अर्थात् 'माथुर नामक ऋषि यहाँ

(मथुरा में) शाश्वत तपस्या कर रहे हैं।' जहाँ माथुर ऋषि शाश्वत या नित्य तपस्या कर रहे हैं, उस स्थान के नित्यत्व के सम्बन्ध में सन्देह करने का कोईकारण ही नहीं हो सकता। अनित्य स्थान में नित्य तपस्या कभी सम्भव नहीं। व्रज का अलौकिकरूपत्व आदिवराह में वर्णित है-''भूर्भुवःस्वस्तलेनापि न पालालतलेऽमल्। नोर्द्ध्वलोके मया दृष्ट्ं तादृक् क्षेत्रं वसुन्धरे।'' श्रीवराहदेव ने श्रीधरणी से कहा-'हे वसुन्धरे! भूर्लोक, भुवर्लोक एवं स्वर्गलोक इन तीन लोकों में तथा पातल और ऊर्ध्वलोक में कहीं भी मथुरा-जैसा निर्मल क्षेत्र नहीं देखा।' चर्मचक्षुओं को अदृश्य होने के विषय में पद्मपुराण पातालखण्डे में आया है-''तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा'', अर्थात् 'यह रमणीय तेजोमय वृन्दावनधाम चर्मचक्षुओं को अदृश्य है।' चक्षुओं के उपलक्षण से श्रीधाम वाक्य के भी अगोचार है, यह जाना जाता है। तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है-''वचनेर अगोचर, वृन्दावन हेनो स्थल''।

फिर कहते हैं-''स्वप्रकाश प्रेमानन्दघन''। जैसे श्रीकृष्ण का विग्रह स्वप्रकाश है, वैसे ही श्रीकृष्ण की सन्धिनीशक्ति का विकार श्रीवृन्दावनधाम भी स्वप्रकाश है। इसीलिये कहा गया है-''सर्वग अनन्त विभु कृष्णतनु सम। उपर्यधो व्यापि आछे नाहिक नियम'' (चै० च०)। श्रीवृन्दावनधाम श्रीकृष्ण की स्वरूप-विभूति है, अतएव श्रीकृष्णविग्रह की ही तरह स्वप्रकाश है। स्वप्रकाश होने के कारण ही परव्योम में सबसे ऊपर विराजमान होकर भी अपने स्वप्रकाशता गुण से उसी स्वरूप में धरणी पर नित्य विराज रहे हैं। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है-''तदेवं तद्धाम्नामुपर्यधः प्रकाशमात्रत्वेनोभयविधत्वं प्रसक्तम्। वस्तुतस्तु श्रीभगवन्नित्याधिष्ठानत्वेन तच्छीविग्रहवदुभयत्र प्रकाशाविरोधात् समानगुणनामरूपत्वेनाम्ना- तत्त्वालाघवाच्चैक-विधत्वमेव मन्तव्यम्।..... .....एकविधत्वं तस्याचिन्त्यशक्तिस्वीकारेण सम्भावितमेव।'' (श्रीकृष्णसन्दर्भ-अनु० १०६) अर्थात् 'भगवान् के धामसमूह स्वप्रकाश हैं, तभी ऊपर के भाग और निचले भाग में अर्थात् परव्योम में एवं पृथ्वी पर प्रकाशित हैं-ऐसी प्रसिद्धि है। वस्तुतः भगवान के नित्य अधिष्ठान के कारण दोनों स्थानों पर प्रकाशमान धामों का एक-विधत्व (समानता) समझना होगा। भगवद्विग्रह एक समय अनेक स्थानों पर प्रकट रहते हैं; वैसे ही उनके धामों के विषय में जानना होगा। दोनों जगह प्रकाशमान धामों के गुण, नाम, रूप आदि समान हैं-यह बात प्रसिद्ध है और एकविधत्व स्वीकार करते ही तत्त्व की लाघवता होती है, अन्यथा परव्योम में और अनन्त ब्रह्माण्डों में अनन्तधामों का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है-इसकी कल्पना भी नहीं की जाती।'

जो चिन्मय वृन्दावनधाम स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन एवं महाभाव-मूर्ति राधारानी का विहार स्थल है, वह 'प्रेमानन्दघन' होगा, इसमें सन्देह क्या? श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है-

''प्रेमानन्द-रसातिविह्वलतमे नानाचमत्कारमृद-
दिव्यानेकमणिस्थले बहुलसद्वल्ली-द्रु-गुल्मादिके।
दिव्यैः पक्षिमृगैः सरोवररिच्छैलादिभिश्चाद्भुते
श्रीवृन्दाविपिने कदा नु ललितैकात्म्यं किशोर भजे॥''

(वृ० म० ६/१०)

'जो वृन्दावन सतत प्रेमानन्दरस में अति विह्वलतम है, जहाँ नाना चमत्कारशील दिव्यातिदिव्य मणिमय स्थल शोभित हैं, जो उत्तमोत्तम विविध वृक्षलताओं से भूषित है, दिव्य पक्षियों मृगादि से भरा है, सरोवर-नदी पर्वतादि से पूर्ण है-उसी अद्भुत वृन्दावन में अति सुललित एकप्राण श्रीयुगलकिशोर को कब भजूँगा?'

इसके पश्चात् कहते हैं-''जाहाते प्रकट सुख, नाहि जरा-मृत्यु-दु:ख, कृष्णलीलारस अनुक्षण''। श्रीश्रीराधाकृष्ण के रहस्यमय लीलास्थल श्रीवृन्दावन के प्रकट-अप्रकट दोनों ही प्रकाश स्वरूपत: अनिर्वचनीय सच्चिदानन्दमय एवं प्रेमानन्दघन हैं, इसलिये वहाँ निरन्तर चिन्मयानन्दरस विराजित है। वहाँ का स्थावर-जङ्गम सभी सुखमय है, मायातीत होने के कारण वहाँ किसी को जरा-मृत्यु आदि दु:ख नहीं। सभी निरन्तर श्रीकृष्णलीलामृतरसमाधुरी आस्वादन कर रहे हैं।

दृश्यमान प्रकाश में, अर्थात् हम लोग चर्मचक्षुओं से जो वृन्दावन देख रहे हैं उसमें जरा (वृद्धावस्था), मृत्यु, रोग, शोकादि दु:ख देखने में आते हैं। श्रीधामबहिर्मुख मत लुप्त न हो जाय-इसलिये लोकचक्षुओं को ये सब दिखाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि विश्व के बहिर्मुख लोग वृन्दावनवासियों की जरा-मृत्यु, रोग-शोक आदि न देखें, तो वे सब अमर होने के लिये या दु:खशोकादि से मुक्त होने के लिये वृन्दावन में वास करेंगे। इसके बहिर्मुख मत का लोप होगा और भक्ति के उत्कर्ष या रहस्यत्व की हानि होगी। व्रज के दृश्यमान प्रकाश प्रकाश में जो मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष-लतादि दीखते हैं, वे श्रीधाम के प्रभाव से अवश्य ही सच्चिदानन्दमय देह से श्रीभगवत् सन्निध्य प्राप्त करेंगे-यह बात पद्मपुराण में भगवान् के श्रीमुख की वाणी से पता चलती है-''इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम्। अत्र ये पशवो पक्षि-वृक्षा: कीटा नरामरा:। ये वसन्ति ममाधिष्णे मृता यान्ति ममालयम्॥'' इसलिये वृन्दावन के सभी प्राणियों को सच्चिदानन्द तत्त्व समझना होगा! यदि कोई उन्हें प्रापञ्चिक विश्व के प्राणियों की तरह जरा-मृत्यु-पीड़ित कर्मबाध्य साधारण जीव समझता है, तो उस अपराध के कारण उसे परात्पर-पदवी श्रीराधादास्य प्राप्त नहीं होगा। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने वृन्दावनमहिमामृत (१७/८३-८४) में लिखा है-

''स्वानन्द-सच्चिद्घन-रूपता-मति-र्यावन्न वृन्दावनवासिजन्तुषू।
तावत् प्रविष्टोऽपि न तत्र विन्दते ततोऽपराधात् पदवीं परात्पराम्॥
यदैव सच्चिद्रसरूपबुद्धि - र्वृन्दावनस्थ - स्थिरजङ्गमेषु।
स्यान्निर्व्यलीकं पुरुषस्तदैव, चकास्ति राधाप्रियसेविरूप:॥''

अर्थात् ' जब तक वृन्दावनवासी प्राणीमात्र में स्वानन्द सच्चिदानन्दरूपता या प्रेमानन्दमय और सत्चित्रसमय बुद्धि नहीं होती, तब तक वृन्दावन में प्रविष्ट होने पर भी उस अपराध के कारण परात्पर-पदवी या राधादास्य प्राप्त नहीं होता।

वृन्दावन के स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणिसमूह में निष्कपट भाव से सच्चिदानन्दघन बुद्धि होने पर ही पुरुष श्रीराधा का प्रिय सेवायोग्य मञ्जरीरूप प्राप्तकर दीप्त या प्रकाशित होता है।' तत्पश्चात् निरन्तर परम सुखमय श्रीश्रीराधामाधव के लीलारससुखास्वादन का सौभाग्य पाकर साधकात्मा धन्य या कृतार्थ होता है॥८७॥

राधाकृष्ण दुँहु प्रेम, लक्षवान जेनो हेम,
जाहार हिल्लोल रससिन्धु।
चकोर नयन प्रेम, काम रति करे ध्यान,
पीरिति सुखेर दुँहु बन्धु॥८८॥

टीका -

युवयोर्मुखचन्द्रयोश्चकोराविव ये नयने तयोः प्रेमाणं रतिकामौ ध्यायतः। जाहार हिल्लोल इत्यादि- श्रीवृन्दावनस्य सम्बन्धे लीलारस एव सिन्धुस्तस्य तरङ्गरूप श्रीराधाकृष्णयोः प्रेमाः॥८८॥

लाख बार तपाया सोना :

सुधाकणिका व्याख्या : इस त्रिपदी में श्रील ठाकुर महाशय श्रीराधाकृष्ण के पारस्परिक प्रेम की विशुद्धता और रसमाधुरी का वर्णन कर रहे हैं। पहले विशुद्धत्व निरूपण करते हुए कहते हैं-''राधाकृष्ण दुँहु प्रेम, लक्षवान जेनो हेम''। श्रीराधाकृष्ण का पारस्परिक प्रेम लक्षवान या लाख बार दग्ध किये स्वर्ण की तरह विशुद्ध है। स्वर्ण को जितनी बार दग्ध करेंगे, वह उतना ही विशुद्ध होगा। उसमें कितनी ही खाद क्यों न हो, उसे पाँच बार दग्ध करने पर उसमें खाद नहीं रह सकती और वह सोना सर्वाधिक विशुद्ध हो जाता है। इसलिये सोने को कोई कभी लाख बार नहीं तपाता, इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं होती। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-यदि कहीं लाख बार तपाया सोना सम्भव हो, तो विशुद्धता में श्रीराधाकृष्ण का प्रेम उसके बराबर होगा। लक्षवान् स्वर्ण कहीं सम्भव नहीं, इसलिये श्रीराधाकृष्ण के प्रेम की भी कहीं तुलना नहीं। इस विशेष कलियुग में श्रीश्रीगौराङ्ग महाप्रभु ने श्रीराधारानी का भाव हृदय में लेकर विश्वमानव को श्रीराधा के प्रेम की विशुद्धता आँखों में अँगुली डालकर दिखाई है। शिक्षाष्टक के अन्तिम श्लोक में कहा है-

''आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥''

राधारानी प्रियसखी से कहती हैं-''हे सखि! श्रीकृष्ण अपनी पददासी मुझे आलिङ्गन द्वारा वक्षस्थल पर निष्पेषित (एकान्तभाव से आत्मसात्) करें अथवा दर्शन न देकर मुझे मर्माहत करें या बहुवल्लभ वे यहाँ-वहाँ अन्य रमणी के साथ विहार करें-वे कुछ भी क्यों न करें, वे मेरे प्राणनाथ ही हैं, दूसरे कोई नहीं।'' श्रीमन्महाप्रभु ने स्वयं इस श्लोक का अपूर्व मर्मार्थ प्रकट किया है-

''आमि कृष्णपददासी, तेंहो रससुखराशि, आलिङ्गिया करे आत्मसात।
किबा ना देन दर्शन, जारेन आमार तनुमन, तबु तेंहो मोर प्राणनाथ॥
सखि हे! शुनो मोर मनेर निश्चय।

किबा अनुराग करे, किबा दुःख दिया मारे, मोर प्राणेश कृष्ण अन्य नय।
छाड़ि अन्य नारीगण, मोर वश तनुमन, मोर सौभाग्य प्रकट करिया।
ता-सभारे देन पीड़ा, आमा सने करे क्रीड़ा, सेइ नारीगणे देखाइया॥
किबा तेंहो लम्पट, शठ धृष्ट सकपट, अन्य नारीगण करि साथ।
मोरे दिते मनःपीड़ा, मोर आगे करे क्रीड़ा, तभु तेंहो मोर प्राणनाथ॥
ना गणि आपन दुःख, सबे वाञ्छि तार सुख, ताँर सुखे आमार तात्पर्य।
मोरे जदि दिले दुःख, ताँर हैलो महासुख, सेइ दुःख मोर सुखवर्य॥
जे नारी के वाञ्छे कृष्ण, तार रूपे सतृष्ण, तारे ना पाइया हय दुःखी।
मुइँ तार पाये पड़ि, लइया जाउँ हाते धरि, क्रीड़ा कराइया करों सुखी॥
कान्ता कृष्णे करे रोष, कृष्ण पाय सन्तोष, सुख पाय ताड़न भर्त्सने।
जथायोग्य करे मान, कृष्ण ताते सुख पान, छाड़े मान अल्प साधने॥
सेइ नारी जीये केने, (कृष्णेर) मर्मव्यथा नाहि जाने, तभु कृष्णे करे गाढ़ रोष।
निज सुखे माने काज, पड़ु तार शिरे बाज, कृष्णेर मात्र चाहिये सन्तोष॥
जे गोपी मोर करे द्वेषे, कृष्णेर करे सन्तोषे, कृष्ण जारे करे अभिलाष।
मुइँ तार घरे जाइया, तारे सेवों दासी हइया, तबे मोर सुखेर उल्लास॥
कुष्ठि-विप्रेर रमणी, पतिव्रता-शिरोमणि, पति लागि कैलो वेश्यार सेवा।
स्तम्भिलो सूर्येर गति, जीयाइलो मृत पति, तुष्ट कैलो मुख्य तिन देवा॥
कृष्ण मोर जीवन, कृष्ण मोर प्राणधन, कृष्ण मोर प्राणेर पराण।
हृदय-उपरे धरों, सेवा करि सुखी करों, एइ मोर सदाकार ध्यान॥
मोर सुख सेवने, कृष्णेर सुख सङ्गमे, अतएव देह देउँ दान।
कृष्ण मोरे 'कान्ता' करि, कहे 'तुमि प्राणेश्वरी', मोर हय 'दासी' अभिमान॥
कान्तसेवा सुखपूर, सङ्गम हैते सुमधुर, ताते साक्षी लक्ष्मीठाकुराणी।
नारायणेर हृदे स्थिति, तभु पादसेवाय मति, सेवा करे दासी-अभिमानी॥
एइ राधार वचन, विशुद्ध प्रेम-लक्षण, आस्वादये श्रीगौरराय।
भावे मन अस्थिर, सात्विके व्यापे शरीर, मन-देह धरण ना जाय॥
व्रजेर विशुद्ध प्रेम, जेनो जाम्बुनद-हेम, आत्मसुखेर जाहे नाहि गन्ध।
से प्रेम जानाइते लोके, प्रभु कैलो एइ श्लोके, पदे कैलो अर्थेर निर्बन्ध॥''

(चै० च०)

श्रीमन्महाप्रभु की उक्ति में उल्लिखित पद-समूह में अति सहज-सरल भाव से श्रीराधाप्रेम की जो विशुद्धता प्रकट हुई है, विश्व में कहीं भी उसकी तुलना नहीं। प्रेमिक के प्रेम के अनुरूप ही उसके प्रति श्रीकृष्ण की प्रीति प्रकट होती है, यह सच्चिदानन्दतत्त्व श्रीकृष्ण का स्वरूपगत धर्म है। इसलिये राधारानी के प्रेम में एकान्त वशीभूत श्रीकृष्ण का भी अति विशुद्ध प्रेम उनके प्रति प्रकट होता है, यह जानना होगा।

इसके पश्चात् कहते हैं-''जाहार हिल्लोर रससिन्धु''। इस अंश की व्याख्या में विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है-''जाहार हिल्लो इत्यादि-श्रीवृन्दावनस्य सम्बन्धे लीलारस एव सिन्धुस्तस्य तरङ्गरूपः श्रीराधाकृष्णयोः प्रेमाः'', अर्थात् श्रीवृन्दावन का लीलारस ही सिन्धु के सदृश है, उसी की अशेष अनन्त उच्छ्वसित तरङ्गें श्रीराधाकृष्ण का प्रेम है। विशुद्ध माधुर्यमय श्रीवृन्दावन लीलारस सिन्धु की तरह अपार, अगाध और दुर्विगाह है। बिना तरङ्ग सिन्धु का दृश्य एक प्रकार का होता है, तरङ्गों से युक्त सागर का दृश्य दूसरा। सतरङ्ग सिन्धु की उच्छ्वसित अनन्त तरङ्गमालाओं का कल-कल्लोल दर्शक के नयन-मन को विमुग्ध कर डालता है। श्रीवृन्दावन के विशुद्ध माधुर्यमय लीलारस-सिन्धु में श्रीराधाकृष्ण का प्रेम अहर्निश अनन्त भावतरङ्गों से तरङ्गायित होकर सहृदय भक्त के चित्त-मन को विमुग्ध कर देता है। श्रीराधाकृष्ण की वे प्रेमतरङ्गें अति रहस्यमय या दुर्विगाह हैं, फिर भी श्रीमन्महाप्रभु के युग में उनके श्रीचरणाश्रित गौड़ीय वैष्णवाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उन प्रेमतरङ्गों का रहस्य नाना प्रकार से व्यक्त कर अति दीनहीन पतितजनों को भी उन तरङ्गों में डूबने का सौभाग्य प्रदान किया है। इसलिये इस विशेष कलियुग में जो लोग मानवदेह धारण करके भी श्रीराधाकृष्ण की उन प्रेमतरङ्गों से यत्किञ्चित् भी परिचित न हो पाये, उन-जैसा भाग्य-विड़म्बित जीव विश्व में और कोई नहीं।

इसके बाद श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''चकोर नयन प्रेम, काम रति करे ध्यान, पीरिति सुखेर दुहुँ बन्धु''। इस अंश की व्याख्या में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद लिखते हैं-''युवयोर्मुखचन्द्रयोश्चकोराविव ये नयने तयोः प्रमाणं रतिकामौ ध्यायतः'', अर्थात् 'श्रीश्रीराधाकृष्ण! तुम्हारे नयनचकोर युगल परस्पर के मुखचन्द्र का माधुर्यामृत पान करने वाले चकोरों की तरह हैं, वैसा प्रेम पाने के लिये काम-रति भी सतत ध्यान करते हैं।' तात्पर्य यह है-प्रेम का कार्य है कि वह अपने आश्रय को विषय तत्त्व का माधुर्य आस्वादन कराये, कारण-प्रेम ही माधुर्यास्वादन का कारण या द्वारस्वरूप है। श्रीश्रीराधाकृष्ण का पारस्परिक प्रेम दोनों को पारस्परिक माधुर्य का आस्वादन कराता है-पीने के प्रधान पात्र हैं उन दोनों के नयन-युगल। नयनों के माध्यम से विविध भाव-विलास की अभिव्यक्ति होती है; नयनों से ही रूपमाधुरी का आस्वादन होता है। तभी कहा गया है, श्रीराधाकृष्ण परस्पर के नयन-चकोरों द्वारा परस्पर के मुखचन्द्र का माधुर्यामृत पान करते हैं। उनके नेत्रों से एक-दूसरे के प्रति प्रेम की ऐसी अभिव्यक्ति होती है कि काम एवं रति भी एक-दूसरे के प्रति वैसी ही प्रीति पाने के लिये उसका सतत ध्यान करते रहते हैं। इससे श्रीकृष्ण का मदनमोहनत्व व्यक्त हुआ है। ''राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः। अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः॥'' अर्थात् श्रीकृष्ण जब श्रीराधा के साथ होते हैं, तभी वे मदनमोहन होते हैं, अन्यथा विश्वमोहन होकर भी 'मदन द्वारा मोहित रहते हैं'। उसी प्रकार श्रीकृष्ण के निकट न होने पर श्रीराधा भी म्लान विरहकातर रहती हैं। इसीलिये कहा गया है-''पीरिति सुखेर दुँहु बन्धु'', अर्थात् जैसे बन्धु बन्धु की विविध सुख-समृद्धि का हेतु होता है, वैसे ही श्रीराधाकृष्ण-युगल एक-दूसरे के प्रीतिरस-सुख की परिपुष्टि के हेतु बने रहते हैं। प्रीतिरसास्वादन की भूमि पर श्रीकृष्ण राधारानी के बिना शतकोटि गोपियों से भी सुख या आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते, उसी प्रकार श्रीमती राधारानी को एकमात्र व्रजेन्द्रनन्दन को छोड़ अन्य भगवत्स्वरूप-यहाँ तक कि द्वारकानाथ भी प्रीतिरस-सुख देने में समर्थ नहीं॥८८॥

राधिका प्रेयसी वरा, वामा-दिक् मनोहरा,
कनक केशर कान्ति धरे।
अनुरागे रक्तशाड़ी, नीलपट्ट मनोहारी,
मणिमय आभरण परे॥८९॥

टीका -

नीलपट्ट-कृष्णवर्ण-सादृश्येन। अनुरागे-अनुरागेण हेतुना। वामा-वामस्वभावा॥८९॥

प्रेयसीवरा श्रीराधा :

सुधाकणिका व्याख्या : पिछली त्रिपदी के ''पीरिति सुखेर दुँहु बन्धु'' इस अंश की व्याख्या में कहा गया था कि श्रीकृष्ण राधारानी के बिना शतकोटि गोपियों से भी आनन्द नहीं पा सकते। इस त्रिपदी में राधारानी का वर्णन कर उसी का कारण बताया जा रहा है। पहले कहते है-''राधिका प्रेयसीवरा, वामा दिक् मनोहरा, कनक केशर कान्ति धरे''। राधारानी श्रीकृष्णकान्ताशिरोमणि हैं, कारण-समस्त कृष्णकान्ता-व्रजगोपियाँ राधारानी की कायव्यूह स्वरूप हैं। रूप, गुण, प्रेम में श्रीराधा अतुलनीय हैं।

''कृष्णकान्तागण देखि त्रिविध प्रकार।
एक लक्ष्मीगण पुरे महिषीगण सार॥
व्रजाङ्गनारूप आर कान्तागण आर।
श्रीराधिका हैते कान्तागणेर विस्तार॥
लक्ष्मीगण ताँर वैभव विलासांशरूप।
महिषीगण वैभव प्रकाश-स्वरूप।
आकार स्वभाव भेदे व्रजदेवीगण।
कायव्यूह-रूप ताँर रसेर कारण॥
बहु कान्ता बिना नहे रसेर उल्लास।
लीलार सहाय लागि बहुत प्रकाश॥
तार मध्ये व्रजे नाना भाव रसभेदे।
कृष्ण के कराय रासादिक लीलास्वादे॥
गोविन्दनन्दिनी राधा गोविन्द-मोहिनी।
गोविन्द-सर्वस्व सर्वकान्ता-शिरोमणि॥''

(चै० च० आदि०, परि० ४)

श्रीराधा गोविन्द-सर्वस्व और सर्वकान्ताशिरोमणि हैं, इसका कारण यह है कि उनमें अप्राकृत नवीन मदन श्रीकृष्ण का उन्मादक 'मादन' नामक महाभाव विराजता है, जो एकमात्र राधारानी की ही भाव-सम्पदा है। उस मादनाख्य महाभाव से उत्पन्न असाधारण गुणावलि भी उन्हीं में विराजती है-वह अन्य किसी कान्ता में सम्भव नहीं। उस गुणावलि के कुछेक गुण वृहद्गौतमीय तंत्र में वर्णित हैं-

''देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी पराः॥''

अर्थात् 'श्रीराधिका देवी, कृष्णमयी, परदेवता, सर्वलक्ष्मीमयी, सर्वकान्ति, सम्मोहिनी एवं परा कही गई हैं।' श्रीचैतन्यचरितामृत में इन गुणों की व्याख्या की गई है-

''देवी कहि-द्योतमाना परमा सुन्दरी।
किम्वा कृष्ण-पूजा-क्रीड़ार वसति नगरी॥
कृष्णमयी-कृष्ण जार अन्तरे बाहिरे।
जाँहा जाँहा नेत्र पड़े ताँहा कृष्ण स्फुरे॥
किम्बा प्रेमरसमय कृष्णेर स्वरूप।
ताँर शक्ति ताँर सह हय एकरूप॥
कृष्णवाञ्छापूर्तिरूप करे आराधने।
अतएव 'राधिका' नाम पुराणे बाखाने॥''

(चै० च०)

''अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्द प्रीतो यामनयद्रहः॥''

(भा० १०/३०/२८)

महारास में श्रीकृष्ण राधारानी को लेकर गोपीमण्डली से अन्तर्हित हो गये। कृष्ण को खोजने में तत्पर अन्यान्य गोपियों ने श्रीराधाकृष्ण के श्रीचरणचिन्ह देखे। विपक्षा चन्द्रावली आदि को अतिशय क्षुब्ध देखकर सुहृत्पक्षा गोपियों ने कहा-इस रमणी (राधा) ने निश्चय ही ईश्वर भगवान् श्रीहरि की यथेष्ट आराधना की है, तभी तो श्रीगोविन्द हम लोगों का परित्याग कर प्रीतिपूर्वक इन्हें लेकर निर्जन स्थान में चले आये हैं।

''अतएव सर्वपूज्या परम देवता।
सर्वपालिका सर्व जगतेर माता॥
सर्वलक्ष्मी शब्द पूर्वे, करियाछि व्याख्यान।
सर्वलक्ष्मीगणेर तेंहो हय अधिष्ठान॥
किम्वा सर्वलक्ष्मी कृष्णेर षड्विध ऐश्वर्य।
ताँर अधिष्ठात्री शक्ति - सर्वशक्ति - वर्य॥

सर्व सौन्दर्य - कान्ति वैसये जाँहाते।
सर्वलक्ष्मीगणेर शोभा हय जाँहा हैते॥
किम्वा 'कान्ति' शब्दे कृष्णेर सब इच्छा कहे।
कृष्णेर सकल वाञ्छा राधातेइ रहे॥
राधिका करेन कृष्णेर वांछित पूरण।
'सर्वकान्ति' शब्देर एइ अर्थ-विवरण॥
जगत-मोहन कृष्ण,-ताँहार मोहिनी।
अतएव समस्तेर परा ठाकुराणी॥''

इसीलिये राधारानी श्रीकृष्ण की 'प्रेयसीवरा' हैं। फिर कहते हैं-'वामा', अर्थात् वाम्यस्वभावा। 'अहेरिव गतिः प्रेम्न स्वभावकुटिला भवेत्। अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति॥'' अर्थात् 'जैसे साँप की गति स्वभाव से ही कुटिल होती है, वैसे ही प्रेम की गति स्वभावकुटिल होती है। तभी कारण-अकारण श्रीकृष्ण और व्रजकान्ताओं में मान जगता है।' राधारानी सर्वोपरि हैं।

''गोपीगण मध्ये श्रेष्ठा राधाठाकुराणी।
निर्मल - उज्वल रस प्रेमरत्न - खनि॥
वयसे 'मध्यमा' तेंहो - स्वभावेते समा।
गाढ़ प्रेमभावे तेंहो निरन्तर 'वामा'॥
वाम्यस्वभावे 'मान' उठे निरन्तर।
उँहार वाम्ये उठे कृष्णेर आनन्द सागर॥''

(चै० च० मध्य०, परि० १४)

फिर राधारानी हैं 'दिक् मनोहरा', अर्थात् दसों दिशाओं के स्थावर-जङ्गम की मनोहारिणी। श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती ने अपने सङ्गीतमाधव में श्रीराधा के दिक्-मनोहरा रूप का वर्णन किया है-

''वर - सीमन्तरसामृत - सरणी - धृत - सिन्दूर - सुरेखाम्।
श्रीवृषभानु-कुलाम्बुधि-सम्भव-सुभगसुधाकर-लेखाम्॥
स्मरतु मनो मम निरवधि राधाम्।
मधुपतिरूपगुण - श्रवणोदित - सहजमनोभव - बाधाम्॥
सुरुचिर-कवरि-विराजित-कोमल-परिमल-मल्लिसुमालाम्।
मदचल-खञ्जन-खेलन-गञ्जन-लोचन-कमलविशालाम॥
मद-करिराज-विराजदनुत्तम-चलित-ललित-गतिभङ्गीम्।
अतिसुकुमार-कनक-नवचम्पक-गौर-मधुर-मधुराङ्गीम्॥
मणि-केयूरललित-वलयावलि-मण्डित-मृदुभुजवल्लीम्।
प्रतिपदमद्भुत-रूप-चमत्कृति-मोहन-युवति-मतल्लीम्॥

मृदु-मुदु-हास ललित-मुखमण्डल-कृतशशिबिम्बविड़म्बाम्।
किङ्किणिजाल-खचित-पृथुसुन्दर-नवरसराशि-नितम्बाम्॥
चित्रित-कञ्चुलिका-स्थगितोद्भट-कुचहाटक-घटशोभाम्।
स्फुरदरुणाधर-सीधु सुधारस कृतहरि-मानस-लोभाम्॥
सुन्दर-चिबुक-विराजित-मोहन-मेचकबिन्दु विलासाम्।
सकनक-रत्नखचित-पृथुमौक्तिकरुचि-रुचिरोज्ज्वल-नासाम्॥
उज्ज्वलरागरसामृतसागर - सार - तनुं सुखरूपाम्।
निपतित - माधवमुग्धमनोमृगनाभि - सुधारस - कूपाम्॥
नूपुर - हार - मनोहर - कुण्डल - कृतरुचिमरुण - दुकूलाम्।
पथि पथि मदनमदाकुल-गोकुलचन्द्रकलित-पदमूलाम्॥
रसिक - सरस्वती - गीत - महाद्भुत - राधारूप - रहस्यम्।
वृन्दावनरस - लालस - मनसामिदमुपगेयमवश्यम् ॥''

'जो अपनी श्रेष्ठ सीमन्त (माँग) रूपी रसामृतसरणी में सिन्दूररेखा धारण किये हैं और जो वृषभानुकुलरूपी सिन्धु से अति कमनीय चन्द्रलेखा की तरह आविर्भूत हुई हैं-मेरा मन उन्हीं श्रीराधा का निरवधि स्मरण कर रहा है।

श्रीकृष्ण के रूप-गुणादि सुनकर जिनमें स्वभावत: मदनपीड़ा का उद्रेक हो रहा है; जिनकी अति सुन्दर कवरी में कोमल सुगन्धयुक्त मल्लिका की उत्तम माला विराज रही है; जिनके विशाल नयन-कमलयुगल मदयुक्त हो चञ्चल खञ्जन की क्रीड़ा को भी पराजित कर रहे हैं; जिनकी मनोहर गति-भङ्गिमा मदमत्त-करिराजकी गति की तरह अति सुललित है; जिनका अति सुकुमार और सुमधुर अङ्ग नवीन स्वर्णचम्पक की तरह पीतवर्ण है; कोमल भुजवल्लियाँ मणिमय केयूरों (बाजूबन्द) और वलयों (कङ्कन) से विमण्डित हैं; जो पग-पग पर अद्भुत और अति चमत्कारपूर्ण रूप से समस्त युवतियों में मोह उत्पन्न करती हैं; जो मृदुहास्यमय रमणीय मुखमण्डल से चन्द्रमण्डल को भी विड़म्बित करती हैं; जिनका नवरसराशिस्वरूप स्थूल और सुन्दर नितम्बदेश किङ्किणीजाल से निबद्ध है; जिनके अति उत्तम कुचयुगलरूपी स्वर्णघटों की शोभा चित्रित कञ्चुलिका से आवृत है; जो सुन्दर अरुणवर्ण अधरों के सुधारस से श्रीहरि के मन में लोभ उत्पन्न करती हैं; जिनके सुन्दर चिबुक पर अतिमोहन कस्तूरीबिन्दु शोभा पा रहा है; जिनकी सुरम्य नासिका कनक और रत्नखचित स्थूल मुक्ता की कान्ति से मनोहर उज्ज्वल श्रीधारण किये है; उज्ज्वल अनुरागरूपी रसामृत-सागर का सारस्वरूप है जिनका कलेवर; जिनके नाभिरूपी-सुधारसकूप में माधव का मुग्ध मनोमृग आ गिरा है; जिनकी अङ्गकान्ति नूपुर हार और मनोहर कुण्डल धारण करने से अधिकतर उज्ज्वल हो उठी है और जो अरुणवर्ण वस्त्र पहने हैं; गोकुलचन्द्र मदनमद से आकुल होकर पथ-पथ पर जिन (श्रीराधा) के पदमूल का आश्रय लिया करते हैं-जिन लोगों के चित्त वृन्दावनरस की लालसा से भरे हैं, वे लोग रसिक सरस्वती (प्रबोधानन्द) द्वारा वर्णित श्रीराधा के इस अति रहस्यमय महा अद्भुत रूप का गायन करेंगे।'

'वामादिके मनोहरा' पाठ भी देखने में आता है। उसका अर्थ होगा–श्रीकृष्ण की प्रेयसीश्रेष्ठ श्रीराधा उनकी बायीं ओर उनकी मनोहारिणी के रूप में शोभा पा रही हैं। श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है–

''चेतः कामपि कुन्दसुन्दरसुधा-निःस्यन्दि-मन्दस्मित-
ज्योतिर्मोहन-वक्त्रचन्द्र-विगलत्प्रेमामृताम्भोनिधिम्।
प्रत्यङ्गोच्छलितानुराग - सहजानङ्गोत्सवैकावधिं
श्रीवृन्दावनचन्द्र - दुर्मदमनश्चौरीं किशोरीं स्मर॥''

(सङ्गीतमाधव-२/४३)

'हे मन! जिनके कुन्दकुसुम-से सुन्दर एवं सुधा टपकाने वाले मन्दहास्य की ज्योति से उद्भासित सुमोहन वदनचन्द्र से प्रेमामृतसागर बह रहा है और जो प्रति अङ्ग में उच्छलित अनुराग एवं स्वाभाविक अनङ्गउत्सव की एकमात्र अवधि या सीमास्वरूप हैं–श्रीवृन्दावनचन्द्र के दुर्मदचित्त की चोर उसी किसी अनिर्वचनीय किशोरीमणि श्रीराधा का तुम स्मरण करो।'

इसके पश्चात् राधारानी की अङ्गकान्ति और वस्त्राभरण की शोभा का वर्णन करते हैं– ''कनक केशर कान्ति धरे। अनुरागे-रक्तशाड़ी, नीलपट्ट मनोहारी, मणिमय आभरण परे''। नीलमणि की तरह उज्ज्वल श्यामकान्ति श्रीकृष्ण की बायीं ओर कनक-केशरकान्ति श्रीमती राधारानी दर्शक मात्र की मनोहारिणी बनी शोभा पा रही हैं। जिनके हृदय का कृष्ण-अनुराग ही श्रीअङ्ग का अरुणवर्ण अन्तरीय वास (भीतरी वस्त्र) है। अनुराग का वर्ण अरुण; फिर कृष्ण-अनुराग को वे हृदय में छिपाये रखती हैं, तभी अरुणवर्ण का अन्तर्वास पहने रहती हैं। श्याम-अनुरागिनी श्रीमती श्यामवर्ण मात्र को अत्यन्त प्रेम करती हैं, तभी श्रीअङ्ग पर उनकी सतत मनोहर नीलपट्टवास ओढ़नी शोभा पाती है। श्याम-सुख के लिये श्रीमती अपने अङ्ग पर नानामणिरत्नों के अलङ्कार धारण किये सुशोभित रहती हैं॥८९॥

करिये लोचन पान, रूपलीला दुँहु गान,
आनन्दे मगन सहचरी।
वेदविधि अगोचर, रतन-वेदीर पर,
सेवव निति किशोर-किशोरी॥९०॥

टीका -

आनन्दे इत्यादि-सख्य एवं कृत्वा आनन्दे मग्ना भवन्ति॥९०॥

सखियों का आनन्द :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय श्रीश्रीराधाकृष्ण-युगल की प्रेममाधुरी एवं रूपमाधुरी का वर्णन कर अब युगल-माधुरी को लेकर सखियों के आनन्द या रसास्वादन का वर्णन कर रहे हैं। रमणीय

श्रीवृन्दावन के निकुञ्जमन्दिर में रत्नपालङ्क पर रूपलावण्य से भरे किशोर-किशोरी श्रीराधाश्याम प्रेमरस से उज्ज्वल हैं। चारों ओर से घेरे हुए हैं सखियाँ। वे सभी प्रेमरस की एक-एक छवि हैं-सौन्दर्य, माधुर्य, परिहासरस में अतुलनीय। प्रेमसिन्धु और रससिन्धु मानो उच्छ्वसित होकर दिग्दिगन्त में खेल रहे हैं!! उसी सौन्दर्यमाधुर्यरस में उज्ज्वल कान्ति अपरूप नीलकमल और स्वर्णकमल श्रीराधामाधव का रूप-मकरन्द-रस सखियों के नेत्रभृङ्ग प्रगाढ़ आसक्ति के साथ पान कर रहे हैं!! सखियाँ युगल की मधुमयी शृङ्गार-रस-लीला मधुकण्ठ से गा रही हैं! युगल के रूप गुण लीलारससिन्धु में तैरकर वे परमानन्द में निमग्न हैं। राधाकिङ्करी मञ्जरियाँ भी सखी हैं, वे अनन्त युगलमाधुरीरसप्रवाह में तैरकर भी ससखी युगल के सेवाकार्य में निरत हैं। वे सेवा को भूलकर माधुर्य में मग्न नहीं होतीं, सेवाकार्य में लगी रहकर ही श्रीयुगल-माधुरीरस में अवगाहन करती हैं। सखियों की तुलना में यही इन लोगों की विशिष्टता है। श्रील ठाकुर महाशय के प्रार्थनापद में इसकी सुस्पष्ट धारणा मिलती है-

''अरुण-कमल-दले, सेज बिछाइबो, बसाइबो किशोर-किशोरी।
अलका-आवृत-मुख, पङ्कज मनोहर, मरकत श्याम हेम गोरी॥
प्राणेश्वरि! कबे मोरे हबे कृपादिठि।
आज्ञाय आनिबो कबे, विविध फूलवर, शुनबो वचन दुहुँ मिठि॥
मृगमद तिलक, सिन्दूर बनायब, लेपब चन्दन गन्धे।
गाँथि मालति फूल, हार परिराओब, धाओयाब मधुकरवृन्दे॥
ललिता कबे मोरे, बीजन देओयब, बीजब मारुत मन्दे।
श्रमजल सकल, मिटब दुहुँ कलेवर, हेरब परम आनन्दे॥
नरोत्तमदास, आश पदपङ्कज, सेवन माधुरी पाने।
होअब हेनो दिन, ना देखिये कोन चिन, दुहुँजन हेरब नयाने॥''

इस प्रार्थनापद में इस बात की सुस्पष्ट धारणा मिलती है कि मञ्जरियाँ युगलसेवा करते हुए ही युगलमाधुरी का आस्वादन करती हैं। इन राधाकिङ्करियों के आनुगत्य में ही गौड़ीय वैष्णवों का युगलभजन है। श्रीमत् प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने राधाकिङ्करियों के स्वरूप-निरूपण में लिखा है-

''श्रीराधापादपद्मच्छविमधुरतर - प्रेमचिज्ज्योतिरेका-
म्भोधेरुद्भुत - फेनस्तवकमयतनूः सर्ववैदग्ध्यपूर्णाः।
कैशोरव्यञ्जितास्तद्घनरुगपघन-श्रीचमत्कारभाजो
दिव्यालङ्कारवस्त्रा अनुसरत सखे राधिका-किङ्करीस्ताः॥''

(वृ० म०-२/८६)

'हे सखे! श्रीश्रीराधापादपद्मच्छवि मधुरतर प्रेमचिद्घन ज्योति की एकमात्र सिन्धु है-उसी सिन्धु से उत्पन्न फेनसमूह ही जिन लोगों के शरीर हैं; जो सर्ववैदग्ध्य से भरी हैं; व्यक्त कैशोर (प्रकट किशोरावस्था) और

घनीभूत तारुण्यच्छटा (तरुणाई) से जिनके समस्त अवयव (अङ्ग) अतिशय चमत्कार-पात्र बने हैं-दिव्य अलङ्कार वस्त्रों से शोभित उन्हीं राधाकिङ्करियों का अनुसरण करो।'

इन लोगों के सुदिव्य अवयवों के सम्बन्ध में भी श्रीपाद ने लिखा है-

''किशोरवयसः स्फुरत्पुरट-रोचिषो मोहिनीः,
सुचारुकृशमध्यमाः पृथुनितम्ब - वक्षोरुहाः।
सुरत्नकनकाञ्चित - स्फुरित - नासिकमौक्तिकाः,
सुवेणिपटभूषणाः स्मरत राधिकाकिङ्करीः॥
सुरम्या दोर्वल्ली - वलयगण - केयूररुचिराः,
क्वणत्काञ्ची-मञ्जीरक-मणिसुताटण्कललिताः।
लसद्वेणी वक्षोरुह - मुकुलहारावलिरुचः,
स्मरानन्यस्निग्धाः कनकरुचि - राधाङ्घ्र्यनुचरीः॥''

(वृ० म० २/५८-५९)

'जो वयस में किशोरियाँ हैं, उज्ज्वल स्वर्णवर्णवाली, मोहिनी मूर्तियाँ हैं, जिनके कटिदेश अति सुन्दर और कृश हैं; नितम्ब एवं स्तनयुगल पृथुल हैं; जिनके नासादेश में उत्तम रत्न और स्वर्णजड़ित मुक्ता-लोलक दोलायमान है; मस्तक पर उत्तम वेणियाँ, अङ्ग पर पट्टवस्त्र शोभित हैं-इस प्रकार राधाकिङ्करियों का स्मरण करो।

जो परम रमणीय बाहुलताओं में वलय और केयूरभूषण धारण किये अति सुन्दर हैं; शब्दायमान काञ्ची नूपुर और मणिताटङ्क (बाली) आदि के द्वारा अति कमनीय हैं; वेणियों से, स्तनमुकुलों पर हारों की कान्ति से शोभित हैं-(ऐसी) अनन्य प्रेमशील स्वर्णवर्णी, श्रीराधादासियों का स्मरण करो।'

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-इन लोगों के आनुगत्य में या राधाकिङ्करी-भाव से ''वेदविधि अगोचर, रतन वेदिर पर, सेवो निति किशोर-किशोरी''। माधुर्य-धाम व्रज में परमरहस्यमय श्रीश्रीराधामाधव का भजन है-''वेद विधिर अगोचर'' वेदों में कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड की जो बात है, उसमें उपासनाकाण्ड में प्रायः विधि भक्ति की या ऐश्वर्यमय भगवत्स्वरूप के भजन की बात ही देखी जाती है। इस विशेष कलियुग में श्रीगौराङ्ग महाप्रभु की ही अनर्पितचरी करुणा का अवदान है-व्रज की यह माधुर्यमय मञ्जरीभाव-उपासना। श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती ने लिखा है-

''श्रीमद्भागवतस्य यत्र परमं तात्पर्यमुद्भङ्कितं श्रीवैयासकिना दुरन्वयतया रासप्रसङ्गेऽपि यत्।
यद्राधारतिकेलि-नागररसास्वादैक-सद्भाजनं तद्वस्तुप्रथनाय गौर-वपुषा लोकेऽवतीर्णो हरिः॥''

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम्-१११)

'जो सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत का चरम तात्पर्य है, किन्तु अति रहस्यमय या दुर्बोध्य होने के कारण श्रीव्यासनन्दन श्रीपाद शुकदेव मुनि ने रासप्रसङ्ग में भी उसका इङ्गितमात्र ही किया है (विस्तार से परिस्फुट रूप में वर्णन नहीं किया) - राधारानी के रतिक्रीड़ानागर श्रीकृष्ण की उसी शृङ्गाररसमयी लीला का आस्वादन करने के लिये और उस आस्वादन के हेतु मधुररसजातीय प्रेम का प्रचार करने के लिये ही श्रीहरि श्रीगौररूप में विश्व में अवतीर्ण हुए हैं।'

अतएव वृन्दावन के कल्पतरुमूल में रत्नवेदी पर समासीन श्रीश्रीराधाकृष्ण की वेदविधि-अगोचर अति रहस्यमय उपासना या भजन कलिजीव की ही असाधारण सौभाग्य-सम्पदा है। श्रीगौरचरणों में शरणागत होकर ही इस कलियुग के मानव को वेदविधि-अगोचर श्रीश्रीराधामाधव का भजन या सेवा करनी होगी। तभी श्रील प्रबोधानन्दपाद ने लिखा है-

''अरे मूढ़ा गूढ़ां विचिनुत हरेर्भक्तिपदवीं दवीयस्या दृष्ट्याप्यपरिचितपूर्वां मुनिवरैः।
न विश्रम्भश्चित्ते यदि यदि च दौर्लभ्यमिव तत् परित्यज्याशेषं व्रजत शरणं गौरचरणम्॥''

(वही-३४)

'अरे मूढ़गण! पूर्वकाल में दूरदृष्टिसम्पन्न मुनिश्रेष्ठगण भी जिसका परिचय प्राप्त नहीं कर सके (इसीलिये वेदशास्त्र में उसका वर्णन भी नहीं मिलता), उसी रहस्यमय श्रीश्रीराधामाधव की पादपद्म-भक्ति का अनुसन्धान करो। यदि इसमें तुम्हारा विश्वास न हो (इस बात में कि मुनियों के लिये दुर्लभ वस्तु तुम पा लोगे) अथवा यह तुम्हें दुर्लभ लगे, तो कहता हूँ-सब त्यागकर श्रीगौराङ्ग के चरणों में शरणागत होओ। ऐसा करने से इस रहस्यमय भजन का सौभाग्य या अधिकार निश्चितरूप से मिलेगा-यही व्यञ्जितार्थ है॥९०॥

दुर्लभ भजन हेनो, नाहि भजो हरि केनो?
कि लागि मरहो भवबन्धे।
छाड़ो अन्य क्रियाकर्म, नाहि देखो वेद-धर्म,
भक्ति करो कृष्णपदद्वन्दे॥९१॥

दुर्लभ भजन :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय ने पिछली त्रिपदी में 'वेदविधि अगोचर' कहकर युगलभजन की दुर्लभता प्रतिपादित की है। अब श्रीमन्महाप्रभु के युग में वही सुदुर्लभ भजन पाप-ताप के मारे आपामार सभी कलिजीवों को अति सुलभ हो गया है। श्रीमन्महाप्रभु के श्रीचरणाश्रित गौड़ीय वैष्णवाचार्यों - श्रीरूप सनातन, रघुनाथ, श्रीजीव आदि षड़गोस्वामियों ने तथा परवर्तिकाल के श्रीनिवासाचार्य, श्यामानन्द प्रभु,

नरोत्तम ठाकुर महाशय, विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद,, बलदेव विद्याभूषण आदि आचार्यों ने, साथ ही पदकर्ता महाजनों से सुदुर्लभ युगलोपासना का पथ सम्यक्रूप से प्रशस्त कर दिया है।

श्रील ठाकुर महाशय अपने मन को उपदेश देने के बहाने इस सुदुर्लभ भजन के प्रति विश्वमानवों की दृष्टि आकर्षित कर कहते हैं-''दुर्लभ भजन हेनो, नाहि भजो हरि केनो, कि लागि मरहो भवबन्धे''। अन्यान्य युगों में ब्रह्मा-महेश्वरादि के लिये भी दुर्लभ व्रजरस का असमोर्ध्व आस्वादन श्रीमन्महाप्रभु ने कृपाकर कलिहत जीवों के लिये वितरण किया है। अब मानवदेह पाकर भी यदि कोई इस स्वर्ण सुयोग से वञ्चित होता है अथवा भजनपथ का आश्रय न लेकर विषयासक्ति के संस्कारवश आहार-विहार आदि का सुख लेकर ही यह दुर्लभ मानवजीवन बिताता है, तो उसे बार-बार जन्म-मरण आदि के कराल ग्रास में पड़कर चिरभवबन्धन में ही बद्ध रहना पड़ेगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। श्रील प्रेमानन्द ठाकुर ने अपनी मनःशिक्षा में गाया है-

''ए मन! मानुष हबे कि आर।
वदन भरिया हरि हरि बोलो शोधो ना यमेर धार॥
भाविया देखो ना से हारे आपना इहाते जे करे पाप।
आपनार दोषे आपनि पाय से जनमे जनमे ताप॥
सेइ से चतुर बापेर ठाकुर जे लय हरिर नाम।
इहाते जाहार रुचि ना जन्मिलो विधाता ताहारे बाम॥
ए बोध बुझिबे नरके मजिबे शमन रुषिबे जबे।
आँखिर पलके ए ठाट भाङ्गिबे कि बलि एड़ाबे तबे॥
भाइ बन्धु जाया तनय-तनया आपना बोलिछो जारे।
जानो ना मुखेते अनल भेजायो अगाध जलेते डारे।
मूरति देखिया डरे डराइया तिले ना राखिबे घर।
कहे प्रेमानन्द हरि हरि बोलो ता बिनु सकलि पर॥

× × ×

भाइरे भजो गोराचाँदेर चरण।
ए तिन भुवने आर दयार ठाकुर नाइ गोरा बड़ो पतितपावन॥
हेनो अवतारे जार नहिलो भकतिलेश बोलो तार कि हबे उपाय।
रविर किरणे जार आँखि परसन्न नैलो विधाता वञ्चित भेलो ताय॥
हेम-जलद काय प्रेमधारा बरिषय करुणामय अवतार।
गोरा हेनो प्रभु पेये जे जन शीतल नैलो कि जानि केमन मन तार॥
कलि-भवसागरे निज नाम भेला करि आपने गौराङ्ग करे पार।
तबे जे डुबिया मरे के तारे उद्धार करे ए प्रेमानन्देर परिहार॥''

इसके बाद श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''छाड़ो अन्य क्रियाकर्म, नाहि देखो वेदधर्म, भक्ति करो कृष्णपदद्वन्दे''। यहाँ 'अन्य क्रिया कर्म' का अर्थ है श्रीकृष्ण-भजन के अतिरिक्त देह दैहिकादि के सुख-सुविधाजनक मायिक क्रियाकर्म। 'वेद धर्म' अर्थात् वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म-उसे त्यागकर शुद्ध भजनपथ का आश्रय लेने का उपदेश दिया है।

जीव स्वरूपत: श्रीकृष्ण का नित्यदास है, इसलिये श्रीकृष्णसेवा-वासना ही उसका स्वरूपगत धर्म है। जो कृष्णबहिर्मुख जीव हैं, वे स्वतंत्र भाव से मायिक वस्तुओं की भोगवासना रखते हैं, इस कारण उनही वह स्वरूपअनुबन्धिनी सेवा-वासना देह-इन्द्रिय आदि के माध्यम से विकसित होती है और इन्द्रियादि के धर्म से अनुरञ्जित होकर देहेन्द्रियादि की सेवावासना में बदल जाती है। इसीलिये जड़ीय विषयभोगों द्वारा इन्द्रियतर्पण का ही वे लोग प्रयास करते हैं। नाना प्रकार के क्रियाकर्मों द्वारा या वर्णआश्रम आदि वेदधर्म का आश्रय लेकर विषयभोगों से मायाबद्ध जीव सुखी होना चाहते हैं, किन्तु कर्मकाण्डोक्त विषयभोगों से मानव कभी सुखी नहीं हो सकता। विषयों में प्रकृत सुख या सुख का स्थायित्व न होने से दु:ख के बाद दुख उपस्थित होता है। कृष्णपादपद्मों में भक्ति या भजन को छोड़ इस दु:ख से निस्तार पाने का कोई उपाय नहीं। श्रीमद्भागवत (३/९/६) में है-

''तावद्भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं शोकः
स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न
तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥''

ब्रह्माजी ने भगवान् के स्तवप्रसङ्ग में कहा -'हे भगवन्! मानव जब तक तुम्हारे अभय चरण-कमलों का आश्रय नहीं लेते, तब तक धन देह और आत्मीय-स्वजनों के लिये भय, शोक, स्पृहा, पराभव और विपुल लोभ रहता है तथा आर्ति या दु:ख का मूल असत् आश्रय देह-दैहिकादि में 'मैं मेरा' भाव रहता है।'

मायाबाद्ध श्रीकृष्ण-बहिर्मुख जीव का पहला बन्धन है-अविद्या। इसके कारण वह अपने चित्स्वरूप और स्वधर्म श्रीकृष्णदास्य को भूल जाता है। दूसरा बन्धन-अस्मिता। इससे नश्वर देह में आत्मबुद्धि और देह से जुड़े धन, आत्मीय आदि में ममत्वबुद्धि उत्पन्न होती है। तीसरा बन्धन-राग। इससे देह-इन्द्रिय को सुखकर अर्थ-सम्पदा आदि में आसक्ति उत्पन्न होती है। चतुर्थ बन्धन-द्वेष। इससे देह-दैहिकादि के प्रतिकूल विषयों में विद्वेष आता है। पाँचवाँ बन्धन है अभिनिवेश-देह-इन्द्रियों आदि के द्वारा भोग्य अनुकूल विषयों के प्रति ममता द्वारा मन की आविष्टता या मन की विषय-आकार में परिणति घटित होती है। इस पञ्चविध अविद्या से दृढ़ता के साथ बँधकर जीव जड़ीय विषय-वासना-पङ्क (कीचड़) में डूब जाता है। आत्मा का स्वाभाविक धर्म है चिदानन्द-प्रवणता; वह जड़ीय विषय-प्रवणता में बदल जाती है। सत्सङ्ग द्वारा कृष्णभक्ति-बाधक शुभाशुभ कर्म-आसक्ति त्यागकर श्रीकृष्ण-भक्ति का आश्रय लेने के अतिरिक्त मायाबद्ध जीव की अन्य गति नहीं। इसीलिये श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''छाड़ो अन्य क्रिया कर्म, नाहि देखो वेद धर्म, भक्ति करो कृष्णपदद्वन्द्वे''॥९१।

विषय विषम गति, नाहि भजो व्रजपति,

कृष्णचन्द्र-चरण सुखसार।

स्वर्ग आर अपवर्ग, संसार नरक भोग,

सर्वनाश जनम विकार॥९२॥

सुखसार :

सुधाकणिका व्याख्या : पूज्यपाद श्रील ग्रन्थकार प्रेम की मूर्ति हैं, फिर भी अपने मन को शिक्षा देने के छल से कुछेक त्रिपदियों में संसारी लोगों को श्रीकृष्णभजन का अति सारगर्भित उपदेश दे रहे हैं। इस त्रिपदी में पहले जड़ीय रूप-रस आदि विषय-सेवन के विषमय फल की और श्रीकृष्णपादपद्म-भजन के सुख या आनन्द की बात कहते हैं-''विषय विषम गति, नाहि भजो व्रजपति, कृष्णचन्द्र-चरण सुखसार''। विषयों की 'गति' अर्थात् परिणाम (फलाफल) अति 'विषम' अर्थात् विषमय (अति निदारुण दु:खमय) है। जड़ीय रूपरस आदि विषय वर्तमान में बड़े सुखकर लगते हैं; पर वस्तुस्थिति यह है कि विषयों का स्वरूप ही घनीभूत दु:खमय है। विष को अमृत-भ्रम से पीने पर साथ ही साथ देह मन प्राण ज्वालामय हो जाते हैं और शीघ्र ही मृत्यु का वरण करना पड़ता है। उसी प्रकार रूप-रस आदि विषय-सेवन के फलस्वरूप त्रिताप आदि उत्कट ज्वाला का एवं भयावह जन्म-मृत्यु तथा नरक आदि का दु:ख भोगना पड़ता है। विषयभोगों की विषमय परिणति समझते हैं, फिर भी विषयसेवन से चित्त-मन में विषयभोगों के ऐसे प्रबल संस्कार जड़ जमा लेते हैं कि विषयभोग से छूटने का कोई उपाय नहीं रहता। प्रह्लादजी ने दैत्य-बालकों को उपदेश दिया है (भा० ७/६/९-१३)-

''को गृहेषु पुमान् सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः।
स्नेहपाशैर्दृढ़ैर्बब्द्धमुत्सहेत विमोचितुम्॥
कोन्वर्थतृष्णां विसृजेत् प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः।
यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठेस्तस्करः सेवको वणिक्॥
कथं प्रियाया अनुकम्पिताया: सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मंत्रान्।
सुहृत्सु तत् स्नेहसितः शिशूनां कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः॥
पुत्रान् स्मरंस्ता दुहितृर्हृ दर्या भ्रातृन् स्वसृर्वा पितरौ च दीनौ।
गृहान्मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च वृत्तिस्तु कुल्याः पशुभृत्यवर्गान्॥
त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः कर्माणि लोभादवितृप्तकामः।
औपस्थ्यजैह्व्यं बहु मन्यमानः कथं विरज्येत दुरन्तमोहः॥''

'हे साथियों! यौवन में गृहासक्त हो जाने के बाद उस आसक्ति को त्यागने की सामर्थ्य किसी में नहीं रहती। ऐसा कौन अजितेन्द्रिय (इन्द्रियों के वश) व्यक्ति है, जो विषयों और आत्मीयस्वजन आदि के दृढ़ पाश में बँधे स्वयं को मुक्त करने की इच्छा करता है? प्राणों से भी अधिक प्रिय धनतृष्णा को त्यागने में भला कौन समर्थ होता है? तस्कर वणिक् और सेवक प्राणों की ममता छोड़कर भी धन सङ्ग्रह में तत्पर रहते हैं।

फिर प्रियतमा के साथ रहस्यमय और मनोरम वार्ता आदि का स्मरण कर उसे त्यागने में कौन समर्थ होता है? सुहृद्गण के स्नेहपाश में बद्ध और शिशुओं के मधुर अस्फुट कलवचनों में अनुरक्तिचित्त व्यक्तियों में ऐसा कौन है, जो उनका सम्पर्क त्याग सकता है?

स्नेहपात्र पुत्र, कन्या, भ्राता, भगिनी, असहाय, माता-पिता, सुन्दर घर, सुन्दर वस्त्र आदि, जीविका, गाय आदि पशु, सेवकवर्ग आदि-इन्हें कौन त्याग सकता है?

कोशकार (रेशम का कीड़ा) अपना घर बनाते-बनाते बाहर निकलने का मार्ग भी रुद्ध कर देता है और स्वयं उसमें बन्द हो जाता है। इसी प्रकार इन वस्तुओं में आसक्त चित्त अतृप्तकाम संसारी व्यक्ति विषयों के लोभ में संसार के कामों में अविरत लगे रहते हैं; जिह्वा और उपस्थ के सुखों को ही बड़ा मानकर दुरन्त मोहजाल से घिरे रहते हैं; विषय-स्पृहा से विमुक्ति पाने का और उपाय ही नहीं रहता।'

विषयों की ऐसी विषमय परिणति जानकर बुद्धिमान व्यक्तिमात्र का कर्तव्य है कि वह इस भजनोपयोगी नरदेह से श्रीकृष्णचरणों का भजन करे। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''नाहि भजो व्रजपति, कृष्णचन्द्र-चरण सुखसार''। 'हे मन! तुम विषयों की विषम गति जानकर भी व्रजपति श्रीकृष्ण के चरणों का भजन क्यों नहीं करते? तुम जिस सुख की खोज कर रहे हो, उस सुख का सार या चरम उपादेय आनन्द का मूल उत्स ही है-श्रीकृष्ण के श्रीचरणयुगल।'

आदमी की आनन्द पिपासा चिरन्तन है। वह जो कुछ करता है, आनन्द पाने के लिये; किन्तु प्रकृत आनन्द कैसे पाया जाय, वह नहीं जानता। शास्त्र वही रास्ता दिखाते हैं-यही 'दर्शन' शब्द का निगूढ़ अर्थ है। विषयानन्द भी उसी परब्रह्मानन्द की ही आभास-कणिका मात्र है, जिसमें विश्व के अधिकांश व्यक्ति प्रमत्त हैं। वह विराट आनन्द ही दु:खबहुल सृष्टि को पकड़े हुए है। ऐसा न होता, तो कोई भी जीवन-धारण करने में समर्थ न होता। इसीलिये श्रुति कहती हैं-''को ह्येवान्यात् क: प्राण्यात् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात् एष एवानन्दयति''। पुराण में भी है-''कस्तिष्ठेत जीवेद्वापि यद्यानन्दो न विद्यते।''

अब स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है-इस विराट् आनन्द का मूल उत्स कहाँ है? महाभाग शतकर्णि ने एक बार विजन आश्रम में चिन्तन किया था-''कुतो ह्येवायमानन्द:' अर्थात् 'इस आनन्द का प्रवाह कहाँ से आ रहा है?' निरन्तर परिवर्तनशील इस विश्व के अन्तराल में जो शाश्वत महासत्य के रूप में नित्य विराजमान् हैं, वे भगवान् ही मधुमय, आनन्दमय और रसमय हैं। इस अनन्त परिवर्तन के बीच सतत परिणाम के भीतर जो शाश्वत अर्थात् सर्वदा स्वस्वरूप में अवस्थित हैं, उस पुरुष का अनुसन्धान ही जीव की साधना है। उस महीयसी

महासाधनों में सिद्धि पाते ही सुख चिरस्थायी! इसीलिये श्रुति कहती है-''यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति'' अर्थात् जो 'भूमा' या नित्य शाश्वत विभुवस्तु हैं, उन्हीं भगवान् में ही सुख विराज रहा है; अल्प में अर्थात् अनित्य विषयों में सुख नहीं। वह भूमा आनन्द ही घनीभूत होकर अखिलरसामृत मूर्ति स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के रूप में व्रजप्रेमिकों के प्रेमनेत्रों को गोचरीभूत होता है। तब प्रेमिक का हृदय कितने आनन्द से भर जाता है, बताने को कोई भाषा नहीं। उस आनन्द को बताने में भाषा नितान्त अक्षम है; वह नीरव हो जाती है। परम प्रेमिक श्रील विल्वमङ्गल ठाकुर उस अभूतपूर्व आनन्द-अनुभूति को व्यक्त करने को कोई भाषा नहीं खोज पाये; एक अभूतपूर्व चमत्कृति के द्वारदेश पर आकर ठिठक कर खड़े हो गये, मंत्रमुग्ध की तरह बोले-''मधुरम् मधुरम् मधुरम् मधुरम्''। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''कृष्णचन्द्र चरण सुखसार''।

इसके बाद कहते हैं-''स्वर्ग आर अपवर्ग, संसार नरकभोग, सर्वनाश जनम-विकार''। पहले कहा गया है कि श्रीकृष्णचरणों के भजन में ही प्रकृत सुख है, अन्यत्र कहीं भी नहीं। कोई कह सकता है-कर्मकाण्डीय एवं ज्ञानकाण्डीय श्रुति में स्वर्ग-सुख और अपवर्ग या मुक्तिसुख का वर्णन मिलता है, वह!? इसी बात का उत्तर इस अर्धत्रिपदी में दिया गया है। जिन्होंने भगवद् भजनानन्द पा लिया है, उनके लिये संसार-सुख, स्वर्ग-अपवर्ग का सुख और नरकभोग सभी समान हैं। ''स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः'' (भा०), अर्थात् 'भगवद्भक्त स्वर्ग, अपवर्ग, नरक सबको समान देखते हैं'। जिससे शुद्ध चिदात्मा नित्य कृष्णदास जीव को बार-बार जन्म-मरण आदि विकारों से ग्रसित होना पड़े, वह स्वर्गादि सुख सुख नहीं है; वस्तुतः वही जीव के लिये सर्वनाश है॥९२॥

देहे ना करिहो आस्था, मरिले से यम शास्ता,
दुःखेर समुद्र कर्मगति।
देखिया शुनिया भजो, साधु-शास्त्र मत यजो,
युगल-चरणे करो रति॥९३॥

टीका -

देहे ना करिहो आस्था-देहेऽस्मिन् आस्थां मा कुरु। देहाभिमानं मा कुर्वित्यर्थः॥९३॥

युगलचरणों में रति :

सुधाकणिका व्याख्या : पूज्यपाद श्रील ग्रन्थकार महोदय अपने मन को युगल भजन का उपदेश देते हुए पहले देहाभिमानी मानव के दुःख या दुर्गति का वर्णन करते हैं-''देहे ना करिहो आस्था, मरिले से यम शास्ता, दुःखेर समुद्र कर्म गति''। इस नश्वर पाञ्चभौतिक देह में आस्था रखना उचित नहीं, कारण-देह-दैहिकादि में अभिनिवेश करने वाले व्यक्ति का मन हरिभजन में नहीं लग सकता। विश्वास, यत्न, अवलम्बन, अपेक्षा,

मनोयोग आदि 'आस्था' शब्द के आभिधानिक अर्थ हैं। पाञ्चभौतिक जड़ देह के प्रति इन सबका त्याग न करने से भगवद्जन सम्भव नहीं। बहुत लोग सोचते हैं-'अभी तो यौवनकाल है; बहुत दिन जीयेंगे; अभी मन भरकर विषयभोग कर लें, वृद्धावस्था में हरिभजन करने से ही काम चल जायेगा।' नश्वरदेह में ऐसा विश्वास रखना समुचित नहीं, कारण-यह किस मुहूर्त विनाश को प्राप्त हो जाय, कोई ठीक नहीं। हम लोगों को हर समय मृत्यु के लिये प्रस्तुत रहना होगा। जिसका पल भर में प्रलय हो जायेगा, उसी नश्वर देह में विश्वास कर शक्ति-सामर्थ्ययुक्त यौवनकाल विषयभोगों में बिताकर वृद्धावस्था को हरिभजन के लिये रखना-ऐसा निर्णय करना महामूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं। प्रह्लादजी ने दैत्य बालकों से कहा है-''कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह। दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्'' (भा० ७/६/१) अर्थात् 'हे साथियों! बुद्धिमान् व्यक्तियों का बाल्यकाल से ही भागवतधर्म का आचरण करना उचित, कारण-यह मानव जन्म अति दुर्लभ है; यद्यपि क्षणभंगुर है, तथापि परमार्थप्रद है।'

'आस्था' का दूसरा अर्थ लें, तो इस देह का यत्न या आदर करना भी उचित नहीं, क्योंकि उससे देहावेश जगता है, जो परमार्थ पथ पर मन को नहीं लगने देता। इस नश्वर देह का कितना ही आदरयत्न क्यों न किया जाय, यह एक दिन विनष्ट होगी ही। इसलिये देहरक्षा के लिये जितना आवश्यक है, उतना ही यत्न करना कर्तव्य है। सदा याद रखना होगा-जीवित रहने के लिये देह की रक्षा करनी होगी और भजन के लिये ही जीना होगा, विषय-भोगों के लिये नहीं। देह को भजन का यंत्र जानकर ही यथासम्भव यत्नादर करना कर्तव्य है, भोजन या भोग के लिये नहीं।

'आस्था' का एक अर्थ है 'अवलम्बन'। इस नश्वर देह के अवलम्बन से या भरोसे बुद्धिमान् व्यक्ति कभी भी भजन की अवहेलना कर मानव जीवन के अति मूल्यवान् मुहूर्तों को व्यर्थ न जाने दें; भवकूप में गिरे जीव की दुरवस्था की बात हर समय याद रखें। एक व्यक्ति शिकार के लिये गहन वन में पहुँचकर अनजाने में एक कूए में गिर पड़ा। कूए के दोनों ओर स्थित दो तृणगुच्छों को अवलम्बन बना (यही उसका आयुष्काल है) बीच में रुका रहा। नीचे एक भयावह सर्प (नरक), ऊपर एक व्याघ्र (स्वर्ग) मानो उसे खाने के लिये मुँह फाड़ रहे हैं। फिर जिन तृणगुच्छों को उसने अवलम्बन (सहारा) बना रखा है, उनकी जड़ों को एक सफेद एक काला दो चूहे काट रहे हैं (ये चूहे ही आयुष्काल के दिन और रात हैं)। ऐसी भयावह अवस्था जानकर भी वह व्यक्ति तृणगुच्छों में स्थित मधुचक्र (छत्ता) से टपकती मधु की बूँदें (विषयसुख) पीकर उनकी आस्वाद-मादकता में मत्त होकर अपने को सुखी मानकर निश्चिन्त है। मृत्यु को देख कर भी नहीं देख रहा। आह! मोह की कैसी महीयसी शक्ति है! ❋ इसलिये बुद्धिमान व्यक्ति इस देह के सहारे कभी निश्चिन्त न हों।

'आस्था' का एक अर्थ है 'अपेक्षा'। बहुत लोग सोचते हैं-'भजन की जो नियमावलि है, त्याग, वैराग्य, नियम निष्ठा की जो कठोरता है-उसे देखते हुए मेरा भजनमार्ग में प्रविष्ट होना या भजन करना क्या सम्भव है?'

❋ मेरे परमाराध्य श्रील गुरुमहाराज के 'भवकूप में जीव की गति' ग्रन्थ में इसका सचित्र वर्णन देखिये।

ऐसे लोग इच्छा होते हुए भी देह को महत्व देने के कारण भजनपथ का आश्रय लेने में सक्षम नहीं होते। महापुरुष उन्हें लक्ष्य कर कहते हैं-देह के कारण डर कर भजन का यह स्वर्ण अवसर मत खोओ। इस देह की कितनी ही चिन्ता क्यों न करो, एक दिन यह नष्ट होगी ही। इसीलिये नश्वर देह के मूल्यवान क्षणों को भजन में लगाकर ही धन्य होना होगा।

'आस्था' का एक अन्य अर्थ है 'मनोयोग'। कोई-कोई व्यक्ति भजनपथ पर आकर भी देह के प्रति मनोयोग रखने के कारण भजन में अग्रसर नहीं हो पाते। देह-दैहिकादि के प्रति उनका मनोयोग मन को सदैव जड़ीय विषयों में अभिनिविष्ट किये रखता है। नियमरक्षा के लिये यथासम्भव भजन करते भी हैं, पर वह मन संयोगविहीन यांत्रिक भजन ही करता है। फलस्वरूप बहुत समय में भी भजन की कोई उन्नति नहीं होती। श्रील ठाकुर महाशय की ऐसी अद्भुत वाग्मिता है कि उन्होंने 'आस्था' दो अक्षरों के एक शब्द से मानव को बड़ा मूल्यवान उपदेश दिया है।

इसके पश्चात् कहते है - ''मरिले से यम शास्ता''। जिन्होंने देवदुर्लभ भजनोपयोगी नरदेह पाकर भजन नहीं किया, उन्हें मृत्यु के पश्चात् अवश्य ही यमदण्ड भोगना पड़ेगा। वह यमदण्ड कैसा भीषण भयङ्कर है, नरकवर्णन (श्रीमद्भागवत, पञ्चमस्कन्ध) से पता चलता है-उसे पढ़कर सुनकर देह-मन सिहर उठते हैं!! केवल यमदण्ड भोग ही अन्तिम बात नहीं। ''दुखेर समुद्र कर्म गति''। यमदण्ड-भोग के पश्चात् भी कर्मों के अनुरूप अति हिंस्र सर्प व्याघ्र आदि नाना दु:खमय योनियों में जन्म और अनन्त जन्मों में जो सब दु:खभोग रहते हैं-वह मानो दुष्पार समुद्र की तरह है। इस प्रकार कर्म की गति ही महादु:खमय है।

अतएव ''देखिया शुनिया भजो, साधु शास्त्र मत यजो, युगल-चरणे करो रति''। मानवदेह की नश्वरता और जीवयोनियों की विभिन्न दु:खमय दुरवस्थायें देखकर तथा साधु-शास्त्रों से इस हरिभजनोपयोगी देह से भजन की अवश्य कर्तव्यता सुनकर उनके निर्देशानुसार महत् आश्रय में अवश्य ही भजन करे-यही बुद्धिमान् व्यक्ति का काम है। विशेषत: इस महाप्रभु के युग में श्रीश्रीराधाकृष्ण-युगलचरणों में रति-मति रखना या युगल-भजन करना ही उसका कर्तव्य है, कारण-ब्रह्मा के एक अहरोत्र अर्थात् प्राय आठ हजार युगों के पश्चात् यह युगल-भजन श्रीमन्महाप्रभु के अवतार में केवल एक बार वितरण किया जाता है। यह सुदुर्लभ युगलभजन अन्यान्य युगों में ब्रह्मा, महेश्वर, कमला, उद्धव आदि के लिये दुर्गम दुर्लभ होते हुए भी इस विशेष कलियुग में श्रीमन्महाप्रभु की कृपा से कलिहत जीवों को भी आस्वाद्य हो गया है। तभी इस अनर्पितचरी युगलभजन-पथ का आश्रय लेने में ही महाप्रभु के कलियुग के आदमी के जीवन की यथार्थ सार्थकता है। इसीलिये श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''साधु शास्त्र मत यजो, युगलचरणे करो रति'' अर्थात् श्रीमन्महाप्रभु के सम्प्रदाय के साधुओं ने अपने मत के अनुकूल विभिन्न शास्त्रवाणियाँ उद्धृत कर युगलभजन का उपदेश दिया है, इस कलियुग के आदमी को युगल-चरणों में रति-मति रखकर तदनुसार भजन करना होगा॥९३॥

ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड, केवलि विषेर भाण्ड,

अमृत बोलिया जेबा खाय।

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे

तार जन्म अधःपाते जाय॥९४॥

विषभाण्ड :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय ने कहा है कि नश्वर देह में आस्था स्थापित न कर या आवेश न रखकर साधुशास्त्र के आश्रय में युगल-भजन करें, इसी में जीवन की यथार्थ सार्थकता है। कर्मी-ज्ञानी सोच सकते हैं कि वेदोक्त ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड का आचरण करके भी तो आदमी स्वर्गसुख और मुक्तिसुख का अधिकार पाकर धन्य हो सकता है? ! श्रील ग्रन्थकर त्रिपदी ९२ में संसार, स्वर्ग, नरक और मुक्ति सभी को जीव का सर्वनाश बता चुके हैं, पर ऐसे प्रश्न की सम्भावना को देखकर पुनः कहते हैं-''ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड। वेद के कुछ अंशों में यज्ञ आदि कर्मों का प्रसङ्ग है, वही कर्मकाण्ड है। ज्ञान विषयवाले आरण्यक और उपनिषद ज्ञानकाण्ड में आते हैं। कर्म और ज्ञानकाण्ड के आधार पर पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दर्शनशास्त्र रचा गया है। महर्षि जैमिनि कृत कर्ममीमांसा मत से वेद में कर्म ही प्रतिपादित हुआ है-ज्ञान की बात निरर्थक है। जैमिनिसूत्र में है-''आम्नायस्य क्रियार्थत्त्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्'', अर्थात् 'जब कर्म ही वेदप्रतिपाद्य है, तब क्रियामूलक वाक्यों के अतिरिक्त वेद में अन्य जो कुछ है वह निरर्थक है।' समस्त वेदविधि निषेधात्मक है। अतएव उपनिषद् में ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' आदि जो वाक्य देखा जाता है वह अर्थवाद या केवल प्रशंसा वाक्य ही हैं।

पक्षान्तर से महर्षि वादरायण कृत ब्रह्ममीमांसा में देखा जाता हैं-ज्ञान ही वेद का प्रतिपाद्य है। श्रीपाद आचार्य शङ्कर ने ज्ञानकर्म के समुच्चयवाद को अस्वीकार किया है, फिर भी श्रीपाद रामानुज ने कर्मज्ञान के पश्चात् ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा प्रतिपादित की है। कारण यह है कि आदमी जब भूरि (बड़े) कर्मों के अल्प फल और नश्वरत्व को समझता है, अर्थात् जब यह जान लेता है कि बड़े यत्न परिश्रम से होने वाले याग यज्ञ आदि कर्म करके भी पुण्य क्षीण होने पर भोगस्थान स्वर्ग आदि से मर्त्यलोक में पुनः आना पड़ता है, तो उसे कर्मों में निर्वेद हो जाता है और शाश्वत शान्ति पाने के लिये सनातन ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है। श्रुति भी कहती है-''निर्वेदमाया नास्त्यकृतः कृतेन'', अर्थात् 'कृतकर्म द्वारा मोक्षलाभ नहीं होता, यह सोचकर ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति वैराग्य प्राप्त करेगा।'

वेदान्त के वृत्तिकार श्रीपाद बोधायनाचार्य ने कहा है-''वृत्तात् कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्मविविदिषा'' इति अर्थात् पूर्व सम्पन्न कर्मों के पश्चात् ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है। शारीरकसूत्र (ब्रह्ममीमांसा) जैमिनिकृत कर्ममीमांसा के साथ सहित या मिलित होकर सोलह अध्यायों में पूर्ण है। पूर्वमीमांसा के बारह अध्याय और

उत्तरमीमांसा के चार। वस्तुतः दोनों मीमांसाओं का ही एकशास्त्र है-कर्म और ब्रह्म इन दो विषयों के भेद से पृथक् नामों से अभिहित हैं।

गीता में भगवान् ने अपने श्रीमुख से मानव की चित्तशुद्धि के लिये निष्काम कर्मयोग का उपदेश दिया है। अनादि काल से ज्ञानसंसर्गविहीन जीव क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता, इसलिये कर्म करना ही होगा। वह पुनः बन्धन की सृष्टि न करे, इस प्रकार करना होगा। यही बात गीता में ''योगः कर्मसु कौशलम्'' इस प्रकार कही गई है। अर्थात् यदि मनुष्य कर्म के फलाफल की कोई आकांक्षा न कर भगवान् के आदिष्ट नित्यनैमित्तिकादि कर्म सम्पादित करे, तो वे कर्म ही भगवद् बहिर्मुख जीव को परम शुभ फल देकर कृतार्थ करेंगे। अर्थात् वे ही भगवद् उन्मुखता लाकर अनादि कर्म-संस्कार-दुष्ट हृदय में क्रमशः भक्ति का उन्मेष करेंगे।

ज्ञानी भी ब्रह्मसायुज्य का सङ्कल्प कर ज्ञानसाधना करते-करते स्वाधीन महत् कृपा से जब भक्ति या भजनरस का आस्वादन प्राप्त करते हैं, तब अनुभव करते हैं-''ब्रह्मानन्दभवेदेष चेत्परार्द्ध गुणीकृतः। नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणु तुलामपि॥'' अर्थात् 'यदि ब्रह्मानन्द परार्ध गुणा हो, तब भी भक्तिसुखसिन्धु के बिन्दु तुल्य भी नहीं हो सकता।' तब वे लोग ब्रह्मानन्द का नशा छोड़ शुद्ध भक्त बन जाते हैं। कर्मी ज्ञानी सभी को इस प्रकार भक्तिमन्दिर में लाने के लिये ही वेदशास्त्रों में कर्म और ज्ञान का उपदेश दिया गया है, बस। इसलिये समस्त जीवों को उनके यथार्थ कल्याण-पथ भक्तिमार्ग में स्थापित करना ही जीव-हितैषी वेद-शास्त्रों या वेदज्ञ मुनियों का प्रकृत अभिप्राय है।

वेदशास्त्रों का वह निगूढ़ अभिप्राय न समझकर जो लोग कर्म ज्ञान आदि को भी मानव के यथार्थ कल्याण के भिन्न-भिन्न पंथा (साधन) मानकर उनमें लगे रहते हैं और भक्ति का आश्रय नहीं लेते, वे लोग उसी प्रकार महा भ्रान्ति का कार्य करते हैं जैसे कोई विषभाण्ड का सेवन करे अमृत मानकर। ऐसे लोग आनन्द पाने के बदले विषज्वाला और अमरत्व के बदले बार-बार जन्म-मरण के कवलग्रस्त होते हैं। ये लोग ही यथार्थ मायाविड़म्बित जीव हैं।

उद्धवजी ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया था-

''वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता॥
भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः।
निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः॥''

(भा० १४/१४/१-२)

'हे कृष्ण! वेदवादी ऋषियों ने विविध प्रकार के (कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति आदि) मानव के कल्याण-साधनों का वर्णन किया है। उनमें विकल्परूप में सभी प्रधान हैं, अथवा एक प्रधान और अपर गौण हैं, अनुग्रह कर

बताइये। हे प्रभो! जिस भक्तिसाधना से चित्त सारी विषयासक्ति त्यागकर आप में निविष्ट होता है, आप द्वारा वर्णित (उस) भक्तियोग का श्रेष्ठत्व सर्ववादीसम्मत है या आपका ही मत है, निश्चय के साथ कहिये।'

उत्तर में श्रीकृण ने कहा (वही ११/१४/३,९)-

''कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥
× × ×
मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभः।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि॥''

'हे उद्धव! काल प्रभाव से प्रलय में वेदवाणी लुप्त हो गई, तो सृष्टि के प्रारम्भ में मैंने ही ब्रह्मा को मदात्मकधर्म भक्तियोगरूपी वेदसंज्ञितावाणी का उपदेश दिया था।.....हे पुरुषश्रेष्ठ! मेरी माया से विमोहितचित्त लोग ही रुचि और कर्म के अनुसार कर्म ज्ञान आदि को भी भिन्न-भिन्न श्रेयः साधन कहा करते हैं।'

जो माया-विमोहित लोग कर्म और ज्ञानकाण्डरूपी विषभाण्ड को अमृत मानकर सेवन करते हैं, वे ''नानायोनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे'' अर्थात् कर्मियों को कदाचित् स्वर्ग-प्राप्ति हो भी जाय, वे स्वर्ग भोगने के पश्चात् संसारदशा प्राप्त कर नाना योनियों में परिभ्रमण करते हैं और शूकर आदि योनियों में सतत विष्ठा भक्षण करते हैं। ज्ञानी लोग स्वयं को भले ही जीवन्मुक्त समझ लें, वस्तुतः ''केवल ज्ञान मुक्ति दिते नारे भक्ति बिने'' (चै० च०), इसलिये उनकी मुक्ति नहीं होती। उन मुक्ति-अभिमानियों को भी पुनः संसारदशा मिलती है और अधम योनि में कदर्य भक्षणादि करना पड़ता है। वस्तुतः ''तार जनम अधःपाते जाय'', अर्थात् जो देवदुर्लभ मानवदेह श्रीहरिभजन के लिये मिली है, वह उनके अधःपतन का कारण हो जाती है॥९४॥

राधाकृष्णे नाहि रति, अन्य देवे बोले पति,
प्रेमभक्ति-रीति नाहि जाने।
नाहि भक्तिर सन्धान, भरमे करये ध्यान,
वृथा तार ए छार जीवने॥९४॥

तुच्छ जीवन :

सुधाकणिका व्याख्या : पिछली त्रिपदी में श्रील ठाकुर महाशय ने कर्म ज्ञान की अकिञ्चित्करता प्रतिपादित की। अन्यान्य देव-देवियों के उपासक कह सकते हैं कि वे भी तो भक्त हैं, श्रीहरि की उपासना न कर

अन्य देवोपासना से ही धन्य हैं। इस त्रिपदी में इन्हीं लोगों को लक्ष्य कर कहा जा रहा है–''राधाकृष्णे नाहि रति, अन्य देवे बोले पति, प्रेमभक्ति–रीति नाहि जाने''। भक्ति भगवान् की स्वरूपशक्ति ह्लादिनी एवं सम्वित् की सारवृत्ति विशेष है; इसलिये भक्ति सच्चिदानन्दमयी है, मानव की जड़ीय मनोवृत्तिरूपा नहीं। साधनदशा में भी उसके स्वरूप की कोई हानि नहीं होती, कारण–भगवान् की स्वरूपशक्ति की वृत्ति होकर भी श्रीहरिचरणों में शरणागत भक्त की इन्द्रियादि में कृपापूर्वक स्वयं आविर्भूत होकर श्रवण–कीर्तन आदि क्रियाओं के रूप में प्रकाशित होती है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने अपने प्रीतिसन्दर्भ (६५) में भक्ति का स्वरूप–निरूपण करते हुए लिखा है–''अथ श्रुतौ च 'भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी, ति श्रुयते। तस्मादेवं विविच्यते। या चैवं भगवन्तं स्वानन्देन मदयति, सा किं लक्षणा स्यादिति। न तावत् सांख्यानामिव प्राकृतसत्त्वमयमायिकानन्दरूपा, भगवतो मायानभिभाव्यत्वश्रुतेः, स्वतस्तृप्तत्वाच्च। न च निर्विशेषवादिनामिव भगवत्स्वरूपानन्दरूपा, अतिशयानुपपत्तेः। अतो नतरां जीवस्य स्वरूपानन्दरूपा, अत्यन्त क्षुद्रत्वात्तस्य। ततो 'ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित्त्वय्येका सर्व संश्रये। ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जित' इति श्रीविष्णुपुराणानुसारेण ह्लादिन्याख्यतदीयस्वरूपशक्त्यानन्द– रूपैवेत्यवशिष्यते, यया खलु भगवान् स्वरूपानन्दविशेषी भवति।..... तस्या ह्लादिन्या एव कापि सर्वानन्दातिशायिनी वृत्तिर्नित्य भक्तवृन्देष्वेव निक्षिप्यमाना भगवत् प्रीत्याख्यया वर्तते। अतस्तदनुभवेन श्रीभगवानपि श्रीमद्भक्तेषु प्रीत्यतिशय भजत इति॥'' अर्थात् ''श्रुति में कहा है 'भक्ति ही भक्त को भगवद्धाम में ले जाकर भगवद्दर्शन कराती है। भगवान् भक्ति के वश हैं, भक्ति ही भगवत्प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है। अब यह विचार किया जा रहा है–जो भक्ति भगवान् को अपने आनन्द में आनन्दित किये रहती है, उसके लक्षण क्या हैं? सांख्यवादियों के मत के अनुसार भक्ति प्राकृत सत्त्वगुणमय मायिक आनन्द नहीं, कारण–यह कभी सुनने में नहीं आता कि भगवान् माया द्वारा वशीभूत होते हैं। निर्विशेषवादियों के मतानुसार भक्ति भगवत्स्वरूपानन्द भी नहीं, भक्ति से भगवान् अपने स्वरूपानन्द से भी कहीं अधिक आनन्द पाते हैं। जैवानन्दरूप भी भक्ति नहीं, कारण–वह अति क्षुद्र है। अतएव 'हे भगवन्! आपकी स्वरूपभूता ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्वित् यह त्रिविध चिन्मय स्वरूपशक्ति सर्वाधिष्ठानभूत आप में ही अवस्थान करती है। प्राकृत सात्त्विकी, तामसी और राजसी यह त्रिविध शक्ति गुणातीत आप में नहीं है, श्रीविष्णुपुराण की इस उक्ति के अनुसार भगवान् की ह्लादिनी नामक उनकी स्वरूपशक्तिआनन्दरूपा सर्वोत्तम चिन्मय शक्ति ही बचती है, इसी की वृत्ति 'भक्ति' है। इसके द्वारा भगवान् आनन्दस्वरूप होकर भी आनन्दविशेष आस्वादन करते हैं और दूसरों को आनन्द दान किया करते हैं। उसी ह्लादिनी की ही कोई एक सर्वानन्दातिशायिनी वृत्ति नित्य ही भक्तों में निक्षिप्त होकर 'भगवत्प्रीति' नाम से विराजती है। इसीलिये उसका अनुभव कर भगवान् भी अतिशय प्रीति के साथ भक्तों को भजते रहते हैं।''

श्रीहरि को छोड़ अन्य देव–देवियों के प्रति प्रीति को भक्ति नहीं कहा जाता, इससे स्पष्ट समझ में आता है। इसलिये जो लोग अन्य देवताओं को पति मानकर उनकी उपासना करते हैं और स्वयं को 'भक्त' मानते हैं, वे प्रेमभक्ति की रीति या स्वभाव नहीं जानते। कृष्णभक्त सेवा द्वारा श्रीकृष्ण को सुख या आनन्द देने के लिये जब निष्काम भाव से उनकी आराधना करते हैं, तभी उनकी स्वरूपशक्ति ह्लादिनी की वृत्ति भक्तों के चित्त में प्रविष्ट होकर श्रीकृष्ण को सुखकर एक अवस्था विशेष की सृष्टि करती है–उसी का नाम 'प्रेम' है। इसके बिना ह्लादिनी

का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, कारण–श्रीकृष्ण के स्वरूपानन्द से भी अधिक स्वादु भक्त का प्रेमानन्द श्रीकृष्ण को आस्वादन कराना ह्लादिनी का कार्य है। इसलिये जो इहलोक या परलोक की कोई कामना–वासना लेकर श्रीकृष्ण–आराधना करते हैं, उनके भीतर ह्लादिनी नहीं आ सकती। तभी कहा गया है–''भुक्ति मुक्ति सिद्धि वाञ्छा मने यदि रय। साधन करिलेओ प्रेम उत्पन्न ना हय॥'' (चै० च०) अन्य देव–देवियों के आराधक केवल इहलोक–परलोक की सुख–सम्पदा आदि की कामना से उनकी सेवा कर स्वयं को भक्त समझते हैं; वे प्रेमभक्ति की रीति या स्वाभाविक धर्म बिल्कुल ही नहीं जानते, यह कहना ही पर्याप्त।

श्रील ठाकुर महाशय तभी कहते हैं–'नाहि भक्तिर सन्धान, भरमे करये ध्यान, वृथा तार ए छार जीवन''। भक्ति का स्वरूप क्या है, उसका स्वभाव क्या है इत्यादि विषयों का उन्हें कुछ पता ही नहीं; वे भ्रम या भ्रान्तिवश अन्य देव–देवियों की ध्यान–धारणा किया करते है। बहिर्मुख लोगों और कर्मी–ज्ञानियों की तरह उनका जीवन भी 'छार' (अति तुच्छ) है॥९५॥

ज्ञान कर्म करे लोक, नाहि जाने भक्ति योग,
नाना मते हइया अज्ञान।
तार कथा नाहि शुनि, परमार्थ तत्त्व जानि,
प्रेमभक्ति भक्तगण प्राण॥९६॥

टीका –

नाहि शुनि–श्रवणं न कुर्याम्। परमार्थ तत्त्व जानि–परमार्थ तत्त्वं ज्ञातव्यम्॥९६॥

परमार्थ तत्त्व :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय प्रकृत परमार्थतत्त्व प्रेमभक्ति के निरूपण में पहले उन लोगों की बात कहते हैं, जो भक्तितत्त्व को नहीं जानते–''ज्ञान कर्म करे लोक, नाहि जाने भक्तियोग, नाना मते हइया अज्ञान''। भक्तितत्त्व से अनभिज्ञ लोग ही कर्म, ज्ञान, योगादि का आश्रय लेते हैं। भगवान् ने सार्वभौम गीताशास्त्र में कर्म ज्ञान आदि की बात कर भजननिष्ठ भक्त को ही श्रेष्ठयोगी बताया है–

''तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥''

(६/४६–४७)

'हे अर्जुन! कर्मियों, कृच्छ चान्द्रायण आदि तपोनिष्ठ तपस्वियों, निर्गुण, ब्रह्मोपासक ज्ञानियों की अपेक्षा योगी श्रेष्ठ हैं, अतएव तुम योगी बनो। जितने प्रकार के योगी हैं, उन सबमें भी श्रेष्ठ हैं भक्तियोग-अनुष्ठाता अर्थात् जो श्रद्धावान् होकर मेरा भजन करते हैं।' श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''नाना मते हइया अज्ञान'', अर्थात् मूढ़ या अज्ञ लोग भक्ति का स्वरूप, आकृति, प्रकृति, फल आदि न जानकर ही भक्ति-साधन त्याग कर कर्म-ज्ञान आदि साधना में तत्पर होते हैं।

भक्ति भगवान् की स्वरूपशक्ति ह्लादिनी और सम्वित् की सारवृत्ति है, इसकी किञ्चित् चर्चा हम पिछली त्रिपदी की व्याख्या में कर चुके हैं। श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण ने श्रुतिवाणी उद्धृत कर लिखा है- ''विज्ञानघन आनन्दघन सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठतीति श्रुतेः (गोपालतापनी) इतरथा भगवद्वशीकारहेतुरसौ न स्यात्। तथाभूतायास्तस्या भक्तकायादिर्वृत्ते तादात्म्यनाविर्भूतायाक्रियाकारात्वम्'', अर्थात् 'घनीभूत अनुभूति और सान्द्र (घना) आनन्द-सच्चिदानन्दरसस्वरूप भक्तियोग में अवस्थान करते हैं। इसके बिना भक्ति कभी भी भगवान् की वश्यता का हेतु नहीं हो सकती। वह चिन्मयी वृत्ति या भगवान् की स्वरूपशक्ति ह्लादिनी एवं सम्वित् की सारवृत्ति होकर भी भगवत् पादपद्मों में शरणागत भक्त की इन्द्रियवृत्ति में आविर्भूत होकर या तादात्म्य प्राप्त कर स्वयं क्रियाशील होती है।' श्रीपाद विद्याभूषण कहते हैं-''सा तथाभूता नित्यधाम्नि नित्यपार्षदेषु नित्यं चकास्ति सुरसरिदिव तद्भक्तप्रणाल्या प्रपञ्चेऽवतरति'', अर्थात् 'जीव का हृदय श्रवण-कीर्तनादि से परिमार्जित हो जाता है, तो भगवान् के नित्य पार्षदों में विराजित प्रेमभक्ति मन्दाकिनी-प्रवाह की तरह साधुभक्तरूपी प्रणालिका के माध्यम से प्रपञ्च में अवतरण करती है और जीवहृदय में प्रविष्ट होकर नित्यसिद्ध श्रीकृष्णप्रेम का आविर्भाव सम्भव बनाती है।' कर्म ज्ञान आदि में साध्य साधन अलग होते हैं, किन्तु भक्ति में जो साध्य हैं वही साधन है। कोई कह सकते हैं-''साध्यतेऽनेन'', अर्थात् जिसके द्वारा क्रिया का फल साधित होता है, उसी को साधन कहा जाता है और ''साध्यतेऽसौ'' अर्थात् क्रिया के द्वारा जो साधित होता है, वह फल ही साध्य है-फिर साध्य साधन एक कैसे हो सकते हैं? वे लोग उल्लिखित सिद्धान्त पर विचार करें-एक ही 'भक्ति' नाम भगवान् की स्वप्रकाश चिदानन्दमयी शक्ति के प्रथम आविर्भाव का नाम 'साधन' है, फलरूप में द्वितीय आविर्भाव का नाम ही 'साध्य' है। अन्यान्य साधनाओं से चिन्मय भक्तिसाधना की यह महान विशिष्टता है।

भक्ति की आकृति-प्रकृति आदि के विषय में प्रीतिसन्दर्भ (अनु० ७८) में लिखा है-''निखिल परमानन्दचन्द्रिका-चन्द्रमसि सकलभुवन-सौभाग्यसार-सर्वस्व सत्त्वगुणोपजीव्यानन्तविलासमयामायिकविशुद्ध-सत्त्वानवरतोल्लासदसमोर्द्धमधुरे श्रीभगवति कथमपि चित्तावतारादनपेक्षितविधिः स्वरसत एव समुल्लसन्ती विषयान्तरैरनवच्छेद्या तात्पर्यान्तरमसहमाना ह्लादिनी-सार-वृत्तिविशेषस्वरूपा भगवदानुकूल्यात्मक-तदनुगत-तत्स्पृहादिमय ज्ञानविशेषाकारा तादृशभक्तमनोवृत्ति-विशेष-देहापीयूषपुरतोऽपि सरसेन स्वेनैव स्वदेहं सरसयन्ती भक्तकृतात्मरहस्यसङ्गोपन-गुणमयरसना वाष्पमुक्तादिव्यक्तपरिस्कारा सर्वगुणैकनिधान-स्वभावादासीकृताशेष-पुरुषार्थ-सम्पत्तिका भगवत्-पातिव्रत्यव्रतवर्यपर्याकुला भगवन्मनो- हरणकोपायहाररूपा भागवती प्रीतिस्तमुपसेवमाना विराजत इति।''

'भागवती प्रीति (भक्ति) समस्त परमानन्दचन्द्रिका का चन्द्रमा, सभी भुवनों का सौभाग्य- सारसर्वस्व, सत्त्वगुण का उपजीव्य है; अनन्त विलासमय मायातीत विशुद्धसत्त्व के अनवरत उल्लास के लिये असमोर्ध्व-मधुर भगवान् में किसी भी प्रकार चित्त की अवतारणा होने पर किसी विधि की अपेक्षा न कर (जो) स्वभावत: उल्लास प्राप्त करती है; विषयान्तर द्वारा खण्डित नहीं होती; अन्य तात्पर्य सहन नहीं कर सकती; ह्लादिनीसार वृत्तिविशेष जिसका स्वरूप है, भगवदानुकूल्यात्मक आनुकूल्य के अनुगत भगवत्प्राप्ति-अभिलाषादि से युक्त ज्ञानविशेष जिसका आकार है; ऐसे भक्त की मनोवृत्तिविशेष जिसकी देह है; अमृतपूर से भी अधिक सरस स्वयं के द्वारा जो अपनी देह को रसयुक्त करती है; भक्त द्वारा आत्म-रहस्य-सङ्गोपन जिसकी गुणमय रसना (करधनी) है; भक्त के अश्रुरूपी मुक्ता आदि जिसके हार आदि भूषण हैं; समस्त गुण स्वयं में निहित रखना ही जिसका स्वभाव है; अशेष पुरुषार्थसम्पत्ति को जिसने दासी कर रखा है; भगवान् में पातिव्रत्य-व्रतनिष्ठा द्वारा जो सतत आकुल है; भगवान् का मन हरण करना ही जिसका एकमात्र उपाय है-इस प्रकार भागवती प्रीति भगवान् की समाधिरूप से सेवा कर सतत विराज रही है।' ऐसा कौन है, जो साधु-शास्त्रों से भक्ति की यह गुणावलि जानकर भक्ति-साधना के आश्रय को छोड़ ज्ञानकर्म आदि साधना में तत्पर होगा? ऐसा कौन प्यासा है जो अमृतसिन्धु त्यागकर मरीचिका के पीछे दौड़ता है? ऐसा कौन दुग्धकामी है, जो कामधेनु छोड़कर गर्दभी (गधी) का आश्रय लेगा? इसलिये भगवद्भक्ति का आश्रय त्यागकर जो कर्म-ज्ञान आदि साधना में तत्पर होते हैं; वे नितान्त ही मायाविड़म्बित अज्ञ लोग हैं-इसमें सन्देह नहीं।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''तार कथा नाहि शुनि, परमार्थ तत्त्व जानि, प्रेमभक्ति भक्तगण प्राण'', अर्थात् जो लोग अमृतमय भक्तिसाधना त्यागकर कर्म-ज्ञानादि साधन में तत्पर हैं, कल्याण कामी व्यक्ति उनका 'सङ्ग' कदापि न करें। सङ्ग की बात दूर, उनकी बात भी न सुनें। प्रेमभक्ति को ही परमार्थ तत्त्व या परमपुरुषार्थ समझें। काशी में संन्यासियों की सभा में श्रीमन्महाप्रभु ने वेदान्त की ज्ञानपरक व्याख्या का खण्डन कर भक्तिमूलक व्याख्या की, तो प्रेम का ही परमपुरुषार्थत्व स्थापित किया -

''पञ्चमपुरुषार्थ सेइ प्रेम महाधन।
कृष्णेर माधुर्यरस कराय आस्वादन॥
प्रेमा हइते कृष्ण हय निजभक्त-वश।
प्रेमा हइते पाइ कृष्णसेवासुखरस॥''

(चै० च० आदि, परि० ७)

तभी प्रेमभक्ति भक्तों का प्राण या जीवातु बनी रहती है। भक्तजन सतत प्रेमभक्ति की प्यास में अधीर होकर परम उत्कण्ठा के साथ भक्तिजीवन बिताते हैं। इससे पहले भी कहा है-''जल बिनु जेनो मीन, दु:ख पाय आयुहीन, प्रेम बिनु एइमत भक्त''॥९६॥

जगत् व्यापक हरि, अज भव-आज्ञाकारो,

मधुर मूरति लीलाकथा।

एइ तत्त्व जाने जेइ, परम उत्तम सेइ,

तार सङ्ग करिबो सर्वथा॥९७॥

स्वरूप, ऐश्वर्य और माधुर्य तत्त्व :

सुधाकणिका व्याख्या : अब श्रील ठाकुर महाशय भगवान् के स्वरूप-ऐश्वर्य-माधुर्य तत्त्व के विषय में सुनिपुण एवं माधुर्य के उपासक श्रेष्ठ भक्तों के सङ्ग की कामना करते हुए कहते हैं-''जगत् व्यापक हरि अजभव आज्ञाकारी, मधुर मूरति लीलाकथा''। 'जगत् व्यापक हरि' से भगवान् के स्वरूप की, 'अज भव आज्ञाकारी' से उनके ऐश्वर्य की और 'मधुर मूरति लीलाकथा' से उनके माधुर्य की बात कही गई है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है-''भगवांस्तावदसाधारणस्वरूपैश्वर्यमाधुर्यस्तत्त्वविशेष। तत्र स्वरूपं परमानंद, ऐश्वर्यमसमोर्ध्वानन्तस्वाभाविकप्रभुता, माधुर्यमसमोर्ध्वतया सर्वमनोहरं स्वाभाविकरूपगुणलीलदि सौष्ठवम्' (भा० १०/१२/११) की लघुतोषणी टीका) अर्थात् किसी असाधारण स्वरूप, ऐश्वर्य और माधुर्यमय तत्त्वविशेष का नाम 'भगवान्' है। परमानन्द ही भगवान् का स्वरूप है, असमोर्ध्व अनन्त स्वभाविक❋ प्रभुता ही उनका ऐश्वर्य है। असमोर्ध्व स्वभाविक रूप, गुण, लीला आदि के सौष्ठव के या सर्वमनोहरता के धर्म का ही नाम 'माधुर्य' है। श्रीजीव ने 'परमानन्द' शब्द से विश्वव्यापक ब्रह्मस्वरूप का ही इङ्गित किया है। ब्रह्म का स्वरूप सच्चिदानन्द है-यह श्रुति में नाना स्थानों पर वर्णित है। ''सच्चिदानन्दमयं परब्रह्म'' ''सर्वपूर्णरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः'' ''सत्यं ज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म'' ''विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म'' आदि। इसलिये परमानन्द शब्द से विभु ब्रह्मतत्त्व ही समझा जाता है-यही भगवान् का स्वरूप है। श्रील ठाकुर महाशय ने 'जगत व्यापक हरि' कहकर श्रीहरि का स्वरूपतत्त्व निरूपित किया।

श्रीकृष्ण की असमोर्ध्व अनन्त स्वाभाविक प्रभुता ही ऐश्वर्य है, श्रील ग्रन्थकार ने 'अजभव आज्ञाकारी' कहकर यही तथ्य प्रकट किया है। ''ब्रह्मादि परिभावक प्रभावहि ऐश्वर्यम्'' (बलदेव विद्याभूषण) अर्थात् ब्रह्मा शिव आदि को नियंत्रित करने वाले प्रभाव को ही ऐश्वर्य कहा जाता है।

श्रीजीव के अनुसार सर्वमनोहर स्वाभाविक रूप-गुण-लीलादि का सौष्ठव या सुचारुता ही माधुर्य है। श्रील ठाकुर महाशय ने यह बात स्पष्ट की है ''मधुर मूरति लीलाकथा'' कहकर। वस्तुतः स्वयं भगवान् माधुर्य-मूर्ति श्रीकृष्ण में ही असमोर्ध्व स्वरूप और ऐश्वर्य विराजता है। स्वरूप और ऐश्वर्य की भित्ति पर ही

❋ अग्नि की दाहिका शक्ति की तरह स्वाभाविक, अग्नितादात्म्प्राप्त लोहे की दाहिकाशक्ति की तरह आगन्तुक नहीं।

माधुर्य की प्रतिष्ठा है। स्वरूप और ऐश्वर्यविहीन केवल रूप-लीलादि का सौष्ठव या मुग्धता ही माधुर्य नहीं। ऐसा हो, तो एक क्रीड़ाचपल साधारण बालक की मुग्धता को भी 'माधुर्य' संज्ञा देनी पड़े।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है-''महैश्वर्यस्य द्योतने वाद्योतने च नरलीलत्वानतिक्रमो माधुर्यम्। यथा पूतनाप्राणहारित्वेऽपि स्तनचूषणलक्षण-नरबाललीलत्वमेव। महाकठोरशकटस्फोटनेऽप्यति-सुकुमार-चरण-त्रैमासिक्योत्तानशायिबाललीलत्वम्। महादीर्घदामाशक्यबन्धत्वेऽपि मातृभीतिवैक्लव्यम्। ब्रह्मबलदेवादि मोहनेऽपि सर्वज्ञत्वेऽपि वत्सचारणलीलत्वम्। तथा ऐश्वर्यसत्त्व एव तस्याद्योतने दधिपयचौर्यं गोपस्त्री-लाम्पट्यादिकम्।'' (रागवर्त्मचन्द्रिका-द्वितीय प्रकाश) अर्थात् पारमैश्वर्य का प्रकाश हो या न हो, यदि नरलीलोचित भाव का अतिक्रम न हो, तो उसी को 'माधुर्य' कहा जाता है। जैसे पूतना के प्राणवध के समय भी श्रीकृष्ण ने नरबालक की तरह उसके स्तन चूसे हैं। दामबन्धन-लीला में महादीर्घ रज्जु से उन्हें बाँधना असमव हो जाने पर भी माता यशोमती के डर से विकल हो गये हैं। ब्रह्ममोहन लीला में श्रुतियों के सर्वज्ञ, सर्ववित्, स्वयं भगवान् ने अज्ञ की तरह गोवत्सों की खोज की है। ब्रह्माजी द्वारा बलदेव आदि को विमोहित किये जाने पर भी मधुर गोवत्स-चारण लीला प्रकट की है। फिर अनन्त ऐश्वर्यवान् होकर उसे किञ्चित् भी व्यक्त न कर गोपियों के घरों से दधिनवनीत आदि चुराते हैं। शास्त्रों में 'नवनीत चौर' नाम से जाने जाते हैं और मोहनरूप से, वंशीस्वर से गोपयुवतियों को आकर्षित कर 'गोपस्त्रीलम्पट' नाम से विख्यात हुए हैं।' श्रीकृष्ण की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से उनमें सर्वज्ञता और मुग्धता एक साथ ही एक समय समाविष्ट है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, कारण-परस्पर विरुद्ध धर्मों की समाश्रयता ही भगवत्ता है। श्रीपाद लीलाशुक ने कहा है-''मौग्ध्ये च सार्वज्ञे च सार्वभौममिदं महः।''

श्रीजीव गोस्वामिपाद ने इस स्वरूप-ऐश्वर्य-माधुर्य अनुभव की साधना के सम्बन्ध में लिखा है-''तत्तदनुभवसाधनञ्च क्रमेण ज्ञानं ज्ञेयं भक्त्याख्या गौरवमिश्राप्रीतिः शुद्धप्रीतिश्च'', अर्थात् ज्ञानसाधना द्वारा स्वरूप का अनुभव, गौरव-सम्भ्रमयुक्त ऐश्वर्य भावमय प्रीति द्वारा ऐश्वर्य का अनुभव और शुद्धप्रीति या व्रजप्रेम के द्वारा माधुर्य का अनुभव होता है। इस त्रिविध साधन के अभाव में मायाबाद्ध मनुष्य को इन तीनों तत्त्वों में से किसी का भी किञ्चित् मात्र भी अनुभव नहीं होता। भगवान् ने स्वयं कहा है-''नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया-समावृतः'' (गीता-७/२५)-'हे अर्जुन! मैं अपनी योगमाया से समावृत रहने के कारण सभी के आगे प्रकाशित नहीं होता।'

ऐश्वर्यज्ञानयुक्त भक्त जब श्रीहरि का ऐश्वर्य देखते हैं, तो उनमें सम्भ्रम-गौरव का उदय होता है और सम्बन्ध में शिथिलता आती है; किन्तु व्रजवासियों के विशुद्ध माधुर्यज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि श्रीकृष्ण के शत-शत ऐश्वर्य अपनी आँखों से देखकर भी उनके चित्त में कोई सम्भ्रम-सङ्कोच नहीं होता, सम्बन्ध में शैथिल्य भी नहीं आता। सम्बन्ध और गाढ़ा ही होता है। ''देखिले ना माने ऐश्वर्य केवलार रीति'' (चै० च०)। व्रज में श्रीकृष्ण की बाल्यलीला से आरम्भ कर सर्वलीलामुकुटमणि रासलीला तक जो विशाल विपुल ऐश्वर्य प्रकाशित हुआ है, वह कल्पनातीत है; किन्तु व्रजवासियों के आगे वह सब असीम माधुर्यमण्डित होकर प्रकट हुआ है। पूतना, तृणावर्त, वकासुर, अघासुर आदि का निधन; ब्रह्ममोहन, कालीयदमन, दावानल भक्षण, गोवर्धन-धारण

आदि असंख्य लीलायें इसका ज्वलन्त साक्ष्य प्रदान करती हैं। श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण ने अपने सिद्धान्तरत्न ग्रन्थ में लिखा है–''माधुर्यज्ञाननिष्ठा– नामैश्वर्यज्ञानं त्रिवेण्यां सरस्वतीप्रवाहवदेगौणतयास्ति। विरहे विस्मये विपदि च तस्योदयपर्वणि सारस्वतस्येव प्रवाहस्य'', अर्थात् माधुर्यज्ञाननिष्ठ व्रजभक्तों का ऐश्वर्यज्ञान त्रिवेणी में सरस्वती–प्रवाह की तरह गौणरूप से अवस्थान करता है। जैसे पूर्णिमा आदि पर्वयोगों में सरस्वती प्रवाह का क्षणिक प्रकाश होता है, वैसे ही विरह में, विस्मय में, विपदकाल में व्रजवासियों का ऐश्वर्यज्ञान क्षणभर के लिये प्रकट होकर धैर्य देकर उनकी प्राणरक्षा मात्र करता है। किन्तु इससे भी उनके चित्त में किसी प्रकार का सम्भ्रम–सङ्कोच उत्पन्न नहीं होता, कारण–श्रीकृष्ण का ऐसा ऐश्वर्य भी व्रजवासियों के विशाल माधुर्यसिन्धु के अतल में विलीन होकर माधुर्य की ही परिपुष्टि करता है। वे लोग श्रीकृष्ण के सुविशाल माधुर्यसिन्धु में अविरत सन्तरण–सुख आस्वादन करते हैं।

व्रजवासी नित्य पार्षदों की बात दूर; श्रीविल्वमङ्गल ठाकुर एक साधक–जीव हैं; उनके भी प्रेमाञ्जनयुक्त भक्तिलोचनों में जो नवनवायमान श्रीकृष्णमाधुर्य स्फुरित हुआ था, श्रीकृष्णकर्णामृत ग्रन्थ उसका ज्वलन्त साक्ष्य आज भी देता है–श्रीकृष्ण के माधुर्यरसास्वादन के अनन्त अशेष उत्स के रूप में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया जा सकता है। कवि के हृदय में श्रीकृष्णमाधुरी का जो स्फुरण हुआ था, उसे क्या पूरा का पूरा वे भाषा में व्यक्त कर पाये थे? सम्भवत: शतांश का एकांश ही भाषा में व्यक्त हुआ है। किन्तु वह भाषा भी अन्त में स्तम्भित हो खो गई है; केवल ''मधुरम् मधुरम् मधुरम् मधुरम्''–बस इसी की आवृत्ति की है।

यही श्रीकृष्णमाधुर्य–अनुभूति की चरम परिणति है। श्रीकृष्णमाधुरी माधुर्यनिष्ठ रसिक भागवतजनों के आगे प्रकाशित हो समस्त विश्व को सुन्दर रसमय और मधुमय बना देती है! उन लोगों के ऊपर–नीचे आगे–पीछे सभी ओर महामाधुर्यपारावार अनन्त उत्ताल तरङ्गों से उच्छलित होता रहता है। प्रेमिक भागवतगण देहगेह भूलकर उन्हीं महामाधुर्य–तरङ्गों में मग्न हो जाते हैं। व्रजरसोपासना की यही परम और चरम परिणति है। यहीं पर भगवत् अनुभूति की शेष सीमा है, कारण–'माधुर्य ही भगवत्ता का सार है'। ''माधुर्य भगवत्तासार, व्रजे कैलो परचार, ताँहा शुक व्यासेर नन्दने। स्थाने–स्थाने भागवते, वर्णियाछे नाना मते, जाहा शुनि माते भक्तगणे॥'' (चै० च०)

श्रीशुकमुनि ने सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत में स्थान–स्थान पर श्रीकृष्णमाधुर्य का वर्णन किया है, फिर भी अब तक विश्वसाधकों के लिये इस माधुर्यभण्डार का द्वार रुद्ध ही था। व्रजेन्द्रनन्दन ने अपनी असमोर्ध्व माधुरी के आस्वादन के लोभ से श्रीराधा की भाव–कान्ति अङ्गीकार कर श्रीगौराङ्ग रूप में अवतीर्ण होकर स्वयं श्रीकृष्णमाधुरी का यथेष्ट आस्वादन किया और उस रहस्यमय माधुर्यभण्डार का द्वार खोलकर कलिहत जीवों के लिये भी वह माधुर्य आस्वादन सुलभ कर दिया। फिर इन कृष्णमाधुरी का अधिक से अधिक आस्वादन सम्भव हो, इसके लिये श्रीमन्महाप्रभु के श्रीचरणाश्रित श्रीरूप–सनातन आदि गोस्वामिपादगण ने उसी मधुर भजन का मणिमन्दिर शास्त्रयुक्ति एवं स्वानुभव–प्रमाण की अचल भित्ति पर स्थापित किया। इतना ही नहीं; भजनरस में मग्न होकर हर समय भावलोक में रहते हुए भगवत् माधुरी का रसास्वादन कैसे किया जाता है–स्वयं आचरण द्वारा विश्वसाधकों को इस बात की शिक्षा दी।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं–''एइ तत्त्व जाने जेइ, परम उत्तम सेइ, तार सङ्ग करिबो सर्वथा'', अर्थात् जो इन सब रहस्यमय तत्त्वों में सुनिपुण हैं, वे रसिक भक्तगण ही सङ्गयोग्य सर्वश्रेष्ठ भागवत हैं। माधुर्यास्वादन की लालसा रखने वाले साधकों को सदा उनके सङ्ग में रहकर भगवत् माधुर्य रस का आस्वादन करना होगा॥९७॥

परम नागर कृष्ण, ताहे हओ अति तृष्ण,
भजो ताँरे व्रजभाव लैया।
रसिक भक्त सङ्गे, रहिबो पीरिति रङ्गे,
व्रजपुर बसति करिया॥९८॥

टीका –

भजो ताँरे–श्रीकृष्णं भज। पीरिति रङ्गे.....युगल–प्रेमकथा रङ्गेण॥९८॥

व्रजभाव का भजन :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय अब व्रजभजन की सार बात बता रहे हैं। ''परम नागर कृष्ण, ताहे हओ अति तृष्ण, भजो ताँरे व्रजभाव लैया''–'हे मन! परम नागर श्रीकृष्ण के प्रति सतृष्ण होओ–गाढ़ तृष्णा का पोषण करो। और, व्रजभाव का आश्रय लेकर उनका भजन करो।' श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण ने श्रीकृष्ण के प्रति तृष्णा को ही भक्ति कहा है–''कृष्णमात्रैक तृष्णा, कृष्णबिनान्यतृष्णाशून्या भक्तिः'', अर्थात् 'एकमात्र कृष्ण में ही तृष्णा और कृष्ण को छोड़ अन्यत्र तृष्णा के अभाव को ही भक्ति कहा जाता है।' यही अति तृष्णा या गाढ़ तृष्णा, कारण–तृष्णा या पिपासा जब तरल होती है, तो जल की बात मन में रहती है और अन्य विषयों की बात भी। तृष्णा जब गाढ़ होती है, तो एकमात्र जल में ही आवेश उत्पन्न होता है। इस गाढ़ तृष्णा को ही रागभक्ति का स्वरूपलक्षण कहा गया है–''इष्टे गाढ़ तृष्णा 'राग' – एइ स्वरूप लक्षण। इष्टे आविष्टता–एइ तटस्थ लक्षण॥'' (चै० च०) अर्थात् श्रीकृष्ण में गाढ़ पिपासा ही राग का स्वरूपलक्षण या आकृति और प्रकृति है, उसके परिणामस्वरूप श्रीकृष्ण में ऐसा आवेश उत्पन्न होता है कि कृष्णेतर वस्तु में किसी प्रकार का आवेश नहीं रहता।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं–'परम नागर श्रीकृष्ण के प्रति हम लोगों को अति तृष्ण होना होगा, गाढ़ पिपासा का पोषण करना होगा। श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरियों के विदग्ध नायक हैं, इसीलिये वे 'नागर' हैं; फिर वे जब व्रजसुन्दरी–शिरोमणि राधारानी के प्राणपति हैं, तब वे 'परम नागर' हैं। तभी 'परम नागर कृष्ण, ताहे हओ अति तृष्ण' कहकर श्रील ठाकुर महाशय युगल उपासक गौड़ीय वैष्णवों को श्रीश्रीराधाकृष्ण के रागभजन का ही

उपदेश दे रहे हैं। मञ्जरीभाव या राधाकिङ्करीभाव के उपासक गौड़ीय वैष्णवों की भावोल्लासा रति है।' श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने लिखा है–''सञ्चारी स्यात् समोना वा कृष्णरत्याः सुहृद्रतिः। अधिका पुष्यमाणा चेद्भावोल्लास इतीर्यते॥'' अर्थात् ''मधुररस में राधारानी की सखियों में जो राधाकृष्ण में समान प्रीति रखती हैं या जिनकी कृष्णप्रीति की तुलना में राधारानी के प्रति कुछ कम प्रीति होती है, उनके कृष्णरतिरूपी स्थायी भाव में राधाप्रीति सञ्चारी होगी। फिर यदि उनकी राधाप्रीति कृष्णप्रीति से अधिक है, तो वह 'भावोल्लासा रति' कही जायेगी; वही राधास्नेहाधिकाओं के स्थायीभाव के रूप में मानी जायेगी।'' मुख्यतः श्रीराधा के आश्रय में ही गौड़ीय वैष्णवों का श्रीकृष्णभजन है। ''आमार ईश्वरी होन वृन्दावनेश्वरी। ताँर प्राणनाथ बोलि भजि गिरिधारी॥'' ''तवैवास्मि तवैवास्मि न जीवामि त्वया बिना। इति विज्ञाय देवि त्वं नय मां चरणान्तिकम्॥'' यही मञ्जरीभावोपासकों का मूलमंत्र है। तब श्रीराधा के प्रति अति तृष्ण होने के लिये न कहकर श्रील ठाकुर महाशय श्रीकृष्ण के प्रति अतितृष्ण होने को क्यों कहते हैं? ऐसा प्रश्न सम्भव है। श्रील ग्रन्थकार ने केवल कृष्ण न कहकर परम नागर कृष्ण कहा है। इस 'परम नागर कृष्ण' में कुछ गूढ़ व्यञ्जना भी निहित है। किसी लीलाविशेष में राधास्नेहाधिका मञ्जरीभाव के साधक को श्रीराधा की सेवा के लिये श्रीकृष्ण में अति तृष्ण होकर युगल–सेवन का चिन्तन करना पड़ता है।

साधक ने अन्तश्चिन्तित सिद्धस्वरूप से लीलाचिन्तन में उत्कण्ठिता श्रीमती को अभिसार कराया है। श्रीमती किङ्करी की सहायता से कुञ्ज–सज्जा कर नागर की प्रतीक्षा में रास्ते की ओर देख रही हैं। सङ्केत का समय निकल गया। श्रीमती अधीर हो कृष्णविरह में रोदन करने लगीं। किङ्करी उन्हें धैर्य बँधाकर श्रीकृष्ण को खोजने चल पड़ी। उसके हृदय में विपुल कृष्णतृष्णा है। नागर को खोजते–खोजते थक गई, वे कहीं नहीं मिले, तो अधीर होकर रोने लगी–'हा राधानाथ! हा परम नागर! कहाँ हो, दर्शन दो। तुम्हारी प्राणप्रिया तुम्हारे विरह में अधीर होकर निदारुण ज्वाला सह रही है।' इस समय राधाकिङ्करी की श्रीकृष्ण के प्रति अति तृष्णा देखकर लगता है कि सम्भवतः ऐसी कृष्णतृष्णा किसी भी कृष्णोपासक में सम्भव नहीं। किङ्करी की अति तृष्णा देख परमनागर श्रीकृष्ण ने उसे दर्शन दिये। किङ्करी ने नागरराज को सङ्केतकुञ्ज ले जाकर श्रीयुगल की निरुपम सेवा की। इसलिये श्रीयुगल की सेवाविशेष में राधाकिङ्करी को राधास्नेहाधिका बने रहकर ही परमनागर श्रीकृष्ण के प्रति अति तृष्ण होना पड़ता है, यह समझा गया।

तत्पश्चात् कहते हैं–''भजो ताँरे व्रजभाव लैया''। व्रज का भाव लेकर ही श्रीकृष्ण का भजन करना होगा। जैसे व्रजवासी रागात्मिक–नित्यपार्षदगण श्रीकृष्ण का समस्त ऐश्वर्य भूलकर 'मेरा पुत्र मेरा सखा मेरे प्राणपति' रूप से लौकिक सद्बन्धु भाव से वात्सल्य, सख्य और मधुररस से श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं, वैसे ही उनके अनुगामी साधक भी ऐश्वर्य भूलकर अपने–अपने रस से लौकिक सद्बन्धुभाव से श्रीकृष्ण का भजन करेंगे। श्रीकृष्ण भाव की वस्तु हैं, भाव को छोड़ अभाव से उन लोगों को नहीं पकड़ा जायेगा। श्रीराधा के प्राणबन्धु–यह भाव ही गौड़ीय वैष्णवों का श्रीकृष्ण के प्रति 'व्रजभाव' है! श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद ने अपने मनः शिक्षा स्तव में लिखा है–

''मदीशानाथत्वे व्रजविपिनचन्द्रं व्रजवने–

श्वरीं तन्नाथत्वे तदतुल-सखीत्वे तु ललिताम्।
विशाखां शिक्षाली-वितरण-गुरुत्वे प्रियसरो-
गिरीन्द्रौ तत्प्रेक्षा-ललित-रतिदत्वे स्मर मनः॥''

'हे मन! तुम श्रीवृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण को मेरी ईश्वरी श्रीराधा के प्राणनाथ के रूप में, व्रजवनेश्वरी श्रीराधा को श्रीकृष्ण की प्राणप्रिया के रूप में, श्रीललिता को उनकी अतुलनीय सखीरूप में, श्रीविशाखा को समस्त शिक्षायें वितरण करने वाली गुरु के रूप में तथा प्रिय सरोवर श्रीराधाकुण्ड एवं गिरिराज गोवर्धन को श्रीराधाकृष्ण के दर्शन और ललित रतिदायक के रूप में स्मरण करो।'

अब श्रील ग्रन्थकार साधक के व्रजभाव की परिपुष्टि का साधन बता रहे हैं-''रसिक भकत सङ्गे, रहिबो पीरिति रङ्गे, व्रजपुरे बसति करिया''। यहाँ रसिकभक्त का अर्थ है भक्तिरसास्वादन में तत्पर, सदाचारनिष्ठ, समानभाववाला, स्निग्ध अर्थात् आपके प्रति स्नेहशील और परम भागवत। ऐसे व्यक्ति का सङ्ग करना होगा। ''सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतो वरे। श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह॥'' ऐसे रसिक भक्त के सङ्ग में 'रहिबो पीरिति रङ्गे'। श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस अंश की व्याख्या में लिखा है-''युगल-प्रेमकथारङ्गेण'', अर्थात् श्रीश्रीराधामाधव की पारस्परिक प्रेमकथा के कौतुकरस में मग्न होकर उनकी लीलाभूमि चिन्मय श्रीवृन्दावन का आश्रय लेकर साधक भजन-जीवन यापन करें। श्रीवृन्दावन, जो श्रीयुगलीला के उद्दीपन का चरमस्थान है! उसी व्रजधाम का आश्रय लें। यही है व्रजरससाधक के व्रजभाव की परिपुष्टि की श्रेष्ठतम साधना॥९८॥

श्रीगुरु भकत जन, ताहार चरणे मन,
आरोपिया कथा अनुसारे।
सखीर सर्वथा मत, हइया ताहार यूथ,
सदाइ विहरे व्रजपुरे॥९९॥

टीका -

कथा अनुसारे-शास्त्रकथानुसारेण। हइया ताहार यूथ-सखीनां यूथवर्त्तिनी भूत्वा। विहरे-विहारं कुर्याम्॥९९॥

श्रीगुरु-वैष्णव भक्ति :

सुधाकणिका व्याख्या : रागमार्गीय साधन दो प्रकार का है-बाहर साधकदेह से श्रवण-कीर्तन आदि, श्रीगुरु-वैष्णव की सेवा; मन के भीतर अपने सिद्धस्वरूप का चिन्तन कर अष्टप्रहर श्रीश्रीराधामाधव की सेवा का चिन्तन। श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में दोनों का ही उल्लेख कर रहे हैं। पहले श्रीगुरु-वैष्णवों के चरणों में भक्ति की बात कहते हैं-''श्रीगुरु भक्तजन, ताहार चरणे मन, आरोपिया कथा अनुसारे''। श्रवण-कीर्तन आदि

भजन से अनर्थ का विनाश हो और शीघ्र प्रेमप्राप्ति हो, इसके लिये भक्तिशास्त्रों ने श्रीगुरु-वैष्णवों के चरणों में भक्ति की एकान्त प्रयोजनीयता की बात की है। उसके अनुसार साधक को श्रीगुरु-वैष्णवचरणों में मन को निविष्ट करना होगा।

भगवान् की करुणा की दो धारायें हैं-श्रीगुरु और श्रीवैष्णव। ये विश्व के परम मङ्गल के लिये विचरण करते हैं। अनादि काल से अविद्याग्रस्त भगवत् बहिर्मुख जीव अविद्या के कराल ग्रास से निर्मुक्त होना चाहे, तो भागवती भक्ति के आश्रय को छोड़ और कोई उपाय नहीं। भगवान् के प्रति जीव को उन्मुख करने वाली परमकरुण भगवान् को भक्तिशक्ति की वृत्ति गुरु-वैष्णव की करुणा के माध्यम से ही विश्व में प्रकाशित होती है। अनादि बहिर्मुख जीव में परम स्वतंत्र साधु-गुरु के सङ्ग और कृपा के प्रभाव से ही श्रीकृष्ण-भजन में रुचि उत्पन्न होती है। जो लोग भक्तिमार्ग का आश्रय लेकर साधु गुरु की सेवा या परिचर्या को मुख्य भजनाङ्ग के रूप में अपनाते हैं और निष्ठापूर्वक विशेषरूप से नित्य उनकी सेवा करते हैं, उनकी उस गुरुवैष्णव-भक्ति के प्रभाव से उनके समस्त अनर्थ तुरन्त नष्ट हो जाते है एवं सप्रेम भगवत्प्राप्ति सिद्ध हो जाती है-यह समस्त भक्तिशास्त्रों का सुनिर्णय है। श्रीगुरुसेवा से अनर्थ-नाश के विषय में श्रीमद्भागवत-वाक्य प्रमाण है-

''असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥
आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसा कामद्यनीहया॥
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वञ्चोपशमेन च।
एतत सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषोह्यञ्जसा जयेत्॥''

अर्थात् काम जय करने के लिये सङ्कल्प वर्जित होना चाहिये। क्रोध जीतने के लिये कामना का त्याग करना चाहिये। अर्थ में अनर्थ दृष्टि से लोभ जीता जाता है। तत्त्वविचार से भय का नाश होता है। प्रकृति-पुरुष के विवेक से शोकमोह पराजित होते हैं। साधुपुरुषों की सेवा से दम्भ जीता जाता है। मौनव्रत सिद्ध होने से एकाग्रता आती है। कामचेष्टा त्यागने से हिंसा दूर होती है। कृपा के द्वारा या क्षमासाधन से आधिभौतिक दुःखों की निवृत्ति होती है। समाधि बल से आधिदैविक ताप नष्ट होते हैं। अष्टाङ्गयोग के प्रभाव से आध्यात्मिक क्लेशों का उपशम होता है। सत्त्वगुणवर्धन से निद्रा जीती जाती है। शान्ति से सत्त्व जीता जाता है। किन्तु एकमात्र श्रीगुरुभक्ति द्वारा अनायास ही इन सब अनर्थों को जीता जाता है। श्रीगुरु-सेवा से भक्तिसिद्ध के विषय में शास्त्र कहते हैं-

"गुरुशुश्रूषणं नाम सर्वधर्मोत्तमोत्तमम्।
तस्माद्धर्मात् परो धर्मः पवित्रो नैव विद्यते॥"

अर्थात् 'श्रीगुरुसेवा सर्वधर्म के उत्तम से भी उत्तम है, उसकी अपेक्षा अति पवित्र परमधर्म विश्व में और कुछ नहीं।' तात्पर्य यही है कि "स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे" "धर्म मद्भक्तिकृत् प्रोक्त" (श्रीमद्भागवत) अर्थात् 'इन्द्रियातीत भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति को ही जीव का परमधर्म कहा जाता है", "मेरी भक्ति ही परमधर्म नाम से अभिहित होती है"। इन वाक्यों के अनुसार भगद्भक्ति ही सर्वधर्म का उत्तम (तत्त्व) है; उससे भी उत्तम अर्थात् भक्ति अङ्गों में श्रेष्ठ श्रीगुरुसेवा है। आगम शास्त्र कहते हैं।

"यथा सिद्धरसस्पर्शात् ताम्रं भवति काञ्चनम्।
सन्निधानाद् गुरोरेवं शिष्यो विष्णुमयो भवेत्॥"

अर्थात् "जैसे सिद्धरस के संस्पर्श से ताम्र स्वर्ण में बदल जाता है, वैसे ही श्रीगुरु के सन्निधानवश शिष्य विष्णुमय हो जाता है।" तात्पर्य यह है कि सिद्धरस अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा न रख अपनी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से अपने संस्पर्श से ताँबे को सोना बना देता है; उसी प्रकार श्रीगुरु का सान्निध्यलक्षण श्रीगुरु-सेवा अपनी अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से शिष्य को विष्णुमय अर्थात् विष्णुभक्तिमय या भगवान् में तन्मय कर देती है। वामनकल्प में ब्रह्मवाक्य है—

"यो मंत्रः स गुरुः साक्षात् यो गुरुः स हरिः स्वयम्।
गुरुर्यस्य भवेत्तुष्टस्तस्य तुष्टो हरिः स्वयम्॥"

अर्थात् 'जो मंत्र है वही गुरु हैं, जो गुरु हैं वे ही स्वयं श्रीहरि हैं— गुरु, इष्टमंत्र और श्रीहरि में कोई भेद नहीं। गुरु जिसके प्रति सन्तुष्ट होते हैं, श्रीहरि भी उसके प्रति सन्तुष्ट होते हैं।' पद्मपुराण में देवहूति का वाक्य है—

"भक्तिर्यथा हरौ मेऽस्ति तद्वरिष्ठा गुरौ यदि।
ममास्ति तेन सत्येन सन्दर्शयतु मे हरिः॥"

अर्थात् 'मेरी जैसी भक्ति श्रीहरि में हैं, उससे भी अधिक यदि श्रीगुरु में हो, तो उसी सत्य के बल पर श्रीहरि मुझे दर्शन दें।' यहाँ तद्वरिष्ठा शब्द से यह दिखाया गया है कि गुरुभक्ति की महिमा भगवद्भक्ति से भी अधिक है। श्रीमद्भागवत (१०।८०।३४) में आया है—

"नाहमिज्या प्रजातिभ्यां तपशोपशमेन वा।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा॥"

"इज्या पूजा, प्रजाति वैष्णवदीक्षा, तपः समाधिः, उपशमो भगवन्निष्ठेति" (टीका श्रीजीवपाद)

भगवान ने श्रीदाम विप्र से कहा—"सर्वभूतात्मा मैं जैसा सन्तुष्ट गुरुसेवा से होता हूँ, वैसा वैष्णवीय दीक्षा, पूजा, भगवन्निष्ठा, समाधि आदि से भी नहीं।"

श्रीवैष्णवसेवा की आवश्यकता के सम्बन्ध में भी विविध शास्त्रवाणियाँ हैं। आदिपुराण में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं -

''ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानांच ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः॥''

'हे पार्थ! जो केवल मेरे भक्त हैं, वे मेरे भक्त नहीं; जो मेरे भक्त के भी भक्त हैं, उन्हीं को मेरे श्रेष्ठभक्त समझना।'

स्कन्दपुराण में भगवान् ने कहा है-''वैष्णवा विष्णुवत् पूज्या मम मान्या विशेषतः''-वैष्णव विष्णु की तरह ही पूज्य हैं, विशेषतः वे सर्वदा मेरे मान्य हैं। श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को अपनी स्वयं की पूजा से भी अधिक गरीयसी भक्त की पूजा बताई है-''मद्भक्तपूजाभ्यधिका'' (भा० ११/१९/२१) अर्थात् यह जानकर कि मुझे अपनी पूजा की अपेक्षा भक्त की पूजा से अधिक सन्तोष होता है मेरे भक्त की पूजा मेरी पूजा से अधिक करना।

पद्मपुराण में श्रीमन्महादेव ने देवी से कहा है-

''आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥''

'हे देवि! समस्त देवताओं की आराधना से श्रीविष्णु की आराधना श्रेष्ठ है; उनके भक्तों की आराधना उससे भी अधिक श्रेष्ठ है।' इसका कारण शाण्डिल्यस्मृति में दिया गया है-

''सिद्धिर्भवति वा नेति संशयोऽच्युत-सेविनाम्।
न संशयोऽत्र तद्भक्त-परिचर्यारतात्मनाम्॥''

अर्थात् 'भगवत् सेवकों को प्रेमसिद्धि होती है या नहीं, ऐसा सन्देह हो सकता है; किन्तु उनके भक्तों की परिचर्या में रत व्यक्तियों की प्रेमसिद्धि के विषय में कोई सन्देह नहीं। इस प्रकार भक्तों की वैष्णव-सेवा की प्रयोजनीयता के विषय में भूरि-भूरि शास्त्रवाणी देखने को मिलती है।

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर महाशय रागमार्गीय भक्त के आन्तरिक भजन के विषय में कहते हैं-''सखीर सर्वथा मत, हइया ताहार यूथ, सदाइ विहरे व्रजपुरे'', अर्थात् सभी प्रकार से सखियों के मत को मानते हुए उनके यूथ में रहकर अन्तश्चिन्तित सिद्धदेह से ससखी श्रीश्रीराधामाधव की सेवा के माध्यम से सर्वदा साक्षात् लीलाराज्य में विहार करें। श्रीसनत् कुमार संहिता में लिखा है-

''आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूप-यौवन-सम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥
सखीनां संगिनीरूपामात्मानं वासनामयीम्।
आज्ञासेवापरां तत्तद्रूपालङ्कारभूषिताम्॥''

अर्थात् रागानुगीय साधक लीलाराज्य में उन लोगों के बीच (श्रीकृष्णकान्ता गोपिकाओं के मध्य) स्वयं को रूप-यौवन-सम्पन्ना मनोरम किशोरी प्रमदा के रूप में चिन्तन करेंगे। श्रीललिता, विशाखा, श्रीरूपमंजरी आदि सखियों की संगिनी के रूप में उनकी आज्ञानुसार श्रीश्रीराधामाधव की सेवापरायणा और राधारानी के प्रसादी वस्त्र-आभूषणों से भूषिता अपनी वासनामयी मूर्ति की भावना कर ब्रह्ममुहूर्त से आरम्भ कर महानिशा तक समयानुरूप श्रीश्रीराधामाधव की सेवा का चिन्तन करेंगे। गौड़ीय वैष्णव श्रीगुरुचरणाश्रय के पश्चात् श्रीगुरुदेव से अपनी सिद्धप्रणाली और एकादश भावों के साथ मंजरीस्वरूप का परिचय प्राप्त करते हैं। उस मंजरीस्वरूप में ही अभिमान स्थापित कर अष्टप्रहर श्रीश्रीराधामाधव की सेवा का चिन्तन करना होता है। सिद्धि में उसी स्वरूप से साक्षात् सेवा प्राप्त कर साधकात्मा धन्य होता है। इससे पहले भी इसकी विशेष समालोचना की गई है॥९९॥

लीलारस सदा गान, युगलकिशोर प्राण,

प्रार्थना करिबो अभिलाष।

जीवने मरणे एइ, आर किछु नाहि चाइ,

कहे दीन नरोत्तम दास॥१००॥

जीवन-मरण में काम्य :

सुधाकणिका व्याख्या : इस त्रिपदी में श्रील ठाकुर महाशय बताते हैं कि उनके जीवन-मरण में तीन प्रार्थनायें हैं, जिनकी वे अभिलाषा करते हैं-''लीलारस सदा गान, युगलकिशोर प्राण, प्रार्थना करिबो अभिलाष''। वे सदा युगलकिशोर की रसमयी लीलाओं का गायन करेंगे, श्रीश्रीराधामाधव युगलकिशोर ही उनके प्राण या जीवातु होंगे और युगलकिशोर की चिरअभिलषित सेवा की ही आकांक्षा करेंगे। प्रेम की मूर्ति श्रील ठाकुर महाशय के ये प्रार्थनीय विषय स्वाभाविक हैं, फिर भी भक्ति के अतृप्ति-स्वभाव के वशीभूत या परम दैन्य से भरकर वे यह त्रिविध प्रार्थना व्यक्त कर यही बता रहे हैं कि गौड़ीय वैष्णवों के जीवन-मरण में आकांक्षित या साध्य-साधना के विषय ये ही होने चाहिये।

पहली प्रार्थना है-''लीलारस सदागान''। यहाँ लीला के उपलक्षण से नाम-रूप-गुण और गान या कीर्तन उपलक्षण से श्रवण-स्मरण आदि भी समझने होंगे। श्रीकृष्ण के नाम रूप गुण लीला सभी 'रस' या परम आस्वाद्य हैं। श्रीकृष्ण आनन्दस्वरूप हैं। उनके नाम, गुण, लीला के रूप में उस रसरूपता की अभिव्यक्ति या प्रकाश होता है, कारण-उनके गुण-लीलादि सभी उनके स्वरूपभूत हैं। ''कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णलीलावृन्द। कृष्णेर स्वरूप सम सब चिदानन्द॥' रसस्वरूप श्रीकृष्ण के नाम-रूप-गुणलीला का रस; उधर महाभावमयी राधारानी के नाम रूप गुण लीला का रस-दोनों मिलकर अतिशय मधुरातिमधुर या परम आस्वाद्य हो जाते हैं। उसी प्रकार प्रेममयी श्रीराधा के गुण-लीला आदि की माधुरी रसराज श्रीकृष्ण के गुण-लीलादि की माधुरी के साथ परम स्वादु (स्वादिष्ट) के रूप में

अनुभव होती है। इसलिये गौड़ीय वैष्णव साधक अपने सिद्धस्वरूप का अभिमान लेकर युगल के रूप-गुण-लीलादि के रस आस्वादन में जो आनन्द या रस अनुभव करते हैं, आध्यात्मिक राज्य के अखिल आस्वादनों की उसी में पराकाष्ठा है।

श्रील ठाकुर महाशय ने रूप-गुणादि का उल्लेख न कर केवल 'लीलारस' कहा है। कारण यह है कि लीला में रूप-गुण-नाम सभी निहित हैं। अर्थात् युगल की लीला के श्रवण-कीर्तनादि से उनके उच्छलित रूप-गुणादि का श्रवण-कीर्तन भी होता है। फिर श्रवण-स्मरण आदि का उल्लेख न कर 'गान' कहने का तात्पर्य यह है कि गान-कीर्तन के साथ श्रवण आदि भी सुसिद्ध हो जाता है। 'कीर्तन' न कहकर 'गान' कहने का अन्यतम हेतु यह है कि श्रीयुगल का लीलारस वैसे ही मधुरातिमधुर है, ऊपर से यदि उसे स्वर-ताल आदि के सहयोग से गाया जाय, तो वह अतिशय चित्तद्रावक हो जाता है। श्रील ठाकुर महाशय ने 'गरानहाटी' नामक स्वर का प्रवर्तन कर ऐसी आकर्षक सङ्गीतविद्या प्रकाशित की है कि उससे परम भागवत श्रोता चमत्कृत हो जाते हैं; उनका चित्त द्रवित हो जाता है। श्रील ठाकुर महाशय सर्वदा उसी लीलारस-कीर्तन में मग्न रहने की अभिलाषा व्यक्त कर रहे हैं।

दूसरी प्रार्थना—"युगलकिशोर प्राण" श्रीश्रीराधामाधव आत्मा के भी आत्मा परमात्मा के परावस्थास्वरूप हैं, तभी स्वाभाविकरूप से ही सभी के प्राणाधिक प्रिय हैं। आत्मा ही सभी का प्रीतिआस्पद है; उसके सम्पर्क से ही मनुष्य को देह-गेह स्त्री-पुत्र सम्पदा आदि प्रिय होती है। श्रीमद्भागवत (१०।१४।५०-५५) में आता है—

"सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥
तद्राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम्।
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु॥
देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम।
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम्॥
देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत्प्रियः।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी॥
तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगच्चैतच्चराचरम्॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥"

श्रीशुकदेव ने ब्रह्ममोहन लीला में जब यह वर्णन किया कि ब्रजवासी अपने पुत्रों से भी अधिक प्रीति यशोदानन्दन के प्रति रखते हैं, तो महाराज परीक्षित ने प्रश्न किया था—'देखने में आता है कि लोग दूसरे की सन्तान से अधिक प्रीति अपनी सन्तान के प्रति रखते हैं, फिर क्या कारण है कि ब्रजवासी

यशोदापुत्र को अपनी सन्तानों से भी अधिक प्रीति करते हैं?' उत्तर में शुकदेवजी ने कहा—"हे राजन्! सभी प्राणियों को आत्मा ही परमप्रिय होती है। पुत्र, वित्त आदि अन्यान्य वस्तुएं आत्मा की प्रियतावश ही प्रिय होती है। हे राजेन्द्र! इसीलिए प्राणियों की अपनी-अपनी देह में जैसी प्रियता दिखाई देती है, वैसी ममता-आस्पद पुत्र वित्त गृह आदि में नहीं। देहात्मवादी व्यक्तियों को भी देह जितनी प्रिय होती है, उतने प्रिय पुत्रादि नहीं होते। देह ममतास्पद होते हुए भी आत्मा की तरह प्रिय नहीं, इसका प्रमाण यह है कि देह जीर्ण होने पर मरणोन्मुखी होती है, तो जीने की आशा बलवती हो जाती है। अतएव देहिगण को आत्मा ही प्रियतर होती है, आत्मप्रीति के सम्पर्क से ही चराचर जगत् प्रिय होती है। हे राजन्! श्रीकृष्ण अखिल आत्माओं के आत्मा या परमात्मा के भी परावस्थास्वरूप हैं। विश्व के कल्याण के लिये देहधारी की तरह प्रकाशित होते हैं।"

श्रीकृष्ण स्वभावत: सभी की आत्माओं से भी अधिक प्रीति-आस्पद हैं, फिर भी अनादि- कृष्ण-बहिर्मुख जीव के मायामलिन चित्त में इस बात का अनुभव नहीं होता। भक्तिपथ का आश्रय लेने पर कृष्णोन्मुख होते ही भजन या भक्ति के तारतम्य के अनुसार उस प्रियता की अनुभूति जगती है। प्रेमिक भक्तजनों को प्राणों से भी कोटिगुणा अधिक प्रियता श्रीकृष्ण में होती है। परम प्रेमिक श्रील ठाकुर महाशय श्रीराधा की प्रिय किङ्करी हैं; श्रीराधामाधव उन्हें कोटि-कोटि प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं, तभी कहते हैं—"युगलकिशोर प्राण"।

फिर कहते हैं—"प्रार्थना करिवो अभिलाष", अर्थात् 'चिर अभिलषित श्रीयुगल-सेवा ही मेरी एकान्त प्रार्थनीय या परम काम्य होगी।' भक्ति का अर्थ ही 'सेवा' है। "भज् इत्येष वै धातु: सेवायां परिकीर्तित:।" 'भज्' धातु से भक्तिपद निष्पन्न होता है। 'भज्' धातु का अर्थ है सेवा; तभी भक्ति का अर्थ ही सेवा है। अभीष्ट की सेवा ही भक्तों की चिरअभिलषित वस्तु है। उनके लिये सेवा ही सुख है, और सब दुखमय है। विशेषत: मञ्जरीभाव के उपासक सेवागत प्राण होते हैं; सेवा ही उनका जीवातु है, सेवा-आकांक्षा में वे सतत तन्मय हैं। अतएव सेवा ही उनकी एकमात्र अभिलषित सम्पदा है। तभी श्रील ठाकुर महाशय ने सेवा प्रार्थना की ही अभिलाषा व्यक्त की है। उनकी 'प्रार्थना' गीतिका श्रीश्रीराधामाधव की अपूर्व सेवा-प्रार्थना के रस से भरपूर है। राधारानी से प्रार्थना की है—

"प्राणेश्वरि! एइबार करुणा करो मोरे।
दशनेते तृण धरि, अञ्जलि मस्तके करि, एइजन निवेदन करे॥
प्रिय-सहचरी सङ्गे, सेवन करिबो रङ्गे, अङ्गे वेश करिबेक साधे।
राखो एइ सेवा कार्ये, निज पदपङ्कजे, प्रिय सहचरीगण माझे॥
सुगन्धि चन्दन, मणिमय आभरण, कौषिक बसन नाना रङ्गे।
एइ सब सेवा जार, दासी जेनो हउँ तार, अनुक्षण थाकि तार सङ्गे॥
जल सुवासित करि, रतन भृङ्गारे भरि, कर्पूर-वासित गुयापान।
ए सब साजाइया डाला, लवङ्ग मालति माला, भक्ष्य द्रव्य नाना अनुपाम॥
सखीर इंगित हबे, ए सब आनिबो कबे, जोगाइबो ललितार काछे।
नरोत्तमदास कय, एइ जेनो मोर हय, दाँड़ाइया रहु सखीर पाछे॥"

फिर प्रार्थना करते हैं—

"प्राणेश्वरि! कबे मोरे हबे कृपादिठि।
आज्ञाय आनिबो कबे, विविध फुलवर, शुनब वचन दुहुँ मिठि।
मृगमद तिलक, सिन्दूर बनायब, लेपब चन्दन गन्धे।
गाँथि मालती फूल, हार पहिराओब, धाओयाब मधुकर वृन्दे॥
ललिता कबे मोरे, बीजन देओब, बीजब मारुत मन्दे।
श्रमजल सकल, मिटब दुहुँ कलेवर, हेरब परम आनन्दे॥
नरोत्तम दास, आश पदपङ्कज, सेवन माधुरी पाने।
होअब हेनो दिन, ना देखिये कोनो चिन, दुहुँजन हेरब नयाने॥"

जीवन में यह सेवा ही आकांक्षा की वस्तु है; मरण के पश्चात् भी यही परम काम्य है। इसे छोड़ शुद्ध भक्त को कामना के लिये और कुछ नहीं। तभी कहते हैं—"जीवने मरणे एइ, आर किछु नाहि चाइ, कहे दीन नरोत्तम दास"। त्रिपदी ४२ में भी कहा है—"जीवने मरणे गति, राधाकृष्ण प्राणपति, दोंहार पीरिति-रससुखे। युगल सङ्गति जारा, मोर प्राण गले हारा, एइ कथा रहु मोर बुके" ॥१००॥

आन कथा ना बोलिबो, आन कथा ना शुनिबो,
सकलि करिबो परमार्थ।
प्रार्थना करिबो सदा, लालसा अभीष्ट कथा,
इहा बिना सकलि अनर्थ॥१०१॥

टीका—

परमार्थ—श्रीकृष्णभक्तिः॥१०१॥

अभीष्ट लालसा :

सुधाकणिका व्याख्या : पिछली त्रिपदी में श्रील ग्रन्थकार ने जीवन-मरण हर अवस्था में युगलकिशोर श्रीश्रीराधामाधव के चरणों को ही सार-सर्वस्व बनाना चाहा। अब इस त्रिपदी में वे सङ्कल्प करते हैं—बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों की समस्त चेष्टायें उनके परमार्थ श्रीश्रीयुगलपादपद्मों की भक्ति या भजन के निमित्त ही अनुष्ठित होंगी और कृष्णेतर समस्त विषयों को अनर्थ मानकर त्याग देंगे। पहले कहते हैं—"आन कथा ना बोलिबो, आन कथा ना शुनिबो, सकलि करिबो परमार्थ"। श्रीकृष्णभक्ति और भक्तों की बात को छोड़कर समस्त

कृष्णेतर विषय-वैषयिक बातें कर्म-ज्ञान योगादि की बातें, ऋद्धि-सिद्धि-मुक्ति आदि की बातें सभी 'आन कथा' (अन्य बात-विषय) हैं। इन सभी का श्रवण-कीर्तनादि चित्त में विक्षेप लाते हैं, कृष्णेतर विषयों में चित्त को अभिनिविष्ट किये रहते हैं। मायाबद्ध जीव अनादि काल से श्रीकृष्ण को भूलकर बहिर्मुख बना हुआ है; परतत्त्व के ज्ञान के अभाव में इस दु:खमय संसारदशा को प्राप्त हुआ है। "कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख। अतएव माया तारे देय संसार दु:ख॥" (चै० च०) इस भवरोग का मूल है भगवद् विस्मृति; इसकी निवृत्ति के लिये समस्त शास्त्रों ने भगवत् स्मृति की ही घोषणा की है। श्रीमद्भागवत का उपसंहार है (१२।१२।५५)—

"अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानञ्चविज्ञानविरागयुक्तम्॥"

'श्रीकृष्णपादपद्मयुगल की निरन्तर स्मृति श्रीकृष्ण-बहिर्मुखताजनित अमङ्गल या विषयवासना का नाश करती है, मङ्गल या भगवत् पादपद्मों में उन्मुखता जगाती है तथा कृष्णेतर वस्तुओं में अरुचि और कृष्ण में भगवत् अनुभूतियुक्त प्रेमलक्षणाभक्ति का विस्तार करती है।' राग-द्वेषादिशून्य शुद्धचित्त में जब भगवत् अनुभूति और कृष्णेतर वस्तुओं में अरुचि उत्पन्न होती है, तब अविच्छिन्न श्रीकृष्ण-स्मरण होता है। इसे 'ध्रुवानुस्मृति' कहा जाता है, यह दर्शन या प्रत्यक्षज्ञान का समवाची है—भगवद् साक्षात्कार की अबाध और प्रकृष्ट साधना है। श्रीपाद रामानुजाचार्य ने अपने श्रीभाष्य के आरम्भ में इस ध्रुवानुस्मृति के विषय में विशेष चर्चा की है। वे कहते हैं—"भवति च स्मृतेर्भावना प्रकर्षाद्दर्शनरूपता" अर्थात् 'जब स्मृति प्रगाढ़ होती है, तब विजातीय प्रत्यय प्रवाहशून्य होकर स्वजातीय प्रत्यय एकतानता प्राप्त करता है, तब स्मरणात्मक ज्ञान भी प्रत्यक्षज्ञानरूप में परिणत हो जाता है।'

भगवान् ने बार-बार स्मरण-माहात्म्य का वर्णन किया है—

"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥"

(गीता ८।१४)

'हे पार्थ! जो अनन्यचित्त हो नित्य अनुक्षण मेरा स्मरण करता है, उसी नित्ययुक्त योगी के लिये मैं सुखलभ्य हूँ।'

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥"

(वही ९।२२)

'जो अनन्यभाव से मेरा चिन्तन कर मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त पुरुषों का योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा) मैं वहन करता हूँ।' तभी अर्जुन से कहा है—"तस्मात् सर्वेषु कालेषु

मामनुस्मर" (वही ८।७) अतएव 'हे अर्जुन! तुम हर समय हर क्षण मेरा स्मरण करना।' अन्य बात बोलना और अन्य बात सुनना ऐसे महिमासम्पन्न स्मरणांग भजन का एकान्त बाधक है, तभी उसे सभी प्रकार से त्यागने का सङ्कल्प लिया जा रहा है।

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-''सकलि करिबो परमार्थ''-परमार्थ अर्थात् परमपुरुषार्थ श्रीकृष्णभक्ति। वे उसी में देह-दैहिकादि की समस्त चेष्टायें निबद्ध रखने का सङ्कल्प लेते हैं। इसमें साधकों के लिये यही शिक्षा है कि वे कायिक, वाचिक, मानसिक सभी चेष्टायें श्रीकृष्णभजन में ही निबद्ध रखें। देह से ऐसा कार्य न करें जो भजन के प्रतिकूल हो; ऐसा वाक्य न बोलें जो भजन में व्याघात लाये; ऐसे विषय का चिन्तन न करें जिससे भजन की क्षति हो। शास्त्र-महाजनों ने शरणागति के सन्दर्भ में उपदेश दिया है कि गो-विक्रय न्याय से देह-दैहिकादि सब श्रीकृष्ण के लिये नियोजित किया जाय। गाय जिसे बेची जाती है, वही उसका पालन-पोषण करता है और गाय भी उसी का कार्य करती है, विक्रेता का नहीं। उसी प्रकार शरणागत साधक देह-दैहिकादि शुद्ध आत्मा तक भगवान् को समर्पित कर समस्त चेष्टायें श्रीकृष्णभजनमय बना लेता है। सभी प्रकार की आत्मनिर्भरता और असामर्थ्यजनित कर्म-उद्यम त्याग देने से ईश्वरीय शक्ति की सहायता से किसी को कुछ अलभ्य नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति ईश्वर को सारा भार सौंपकर निश्चिन्त रहता है और उन्हीं का कर्म करता है, अर्थात् निखिल कर्म-प्रेरणाओं के मूलकेन्द्रस्वरूप श्रीकृष्ण उसके हृदय में अवस्थान कर उससे जैसा कर्म कराते हैं, वह उसी प्रकार करता है। ''तवास्मीति वदन बाचा तथैव मनसा विदन्। तत्स्थानमाश्रित तन्वा मोदते शरणागतः॥''''हे भगवन्! मैं तुम्हारा हुआ'-ऐसा वाक्य मुँह से बोलकर, उसी प्रकार मन में जानकर और देह से भगवान् के लीलास्थान का आश्रय लेकर शरणागत प्रसन्नचित रहता है। उसकी देह-दैहिकादि की समस्त चेष्टायें 'परमार्थ' अर्थात् श्रीकृष्ण-भक्ति के लिये ही अनुष्ठित होती हैं। साधक को आरम्भ में चेष्टा करनी पड़ती है, बाद में सब स्वाभाविक हो जाता है।

फिर कहते हैं-''प्रार्थना करिबो सदा, लालसा अभीष्ट कथा, इहा बिना सकलि अनर्थ'', अर्थात् मैं सतत प्रार्थना करूँगा कि अभीष्ट श्रीश्रीराधामाधव की लीलाकथाओं में ही मेरी लालसा उत्पन्न हो, कारण-अभीष्ट की कथा को छोड़ सभी बातें भजन का अनर्थ हैं। लीलारस में आविष्ट रागानुगीय साधकों के लिये स्वाभीष्ट-लीला-अनुशीलन को छोड़ जो भी विषय उपस्थित होता है, वही अनर्थ है। रागानुगा साधकों के लिये स्वरूपाभिमान से श्रीश्रीराधामाधव का अष्टकालीन लीलाचिन्तन ही अन्तरंग भजन है। लीलाचिन्तन में ही उनका सेवा-चिन्तन चलता रहता है। सिद्धि की दशा में 'साधने भाविबे जाहा, सिद्ध देहे पाबे ताहा' इस रीति के अनुसार वे साक्षात् लीलाराज्य में अपने अन्तश्चिन्तित सिद्धस्वरूप से चिन्तनीय सेवा पाकर कृतार्थ होते हैं। इसलिये रागभजन में अभीष्ट की लीलाकथा के अतिरिक्त अन्य विषय की लालसा का पोषण करना उचित नहीं, कारण-अन्य सभी उनके भजन के लिये अनर्थ हैं। श्रीश्रीराधामाधव की कृपा के बिना साधक उन सब अनर्थों के हाथ से मुक्त होकर अपने अभीष्ट की लीलाकथा की लालसा का पोषण करने में समर्थ नहीं होते, इसीलिये युगल-चरणों में सतत प्रार्थना करते हैं। कातर प्रार्थना अभीष्ट की कृपा की अर्गला खोल देती है और वे शीघ्र ही स्वाभीष्ट प्राप्तकर धन्य होते हैं॥१०१॥

ईश्वरेर तत्त्व जतो, ताहा बा कहिबो कतो,

अनन्त अपार केबा जाने।

व्रजपुरे प्रेम सत्य, एइ से परम तत्त्व,

भजो भजो अनुराग मने॥१०२॥

परम तत्त्व :

सुधाकणिका व्याख्या : इससे पूर्व 'लीलारस सदा गान' प्रार्थना करिबो सदा, लालसा अभीष्ट कथा, इहा बिना सकलि अनर्थ' इत्यादि बातें कही गईं। प्रश्न सम्भव है-निरन्तर श्रीकृष्ण के लीलारस का श्रवण-कीर्तन-स्मरण करेंगे, तो उनके तत्त्व या महिमा आदि का श्रवण-कीर्तनादि कब किया जायेगा? ''जगत् व्यापक हरि, अज भव आज्ञाकारी, मधुर मूरति लीलाकथा। एइ तत्त्व जाने जेइ, परम उत्तम सेइ, तार संग करिबो सर्वथा॥'' - इसमें कहा गया है कि तत्त्व-माहात्म्य की भित्ति पर ही रस या लीला का आस्वादन होता है! ऐसे प्रश्न की सम्भावना जानकर ही पूज्यपाद ग्रन्थकार ने इस त्रिपदी की आवतारणा की है।

पहले कहते हैं-''ईश्वरेर तत्त्व जतो, ताहा बा कहिबो कतो, अनन्त अपार केबा जाने'' ईश्वर का तत्त्व अनन्त और अपार है, उसका महिमा-सिन्धु असीम और अगाध है। कोई भी उसका ओरछोर नहीं पा सकता। जगत् स्रष्टा ब्रह्माजी ने भगवान् के स्तव-प्रसंग में कहा है-

''क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघट-सप्तवितस्तिकायः।

क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥''

(भा० १०/१४/११)

'हे भगवन! प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार तत्त्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी इन आठ आवरणों से घिरा जो ब्रह्माण्ड है, उसमें साढ़े तीन हाथ का कहाँ मैं! और, तुम्हारे एक-एक लोमछिद्र में झरोखे की जाली में धूलिकणों की तरह चक्कर खाते अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड-ऐसी कहाँ तुम्हारी महिमा!! अतएव तुम्हारी महिमा के आगे मैं अति तुच्छातितुच्छ हूँ।'

ब्रह्माजी ने इसी प्रकार श्रीकृष्ण के गुण-लीलादि की भी अनन्तता बताई है। गुणों के विषय में -

''गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।

कालेन यैर्वा विमिता सुकल्पै र्भूपांसव खे मिहिका द्युभासः॥''

(वही १०/१४/७)

'हे प्रभो! विश्व के कल्याण के लिये अवतीर्ण गुण-अधिष्ठाता तुम्हारे गुणों को गिनने में कौन समर्थ हैं? जो योगेश्वर पृथ्वी के धूलिकणों, आकाशस्थित हिमकणों और नक्षत्रों की गणना में भी समर्थ हैं, वे लोग भी तुम्हारे गुणों की गणना में समर्थ नहीं होते।'

श्रीकृष्ण की अनन्त लीलाओं के विषय में ब्रह्माजी की उक्ति है—

"को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्वाहो कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीड़सि योगमायाम्॥"

(वही १०।१४।२०)

'हे अपरिच्छिन्न! हे सर्वैश्वर्ययुक्त! हे सर्वान्तर्यामिन्! हे अचिन्त्य शक्तिमान्! तुम अपनी अचिन्त्यशक्ति योगमाया का विस्तार कर कैसे, कब और कितनी विचित्र लीलायें प्रकट करते हो, यह कौन जान सकता है?'

अन्त में ब्रह्माजी कहते हैं—

"जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः॥"

(वही १०।१४।३१)

'हे भगवन्! मेरे और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं; जो तुम्हारी महिमा जानते हैं, वे जानें; किन्तु तुम्हारी महिमा मेरे कायमनोवाक्य के अगोचर है।'

ब्रह्माजी हैं विश्वस्रष्टा, जगत् के आदिगुरु। श्रीकृष्णमहिमा जब उन्हीं के कायमनोवाक्य के अगोचर हैं, तब अन्य जनों के लिये अगोचर होगी; यह कहना ही पर्याप्त। माधुर्यास्वादन की लिप्सा रखनेवालों या माधुर्य-उपासक भक्तों का कर्तव्य है कि अत्यधिक तत्त्वानुशीलन में समय न बिताकर श्रीकृष्ण के रूप-गुण-लीलादि के माधुर्य के आस्वादन की ओर ही विशेष दृष्टि रखें। हाँ, तत्त्वालोचना एकबारगी निषिद्ध है, ऐसा नहीं। जिस मात्रा में वह लीलारसास्वादन की पोषक है, माधुर्य-उपासकों के लिये वह वहीं तक अनुकूल है। तत्त्वालोचना में अत्यधिक आविष्ट होने से अभीष्ट के लीलारसास्वादनसुख से वञ्चित होना पड़ेगा। इस सन्दर्भ का यही मर्मार्थ है।

फिर कहते हैं—"ब्रजपुरे प्रेम सत्य, एइ से परम तत्त्व, भजो भजो अनुराग मने"। 'प्रेम' शब्द का सरल अर्थ है 'भालोबासा' (प्यार); किन्तु कोई विश्व के जड़ीय प्यार को प्रेम न समझे। भगवान् को प्यार करना ही प्रेम है, कारण—प्रेम भगवान् की स्वरूपशक्ति ह्लादिनी और सम्वित् की सारवृत्ति है। भक्त के चित्त-मन के साथ वह चिन्मय वृत्ति मिलकर 'प्रेम' आख्या प्राप्त करती है। इसलिये विश्व के प्यार को लक्ष्यकर 'स्वदेश प्रेम' 'भातृ प्रेम' 'पितृ प्रेम' आदि जो शब्द प्रयोग किये जाते हैं, उनसे प्रेम शब्द की अवमानना ही की जाती है, और कुछ नहीं।

जो भी हो, भगवान् के प्रति प्यार का नाम ही 'प्रेम' है और यह प्रेम चिन्मयी शक्ति की वृत्ति होने के कारण विश्व के जड़ीय प्यार की तरह नश्वर वस्तु नहीं; यह परम सत्य या अविनश्वर वस्तु ही है। किन्तु यहाँ ठाकुर महाशय कहते हैं—'ब्रजपुरे प्रेम सत्य'। इससे लग सकता है कि ब्रजप्रेम ही सत्य है। वैकुण्ठ, अयोध्या, द्वारका आदि का प्रेम वैसा सत्य नहीं। यह बात इस उद्देश्य से नहीं कही जा रही। सभी भगवद्धामों के भक्तों का प्रेम सत्य है। 'सत्य' या यथार्थ प्यार एकमात्र ब्रज में ही देखा जाता है। अन्य धामों का प्रेम ऐश्वर्यज्ञानमिश्रित होने के कारण भगवान् के प्रति भक्तों में सम्भ्रम-सङ्कोच का उदय होता है। ब्रज के शुद्ध प्यार में भगवान् के प्रति ब्रजभक्तों में ऐश्वर्यज्ञान-गन्धशून्य इसी भाव का उदय होता है—'मेरा पुत्र, मेरा सखा, मेरे प्राणपति'। इसलिये ब्रज को छोड़ सर्वत्र ही प्रेम ऐश्वर्यज्ञानरूपी उपाधि से युक्त है। विशुद्ध या सत्य प्यार एकमात्र ब्रज में ही देखा जाता है।

'एइ से परम तत्त्व'—तत्त्ववस्तु प्रेम है; उसी प्रेम का पूर्णतम विकास ब्रज में ही है, इसलिये परम या श्रेष्ठ तत्त्ववस्तु है ब्रजप्रेम। अथवा, 'एइ से परम तत्त्व' का अर्थ होगा—प्रेम का परम या श्रेष्ठ तत्त्व ब्रजप्रेम में ही यथायथ भाव से प्रकट होता है, कारण—ऐश्वर्यजनित सम्भ्रमज्ञान जहाँ जितना अधिक होगा, प्रेम का उल्लास भी वहाँ उतना कम होगा। प्रेम निःसङ्कोच को वक्ष से लगाये रखना चाहता है। सम्भ्रम-सङ्कोच आते ही मानो प्रेम का हृदय चूर हो जाता है। प्रेम में भक्त और भगवान् निरन्तर माधुर्यस्रोत में डूबते-डूबते एक-दूसरे को अन्तरङ्ग भाव से कसकर पकड़ लेते हैं—यही प्रेम की विशिष्टता है! यह भाव ब्रजप्रेम को छोड़ अन्यत्र नहीं है, इसलिये यहीं प्रेम का परम तत्त्व विराजता है। सर्वोपरि है ब्रज का मधुर प्रेम। इस प्रेम के लक्षणों में कहा गया है—"सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे। यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥" अर्थात् 'ध्वंस के शत-शत कारण रहते हुए भी जिसका ध्वंस नहीं होता , युवक-युवती के ऐसे भावबन्धन को प्रेम कहा जाता है।' श्रीश्रीराधामाधव के पारस्परिक प्रेम में ही प्रेम तत्त्व की पराकाष्ठा है, कारण—वहाँ "ना सो रमण ना हाम रमणी। दुहुँ मन मनोभव पेषल जानि॥" प्रेम ने श्रीराधामाधव के मनों को मिलाकर एक कर दिया है। श्रीराधाकिङ्करीभाव से इस परम तत्त्व युगल प्रेम की उपासना ही गौड़ीय वैष्णवों की साध्य वस्तु है, तभी श्रील ठाकुर महाशय उन्हें अनुरागमय भजन-जीवन पाने के लिये प्रेरित करते हुए कहते हैं—"भजो भजो अनुराग मने"। अनुरागी मन से या अनुरागपूर्वक श्रीश्रीराधामाधव का निरन्तर भजन करो॥१०२॥

गोविन्द गोकुलचन्द्र, परम आनन्दकन्द,
परिवार गोप-गोपी सङ्गे।
नन्दीश्वर जाँर धाम, गिरिधारी जाँर नाम,
सखी सङ्गे ताँरे भजो रङ्गे॥१०३॥

भजन-रङ्ग :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय अनुरागमय युगल-भजन की बात कहकर अब उसका प्रकार बता रहे हैं—"गोविन्द गोकुलचन्द्र, परम आनन्दकन्द, परिवार गोप-गोपी सङ्गे"। 'गोविन्द' अर्थात् जिनकी 'गो' या इन्द्रियों ने राधारानी को पा लिया है, वे ही गोविन्द हैं। आनन्दघन विग्रह हैं, किन्तु राधारानी को पाने के लिये पूर्वराग अवस्था में क्या दशा हो गई है! महाजन गाते हैं—

"चान्द नेहारि चन्दने तनु लेपइ ताप सहइ ना पार।
धवल निचोल बहइ ना पारइ कैछे करब अभिसार॥
सुन्दरि! तो बिनु आकुल कान।
विरहे क्षीण तनु अनुखन जर जर जीवइते बिहि भेलो बाम॥
जतनहिं मेघ मल्लार आलापइ तिमिर पयान गति आसे।
आओत जलद ततहि उड़ि जाओत उतपत दीघ निशासे॥
तुया गुण नाम गाम जपि जीवइ बहु पुलकायित देहा।
गोविन्ददास कह इह अपरूप नह जाँहा इह नव नव लेहा॥"

(पदकल्पतरु)

अथवा, 'गोविन्द' का प्रसिद्ध अर्थ— गोगण का इन्द्र या राजा। जो नित्य असंख्य गोगण और सखाओं के साथ गोवर्धन-तट पर गोचारण के लिये जाते हैं, वहाँ सखाओं को गोचारण का भार देकर श्रीकुण्डतीर पर आकर राधारानी और उनकी सखियों के साथ मिलकर स्वच्छन्द होकर नाना प्रकार की शृङ्गाररस-लीलाओं में मग्न होते हैं—वे ही हैं 'गोविन्द'। राधारानी को पाने के लिये ही है गोविन्द की गोचारणलीला। उनकी श्रीमुखोक्त बात है—"राखाल लइया वने, सदा फिरि धेनु सने, तुया लागि वने वनचारी" (पदकल्पतरु)। ऐसे गोविन्द को ही गौड़ीय वैष्णव अनुरागपूर्वक भजते हैं, अर्थात् शृङ्गाररस के खेल में निमग्न श्रीराधामाधव की मधुमयी लीलाओं का स्मरण कर अपने सिद्धस्वरूपावेश में साधक लीला में श्रीयुगल की अनुरागमयी सेवा का चिन्तन करते हैं।

फिर जो 'गोकुलचन्द्र' हैं! श्रीराधा की विरहतप्त इन्द्रियों (गो) को शीतल करने में जो निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र हैं! सखी ने पूर्वराग में श्रीमती की दशा गोकुलचन्द्र को बताई थी—

"काञ्चन गौरी, भोरी वृन्दावने खेलइ सहचरी मेलि।
तुया दिठि मिठि, गरले तनु जारल तैखने श्यामरी भेलि॥
माधव! सो अविचल कुल-रामा।
मरमहि गोइ, रोइ दिन यामिनी गुणि गुणि तुया गुण गामा॥
गुरुजन अबुध, मुगध-मति परिजन अलखित विषम बेयाधि।
कि करब धनी मणि-मन्त्र महौषधि लोचने लागल समाधि॥

खेणे खेणे अङ्ग- भङ्ग तनु मोड़इ कहत भरममय वाणी।
श्यामेर नामे चमकि तनु झाँपइ गोविन्द दास किये जानि॥"

(पदकल्पतरु)

गोविन्द राधारानी को पाकर आनन्दसागर में डूब जाते हैं। राधारानी भी गोकुलचन्द्र को पाकर सुखसागर में मग्न हो जाती हैं—

"तनु तनु मिलने उपजल प्रेम।
मरकत जैछन बेढ़ल हेम॥
कनक लताये जनु तरुण तमाल।
नव जलधरे जनु बिजुरी रसाल॥
कमले मधुप जेनो पाओल सङ्ग।
दुहुँ तनु पुलकित प्रेम-तरङ्ग॥
दुहुँ अधरामृत दुहुँ करु पान।
गोविन्द दास दुहुँक गुणगान॥"

(पदकल्पतरु)

इसी प्रकार श्रीराधामाधव ही 'परम आनन्दकन्द' अर्थात् श्रेष्ठतम आनन्द के मूलकेन्द्र हैं। उनके श्रीचरणारविन्दों से अजस्र परमानन्द-मकरन्दधारा क्षरित होती है। कलिपावनावतार श्रीमन्महाप्रभु और उनके पदाश्रित गौड़ीय वैष्णवाचार्यों ने आनन्दलिप्सु जीवों को इसी परमानन्दरस का उत्स अँगुली-निर्देश से दिखाया है। श्रीमत् प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है—

"महाश्चर्यां रीतिं दृशि वचसि गत्यादिषु
दधन्महाप्रेमावेशोन्मद-मदनवैवश्य-मधुरम्।
अहो यत्रैवानन्दति सहजकैशोरकमहो,
द्वयं गौरश्यामं तदुदयति वृन्दावनमिदम्॥
विचिन्वन्तं नीलानलकणिकारांश्चारुकरजै
विजिघ्रन्तं फुल्लद्वदनकनकाम्भोजमसकृत्।
विचुम्बन्तं बिम्बाधरमसकृदुन्नम्य चिबुकं
निधायाङ्के राधां स्मर-मदनमूर्ति मधुपतिम्॥
अहौ गौरश्यामे मधुरमधुरे दिव्यमहसी
किशोरे सर्वाङ्गोत्थित-मदन बाधातिविवशे।
रतिक्रीड़ाम्भोधावतिविहरती पार-रहिते
सुभावैः श्रीवृन्दावन-नवनिकुञ्जेषु भजत॥"

(वृ० म० ६/३०-३२)

'नयन, वाक्य, गति आदि में परम आश्चर्यजनक रीति धारण किये और महाप्रेमावेश में उन्मत्त-मदन-वैवश्य से महामधुरमूर्ति (बने) स्वाभाविक रूप से नवकिशोर गौरश्याम युगल जिस स्थान पर आनन्द पा रहे हैं—यह वही वृन्दावन शोभा पा रहा है। जो श्रीराधा को गोद में लेकर सुचारु अँगुलियों से बड़े प्रेम से उनके नीले कुञ्चित केश सवाँर रहे हैं; उनके वदनरूपी स्वर्णकमल का बार-बार आघ्राण ले रहे हैं (सूँघ रहे हैं); चिबुक उठाकर रह-रहकर उनके बिम्बाधर चूम रहे हैं—उन्हीं मदनमूर्ति मधुपति का स्मरण करो। आहा! मधुर से सुमधुर दिव्य गौरश्याम युगल सर्वाङ्ग में उठ रही मदनपीड़ा से विवश होकर असीम अपार रतिक्रीड़ा' -सागर में अतिशय विहार करने को प्रवृत्त हुए हैं; श्रीवृन्दावन-नवनिकुञ्ज में विलसित श्रीयुगलकिशोर का मधुरभाव से भजन करो।'

फिर कहते हैं—"परिवार गोप-गोपी सङ्गे। नन्दीश्वर जाँर धाम, गिरिधारी जाँर नाम, सखीसङ्गे ताँरे भजो रङ्गे॥" अर्थात् 'परम आनन्दकन्द श्रीगोविन्द गोकुलचन्द्र—नन्दीश्वर जिनका धाम है और गिरिधारी जिनका एक नाम है, उन्हें सपरिवार गोप-गोपियों के साथ एवं सखियों के साथ रंग सहित भजो।' मधुररस की परिपुष्टि के लिये माता-पिता, आत्मीय -स्वजन आदि सभी के साथ सम्पर्क आवश्यक है। साधक सपार्षद श्रीराधामाधव की सेवा का चिन्तन करेंगे। श्रीकृष्ण के लिये रन्धन हेतु (भोजन तैयार करने को), राधारानी नित्य नन्दीश्वर आती हैं। मञ्जरीभाव के साधक उनके साथ सर्वदा अपने अवस्थान का चिन्तन करते हैं। नन्दीश्वर में माता-पिता, आत्मीय-स्वजन, गोप-गोपी सभी की यथायोग्य सेवा या भजन का चिन्तन साधक को अन्तश्चिन्तित सिद्धस्वरूप से करना होता है। राधारानी को लम्बे समय तक देखने के लिये श्रीकृष्ण गिरिधारण आदि लीलायें करते हैं; वहाँ समस्त ब्रजवासियों की स्थिति होती है। सभी के प्रति यथायोग्य श्रद्धा, प्रीति, भक्ति का पोषण करती है राधाकिङ्करी। वह विशेषरूप से ससखी श्रीराधामाधव की निकुञ्जसेवा अति रङ्ग के साथ या परम कौतुक (विनोद, कौतूहल) सहित चिन्तन करती है। साधन-अवस्था में चिन्तित सेवा ही सिद्धावस्था में साक्षात् लीलाराज्य में पाकर साधकात्मा धन्य होता है॥१०३॥

प्रेमभक्ति तत्त्व एइ तोमारे कहिनु भाइ,
आर दुर्वासना परिहरि।
श्रीगुरु-प्रसादे भाइ ए सब भजन पाइ,
प्रेमभक्ति सखी अनुचरी॥१०४॥

प्रेमभक्ति सखी-अनुचरी :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय अपने मन से कहते हैं—"प्रेमभक्ति तत्त्व एइ, तोमारे कहिनु भाइ"—हे भाइ मन! तुम्हें प्रेमभक्ति या साध्यसाधन तत्त्व की बात सभी बता दी। मन को 'भाई' कह रहे हैं। सहोदर भ्राता समान रूप से दु:ख-दारिद्र आदि भोगते हैं या पैतृक सम्पदा आदि का समान भाग प्राप्त करने

हैं। उसी प्रकार यदि आत्मा प्रेम-सम्पदा से वञ्चित होकर संसारज्वालारूपी दु:ख दारिद्र भोगती है, तो मन को भी वह समान रूप से भोगना पड़ता है। फिर यदि आत्मा प्रेम-सम्पदा प्राप्तकर भक्तिरसास्वादन की अधिकारी होती है, तो मन भी जड़त्व त्यागकर चिन्मय हो जाता है और असमोर्ध्व भगवत्माधुरी का आस्वादन कर धन्य होता है। तभी मन को 'भाई' कहकर श्रील ठाकुर महाशय शिक्षा दे रहे हैं कि प्रत्येक साधक को इसी प्रकार समान सुख-दु:ख की बात मन को समझाकर उसे प्रेम-साधना के पथ पर प्रवर्तित करना होगा, कारण—इन्द्रियों का राजा मन ही भजन-साधन का श्रेष्ठ सहायक है।

अब तक इस प्रेमभक्तिचन्द्रिका में श्रील ठाकुर महाशय ने प्रेमभक्ति या साध्य-साधन तत्त्व की जो बातें बताई हैं, उनमें सभी कुछ कह दिया है— महत् सङ्ग, महत् कृपा, भगवत् उन्मुखता, श्रद्धा, शरणागति, श्रीगुरु-वैष्णव का आश्रय, श्रीगुरु-वैष्णव की सेवा, साधन-भजन, नवधाभक्ति, भजन के बाधाअवरोध, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, रति, प्रेम, प्रेम का सार महाभाव, मञ्जरी भाव-साधना, नामतत्त्व, धामतत्त्व, रसतत्त्व आदि। यदि कोई साधक एकाग्रचित्त हो इस ग्रन्थ का ही भलीभाँति अनुशीलन कर ले, तो वह भक्तिसाधना के सभी रहस्य जान सकेगा, अनुभव कर सकेगा—इसमें कोई सन्देह नहीं। ग्रन्थकार ने इसमें भजन-साधन के अति निगूढ़ रहस्य अपने सहज सरल रूप से थोड़े शब्दों में बताये हैं कि लगता है जैसे साधकों को हाथ पकड़कर प्रेमभक्ति के राज्य में पहुँचा रहे हैं! तभी मन से कहते हैं— भाइ मन! तुम्हें प्रेमभक्ति के सभी तत्त्व तो सहज सरल रूप में समझाकर बता दिये, अब तुम "आर दुर्वासना परिहरि" अर्थात् भजन के प्रतियोगी अनादि अविद्या-सञ्चित दुष्ट कर्म-संस्कार त्यागो'। पूर्व जन्मों के असत् कर्मों के दुष्ट संस्कार आदमी के चित्त में जमा रहते हैं; वे दुष्ट संस्कार असत् कर्मों की प्रवृत्ति ही मानव के हृदय में जगाते हैं। वे मन को दुष्ट कर्मों की ओर इस प्रकार खींचते हैं कि आदमी अपनी चेष्टा से उन दुर्वार दुर्वासनाओं के कवल से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। तभी उन दुर्वासनाओं को त्यागकर भजन-पथ पर चलने का एकमात्र उपाय बता रहे हैं—"श्रीगुरु प्रसादे भाइ, ए सब भजन पाइ"।

'हे भाइ मन! श्रीगुरु-कृपा से ही दुर्वासना त्यागकर शुद्धभजन-पथ का आश्रय लेने का सौभाग्य प्राप्त होता है।' श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ में चौसठ प्रकार के भजनाङ्गों का वर्णन किया है। पहले श्रीगुरुपदाश्रय, दीक्षा-शिक्षा एवं विश्वासपूर्वक गुरु-सेवा—इन तीन अङ्गों को भक्तिमार्ग में प्रवेश करने का प्रधान द्वार कहा है। श्रीगुरु की कृपा या प्रसन्नता को छोड़ भगवद्भक्ति या भजन किसी भी प्रकार से सुसिद्ध नहीं हो सकता—यह सभी शास्त्रों और महापुरुषों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है—"तत्प्रसादो हि स्व-स्वनानाप्रतीकारदुस्त्यजानर्थहानौ परमभगवत्प्रसादसिद्धौ च मूलम्" (भक्तिसन्दर्भ २३७)—'निजकृत नाना प्रतिकारों से भी दुस्त्यज जो अनर्थ हैं, उन अनर्थों के विनाश के विषय में और भगवत् परमप्रसन्नता की सिद्धि के विषय में श्रीगुरुप्रसन्नता ही मूल कारण है।' अतएव "श्रीगुरुचरणानां नित्यमेव विशेष: सेवां कुर्यात्" (वही) 'दुर्वासना त्यागकर भजन-सम्पदा प्राप्त करने के लिए साधक श्रीगुरु प्रसन्नता की कामना से नित्य विशेषरूप से श्रीगुरुसेवा करें।'

श्रीगुरुदेव के प्रसाद से केवल दुर्वासना या अनर्थसमूह का विनाश होगा और भजन का सौभाग्य प्राप्त होगा, ऐसा नहीं। साधक शीघ्र ही प्रेम प्राप्तकर स्वाभीष्ट सेवासम्पदा भी पाकर धन्य होंगे—"प्रेमभक्ति सखी-अनुचरी"

अर्थात् साधक श्रीगुरुप्रसाद से प्रेमभक्ति पाकर अपने अन्तश्चिन्तित् मञ्जरीस्वरूप से ब्रज में गोपीगर्भ से जन्म लेकर नित्यसिद्धा सखी-मञ्जरियों का सङ्ग और कृपा प्राप्त करेंगे तथा उन लोगों के अनुगत होकर अनुचरी रूप से श्रीश्रीराधामाधव की रहस्यमय निकुञ्जसेवा पाकर धन्य या कृतार्थ होंगे। वनविष्णुपुर के राजा वीर हाम्बीर ने श्रीनिवासाचार्य प्रभु का श्रीचरणाश्रय लेकर उनकी करुणा प्राप्तकर धन्य होकर गाया था—

"प्रभु मोर श्रीनिवास, पुराइले मनेर आश, तुया पदे कि बलिबो आर।
आछिनु विषय-कीट, बड़ोइ लागितो मिठ, घुचाइले राज-अहङ्कार॥
करिनु गरल-पान, से भेलो दाहिन बाम, देखाइला अमियार धार।
पिबो पिबो करे मन, सब लागे उचाटन, एमति तोमार व्यवहार॥
राधापद सुधाराशि, से पदे करिला दासी, गोरापदे बाँधि दिला चित।
राधिकार गण सह, देखाइला कुञ्जगेह, शिखाइला दुहुँ प्रेमरीत॥
कालिन्दीर कूले जाइ, सखीसङ्गे धाबाधाइ, राइकानु विहरये सुखे।
ए वीरहाम्बिर हिया, ब्रजपुर सदा धेया, जाँहा अलि उड़े लाखे लाखे"॥१०४॥

सार्थक भजन-पथ, साधु सङ्गे अविरत,
स्मरण भजन कृष्णकथा।
प्रेमभक्ति हय जदि, तबे हय मनः शुद्धि,
तबे जाय हृदयेर व्यथा॥१०५॥

सार्थक भजन-पथ :

सुधाकणिका व्याख्या : भजनपथ किस प्रकार सार्थक हो या प्रेमप्रसू होकर भक्त के जीवन को धन्य करे, इस त्रिपदी में श्रील ठाकुर महाशय इसी बात का उपदेश दे रहे हैं। पहले कहते हैं—"सार्थक भजनपथ, साधुसङ्गे अविरत, स्मरण भजन कृष्णकथा", अर्थात् 'साधक का भजनपथ अविरत साधु-सङ्ग में सार्थक होता है। यथार्थ साधु महापुरुष वे लोग ही हैं, जो भक्ति-वार्ता वहन कर विश्वजीवों के द्वार पर आगमन करते हैं; मायाशृङ्खलाबद्ध विषयगर्त में गिरे जीवों के प्रति दयापरवश होकर उन्हें भगवत् कथामृत धारा से सुशीतल कर भक्ति-रज्जु की सहायता से भवकूप से उद्धार कर भगवत् सान्निध्य में ले जाने के लिये व्याकुल हो उठते हैं। ऐसे महत्जनों का सङ्ग स्पर्शमणि की तरह अमोघ है। स्पर्शमणि के स्पर्श से लोहा तत्क्षणात् सोना बन जाता है। उसी प्रकार साधु महापुरुषों के सङ्ग में आदमी का कामना-मलिन चित्त भक्तिवासना से सुवर्णोज्ज्वल हो उठता है। जैसे साधुसङ्ग और साधुकृपा से आदमी की भगवत् उन्मुखता या भजनपथ-आश्रय सम्भव होता है, वैसे ही अविरत

साधुसङ्ग से साधक की भजनमुद्रा उज्ज्वल होकर शीघ्र ही प्रेमप्रसू हो जाती है। रागानुगीय भजननिष्ठ भक्तों को स्मरण और कीर्तनाङ्ग के अतिरिक्त और कुछ रुचिकर नहीं होता। श्रीहरिभक्तिविलास के अन्त में लिखा है—

"एवमेकान्तिनां प्रायः कीर्तनं स्मरणं प्रभोः।
कुर्वतां परमप्रीत्या कृत्यमन्यन्न रोचते॥"

(२०/३८२)

अर्थात् 'रागानुगीय एकान्ती भक्त परमप्रीतिपूर्वक स्मरण और कीर्तनाङ्ग याजन करते हैं; अन्य कृत्यों में उनकी रुचि नहीं रहती।' तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—"स्मरण भजन कृष्णकथा"। श्रीकृष्ण-कथा के श्रवण कीर्तन-स्मरण से निरपराध चित्त में अति शीघ्र प्रेमभक्ति का उदय होता है। प्रेमभक्ति के आविर्भाव से मनशुद्धि या चित्तशुद्धि होती है और हृदय की व्यथा या भवक्लेशजनित समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं—"प्रेमभक्ति हय जदि, तबे हय मनशुद्धि, तबे जाय हृदयेर व्यथा"।

भक्तिशास्त्रों के अनुसार अनर्थ-निवृत्ति के स्तर पर ही साधक का चित्त शुद्ध हो जाता है और शुद्धचित्त में स्वरूपानुभूति से हृदय की व्यथा नष्ट हो जाती है। शुद्धचित्त में ही यथासमय अर्थात् निष्ठा, रुचि, आसक्ति और रति स्तर पार होते ही प्रेम का आविर्भाव होता है। लेकिन ठाकुर महाशय प्रेम के आविर्भाव के पश्चात् मनशुद्धि की बात और उसके बाद हृदय-व्यथा के विनाश की बात कह रहे हैं। इनका तात्पर्य यह है कि अविरत साधुसङ्ग से कृष्णकथा श्रवण-कीर्तन-स्मरण का सौभाग्य प्राप्त होने पर साधक के चित्त में इतनी शीघ्रता से प्रेम का आविर्भाव होता है कि लगता है जैसे अशुद्ध चित्त में ही पहले प्रेम का आविर्भाव हुआ, फिर चित्त शुद्ध हुआ और हृदय का अविद्याजनित दुःख नष्ट हुआ। जैसे श्रीमद्भागवत (१०।३३।४०) में सर्वलीलामुकुटमणि श्रीश्रीरासलीला के अन्त में श्रीपाद शुकमुनि ने रासलीला की फलश्रुति बताई है—

"विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥"

अर्थात् 'जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक व्रजवधूओं के साथ श्रीकृष्ण की इस रासक्रीड़ा और अन्यान्य शृङ्गारलीलाओं का निरन्तर श्रवण करता है, सुनने के बाद वर्णन करता है, स्मरण करता है, वह शीघ्र धैर्य प्राप्तकर श्रीकृष्ण में गोपिका-प्रेमानुसारी सर्वोत्तमजातीय प्रेमलक्षणाभक्ति प्रतिक्षण नव-नवायमान रूप में पाकर हृदय-रोग काम का शीघ्र परित्याग करता है।'

इस श्लोक में भी पहले पराभक्ति या गोपिका की प्रेमानुसारी सर्वोत्तमजातीया (लघुतोषणी टीका) प्रेमभक्ति प्राप्ति की बात कही गई है, पीछे हृद्रोग काम-नाश और धैर्य-लाभ की। इस सम्बन्ध में श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है-"अत्र तु हृद्रोगापहानात् पूर्वमेव परमभक्ति-प्राप्तिः। तस्मात् परमबलवदेवेदं साधनमिति भावः।" (लघुतोषणी टीका) अर्थात् 'साधारणतः भजन-साधन द्वारा हृदय-रोग काम या कामना नाश के पश्चात ही प्रेम का उदय होता है-यह जाना जाता है; किन्तु रासलीला श्रवण-कीर्तन से कामना-नाश से पहले ही

परमभक्ति की बात जानी जा रही है, इसलिये जानना होगा कि यह प्रेमलाभ का परम बलिष्ठ साधन है।' श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है—"परां प्रेमलक्षणां प्राप्येति क्त्वा प्रत्ययेन हृद्रोगवत्यप्यधिकारिणि प्रथमत एव प्रेम्नः प्रवेशस्ततस्तत्प्रभावेनैवाचिरतो हृद्रोगनाश इति प्रेमायं ज्ञानयोग इव न दुर्बलः परतन्त्रश्चेति भावः" (सारार्थ-दर्शिनी) अर्थात् 'प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्तकर इस 'क्त्वा' प्रत्यय के द्वारा अक्षतकाम अधिकारियों के चित्त में पहले प्रेम का प्रवेश होता है और प्रेम के प्रभाव से (दीपक जलाने के साथ-साथ अन्धकार नाश की तरह) शीघ्र ही कामना-वासना का नाश होता है, यह समझा जा रहा है। अतएव भक्ति-साधना परम स्वतन्त्र है, ज्ञानादि साधनों की तरह परतन्त्र या दुर्बल नहीं, यह जाना जाता है।'

कोई-कोई सोचते हैं कि जो दृढ़ श्रद्धावान हैं, यह फलश्रुति उन्हीं के लिए है, कोमल श्रद्धा वाले साधारण श्रोताओं के लिए नहीं, कारण-मूल में 'श्रद्धान्वित' शब्द है। किन्तु श्रीगोस्वामिपादगण यह नहीं कहते। श्रीजीवपाद ने लिखा है—"श्रद्धया विश्वासेनान्वित इति। तद्विपरीतावज्ञारूपापराधनिवृत्त्यर्थञ्च नैरन्तर्यार्थञ्च", अर्थात् यहाँ 'श्रद्धान्वित' शब्द श्रद्धा के विपरीत अपराध की निवृत्ति और श्रवण आदि की निरन्तरता बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् श्रीकृष्ण की रास आदि लीलाओं को साधारण नायक-नायिका के मिलन की तरह प्राकृत समझकर अवज्ञा करने से और निरन्तर श्रवण आदि से विरत होने से लीला के प्रति अश्रद्धा होती है। लोग युगलभजन-पथ का आश्रय लेकर भी श्रद्धान्वित शब्द की दुहाई देकर इतनी बड़ी शक्तिशाली साधना से स्वयं को अनाधिकारी समझकर वञ्चित रखते हैं, तो इसका एकमात्र हेतु उनका दुर्भाग्य भी मानना होगा।श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है— "अतएव श्रद्धान्वित इति शास्त्राविश्वासिनं नामापराधिनं प्रेमापि नाङ्गीकरोतीति भावः", अर्थात् 'शास्त्र में अविश्वास रखने वाला व्यक्ति—नामापराधी, उसे प्रेम कभी अङ्गीकार नहीं करता।' इसलिए जो श्रीनाम का अनुशीलन करते हैं, वे भी श्रीनाम और लीला के अप्राकृतत्व के विषय में शास्त्रवाक्य पर विश्वास करके अर्थात् नामापराध वर्जन कर श्रीकृष्ण नाम लेने से ही प्रेमलाभ कर सकते हैं। केवल रासलीला के विषय में ही 'अधिकार नहीं, अधिकार नहीं' कहकर व्यर्थ कोलाहल करना और श्रद्धावान् श्रवणेच्छु लोगों के मन में भी अत्यधिक भीति का सञ्चार करना केवल निर्बुद्धिता या दुर्भाग्य का ही परिचायक है और कुछ नहीं।

बहरहाल, समझना होगा कि श्रील ठाकुर महाशय ने श्रीयुगल लीला के कीर्तन-स्मरण को परम बलवान साधन मानकर ही पहले प्रेम भक्ति पाने की बात कर पीछे मनःशुद्धि और हृदय-व्यथा के विनाश की बात कही है॥१०५॥

विषय विपत्ति जानो, संसार स्वपन मानो,
नरतनु भजनेर मूल।
अनुरागे भजो सदा, प्रेमभावे लीला-कथा,
आर जतो हृदयेर शूल॥१०६॥

नरदेह भजन का मूल :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय ने पिछली त्रिपदी में हृदय-व्यथा की बात की थी। उस व्यथा का मूल है विषयासक्ति; इस बात की स्मृति होने से इस त्रिपदी में कहते हैं—"विषय विपत्ति जानो, संसार स्वपन मानो, नरतनु भजनेर मूल"। रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध इन जड़ीय पाँच विषयों का सेवन आदमी क्रमशः चक्षु, जिह्वा, कान, त्वक् और नाक से करता है। इन विषयों के सेवन के फलस्वरूप ही आदमी की उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है और उसके परिणामस्वरूप विपुल कामनायें जन्म लेती हैं; आदमी सर्वदा जड़ीय विषयभोगों में रत रहता है। विषयों के सञ्चय के लिए नाना प्रकार के असत् कर्म कर उन्हीं कर्मसंस्कारों को लेकर चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता घूमता है। असंख्य योनियों में जन्म-मृत्यु, जरा, व्याधि, शोकादि त्रितापज्वाला का भोग, नरक आदि में विभिन्न भयावह दुःखभोग— इन सबका एकमात्र हेतु या निदान यह विषय-सेवन ही है। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—"विषय विपत्ति जानो", अर्थात् विषयों को महाविपद् समझना होगा। इस देवदुर्लभ, ज्ञानबुद्धिसम्पन्न भजनोपयोगी नरदेह पाकर भी विषयासक्ति के संस्कारवश ही आदमी विषय-सञ्चय हेतु नाना प्रकार के असत् कार्य कर पशुवत् हुआ रहता है। कल्याणकामी व्यक्ति मात्र को इन विषयों को विपत्ति या महाविपद् जानकर इनके सेवन से सतत विरत होना होगा।

फिर कहते हैं—"संसार स्वप्न मानो"—'सं देहं सम्यक् प्रकारे स्मरति चिन्तयतीति संसारः' यह पाञ्चभौतिक देह ही सं (अभिनेता का वेश) है; अर्थात् मायाबद्ध जीव अपना स्वरूप भूलकर इस मायारचित नश्वर देह को ही 'मैं' समझकर अभिनेता बनकर शुद्ध चिद्वस्तु या आनन्दस्वरूप होकर भी देह के सुख में सुखी, दुःख में दुःखी होकर अनादि काल से संसार-यन्त्रणा भोगता घूम रहा है। यही जीव की संसार-बंधन दशा है। श्रीमद्भागवत में विवेक द्वारा मायामय अहङ्कार का परित्याग करने का उपदेश है। वहाँ 'मायामय' पद अहङ्कार का विशेषण है। स्वरूप के अहङ्कार से पृथक् करने के लिये ही उसका प्रयोग किया गया है। ऐसा न होने से विशेषण की व्यर्थता होती है। जैसे उद्यान में बहुत प्रकार के पुष्प होने पर कहा जाता है 'शुभ्र पुष्प लाओ'। जीव का स्वरूप है नित्य कृष्णदास; वह इसे भूलकर मायिक देह दैहिकादि में, 'मैं, मेरा' बुद्धि स्थापित कर देह के सुख-दुःख जरा-मृत्यु इत्यादि को अपना सुख-दुःख जरा-मृत्यु मानकर ही संसारी हुआ है। यह संसार स्वप्नवत् है। स्वप्न में इसका भेद इतना ही है कि स्वप्न कुछेक घण्टों का होता है, और यह संसार स्वप्न कुछेक वर्षों का। देहनाश के साथ-साथ यह संसार-स्वप्न टूट जायेगा। मायाबद्ध जीव अनन्त कर्मफल का बोझ लेकर दुःखमय नाना योनियों की यात्रा में असह्य दुःख क्लेश भोगता घूमेगा।

अतएव कहा जा रहा है—'हे मन! तुम संसार को स्वप्नवत् अलीक एवं क्षणस्थायी मानकर—और साधु-शास्त्रों के आश्रय में अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसन्धान कर श्रीकृष्ण-भजन करो, कारण "नरतनु भजनेर मूल"। यह नर देह ही श्रीकृष्ण भजन का मूल या प्रधान अवलम्बन है। 'अज्ञान या मूढ़ता के कारण पशु आदि तिर्यग् देह, और ज्ञानविशिष्ठ होने पर भी भोगों में प्रबल आवेश के कारण देव-देह भजन साधना के अनुपयोगी है। केवल मानवदेह ही भजन के लिये उपयोगी है। "यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्। गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढ़च्युतं विदुः॥" (श्रीमद्भागवत ११/७/७४)। तात्पर्य यह है कि जीव चौरासी लाख योनियों

में भ्रमण करते-करते देवदुर्लभ मनुष्य देह पाता है। यह जानना होगा कि इस जन्म में उसे संसार-पिंजड़े का द्वार खुला मिल गया। वह चाहे तो अनायास संसार से विमुक्त होकर भगवद् राज्य में उड़कर जा सकता है, पर लम्बे समय तक पिंजड़े में आबद्ध पक्षी पिंजड़े का द्वार खुला पाकर भी बहुत दिनों के बद्ध स्वभाव के कारण या दो-चार सामान्य चावलकणों के लोभ में पिंजड़ा छोड़ कर मुक्त आकाश में उड़कर नहीं जाना चाहता। उसी तरह संसार-आसक्त आदमी भी मायामुक्ति का द्वार-स्वरूप यह नरतन पाकर भी जन्म-जन्म के संस्कारवश और अति तुच्छ संसार-सुखों के लोभ में मायामुक्ति की कोई चेष्टा ही नहीं करता। पक्षी की तरह उस गृहासक्त व्यक्ति को आरूढ़च्युत (उच्च स्थान पर चढ़कर भी नीचे गिरने वाला) कहा गया है। जो लोग भजन के मूल इस मानव-शरीर को लेकर भी भजनपथ का आश्रय लेकर दुष्पार संसार-सागर के उस पार जाने की चेष्टा नहीं करते, वे ही यथार्थ आत्मघाती हैं। श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से कहा है—

"नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धि न तरेत् स आत्महा॥"

(भा० ११।२०।१७)

'जो व्यक्ति सर्ववांछित फलों का मूलस्वरूप, सुदुर्लभ, सुदृढ़, गुरुरूपी कर्णधार से युक्त, मेरे द्वारा अनुकूल वायु द्वारा चालित मनुष्यदेहरूपी उत्तम नौका भाग्य से सुलभरूप में पाकर भी संसार-सागर पार जाने की चेष्टा नहीं करता, वही प्रकृत आत्मघाती है।'

उद्धवजी से और भी कहा है—

"लब्धा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन् निःश्रेयसाय विषय खलु सर्वतः स्यात्॥"

(वही ११।९)

'बहुत जन्मों के पश्चात् प्राप्त, विश्व में सुदुर्लभ, परमार्थप्रद यह अनित्य मनुष्य देह पाकर निरन्तर मरणशील देह के पतन से पहले तक बुद्धिमान व्यक्ति विलम्ब न कर परम मङ्गल के लिये यत्न करे। विषयभोग सर्वत्र अर्थात् पशु आदि योनियों में भी प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु मानवेतर देह से परमार्थलाभ की कोई सम्भावना नहीं।'

श्रील प्रेमानन्द ठाकुर ने अपनी मनःशिक्षा (१६) में गाया है—

"ए मन! तु बड़ कलिर भूत।
कर बल जारि, शून्ये दिया बाड़ि, हासये तपनसुत॥
भूतेर बापेर, श्राद्ध कर निति, भूतेर बेगार खाट।
लाज नाहि मुखे, काल काट सुखे, चलिछ यमेर बाट॥

कामिनी काञ्चन, हृदय-रञ्जन, ताहाते मगन थाक।
ओ दिके तोमार, कि दशा घटेछे, तार किछु खोंज राख?
चौराशी नरके, जाबे एके एके, पथ परिष्कार प्राय।
कपालेर जोर, बड़ बटे तोर, बाहादुरी हबे ताय॥
मूरख बर्बर, सुयुकुति धर, जदि तरिबारे चाओ।
कहे प्रेमानन्द, मनेर आनन्द, सदा हरिगुण गाओ॥"

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—"अनुरागे भजो सदा, प्रेमभावे लीलाकथा, आर जतो हृदयेर शूल"। अभीष्ट भगवत्सेवा-प्राप्ति की लालसा से आग्रह, उत्कण्ठा या व्याकुलता के साथ भजन ही अनुराग का भजन है। भगवान् के निमित्त सुतीव्र उत्कण्ठा का नाम ही 'प्रेम' है। साधक का भजन भी यथासम्भव आकुति के साथ होना चाहिए। निष्किञ्चन भक्त की आकुलता देखकर भगवान् स्थिर नहीं रह सकते। जो लोग प्राणों में व्याकुलता भरकर अथवा प्राणभरी व्याकुलता लेकर परम अनुराग के साथ भगवान् को भजते हैं, भगवान् उन लोगों के एकान्त भाव से अपने हो जाते हैं और वे लोग भी उनके नितान्त ही अपने हो जाते हैं—"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्यामयि ते तेषु चाप्यहम्॥" (गीता ९/२९) भगवान् ने कहा—"हे अर्जुन! मैं सभी भूतों के प्रति सम हूँ, किसी से मेरा द्वेष भी नहीं, कोई मेरा प्रिय भी नहीं; किन्तु जो अनुरागपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें आसक्त होते हैं और मैं भी उनके प्रति आसक्त रहता हूँ।' इस अनुरागमय भजन से ही साधक के हृदय में भक्ति के तारतम्य के अनुसार उच्च से उच्चतर भाव प्रकट होते हैं और परमपुरुषार्थ प्राप्तकर वह सदा-सदा के लिए धन्य हो जाता है। श्रीमन्महाप्रभु के प्रिय पार्षद श्रील रूप, सनातन, रघुनाथ आदि गौड़ीय वैष्णवाचार्यों ने ब्रजधाम का आश्रय लेकर असाधारण उत्कण्ठा-व्याकुलता के साथ जो भजन किया है, वही अनुरागमय भजन का चरम आदर्श है।

रागानुगीय साधक अनुरागमय भजन में सतत प्रेमभाव से या परम प्रीति के साथ स्वाभीष्ट-लीलाकथा का स्मरण-मनन आदि करें। इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है, सभी हृदय के शूल की तरह है—अर्थात् उसे परम दुःखदायक जानकर त्याग दें॥१०६॥

राधिका-चरणरेणु, भूषण करिया तनु,
अनायासे पावे गिरिधारी।
राधिका चरणाश्रय, जे करे से महाशय,
तारे मुइ जाइ बलिहारी॥१०७॥

राधापद-रेणु :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय अब तीन त्रिपदियों में वृन्दावनेश्वरी राधारानी के भजन की बात कहते हैं। श्रीमन्महाप्रभु के श्रीचरणाश्रित गौड़ीय वैष्णवों की प्रीति राधास्नेहाधिका है। इस दृष्टि से उनके लिये यह त्रिपदीत्रय मृतसञ्जीवनीसुधा की तरह परम हितकारी है। श्रील ठाकुर महाशय पहले कहते हैं—"श्रीराधिकाचरणरेणु, भूषण करिया तनु, अनायासे पाबे गिरधारी।'' राधारानी की श्री चरणरेणु अङ्ग के भूषण के रूप में ग्रहण करने से अनायास ही गिरिधारी श्रीकृष्ण मिलते हैं। श्रीकृष्ण को पाने का एकमात्र उपाय ही है 'प्रेम'—यही सभी शास्त्रों का सुनिर्णय है। भक्तिप्राप्ति या भगवत्प्राप्ति के विषय में महत् की श्रीचरणरेणु के सेवन का अद्भुत प्रभाव श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों में देखने को मिलता है। ब्रह्मर्षि भरत राजा रहूगण से कहते हैं (भा० ५।१२।१२)—

"रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद् वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्ये बिना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥"

'हे महाराज रहूगण! महत् की चरणरज के अभिषेक को छोड़ तपस्या, वैदिक कर्म, अन्नादि दान, गृहादि निर्माण से परोपकार, वेदाभ्यास—फिर जल, अग्नि, सूर्य की उपासना इत्यादि अन्य किसी साधन द्वारा यह भगवत्तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता।'

श्रील प्रह्लादजी ने भी कहा है—

"नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥"

(भा० ७/५/३२)

अर्थात् 'निष्किञ्चन महाभागवतगण की श्रीचरणरेणु से अभिषिक्त हुए बिना भगवान् के चरणों में अनर्थ-उपशमकारी मति का उदय नहीं होता।' प्रेम के तारतम्य से ही महद्गण का तारतम्य होता है—"प्रेमतारतम्येनैव भक्तमहत्तारतम्यं मुख्यम्" (भक्तिसन्दर्भ अनु० १८७), इसलिए समझना होगा कि प्रेमतारतम्य से ही महद्गण की पदरेणु की भक्तिप्रदायिनी शक्ति का भी तारतम्य होता है। राधारानी में प्रेम परममहान् है, इसलिए उनकी श्रीचरणरेणु की भक्तिदातृत्व शक्ति या कृष्णवशीकरण शक्ति की तुलना नहीं। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने लिखा है (श्रीराधारससुधानिधि-४)--

"यो ब्रह्म-रुद्र-शुक-नारद-भीष्ममुख्यैरालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्योवशीकरण-चूर्णमनन्तशक्तिं तं राधिका-चरणरेणुमनुस्मरामि॥"

अर्थात् 'ब्रह्मा, महादेव, शुकदेव, नारद और भीष्मदेव प्रमुख महाभागवतगण भी सहसा जिनका साक्षात्कार पाने में समर्थ नहीं होते, उन्हीं परमपुरुष स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन के सद्यवशीकरण के विषय में अनन्त

शक्तिसम्पन्न सिद्धवशीकरण चूर्ण की तरह श्रीराधा की श्रीचरणरेणु का मैं सदा स्मरण करता हूँ' जिस प्रेम से श्रीकृष्ण का एकान्त वशीकरण सम्पन्न होता है, उसी प्रेमरस की सिद्धि की साक्षात् 'कामधेनु' है श्रीराधा की पदरेणु—ऐसा श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है। "भावोत्सवेन भजतां रसकामधेनुं तं राधिका-चरणरेणुमहं स्मरामि" (वही-)

प्रश्न उठेगा—साधकगण श्रीराधा की श्रीचरणरेणु का सेवन करें, इसका उपाय क्या है? और कैसे उसे अङ्ग का भूषण बनाया जा सकता है? यह ब्रजधाम राधारानी की नित्यलीलाभूमि है। वे अपनी सखियों और प्राणकान्त श्रीगोविन्द के साथ इस ब्रज में नित्यविहार कर रही हैं। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है—"राधापदाङ्कविलसन्मधुरस्थलीके", अर्थात् श्रीराधा के पदचिह्नों से सुशोभित मधुरस्थली है यह श्रीवृन्दावन। अतः ब्रजरज ही राधिकाचरणरेणु है। ऐसा न हो तो उद्धवजी जैसे भगवत्पार्षद साक्षात् सम्वित् की मूर्ति ब्रजरज-निषेवण के लिए इस ब्रज में तृण, गुल्म बनकर जन्म ग्रहण करने के लिए प्रार्थना क्यों करेंगे?

"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।

या दुस्त्यज स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवी श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥"

(भा० १०।४७।५४)

'अहो! मैं अति दुर्लभ वस्तु की कामना कर रहा हूँ। इस वृन्दावन में जो गुल्म लतायें और औषधियाँ हैं, ये परम सौभाग्यवान् सौभाग्यवती हैं। इन सबने उन व्रजाङ्गनाओं का श्रीचरणरेणु (ब्रजरेणु) सतत् मस्तक पर धारण करने का सौभाग्य प्राप्त किया है, जो स्वजन एवं दुस्त्यज आर्यपथ या पातिव्रत्यधर्म त्यागकर श्रुतियों की भी अन्वेषणीय मुकुन्दपदवी का भजन कर रही हैं। आहा! क्या कभी मेरा ऐसा सौभाग्य होगा कि इस वृन्दावन में इनकी तरह एक तृण या गुल्म के रूप में जन्म लेकर स्वयं को धन्य कर सकूँ? ऐसी परम भक्ति के साथ ब्रज में वास कर ब्रजरेणु का सेवन ही ब्रजरेणु या श्रीराधिकाचरण-रेणु को अङ्ग का भूषण बनाना है। यहाँ राधारानी के चरणों में परमभक्ति ही विवक्षित है। इससे अनायास ही गिरिधारी को प्राप्त किया जाता है—"अनायासे पाबे गिरिधारी"।

महत् के श्रीचरणरेणु-सेवन के फलस्वरूप प्रेमप्राप्ति और प्रेम से कृष्णप्राप्ति की बात हम पहले बता चुके हैं। राधारानी के श्रीचरणकमलों से महाभाव-मकरन्द अजस्रधारा में निकलता रहता है। ब्रज में जहाँ-जहाँ उनके श्रीचरणकमल विन्यस्त होते हैं, उन-उन स्थानों के रेणुसमूह महाभाव नामक प्रीतिरस से भर जाते हैं। उन्हीं रेणुकणों का निषेवन गिरिधारी श्रीकृष्ण को प्राप्त करने की महाशक्तिसम्पन्न साधना है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं। यहाँ श्रीकृष्ण का अन्य नाम न देकर 'गिरिधारी' नाम देने के पीछे थोड़ी सरस व्यञ्जना है। श्रीकृष्ण के परामर्श से श्रीनन्द आदि ब्रजवासियों ने लम्बे समय से चला आ रहा इन्द्रयाग खण्डन कर जब गोवर्धन-याग-स्थापित किया, तो इन्द्र ने क्रोधान्ध होकर ब्रज का नाश करने के लिये साम्वर्तक आदि प्रलय के मेघसमूह द्वारा विपुल वर्षा आरम्भ की। श्रीकृष्ण अन्य उपाय से भी इन्द्र का गर्व खण्डनकर सकते थे, किन्तु श्रीगिरिराज की महिमा का प्रचार करने के लिए और दुर्लभ-दर्शना श्रीराधा आदि गोपियों को अबाधरूप से लम्बे समय तक देखने के लोभ

से सात अहोरात्र बायें हाथ की अँगुली पर गिरिराज गोवर्धन को धारण किया। दीर्घ सप्त अहोरात्र राधारानी के दर्शन कर वे इतने आनन्दित हुए कि महाअपराधी इन्द्र के सामान्य स्तव से परम सन्तुष्ट होकर उनके साथ वार्तादि करने लगे। ब्रह्मा इन्द्र की अपेक्षा श्रेष्ठ अधिकारी हैं, श्रीकृष्ण के नन्दन और सृष्टिकर्ता हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रिय सखा गोपबालकों और गोवत्सों को श्रीकृष्ण से दूर ले जाने की इच्छा की थी–इस अपराध के लिये ब्रह्माजी ने श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य–माधुर्यमय दीर्घ स्तव किया, फिर भी श्रीकृष्ण ने उनके साथ थोड़ी भी बातचीत नहीं की। जिन राधारानी के दर्शन की लालसा से उन्होंने आहार–निद्रा भूलकर सात दिनरात सुविशाल गिरिराज को धारण किया था, उन्हीं श्रीराधा की श्रीचरणरेणु को यदि कोई भक्तिपूर्वक अङ्ग–भूषण बनाता है, तो वह उन्हीं गिरिधारी को अनायास ही पा सकेगा, यह कहना ही पर्याप्त है––"अनायासे पावे गिरिधारी"। यहाँ 'पावे' से यही समझना होगा कि श्रीराधा–गिरिधारी के माधुर्य के आस्वादन के साथ उनकी सेवा का सौभाग्य प्राप्तकर धन्य होगा, कारण––गिरिधारी के माधुर्य–आस्वादन का सौभाग्य पाना ही सही–सही पूरा–पूरा पाना या लाभ करना है।

पक्षान्तर से राधारानी की श्रीचरणरज की आराधना को छोड़ श्याममाधुरी आस्वादन का कोई उपाय ही नहीं। श्रील रघुनाथ दासगोस्वामिपाद ने अपने स्वसङ्कल्पप्रकाश स्तोत्र (१) में लिखा है—

"अनाराध्य राधापदाम्भोजरेणुमनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम्।

असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान् कुतः श्यामसिन्धोः रसस्यावगाहः?"

अर्थात् 'श्रीराधा–पादपद्मरेणु की आराधना के बिना, श्रीराधापदाङ्कित वृन्दावन का आश्रय लिये बिना, श्रीराधा के भाव में गम्भीरचेत्ता भक्तों के साथ सम्भाषण किये बिना श्यामसिन्धु के रस में अवगाहन कैसे हो सकता है?'

फिर श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—"राधिकाचरणाश्रय, जे करे से महाशय, तारे मुइ जाइ बलिहारी"। जो राधारानी के श्रीचरणों का आश्रय लेते हैं, वे 'महाशय' अर्थात् महामना या महात्मा है, अथवा अति सूक्ष्मबुद्धि हैं (वृ० भा० २/५/१७८ टीका) जिन लोगों के मन श्रीकृष्ण को अर्पित हैं या जो श्रीकृष्णभक्त हैं, वे ही महामना या महात्मा हैं। किन्तु श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—"न मे भक्तजनाः पार्थ मद्भक्ताश्च ये जनाः। मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्तजनाः मताः॥" हे पार्थ! जो केवल मेरे भक्त हैं, वे मेरे भक्त नहीं; जो मेरे भक्त के भक्त हैं, वे ही मेरे यथार्थ भक्त हैं।' जिस ह्लादिनीशक्ति की यत्किञ्चित् वृत्तिमात्र के जीव में उदित होने से वह 'भक्त' कहलाता है, उसी ह्लादिनीशक्ति की मूर्तिमती अधिष्ठात्री देवी श्रीराधा हैं। इसलिये श्रीराधाचरणाश्रयी के प्रति श्रीकृष्ण की वश्यता की पराकाष्ठा है। तभी श्रीराधा के श्रीचरणाश्रयी भक्त ही यथार्थ महाशय है।

'महाशय' का एक अर्थ है 'भक्तिरसलम्पट'। जो भक्तिरसास्वादन–लोलुप हैं, वे प्रेम की अधिष्ठात्रीदेवी राधारानी के श्रीचरणाश्रय में ही भक्तिरसास्वादन कर धन्य होते हैं—वे ही महाशय हैं। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने श्रील ठाकुर महाशय की भक्तिरसलम्पटता देखकर उन्हें एकान्तभाव से श्रीराधापादपद्मों में आश्रित जानकर ही उपाधि दी थी—'ठाकुर महाशय'। 'तारे मुइ जाइ बलिहारी'—अर्थात् श्रीराधा के पादपद्माश्रयी महाशयगण ही इस विश्व में यथार्थ धन्यवाद के पात्र हैं। उन्हें मैं शत–शत धन्यवाद प्रदान करता हूँ॥१०७॥

जय जय राधा नाम, वृन्दावन जार धाम,

कृष्णसुख विलासेर निधि।

हेनो राधा-गुणगान, ना शुनिलो मोर कान,

वञ्चित करिलो मोरे विधि॥१०८॥

श्रीकृष्ण सुख विलास की निधिः

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय अब श्रीराधानाम की महिमा प्रकट करते हुए कहते हैं—"जय जय राधानाम, वृन्दावन जार धाम, कृष्णसुख विलासेर निधि"। 'जय' शब्द उत्कर्ष और नमस्कार वाचक है। 'श्रीराधानाम' सर्वोत्कर्ष पर विराजता है, अतएव उसे पुनःपुनः नमस्कार। श्रीराधानाम का ऐसा उत्कर्ष या महिमा क्यों। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है—

"यज्जापः सकृदेव गोकुलपतेराकर्षकस्तत्क्षणाद्-
यत्र प्रेमवतां समस्तपुरुषार्थेषु स्फुरेत्तूच्छता।
यन्नामांकितमन्त्रजापनपरः प्रीत्या स्वयं माधवः
श्रीकृष्णोऽपि तदद्भुतं स्फुरतु मे राधेति वर्णद्वयम्॥"❋

(श्रीराधारससुधानिधि-९५)

अर्थात् 'जिसका मात्र एक बार जप करने पर ही नन्दनन्दन श्रीकृष्ण तत्क्षणात् आकृष्ट हो जाते हैं, जिसमें प्रीतिसम्पन्न होने पर समस्त पुरुषार्थों में तुच्छता बुद्धि हो जाती है, स्वयं माधव श्रीकृष्ण भी जिस नामाङ्कित मन्त्र को प्रीतिपूर्वक जपते हैं, वही 'राधा' यह अद्भुत वर्णद्वय मेरी जिह्वा पर सतत स्फुरित हो।' अखिल ब्रह्माण्डों के परम आराध्यतत्त्व स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन का परम आकर्षक मन्त्र है राधानाम, तभी राधानाम की ऐसी उत्कर्ष या महिमा है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में आता है—

"'रा' शब्दोच्चारणादेव स्फीतो भवति माधवः।
'धा' शब्दोच्चारत पश्चाद्धावत्येव ससम्भ्रमः॥"

अर्थात् 'यदि कोई व्यक्ति 'रा' शब्द उच्चारण करता है, तो श्रीकृष्ण सुनते ही उसके निकट जाने के लिये हर्षोत्फुल्ल हो उठते हैं और 'धा' शब्द का उच्चारण होते ही वे ससम्भ्रम तत्क्षणात् नामोच्चारण करने वाले के पीछे भागने लगते हैं।

❋ हमारे सम्पादित ग्रन्थ 'श्रीराधारससुधानिधि' के इस श्लोक की रसवर्षिणी व्याख्या देखिये।

उसी राधानाम का धाम है श्रीवृन्दावन—"वृन्दावन जार धाम"। श्रीराधा की परम माधुर्यमय लीलाभूमि श्रीवृन्दावन मधुरातिमधुर श्रीराधानाम का ही धाम है। श्रीकृष्ण का परम आकर्षक मन्त्र होने के कारण वृन्दावनवासियों का उपास्य श्रीराधानाम है; कीर्तनीय, जप्य, श्रोतव्य और स्मर्तव्य श्रीराधानाम है। वृन्दावन में सभी के मुँह पर राधानाम रहता है। परस्पर को पुकारने में, सम्भाषण संवर्धन में क्रय-विक्रय में सभी के सभी कामों में श्रीराधानाम। घरों की दीवारों पर, वृक्षादि पर लिखा है मधुर श्रीराधानाम!! कहा जाता है, श्रीरामचरितमानस रचयिता सुप्रसिद्ध कवि श्रीतुलसीदास श्रीवृन्दावन आकर सभी के मुँह से श्रीराधानाम सुनकर विस्मित हुए। श्रीरामचन्द्र के धाम अयोध्या की बात याद आई। वे सोचने लगे-अयोध्या में सभी के मुंह पर रामनाम होता है, केवल 'सीता' नाम कोई नहीं लेता, कोई बोलता है तो 'सीताराम' बोलता है। श्रीवृन्दावन की यही विलक्षणता है कि यहाँ सभी कार्यों में सभी के मुंह पर केवल राधानाम होता है—"जय जय राधानाम, वृन्दावन जार धाम"।

एक वङ्गवासी भद्रमहिला वृन्दावन दर्शन को आई। नाम था 'राधा'। वे रास्ते पर निकलीं। वृन्दावनवासी जब 'जय राधे' 'जय राधे' कहकर एक दूसरे को पुकारें, तो वे चौंककर उसी ओर देखने लगे—क्या कोई मुझे आवाज दे रहा है? बाद में उनकी समझ में आया कि यहाँ क्या स्त्री, क्या पुरुष, सभी एक दूसरे को 'राधे' 'राधे' कहकर पुकारते हैं और सभी काम सभी बातें राधानाम के सङ्केत से करते हैं। एक दिन भद्र महिला ने एक महत् से इसका कारण पूछा, तो वे वैष्णव बोले—'पृथ्वी पर एक ऐसा देश है, जहाँ का नियम ही है पहले मधुर बात सुनाकर पीछे दूसरी बात करना। अर्थात् वहाँ कोई किसी का तिरस्कार करने आता है, तो भी पहले मधुर बात सुनाओ, फिर तिरस्कार करो। वृन्दावन वही देश है; यहाँ राधानाम जैसी मधुर वस्तु और कुछ नहीं। यही कारण है कि सब सभी को राधानाम सुनाकर फिर अन्य बात करते हैं, अन्य काम करते हैं।' सत्य ही राधानाम-जैसी मधुर वस्तु विश्व में और कुछ भी नहीं। श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद ने कहा है—"राधेति नाम नवसुन्दरसीधुमुग्धम्" अर्थात् 'राधा' यह नाम अभिनव सुन्दर अमृत है। इसीलिए वृन्दावनवासियों को प्राणाधिक प्रिय है राधा नाम—"जय जय राधा नाम, वृन्दावन जार धाम।"

फिर कहते हैं—"कृष्णसुख विलासेर निधि'। राधारानी श्रीकृष्णसुख-विलास की निधि या सिन्धु तुल्य हैं। ब्रज की चन्द्रावली आदि अन्य कान्ताओं के साथ भी श्रीकृष्ण का विलास है, किन्तु राधारानी ही श्रीकृष्ण के सुखविलास की मूल आश्रयरूपा हैं—उसी तरह जैसे समुद्र नद-नदी-सरोवर आदि सभी जलाशयों का मूल अधिकरण या आश्रय है। राधारानी के साथ विहाररस की परिपुष्टि के लिये ही अन्यान्य गोपियाँ हैं। राधारानी ही शृङ्गाररसघनमूर्ति श्रीकृष्ण की क्रीड़ा सामग्री का अक्षय भण्डार है—"किम्बा कृष्णक्रीड़ा पूजार बसति नगरी" (चै०च०) उसी प्रकार राधारानी का नामश्री श्रीकृष्णसुख विलास की निधि है, कारण—नाम नामी अभिन्न हैं। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद के विदग्धमाधव नाटक के छठे अङ्क में देखा जाता है—वृन्दावन में राधारानी को खोजते हुए श्रीकृष्ण राधा के भ्रम में स्थलकमलिनी, पीतझिन्टि (पुष्पविशेष) आदि को आलिङ्गन करने के लिए भाग रहे थे, तो उनके प्रियनर्मसखा मधुमङ्गल ने परिहास करते हुए उनकी मुट्ठी में राधारानी को रखने का सङ्कल्प किया और एक पत्ते पर 'राधा' नाम लिखकर यह कहकर कि यही राधा है वह पत्ता श्रीकृष्ण के हाथ पर रख दिया। 'राधा' नाम देखकर श्रीकृष्ण ने मधुमङ्गल से कहा था—सखे! सत्य ही तुम्हारी अर्पित वस्तु से परम तृप्ति मिली, कारण—

"क्रमात् कक्षामक्ष्णोः परिसरभुवं वा श्रवणयो,-र्मनागध्यारूढ़ं प्रणयिजननामाक्षरपदम्।
कमप्यन्तस्तोषं वितरदविलम्बादनुपदं, निसर्गाद्विश्वेषां हृदयपदवीमुत्सुकयति॥"

'प्रणायिजन का नामाक्षर यदि किसी प्रकार नयनगोचर या श्रुतिगोचर हो, तो स्वभावतः वह नामाक्षर विश्वासी के हृदय में सन्तोष लाकर विपुल उत्सुकता जगाता है।' महाजन श्रीकृष्ण की उक्ति इस प्रकार गाते हैं—

"शुनो राधे एइ रस आमि से तोमार वश तोमा बिने नाहि भाय मने।
जपिते तोमार नाम धैरज ना धरे प्राण तुया रूप करिये धेयाने॥
'श्रीराधे' 'श्रीराधे' वाणी जे दिके जार मुखे शुनि सेइ दिके धाय मोर मन।
चातक फुकारे जेनो घन चाहे बरिषण तेनो हेरि ओ चाँदबदन॥
करेते मुरली थाके घन राधा बोलि डाके जतोक्षण ना पाय देखिते।
तोमार नूपुरध्वनि आपन श्रवणे शुनि तबे मोर क्षमा हय चिते॥
राधाकृष्ण दुटि नाम ताहे तुमि आगुयान आमि करि तोमारि भरसा।
तबे से सफल हबो तुया पद परसिबो दास वृन्दावनेर ए आशा॥"

वही परम मधुरातिमधुर सुधामय राधानाम अविरत जिह्वा पर स्फुरित हो—यह कामना ही व्यञ्जित हुई है। फिर कहते हैं—हेनो राधा गुणगान, ना शुनिलो मोर कान, वञ्चित करिलो मोरे विधि"। श्रील ठाकुर महाशय राधागत प्राण होकर भी दैन्य के आवेग में या भक्ति के अतृप्ति-स्वभाव के वश हो कह रहे हैं—'जिनके नाम की ऐसी महिमा है, उन्हीं श्रीराधा का गुणकीर्तन मेरे कानों ने नहीं सुना। हाय! यह मुझ जैसे अभागे जीव के प्रति विधाता की विडम्बना छोड़ और कुछ नहीं।' वस्तुतः श्रील ठाकुर महाशय विश्वसाधकों को शिक्षा दे रहे हैं—प्रेम की मूर्तिमती अधिष्ठात्री देवी हैं श्रीराधा, जिनके नाम गुण-लीलादि श्रीकृष्ण के परम आकर्षक और महावशीकारक हैं; उन्हीं श्रीराधा के नाम-गुणादि का श्रवण-कीर्तन ही साधकों का परम पुरुषार्थ है और इसी से जिह्वा-कर्णादि इन्द्रियों की यथार्थ सार्थकता है। जो राधारानी के नाम गुण-लीलादि के श्रवण-कीर्तन से वञ्चित हैं, विश्व में उसी को प्रकृत विड़म्बित—विधाता द्वारा विडम्बित जीव जानना होगा॥१०९॥

तार भक्त सङ्ग सदा रसलीला-प्रेम कथा
जे करे से पाय घनश्याम।
इहाते विमुख जेइ तार कभु सिद्धि नाइ
ना शुनिये तार जेनो नाम॥१०९॥

रसलीला प्रेमकथा :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय ने राधारानी की श्रीचरणरेणु निषेवन की, उनके श्रीचरणाश्रय की और उनके नाम-गुणादि कीर्तन-श्रवण की महिमा की घोषणा की। कोई कह सकते हैं—तो क्या वे श्रीकृष्ण-उपासना की कामना नहीं करते? या कृष्णप्राप्ति की अभिलाषा क्या उनके हृदय में नहीं है? इसका उत्तर देते हैं—"तार भक्त सङ्ग सदा, रसलीला प्रेमकथा, जे करे से पाय घनश्याम"। जो सर्वदा ही श्रीराधिका के भक्तों के साथ उनकी रसमय लीलाकथा एवं प्रेमकथा या प्रेम-महत्त्वपूर्ण कथा का श्रवण-कीर्तनादि या चर्चादि करते हैं, वे घनश्याम श्रीकृष्ण को अवश्य ही पाते हैं। प्रश्न हो सकता है जिनकी उपासना की जाती है, उन्हें प्राप्त करना ही शास्त्र विधि है। एक देवता की उपासना से अन्य देवता को प्राप्त करना सम्भव नहीं।? इसके उत्तर में कहा जा सकता है—श्रीकृष्ण को लेकर ही श्रीराधा की लीला या प्रेम का सारा महत्त्व है। श्रीकृष्ण को छोड़कर या श्रीकृष्ण-विहीन राधारानी की कोई बात होना ही सम्भव नहीं। इसलिए राधारानी की कथा के श्रवण-कीर्तन या उनके भजन के साथ श्रीकृष्णभजन स्वत: सुसिद्ध हो जाता है, केवल यही नहीं, राधारानी के भजन से श्रीकृष्ण को जो आनन्द मिलता है अथवा राधारानी के भजन करने वाले को लेकर उन्हें जो संतोष होता है, वह (आनन्द और सन्तोष) उन्हें अपने भजन से नहीं होता। श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद ने श्रीवृहद्भागवतामृत में (२।७।११ श्लोक की टीका में) लिखा है—"श्रीराधाज्ञा प्रतिपालनेनैव श्रीकृष्णस्य वशीकरणात् स्वयमेवाधिकाधिक -तत्सङ्गसुखसंसिद्धेरिति दिक्।" श्रीवृहद्भागवतामृत के गोपकुमार ने ब्रज के सख्यरस के भक्त होकर भी कृष्ण-सङ्गसुख की अपेक्षा न कर राधारानी की आज्ञा का पालन किया था। इस प्रसङ्ग में श्रील गोस्वामिपाद का सिद्धान्त है—श्रीराधा की आज्ञा का पालन करने से श्रीकृष्ण एकान्त भाव से वशीभूत हो जाते हैं, तभी उनके सङ्ग की अपेक्षा न करने पर भी उनका सङ्गसुख स्वयं ही अधिकाधिक रूप से सुसिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार राधारानी के भजन से श्रीकृष्ण कहीं अधिक वशीभूत होते हैं, इसलिये श्रीकृष्ण का भजन स्वयं ही सुसिद्ध हो जाता है।

श्रीराधागतप्राण परमऐकान्तिक सुरसिक भक्तों के सङ्ग में राधारानी की रसमयी लीलाकथाओं का अर्थात् श्रीराधामाधव की परम सरस शृङ्गारलीलाकथाओं का, उधर राधारानी की प्रेमकथाओं का अर्थात् विरह और मिलन में प्रेम के परमसार महाभाव के चरम विकास मोहन, मोदन, मादन महाभाव की अनन्त विलास वैचित्री का श्रवण-कीर्तनादि परम आस्वाद्य और अति सुरसाल होता है। ब्रजवास करते हुए सजातीयाशय, स्वतोवर (अपने से श्रेष्ठ) और परम स्निग्ध राधापादपद्मैकनिष्ठ (जो सिद्धस्वरूप में श्रीराधादासी-अभिमान करते हैं) महत् जनों के सङ्ग रहस्यमय कथाओं का श्रवण-कीर्तन रागानुगीय भक्त का परम अन्तरङ्ग आकांक्षित भजन है। भक्त की बात दूर, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण राधाभाव अङ्गीकार कर श्रीगौराङ्गरूप में अवतीर्ण होकर अहर्निश रसिक भक्तों के साथ श्रीराधामाधव की रसकथा और प्रेमकथा के आस्वादन में मग्न हुए—

"चण्डीदास विद्यापति, रायेर नाटक-गीति, कर्णामृत श्रीगीतगोविन्द।
स्वरूप रामानन्द सने, महाप्रभु रात्रिदिने, गाय शुने परम आनन्द॥"

इसके पश्चात् कहते हैं—"इहाते विमुख जेइ, तार कभु सिद्धि नाइ, ना शुनिये तार जेनो नाम"। श्रील ठाकुर महाशय ने निरूपण किया है कि श्रीराधा के पादपद्मों के आश्रय से और उनके ऐकान्तिक भजन से ही घनश्याम श्रीकृष्ण को यथायथ प्राप्त किया जाता है। अब कहते हैं, जो लोग श्रीराधा के चरणाश्रय या भजन से विमुख होकर भी श्रीकृष्णमाधुरी के आस्वादन की इच्छा या प्रयत्न करते हैं, उन्हें कभी सिद्धि नहीं होती, अर्थात् कृष्णमाधुरी आस्वादन का सौभाग्य कभी नहीं होता। राधारानी का भजन ही श्रीकृष्ण को प्राप्त करने का या शृङ्गाररसघनमूर्ति श्रीकृष्ण को आस्वादन करने का श्रेष्ठ कौशल है। इसके बिना किसी को श्रीकृष्णमाधुरी आस्वादन करने का उपाय नहीं। जो लोग राधारानी की अवज्ञा कर श्रीकृष्णमाधुरी आस्वादन का प्रयत्न करते हैं, उनके साथ हम लोगों का कोई सम्पर्क नहीं। उनके दर्श-पर्श की बात दूर रही, उनका नाम भी कभी कानों से न सुनूँ—"ना शुनिये तार जेनो नाम"। श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद ने अपने स्वनियमदशकम् स्तोत्र (६) में लिखा है—

"अनादृत्योदगीतामपि मुनिगणैर्वैणिकमुखैः
प्रवीणां गान्धर्वामपि च निगमैस्तत्प्रियतमाम्।
य एकं गोविन्दं भजति कपटी दाम्भिकतया
तदभ्यर्णे शीर्णे क्षणमपि न यामि व्रतमिदम्॥"

'श्रीनारद आदि मुनिगण एवं निगमशास्त्र या वेद जिनकी महिमा गाते हैं, उन्हीं प्रवीणा श्रीकृष्णप्रियतमा राधारानी का अनादर कर जो व्यक्ति अकेले गोविन्द का भजन करता है, वह कपटी या दाम्भिक है; उनके अपवित्र सान्निध्य में मैं क्षणभर को भी नहीं जाता'॥१०९॥

कृष्णनाम-गाने भाइ, राधिका-चरण पाइ,
राधानाम-गाने कृष्णचन्द्र।
संक्षेपे कहिनु कथा, घुचाओ मनेर व्यथा,
दुःखमय अन्य कथा धन्द॥११०॥

युगलभजन की शैली :

सुधाकणिका व्याख्या : पिछली त्रिपदी में श्रील ग्रन्थकार महोदय ने कहा कि वे अकेले श्रीकृष्ण का भजन करने वाले श्रीराधाविमुख का नाम सुनने की भी इच्छा नहीं करते। श्रीपाद रघुनाथदास गोस्वामी ने भी ऐसे व्यक्ति को दाम्भिक कपटी कहा है, उसका अपवित्र सङ्ग दूर से छोड़ने का सङ्कल्प लिया है। अब प्रश्न उठेगा, जो लोग दास्य, सख्य और वात्सल्य रसों में इन रसों के नित्यसिद्ध ब्रजपार्षदों के आनुगत्य में अकेले श्रीकृष्ण का भजन कर रहे हैं, क्या उन लोगों का सङ्ग भी वर्जनीय है? ऐसे प्रश्न की सम्भावना देखकर कहा है—"कृष्णनाम-गाने

भाइ, राधिका-चरण पाइ"। जिन्होंने यथार्थ श्रीकृष्णभजन का आश्रय लिया है, उनमें श्रीराधा के प्रति विमुखता या अनादर कभी नहीं जग सकता, कारण—श्रीकृष्ण के नाम-गायन से श्रीराधिका-चरण मिलेंगे ही। फिर भी अपने-अपने भाव के अनुरूप ही मिलेंगे। यह जानना होगा कि यहाँ 'राधिका-चरण' शब्द भक्तिपूर्वक ही विन्यस्त हुआ है, अत: राधिकाचरण पाने का अर्थ राधारानी को पाना ही है। जो ब्रज के दास्य और सख्यरस के भक्त हैं, श्रीकृष्ण की श्रेष्ठ आराधिका के रूप में श्रीमती के प्रति भक्तिपरायण होते हैं। सख्यरस के भक्तों में सुबल, मधुमङ्गल आदि प्रियनर्म-सखाओं की मधुररस में श्रीकृष्णप्रिया राधारानी के प्रति भक्ति या सेवा की एक विशेष भूमिका है। वात्सल्यरस के भक्तों में भी नन्द-यशोमती के आनुगत्य में श्रीकृष्ण की ही तरह श्रीमती के प्रति वात्सल्य रस विराजता है, यह समझना होगा। इसलिए जो श्रीकृष्णभजन करके श्रीराधारानी के प्रति विमुख रहते हैं या उनका अनादर करते हैं, उनका श्रीकृष्ण भजन ही नहीं होता—यह सुनिश्चित है, कारण—महाजन कहते हैं—"कृष्णनाम-गाने भाइ, राधिका-चरण पाइ"।

फिर यदि कोई श्रीराधा का भजन कर श्रीकृष्णभजन नहीं करता, तो उसका भी श्रीराधाभजन यथायथ नहीं होता, यह समझना होगा—राधानाम गायन से श्रीकृष्ण को अति अवश्य ही पाया जाता है—"राधानाम गाने कृष्णचन्द्र"। युगलनाम एक-दूसरे का आकर्षक महामन्त्र-विशेष है। श्रीमन्महाप्रभु और उनके चरणाश्रित वैष्णवाचार्यों ने अन्यान्य युगों के आदमी को अलभ्य परमनिगूढ़ या महारहस्यमय युगलोपासना का प्रवर्तन कर इस युग के आदमी को धन्य किया है। यही श्रीमन्महाप्रभु के युग की विशेषता है। इस युग के लोगों के लिए राधाकृष्णनाम युगलोपासना की अति सुगम शैली है। श्रीमन्महाप्रभु ने अपने श्रीमुख से अहर्निश बत्तीस अक्षरों वाले 'हरे कृष्णेति' नाम-भजन का उपदेश दिया है; वही आह्वानात्मक सोलह राधाकृष्ण नाम हैं। इसका उल्लेख हमने पहले भी किया है।

इसके पश्चात् श्रील ग्रन्थकार कहते हैं—"संक्षेपे कहिनु कथा, घुचाओ मनेर व्यथा, दु:खमय अन्य कथा धन्द" अर्थात् संक्षेप में अति सारात्सार बात कही। कलिकाल का युगधर्म नामसङ्कीर्तन है, यह सार बात है। भगवान् का नाम भगवान् की ही तरह सच्चिदानन्दस्वरूप है, कारण—नाम और नामी अभिन्न तत्त्व है। इस दृष्टि से भगवान् के सभी नाम समान हैं, किन्तु नाम-माहात्म्य की दृष्टि से विचार करने पर श्रीकृष्ण-नाम का श्रेष्ठत्व जाना जा सकता है। मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वामन आदि के नामों की अपेक्षा 'राम' नाम का श्रेष्ठत्व जाना जाता है, कारण—श्रीराम-नाम श्रीविष्णु के सहस्रनामों के तुल्य है। पद्मपुराण में मन्महादेव ने गौरीदेवी से कहा है—"सहस्रनामभिस्तुल्यं रामनाम वरानने।" ब्रह्माण्डपुराण में देखा जाता है—विष्णु के सहस्र नाम तीन बार पाठ करने से जो फल मिलता है, वही फल प्राप्त होता है श्रीकृष्ण-नाम एक बार उच्चारण करने से ही—

"सहस्रनाम्नां पुन्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत् फलम्।
एकवृत्त्या तु कृष्णस्य नामैकं तत् प्रयच्छति॥"

तभी श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है—"परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्तनम्"। अतएव श्रीकृष्णनाम-सङ्कीर्तन का उपदेश सारात्सार बात है। फिर उन श्रीकृष्ण को भी आकर्षित करने वाले श्रीराधानाम के साथ श्रीकृष्ण नाम का या युगलकीर्तन का उपदेश अति सारात्सार बात है। अतएव देह-दैहिकादिजनित जो कुछ मनोव्यथा है या साध्य-साधन विषय सम्बन्धी जो भी मनोव्यथा है, अर्थात् भजनमार्ग में साध्य-साधन विषयक असम्भावना एवं विपरीत भावना आदि सब छोड़कर और धन्द या भ्रान्तिपूर्वक मिथ्या दु:खमय अन्य सभी बातों का परित्याग कर श्रीराधाकृष्ण का नाम-गायन ही स्वाभीष्ट प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है—यही संक्षिप्त सार उपदेश हैं॥११०॥

अहङ्कार अभिमान, असत्-सङ्ग असत् ज्ञान,

छाड़ि भजो गुरु-पादपद्म।

करि आत्म-निवेदन देह गेह परिजन,

गुरु-वाक्य परम महत्त्व॥१११॥

टीका—

अहङ्कार अभिमान इत्यादि—"विद्याधनागार कुलाभिमानिनो देहादिदारात्मज नित्यबुद्ध्यय:। इष्टान्यदेवान् फलकांक्षिणो ये जीवन्मृतास्ते न लभन्ति केशवम्।" "ततो दु:खङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।" इति श्रीमद्भागवतोक्ते:॥१११॥

गुरुवाक्य परम महत्त्व :

सुधकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय इस त्रिपदी में स्वाभीष्ट सिद्धि के लिये एक अन्य मूल्यवान् उपदेश देते हुए पहले कहते हैं—"अहङ्कार अभिमान, असत्सङ्ग असत् ज्ञान,, छाड़ि भजो गुरुपादपद्म"। यहाँ अहङ्कार और अभिमान का एक अर्थ नहीं। अहङ्कार का अर्थ है शुद्ध चिदात्मा जीव की जड़ीय देह-दैहिकादि में मैं-मेरा बुद्धि। अभिमान का अर्थ है—तज्जनित धन जन आभिजात्य आदि की अहमिका। श्रीमद्भागवत (११/११/१०) में आया है—

"दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्तमानोऽवुधस्तत्र कर्तास्मीति निवध्यते॥"

अर्थात् "अज्ञ व्यक्ति पूर्वकर्माधीन देह में अवस्थित होकर 'मैं कर्ता हूँ' ऐसे अहङ्कार के कारण गुणजात कर्मों के द्वारा देहादि में आबद्ध रहता है।" गीता (३।२७) में कहा गया है—"प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:। अहङ्कार-विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥" अहङ्कार-विमूढ़ात्मा व्यक्ति प्रकृति के गुणों द्वारा किये गये कर्मों के विषय में "मैं कर रहा हूँ" ऐसा समझता है।' इसके फलस्वरूप वह धन-जन आदि के अभिमान में मत्त हुआ

रहता है। यही जीव की बन्धनदशा है। कल्याण-इच्छुक साधको को स्वरूप का अभिमान जगाकर यह मायामय अभिमान त्यागना होगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीपाद की इस त्रिपदी की टीका में—अहङ्कार अभिमान के कुफल के सम्बन्ध में एक श्लोक है—

"विद्या-धनागार-कुलाभिमानिनो देहादिदारात्मजनित्यबुद्धयः।
इष्टान्यदेवान फलकांक्षिणो ये जीवन्मृतास्ते न लभन्ते केशवम्॥"

'जिन लोगों का जड़ीय विद्या, प्राकृत, धन, गृह, कुल आदि में अभिमान है; जिनकी देह एवं देह-सम्पर्कीय स्त्री-पुत्रादि में नित्यबुद्धि है; जिनकी अन्यदेवता में इष्टबुद्धि है और जो फलाकांक्षी हैं—वे लोग जीवन्मृत है; वे केशव को प्राप्त नहीं कर सकते।' इससे पहले भी कहा गया है—"अभिमानी भक्तिहीन, जग माझे सेइ दीन, वृथा तार अशेष भावना।'※

कल्याण की कामना करने वाले साधक को अहङ्कार अभिमान की तरह असत्सङ्ग को त्यागना होगा। "असत् सङ्ग त्याग एइ वैष्णव आचार" (चै० च०)। श्रीमद्भागवत में आया है—"ततो दुःसङ्ग मुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान। सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥" अर्थात् 'बुद्धिमान व्यक्ति दुःसङ्ग का सभी प्रकार से परित्याग कर साधुजन का सङ्ग करे, कारण—साधुगण ही उपदेशवाणी द्वारा मन की विरुद्ध आसक्ति का छेदन करते हैं। "सन्त ऐवेत्येवकारेण सुकृततीर्थदेवशास्त्रज्ञानादीनां न तादृशं सामर्थ्यमिति ज्ञापितम्" (टीका श्रील विश्वनाथ) अर्थात् 'सन्त एव' इस 'एव' कार के द्वारा यह समझना होगा कि सुकृति, तीर्थभ्रमण, देवाराधना, शास्त्रज्ञान आदि की वैसी सामर्थ्य नहीं है। अतएव असत् सङ्ग त्यागने के साथ-साथ सत्सङ्ग करना होगा। असत् सङ्ग त्यागकर सत्सङ्ग न करने से भक्ति मार्ग में जैसे अवनति नहीं होगी, वैसे ही उन्नति भी कुछ नहीं होगी। भक्तिमार्ग में सजातीयाशय महत् के सङ्ग में ही उन्नति अति शीघ्र और अवश्य साधित होती है—प्रसङ्गवश यह भी जानने की बात है।

उसी प्रकार असत् ज्ञान भी भक्तसाधक को त्यागना होगा। 'अस्' धातु से 'सत्' शब्द निष्पन्न होता है। 'अस्' धातु 'अस्ति' अर्थ में—अर्थात् जिसकी सत्ता है वही 'सत्'। भगवान् और उनकी चिच्छक्ति के वैभव धाम, भक्ति एवं भक्त के अतिरिक्त मायिक पदार्थों की त्रैकालिक सत्ता नहीं है; इसलिए माया द्वारा उत्पन्न नश्वर वस्तुओं का ज्ञान ही असत् ज्ञान है। इस असत् ज्ञान में यदि चित्त आविष्ट रहता है, तो सत्ज्ञान अर्थात् भगवान् भक्ति और भक्त विषयक ज्ञान में चित्त का आवेश उत्पन्न नहीं होता। तभी इस असत् ज्ञान का अनुशीलन भी श्रेयःकामी साधक को त्यागना होता है।

फिर कहते है—"छाड़ि भजो गुरुपादपद्म। करि आत्मनिवेदन, देह-गेह परिजन, गुरुवाक्य परम महत्त्व॥" भक्तसाधक यह सब त्यागकर समस्त साध्य-साधना के मूल श्रीगुरुपादपद्मों का भजन करें। श्रील ठाकुर महाशय ने पहले ही कहा है—"श्रीगुरुचरणे रति, एइ से उत्तमागति, जे प्रसादे पूरे सर्व आशा।" (इसकी सुधाकणिका

※ त्रिपदी ८४ की व्याख्या देखिये।

व्याख्या देखिये) श्रीगुरुपादपद्मों में ऐकान्तिक भक्ति रखने वाले साधक श्रीगुरुवाक्य का परम महत्त्व जानकर श्रीगुरु द्वारा उपदिष्ट भगवत्पादपद्मों में एकान्तिकी शरणागति का आश्रय लेकर देह-गेह-परिजन शुद्ध आत्मा तक भगवच्चरणों में समर्पित कर निश्चिन्त होकर सर्वदा श्रीहरिभजन करें ❋ ॥१११॥

श्रीकृष्णचैतन्यदेव, रति-मति-तारे सेबो,

प्रेम-कल्पतरु-दाता।

व्रजराज-नन्दन, राधिकार प्राणधन,

अपरूप एइ सब कथा॥११२॥

प्रेम-कल्पतरु-दाता :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय ने इस प्रेमभक्तिचन्द्रिका ग्रन्थ में ब्रज की जिस सर्वोत्कृष्ट उन्नत-उज्ज्वल-रसात्मिका भक्ति मञ्जरीभाव-साधना की बात का विशदरूप से वर्णन किया है, वह श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव की ही अनर्पितचरी करुणा का अवदान है। उनकी करुणा के बिना या उनकी उपासना किये बिना कोई भी उस ब्रजभक्ति को पाने में समर्थ नहीं होता। तभी श्रील ग्रन्थकार महोदय ने तीन त्रिपदियों में श्रीमन्महाप्रभु की बात की है।

पहले श्रीमन्महाप्रभु के भजन की ओर उनकी प्रेमदान-लीला की बात कहते हैं—"श्रीकृष्ण चैतन्यदेव, रति मति तारे सेबो, प्रेमकल्पतरु-दाता"। यहाँ महाप्रभु के 'श्रीकृष्णचैतन्यदेव' नाम का उल्लेख करने का कारण यह है कि "कृष्ण जानाइया जेह जगत कैलो धन्य। अतएव नाम हैलो श्रीकृष्ण चैतन्य॥" (चै०च०) यद्यपि श्रीव्यास, शुक, नारद आदि और भक्तिपथ के आचार्यों ने श्रीकृष्ण का ज्ञान कराया है, तथापि श्रीमन्महाप्रभु को छोड़ कोई भी 'श्रीकृष्णचैतन्य' नहीं है। कारण यह है कि अन्यान्य आचार्यगण द्वारा श्रीकृष्ण का ज्ञान कराये जाने पर भी भजन-साधना के द्वारा प्रेमलाभ होने पर ही उस ज्ञान ने पूर्णता प्राप्त की है, किन्तु श्रीमन्महाप्रभु के दर्शन कर बिना साधन ही तत्क्षणात् प्रेम पाकर दर्शकमात्र का ज्ञान पूर्ण हो गया है। वे 'देव' हैं; उनके अङ्ग में विराज रही है—श्रीराधा की दिव्यकान्ति (दिव्—ज्योतिः)।

श्रीकृष्णचैतन्यदेव के श्रीचरणों में रति-मति रखकर उनकी सेवा या भजन करना होगा, अन्यथा ब्रजभाव की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है—"रति मति तारे सेबो"। गौड़ीय सम्प्रदाय में नवद्वीप में सपार्षद श्रीमन्महाप्रभु और ब्रज में ससखी श्री श्रीराधामाधव एक साथ उपास्य हैं। श्रील कवि कर्णपूर के श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक के अन्त में श्रीमन्महाप्रभु ने स्वतः प्रवृत्त होकर श्रीअद्वैताचार्य से कहा है (१०/७४)—

❋ त्रिपदी ११ की आत्मनिवेदन-व्याख्या देखिये।

"वृन्दारण्यान्तरस्थः सरसविलसिते नात्मनात्मनमुच्च–
रानन्दस्यन्दबन्दीकृतमनसमुरीकृत्य नित्यप्रमोदः।
वृन्दारणैकनिष्ठान् स्वरुचिसमतनून् कारयिष्यामि युष्मा–
नित्येवास्तेऽवशिष्टं किमपि मम महत्कर्मतच्चातनिष्ये॥"

'हे आचार्य! मैं वृन्दावन में वास कर अति सरस विलास में उन्नत आनन्दरस में स्वयं को निबद्ध रखकर मन को नित्य प्रमोद में मग्न कर और वृन्दावननिष्ठ तुम लोगों को अपनी रुचि के अनुरूप देह धारण करा ब्रज के मधुररस का आस्वादन कराऊँगा—मेरा यह महत्कार्य बाकी है—उसे सम्पन्न करुँगा।'

श्रीमन्महाप्रभु राधाकृष्ण-मिलित विग्रह हैं। वृन्दावन में वे श्रीराधाकृष्णरूप से नित्य मधुर रसविलास में मग्न होंगे और नवद्वीपलीला के पार्षदों को भी उन लोगों के चिन्तनीय राधाकिङ्करीरूप में ब्रजनिकुञ्ज में उसी मधुररस का आस्वादन दान करेंगे—यही श्रीमन्महाप्रभु का अन्तिम कार्य है। उनकी बात सुनकर श्री अद्वैताचार्य बोले—

"निजेच्छया प्रापय यद्यदेव स्थलान्तरं नो वपुरन्तरं वा।
तवैतदाश्चर्यचरित्रमेव जातिस्मरा एव चिरं स्मरामः॥"

'हे प्रभो! तुम स्वेच्छा से हम लोगों को स्थलान्तर या देहान्तर दान करो, किन्तु (ऐसा हो कि) हम लोग जातिस्मर (पूर्व जन्म की स्मृति वाले) होकर तुम्हारे इस अति आश्चर्यजनक गौर-चरित को चिरकाल स्मरण करें।' श्रील ठाकुर महाशय ने भी कहा है—"मनोवाञ्छा सिद्धि तबे पूर्णहयतृष्ण। हेथाय चैतन्य मिले सेथा राधाकृष्ण॥" (प्रार्थना ४३)

श्रीकृष्णचैतन्यदेव "प्रेमकल्पतरु-दाता" है। श्रीमन्महाप्रभु स्वयं प्रेमकल्पतरु हैं और अपनी अचिन्त्यशक्ति से उस प्रेमकल्पतरु के माली या उसके फल के प्रदाता भी हैं—"निजाचिन्त्यशक्त्ये माली हैया स्कन्ध हय" (चै०च०)। प्रेमफल के दान के सम्बन्ध में लिखा है—

"उडुम्वर-वृक्ष जैछे फले सर्व-अङ्गे।
एइमत भक्तिवृक्षे सर्वत फल लागे॥
मूलस्कन्धेर शाखा उपशाखागणे।
लागिलो जे प्रेमफल अमृत के जिने॥
पाकिलो जे प्रेमफल अमृत-मधुर।
बिलाय चैतन्यमाली नाहि लय मूल॥
त्रिजगते जतो आछे धन-रत्न मणि।
एक फलेर मूल्य-करि ताहा नाहि गणि॥
मागे वा ना मागे केहो पात्र वा अपात्र।
इहार विचार नाहि जाने दिबो मात्र॥

अञ्जलि अञ्जलि भरि फेले चतुर्दिशे।
दरिद्रे कुड़ाइया खाय मालाकार हासे॥"

(चै० च० आदि०, परि० ९)

केवल यही नहीं, चैतन्य माली ने श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु श्रीअद्वैतप्रभु आदि स्कन्धों एवं विश्वव्यापी शाखा-उपशाखाओं को भी आज्ञा की—

"एकला मालाकार आमि काँहा काँहा जावो।
एकला बा कतो फल पाड़िया बिलाबो॥
एकला उठाइया दिते हय परिश्रम।
केहो पाय केहो ना पाय रहे मन भ्रम॥
अतएव आमि आज्ञा दिलो सबाकारे।
जाँहा ताँहा प्रेमफल देहो जारे तारे॥"

(वही)

अति अद्भुत वदान्य प्रेमकल्पतरु एवं प्रेमफलप्रदाता श्रीकृष्णचैतन्य ने ब्रज का माधुर्यमय मधुर प्रेम या श्रीराधादास्य रूपी मञ्जरीभाव का प्रेम ही इस प्रकार सारे विश्व में पात्रापात्र विचार किये बिना, साधना के बिना दान किया। इसलिये उनका भजन किये बिना कोई भी उस ब्रज-प्रेममाधुरी का आस्वादन करने में समर्थ नहीं होता। श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है—

"अद्भुत निगूढ़ प्रेमेरे माधुर्य-महिमा।
आपनि आस्वादि प्रभु देखाइलो सीमा॥
अद्भुत दयालु चैतन्य अद्भुत वदान्य।
ओइछे दयालु दाता लोके नाहि शुनि अन्य॥
सर्वभावे भजो लोक! चैतन्यचरण।
जाहा हैते पाबे कृष्णप्रेमामृतधन॥"

(चै० च० अन्त्य०, परि० ११)

इसके बाद कहते हैं—"ब्रजराज-नन्दन, राधिकार प्राणधन, अपरूप एइ सब कथा" अर्थात् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीराधा के प्राणनाथ श्रीकृष्ण ने ही श्रीगौराङ्गरूप से अवतीर्ण होकर भक्तभाव से ब्रजप्रेममाधुरी का स्वयं आस्वादन कर वह विश्व को प्रदान की है—ये सब बातें अति अपरूप अर्थात् अति अद्भुत विस्मयजनक हैं।

"तिहो श्याम वंशीमुख गोपविलासी।
इहों गौर-कभु द्विज कभु तो संन्यासी॥
अतएव आपने प्रभु गोपीभाव धरि।
व्रजेन्द्रनन्दन कहे-'प्राणनाथ' करि॥

सेइ कृष्ण सेइ गोपी—परम विरोध।
अचिन्त्य चरित्र प्रभुर—अति सुदुर्बोध॥
इथे तर्क करि केहो ना करो संशय।
कृष्णेर अचिन्त्य शक्ति एइमत हय॥
अचिन्त्य अद्भुत कृष्णचैतन्य-विहार।
चित्र भाव, चित्र गुण, चित्र व्यवहार॥"

(चै०च०आदि०,परि०१७) ॥११२॥

नवद्वीप अवतार, राधा-भाव अङ्गीकार,
भाव कान्ति अङ्गेर भूषण।
तिन वांछा अभिलाषी, शची-गर्भे परकाशि,
सङ्गे सब पारिषदगण॥११३॥

तीन वाञ्छायें—

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय इस त्रिपदी में श्रीकृष्ण के श्रीमन्महाप्रभुरूप में अवतार का मुख्य हेतु निरूपण कर रहे हैं। पहले कहते हैं—"नवद्वीपे अवतार, राधामाधव अङ्गीकार, भाव-कान्ति अङ्गेर भूषण"। श्रीराधिका के प्राणनाथ ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण श्रीराधा का भाव अङ्गीकार कर और उनकी कान्ति को अङ्ग का भूषण बनाकर गौराङ्गरूप में नवद्वीप में अवतीर्ण हुए हैं। श्रीकृष्ण ने राधारानी की भावमाधुरी आस्वादन करने के लोभ से उनकी मादन, मोदन, मोहन आदि अनन्य भावराजि अङ्गीकार की है, और उनकी हेमकान्ति से अपनी श्यामकान्ति आच्छादित कर (मानो) श्रीराधा-कान्ति को श्रीअङ्ग का भूषण बनाकर भीतर कृष्ण बाहर गौर रूप से आत्मप्रकाश किया है। कृष्णवर्ण के साथ कोई भी वर्ण क्यों न मिले, वह कृष्णवर्ण को छिपाकर दबाकर अपना प्रभाव विस्तार करने में समर्थ नहीं होता। किन्तु राधारानी की हेमकान्ति की ऐसी अद्भुत शक्ति है कि उसने श्रीकृष्ण की अति प्रगाढ़ श्यामकान्ति को भी दबा-छिपाकर पूरी तरह अपने प्रभाव का विस्तार किया है। श्रीकृष्ण की प्रगाढ़ श्याम कान्ति श्रीराधा की गलित स्वर्णकान्ति को बिन्दु मात्र भी म्लान करने में समर्थ नहीं हुई। इसीलिये कहा जा रहा है—श्रीकृष्ण ने मानो भूषण के रूप में ही अपने अङ्ग पर श्रीराधा की स्वर्णकान्ति को ग्रहण किया है।

उसी प्रकार श्रीकृष्ण राधारानी के अश्रु-पुलक आदि सात्त्विकभावों, नृत्यविलुठन (लोट-पोट)आदि अनुभावों और कूर्माकृति, अस्थिसन्धि-वियोग आदि अद्भुत अनुभावों—इन अलङ्कारों से भूषित होकर श्रीराधा के भाव से अपनी माधुरी का आस्वादन कर रहे हैं। श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने नीलाचल में रथ के आगे नृत्य-वर्णन में श्रीमन्महाप्रभु के अपूर्व भावालङ्कारो का उल्लेख किया है—

"उद्दण्ड नृत्ये प्रभुर अद्भुत विकार।
अष्ट सात्त्विक भावोदय हय समकाल॥
मांसव्रण सह रोमवृन्द पुलकित।
शिमुलीर वृक्ष जेनो कण्टके वेष्टित॥
एकेक दन्तेर कम्प देखि लागे भय।
लोके जाने-दन्त सब खसिया पड़य॥
सर्वाङ्गे प्रस्वेद छुटे-ताते रक्तोद्गम।
जज गग जज गग गद्गद् वचन॥
जलयन्त्रधारा जेनो बहे अश्रुजल।
आशपाश लोक जतो भिजिलो सकल॥
देहकान्ति गौर कभु देखिये अरुण।
कभु कान्ति देखि जेनो मल्लिका पुष्पसम॥
कभु स्तब्ध, कभु प्रभु भूमिते पड़य।
शुष्क काष्ठसम हस्तपद ना चलय॥
कभु भूमि पड़े, कभु हय श्वासहीन।
जाहा देखि भक्तगणेर हय प्राणक्षीण॥"

इसके पश्चात् श्रीराधा की भाव-कान्ति लेकर श्रीकृष्ण के गौररूप में अवतरण का हेतु बताते हैं—"तिन वाञ्छा अभिलाषी, शचीगर्भे परकाशि, सङ्गे सब पारिषदगण"। श्रीमन्महाप्रभु के द्वितीय स्वरूप श्रीपाद स्वरूपदामोदर ने अपने 'कड़चा' में श्रीमन्महाप्रभु के अवतरण के मुख्य हेतु वर्णन-प्रसङ्ग में तीन वाञ्छाओं की बात ही कही है—

"श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा-
स्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभा-
तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥"

अर्थात् 'श्रीराधा के प्रेम की महिमा कैसी है; उस प्रेम के द्वारा राधारानी मेरे जिस अद्भुत माधुर्य का आस्वादन करती हैं, वह माधुर्य ही कैसा है; मेरा माधुर्य आस्वादन कर श्रीराधा को जो सुख होता है, वह सुख कैसा है—इन तीन बातों के लोभ से श्रीराधा के भाव से समृद्ध होकर श्रीकृष्णचन्द्र शचीगर्भ-सिन्धु में आविर्भूत हुए हैं।' श्रीराधा के प्रेम से जुड़ी इन तीन वाञ्छाओं ने ही श्रीकृष्ण के हृदय में विपुल लोभ जगाया था। वे ब्रजलीला में बहुत चेष्टा करने पर भी इन वाञ्छाओं को पूरा नहीं कर सके। तभी श्रीराधा की भाव-कान्ति धारणकर गौररूप में अवतरण का स्थिर सङ्कल्प लिया—

"रस आस्वादिते आमि कैलो अवतार।
प्रेमरस आस्वादिलो विविध प्रकार॥
रागमार्गे भक्त भक्ति करे जे प्रकारे।
ताहा शिखाइलो लीला आचरण द्वारे॥
एइ तिन तृष्णा मोर नहिलो पूरण।
विजातीय भावे नहे ताहा आस्वादन॥
राधिकार भावकान्ति अङ्गीकार बिने।
सेइ तिन सुख कभु नहे आस्वादने॥
राधाभाव अङ्गीकरि धरि तार वर्ण।
तिन सुख आस्वादिते हबो अवतीर्ण।
सर्वभावे कैलो कृष्ण एइतो निश्चय।
हेनो काले आइलो युगावतार-समय॥
सेइ काले श्रीअद्वैत करेन आराधन।
ताँहार हुङ्कारे कैलो कृष्ण आकर्षण॥
पिता माता गुरुगण आगे अवतारि।
राधिकार भाव वर्ण अङ्गीकार करि॥
नवद्वीपे शचीगर्भ -शुद्धदुग्ध-सिन्धु।
ताहाते प्रकट हैला कृष्ण पूर्ण इन्दु॥"

(चै० च० आदि०, परि० ४) ॥११३॥

गौरहरि अवतरि, प्रेमेर बादर करि,

साधिला मनेर निज काम।

राधिकार प्राणपति, किभावे कान्दये निति,

इहा बुझे भकत-समाज॥११४॥

निज कार्य-साधन :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रीमन्महाप्रभु के अवतरण का कारण बताकर अब अवतरण का कार्य बता रहे हैं-गौरहरि अवतरि, प्रेमेरे बादर करि, साधिला मनेर निज काज"। श्रीमन्महाप्रभु के मन का कार्य दो प्रकार का है-एक मुख्य, दूसरा गौण। पिछली त्रिपदी में वर्णित तीन वाञ्छाओं का आस्वादन ही मुख्य कार्य है; जग-जन को प्रेमदान गौण या आनुषङ्गिक कार्य है। श्रील रामानन्द राय ने श्रीमन्हाप्रभु से कहा है—

"राधिकार भावकान्ति करि अङ्गीकार।
निजरस आस्वादिते करियाछो अवतार॥
निज गूढ़ कार्य तोमार प्रेम आस्वादन।
आनुषङ्गे प्रेममय कैले त्रिभुवन॥"

(चै० च० मध्य०, परि० ८)

विश्व को प्रेममय करने में श्रीमन्महाप्रभु को कोई जोर नहीं आया, कारण—वे 'गौरहरि' हैं। "हरि शब्देर नाना अर्थ, दुइ मुख्यतम। सर्व अमङ्गल हरे, प्रेम दिया हरे मन॥" (चै० च०) गौरहरि ने अपने अङ्ग की महाप्रेममय श्रीराधा की गौरकान्ति दिखाकर तत्क्षणात् विश्वमानव के हृदय की अमङ्गलमय विषयवासना हरणकर प्रेमदान द्वारा सभी का मन हरण किया है। जैसे श्रावण के मेघ सर्वत्र जलधारा वर्षणकर निदाघतप्त विश्व को सिक्त-सुशीतल कर देते हैं, वैसे ही प्रेममय गौरहरि ने विश्व के आकाश में प्रेम के बादल उदय करा प्रेमधारा वर्षण द्वारा विश्व की त्रितापज्वाला शान्त कर सबको प्रेमबन्या में डुबो दिया है। महाजन-वाणी है—"हेम जलद काय, प्रेमधारा बरिषय।" जिस प्रेमवन्या में श्रीगौरहरि ने विश्व को आप्लावित किया है, वह प्रेम भी अज-भव आदि के लिये सुदुर्लभ ब्रज का मधुररस जातीय मञ्जरीभावमय प्रेम है। तभी महाजन गाते हैं—

"पतित हेरि' कान्दे थिर नाहि बान्धे करुण नयाने चाय।
निरुपम हेम जिनि' उजोर गोरा-तनु अबनी घन गड़ि जाय॥
गौराङ्गेर निछनि लइया मरि।
ओरूप-माधुरी पिरिति-चातुरी तिल-आध पासरिते नारि॥
वरण आश्रम किञ्चन-अकिञ्चन कारो कोनो दोष नाहि माने।
कमला-शिव-विधि दुलह-प्रेम-निधि दान करये जगजने॥
ओइछन सदय हृदय रसमय गौर भेलो परकाश।
प्रेम-धनेर धनी कयलो अवनी वञ्चित गोविन्ददास॥"

इसके बाद कहते हैं—"राधिकार प्राणपति, कि भावे कान्दये निति, इहा बुझे भकत समाज"। उन्हीं आनन्दघनविग्रह स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन ने श्रीराधा का भाव अङ्गीकार कर श्रीराधा के प्राणपति होकर भी श्रीराधाभाव से अहर्निश केवल रोदन किया है—"काँहा करों, काँहा पाउँ व्रजेन्द्रनन्दन। काँहा मोर प्राणनाथ मुरलीवादन॥ काहारे, कहिबो, केबा जाने मोर दुख। व्रजेन्द्रनन्दन बिनु फाटे मोर बुक॥" (चै० च०) श्रीमन्महाप्रभु ने मुख्यतः राधारानी के विरहभाव का आश्रय लेकर ही श्रीराधा की प्रेममाधुरी का आस्वादन किया है। कारण यह है कि विरह में ही प्रेमसिन्धु का आलोड़न सर्वाधिक है, इसीलिए आस्वादन की भी समधिक चमत्कारिता है।

प्रेममयी राधारानी के हृदय में श्रीकृष्ण विरह में जो अपूर्व भाव उत्पन्न हुए थे, उन्हें व्यक्त करने की सामर्थ्य मानव-भाषा में नहीं। श्रीकृष्णविरह में राधारानी उन्मादिनी हैं; उनका भीतर-बाहर कृष्णमय है। उनका कृष्णज्ञान है, कृष्णध्यान है, कृष्णमयी के लिये बाह्यजगत का अस्तित्व तक मिट गया है!! वे 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' कहती-कहती उन्मादिनी की तरह ब्रज के गहन कानन में परिभ्रमण कर रही हैं। उनके कुसुमकोमल चरण काँटों से बिंध रहे हैं, पर उस ओर उनका ध्यान ही नहीं। सामने विषधर सर्प फन फैलाये गर्ज

रहा है; वे उसे देखकर भी नहीं देख पातीं। वे तो एकमात्र कृष्ण-चिन्तन में मग्न हैं, कृष्ण-प्राप्ति के लिये ही व्याकुल हैं!! सखियाँ किसी तरह प्रेम-पागलिनी की प्राणरक्षा कर रही हैं।

श्रीकृष्ण ने श्रीराधा का भाव अङ्गीकार कर श्रीगौराङ्ग रूप में नीलाचल में गम्भीरा-लीला में दिव्योन्मादवती की इसी भावदशा का आस्वादन किया है। इस दुर्ज्ञेय भाव को समझने की सामर्थ्य किसी में नहीं; केवल भक्तगण ही यथामति अनुभव करते हैं। "श्रीराधिकार प्राणपति, कि भावे कान्दये, निति, इहा बुझे भक्तसमाज"। भक्त की प्रेमचेष्टा श्रीकृष्ण भी सम्यक् रूप से नहीं समझ सकते; अन्य की तो बात ही क्या। महाभावमयी राधारानी की प्रेमचेष्टा समझने की शक्ति किसमें? इस प्रेमचेष्टा को समझने के लिये ही श्रीकृष्ण राधाभाव लेकर गौर हुए हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत (३/१८) में वर्णन है—

"भक्तेर प्रेमविकार देखि कृष्णेर चमत्कार।
कृष्ण जार ना पाय अन्त केबा छार-आर॥
भक्तप्रेमेर जतो दशा जे गति प्रकार।
जतो दुःख जतो सुख जतेक विकार॥
कृष्ण ताहा सम्यक् ना पारे जानिते।
भक्तभाव अङ्गी करे ताहा आस्वादिते॥
कृष्णेरे नाचाय प्रेम भक्तेरे नाचाय।
आपने नाचय—तिने नाचे एकठाँइ॥
प्रेमेर विकार वर्णिते चाहे जेइ जन।
चान्द धरिते चाहे जेनो हइया बामन॥
वायु जैछे सिन्धुजलेर हरे एक कण।
कृष्णप्रेमा कणेर तैछे जीवेर स्पर्शन॥
क्षणे क्षणे उठे प्रेमार तरङ्ग अनन्त।
जीव छार काहाँ तार पाइवेक अन्त॥
श्रीकृष्णचैतन्य जाहा करे आस्वादन।
सबे एक जाने ताहा स्वरूपादि गण॥
जीव हइया करे जेइ ताहार वर्णन।
आपना शोधिते तार छोंय एक कण॥"११४॥

गुपते साधिबे सिद्धि, साधन नवधा भक्ति
प्रार्थना करिबो दैन्ये सदा।
करि हरि-सङ्कीर्तन, सदाइ आनन्द मन
कृष्ण बिना आर सब बाधा॥११५॥

साधन-भीतर का, बाहर का :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ग्रन्थकार महोदय रागानुगीय साधक के भजन की सार बात इस त्रिपदी में बता रहे हैं। कहते हैं—"गुपते साधिबे सिद्धि, साधन नवधा भक्ति, प्रार्थना, करिबो दैन्ये सदा"।'गुपते' अर्थात् गुप्त रूप से -सिद्धि साधिबे—अन्तश्चिन्तित सिद्धदेह से साधक अहर्निश श्री श्रीराधाकृष्ण की प्रेमसेवा का चिन्तन करे। साथ ही साथ बाहर से साधकदेह से श्रवण-कीर्तन आदि नवधा भक्ति का साधन चलता रहे। "बाह्य अन्तर इहार दुइतो साधन। बाह्य—साधकदेहे करे श्रवण कीर्तन॥ मने—निज सिद्धदेह करिया भावन। रात्रिदिने करे ब्रजे कृष्णेर सेवन॥" (चै० च०) गौड़ीय वैष्णवों के रागभजन की यही चरम विशेषता है कि साधक को साधनदशा में ही सिद्धदशा का सभी परिचय मिल जाता है। साधन दशा में स्वरूपावेश के साथ देहावेश का मिश्रण रहता है, इसलिए साधक सिद्धस्वरूप की और स्वरूपावेश में चिन्तनीय सेवा की वैसी आस्वादन चमत्कारिता नहीं पा सकता। साधकदेह से नवधाभक्ति के याजन में जिस परिमाण में चित्त परिमार्जित और विषयवासना या देहावेश से रहित होता है एवं स्वरूपावेश प्रबल होता है, उसी के अनुरूप सिद्धदेह में भजन-आवेश भी प्रबल होता है और तदनुरूप आस्वादन-चमत्कारित्व भी प्रकट होता है। तभी श्रील ठाकुर महाशय ने अन्तश्चिन्तित सिद्धदेहाभिमान के साथ श्रीराधामाधव की अष्टकालीन सेवा के चिन्तन एवं बाहर साधकदेह से श्रवण-कीर्तन अर्चना आदि नवधाभक्ति साधना की बात कही है।

अथवा "गुपते साधिबे सिद्धि, साधन नवधा भक्ति"—इसका यह अर्थ होगा कि साधक अपना भजनानुभव यत्र-तत्र प्रकट न कर अति गुप्तरूप से भावसिद्धि की ओर अग्रसर हो। इससे पहले कहा है—"राखो प्रेम हृदये भरिया", और बाद में भी कहेंगे—"आपन भजन-कथा, ना कहिबो जथा तथा"। प्रेम या भजनानुभव बाष्प की तरह है। यन्त्र विशेष से वाष्प को रुद्ध करते हैं, तो उसकी शक्ति विपुलरूप से बढ़ जाती है; फलस्वरूप सहत्र-सहत्र लोगों की शक्ति के लिये भी दु:साध्य या असाध्य कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। उसी प्रकार प्रेम के उच्छवास को या भजन अनुभूति को हृदय में रुद्ध कर सकें या छिपाकर रख सकें, तो उसकी शक्ति असीमरूप से बढ़ जाती है और साधकात्मा को शीघ्र ही भगवद् राज्य में ले जाती हैं। वस्तुत: अतृप्ति ही भक्ति का स्वभाव है; तभी साधक भजन के जितने उन्नत स्तर पर पहुँचता है, वह स्वयं को उतना ही साधन-भजनशून्य अति अधम पतित समझता है और दैन्य के साथ अभीष्ट चरणों में सतत कातर प्रार्थना करता है कि उसे भजन का सौभाग्य प्राप्त हो। साधक की वही आकुल या लालसामयी प्रार्थना अभीष्ट की करुणा की चटखनी खोल देती है और अभीष्ट की कृपामृतधारा के शत-शत उत्स उसकी ओर झरने लगते हैं। श्रील ठाकुर महाशय ने यही बात समझानी चाही है—'प्रार्थना करिबो दैन्ये सदा' कहकर।

फिर कहते हैं—"करि हरिसङ्कीर्तन, सदाइ आनन्द मन, कृष्ण बिना आर सब बाधा"। 'साधन नवधाभक्ति' द्वारा कीर्तनाङ्ग भजन की बात भी कही है, फिर भी इस विशेष कलियुग में श्रीमन्महाप्रभु ने स्वयं आचरण कर विश्वसाधकों को सङ्कीर्तन-प्रधान भजन की शिक्षा दी है—इसलिये पुन: विशेषरूप से हरि-सङ्कीर्तन की बात का उल्लेख कर रहे हैं। "भजनेर मध्ये श्रेष्ठा नवविधा भक्ति। कृष्णप्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति॥ तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ

नामसङ्कीर्तन। निरपराध नाम हैते हय प्रेमधन॥" (चै० च०) यहाँ बहुत लोगों द्वारा मिलकर श्रीखोल-करताल आदि के संयोग से उच्चस्वर से नामकीर्तन करने को सङ्कीर्तन कहा गया। "अत्र च बहुभिर्मिलित्वा कीर्तनं सङ्कीर्तनमित्युच्यते। तत्तु चमत्कारविशेषपोषात् पूर्वतोऽप्यधिकमिति ज्ञेयम्।" (भक्तिसन्दर्भ—२६९) अर्थात् यहाँ अनेक लोगों द्वारा मिलकर नामकीर्तन करने को ही सङ्कीर्तन कहा गया है। यह सङ्कीर्तन चमत्कारिता विशेष के पोषण के कारण कीर्तन में श्रेष्ठ है। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में लीलादि स्मरण के साथ या नाम-रूप-गुण-लीला में मन:संयोग के साथ जो कीर्तन किया जाता है, उसे भी 'सङ्कीर्तन' या सम्यक् कीर्तन कहा जाता है। इसमें केवल या मन:संयोगविहीन कीर्तन की अपेक्षा अधिक आस्वादन चमत्कारित्व रहता है।

जो भी हो, नाम और नामी अभिन्न तत्त्व होने से नामसङ्कीर्तन में सर्वदा ही भक्त का मन नामरसास्वादन करता है, धन्य होता है। पित्त-दुष्ट जीभ पर स्वभावत: मीठी मिश्री तिक्त लगती है। उसी प्रकार अपराध-दुष्ट जिह्वा पर नामरस की स्वादुता का अनुभव नहीं होता, पर निरपराध भक्त की जीभ पर श्रीनाम अक्षय-विशेष आस्वादन-धर्म का विस्तार करते हैं। तभी कहते हैं—"करि हरिसङ्कीर्तन, परम आनन्द मन"। फिर कहते हैं—"कृष्ण बिना आर सब बाधा", अर्थात् कल्याण-कामी साधक समस्त कृष्णेत्तर जड़ीय वस्तुओं के प्रति आसक्ति को भजन की बाधा समझे। जड़ीय वस्तुओं में आसक्ति ही कृष्ण के नित्यदास नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वभाव चित्स्वरूप जीवात्मा को कृष्ण की विस्मृति करा अनादिकाल से संसारदु:ख-भोग करा रही है। इसी आसक्ति को भजन की विपुल बाधा या अन्तराय जानकर दूर से त्यागना होगा। आरोग्यकामी व्यक्ति को व्याधिनाशक शक्तिशाली औषध के सेवन के साथ-साथ बड़ी सावधानी से कुपथ्य त्यागना पड़ता है। उसी प्रकार भक्ति-कामी साधक को भवरोग की परम महौषध नामसुधारस-आस्वादन के साथ-साथ कृष्णेतर वस्तुमात्र में आसक्ति या ममता त्यागनी होगी, कारण—"कृष्ण बिना आर सब बाधा"॥११५॥

संसार बाटुयारे, काम-फाँसि बान्धि मारे,

फुकार करहो हरिदास।

करहो भकत-सङ्ग, प्रेमकथा रस-रङ्ग,

तबे हय विपद-विनाश॥११६॥

टीका—

असच्चेष्टा-कष्टप्रद-विकट-पाशालिभिरिह प्रकाम कामादि प्रकट पथपातिव्यतिकरै:। गले बद्धा हन्येऽहमिति वकभिद्वर्त्मपगणे कुरु त्वं फुत्कारानवति स यथा त्वं मन इत:॥११६॥

विपद् नाश :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय ने पिछली त्रिपदी में भक्तिकामी साधक को उपदेश दिया है कि वह कृष्णेतर वस्तुमात्र में आसक्ति त्यागकर साधकदेह से सङ्कीर्तन-प्रधान नवधाभक्ति का याजन करे और सिद्धदेह से सेवा-चिन्तन आदि आन्तरिक भजन करे। इससे मन में यह बात आ सकती है कि देह-दैहिकादि या कामिनी-काञ्चन आदि जड़ीय वस्तुओं के प्रति आदमी का ऐसा दुर्वार आकर्षण रहता है, स्वाभाविक रूप से मन की ऐसी आसक्ति होती है; श्रील ठाकुर महाशय ने तभी इस त्रिपदी में उपाय बताया है। विषय-वासना की यातना बताने के साथ-साथ उससे विमुक्ति पाने का उपाय बताते हैं।

पहले कहते हैं—"संसार बाटुयारे, काम फाँसि बान्धि मारे, फुकार करहो हरिदास", अर्थात् संसाररूपी पथदस्यु कामना-वासनारूपी फाँसी गले में बाँधकर हत्या करने के लिए उद्यत है। हरिदास या वैष्णव का नाम लेकर उच्चस्वर से पुकारते ही यह दस्यु डरकर भाग जायेगा। 'संसार' का अर्थ है जड़ीय देह-दैहिकादि में मै-मेरा अभिमान। जीव स्वरूपत: चिदानन्द सत्ता है, पर अपने नित्य प्रभु श्रीकृष्ण को भूलकर जड़ीय विषय कामना के फलस्वरूप बहिरङ्गा माया के दास इस देह-दैहिकादि में 'मैं-मेरा' बुद्धि रखकर अपने चिदानन्द स्वरूप को भूल गया है और नाना योनियों में जन्म मृत्यु रोग शोक आदि दु:सह दुख या त्रिलाप ज्वाला भोगता घूम रहा है। जड़ीय देह-दैहिकादि मे 'मैं-मेरा' ज्ञान ही इस भवरोग का कारण है, तभी यही जीव का संसार है। पथदस्यु की तरह इसने जड़ीय कामना-वासनारूपी रज्जु से बांधकर जीव के हृदय की सद्वृत्तिरूपी सम्पत्ति का अपहरण कर लिया है। पथदस्यु पथिक का सर्वस्व अपहरण कर पकड़े जाने की आशङ्का से उसकी हत्या भी कर देते हैं। उसी प्रकार इस संसाररूपी दस्यु ने जीव का सर्वस्व लूटकर गले में कामना-वासनारूपी रस्सी बांधकर उसका विनाश करने का उपक्रम किया है। दस्यु द्वारा सर्वस्व लूट लिये जाने पर राहगीर उच्चस्वर से पथिक-रक्षक शक्तिशाली राज-सेवकों को पुकारता है, तो दस्यु डरकर भाग जाते हैं। उसी तरह यदि भक्तिपथ का पथिक साधक वैष्णव का नाम लेकर उच्चस्वर से पुकारे, तो संसाररूपी दस्यु भयभीत होकर भाग जायेगा। श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद ने भी अपनी मन:शिक्षा (५) में लिखा है—

"असच्चेष्टा-कष्टप्रद-विकट-पाशालिभिरिह
प्रकामं कामादि-प्रकट-पथपाति-व्यतिकरै:।
गले बद्ध्वा हन्येऽहमिति बकभिद्वर्त्मपगणे-
कुरु त्वं फुत्कारानवति स यथा त्वं मन इत:॥"

"हे मन! इस विश्व में काम आदि पथदस्यु असचेष्टारूपी दु:खप्रद भयङ्कर रज्जुओं द्वारा गला बाँधकर मुझ पर इच्छानुसार प्रहार कर रहे हैं—ऐसा कहकर तुम श्रीकृष्ण के पथरक्षक वैष्णवों को कातर स्वर में जोर से पुकारो जिससे वे इन शत्रुओं के कवल से तुम्हारी रक्षा करें।"

वैष्णवों को उच्चस्वर को पुकारने से पापमूल संसार आसक्ति दूर होगी, यह क्या बड़ी बात? "येषां संस्मरणात् पुंस सद्यः सुध्यन्ति वै गृहाः। किं पुनर्दर्शन-स्पर्शनपादशौचासनादिभिः॥" (भा० १।१९।३३) 'जिन वैष्णवों के स्मरणमात्र से देह-गेह आदि तत्क्षणात् पवित्र हो जाते हैं, उनके दर्शन, स्पर्श, पाद-प्रक्षालन, सम्भाषण आदि से पवित्र होंगे—इसमें आश्चर्य क्या?'

फिर कहते हैं—"करहो भकत सङ्ग, प्रेमकथा रस-रङ्ग, तबे हय विपद-विनाश।" कोई सोच सकता है—वैष्णव का नाम लेकर पुकारने से संसारदस्यु सामयिक रूप से पलायन कर भी जाय; वह पुनः किसी मुहूर्त आक्रमण कर सकता है। इसीलिए निरन्तर भक्त के सङ्ग प्रेमकथा श्रवण-कीर्तन का उपदेश कर रहे हैं। राहगीर यदि वनमार्ग से अकेला न जाय, बहुत लोगों के साथ नाना प्रकार की बातें करता-जाय, तो दस्यु उसके निकट नहीं आ सकते। उसी प्रकार सतत वैष्णवसङ्ग में भजन-जीवन यापन करने से संसार हृदय में और उपस्थित नहीं हो सकता। भक्तसङ्ग में भगवद्भजन गाढ़ होता है, साधक क्रमशः प्रेम के राज्य में पहुँचता है; आनुषङ्गिकरूप से समस्त अनर्थराजि का विनाश होता है और साधकजीवन में क्रमशः निष्कामता, कृष्णेतर वस्तुओं में अरुचि, दैन्य, विनय आदि सद्गुण परिस्फुट होते हैं। शक्तिशाली महाभागवतों के सङ्ग और कृपा के आलोक में अविद्या-तमसाच्छन्न हृदय भी भक्ति की उज्ज्वल प्रभा से समुद्भासित हो उठता हैं भजननिष्ठ निर्मलचेता महाभागवतगण के परम पवित्र भजनमय चरित्र आदर्शरूप में सतत सामने रखने से साधारण मानव के चित्त से भी विषयवासनायें अपगत हो जाती हैं और वह शीघ्र ही प्रेमभक्ति पाकर धन्य हो जाता है। श्रील ठाकुर महाशय ने पहले भी कहा है—"मार्जन हय भजन, साधुसङ्गे अनुक्षण, अज्ञान अविद्या पराजय" ❋॥११६॥

स्त्री-पुत्र बान्धव जतो, मरि जाय कतो शत,

आपनारे हओ सावधान।

मुइ से विषय हत, ना भजिनु हरि-पद,

मोर आर नाहि परित्राण॥११७॥

ग्रन्थकार की दैन्योक्ति :

सुधाकणिका व्याख्या : जिन लोगों को लेकर मानव की ऐसी विषयासक्ति है, पूज्यपाद ग्रन्थकार पहले उन्हीं की नितान्त नश्वरता बताकर सतर्क कर रहे हैं—"स्त्री पुत्र बान्धव जतो, मरि जाय कतो शत, आपनारे हओ सावधान"। मानव श्रीहरिभजन के लिये परम उपयोगी, ज्ञान-बुद्धि का आश्रय वह नर-शरीर पाकर भी विषयासक्त होकर अति दुर्लभ मानवजीवन के भजनोपयोगी समय को अवज्ञा, अवहेलना के साथ पशुवत् व्यतीत कर रहा है। मोह की पुतलियाँ स्त्री पुत्र बान्धव आदि उसके सामने शत-शत कर नित्य मर

❋ त्रिपदी ७ की व्याख्या कीजिये।

रही हैं; किन्तु मोह का ऐसा प्रबल प्रभाव है कि आदमी यह देखकर भी नहीं देख रहा। नश्वर मायिक वस्तु में आसक्त होकर मूल्यवान भजनोपयोगी समय को अवज्ञा कर खो रहा है। स्त्री, पुत्र, विषय-वैभव आदि भोग्य पदार्थों का दु:खदत्व एवं क्षणिकत्व उल्लेख कर भगवान् बुद्धदेव ने छन्दक से कहा था—

"अलं छन्दक, अनित्या: खल्वते कामा अध्रुवा आशाश्वता विपरिणामर्धाण: प्रद्रुताश्चपला गिरिनदीवेगतुल्या:, अवस्याबिन्दुवदचिरस्थायिन उल्लापना: रिक्तमुष्टिवदसारा: कदलिस्कन्धवद्दुर्बला, आमभोजनवद्वेदनात्मक: शरदभ्रनिभा: क्षणाद्भुता न भवन्ति;.....सागर इव दुष्पुरा: लवणोदक इव तृष्णाकरा:, सर्पशिरोवस्तु: महाप्रपातवत् परिवर्जिता: पण्डितै:, सभया: सरणा: सादिनवा: सदोषा इति ज्ञात्वा विवर्जिता: प्राज्ञे र्विगर्हिता विद्वद्भि: जुगुप्सिता आर्यै: विवर्जिता बुधै: परिगृहीता अबुधै: निसेविता: बालै:।"

'हे छन्दक! ये जो भोग्य-विषय हैं, सभी अध्रुव अनित्य हैं; इनकी परिणति नितान्त ही दु:ख जनक है; ये क्षणस्थायी चपल हैं; पहाड़ी नदी के स्त्रोत की तरह वेग से दौड़े जा रहे हैं; ओस की बूंद की तरह क्षणिक हैं; गहन शोक के जनक हैं। एक आदमी हाथ में कुछ भी न लेकर मुट्ठी बन्द कर ले, तो उसे देखकर लगता है कि मुट्ठी के भीतर न जाने क्या पदार्थ है, किन्तु मुट्ठी खोलता है तो सब खाली—उसी प्रकार ये धोखामात्र है; केले के पेड़ के स्कन्ध की तरह दुर्बल हैं; कच्चे पदार्थ के भोजन की तरह वेदनादायक हैं; शरदकाल के मेघ की तरह क्षणिक; सागर की तरह दुष्पूरणीय; नमक के पानी की तरह तृष्णावर्धक (जितना भोगें, उतनी ही लालसा बढ़ती है); सर्प के सिर की तरह दु:स्पर्शनीय; भीषण जलप्रपात की तरह पण्डितों द्वारा परिवर्जित; भय, विषाद, अभिमान और दोष से परिपूर्ण मान प्राज्ञगण द्वारा विवर्जित; विद्वानों द्वारा विगर्हित; आर्यों द्वारा जुगुप्सित; बुधगण द्वारा परित्यक्त: मूर्खों द्वारा परिगृहीत: बालबुद्धि व्यक्तियों द्वारा परिसेवित हैं।'

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—"आपनारे हओ सावधान", अर्थात् बुद्धिमान व्यक्ति सावधानी ने नश्वर स्त्री-पुत्र-विषयवैभव आदि में आसक्ति त्यागकर भजनमार्ग का आश्रय लेकर अपने नित्यप्रभु चिरसुन्दर चिरमधुर नित्य शाश्वत श्रीगोविन्द-पादपद्मों में हृदय की समस्त आसक्ति अर्पितकर सानुराग उनका भजन करें।

श्रील ग्रन्थकार महोदय प्रेम की मूर्ति हैं, फिर भी प्रबल दैन्य का उदय होने से स्वयं को भजनसाधनशून्य, विषयहत, नितान्त भाग्यहीन मानकर आगे कहते हैं—"मुइ से विषयहत, ना भजिनु हरिपद, मोर आर नाहि परित्राण"। श्रील ठाकुर महाशय की इस दैन्यवाणी से साधक को यही सीखना है कि 'विषयासक्त' और 'विषयहत' में कोई अन्तर नहीं। जो विषयासक्तिवश बहिर्मुख अवस्था में भोगसुखों में प्रमत्त होकर भजनहीन जीवन यापन कर रहे हैं, वे 'विषयासक्त' हैं। महत्सङ्ग एवं महत्कृपा पाकर वे भी भक्तिजीवन प्राप्त कर धन्य हो सकेंगे। किन्तु जो लोग भजनपथ का आश्रय लेकर भी अपराध आदि के वश जड़ीय रूप-रस आदि विषयों में आकृष्ट या आसक्त होकर अभीष्ट श्रीकृष्ण में आसक्ति रखने में समर्थ नहीं होते, वे 'विषयहत' हैं। विवेक बुद्धि के होते हुए भी उन लोगों की यह विषय आसक्ति कठिन, असाध्य व्याधि की तरह ही जटिल है, यह जानना होगा। उनके परित्राण का कोई रास्ता सहज ही देखने में नहीं आता॥११७॥

रामचन्द्र कविराज, सेइ सङ्गे मोर काज,

तार सङ्ग बिना सब शून्य।

यदि जन्म हय पुनः तार सङ्ग हय जेनो,

तबे हय नरोत्तम धन्य॥११८॥

बन्धुविरह :

सुधाकणिका व्याख्या : भगवान् को बीच में रखकर उनके सम्बन्ध से भक्त-भक्त में बन्धुत्व होता है। यह सम्बन्ध प्राकृत जगत् के बन्धुओं के सम्बन्ध की तरह नश्वर या क्षणिक नहीं होता। यह अप्राकृत होने के कारण नित्य और सत्य है। इस अप्राकृत बन्धु के सङ्ग द्वारा भगवान् के साथ सम्बन्ध घनिष्ठरूप से अनुभूत, आस्वादित और परिपुष्ट होता है, इसलिये यह बन्धु यथार्थ ही प्राणों का अन्तरङ्ग जन होता है। ऐसे बन्धु के वियोग से जिस असहनीय दुख या ज्वाला का अनुभव होता है, प्राकृत विश्व में उस दुःखानुभूति की कोई तुलना नहीं। श्रीमन्हाप्रभु ने श्रीरामानन्द राय से पूछा था—"दुःख मध्ये कोन् दुःख हय गुरुतर?" श्रील रामानन्द राय ने उत्तर दिया था—"कृष्णभक्तविरह बिनु दुःख नाहि आर॥"

ऐसे अप्राकृत बन्धुविरह का दृष्टान्त हमें श्रीपाद रघुनाथदास गोस्वामी में देखने को मिलता है। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद के साथ श्रीलदास गोस्वामिपाद का अलौकिक बन्धुत्व था। श्रीरूप के सङ्ग और कृपा के फलस्वरूप ही वृन्दावनेश्वरी राधारानी में उनकी असाधारण भक्ति का उदय हुआ था—यह बात उनके स्वयं के वर्णन से जानी जाती है—

"यदवधि मम काचिन्मञ्जरी-रूपपूर्वा, ब्रजभुवि वत नेत्रद्वन्द्वदीप्तिं चकार।
तदवधि तव वृन्दारण्यराज्ञि प्रकामं, चरणकमल-लाक्षा संदिदृक्षा ममाभूत॥"

(विलापकुसुमाञ्जलि-१४)

अर्थात् 'हे वृन्दावनराज्ञि! जिस दिन से अनिवर्चनीय श्रीरूपमञ्जरी ने तुम्हारी परिचर्यादि सिखाकर मेरी आँखे खोली हैं, उसी दिन से तुम्हारे श्रीचरणों का अलक्तकराग (महावर) दर्शन करने के लिये मेरी विपुल अभिलाषा उत्पन्न हो गई है।' ऐसे अप्राकृत बान्धव के साथ अपूर्व भगवत् माधुरी और प्रेमरस का आस्वादन प्राप्त होता है, तो उसका अन्तर्धान होने पर विरहज्वाला भी अत्यन्त असहनीय हो उठती है। श्रीरूप के विरह में कातर होकर श्रीपाददासगोस्वामी ने अपनी मर्मवेदना व्यक्त करते हुए लिखा है—

"अपूर्व प्रेमाब्धेः परिमलपयः फेन-निदहैः
सदा यो जीवातुर्यमिहकृपयासिञ्चदतुलम्।
इदानीं दुर्दैवात् प्रतिपदविपद्दावववलितो—
निरालम्बः सोऽयं कमिह तमृते यातु शरणम्॥"

अर्थात् 'मेरे जीवनोपायस्वरूप श्रीरूपगोस्वामी ने अपूर्व प्रेमपारावार के सुरभी-सलिल के फेनो से करुणा-पूर्वक मुझे यथेष्ट अभिषिक्त किया है। अब दुर्दैवश (उनके अन्तर्धान पर) प्रतिक्षण विपदरूपी दावानल से सन्तप्त निराश्रय मैं उनके अतिरिक्त और किसकी शरण लूँ?'

श्रीगौराङ्ग के अन्तर्धान पर विरहतप्त रघुनाथ यह सङ्कल्प लेकर ब्रज में आये थे कि ब्रजधाम दर्शन कर गोवर्धन से कूदकर देह त्याग देंगे। श्रीरूप-सनातन की कृपा से श्रीब्रजधाम, गिरिराज गोवर्धन एवं ब्रजमुकुटमणि श्रीराधाकुण्ड दर्शन कर उनका श्रीगौराङ्ग-विरह किञ्चित शान्त हुआ था। वे श्रीकुण्डाश्रय लेकर भजन में मग्न हुए किन्तु रूपगोस्वामिपाद के अदर्शन से उनके लिए मानो सब कुछ उलट गया—

"शून्यायते महागोष्ठं गिरीन्द्रोऽजगरायते।
व्याघ्रतुण्डायते कुण्डं जीवातु रहितस्य मे॥"

'जीवन-धारण के उपास्यस्वरूप श्रीरूपगोस्वामिपाद के विरह में महागोष्ठभूमि मुझे सूनी-सूनी लगती है। ऐसा लगता है मानो श्रीगोवर्धन अजगर की तरह और राधाकुण्ड व्याघ्र की तरह मुँह फाड़े हुए हैं।

महाविरह में अधीर होकर निरतिशय खेदार्त प्राणों से कहा था—"गौराङ्गचन्द्रसिंह रूपयुगं न पश्यन् हा वेदनाः कति सहे स्फुटरे ललाट।"—हाय! श्रीगौराङ्गचन्द्र और श्रीरूप-सनातन को देखे बिना और कितनी वेदना सहन करूँगा। ओ रे ललाट! तू दो भागों में फट जा!

श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय की श्रील रामचन्द्र कविराज के साथ ऐसी ही अप्राकृत बन्धुप्रीति की बात जानी जाती है। श्रीरामचन्द्र कविराज को खोकर ठाकुर महाशय के चित्त में कैसी तीव्र विरहानल प्रज्जविल हुआ था, उसी की ओर इङ्गित कर रहे हैं इस त्रिपदी में—"रामचन्द्र कविराज, सेइ सङ्गे मोर काज, तार सङ्ग बिना सब शून्य"। रामचन्द्र कविराज श्रीमन्महाप्रभु के पार्षद श्रीचिरञ्जीव सेन के पुत्र, पदकर्ता श्रीगोविन्ददास के ज्येष्ठ सहोदर, श्री श्रीनिवास आचार्य प्रभु के शिष्य हैं। महापण्डित, महाभक्त। अप्राकृत बन्धुप्रीति की यही विशिष्टता है कि उन लोगों के सङ्ग में भगवत् कथा के आस्वादन में श्रीहरि की रूप-गुण-लीलामाधुरी आँखों के आगे मूर्तिमान हो उठती है। 'सेइ सङ्गे मोर काज' द्वारा श्रील ठाकुर महाशय ने इसी कार्य को इङ्गित किया है। प्राकृत जगत् का बन्धुविरह प्रायशः हृदय को शोक-मोह के घने अन्धकार से घेर लेता है, किन्तु अप्राकृत बन्धुविरह हृदय को प्रेम के आलोक से प्रदीप्त कर आदमी को अभीष्ट के श्रीचरणों की ओर खींच ले जाता है। तब इस विश्व में विरही को सान्त्वना देने योग्य कोई वस्तु नहीं रहती; तभी कहते हैं—"तार सङ्ग बिना सब शून्य"।यह शून्यता या रिक्तता विश्व की किसी भी वस्तु से पूर्ण नही होती; यह विरही को साक्षात् लीलाराज्य में ले जाकर वहीं सिद्धस्वरूप से बन्धुमिलन करा अभीष्ट के साक्षात् सेवारस में मग्न करती है।

किन्तु श्रील ठाकुर महाशय निरतिशय दैन्य से भरकर या भक्ति के अतृप्ति-स्वभाव के वश सोचते हैं—सम्भवतः उन्हें पुनः जन्म ग्रहण करना हो। यदि जन्म होता है, तो श्रीलरामचन्द्र कविराज की तरह महाप्रेमिक या परम रसिक भक्त का सङ्ग मिले, यही कामना है—"यदि जन्म हय पुनः, तार सङ्ग हय जेनो, तबे हय नरोत्तम धन्य" ॥११८॥

आपन भजन-कथा, ना कहिबो यथा तथा,

इहाते हइबो सावधान।

ना करिहो केहो रोष, ना लइहो केहो दोष,

प्रणमहु भक्तेर चरण॥११९॥

भजनानुभूति की गोपनीयता :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय भक्त की भजन-अनुभूति की गोपनीयता की बात कहकर इस प्रेमभक्तिचन्द्रिका का उपसंहार कर रहे हैं। प्रेमभक्तिचन्द्रिका का आलोक हृदय में सतत छिपाकर रखना होगा; ऐसा करने से वह हृदय को आलोकित और सुशीतल कर प्राणचकोर की प्रेमामृत रसमाधुरी का आस्वादन करा कृतार्थ करेगा। भक्त सावधान रहे; यत्र-तत्र भजनानुभूति को व्यक्त न करें। आवश्यक हो तो श्रीगुरुदेव और अपने अन्तरङ्ग रसिक भक्त के आगे व्यक्त करें; इनके अतिरिक्त अन्य के निकट अपना भजन-अनुभव बिलकुल प्रकट न करें, अन्यथा उसके दैन्य की हानि और भजन की अनिवार्य क्षति होगी। श्रील ठाकु र महाशय ने इससे पूर्व भी "राखो प्रेम हृदये भरिया" "गुपते साधिबे सिद्धि" आदि त्रिपदियों में इस विषय में साधकों को बार-बार सावधान किया है। बार-बार के उल्लेख से इस विषय का विशेष गुरुत्व समझ में आता है।

श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद के भक्तिसन्दर्भ के अन्त में (अनु० ३३९) लिखा है—"अत्र च श्रीगुरोः श्रीभगवतो वा प्रसादलब्धं साधन-साध्यगतं स्वीयसर्वस्वभूतं यत्किमपि रहस्यं, तत्तु न कस्मैचित् प्रकाशनीयम्; सुसंवृतम्॥" अर्थात् "श्रीगुरुदेव अथवा भगवान् की कृपा से साधन और साध्यगत निज सर्वस्वस्वरूप जो कुछ रहस्यानुभूति प्राप्त होती है, उसे किसी के आगे प्रकट करना उचित नहीं। श्रीमद्भागवत में श्रीविष्णु ने श्रीअदितिदेवी से कहा है—हे देवि! मैंने तुमसे जो भी रहस्य बातें कहीं, किसी के पूछने पर भी कभी प्रकट मत करना। वेदगुह्य वस्तु की सुगुप्त रूप से रक्षा करें, तभी वह फलदायक होती है।' "वेदगुह्य कथा एइ अयोग्य कहिते॥" (चै० च०)

फिर कहते हैं—"ना करिहो केहो रोष, ना लइहो केहो दोष, प्रणमहु भक्तेर चरण"। इस प्रेमभक्तिचन्द्रिका में शुद्धभक्ति सिद्धान्त स्थापित करने में ऐसी अनेक परम सत्य श्रेय बातें कहनी पड़ी हैं, जो किसी-किसी को अप्रिय लग सकती हैं। "अन्य देवाश्रय नाइ" "ना पूजिबो देवीदेवा"—इससे अन्य देवोपासक दु:खी हो सकते हैं; किन्तु ये कहनी पड़ी हैं क्योंकि इससे अनन्यभजन या ऐकान्तित्व की हानि होती है। "कर्मी ज्ञानी भक्तिहीन, इहाके

करिबो भिन" "योगी, न्यासी, कर्मी, ज्ञानी, अन्यदेव पूजक ध्यानी, इहलोक दूरे परिहरि" ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, केवलि विषेर भाण्ड" इत्यादि बातों से कर्मी ज्ञानी योगी संन्यासी आदि को दु:ख हो, इसकी एकान्त सम्भावना है, किन्तु ज्ञान-कर्म आदि के मिश्रण से शून्य शुद्धा या केवला भक्ति के निरूपण प्रसङ्ग में निरपेक्षभाव से ये बातें भी कही गई हैं। श्रील ठाकुर महाशय प्रेमभक्तिचन्द्रिका के उपसंहार में बता रहे हैं कि इस ग्रन्थ में जो कहा गया है, वह वेद, शास्त्र, सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत, नारद-पञ्चरात्र आदि के मतानुसार ही वर्णित हुआ है। कोई दोष ग्रहण कर रुष्ट न हों; यथार्थ सत्य को जानने की इच्छा से अपने स्वरूप को समझकर शुद्ध कृष्णभक्ति-पथ का आश्रय लेकर धन्य हों। फिर कहते हैं—"प्रणमहु भक्तेर चरण"। अन्त में भक्तों के श्रीचरणों में प्रणाम करते हैं; वे लोग ही इस प्रेमभक्तिचन्द्रिका के चकोर हैं; वे इस प्रेमभक्तिचन्द्रिका की अमिय माधुरी का आस्वादन करें, तो इसके प्रकाश का प्रकृत उद्देश्य सिद्ध हो—यही तात्पर्य है॥११९॥

श्रीगौराङ्गप्रभु मोरे जे बोलान वाणी।
ताहा बिना भालो मन्द किछुइ ना जानि॥
लोकनाथ प्रभुपद हृदये विलास।
प्रेमभक्तिचन्द्रिका कहे नरोत्तमदास॥१२०॥

इति श्रीपाद नरोत्तम ठाकुर महाशय-विरचित श्रीश्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिका सम्पूर्ण।

प्रकृत-ग्रन्थ-रचयिता :

सुधाकणिका व्याख्या : श्रील ठाकुर महाशय प्रेमभक्तिचन्द्रिका के उपसंहार में प्रकृत ग्रन्थरचयिता का परिचय देते हैं—"श्रीगौराङ्ग प्रभु मोरे जे बोलान वाणी, ताहा बिना भालो मन्द किछुइ ना जानि।" पूज्यपाद श्रील ग्रन्थकार कहते हैं—वस्तुत: इस प्रेमभक्तिचन्द्रिका ग्रन्थ के प्रकृत रचयिता श्रीगौराङ्ग प्रभु हैं। उन्होंने मुझसे जो कहलवाया है, वही कहा है। इसमें मेरा अपना कर्तृत्व कुछ भी नहीं। अन्यान्य ग्रन्थरचयिता अच्छा-बुरा विचार कर सभी का सन्तोष विधान कर बुद्धिपूर्वक लोकप्रिय बना ग्रन्थरचना करते हैं; किन्तु यह प्रेमभक्तिचन्द्रिका मेरा विचारबुद्धि-प्रसूत वैसा ग्रन्थ नहीं। श्रीगौराङ्गप्रभु ने मेरी जिह्वा पर बैठकर जो वाणी बुलवाई है, मैंने यन्त्रवत् वही कहा है; इसलिये श्रीगौराङ्गप्रभु को ही इस ग्रन्थ के प्रकृत रचयिता जानकर भक्तवृन्द रसमाधुरी का आस्वादन करें।

श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने अपने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ के आरम्भ में (१।१।२) लिखा है—"हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्तितोऽहं वराकरूपोऽपि। तस्य हरेः पदकमलं वन्दे चैतन्यदेवस्य॥" अर्थात् 'हृदय में जिनकी प्रेरणा प्राप्तकर मैं अति क्षुद्र होकर भी या दुर्गम भक्तिरस निरूपण में अयोग्य होते हुए भी इस ग्रन्थ-रचना में प्रवृत्त हुआ हूँ—उन्हीं भगवान् श्रीचैतन्यदेव के पादपद्मों की वन्दना करता हूँ।'

श्रीमत् कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने श्रीचैतन्यचरितामृत की रचना के हेतु निरूपण-प्रसङ्ग में लिखा है—"एइ ग्रन्थ लेखाय मोरे मदनमोहन। आमार लिखन जेनो शुकेर पठन॥ सेइ लिखि, मदनगोपाल जे लिखाय। काष्ठेर पुत्तली जेनो कुहके नाचाय॥" (आदि०, परि० ८) श्रीमत् रूप गोस्वामिपाद की ग्रन्थावलि श्रीचैतन्यदेव की प्रेरणा से रचित है। श्रील कविराज गोस्वामिपाद का श्रीचैतन्य चरितामृत साक्षात् श्रीमन्मदनगोपाल की प्रेरणा से लिखित है। प्रेमभक्ति चन्द्रिका भी श्रीगौराङ्गप्रभु की प्रेरणा से प्रकट हुई है। तभी हमारे मन में आता है कि श्रीचैतन्य-मनोभीष्ट के संस्थापक श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद का सिद्धान्त, श्रीमद्भागवत का सार, समग्र गोस्वामिशास्त्रों का निर्यास श्रीचैतन्यचरितामृत और प्रेमभक्तिचन्द्रिका में मिलता है।

अन्त में पूज्यपाद ग्रन्थकार अपने श्रीश्रीगुरुपादपद्मों का स्मरण कर ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं- "लोकनाथ प्रभुपाद हृदये विलास। प्रेमभक्तिचन्द्रिका कहे नरोत्तमदास॥" मङ्गलाचरण में श्रीगुरुचरण-वन्दना कर ग्रन्थ का शुभारम्भ कर श्रीगुरुचरण वन्दना से ही ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं। श्रील ठाकुर महाशय ने श्रीगौराङ्गप्रभु की कृपा से प्राप्त प्रेमभक्तिरत्नराजि मानो गुरु-करुणारूपी सम्पुट में यत्नपूर्वक सुरक्षित रखी। जैसे सम्पुट (पेटी, मंजूषा) के निचले और ऊपरी दो सुदृढ़ डालाओं (ढक्कनों) के बीच रत्नराजि सुरक्षित रहती है, वैसे ही इस ग्रन्थ में निहित प्रेमरत्नराजि श्रीगुरुकृपा से सुदृढ़ सम्पुट में सुरक्षित है। श्रीगुरु-करुणा ही इस सम्पुट की चाबी है। भक्तसाधक श्रीगुरुकृपा को सम्बल बनाकर इस प्रेमरत्नराजि का हार कण्ठ में धारण कर धन्य हों। जय श्रीश्रीगुरुगौराङ्गदेव! श्रीश्रीराधामाधव!! जय श्रीश्रीगौरभक्तवृन्द!!!

श्रीश्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिका की सुधाकणिका व्याख्या सम्पूर्ण

❋❋❋

श्रील रघुनाथदास गोस्वामिपाद की श्रीविलापकुसुमाञ्जलि से

हा नाथ गोकुलसुधाकर सुप्रसन्न, वक्त्रारविन्द मधुरस्मित हे कृपार्द्र।
यत्र त्वया विहरते प्रणयैः प्रियारा, तत्रैव मामपि नय प्रियसेवनाय॥१००॥

अन्वय—हा नाथ! गोकुलसुधाकर! सुप्रसन्नावक्त्रारविन्द! मधुरस्मिते! हे कृपार्द्र त्वया (सह) यत्र प्रिया (श्रीराधा) आरात् (निकट) प्रणयैः विहरते तत्रैव प्रिय-सेवनाय माम् अपि नय॥१००॥

अनुवाद—हा नाथ! हे गोकुलचन्द्र! हे सुप्रसन्नमुखारविन्द! हे मधुर हास्यानन! हे कृपार्द्र! तुम जिस स्थान पर अपनी प्रिया राधा के साथ अतिशय प्रणय से भरकर विहार कर रहे हो, वहाँ अपनी दोनों की प्रिय सेवा के लिए मुझे भी ले जाओ॥१००॥

श्रीकृष्ण से प्रार्थना—

परिमलकणा व्याख्या : श्रीपाद ने अश्रुभरे नेत्रों और विरहातुर प्राणों से श्रीराधारानी के दर्शन के लिए विशाखाजी के चरणों में प्रार्थना की है। आँसू पोंछकर देखते हैं तो विशाखाजी अदृश्य। श्यामसुन्दर आकर उपस्थित हैं। उनके दर्शनकर उनके श्रीचरणों में निवेदन कर रहे हैं—'हा नाथ! हे गोकुल-सुधाकर! हे सुप्रसन्न मुखारविन्द ! हे मधुरस्मित! हे कृपार्द्र! जहाँ स्वामिनी तुम्हारे साथ खेलती हैं, मुझे वहीं ले चलो और अपनी (दोनों की) प्रियसेवा प्रदान करो।' प्रत्येक सम्बोधन के साथ किङ्करी की प्रियसेवा का सम्पर्क जड़ित है। 'हा नाथ!' तुम मेरी स्वामिनी के वल्लभ हो, तभी मेरे भी नाथ हो। दोनों एक दूसरे के रूप-गुण और प्रेम से आकृष्ट हैं, पर दोनों ही एक दूसरे के लिए दुर्लभ हैं तभी तुम दोनों की प्रियसेवा में मेरी आवश्यकता है—तुम दोनों यह बात जानते हो। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने श्रीकृष्ण के दशनामस्तोत्र 'लीलामृत' में पारस्परिक प्रियता की बात बताई है—

"राधिकाहृदयोन्माँदि वंशीक्वानमधुरच्छटः।
राधापरिमलोद्गारगरिमाक्षिप्तमानसः॥
कभ्रराधामनोमीनवड़िशीकृतविभ्रमः।
प्रेमगर्वान्धगान्धर्वाकिलकिञ्चितरञ्जितः॥
ललितावश्यधीराधामानाभासवशीकृतः।
राधावक्रोक्तिपीयूषमाधुर्यभरलम्पटः॥
मुखेन्दुचन्द्रिकोद्गीर्ण-राधिकाराग-सागरः।
वृषभानुसुताकण्ठहारिहारहरिन्मणिः॥
फुल्लराधाकमलिनीमुखाम्बुजमधुव्रतः।
राधिकाकुचकस्तुरीपत्रस्फुरदुरस्थलः॥
इति गोकुलभूपाल-सूनुलीलामनोहरम्।
यः पठेन्नामदशकं सोऽस्य वल्लभतां व्रजेत्॥"

"जो वंशीध्वनिरूपी मकरन्द परम्परा से श्रीराधा का चित्त उन्मादित करते हैं। श्रीराधा के अङ्ग-सौरभ से जिनका मन आकृष्ट होता है। जिन्होंने श्रीराधा के चित्तरूपी मीन को बेधने के लिए अपने

विलासरूपी काँटे का आश्रय लिया है। जो प्रेमगर्विता श्रीराधा के किलकिंचित (मिलन के समय रोदन, हास, रोष आदि) भाव में अनुरक्त हैं। जो ललितागत चित्त श्रीराधा के मान के आभास से भी कातर होते हैं; जो श्रीराधा के वक्रोक्तिरूपी अमृत का पान करने को अतिशय लुब्ध है। जिनके मुखचन्द्र की चन्द्रिका से श्रीराधिका का अनुराग-सागर उच्छलित होता है; जो वृषभानुसुता श्रीराधिका के कण्ठहार की मरकतमणि-स्वरूप हैं। श्रीराधा-कमलिनी के प्रफुल्ल मुखपद्म के भृङ्गस्वरूप हैं; आलिङ्गन के कारण जिनका वक्षस्थल श्रीराधा के स्तनयुगल के कस्तूरी चिह्नों से चिह्नित हैं। श्रीराधाकृष्ण की पारस्परिक वल्लभता या प्रियता बताने वाले श्रीनन्दनन्दन के इस लीलामनोहर दशनामस्तव का जो पाठ करते हैं, वे भी उनके अति प्रिय होते हैं।"

'हे गोकुल-सुधाकर'—स्वामिनी की इन्द्रियों पर सुधावर्षण करने वाले। प्रत्येक इन्द्रिय को, मन को अपूर्व भोग (आनन्द-आस्वादन) प्रदान कर स्वामिनी को पागल बना देते हैं। उन्हीं प्रेमपागलिनी को सान्त्वना देकर रास्ता दिखाते सङ्केतकुञ्ज में तुम्हारे पास लाना होगा-तब मेरी आवश्यकता पड़ेगी। श्रीगोविन्दलीलामृत (८/३) में श्रीराधा की पञ्चेन्द्रिय के आकर्षण का वर्णन है—

"सौन्दर्यामृतसिन्धुभङ्गललनाचित्ताद्रिसंप्लावकः,
कर्णानन्दीसनर्मरम्यवचनः कोटीन्दुशीताङ्गकः।
सौरभ्यामृतसंप्लवावृत जगत्पीयूषरम्याधरः,
श्रीगोपेन्द्रसुतः स कर्षति बलात् पञ्चेन्द्रियाण्यालि मे॥"

श्रीराधा ने विशाखाजी से कहा—'हे सखि! जो सौन्दर्यरूपी अमृतसमूह की तरङ्गों से ललनाओं के चित्तरूपी पर्वत को संप्लावित करते हैं, जिनके रम्य वचन परिहासमय और कर्णसुखद हैं, जिनका अङ्ग कोटि चन्द्रमाओं से अधिक सुशीतल है, जो अपने सौरभ्य-अमृत द्वारा समस्त विश्व को संप्लावित करते हैं और जिनके अधर अमृत से भी अधिक रमणीय हैं—वही गोपेन्द्रनन्दन मेरी पञ्चेन्द्रिय को बलपूर्वक आकर्षित कर रहे हैं।'

श्रीमती की उत्कण्ठा की स्मृति में कहते हैं—'हे सुप्रसन्नवक्त्रारविन्द!" स्वामिनी की उत्कण्ठा की चरमता है। श्याम के साथ एक आसन पर बैठी हैं। उत्कण्ठा की अतिशयता के कारण प्रेमवैचित्त का उदय हुआ। श्याम की गोद में बैठी-बैठी ही 'हा नाथ! हा प्रियतम! तुम कहाँ हो?'—यह कहकर रोने लगीं। अवस्था देखकर श्याम को आनन्द-विस्मय हुआ। सुप्रसन्न मुखकमल। उत्कण्ठावती कब क्या कहती हैं, क्या करती हैं, इसका ठीक नहीं। सभी समय किङ्करी की सेवा या सान्निध्य की आवश्यकता है। अतएव तुम अपने (दोनों के) लीलाराज्य में ले चलो।'

एक रहस्यमय कुञ्जलीला की स्मृति में ये दो सम्बोधन लिये हैं—'हे मधुरस्मित' एवं 'हे कृपार्द्र'। कुंजविलास चल रहा है। स्वामिनी ने श्यामसुन्दर की लीला को ग्रस लिया है। 'तुम खेलना नहीं जानते' कहकर स्वामिनी हाथ पकड़कर श्याम को शृङ्गाररस के खेल सिखा रही है। स्वामिनी की चेष्टा से श्याम के चेहरे पर मृदुमधुर हँसी छिटकी है। अन्त में श्रान्त-क्लान्त-अवशाङ्ग होकर श्याम के वक्षस्थल पर लेट जाती हैं। श्याम कृपार्द्रचित्त हो स्वामिनी की सेवा कर रहे हैं। श्रीराधा का श्रम दूर करने के लिए वीजन (पंखा) अङ्गमर्दनादि कर रहे हैं। 'उसी लीलाराज्य में ले जाकर मेरी प्रिय सेवा दो' किसकी प्रिय सेवा? 'स्वामिनी की प्रिय या अपनी प्रिय, या मेरी प्रिय सेवा दान करो। स्वामिनी की जो सेवा तुम नहीं कर पाओगे, तुम्हारी जो सेवा स्वामिनी नहीं कर पायेंगी—वह सेवा मैं करुँगी।' कहते-कहते श्रीपाद व्याकुल हो उठते हैं।

❋

❀ श्रीश्रीगौरविधुर्जयति ❀

श्रीश्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय कर्तृक विरचिता

प्रार्थना

बंगला व्याख्या :

श्रीमत् अनन्तदास बाबाजी महाराज

❀

हिन्दी रूपान्तर :

ब्रजगोपाल दास अग्रवाल

❀

❀ श्रीश्रीगौरविधुर्जयति ❀

श्री श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय कर्तृक विरचिता

प्रार्थना

संप्रार्थनात्मिका

'गौराङ्ग' बोलिते हवे पुलक शरीर। 'हरि हरि' बोलिते नयने ब' बे नीर॥
आर कबे निताइचाँद करुणा करिबे। संसार वासना मोर कबे तुच्छ हबे॥
विषय छाड़िया कबे शुद्ध हबे मन। कबे हाम हेरबो श्रीवृन्दावन॥
रूप-रघुनाथ बोलि हइबे आकूति। कबे हाम बुझबो से युगल पिरीति॥
रूप-रघुनाथ-पदे रहु मोर आश। प्रार्थना करये सदा नरोत्तम दास॥१॥

सुधाकणिका व्याख्या—

श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय की प्रेमभक्तिचन्द्रिका की तरह प्रार्थना की वैष्णवजगत् को उनका एक अतुलनीय अवदान है। उनकी अति सरल प्राञ्जल एवं प्राणों के आवेग से भरी प्रार्थना में जो असाधारण साधन-सम्पदा या भावोच्छ्वास निहित है, वह भक्तिजगत में मृतसञ्जीवनीसुधा की तरह त्रितापदग्ध मुमुर्षु कलिजीव के लिये युगल-भजनरूपी जीवनप्रदायी एवं परम आस्वाद्य है।

'प्रार्थना' शब्द का आभिधानिक अर्थ है याचना करना या चाहना। जो शुद्ध भक्त हैं, उनके लिये अभीष्ट से अपने लिये प्रार्थना को कुछ भी नहीं रहता। इस लोक को ऐश्वर्य-सम्पदा आदि या परलोक के स्वर्ग आदि, यहाँ तक की मुक्ति-प्राप्ति की प्रार्थना भी भक्त के हृदय में जगती है, तो भक्ति आभासित हो जाती है; और प्रेमफल प्रसव नहीं करती। अपने सुख के लिये कोई अभिलाषा शुद्धभक्त के हृदय में नहीं रहती; पर अभीष्ट सुख के लिये भजन-कामना, प्रेम कामना या अभीष्ट की साक्षात् सेवा-कामना की तरंग उनकी हृदय-तटिनी (नदी) में सतत समुद्वेलित होती है। तभी ये भक्त अभीष्टचरणों में इस विषय में सतत प्रार्थना ज्ञापन करते हैं। भक्त की कातर प्रार्थना भगवान् की करुणा की अर्गला खोल देती है; भक्त भगवान् की करुणाधारा में अभिस्नात होकर (स्नान कर) अभीष्ट पाकर धन्य होता है। श्रील ठाकुर महाशय की प्रार्थनावाणी उसी का उत्स है।

श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने अपने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ में श्रीमद्भागवत-प्रणिहित श्रवण-कीर्तनादि नवधाभक्ति की विवृति प्रसङ्ग में चौसठ प्रकार के भजनाङ्गों का उल्लेख किया है; उसमें 'विज्ञप्ति' (प्रार्थना) भक्ति का एक अन्यतम अङ्ग है। उन्होंने विज्ञप्ति के प्रकारभेद निरूपण में लिखा है—

"संप्रार्थनात्मिका दैन्यबोधिका लालसामयी।
इत्यादिर्विविधा धीरैः कृष्णे विज्ञप्तिरीरिता॥"

(भ० र० सि० १/२/१५२/)

अर्थात् 'विज्ञजनो ने श्रीकृष्ण के निकट विज्ञप्ति के विविध भेद— संप्रार्थनात्मिका, दैन्यबोधिका, लालसामयी इत्यादि—निरूपित किये हैं'। इस प्रसङ्ग में श्रीमत् जीवगोस्वामिचरण ने अपनी दुर्गमसङ्गमनी टीका में लिखा है—"यतः संप्रार्थना अनुत्पन्नभावस्य, लालसा तु जातभावस्येति भेदः। लालसामयत्वात् संप्रार्थनाप्यत्र लालसेत्येव हि भण्यते, अतो लालसामयीयम्। अत्रेदृशे संप्रार्थना लालसे प्रस्तावादेव दर्शिते, किन्तु रागानुगायामेव ज्ञेये।" तात्पर्य यह है कि "मन बुद्धि आदि को भगवान् के चरणों में निष्ठा प्राप्त कराने की प्रार्थना ही संप्रार्थना है, अतएव यह अजातरति साधक ही है; अभीष्ट की सेवादि की प्रार्थनारूपी लालसा जातरति साधक की ही होती है। जातरति साधक की संप्रार्थना भी लालसापूर्ण होती है, इसलिए उसे भी लालसामयी कहने में कोई बाधा नहीं। प्रसङ्गतः वैधीभक्ति के प्रकरण में संप्रार्थना एवं लालसा का विवरण दिया जाता है, किन्तु इसका उपयुक्त स्थान रागानुगा-प्रकरण में ही है, यह जानना होगा।" श्रील ठाकुर महाशय प्रेम की मूर्ति और रागानुभक्ति के आचार्य हैं, इसलिए उनकी संप्रार्थना, दैन्यबोधिका आदि विज्ञप्ति सभी प्रगाढ़ लालसामयी हैं। इन सब प्रार्थनाओं के अनुवाद या श्रवण-कीर्तन से साधक के प्राणों की प्रार्थना खरी शुद्ध होगी और यह महाशक्तिशाली प्रार्थनावाणी साधक के प्रति भगवान् की करुणा की अर्गला खोल देगी। श्रील ठाकुर महाशय के ये सब प्रार्थनापद अति सहज सरल पयार और त्रिपदी छन्दों में रचित हैं, फिर भी भजनानुभवमय वाणी होने से अतिशय भावगम्भीर और गहन अर्थ-सरसतापूर्ण हैं। श्रील ग्रन्थकार महोदय की कृपाकणिका को सम्बल बनाकर हम इसके यथामति संक्षिप्त अर्थविचार में प्रवृत्त होते हैं। किस दुर्बोध या दुर्ज्ञेय विषय को लक्ष्य कर इन प्रार्थना वाणियों की रचना हुई है—मुझ जैसे क्षुद्र जीव के लिये यह सर्वथा धारणातीत है। इसलिये इस व्याख्या में श्रीपाद ग्रन्थकार की महा भावगम्भीर वाणियों का मर्म तरलित होगा, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। तथापि वैष्णवगण की आज्ञा इच्छा से हम इस कार्य में प्रवृत्त हुए हैं। इस दुःसाहस के लिये श्रीपाद ठाकुर महाशय के श्रीचरणों में बार-बार क्षमा-भिक्षा मांगते हैं।

श्रील ग्रन्थकार महोदय, प्रार्थनापद के प्रारम्भ में भावदशा की कामना से कहते हैं—"श्रीगौराङ्ग बोलिते हबे पुलक शरीर। हरि हरि बोलिते नयने बहे नीर॥" नाम-नामी अभिन्न तत्व है, इसलिये नाम में नामी (भगवान्) की पूर्ण शक्ति की अभिव्यक्ति है। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण प्रेममयी राधारानी की भाव-कान्ति लेकर ही गौर बने हैं, इसलिये उन प्रेमावतार के हृदय में सतत महाभाव-सिन्धु का विपुल आलोड़न है, तो श्रीअङ्ग भी सर्वदा अश्रु-पुलक आदि अष्ट सात्त्विक भावों में व्याप्त है। 'गौराङ्ग' नाम के उच्चारण के साथ ही साथ उस महाप्रेममय विग्रह की स्मृति में नामोच्चारण करने वाले की देह भी पुलिकित हो उठती है! "अद्यापिहो देखो—चैतन्य नाम जेइ लय। कृष्णप्रेमे पुलकाश्रुविह्वल से हय॥" (चै०च०) श्रील ठाकुर महाशय दैन्यवश सोचते हैं—हाय! ऐसे प्रेममय गौराङ्ग नाम में मेरी रति नहीं जन्मी। ऐसा शुभ दिन कब आयेगा, जब 'गौराङ्ग' नाम के उच्चारण से भावदशा के उदय होने से देह पुलकित हो उठेगी!

'गौराङ्ग' नाम में रति की कामना कर हरि या कृष्ण नाम में रति की कामना करते हैं—"हरि हरि बोलिते नयने बबे नीर"। 'हरि' नाम उच्चारण करते ही स्वप्रकाश हरिनाम श्रील ठाकुर महाशय की प्रेममय जिह्वा पर बार-बार उच्चारित होने लगा। कितनी बार उच्चारित हुआ, इसकी धारणा करने की सामर्थ्य किसी में नहीं। केवल 'हरि-हरि' दो बार लिखकर ही उन्होंने उस बार-बार समुच्चारित अनन्त हरि नाम का बस इङ्गित कर दिया। 'हाय'! हरि-हरि कहते मेरी आँखों से अश्रुधार कब प्रवाहित होगी!'

श्रील ठाकुर महाशय ने श्रीगौराङ्ग और हरि के नामों में जिस अश्रु-पुलक आदि की कामना की, उसका नाम 'सात्त्विक भाव' है। "कृष्णसम्बन्धिभिः साक्षात् किञ्चिद्वा व्यवधानतः। भावैश्चित्त-मिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः। सत्त्वादस्मात् समुत्पन्ना ये ये भावास्ते तु सात्त्विकाः॥" (भ०र०सि०२/२/१-२) अर्थात् श्रीकृष्ण-सम्बन्धनीय दास्य, सख्य आदि पाँच प्रकार की मुख्य रतियों द्वारा साक्षात् रूप से और हास्य, करुणा आदि सात गौण रतियों द्वारा किञ्चित् व्यवधान से आक्रान्त चित्त को पण्डितगण 'सत्त्व' कहते हैं। केवल उसी सत्त्व से समुत्पन्न भावों को 'सात्त्विक' कहा जाता है।' अश्रु, पुलक, कम्प, वैवर्ण आदि अष्ट सात्त्विक भाव हैं। भाव या रति द्वारा आक्रान्त विगलित चित्त इन अश्रु-पुलक आदि के उदित होने पर ही उसका आस्वादन-चमत्कारित्व प्रकट होता है। चित्त के विगलित होने से पूर्व अश्रु-पुलक आदि उदित हों, तो उसे सात्त्विकाभास कहते हैं। इनकी कोई आस्वादन-चमत्कारिता नहीं। इसीलिए अश्रु, पुलक आदि को भावोदय का साधारण लक्षण कहा गया है। असाधारण लक्षण या अनुभाव नौ हैं—

"क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावान्कुरे जने॥"

अर्थात् 'क्षान्ति, अव्यर्थकालता, विरक्ति, निरभिमानता, आशाबन्ध, समुत्कण्ठा, नाम-गान में सदा रुचि, भगवद्गुणानुवाद में आसक्ति और उनके वासस्थलों में प्रीति—जिन लोगों में भाव का अंकुरमात्र उदित हुआ है, उनमें ये अनुभाव उदित हुआ करते हैं।' श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है—"तदेवं प्रीतेर्लक्षणं चित्तद्रवस्तस्य च रोमहर्षादिकम्। कथञ्चिज्जातेहपि चित्तद्रवे रोमहर्षादिके वा न चेदाशयशुद्धिस्तदपि न भक्तेः सम्यगाविर्भावः इति ज्ञापितम्" (प्रीतिसन्दर्भ—अनु०६९) अर्थात् 'प्रीति का लक्षण चित्त की द्रवता (पिघलना) और उसका लक्षण अश्रु-पुलक आदि। किञ्चित् मात्रा में चित्त द्रवित हो ओर अश्रु-पुलक आदि का उदय हो, फिर भी चित्तशुद्धि न हो या कृष्णसेवा के अतिरिक्त अन्य अभिलाषा न छूटे और केवल श्रीकृष्ण में ही प्रीति की वासना न जगे, तो समझना होगा कि भक्ति का सम्यक् आविर्भाव नहीं हुआ।'

इसीलिये श्रील ठाकुर महाशय भावदशा की प्रार्थना करते हैं—"आर कबे निताइचाँद करुणा करिबे। संसार वासना मोर कबे तुच्छ हवे॥ विषय छाड़िया कबे शुद्ध हबे मन। कबे हाम हेरिबो श्रीवृन्दावन॥" श्रीपाद ग्रन्थकार श्रीश्रीनिताइचाँद के प्रेम की मूर्ति हैं, फिर भी दैन्य से भरकर प्रार्थना कर इस श्रीगौर-निताइ के युग के

आदमी को शिक्षा दे रहे हैं—इस युग में पतितोद्धार के लिये पतित-पावन श्रीनिताइचाँद में जिस असाधारण करुणा की अभिव्यक्ति हुई है, उसकी कोई तुलना नहीं। "दन्ते तृण धरि निताइ नगरे बेड़ाय॥ जारे देखे तारे कहे दन्ते तृण धरि। आमारे किनिया लहो बलो गौर हरि॥" ऐसे दयामय श्रीनिताइचाँद की कृपा बिना कलिजीवों की अनादि काल की संसार-वासना या देह-दैहिकादि में आसक्ति के प्रबल संस्कार तुच्छ कैसे होंगे? निताइ की करुणा होने से विषयकारता प्राप्त मन भी विषय-वासना त्यागकर शुद्ध होगा और तभी श्रीवृन्दावन-दर्शन के लिये प्राणों में व्याकुलता जगेगी, मधुर श्रीवृन्दावन की शोभा नयनगोचर होगी।

श्रीवृन्दावन श्रीरूप-रघुनाथ की भजनस्थली है। इस वृन्दावन में ही षड्गोस्वामिपाद ने भजन किया है। उन्होंने महा व्याकुलता से अनुप्राणित होकर इस वृन्दावन में ही श्रीश्रीराधाकृष्ण का अहर्निश अन्वेष किया है। 'भजन' का अर्थ ही है अभीष्ट को खोजना या अन्वेषण करना। वृन्दावन श्रीगोस्वमिपादगण के आकूतिमय भजनरस से भरपूर है। यहाँ आकर शुद्धचित्त साधक में भी उस आकूति का यथासम्भव संक्रमण होता है, श्रीरूप रघुनाथ की कृपा से साधक तब युगलप्रीति समझ सकता है। गोस्वामिपादगण ब्रज की ही मञ्जरियाँ हैं, जगजन को युगलप्रीति समझाने के लिए ही श्रीमन्महाप्रभु के साथ विश्व में अवतीर्ण हुए हैं तभी उन्होंने अपनी विपुल अनुभूति से भरी युगलप्रीति की शिक्षा अपने ग्रन्थों में निबद्ध की है। साधक उनकी भजनस्थली इस वृन्दावन में उनके लिए व्याकुल हो—'हा रूप! हा रघुनाथ!! तुम कहाँ हो दर्शन दो। यही तो तुम्हारी भजनस्थली—श्रीवृन्दावन है। यहीं तुम्हारी नित्यलीला चल रही है। मैं मोहान्ध—तुम्हारी लीला नहीं देख पाता।' साधक इस प्रकार इस वृन्दावन में रूप-सनातन का नाम लेकर व्याकुल हो, तो उनकी करुणा उतर आयेगी और साधक उनकी कृपा से युगलप्रेम का अनुभव प्राप्त करेगा—"रूप-रघुनाथ बोलि हइबे आकूति। कबे हाम बुझव से युगल पीरिति॥" युगल-प्रीति—श्रीश्रीराधामाधव का परम विशुद्ध पारस्परिक प्रेम। इस प्रेम का बोध अति सुदुर्लभ है, एकमात्र श्रीरूप-रघुनाथ का कृपा सापेक्ष। तभी कहते हैं—"रूप-रघुनाथ पदे रहु मोर आश। प्रार्थना करये सदा नरोत्तमदास॥"1॥

दैन्यबोधिका

हरि हरि कि मोर करम गति मन्द।

व्रजे राधाकृष्ण पद, ना भजिनु तिल आध, ना बुझिनु रागेर सम्बन्ध॥

स्वरूप-सनातन रूप, रघुनाथ भट्टयुग, भूगर्भ श्रीजीव लोकनाथ।

इहाँ सबार पादपद्म, ना सेविनु तिल आध, आर किसे पूरिबेक साध॥

कृष्णदास कविराज, रसिक भकत माझ, जेहों कैलो चैतन्य-चरित।

गौर-गोविन्द लीला, शुनिते गलये शिला, ताहाते ना हैलो मोर चित॥

से सब भकत सङ्ग, जे करिलो तार सङ्ग, तार संगे केने नहिलो वास।

कि मोर दुःखेर कथा, जनम गो ंवाईनु वृथा, धिक् धिक् नरोत्तम दास॥२॥

सुधाकणिका व्याख्या–

श्रील ठाकुर महाशय अत्यन्त दैन्य के उदय होने पर स्वयं को साधन-भजनहीन साधारण मायाबद्ध मानव समझकर आक्षेप से भरकर कहते हैं—हरि हरि! (खेदोक्ति) अर्थात् 'हाय हाय! मेरे कर्मों की गति या कृतकर्मों का परिणाम अति मन्द है; अपने कर्मपाश में बँधकर ब्रज में श्रीराधाकृष्ण के श्रीचरण तिलार्ध भी नहीं भजा। राग का सम्बन्ध ही नहीं समझा, राधाकृष्ण का भजन होगा कैसे?'

'रागेर सम्बन्ध'—इसकी व्याख्या दो प्रकार से सम्भव है। पहले, श्रीकृष्ण में स्वाभाविक परम आविष्टता ही राग है, उसका सम्बन्ध या संयोग! अर्थात् राधारानी एवं ललितादि सखियाँ या अन्यान्य ब्रजदेवियाँ रागवश जिस प्रकार श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध या संयोग प्राप्त करती हैं—वह जानना ही राग का सम्बन्ध समझना है। ससखी राधारानी की माधव के साथ परम विशुद्ध और महा अनुरागमय मिलन-माधुरी का अनुभव न होने से श्रीश्रीराधाकृष्ण का भजन कभी सम्भव नहीं। शृङ्गाररस या शुचिरस की उपासना है, उससे परम पवित्र वस्तु चिज्जगत् में और कुछ भी नहीं; हृदय कुछ पवित्र हो, तभी इस शुचिरस की उपासना के योग्य होगा। श्रील प्रेमानन्द ठाकुर ने कहा है—"कहिछो गोपीर धर्म, कि बुझिछो तार मर्म, स्वभाव छाड़िते नारो तिले।" प्राकृत या जड़ीय स्त्री-पुरुष आदि का स्वभाव त्यागकर गोपीभाव से विभावित अन्तःकरण या आत्मेन्द्रिय-सुख-वासनाशून्य गोपीभाव प्राप्त किये बिना युगल-उपासना कभी सम्भव नहीं।

दूसरे, 'रागेर सम्बन्ध' का अर्थ होगा साधक का अपना सम्बन्ध—रागानुगाभक्ति में अभीष्ट श्रीश्रीराधामाधव और राधारानी की सखीमञ्जरियों के साथ साधक का अपना सम्बन्ध! रागसाधक में अहर्निश श्रीगुरुप्रदत्त सिद्धस्वरूप का जागरण होना चाहिए। गौड़ीय वैष्णव साधक का राधारानी के साथ जो सम्बन्ध है, उसमें देहावेश बाधक है "आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्। रूप-यौवन-सम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥" (सनत्कुमार संहिता)—रागानुगीय साधक साक्षात् लीलाराज्य में राधारानी और उनकी सखीमञ्जरियों के बीच स्वयं का चिन्तन इस रूप में करेगा कि मैं रूप-यौवन-सम्पन्ना मनोरमा किशोरी प्रमदा हूँ। "अतएव गोपीभाव करि अङ्गीकार। रात्रिदिने चिन्ते राधाकृष्णेर विहार॥ सिद्धदेह चिन्ति करे ताँहाइ सेवन। सखीभावे पाय राधाकृष्णेर चरण॥" (चै० च०)

इसके पश्चात् राग का सम्बन्ध समझने का उपाय बताते हैं दैन्य से भरकर—"स्वरूप सनातन रूप, रघुनाथ भट्टयुग, भूगर्भ श्रीजीव लोकनाथ। इहाँ सबार पादपद्म, ना सेविनु तिल आध, आर किसे पूरिबेक साध॥" ये सब ब्रज की ही राधारानी की नित्यसिद्धा सखी-मञ्जरियाँ हैं। श्रीमन्महाप्रभु के पार्षदों के रूप में ब्रज का अति गूढ़ रहस्यमय मधुरभाव का रागानुगाभजन या श्रीश्रीराधाकृष्ण युगल की उपासना विश्वमानवों को बाँटने के लिये अवतीर्ण हुए हैं। इसलिये इनके पादपद्म-सेवन के बिना युगल-उपासना का रहस्य समझने की सामर्थ्य किसी में नहीं। इन लोगों ने नित्यसिद्ध पार्षद होकर भी स्वयं अति व्याकुल भाव से चरम आर्ति उत्कण्ठा के साथ रागभक्ति की साधना कर और ग्रन्थादि का प्रचार कर इस महाप्रभु-युग के लोगों को रागभजन का रहस्य सिखाया है। इसलिये श्रीमन्महाप्रभु के साथ उनके प्रिय पार्षद इन लोगों का सेवन या उपासना न करने से साधक का चित्त इनके प्रति अकृतज्ञतारूपी कालिमा से ढक जायेगा; अन्य प्रकार की हजार चेष्टायें करके भी साधक

राग का सम्बन्ध नहीं समझ पायेगा। दैन्य का उदय होने पर श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—मैंने तिलार्ध भी इन पार्षदों का सेवन नहीं किया, मेरी साध या अभिलाषा पूरी कैसे होगी? फिर कहते हैं—"कृष्णदास कविराज, रसिक भकत माझ, जेहों कैलो चैतन्य-चरित। गौर गोविन्द लीला, शुनिते गलाये शिला, ताहाते ना हैलो मोर चित॥" श्रीमन्महाप्रभु के ठीक पीछे रसिकभक्तों में अन्यतम श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने आविर्भूत होकर श्रीश्रीगौर-गोविन्द लीला का प्रचार किया। उनके रचे श्रीचैतन्य चरितामृत, श्रीगोविन्द लीलामृत आदि ग्रन्थ श्रील विल्वमङ्गल ठाकुर के श्रीकृष्णकर्णामृत ग्रन्थ की सारङ्ग-रङ्गदा टीका ही श्रील कविराज गोस्वामिपाद के अगाध रस-बोध का ज्वलन्त साक्ष्य प्रदान करती है। श्रीचैतन्य चरितामृत विश्व का एक ऐसा अद्वितीय ग्रन्थ है, जिसमें साध्यसाधनत्व, सिद्धान्त, लीला, साहित्य, इतिहास, दर्शन, आख्यान, रस एक साथ अपूर्व भाव परिपाटी के साथ वर्णित हुए हैं। श्रीचैतन्य चरितामृत में भी गौराङ्गलीला और श्रीश्रीगोविन्दलीलामृत में श्रीश्रीराधाकृष्ण की लीलामाधुरी का आपामर सभी के लिये ऐसा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है कि सुनकर शिला या प्रस्तर भी विगलित होता है, अर्थात् प्रस्तर सा कठोर हृदय भी द्रवित हो जाता है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—'उस मधुरातिमधुर लीलारस से मेरा कठोर चित्त द्रवित नहीं हुआ। उन सब रसिकभक्तों के सङ्ग में, यहाँ तक कि जिन्होने उनका सङ्ग या कृपा प्राप्त की थी, उनके सङ्ग में भी मेरा उठना-बैठना नहीं हुआ।' सत्सङ्ग ही भक्ति का कारण है, सत्सङ्ग की भक्ति का कार्य है, यहाँ तक कि सत्सङ्ग ही साक्षात् भक्ति या भगवत् वश्यता का हेतु बताया गया है। "साधुसङ्ग साधुसङ्ग सर्वशास्त्रे कय। लवमात्र साधुसङ्गे कृष्णभक्ति हय॥" (चै०च०) विशेषत: सजातीयाशय रसिकभक्तों के सङ्ग में ही भक्तिरस का आस्वादन-चमत्कारित्व प्रकट होता है।

श्रील ग्रन्थकार कहते हैं—'अपने गहन दु:ख या आक्षेप की बात किससे कहूँ, ऐसा भजनोपयोगी दुर्लभ मानवजन्म वृथा बीत गया, सत्सङ्ग में भजन नहीं कर सका—मुझे शत-शत धिक्कार।' "से सब भकत सङ्ग, जे करिलो तार सङ्ग, तार सङ्गे केने नहिलो वास। कि मोर दु:खेर कथा, जनम गोंवाइनु वृथा, धिक्-धिक् नरोत्तमदास॥" प्रेम की मूर्ति श्रील ठाकुर महाशय की ये आर्तिमय वाणियाँ प्रेमोत्थ दैन्य से निकली हैं, यह जानना होगा॥२॥

संप्रार्थनात्मिका

राधाकृष्ण! निवेदन एइ जन करे।
दोंहो अति रसमय, सकरुण हृदय, अवधान करो नाथ! मोरे॥
हे कृष्ण! गोकुलचन्द्र! गोपीजन-वल्लभ! हे कृष्णप्रेयसी-शिरोमणि!
हेमगौरी श्याम गाय, श्रवणे परश पाय, गुण गुणि जुड़ाय पराणी॥
अधम दुर्गति जने, केवल करुणा मने, त्रिभुवने एयश: खेयाति।
शुनिया साधुर मुखे, शरण लइनु सुखे, उपेखिले नाहि मोर गति॥
जय राधे जय कृष्ण, जय जय राधे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण जय जय राधे।
अञ्जलि मस्तके करि, नरोत्तम भूमे पड़ि कहे दोंहे पुराओ मन साधे॥३॥

सुधाकणिका व्याख्या–

श्रील ठाकुर महाशय साधकावेश में परम अभीष्ट श्रीश्रीराधाकृष्ण के श्रीचरणों में प्राणों की प्रार्थना निवेदन कर रहे हैं। निवेदन से पूर्व अपनी ओर उनकी कृपादृष्टि आकर्षित करने के लिये कहते हैं—"दोहें अति रसमय, सकरुण हृदय, अवधान करो नाथ मोरे", अर्थात् 'हे नाथ श्रीश्रीराधामाधव! तुम दोनों मेरे जीवन-मरण के रक्षक या पालक हो, अति रसमय हो, अतिशय करुणचित्त हो। कृपा कर मेरी प्रार्थना थोड़ी सुनो।' श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है—"रसिकशेखर कृष्ण परम करुण। एइ दुइ हेतु हैते इच्छार उद्‌गम॥" (चै० च०) भगवत्स्वरूपमात्र का ही असाधारण धर्म है रसिकत्व! वे रसस्वरूप होकर भी रस के आस्वादक हैं, जैसे मधु और भ्रमर। इस रसिकत्व धर्म के बिना भगवान् की कोई भी लीला सिद्ध नहीं हो सकती, कारण—आत्माराम, आप्तकाम भगवान् में किसी प्रकार की स्पृहा का उदय होना सम्भव नहीं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ब्रजवासियों के ऐश्वर्य-ज्ञान- गन्धशून्य विशुद्ध प्रीतिरस के आस्वादन के लोलुप होने के कारण ही भगवान् करुण हैं, कारण—करुणा कर जीवों के चित्त में प्रीतिरस का सञ्चार किये बिना उनका रसिकत्व धर्म ही सार्थक नहीं होता। स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन ब्रज की शुद्ध माधुर्यमय रागभक्ति प्रदान करते हैं, इसलिये वे परम करुण हैं। प्रेममयी एवं परम करुणामयी राधारानी के सान्निध्य में श्रीकृष्ण के ये दोनों गुण सीमाहीन रूप से वर्धित होते हैं। तभी कहा गया है—"दोहे अति रसमय।" रसस्वरूप एवं रसिक होने के कारण प्राचुर्य के अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय दिया गया है। रससिन्धु और प्रेमसिन्धु के मिलन से रसोच्छ्वास की समुद्वेलित तरंगे अन्तर्जगत् को आप्लावित कर देती है और उसी के अनुरूप करुणा का प्लावन भी समुच्छवसित हो उठता है!! तभी सम्मीलित युगलमूर्ति (श्रीराधा-श्याम) परम रसमय और परम करुणामय हैं। उन दोनों के सम्मिलन की चरम परिणति श्रीगौरसुन्दर हैं, जिनके प्रेम और करुणा की वन्या में निमज्जित होकर विश्व के आपामार जीव सदा-सदा के लिये धन्य हुए हैं।

"अवधान करो नाथ मोरे", अर्थात् हे नाथ! तुम दोनों के श्रीचरणों में नमस्कार करता हूँ, कृपा कर मेरी कुछ प्रार्थना सुनो।' पूज्यपाद ग्रन्थकार यह कहकर भी श्रीराधाकृष्ण की गुण-माधुरी से आकृष्ट होकर सम्बोधनों के माध्यम से ही किञ्चित गुण-कीर्तन करने लगते हैं—"हे कृष्ण! गोकुलचन्द्र! गोपीजनवल्लभ! हे कृष्णप्रेयसी-शिरोमणि!" हे कृष्ण! हे सर्वचित्ताकर्षक! अपने रूप, गुण, लीला के मार्धुय से सभी के चित्त मन को आनन्द देकर अपनी ओर आकर्षित करना ही तुम्हारा स्वभाव है! विशेषतः तुम 'गोकुलचन्द्र' हो, अर्थात् राधारानी की विरहतप्त इन्द्रियों (गो) को सुशीतल करते हो, इसीलिए तुम गोकुलचन्द्र हो, हे गोपीजनवल्लभ—समस्त ब्रजसुन्दरियों के प्राणवल्लभ!! हे कृष्णप्रेयसी शिरोमणि! समस्त गोपियों की शिरोमणिस्वरूपा श्रीराधिके! तुम्हारी हेम-गौर-प्रेम-कान्ति और तुम्हारे श्यामसुन्दर की रसमय श्यामल कान्ति की बात सुनकर उसका साक्षात् स्पर्श मिल जाता है; तुम दोनों की गुण-माधुरी सुनने से प्राण सुशीतल हो जाते हैं। श्रीराधामाधव की गौरश्याम कान्ति की माधुरी सुनकर कानों को उस माधुर्य का स्पर्श मिलता है, यह कोई विचित्र बात नहीं, कारण-श्रीमद्भागवत (३/९/५) में भगवान् के पादपद्मों की गन्ध के कर्ण विवरों द्वारा आघ्राण करने (सूंघने) का वर्णन मिलता है—"ये तु तदीयचरणाम्बुजकोषगन्धं जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम्", अर्थात् जो लोग श्रुतिशास्त्ररूपी वायु द्वारा लाई गई तुम्हारे पादपद्मकोष की गन्ध कर्णविवरों से आघ्राण करते हैं। इस श्लोकांश की टीका में श्रीमत्

जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है—"गन्धं वर्णाकारादिमाधुर्यं कर्णविवरै जिघ्रन्ति नासाविवरैः परमोदमिव तैरास्वादयन्तीत्यर्थः" (भक्तिसन्दर्भ, अनु० २४९) "यहाँ 'गन्ध' का अर्थ है वर्णाकृति आदि का माधुर्य—उसे कर्णविवरों द्वारा आघ्राण करते हैं, अर्थात् नासाविवरों से उत्कृष्ट सौरभ आस्वादन की तरह कर्णविवरों द्वारा वैसे माधुर्य का आस्वादन करते हैं—यह समझना होगा।" इसलिये श्रीराधाश्याम की गौर-श्याम कान्ति के माधुर्य-श्रवण से उस कान्ति को नेत्रों से देखने की तरह ही भक्त को कान्ति-माधुरी का आस्वादन होता है—यही इस सन्दर्भ का तात्पर्य है।

फिर कहते हैं—"गुण शुनि जुड़ाय पराणि"—श्रीराधामाधव के गुण सुनकर भक्त के प्राण सुशीतल होते हैं। हमने कहा है-नाम रूप गुण लीला में ही रसस्वरूप भगवान् की रसरूपता की अभिव्यक्ति होती है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—'रसानां रसतमः 'या 'अखिलरसामृतमूर्तिः' उनकी कान्ताशिरोमणि श्रीराधारानी अखण्ड महाभाव की मूर्ति हैं। इसलिये श्रीराधामाधव के गुणों में उसी अखण्ड चिन्मयानन्द सिन्धु और अखण्ड महाभाव-सिन्धु की समुच्छवसित आनन्द-तरङ्गों का आस्वादन निहित है। श्रीराधामाधव तो दुष्पार अनन्तगुण-सिन्धु हैं, फिर भी श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु एवं श्रीउज्ज्वलनीलमणि आदि ग्रन्थों में दृष्टान्त के साथ जिन गुणों का उल्लेख किया है, उन्हें सुनकर-गाकर भक्त के प्राण सुशीतल होते हैं। फिर श्रीकृष्ण के नाम रूप लीलादि और श्रीकृष्ण के गुण हैं—सजातीयाशय स्निग्ध भक्त से ये गुण सुनकर प्राणों में परमानन्द का सञ्चार होता है। जैसे साधक के संसार-ताप-दग्ध प्राण शीतल होते हैं, वैसे ही जातरति या जातप्रेम सिद्धभक्त के अभीष्ट-विरह में तप्त प्राण ये सब गुण श्रवण कर सुशीतल होते हैं—"गुण शुनि जुड़ाय पराणि"।

श्रीश्रीराधाकृष्ण जैसे गुण के सिन्धु हैं, वैसे ही करुणा के भी अपार सिन्धु हैं—"अधम दुर्गति जने, केवल करुणा मने, त्रिभुवने ए यशः खेयाति।" यहाँ 'केवल करुणा मने' का तात्पर्य यह है कि श्रीश्रीराधामाधव का मन केवल या एकमात्र करुणा का अनन्य-निलय है। अन्यान्य भगवत्स्वरूपों में या स्वरूपशक्तियों में करुणा आदि गुणों का जो प्रकाश देखा जाता है, उसके मूल उत्स श्रीश्रीराधामाधव ही हैं, कारण—श्रीकृष्ण अनन्यापेक्षि स्वयं भगवान् हैं और श्रीराधा मूलशक्ति हैं। "एइरूप व्रजाश्रय, ऐश्वर्यमाधुर्यमय, सर्वगुण रत्नालय। आनेर वैभव सत्ता, कृष्णदत्त भगवत्ता, कृष्ण सर्व अंशी सर्वाश्रय॥" (चै०च०) अन्यान्य भगवत्स्वरूपों में और अनन्त भक्तों में श्रीकृष्ण से ही करुणाशक्ति का आविर्भाव होता है फिर 'केवल करुणा' का अर्थ है शुद्ध करुणा। श्रीराधाकृष्ण की करुणा होने पर विशुद्ध व्रजप्रेम ही प्राप्त होता है। भजनकर्ता अज्ञतावश कृष्णेतर वस्तु की कामना भी करे, तो श्रीकृष्ण की शुद्ध कृपा वह न देकर आश्रयी को ब्रजप्रेम ही दान करती है। "कृष्ण कहे—आमा भजे मागे विषय-सुख। अमृत छाड़ि विष मागे एइ बड़ो मूर्ख॥ आमि विज्ञ एइ मूर्खे विषय केनो दिबो। स्वचरणामृत दिया तारे विषय भुलाइबो॥" (चै०च०)

इस प्रकार श्रीश्रीराधाकृष्ण शुद्ध करुणा के सिन्धु हैं, फिर भी एकमात्र या दुर्गतिसम्पन्न लोग ही उस करुणा के योग्य पात्र हैं। जो लोग भक्तिसाधना द्वारा देह-दैहिकादि के समस्त अभिमानों से मुक्त हो जाते हैं, सर्वत्र भगवान् के कर्तापने के बोध से प्रेममूलक दैन्य के उदय होने पर स्वयं को नितान्त अधम समझते हैं, उन लोगों की आर्ति-उत्कण्ठा श्रीयुगल की अजस्र करुणा का द्वार खोल देती है और वे लोग ही उस करुणाधारा में निरन्तर

अभिस्नात होकर धन्य होते हैं। युगल-भजनपथ का आश्रय लेकर भी जिनके चित्त में धन-जन विद्या-पाण्डित्य आदि का अभिमान, लाभ-पूजा-प्रतिष्ठा आदि की वासना रहती हैं, उस चित्त में श्रीराधामाधव की करुणा स्थान नहीं पाती। श्रील ठाकुर महाशय प्रेम की मूर्ति हैं, तभी प्रेमोत्थित प्रबल दैन्य के वश वे स्वयं को नितान्त अधम या दुर्गत मानकर कहते हैं—"अधम दुर्गति जने, केवल करुणा मने, त्रिभुवने ए यश: खेयाति। शुनिया साधुर मुखे, शरण लइनु सुखे, उपेखिले नाहि मोर गति।" 'हे राधामाधव! तुम दोनों अपार करुणा-पारावार हो, अधम दुर्गत जन के प्रति तुम्हारी करुणा निरन्तर बरसती है। साधुओं से तुम्हारी करुणा की बात सुनकर सुख से अर्थात् नि:संशय होकर तुम्हारे चरणों की शरण ली है, तुम उपेक्षा करोगे, तो मेरी और कोई गति नहीं'

सिन्धु ही समस्त जल का मूल आश्रय है। सिन्धु का जल मेघ में सञ्चारित होकर तापदग्ध विश्व को सुशीतल कर विश्वमानवों का जीवातु (प्राण, आश्रय) बनता है। उसी प्रकार श्रीश्रीराधामाधव का करुणा-सिन्धु उनके जीव वात्सल्यरूपी ताप से सन्तप्त होकर साधुरूपी मेघ में सञ्चारित होता है; साधुगण ही विश्व उद्यान में इस करुणा धारा का वर्षण या प्रचार करते हैं। साधुगण के मुख से श्रीश्रीराधामाधव की करुणा की बात सुनकर ही संसार के लोग श्रीराधामाधव के चरणों में शरणागति होते हैं और भजन-साधन से प्रेम प्राप्त कर धन्य होते हैं।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—"उपेखिले नाहि मोर गति"। ग्रन्थकार अत्यन्त दैन्य से भरकर अपने को नितान्त अयोग्य अधम मानकर यह बात कहते हैं, फिर भी वस्तुत: श्रीराधामाधव की शरणागत के प्रति किसी प्रकार की उपेक्षा नहीं है। आश्रित भक्त के प्रति उनकी (युगल सरकार की) परम अपेक्षा ही विद्यमान है—यह जानना होगा।

अन्त में कहते हैं—"जय राधे जय कृष्ण, जय जय राधे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण जय जय राधे। अञ्जलि मस्तके करि, नरोत्तम भूमे पड़ि, कहे दोहे पूराओ मन साधे॥" श्रील ठाकुर महाशय ने जैसे ही शरणागत होकर दैन्य से भरकर कहा—"उपेखिले नाहि मोर गति", उनके प्रेमभावित नेत्रों के आगे श्रीयुगलस्वरूप का स्फुरण हुआ। असीम सौन्दर्य-माधुर्यमय युगल मूर्ति दर्शन कर श्रील ग्रन्थकार अभीष्ट का जय-कीर्तन करने लगे। 'जय' शब्द उत्कर्ष-नमस्कार वाचक है। पहले अपनी परम अभीष्ट राधारानी के चरणों में प्रणत होकर उनकी उत्कर्ष और नमस्कार सूचक 'जय राधे' कहा। राधास्नेहाधिका मञ्जरियों की राधारानी ही एकमात्र परम आश्रय हैं। पहले राधा, पीछे श्याम। राधारानी के श्रीचरणाश्रय में ही उन लोगों का श्रीकृष्णभजन है। राधारानी के चरणों में प्रणत होकर श्रील ग्रन्थकार ने श्रीराधा की जय देकर श्रीराधा के रूप गुण लीलादि के सर्वोत्कर्ष की सूचना दी। प्रेम के परमसार महाभाव से समुत्थित रूप गुण लीला-अतएव उत्कर्ष तो है ही! फिर श्रीकृष्ण के सान्निध्य में उन रूप-गुणादि का कैसा अपूर्व उच्छलन!! प्रेम में कृष्णमयी; रस में गौराङ्गी, ऐश्वर्य में सर्वलक्ष्मीमयी है; माधुर्य में गोपिका-शिरोमणि वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा-तभी कहा 'जय राधे'।

फिर कहा—'जय कृष्ण'। तत्त्व-सम्बलित लीलावैचित्र्य के भीतर ही वृन्दावन का माधुर्य सुरक्षित है। तत्त्व से श्रीकृष्ण वेद-प्रतिपाद्य स्वयं भगवान् समस्त भगवत् स्वरूपों के मूल तत्त्व हैं, अतएव उन्हीं में उत्कर्ष की पराकाष्ठा है। किन्तु राधाकिङ्करी के नयनों में वे सौन्दर्य-माधुर्यमय मूर्ति परमसुन्दर ब्रजेन्द्रनन्दन—श्रीराधा के प्राणबन्धु हैं। फिर श्रीराधा के सान्निध्य में रसघनमोहन मूर्ति।

श्रीपाद ग्रन्थकार ने स्फूर्ति में देखा—श्रीराधामाधव वृन्दावन में यमुना-पुलिन पर एक मनोरम कुञ्जभवन में प्रविष्ट हुए। कुञ्ज के भीतर युगल की अपूर्व मिलन-माधुरी! चम्पकमञ्जरी के रूप में श्रील ठाकुर महाशय लता-वातायन पर आँखे रखे युगल-विलास-माधुरी आस्वादन कर युगल की उत्कर्ष सूचक "जय जय राधे कृष्ण" कहकर दोनों की जय घोषणा करने लगे। "विलास विक्रम रसे केहो नहे ऊन" (महाजन)।

फिर बोले—"कृष्ण कृष्ण जय जय राधे"। इस बार पहले कृष्ण की जयकार देकर पीछे श्रीराधा की जय बोलते हैं। हमने कहा था—पहले राधा, पीछे कृष्ण। विशेषत: राधाकिङ्करियों का राधारानी के आश्रय में ही श्रीकृष्ण भजन होता है, फिर श्रीकृष्ण की जय पहले क्यों ? इन लोगों की आँखों में जब श्रीकृष्ण सर्वाधिक सुन्दर होते हैं, तभी ये उनकी जय पहले बोलती हैं। कृष्ण जब राधारानी के एकान्त वशीभूत होते हैं, तभी इन लोगों की आँखों में सर्वाधिक सुन्दर होते हैं। तभी ये लोग श्रीकृष्ण के उत्कर्ष या जयगान में मुखर होती हैं।

विलास का अवसान हो गया। श्रीयुगल विलास शय्या पर बैठे हैं। श्रीअङ्गों से माधुरीधारा झर-झर रही है! विलासश्रम से श्रीअङ्ग घर्माक्त हैं। सेवा का अवसर जानकर किङ्करी कुञ्ज के भीतर जाकर वीजन, जलदान, ताम्बूलदान, माल्यदान आदि सेवा का सौभाग्य प्राप्त करती हैं। राधारानी स्वाधीनभर्तृका दशा में श्रीकृष्ण को अपनी वेश-रचना का आदेश देती हैं। अनुगत नायक श्रीमती के चरण वक्ष पर रखकर आलता लगाते हैं। कृष्ण के उसी उत्कर्ष की घोषणा में कहते हैं—"कृष्ण-कृष्ण जय जय राधे" सहसा स्फुरण में विराम आता है। साधकावेश में आर्ति के साथ धरणी पर लोटपोट करते हुए मस्तक पर अञ्जलि बाँधकर प्रार्थना करते हैं—सेवा का सौभाग्य देकर मेरी अभिलाषा पूरी करो—"अञ्जलि मस्तके करि, नरोत्तम भूमे पड़ि, कहे दोहे पूराओ मन साधे" ॥३॥

स्वाभीष्ट लालसा

हरि! हरि! हेनो दिन हइबे आमार।

दुहुँ अङ्ग परशिबो, दुहुँ अङ्ग निरखिबो, सेवन करिबो दोंहाकार॥
ललिता विशाखा संगे, सेवन करिबो रंगे, माला गाँथि दिबो नाना फूले।
कनक-सम्पुट करि, कर्पूर ताम्बूल पूरि, जोगाइबो अधर युगले॥
राधाकृष्ण वृन्दावन, एइ मोर प्राणधन, एइ मोर जीवन उपाय।
जय पतितपावन, देहो मोरे एइ धन, तोमा बिना अन्य नाहि भाय॥
श्रीगुरु करुणासिन्धु, अधम जनार बन्धु, लोकनाथ लोकेर जीवन।
हाहा! प्रभु करो दया, देहो मोरे पदछाया, नरोत्तम लइलो शरण॥४॥

सुधाकणिका व्याख्या–

श्रील ठाकुर महाशय पिछली त्रिपदी में स्फुरण में श्रीयुगल का सेवा-माधुर्य आस्वादन कर स्फुरण के विराम में सेवा के अभाव में आर्ति से भरकर रोदन कर रहे थे। मन में बड़ी साध है—युगल की साक्षात् सेवा पाकर धन्य हों। पिछली त्रिपदी के अन्त में उसी साध की पूर्ति के लिये युगल-चरणों में प्रार्थना ज्ञापित की। सेवा-प्राप्ति की विपुल लालसा सुमेरु-शिखर की तरह हृदय में सिर उठाये खड़ी है! स्वाभीष्ट सेवा-लालसा (युगल-चरणों में और श्रीगुरुचरणों में) ज्ञापित कर रहे हैं—"हरि! हरि हेनो दिन हइवे आमार। दुहुँ अङ्ग परशिबो, दुहँ अङ्ग निरखिबो, सेवन करिबो दोंहाकार॥"

श्रील ठाकुर महाशय स्वयं को नितान्त अयोग्य समझकर, और अति दुर्लभ वस्तु के लिये प्रार्थना कर रहे हैं, इसलिये सर्वथा अनधिकारी सोचकर खेदोक्ति के साथ कहते हैं—"हरि! हरि!" प्रेमिक भक्त जब श्रीहरि के दर्शन या साक्षात् सेवा नहीं प्राप्त कर पाता, और स्फुरण, स्वप्नजनित अनुभव भी नहीं रहता (अभीष्टदेव आड़ में रहकर भक्त की प्रेमचेष्टा देखते हैं), तब अभीष्ट-प्राप्ति की उत्कण्ठा में भक्त का चित्त विगलित हो जाता है; दूसरी ओर चित्त में अत्यन्त दैन्य का उदय होता है—मैं वस्तु प्राप्ति के सर्वथा अयोग्य हूँ, ऐसा लगता है; पर किसी भी प्रकार की लालसा की निवृत्ति नहीं होती। तब प्रेमिक आर्तस्वर में सतत रोदन करता है। उसी समय भक्त की ऐसी खेदोक्ति देखने में आती है। श्रील ग्रन्थकार कहते हैं—"हरि! हरि! हाय! हाय! क्या ऐसा शुभ दिन कभी आयेगा? उस शुभ दिन के लिये अनन्त प्रतीक्षा लिये बैठा हूँ। जिस दिन—दुहुँ अङ्ग परशिबो, दुहुँ अङ्ग निरखिबो, सेवन करिबो दोंहाकर।" पहले अभीष्ट के दर्शन, फिर स्पर्श और सेवा—सामान्यतः यही क्रम है। किन्तु यहाँ सेवा-लालसा में अधीर होकर पहले पर्श, फिर दर्शन और अन्त में सेवा की बात कहते हैं। विपुल लालसा-जनित चित्त-मोह ही इसका कारण है।

राधारानी के भाव में श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीकृष्ण-अङ्ग के स्पर्श की लालसा में अधीर होकर कहा था—

"अति उच्च सुविस्तार, लक्ष्मी-श्रीवत्स-अलङ्कार, कृष्णेर जे डाकातिया वक्ष।
व्रजदेवी लक्ष लक्ष, ता-सभार मनोवक्ष, हरिदासी करिबारे दक्ष॥
सुबलित दीर्घार्गल, कृष्णभुज-युगल, भुज नहे कृष्ण सर्पकाय।
दुइ शैलछिद्रे पैशे, नारीर हृदय दंशे, मरे नारी से विष-ज्वालाय॥
कृष्ण-करपद-तल, कोटिचन्द्र-सुशीतल, जिति कर्पूर वेणामूल चन्दन।
एक बार जारे स्पर्शे, स्मरज्वालाविष नाशे, जार स्पर्शे लुब्ध नारीर मन॥"

(चै०च०)

दर्शनोत्कण्ठा से कातर होकर कहा था—

"नवघन स्निग्ध वर्ण, दलिताञ्जन चिक्कण, इन्दिवर निन्दि सुकोमल।
जिनि उपमानगण, हरे सभार नेत्र-मन, कृष्णकान्ति परम प्रबल॥

कहो सखि! कि करि उपाय?

कृष्णाद्भुत बलाहक, मोर नेत्र चातक, ना देखि पियासे मरि जाय॥
सौदामिनी पीताम्बर, स्थिर रहे निरन्तर, मुक्ताहार वकपाँति भाल।
इन्द्रधनु शिखि पाखा, उपरे दियाछे देखा, आर धनु वैजयन्ती माल॥
मुरलीर कलध्वनि, मधुर गर्जन शुनि, वृन्दावने नाचे मोरचय।
अकलङ्क पूर्णकल, लावण्य-ज्योत्स्ना झलमल, चित्रचन्द्रेर जाहाते उदय॥
लीलामृत-बरिषणे, सिञ्चे चौद्द भुवने, हेनो मेघ जबे देखा दिलो।
दुर्दैव झञ्झा पवने, मेघ निलो अन्यस्थाने, मरे चातक पिते ना पाइलो॥"

(वही)

अपनी ही माधुरी के आस्वादन के लिये सच्चिदानन्दघन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की ऐसी लालसा! फिर राधारानी के सान्निध्य में उस माधुर्य का अशेष-अनन्त उच्छ्वास और श्रीकृष्ण के सान्निध्य में राधा-माधुरी-सिन्धु का भी अपूर्व कल-कल्लोल!! उसी उच्छलित युगलमाधुरी के दर्श-पर्श के लिये राधामाधवगतप्राण राधाकिङ्करी की कितनी लालसा तरङ्ग—कौन कह सकता है? श्रीपाद किङ्करी रूप में युगल के स्पर्श और दर्शन के पश्चात् जिस प्रकार सेवा करेंगे, उसी सेवा की लालसा व्यक्त कर रहे हैं—"ललिता विशाखा संगे, सेवन करिबो रंगे, माला गाँथि दिबो नाना फूले। कनक-सम्पुट करि, कर्पूर ताम्बूल पूरि, जोगाइबो अधर युगले॥" 'ललिता विशाखा संगे'—यहाँ सङ्ग शब्द का अर्थ है : राधारानी की समस्त सखियों में श्रेष्ठ उन्हीं की अभिन्नविग्रह और प्राणसम प्रिय ललिता-विशाखा आदि परमश्रेष्ठ सखियों का समता का भाव रहता है; लज्जा-सङ्कोच के कारण युगल के रहस्यमय विलास स्थान पर सेवा के लिये वे स्वयं न जाकर किङ्करियों को ही भेजती हैं। किङ्करियाँ भी उन लोगों के प्रति प्रगाढ़ भक्ति रखती हैं, उनके आज्ञा-पालन के लिये उद्ग्रीव रहती हैं। बाद में भी कहा गया है—"ललिता आदेश पाइया, सेवन करिबो जाइया, प्रिय-सखीसंगे हर्ष मने", "ललिता कबे मोरे, बीजन देओब, बीजब मारुत मन्दे" आदि।

श्रील ठाकुर महाशय स्वरूपाविष्ट अवस्था में प्रार्थना कर रहे हैं—'श्रीललिता-विशाखा के साथ या उनकी आज्ञावाही किङ्करी के रूप में रङ्गपूर्वक युगल की सेवा करुँगा। नाना प्रकार के पुष्पों से विचित्र मालायें बनाकर युगल के कण्ठों में पहनाऊँगा। स्वर्ण-सम्पुट में कर्पूर आदि की गन्ध से युक्त सरस पान के बीड़े सजाकर रखूँगा और विलास के अन्त में उन बीड़ों को युगल के अधरों को समर्पित करूँगा।' ये सभी सेवायें राधाकिङ्करी रङ्ग या अपूर्व कौतुक के साथ करेगी—"सेवन करिबो रंगे।" राधाकिङ्करियों की सेवा अन्यान्य सेवकों की सेवा की तरह नहीं; इन लोगों की सेवा अति विचित्र कौतुक की सेवा है। ये लोग युगल-कण्ठों में मालायें पहनाने के समय उनका मन जानकर कभी दोनों के गलों में एक ही माला पहना देती हैं। युगल को लगता है जैसे वे उस माला के माध्यम से परस्पर आबद्ध हैं—और यह अनुभव कर युगल को परम सुख होता है। पान का बीड़ा खिलाने के समय ये लोग राधारानी के अधरों पर इस भङ्गिमा के साथ पान रखती हैं कि श्रीकृष्ण राधारानी के मुख से खींचकर उसे खा लेते हैं। इसी प्रकार पंखा झलने के समय ऐसी परिपाटी के साथ बीजन करती हैं कि

परस्पर की उन्मादक एक-दूसरे की अङ्ग-गन्ध उनके नासारन्ध्रों में प्रविष्ट होकर युगल को अतिशय प्रेम पुलकित कर देती हैं। इस प्रकार की सेवा ही रङ्गपूर्वक की गई सेवा है।

फिर कहते हैं—"राधाकृष्ण वृन्दावन, एइ मोर प्राणधन, एइ मोर जीवन उपाय। जय पतित पावन, देहो मोरे एइ धन, तोमा बिना अन्य नाहि भाय॥" श्रील ग्रन्थकार महोदय श्रीराधाकृष्ण युगल और उनकी लीलाभूमि श्रीवृन्दावन को प्राणों की एकमात्र सम्पदा मानते हैं। धन-सम्पदा ही सुख-स्वच्छन्दता के साथ जीवन निर्वाह का और भोगों का एकमात्र उपकरण या आधार मानी जाती है। उसी प्रकार श्रीराधाकृष्ण और श्रीवृन्दावन धाम ही उनके प्राणों का धन है, अर्थात् युगलमाधुरी और वृन्दावन की माधुरी ही उनके प्राणों की परम भोग्य सम्पदा है। जिनके पास धन या भोगसम्पदा नहीं होती, वे भोगसुख तो प्राप्त नहीं कर पाते, किन्तु सामान्य रूप से या दु:ख-दारिद्र के साथ जीवन धारण किये रहते हैं। किन्तु श्रील ठाकुर महाशय श्रीराधाकृष्ण और वृन्दावन के बिना जीवन-धारण कर ही नहीं सकते; तभी कहते हैं—"एइ मोर जीवन उपाय।" अन्न-जल आदि जीवन धारण का एकमात्र उपाय है, उसके बिना जीवित रहना ही सर्वथा असम्भव है। उसी प्रकार श्रीराधाकृष्ण और श्रीवृन्दावन ही उनके प्राण-धारण का एकमात्र उपाय या अवलम्बन है; इसके बिना वे जीवित ही नहीं रह सकते। गौड़ीय वैष्णवों की रागमार्ग की उपासना है। विधिमार्ग के भक्तों की तरह शास्त्रशासन या नरक आदि के भय से भजन नहीं होता; उनके भजन का प्रवर्तक प्रबल लोभ ही होता है। वैसे ही रागानुगीय भजननिष्ठ महद्गण के सङ्ग और कृपा के फलस्वरूप ही इस लोभ का उद्भव होता है। आत्मा में यही लोभ जगता है और मन बुद्धि इन्द्रिय आदि में उसकी अभिव्यक्ति होती है। लोभ आत्मा से उद्भुत होने के कारण अतिशय प्रबल होता है; मन बुद्धि इन्द्रिय आदि पर उसका प्रबल प्रभाव फैलता है। तब लोभनीय वस्तु ही प्राणों की सम्पदा या जीवनधारण का एकमात्र अवलम्बन लगती है। इसलिए प्रकृत राग-साधक कभी भी जड़ीय देह-दैहिकादि विषयों में आसक्त होकर यन्त्रवत् भजन-जीवन निर्वाह नहीं कर सकते। इस सन्दर्भ में वृन्दावनीय साधकों के लिये यही सारशिक्षा है।

श्रील ठाकुर महाशय अपनी चिर अभिलषित सेवा के लिये अभीष्ट श्रीराधाकृष्ण और श्रीवृन्दावन से प्रार्थना करने जा रहे हैं। सहसा दैन्य के उदय होने पर सोचने लगते हैं—मेरे जैसे अधम पतित जन के लिये युगलसेवा की प्राप्ति तो बौना होकर चाँद पकड़ने की इच्छा की तरह सर्वथा असम्भव है। तभी युगल के पतितपावनतागुण की स्मृति होती है, आशा के आलोक से चित्त-मन उद्दीप्त हो उठता है। प्रार्थना करते हैं—"जय पतितपावन, देहो मोरे एइ धन, तोमा बिना अन्य नाहि भाय"— हा श्रीराधाकृष्ण! हा श्रीवृन्दावन! तुम पतितपावन हो, मैं भले ही पतित अयोग्य हूँ, पर तुम अपने गुण से करुणा कर मुझे अपना दर्श-पर्श और सेवासम्पदा दान कर धन्य करो; मुझे तुम सबके अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा नहीं लगता।' युगल-भजन-पथ और उनकी प्रेममय लीलाभूमि श्रीवृन्दावन का आश्रय लेकर भी मुझ जैसे-हतभाग्य जीव को लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा; देह-दैहिकादि का सुख-स्वाच्छन्द्य; धन, जनादि बहुत कुछ अच्छा लगा; फलस्वरूप भजनपथ नितान्त अनर्थसंकुल हो उठा! यथार्थ भजनजीवन प्राप्त होने पर भजनीय अभीष्ट वस्तु को छोड़ अन्य कुछ भी अच्छा लगना समुचित नहीं—**"तोमा बिना अन्य नाहि भाय"।**

फिर श्रील ठाकुर महाशय को याद आती है सर्वाभीष्टप्रदाता श्रीगुरुकृपा की बात। वे श्रीगुरुचरणों में शरणागत होकर त्याग, वैराग्य और भजन का चरम आदर्श स्थापित कर विश्वसाधकों के नाथ अर्थात् रक्षक या जीवनस्वरूप बने हैं। उन्हीं सार्थकनाम और गुरु लोकनाथ प्रभु के पादपद्म-कल्पतरु की छाया में आश्रय चाहते हैं—"श्रीगुरु करुणासिन्धु, अधमजनार बन्धु, लोकनाथ लोकेर जीवन। हा हा! प्रभु करो दया, देहो मोरे पदछाया, नरोत्तम लइलो शरण" ॥४॥

दैन्यबोधिका

हरि! हरि! विफले जनम गोंवाइनु।
मनुष्य जनम पाइया, राधाकृष्ण ना भजिया, जानिया शुनिया विष खाइनु॥
गोलोकेर प्रेमधन, हरिनाम सङ्कीर्तन, रति ना जन्मिलो केने ताय।
संसार विषानले, दिवानिशि हिया ज्वले, जुड़ाइते ना कैनु उपाय॥
व्रजेन्द्रनन्दन जेइ, शचीसुत हैलो सेइ, बलराम होइलो निताइ।
दीन हीन जतो छिलो, हरिनामे उद्धारिलो, तार साक्षी जगाइ माधाइ॥
हा हा प्रभु! नन्दसुत, वृषभानुसुतायुत, करुणा करहो एइ बार।
नरोत्तम दास कय, ना ठेलिहो राङ्गा पाय, तोमा बिना के आछे आमार॥५॥

सुधाकणिका व्याख्या—

श्रील ठाकुर महाशय अतिशय दैन्य के उदय होने से स्वयं को साधन-भजनहीन साधारण मानव जानकर अतिशय आत्मग्लानि के साथ कुछेक पद्यों में जो आक्षेप कर रहे हैं, वह विश्वमानव के लिये मृतसञ्जीवनी सुधा की तरह परम हितकारी है। इस पद्य में कहते हैं—"हरि! हरि! विफले जनम गोङाइनु। मनुष्य जनम पाइया, राधाकृष्ण ना भजिया, जानिया शुनिया विष खाइनु"। श्रील ठाकुर महाशय प्रेम की मूर्ति होकर भी अतिशय दैन्य के उदय होने पर अति आक्षेप के साथ कहते हैं—'हाय! हाय! जन्म व्यर्थ ही बिता दिया। देवदुर्लभ भजनोपयोगी मनुष्य-जन्म पाकर भी श्रीश्रीराधाकृष्ण का भजन नहीं किया; जानबूझकर स्वेच्छा से अमृत त्यागकर विषपान किया।' अज्ञान या मूढ़ता के कारण पशु आदि तिर्यग् देहें और अतिशय भोगावेश के कारण (ज्ञान-सम्पन्न होते हुए भी) देव-देहें भजन के लिये उपयोगी नहीं। केवलमात्र मनुष्यदेह ही भजनोपयोगी है। इसीलिये मनुष्यदेह को देवदुर्लभ कहा गया है। श्रीमद्भागवत (३/१५/२४) में आया है—

"येऽभ्यर्थितामपिच नो नृगतिं प्रपन्ना, ज्ञानञ्च तत्त्वविषयं सह धर्म यत्र।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य सम्मोहिता विततया वत मायया ते॥"

ब्रह्माजी ने देवताओं से कहा—"हे देवगण! जिस मनुष्य जन्म में धर्मसाधना के सहित तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होता है, वह हम लोगों के लिये भी अतिशय प्रशंसनीय है। जो मानवजन्म पाकर भी श्रीहरि की आराधना नहीं करते, वे ही यथार्थ हरिमाया से विमोहित हैं।" फिर आध्यात्मक्षेत्र भारतवर्ष में मनुष्यजन्म की प्राप्ति अति दुर्लभ

है। उल्लिखित श्लोक के "अभ्यर्थितामपि च नो' अर्थात् 'मनुष्यजन्म हम लोगों के लिये भी प्रशंसनीय है' इस अंश की व्याख्या में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है–"हा हन्त भारतभूमौ कदा नृजनुषो भूत्वा वयं कृष्णं भजन्तः क्षणमात्रेणैव वैकुण्ठं प्राप्नुयामेति"–देवश्रेष्ठ ब्रह्मा कहते हैं, "हाय! हाय! हम लोग भी कामना करते हैं– भारतवर्ष में मनुष्यदेह कब मिलेगी, जिस देह से क्षणभर भी श्रीकृष्ण–भजन कर मायातीत चिन्मय भगवद्धाम प्राप्तकर धन्य होंगे।"

ऊपर से इस विशेष कलियुग में व्रज के ठाकुर स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन ने प्रेममयी राधारानी की भावकान्ति अङ्गीकार कर श्रीगौराङ्गरूप से अवतीर्ण होकर व्रज की सर्वोत्कृष्ट साध्यवस्तु मञ्जरी भाव–साधना या श्रीराधाकृष्ण का रहस्यमय भजन आपामार में वितरण किया। तभी इस युग में मनुष्यदेह पाकर या ऐसा स्वर्ण अवसर पाकर भी जो अनादिकाल के विषय–संस्कारवश युगल–भजन नहीं करते और घृण्य विषयरसों में डूबकर सुदुर्लभ आयुष्काल व्यतीत कर रहे हैं, वे लोग जानबूझकर ही अमृत छोड़कर विष–भक्षण कर रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं। तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है–"मनुष्य जनम पाइया, राधाकृष्ण ना भजिया, जानिया शुनिया विष खाइनु।"

श्रीमन्महाप्रभु ने व्रज का सर्वोत्कृष्ट युगल–भजन ही बाँटा हो, सो नहीं; वह सुदुर्लभ व्रजप्रेम–सम्पदा और हरिनाम सङ्कीर्तन एक ही वस्तु है–यह बताकर ही बाँटा है। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं–"गोलोकेर प्रेमधन, हरिनाम सङ्कीर्तन, रति ना जन्मिलो केने ताय।" कृष्णनाम और नामी श्रीकृष्ण से अभिन्न होने के कारण नाम और प्रेम एक ही वस्तु है, कारण–महत् पुरुष श्रीकृष्ण को भी प्रेमस्वरूप में ही अनुभव करते हैं। किन्हीं महानुभाव ने कहा है–"प्रेम हरि का रूप है, हरि है प्रेम स्वरूप। एक होइ दो ह्वै लखै, ज्यों सूरज औ धूप॥" पक्षान्तर से प्रेम साध्य और नाम साधन होते हुए भी नाम साधन अन्यान्य साधनाङ्गों की तरह नहीं है। नाम कीर्तन के साथ–साथ निरपराधी के चित्त में तत्क्षणात् प्रेम का सञ्चार होता है, इसलिये नाम–कीर्तन और प्रेम को अभिन्न कहा गया है। श्रीकृष्णनाम की यह महिमा सदैव रहती है, पर श्रीमन्महाप्रभु ने ही इसका विश्व में प्रचार किया है। उन्होंने केवल शिक्षा द्वारा ही इसका प्रचार किया हो सो नहीं, उन्होंने सपार्षद नाम–सङ्कीर्तन में नृत्य–कीर्तनरङ्ग प्रेमरस को इस प्रकार मूर्तिमन्त कर दिया है कि सभी ने इस तथ्य को प्राणों में अनुभव किया है कि हरिनाम–सङ्कीर्तन ही गोलोक का प्रेमधन है। पुरीधाम में रथ के आगे सपार्षद श्रीमन्महाप्रभु का नृत्य–कीर्तन वर्णन करते हुए श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है–

"सात सम्प्रदाये बाजे चौद्द मादल।
जार ध्वनि शुनि वैष्णव होइलो पागल॥
श्रीवैष्णव–घटामेघे होइलो बादल।
सङ्कीर्तनामृतसह वर्षे नेत्रजल॥
त्रिभुवन भरि उठे सङ्कीर्तनध्वनि।
अन्य वाद्यादिर ध्वनि किछुइ ना शुनि॥
सात ठाञि बुले प्रभु 'हरि हरि' बोलि।
जय जय जगन्नाथ कहे हस्त तुलि॥

× × ×

उद्दण्ड नृत्ये प्रभु करिया हुङ्कार।
चक्रभ्रमि भ्रमे जैछे आलात-आकार॥
नृत्ये प्रभुर जाँहा जाँहा पड़े पदतल।
ससागर शैल मही करे टलमल॥
स्तम्भ स्वेद पुलकाश्रु कम्प वैवर्ण।
नानाभावे विवशता गर्व हर्ष दैन्य॥
आछाड़ खाइया पड़ि भूमि गड़ि जाय।
सुवर्ण पर्वत जेनो भूमिते लोटाय॥
नित्यानन्दप्रभु दुइ हस्त प्रसारिया।
प्रभुके धरिते बुले आशेपाशे धाइया॥
प्रभुपाछे बुले आचार्य करिया हुङ्कार।
हरिदास 'हरिबोल' बोले बारबार॥"

(चै० च० मध्य०-परि० १३)

इस अद्भुत दृश्य को नेत्रों से देखना दूर, इसके कीर्तन-स्मरण से भी प्रेम का सञ्चार होगा, यह कहना ही बहुत। श्रील ठाकुर महाशय अति आक्षेप के साथ कहते हैं-''रति ना जन्मिलो केने ताय। संसार विषानले, दिवानिशि हिया ज्वले, जुड़ाइते ना कैनु उपाय॥" 'आह! ऐसे प्रेममय हरिनाम-सङ्कीर्तन में मेरी रति नहीं जन्मी। देह-दैहिकादि वस्तुओं में आसक्तिरूपी विषानल में चित्त-मन सतत दग्ध हो रहा है, इस विषानल की ज्वाला शान्त करने का कोई उपाय नहीं किया।' श्रील ठाकुर महाशय प्रेममय विग्रह होकर दैन्यपूर्वक आक्षेप कर रहे हैं-इससे साधक को यही सारशिक्षा मिलती है कि रति या प्रीति के साथ नाम-सङ्कीर्तन करना होगा। प्रीतिरहित यान्त्रिक कीर्तन से नामकीर्तन के मुख्य फल प्रेम की प्राप्ति में बहुत विलम्ब होता है। प्रीतिपूर्वक नामकीर्तन से सहसा प्रेम प्राप्त होता है, अभीष्ट भगवत्सेवा मिलती है। देह-दैहिकादि वस्तुओं में अभिनिवेश के कारण नाना प्रकार के अपराधों का उद्गम होता है, तो साधक प्रीति के साथ-कीर्तन करने में समर्थ नहीं होता। कृष्णेतर जड़ीय वस्तुओं में अभिनिवेश जीव के हृदय को विषानल की ज्वाला की तरह अहर्निश दग्ध करता है। विषानल की ज्वाला का अर्थ है भीतर-बाहर की असहनीय ज्वाला। अति उग्र विषवाला सर्प डस लेता है, तो लगता है कि देह सहसा आग में जल गई। उससे शरीर के भीतर-बाहर जलन होती है। संसार-ज्वाला भी इसी प्रकार असहनीय है। नाना प्रकार का दु:ख-दारिद्र, रोग-शोक आदि त्रितापज्वाला, जन्म-मरण आदि की असहनीय ज्वाला-संसार में आसक्त व्यक्ति को यह सब अनादि काल से भोगनी पड़ रही है। महत् पुरुषों के आश्रय में श्रीहरि-चरणों में शरणागत होकर भजन-साधन करना ही इस संसार-विषानल की ज्वाला शान्त करने का एकमात्र उपाय है।

हमारे मन में यह बात आ सकती है-अनादि काल से मायाबन्धन में बद्ध, अति अधम, दुराचारी, संसारासक्त मानव-उसके लिये संसार-आसक्ति त्यागकर भजन-पथ का आश्रय लेना क्या सम्भव है? तभी श्रील

ठाकुर महाशय ने दीन-हीन पतित जीवों के प्राणों में आशा के आलोक का सञ्चार कर कहा है--"व्रजेन्द्रनन्दन जेइ, शचीसुत हैलो सेइ, बलराम होइलो निताइ। दीन हीन जतो छिलो, हरिनामे उद्धारिलो, तार साक्षी जगाइ मधाइ॥" इस कलियुग में कलिहत दीन हीन पतित-पामर जीवों का उद्धार कर प्रेमदान से धन्य करने के लिए ही सपार्षद पतितपावन श्रीश्रीनिताइ-गौराङ्ग का अवतार है। इसीलिए व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण शची-नन्दन और बलराम निताइचाँद हुए हैं।

श्रीचैतन्यभागवत (मध्य०, अ० ६) में गौर-आना (गौर को लाने वाले) ठाकुर श्रीअद्वैत आचार्यप्रभु को श्रीमन्महाप्रभु द्वारा वर दिये जाने के प्रसङ्ग में व्यासावतार श्रील वृन्दावनदास ठाकुर ने लिखा है—

"आपन गलार माला अद्वैतेरे दिया।
'वर मागो वर मागो' बोलेन हासिया॥
शुनिया अद्वैत किछु ना करे उत्तर।
'मागो मागो' पुनः पुनः बोले विश्वम्भर॥

× × ×

माथा ढुलाइया बोले प्रभु विश्वम्भर।
'तोमार निमित्ते आमि हइनु गोचर॥
घरे घरे करिमु कीर्तन परचार।
मोर यशे नाचे जेनो सकल संसार॥
ब्रह्मा-शिव-नारदादि जाहा वाञ्छा करे।
हेनो भक्ति बिलाइमु बोलिनु तोमारे॥
अद्वैत बोलये—'यदि भक्ति बिलाइबा।
स्त्री शूद्र आदि जतो मूर्खेरे से दिबा॥
विद्या धन कुल आदि तपस्यार मदे।
तोर भक्त तोर भक्ति जे जे जन बाधे॥
से पापिष्ठ सब देखि मरुक पुड़िया।
चण्डाली नादुक तोर नाम गुण गाइया'॥
अद्वैतेर वाक्य शुनि करिला हुङ्कार।
प्रभु बोले सत्य से तोमार अङ्गीकार॥"

श्रील ठाकुर महाशय ने 'व्रजेन्द्रनन्दन' कहकर श्रीकृष्ण का पितृनाम से परिचय दिया और 'शचीसुत' कहकर मातृनाम से महाप्रभु का परिचय दिया—इससे यही प्रतिपादन किया कि श्रीकृष्ण की अपेक्षा महाप्रभु में दीन हीन जीवों के प्रति मातृजनोचित समधिक करुणा का विकास हुआ है। परमकरुणाघनविग्रह प्रभु निताइचाँद

ने तो पतितोद्धार लीला में साक्षात् श्रीमन्महाप्रभु को भी पीछे छोड़ दिया—'तार साक्षी जगाइ माधाइ'। सर्वविदित जगाइ-माधाइ उद्धार-लीला ही श्रीश्रीगौरनिताइ द्वारा हरिनाम के माध्यम से दीन हीन पतितजनों का उद्धार किये जाने की साक्षी देती है।

फिर कहते हैं—"हा हा प्रभु नन्दसुत, वृषभानुसुतायुत, करुणा करहो एइ बार"। पूज्यपाद ग्रन्थकार श्रीवृषभानुनन्दिनी के साथ श्रीकृष्ण की करुणा की कामना करते हैं। श्री श्रीयुगल-माधुरी ही गौड़ीय वैष्णवों की उपास्य है। राधारानी सहित श्रीकृष्ण-उपासना को छोड़ श्रीकृष्ण माधुरी आस्वादन का कोई उपाय ही नहीं, यह बात श्रील गोस्वामिपाद ने नाना स्थानों पर नाना प्रकार से बताई है।❋ श्रील जीव गोस्वामिपाद ने श्री श्रीराधाकृष्णार्चन-दीपिका के उपसंहार में लिखा है—

"राधा वृन्दावने यद्वत्तद्वद्दामोदरो हरिः।
दर्शितेषु च शास्त्रेषु तद्युग्मं तत्तदीशितुः॥
राधा-माधवो देवो माधवेनैव राधिका।
विभ्राजन्ते जनेष्वेति परिशिष्ट वचस्तथा॥
कार्तिकव्रतचर्यायामतस्ते युग्मदेवते।
राधादामोदराभिख्ये वीक्ष्येते लोक-शास्त्रयोः॥
किं बहूक्त्या कुण्डयुग्मं तयोर्युग्मेन वक्ष्यते।
शास्त्रे च दर्शिता तस्मात् कैमुत्याद्युग्मता तयोः॥
उमा-महेश्वरौ केचित् लक्ष्मी-नारायणौ परे।
ते भजन्तां भजामस्तु राधादामोदरौ वयम्॥"

तात्पर्य यह है—'श्रीवृन्दावन में राधारानी की नित्यस्थिति की तरह श्रीदामोदर श्रीकृष्ण की नित्यस्थिति शास्त्रप्रमाण से जानी जाती है। ऋक्परिशिष्ट में उल्लेख है कि राधारानी के साथ लीलामय श्रीमाधव और माधव के साथ श्रीराधा वृन्दावन में लोकसमाज में देदीप्यमान हैं— इसमें श्रीराधा माधव की उपासना का सुस्पष्ट वर्णन मिलता है। कार्तिक-व्रताचरण में भी श्रीराधादामोदर युग्मदेवता के रूप में जनसमुदाय और शास्त्र दोनों में ही प्रसिद्ध हैं। अधिक क्या कहा जाय, ब्रजमण्डल में श्रीराधा कुण्ड और श्रीश्यामकुण्ड दोनों युग्मरूप में सदा से विराज रहे हैं। इसलिये श्रीराधा के साथ श्रीकृष्ण का नित्ययुग्म अवस्थान समझा जाता है। कोई उमा-महेश्वर की, कोई लक्ष्मी-नारायण की युग्मरूप में उपासना करते हैं, उसी प्रकार हम लोग श्रीश्रीराधा-दामोदर युग्मरूप की उपासना करते हैं।'

❋ श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद के 'राधारससुधानिधि' ग्रन्थ का श्लोक ८० और हमारे द्वारा सम्पादित उसकी रसवर्षिणी व्याख्या देखिये। श्रील दासगोस्वामिपाद के 'स्वनियमदशकम्' श्लोक ६ एवं 'स्वसङ्कल्पप्रकाश-स्तोत्रम्' श्लोक १ की हमारी स्तवामृतकणा व्याख्या भी देखिये।

प्रकरण के अनुसार इस अंश की व्याख्या इस प्रकार भी सम्भव है—वृषभानुसुता राधारानी के साथ एकात्मता प्राप्त स्वयं भगवान् नन्दनन्दन श्रीमन्महाप्रभु! तुम इस बार मुझ पर कृपादृष्टिपात करी। विश्व में तुम्हारे बिना मेरा और कोई नहीं, इसलिए लाल रक्ताभ चरणों से ठुकरा मत देना, अपने गुण से श्रीचरणों में स्थान देकर धन्य करो—"नरोत्तमदास कय, ना ठेलिहो राङ्गा पाय, तोमा बिना के आछे आमार" ॥५॥

साधकदेहोचित लालसा

हरि! हरि! कबे मोर हइबे सुदिन।
भजिबो से राधाकृष्ण हैया प्रेमधीन॥
सुयन्त्रे मिशाइया गाबो सुमधुर तान।
आनन्दे करिबो दोंहार रूप गुण गान॥
'राधिका गोविन्द' बोलि काँदिबो उच्चैःस्वरे।
भिजिबे सकल अङ्ग नयनेर नीरे॥
एइ बार करुणा करो रूप सनातन।
रघुनाथ दास मोर श्रीजीव-जीवन॥
एइ बार करुणा करेा ललिता विशाखा।
सख्यभावे मोर प्रभु सुबलादि सखा॥
सबे मिलि करो दया पूरूक मोर आश।
प्रार्थना करये सदा नरोत्तम दास॥६॥

सुधाकणिका व्याख्या—

श्रील ठाकुर महाशय इस पयार में अनुरागमय भजन-लालसा व्यक्त कर रहे हैं। साधकाभिमान के साथ कहते हैं—"हरि! हरि! कबे मोर हइवे सुदिन। भजिबो श्रीराधाकृष्ण हैया प्रेमाधीन॥" 'हाय हाय! मेरा ऐसा सुदिन या शुभ दिन कब होगा, जब मैं प्रेमाधीन हो श्रीराधाकृष्ण का भजन करुँगा।' मानवजीवन में वही दिन सुदिन, अति शुभदिन है, जिस दिन प्रेम या प्रीति के साथ श्रीश्रीराधाकृष्ण के भजन का सौभाग्य प्राप्त हो। प्रीतिशून्य मात्र नियमरक्षा के लिये किये गये भजन से बहुत समय में भी प्रेम प्राप्त नहीं होता। विशेषतः लोभ या लालसा ही रागमार्ग के भजन की प्रवर्तक है, इसलिये श्रीराधाकृष्ण का भजन प्रीतिपूर्ण होना ही चाहिए।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—"भजिबो से राधाकृष्ण हैया प्रेमाधीन"। आयत्त, वशीभूत, अनुगत, आश्रित, बाध्य आदि अभिधानिक अर्थ हैं 'अधीन' शब्द के। यहाँ सभी अर्थों की सुन्दर उपयोगिता है। 'प्रेम' स्वप्रकाश वस्तु है, इसका अर्जन साधना से नहीं होता। साधन-परिमार्जित चित्त में प्रेम स्वतः प्रकाशित होता है—"नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम साध्य कभु नय। श्रवणादि शुद्धचित्ते करये उदय॥" (चै० च०) इसलिये साधक प्रेम को अपनी साधना के आयत्ताधीन न सोचे (साधना के अधिकार क्षेत्र की वस्तु न माने) ओर प्रेम के ही आयत्ताधीन हो भजन करे या प्रेम उदय हो ऐसी योग्यता के अर्जन की चेष्टा करें।

फिर प्रेम के वशीभूत होकर ही साधन-भजन चलेगा। प्रेमभक्ति, भावभक्ति और साधनभक्ति एक ही वस्तु की तर और तम अवस्थायें हैं, इसलिये साधनभक्ति में भी प्रेमभक्ति का यत्किञ्चित् आस्वादन निहित रहता है। जैसे गन्ने के बीज में किञ्चित् आस्वादन रहता है, वैसे ही तरल होने पर भी साधनभक्ति में भी प्रेमभक्ति का किञ्चित् आस्वादन होता है। उसी आस्वादन के अधीन या वशीभूत होकर ही रागमार्ग के साधक का श्रीराधाकृष्ण-भजन अनुष्ठित होना वाञ्छनीय है। आस्वादनविहीन यान्त्रिक भजन रागमार्ग का भजन नहीं।

फिर श्रीराधाकृष्ण के प्रति जो प्रेम नित्यसिद्ध सखीमञ्जरियों में विराजता है, उन लोगों के उसी प्रेम के अधीन या अनुगत होकर रागसाधक को भजन करना होगा। यह प्रेम परिकरणगण में ही विराजता है और मन्दाकिनी-धारा की तरह भक्त-परम्परा से विश्व में अवतीर्ण होता है, ऐसा जाना गया है। इसीलिए ब्रजभजन को रागात्मिक नित्यसिद्ध ब्रजवासियों के आनुगत्य से युक्त कहा गया है। रागात्मिक ब्रजपार्षदगण प्रेम की ही मूर्ति हैं, उनके आनुगत्य का अर्थ ही प्रेम का आनुगत्य है, ऐसा समझना होगा।

फिर प्रेम वस्तु के अधीन या आश्रित होकर ही साधक को भजन-जीवन यापन करना होगा। अर्थात् जिनके हृदय में श्रीराधाकृष्ण के प्रति प्रेम विराजता है, उन्हीं सखी-मञ्जरियों की (प्रेम के विषय) श्रीराधाकृष्ण के साथ भावपरिपाटी का श्रवण-कीर्तन स्मरण-मनन आदि करें—यह श्रवण-कीर्तन स्मरण-मननादि ही प्रेम पाने का मुख्य या अन्तरङ्ग भजनाङ्ग है—इसी का आश्रय लेना होगा। यही है प्रेम के आश्रित होकर भजन करना। वह स्वयंप्रकाश प्रेम आश्रितजन पर स्वतः कृपाकर उसके हृदय में समुदित होगा।

फिर प्रेम के अधीन या बाध्य होकर ही साधक साधन-भजन करेगा। अर्थात् साधना में जो आस्वादन निहित है, उसी आस्वादन से बाध्य होकर (उसके अनुशासन नियन्त्रण में रहकर) या उसके स्रोत में डूबकर भजन अनुष्ठित हो, तो सभी भजनाङ्ग भावमय हो उठेंगे और साधक शीघ्र ही प्रेम प्राप्त कर धन्य होगा। श्रील ग्रन्थकार ने इस 'प्रेमाधीन' शब्द का प्रयोग कर रागभजन के बहुत से प्रयोजनीय या ज्ञातव्य तथ्यों का आविष्कार किया है, यह जानना होगा।

उसी प्रेमाधीन भजन का ही उल्लेख कर रहे हैं—"सुयन्त्रे मिशाइया गाबो सुमधुर तान। आनन्दे करिबो दुहाँर रूप गुण-गान॥ 'राधिका गोविन्द' बोलि काँदिबो उच्चैः स्वरे। भिजिबे सकल अङ्ग नयनेर नीरे॥" श्रीलनरोत्तम ठाकुर महाशय ने 'गरानहाटी' राग का प्रवर्तनकर अपने प्रेममय कण्ठ से श्रीराधामाधव के नाम गुण लीला का चित्तद्रावक कीर्तन कर भक्तों के आगे युगलमाधुरीरस मूर्तिमान कर दिया था।एक तो श्रीश्रीराधामाधव के नाम गुण लीला हैं ही अति मधुरातिमधुर, ऊपर से प्रेम की मूर्ति श्रील महाशय के प्रेमरञ्जित कण्ठ से वे सब इतने मधुमयरूप में प्रकाशित होते कि भक्तगण सुनकर प्रेमानन्द में मूर्छित हो जाते। तभी अपने भाव के अनुरूप प्रेमाधीन भजन की कामना करते हैं—"सुयन्त्रे मिशाइया गाबो सुमधुर तान। आनन्दे करिबो दुहाँर रूप गुण गान॥" अर्थात् उत्तम यन्त्रों के साथ राग तालादि मूर्तिमान कर सुमधुरभाव से परमानन्दपूर्वक श्रीराधामाधव के रूप-गुण आदि गाऊँगा।' सुयन्त्र द्वारा भक्तिरस-उद्दीपक वाद्ययन्त्रों की ही बात कही गई है, जैसे श्रीखोल, करताल, वीणा, पखावज आदि। आजकल नामकीर्तन या लीलाकीर्तन में इनके अतिरिक्त हारमोनियम आदि जिन

पाश्चात्य वाद्ययन्त्रों का प्रयोग देखने में आता है, वे प्राकृत सङ्गीत के सहायक हुआ करें, अप्राकृत श्रीराधाकृष्ण-रसगान में इनकी उपयोगिता नहीं-यह समझना होगा। इसके निषेधार्थ में ही 'सुयन्त्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

प्रेमाधीन भजनलालसा व्यक्त करते हैं—"राधिका गोविन्द बोलि काँदिबो उच्चैःस्वरे। भिजिबे सकल अङ्ग नयनेर नीरे॥" 'भजन' का अर्थ ही है--अन्वेषण करना, खोजना। अनादि काल से कृष्णबहिर्मुख जीव मायाबद्ध अवस्था में संसार-रोग से ग्रस्त है। महत् कृपा से वह जब भक्तिपथ का आश्रय लेता है और श्रीगुरु-वैष्णव की कृपा से उसमें स्व-स्वरूप का जागरण होता है, तो देह-दैहिकादि अनित्य वस्तुएँ अलीक (मिथ्या) लगती हैं और चिर आत्मीय यथार्थ सम्बन्धतत्त्व प्राणकोटि प्रिय श्रीराधाकृष्ण के लिये प्राण व्याकुल होते हैं। तब भक्त 'हा राधागोविन्द' कहता उच्च स्वर से रोदन करता हुआ उनका आह्वान करता है, उन्हे खोजता घूमता है। उसका सर्वाङ्ग अश्रुजल से भीगता रहता है। विश्व में श्रीराधागोविन्द को छोड़ सान्त्वाना की और कोई वस्तु, और कोई विषय नहीं रहता। शीघ्र ही श्रीराधामाधव उसे अपने पादपद्मों की सेवा देकर कृतार्थ करते हैं।

यथार्थ भजन से प्राणों में व्याकुलता जगेगी ही, प्राण कातर होंगे ही। सन्तानहारा माँ पागल होकर सन्तान का नाम लेकर पुकारते-पुकारते मोहल्ले-मोहल्ले में रोती घूमती है। प्राकृत नश्वर जगत् के अनित्य मायामय प्रेम की ऐसी रीति है; फिर उन नित्य शाश्वत तत्त्व प्राणकोटिप्रियतम श्रीराधागोविन्द के लिये भक्त के प्राणों में व्याकुलता जगेगी-इसमें विचित्र क्या?

श्रील ठाकुर महाशय साधकावेश में सोचते हैं—मैंने भावदशा के भजन की कामना की, वह क्या मुझ जैसे अपात्र के लिये सम्भव है? पर अभीष्टदेव या महामहद्गण की करुणा हो, तो सभी सम्भव है। तभी श्रीगौरपार्षदों और श्रीयुगल के पार्षदों की करुणा की कामना से बोले—"एइ बार करुणा करो रूप-सनातन.. .....प्रार्थना करये सदा नरोत्तम दास॥" श्रील ठाकुर महाशय श्रीमन्महाप्रभु के प्रिय पार्षद श्रील रूप-सनातन, श्रीरघुनाथदास, और श्रीजीवपाद की करुणा के लिये प्रार्थना करते हैं। ये लोग ब्रज की ही राधारानी की नित्यसिद्ध मञ्जरियाँ हैं—क्रमशः श्रीरूपमञ्जरी, लवङ्गमञ्जरी, रतिमञ्जरी और विलासमञ्जरी। मञ्जरीभावसाधना का रहस्य बताकर जगजन को धन्य करने के लिये ही श्रीमहाप्रभु के साथ उनके प्रिय पार्षदरूप में अवतीर्ण हुए हैं। श्रीमन्महाप्रभु ने अपनी हार्दवस्तु मञ्जरीभावसाधना के प्रचार का भार इन लोगों को सौंपा है। इन लोगों ने आदर्श रूप में स्वयं आचरण कर और ग्रन्थ आदि लिखकर महाप्रभु की हार्दवस्तु जगजन के गोचर की है। इसलिये इनकी करुणा के बिना इस भावसाधना में प्रवेश करना किसी के लिये सम्भव नहीं।

श्रीजीवपाद की वन्दना में श्रील ठाकुर महाशय ने 'श्रीजीव-जीवन' कहा है। श्रीजीव गोस्वामिपाद के निकट श्रील नरोत्तम ने भक्ति-शास्त्रों का अध्ययन किया है और श्रीजीवपाद ने उनकी गहन अनुभूति देखकर सन्तुष्ट होकर उन्हें 'ठाकुर महाशय' की उपाधि प्रदान की है। इसलिये श्रीमत् जीव गोस्वामिपाद श्रील ठाकुर महाशय के शिक्षागुरु होने के कारण उन्हें 'जीवन' या प्राणस्वरूप कहा है। श्रील ठाकुर महाशय ने अपने मन्त्रगुरु श्रीलोकनाथप्रभु को भी 'लोकनाथ लोकेर जीवन' कहा है। वस्तुतः वे शिक्षागुरु और दीक्षागुरु होने के कारण

जैसे श्रील ठाकुर महाशय के जीवन हैं, वैसे ही विश्व में शास्त्र-प्रचार के कारण और भजन-आदर्श स्थापित करने के कारण जगजन के जीवन हैं—यह जानना होगा। अथवा "रघुनाथदास मोर श्रीजीव-जीवन" का अर्थ होगा—श्रीजीव जिनके जीवनस्वरूप हैं, उन्हीं रघुनाथदास गोस्वामिपाद की करुणा चाहते हैं। श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद ने मुक्ताचरित के उपसंहार में स्वयं ही कहा है—"जीवाख्यस्य मदेकजीवित-तनोः" अर्थात् श्रीजीव मेरे एकमात्र जीवन स्वरूप हैं।

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर महाशय श्रीराधारानी को प्राणसम प्रिय प्रधान सखीद्वय श्रीललिताविशाखा की करुणा की कामना करते हैं। इन दोनों की कृपा के बिना व्रजनिकुञ्ज में प्रवेश पाना सर्वथा असम्भव है। अन्त में सुबल मधुमङ्गल आदि सखाओं की कृपा के लिये प्रार्थना करते हैं। सुबल आदि नर्मसखा सखीभावाश्रित अत्यन्त रहस्यज्ञ और प्रणयीगण में श्रेष्ठ हैं। श्रीराधागोविन्द की मिलन-लीला में इन लोगों का रहस्यमय सेवाधिकार है। इसलिये श्रीराधामाधव के भजन में इन लोगों की करुणा भी एकान्तभाव से अपेक्षित हैं। संयुक्त रूप से श्रीगौरसुन्दर और श्रीराधाकृष्ण के पार्षदों की करुणा की प्रार्थना कर कहते हैं—"सबे मिलि करो दया पूरुक मोर आश। प्रार्थना करये सदा नरोत्तमदास" ॥६॥

दैन्यबोधिका

प्राणेश्वर! निवेदन एइ जन करे।
गोविन्द गोकुलचन्द्र, परम आनन्दकन्द, गोपीकुल प्रिय देखो मोरे॥
तुया प्रिय पदसेवा, एइ धन मोरे दिवा, तुमि प्रभु करुणार निधि।
परम मङ्गल यशे, श्रवण परस रसे, कार किवा कार्य नहे सिद्धि॥
दारुण संसारगति, विषम विषयमति, तुया विस्मरण शेल बुके।
जर जर तनु मन, अचेतन अनुक्षण, जीवन्ते मरण भेलो दुःखे॥
मो हेनो अधम जने, करो कृपा निरीक्षणे, दास करि राखो वृन्दावने।
श्रीकृष्णचैतन्य नाम, प्रभु मोर गौरधाम, नरोत्तम लइलो शरणे॥७॥

सुधाकणिका व्याख्या—

श्रील ठाकुर महाशय दैन्य से भरकर स्वयं को संसारासक्त मानव समझकर प्रार्थना कर रहे हैं—"प्राणेश्वर निवेदन एइजन करे। गोविन्द गोकुलचन्द्र, परम आनन्दकन्द, गोपीकुल प्रिय देखो मोरे॥ " श्रील ठाकुर महाशय ने श्रीकृष्ण को 'प्राणेश्वर' कहकर सम्बोधित किया। साधारणतः सम्भोगेच्छामयी रति-सम्पन्ना नायिकायें श्रीकृष्ण को 'प्राणेश्वर' कहती हैं या वही समुचित है। श्रीपाद राधाकिङ्करी होकर ऐसा सम्बोधन क्यों करते हैं? यह प्रश्न सम्भव है। राधारानी किङ्करी के लिये साक्षात् प्राण स्वरूपिणी हैं, श्रीकृष्ण उनके ईश्वर हैं, अतएव श्रीकृष्ण को 'प्राणेश्वर' कहा गया है। साधारणतः राधादासियाँ राधारानी के चरणों में ही प्रार्थना ज्ञापन करती हैं या श्रीराधाकृष्ण के चरणों में। यदि अकेले श्रीकृष्ण से प्रार्थना करनी होती है, तो श्रीराधा के ईश्वर या श्रीराधानाथ से ही करती हैं।

'हे राधानाथ! यह दीन जन तुम्हारे चरणों में किञ्चित् निवेदन कर रहा है। तुम्हारी 'गो' अर्थात् इन्द्रियाँ राधारानी में ही मग्न हैं, इसलिये तुम 'गोविन्द' हो। श्रीराधा की 'गोकुल' अर्थात् विरहतप्त इन्द्रियों को सुशीतल करने वाले चन्द्र हो, अत: 'गोकुलचन्द्र' हो। श्रीराधा के साथ ही तुम परमआनन्दकन्द या परमानन्द के मूल हो। केवल राधारानी के ही नहीं, समस्त ब्रजसुन्दरियों के प्रिय हो, एक बार मेरी ओर करुणादृष्टि निक्षेप करो—"गोविन्द गोकुलचन्द्र, परम आनन्दकन्द, गोपीकुल प्रिय देखो मोरे।" श्रील ग्रन्थकार ने इन सम्बोधनों के माध्यम से बड़ी चतुराई के साथ श्रीकृष्ण की भी प्रयोजनीयता प्रतिपादित कर अपनी प्रार्थना उनके चरणों में रखी है। श्रीकृष्ण की इन्द्रियाँ राधारानी में मग्न हैं, किन्तु लीलाक्षेत्र में श्रीमती उनके लिये एकान्त दुर्लभ हैं। किङ्करी को सेवादान कर दें तो दासी गोविन्द की वह सुदुर्लभ वस्तु उन्हे समर्पित कर सकती है। फिर समयविशेष पर कुञ्ज-अभिसारिका, विरहतप्ता, उत्कण्ठिता श्रीमती के पास उनके गोकुलचन्द्र को ले जाकर उनकी सेवा करेगी। राधारानी को पाकर 'परम आनन्दकन्द' गोविन्द परम आनन्द सागर में डूबेंगे।

श्रीराधा का मादन महाभावरस परम वैचित्री के साथ आस्वादन करने के लिये महा महारस के उत्सव रास आदि लीलाओं का प्रयोजन होगा और उसमें तीन सौ करोड़ गोपियों का समावेश भी आवश्यक है। इसीलिए वे 'गोपीकुल प्रिय' हैं। वे गोपियों को वंशीस्वर से आकर्षित करेंगे, किन्तु वंशी नाद सुनकर श्रीमती राधारानी महाभाव-विवश हो उठेंगी। शतकोटि गोपियों के आ जाने पर भी और श्रीकृष्ण के गोकुलप्रिय होने से गोपियों द्वारा विहार-विलासादि की कामना करने पर भी 'राधा बिना रास लीला नाहि भाय चिते'। श्रीराधा ही रासलीला की मूलस्तम्भ हैं; उन्हें आस्वादन करने के लिये ही रास है; अन्यान्य गोपियाँ उस महारासक्रीड़ा की उपकरण मात्र है। राधादासी रासेश्वरी को धैर्य धारण करा उनकी भाव-विवशता दूर कर रामस्थली में लाकर श्रीकृष्ण की रासरसास्वदन-वासना पूरी करेगी। तभी कहा है—"गोपीकुलप्रिय देखो मोरे"—एक बार मेरे प्रति करुणा-दृष्टिपात करो।

इसके पश्चात् अपना निवेदन श्रीपादपद्मों में ज्ञापन करते हैं—"तुया प्रिय पदसेवा, एइ धन मोरे दिवा, तुम प्रभु करुणार निधि। परम मङ्गल यशे, श्रवण परस रसे, कार किबा कार्य नहे सिद्धि॥" 'हा राधानाथ! अपना प्रिय पदसेवारूपी धन मुझे देना। यद्यपि यह अति सुदुर्लभ वस्तु है, तथापि तुम करुणासिन्धु हो, मुझे मेरी प्रार्थित वस्तु अवश्य ही दोगे। तुम्हारी साक्षात् करुणा की बात दूर, तुम्हारे परम मङ्गलमय यश या गुण-लीला के स्पर्शमात्र से (कानों से स्पर्श होते ही) रस का आस्वादन प्राप्त होता है, अर्थात् अति चमत्कारित्वपूर्ण आनन्द मिलता है—उसी से श्रोता का अभिलषित कार्य भी सुसिद्ध हो जाता है।'

श्रील ठाकुर महाशय ' तुया प्रिय पदसेवा, एइ धन मोरे दिवा' कहकर सम्बोधनों की तरह श्रीकृष्ण की आवश्यकता दिखाकर अपनी अभीप्सित सेवा के लिये प्रार्थना कर रहे हैं। यहाँ 'पद' का प्रयोग भक्ति से भरकर ही किया है; 'प्रिय पद सेवा' द्वारा श्रीकृष्ण की प्रिय सभी सेवाओं के लिए प्रार्थना की गई है श्रीराधाविरहकातर श्रीकृष्ण के लिये राधारानी की प्राप्ति जैसी प्रिय सेवा और कुछ नहीं। किङ्करी अभिसार आदि करा श्रीमती को निकुञ्ज में लाकर श्यामसुन्दर के साथ मिलनकरा श्याम की प्रिय सेवा सम्पन्न करती है; उसी प्रकार विलास का अवसान होने पर वीजन, जलदान ताम्बूलदान, पाद-सम्वाहन आदि प्रिय सेवायें भी सम्पन्न करती हैं। यह सेवा

महाधन है। अन्यान्य भगवद् राज्यों की बात ही क्या, माधुर्य-राज्य वृन्दावन में भी श्रीकृष्ण की ऐसी रहस्यमय प्रियसेवा महारसमय सेवा और किसी सेवक द्वारा नहीं की जाती। अन्य की बात दूर, श्रीराधा की प्राणसम सखी ललिता-विशाखा आदि को भी किङ्करियों की तरह इस रहस्यमय सेवा की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। तभी यह महासम्पद् है। श्रीकृष्ण कह सकते हैं—"मेरी यह प्रियसेवा करने के लिये बहुत राधाकिङ्करियाँ हैं, तुम अयोग्य होकर ऐसी गुप्त सेवासम्पदा की कामना किस साहस से कर रहे हो?" तभी कहते हैं—"तुमि प्रभु करुणार निधि"। 'प्रभु' का अर्थ है समर्थ—तुम अयोग्य दीनजन को भी सेवा देने में सक्षम हो; दीनजन की दु:ख-दुर्दशा और आर्ति से तुम्हारा चित्त विगलित हो जाता है, कारण—तुम करुणा के सिन्धु हो।

इसके बाद प्रतिपादित करते हैं कि श्रीकृष्ण के परम मङ्गलमय यश या गुण-लीलाओं के श्रवण से परमानन्द प्राप्त होता है, साथ ही सभी की मनोकामना सिद्ध होती है—"परम मङ्गल यश, श्रवण परस रसे, कार किबा कार्य नहे सिद्धि"। सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ही श्रील सूत मुनि ने श्रीकृष्णकथा की महिमा बताई है—

"शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमः श्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी।
तदा रजस्तमोभावाः कामक्रोधादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥"

अर्थात् 'जिनकी कथाओं का श्रवण-कीर्तन परम पुण्यमय है, उन्हीं श्रीकृष्ण की कथायें श्रवण करने से साधुगण के सुहृत् श्रीकृष्ण कथारूप में श्रोता के हृदय में प्रविष्ट होकर उसकी अमङ्गलमय विषयवासना ध्वंस कर देते हैं। कृष्णभक्त के मुख से नित्य ही भागवत श्रवण करने से विषयवासनायें नष्टप्राय ❋ हो जाने से

❋ ज्ञान की तरह वासना का सम्पूर्ण नाश नहीं होता, अर्थात् जड़ीय वासना विनष्ट होकर भवगत् सेवा-वासना जगती है, इसलिये 'नष्टप्राय' कहा गया है-इससे भक्ति का अबाध स्वभाव बताया गया है। (श्रीजीवपाद) अपराधजनित किसी-किसी प्रबल वासना का अंश रतिस्तर तक रह जाता है, इसलिये 'नष्ट' न कहकर 'नष्टप्राय'। (विश्वनाथ)

उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण में नैष्ठिकी भक्ति का उदय होता है। (यहाँ निष्ठास्तर बताया है) इसके पश्चात् रजस्तमो भावमय लय, विक्षेप आदि और काम-लोभ आदि से चित्त विद्ध नहीं होता (इससे कथारस का आस्वादन होता है, सो रुचिस्तर व्यञ्जित है) ; शुद्ध सत्त्वस्वरूप भगवान् में चित्त स्थित होता है (इससे आसक्ति सूचित होती है)। मुक्तसङ्ग भक्त को भगवत्तत्त्वविज्ञान प्राप्त होता है (प्रेम स्तर)। इसके बाद भगवत्साक्षात्कार होता है, तब हृदयग्रन्थि (अविद्याग्रन्थि) पूरी तरह छिन्न हो जाती है, सभी संशय नष्ट हो जाता है और समस्त कर्मराशि ध्वंस हो जाती है।' श्रीकृष्ण-कथा श्रवण से प्रेमप्राप्ति और भगवत् साक्षात्कार, भगवत् माधुर्य का आस्वादन और सेवाप्राप्ति होती है; इसीलिए कहा है—"कार किबा कार्य नहे सिद्धि"।

इसके पश्चात् ठाकुर महाशय का दैन्य और आर्ति विपुल भाव से बढ़ती है, तो वे स्वयं को नितान्त विषयासक्त समझकर कहते हैं—"दारुण संसार गति, विषम विषयमति, तुया विस्मरण शेल बुके। जर जर तनुमन, अचेतन अनुक्षण, जीयन्ते मरण भेलो दु:खे।" संसारी या विषयासक्त जीव की गति निदारुण त्रिताप ज्वालाओं का और दुर्विसह (असह्य, जिन्हें सहना कठिन) नरक आदि यन्त्रणाओं का भोग। विषयनिष्ठ मति भी अति विषम होती है, अर्थात् विषयनिष्ठ मति विषयकारता-प्राप्त होने से अविरत जड़ीय विषयचिन्तन से अतिशय चंचल हो जाती है, तो परमार्थ-चिन्तन की शक्ति खो देती है। "विषयविष्टचित्तानां विष्ण्वावेश: सुदूरत:। वारुणी र्दिगगतं वस्तु व्रजन्नैन्द्री किमाप्नुयात्॥" (विष्णुपुराण) 'विषयविष्ट-चित्त व्यक्तियों के लिये भगवान् श्रीविष्णु के प्रति मन का अभिनिवेश सुदूर पराहत (कठिन, दूर की बात) होता है; कारण जो व्यक्ति पूर्व की ओर जा रहा है, उसके लिये पश्चिम में अवस्थित वस्तु की प्राप्ति सर्वथा असम्भ है।' श्रीमन्महाप्रभु के श्रीमुख की उक्ति है—"मन दुष्ट हैले नहे कृष्णेर स्मरण। कृष्णस्मृति बिनु हय निष्फल जीवन॥" (चै०च०)तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है—"तुया विस्मरण शेल बुके"। अनादि काल से भगवद् विस्मृति के कारण जीव को संसारबन्धन दशा प्राप्त हुई है। कृष्णबहिर्मुख जीव को श्रीकृष्ण-विस्मृतिजनित किसी दु:ख का अनुभव नहीं। वह संसार की नाना प्रकार की दुखमय दशा और देह-दैहिकादि की नश्वरता देखकर भी मोहमुग्ध होकर उसी में आसक्त है, विषय अभिनिवेश में जीवन बिता रहा है। कृष्ण-विस्मृतिजनित किसी दु:ख का अनुभव होता, तो वह भजन पथ का आश्रय लेकर धन्य हो सकता था। जिन लोगों ने उस दु:ख की अनुभूति प्राप्त कर ली, उनकी वह विस्मृति तो बाण की तरह हृदय में बिंधी है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—उस बाण के दु:ख से देह मन जर्जर है, क्षण-क्षण में चेतना लुप्त होती है, जीवित अवस्था में ही मृत्यु का दु:ख भोगना पड़ रहा है—"जर जर तनुमन, अचेतन अनुक्षण, जीयन्ते मरण भेलो दु:खे।"

अन्त में दैन्यपूर्वक कहते हैं—"मो हेनो अधम जने, करो कृपा निरीक्षणे, दास करि राखो वृन्दावने।" 'हा राधानाथ! मुझ-जैसा अधम और कोई नहीं, अपने गुण से इस अधम पर कृपादृष्टिपात करो, श्रीचरणों का दास बनाकर वृन्दावन में रखो।' फिर सोचते हैं—'मुझ जैसे अधम का दास बनकर वृन्दावन में वास करना सम्भव है? तभी श्रीश्रीगौराङ्ग की दीनपावनी कृपा की बात ध्यान में आती है। वे ही श्रीगौराङ्ग, जिन्होंने श्रीकृष्ण का ज्ञान करा आपामर जीवों में चैतन्य का सञ्चार किया है! उन्हीं श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु के श्रीचरणों में शरण लेते हैं—"श्रीकृष्णचैतन्य नाम, प्रभु मोर गौर धाम, नरोत्तम लइलो शरणे"॥७॥

दैन्यबोधिका

श्रीगोविन्द! गोपीनाथ ! कृपा करि राखो निजपदे।
काम क्रोध छय जने, लये फिरे नानास्थाने, विषय भुञ्जाय नानामते॥
हइया मायार दास, करि नाना अभिलाष, तोमार स्मरण गेलो दूरे।
अर्थलाभ एइ आशे, कपट वैष्णववेशे, भ्रमिया बुलिये घरे-घरे॥
अनेक दुःखेर परे, लयेछिले व्रजपुरे, कृपाडोरे गलाय बान्धिया।
दैवमाया बलात्कारे, खसाइया सेइ डोरे, भवकूपे दिलेक डारिया॥
पुनः यदि कृपा करि, एजनार केशे धरि, टानिया तुलहो व्रजभूमे।
तबे से देखिये भालो, नतुबा पराण गेलो, कहे दीन दास नरोत्तमे॥८॥

सुधाकणिका व्याख्या—

श्रील ठाकुर महाशय ने पिछले पद्य में अपने परम अभीष्ट श्रीगौरगोविन्द-चरणों में श्रीवृन्दावन-वास के लिये प्रार्थना की थी। वे एक बार व्रज में आये थे। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद की इच्छा और आदेश से भक्ति प्रचार के लिये गौड़ देश चले गये थे। उसी बात की स्मृति चित्त में उदित हुई है, तो दैन्य से भरकर आत्मग्लानि दिखा रहे हैं। प्रेम की मूर्ति श्रील ठाकुर महाशय की ये समस्त वाणियाँ ही उनके विपुल दैन्य विशेष से समुत्थित हैं; किन्तु साधक जगत् के लिये इनमें अति चमत्कारपूर्ण शिक्षा निहित है, यह समझना होगा।

श्रीवृन्दावन में जो विग्रहरूप से साक्षात् विराज रहे हैं, उन्हीं श्रीगोविन्द-गोपीनाथ की स्मृति श्रील ठाकुर महाशय के चित्त में आलोड़न की सृष्टि कर रही है। कहते हैं—"श्रीगोविन्द! गोपीनाथ कृपा करि राखो निजपदे"— हा गोविन्द! गोपीनाथ! करुणा कर अपने चरणतल में स्थान देकर धन्य करो। श्रीरूप गोस्वामिपाद ने विरोधी लक्षणा के माध्यम से श्रीगोविन्द-विग्रह के उस माधुर्य का प्रभाव वर्णन किया है, जो अन्य रागों को भुला दे—

"स्मेरां भङ्गीत्रयपरिचितां साचिविस्तीर्णदृष्टिं, वंशीन्यस्ताधर किशलयामुज्ज्वलां चन्द्रकेन।
गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे, मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे! बन्धुसङ्गेऽस्तिरङ्गः॥"

'हे सखे! यदि बन्धुबान्धवों के साथ आमोदप्रमोद की तुम्हारी इच्छा हो, तो केशीघाट के निकट स्थित हास्यमय, त्रिभङ्गी मुद्रा में विराजमान, वक्र-विशाल नयन, वशीरन्ध्रों पर अधरपल्लव रखे, शिखिपुच्छधारी श्रीगोविन्द-मूर्ति के दर्शन मत करना।' 'सखे' शब्द द्वारा दर्शक की श्रद्धाहीनता का पता चलता है। 'दर्शन मत करना' इस वाक्य द्वारा विरोधी लक्षणा से श्रीमूर्ति का प्रशंसा-कीर्तन कर रहे हैं और तटस्थ लोगों को प्रेरणा दे रहे हैं कि कौतूहल के वश ही सही, श्रीमूर्ति के दर्शन करें। वृन्दावन-प्राप्ति आदि भाग्यसे ही सम्भव होती है। 'बन्धु के साथ प्रीति का अभाव'—इसमें रतिलक्षण प्रकट हुआ है। (श्रीजीवपाद की टीका का अनुवाद)

श्रील ठाकुर महाशय दैन्य और आर्ति के साथ सोचते हैं—मैं वृन्दावन जाकर भी उन परम माधुर्य मूर्ति श्रीगोविन्द गोपीनाथ के दर्शन करके भी मायाराज्य में लौट आया, यह तो मेरे अपराध का ही लक्षण है। श्रीगोविन्द-गोपीनाथ कृपाकर अपने चरण-सान्निध्य में न रखें, तो मुझ जैसे अपराधी का वृन्दावन वास सर्वथा असम्भव है।' तभी प्रार्थना कर रहे हैं—"श्रीगोविन्द! गोपीनाथ! कृपा करि राखो निजपदे"। 'कृपा करि राखो निजपथे'— यह पाठ भी मिलता है। 'निजपथे' का अर्थ होगा ब्रज के पथ पर रखना या ले जाना, अथवा यह समझना होगा कि वे भक्तिपथ पर रखने या भजनसौभाग्य देने की प्रार्थना कर रहे हैं।

श्रील ठाकुर महाशय प्रेमभक्ति के महाराज या विपुल प्रेमधन के धनी हैं, फिर भी भक्ति के अतृप्ति-स्वभाव के वश वे प्रार्थना के बहाने विविध अनर्थों या विघ्नों द्वारा व्याहत (अवरुद्ध)चित्त साधक को विशेष रूप से प्रयोजनीय बातें बता रहे हैं—"काम क्रोध छय जने, लये फिर नानास्थाने, विषय भुञ्जाय नाना मते"। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य—ये छह प्रबल रिपु हैं। ये अनर्थदशा में साधक के हृदय में प्रभाव का विस्तार करते हैं; भजनसिद्धि के महाशक्तिशाली क्षेत्र और भजन के एकान्त उद्दीपन-स्थान वृन्दावन आदि धामों में साधक को स्थिर होकर वास कर धन्य नहीं होने देते। वे उसे नाना स्थानों में लिये घूमते है और नाना प्रकार के विषयभोग कराते हैं। जब ये प्रबल शक्तिशाली षड् रिपु चक्षु आदि इन्द्रियों को विषयक्षेत्र में आकर्षित करते हैं, तब विद्वान् की विद्या, पण्डित का पाण्डित्य, शास्त्रज्ञ का शास्त्रज्ञान—सब आच्छन्न हो जाता है और ये रिपु साधक को रूप-रस आदि विषयभोगों में बलपूर्वक प्रवर्तित करते हैं। ये सब बहिरङ्गामाया के सैनिक हैं, अतएव अत्यन्त प्रबल हैं; साधक अपनी शक्ति से इनके साथ प्रतिद्वन्द्विता कर उन्हें पराजित करने में समर्थ नहीं होता। साधु, गुरु, वैष्णव की कृपा और भक्ति के आश्रय को छोड़ इनके कवल से रक्षा पाने का कोई उपाय नहीं।

इसके पश्चात् कहते हैं—"हइया मायार दास, करि नाना अभिलाष, तोमार स्मरण गेलो दूरे। अर्थलाभ एइ आशे, कपट वैष्णववेशे, भ्रमिया बुलिये घरे घरे॥" 'कृष्णदास्य त्यागकर माया का दास बन गया हूँ, इसलिये नाना प्रकार की अभिलाषायें अर्थात् शत-शत जड़ीय विषयभोग-वासनायें हृदय में जगती हैं, तभी तुम्हारी स्मृति की अन्तिम रेखा तक हृदय से धुल पुछ गई है। भोगवासना की पूर्ति के लिये धन की आवश्यकता है, सो हृदय में विषयभोग-वासना की तरङ्ग और बाहर कपट वैष्णव का वेश धारण कर अर्थलाभ की आशा में विषयी लोगों के घरों में घूमता फिर रहा हूँ।'

प्रेममय वपु श्रील ठाकुर महाशय इस पद्यांश में मुझ जैसे विषयमलिन चित्त और पाप-अपराध आदि दुर्दैवों से ग्रस्त जीव की दुरवस्था की बात ही कह रहे हैं। कृष्ण के नित्यदास जीव ने स्वेच्छा से कृष्णदास्य त्यागकर अनादिकाल से माया का दास्य ग्रहण कर रखा है। वह मायारचित स्थूल और सूक्ष्मदेह रूपी उपाधि में 'मैं' तथा स्त्री पुत्र धन-सम्पदा आदि जड़ीय भोग्य वस्तुओं में 'मेरा' ज्ञान रखकर अपने नित्यानन्दमय स्वरूप को भूल गया है और अनादि काल से ही विविध जीवयोनियों में घूमता फिर रहा है। परिणाम यह है कि श्रीकृष्ण-स्मृति के स्थान पर अनादिकाल की विषयवासना के गाढ़े संस्कार उसकी हृदय-सरिता में सतत नाना प्रकार की विषयवासना -तरङ्गे जगा रहे हैं।दैवयोग से किसी महत् पुरुष की कृपा प्राप्त हो गई है, तो महत् का या भक्तिपथ

का आश्रय ग्रहण कर लिया है; फिर भी नामापराध, धामापराध, वैष्णवापराध आदि के फलस्वरूप भजनरस के आस्वादन के अभाव में जड़ीय भोगवासना से मुक्ति नहीं मिली—वह क्रमशः बढ़ती जाती है, उसकी तरङ्गों के आघात से चित्त भगवत्स्मृतिशून्य हो गया है। मुझ जैसा जीव हृदय में विषयवासना की तरङ्ग और बाहर कपटतायुक्त वैष्णव-वेश धारण कर अब भोगवासना की निवृत्ति के लिये अर्थलाभ की आशा से धनी विषयी के द्वार-द्वार पर घूम रहा है। अर्थ-उपार्जन के लिये हरिनाम-हरिकथा को जीविका बनाकर भक्तिप्राप्ति के अधिकार से सदा-सदा के लिये वञ्चित होकर एक बेडौल बेढंगे स्वरूप को लिये खड़ा है! आह! दुर्भाग्य के मारे जीव के प्रति मायिक कामना-वासना की कैसी विडम्बना! आह! मुझ-जैसे अपराधी जीव के अदृष्ट का कैसा निर्मम परिहास!! "हित करिते आसिलाम हैलो विपरीते"। अपनी दुरवस्था की बात सोचकर अनुताप की अग्नि में दग्ध होकर उक्त अपराध आदि का त्याग किया जाय और साधुसङ्ग में नामाश्रय में दीन होकर दीननाथ के चरणों की शरण ली जाय-इसके अतिरिक्त और गति नहीं।

फिर कहते हैं—"अनेक दुःखेर परे, लये छिले व्रजपुरे, कृपाडोर गलाय बान्धिया। दैवमाया बलात्कारे, खसाइया सेइ डोरे, भवकूपे दिलेक डारिया॥ पुनः यदि कृपा करि, ए जनार केशे धरि, टानिया तूलहो व्रजभूमे। तबे से देखिये भालो, नतुबा पराण गेलो, कहे दीन दास नरोत्तमे॥" उस समय ब्रजधाम में आना बड़ा कष्टसाध्य था। वङ्गदेश से वृन्दावन पैदल आने में बहुत समय लगता था। मार्ग भी बड़ा बाधा विघ्न भरा, विपदा भरा। फिर भी ब्रजधाम के आकर्षण से भक्तगण अनुराग से भरकर किसी दुःख क्लेश बाधा-बिघ्न को कुछ न समझकर ब्रज में आते थे। श्रील ठाकुर महाशय उसी दुःख की बात स्मरण कर कहते हैं—'अनेक दुःखों के बाद गले में कृपारज्जु बाँधकर वृन्दावन में लिया था, पर मेरे ही दुर्दैववश कृपारज्जु खिसक गई; भवकूप में फिर गिर पड़ा।' श्रील ठाकुर महाशय श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद की आज्ञा से प्रेमप्रचार के लिये वृन्दावन से बङ्गदेश गये थे। वहाँ दैवमाया या भवकूप जैसा कुछ भी नहीं था। जो लोग ब्रजवास का सङ्कल्प लेकर वृन्दावन आते हैं और मायिक वस्तुओं के आकर्षण से या नाना प्रकार की देह-दैहिकादि की असुविधाओं की बात सोचकर माया के राज्य में लौट जाते हैं—यह बात उन्हीं के विषय में कही गई है, यह समझना होगा। श्रील ग्रन्थकार कहते हैं—पुनः स्वयं कृपाकर इस दीनजन के केश पकड़कर ब्रजभूमि में ले जाओ, तभी मङ्गल है; अन्यथा इस मायिक जगत् में अविलम्ब मृत्यु का वरण कर लूँ, इसके अतिरिक्त और गति नहीं॥८॥

दैन्यबोधिका

मोर प्रभु मदनगोपाल! गोविन्द! गोपीनाथ! दया करो मुइ अधमेरे।

संसार सागर माझे, पड़िया रैयाछि नाथ, कृपाडोरे बान्धि लहो मोरे॥

अधम चण्डाल आमि, दयार ठाकुर तुमि, शुनियाछि वैष्णवेर मुखे।

ए बड़ो भरसा मने, लैया फेलो वृन्दावने, वंशीवट जेनो देखि सुखे॥

कृपा करि आगुगिरि, लहो मोरे केशे धरि, श्रीयमुना देहो पदछाया।
अनेक दिनेर आश, नहे जेनो नैराश, दया करो ना करिहौ माया॥
अनित्य ए देह धरि, आपन आपन करि, पाछे पाछे शमनेर भय।
नरोत्तम दास भणे, प्राण कान्दे रात्रि दिने, पाछे व्रजप्राप्ति नाहि हय॥९॥

सुधाकणिका व्याख्या–

श्रील ठाकुर महाशय अब श्रीगोविन्द, गोपीनाथ, मदनमोहन की करुणा की कामना कर रहे हैं। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने श्रीचैतन्यचरितामृत के उपक्रम और उपसंहार में श्रीगोविन्द, गोपीनाथ, मदनमोहन की वन्दना की है और उल्लेख किया है कि गौड़ीय भक्तों के नाथ हैं,गौड़ीय भक्तों को सभी प्रकार से आत्मसात् किया हैं उपक्रम में लिखा है—"ए तिन ठाकुर गौड़ीया के करियाछेन आत्मसाथ। ए-तिनेर चरण वन्दो, तिन मोर नाथ॥" उपसंहार में कहते हैं—"श्रीराधासह श्रीमदनमोहन। श्रीराधासह श्रीगोविन्दचरण॥ श्रीराधासह श्रीगोपीनाथ। एइ तिन ठाकुर—सब गौड़ीयार नाथ॥"

श्रील ठाकुर महाशय ने पिछले पद्य में वृन्दावन से वङ्गदेश लौट आने के लिये अनुताप या आत्मग्लानि व्यक्त की थी। ब्रजवास सम्भव नहीं हुआ, इस बात को लेकर विपुल दैन्य का उदय हुआ, तो स्वयं को अतिशय अयोग्य अधम जानकर आक्षेप के साथ तीन ठाकुरों के श्रीचरणों में पुनः ब्रजवास के लिये प्रार्थना करने लगे—"हा गोविन्द! गोपीनाथ! मदनमोहन! दया करो मुई अधमेरे। संसार सागर माझे, पड़िया रैयाछि नाथ, कृपाडोरे बान्धि लहो मोरे॥" कृष्णप्रेम का स्वभाव ही है—प्रेमिक के हृदय में अतृप्ति, दैन्य,आर्ति,उत्कण्ठा जगाकर उसके चित्त को कृष्णानुभूति की गहनता में ले जाना। "प्रेमेर स्वभाव—जाँहा प्रेमेर सम्बन्ध। से-इ-माने—कृष्णे मोर नाहि प्रेमगन्ध॥" (चै०च०) प्रेम के सिन्धु होकर भी श्रीमन्महाप्रभु ने प्रेम के अतृप्ति स्वभाव के वश प्रार्थना की है—"न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये। मम जन्मनिजन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥ (शिक्षाष्टक) "धन जन नाहि मागो—कविता सुन्दरी। शुद्धभक्तिदेहो मोरे कृष्ण! कृपा करि॥ अति दैन्ये पुन मागे दास्य भक्तिदान। आपनाके करे संसार-जीव अभिमान। अयि! नन्दतनुज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ। कृपाय तब पादपङ्कजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥ (वही) तोमार नित्यदास मुई तोमा पासरिया। पड़ियाछो भवार्णवे मायाबद्ध हइया॥ कृपा करि करो मोरे पदधूलि सम। तोमार सेवक करों तोमार सेवन॥" (चै०च०) राधाभाव अङ्गीकार करके भी भक्ति के स्वभाववश यदि श्रीमन्महाप्रभु ही अपने को संसार-सिन्धु में गिरा साधारण जीव समझते हैं, तब अन्य प्रेमिक ऐसा करेंगे—इसमें और आश्चर्य क्या!

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—'हे गोविन्द! गोपीनाथ! मदनमोहन! मुझ-जैसे महाअधम पर करुणा करो। संसार-सिन्धु में पड़ा हुआ हूँ, कृपाडोर से बाँधकर श्रीवृन्दावन श्रीचरण-सान्निध्य में ले चलो।' ब्रज-आगमन के लिये श्रील ठाकुर महाशय की इस अर्तवाणी में यही शिक्षा निहित है कि ब्रजधाम पृथ्वी पर स्थित होते हुए भी प्रकृति का परिणाम नहीं है, श्रीकृष्ण की लीलाभूमि साक्षात् चिन्मय धाम ही जगजनों पर कृपा कर विश्व का रूप अङ्गीकार कर विश्व में विराज रहा है। परमात्मा इस जड़ देह में अवस्थान करते हैं, फिर भी जड़ातीत चिन्मय

है; देहनाश के साथ उनका नाश नहीं होता। उसी प्रकार जड़ीय विश्व में अवस्थान करने पर भी ब्रजधाम जड़ांशरहित चिन्मय है; प्रकृति की प्रलय में श्रीधाम का लय नहीं होता, वह स्वरूप से ही अवस्थान करता है।-इसलिए ब्रजरस-साधक के लिये ब्रजधाम-जैसा साधनक्षेत्र विश्व में और कहीं नहीं है, कारण—प्रेमप्राप्ति के महाशक्तिशाली साधन-पञ्चक में यह (ब्रजवास) अन्यतम है। ऐसे महा उद्दीपनमय ब्रजवास से साधक की साधना शीघ्र ही पूर्णता प्राप्तकर प्रेमप्रसू हो जाती है। तभी उपदेश दिया गया है कि जो सशरीर व्रजधाम में अक्षम हैं, वे मन से ब्रजवास करें। यही कारण है कि अनुरागी ब्रजरस-साधक ब्रजधाम को छोड़ जड़ जगत् में रहने सहने को ऐसा क्लेशकर समझते हैं जैसे दुष्पार सिन्धु में पड़े हुए हैं श्रीकृष्ण कृपा के बिना कोई भी अपनी चेष्टा से ब्रजधाम में रहने का सौभाग्य प्राप्त नहीं करता। तभी श्रील ठाकुर महाशय तीनों ठाकुरों की करुणा की कामना कर रहे हैं।

इसके पश्चात् कहते हैं—"अधम चण्डाल आमि, दयार ठाकुर तुमि, शुनियाछि वैष्णवेर मुखे। ए बड़ो भरसा मने, लइया फेलो वृन्दावने, वंशीवट जेनो देखि सुखे॥" यही प्रकृत प्रेमोत्थित दैन्य है—"उत्तम हइया आपनाके माने तृणाधम" (चै०च०) प्रेमिक के ऐसे दैन्य से ही करुणामय भगवान् का चित्त अत्यन्त विगलित होता है और उनकी अजस्र करुणाधारा में अभिस्नात होकर भक्त कृतार्थ हो जाता है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं और उनकी अजस्र करुणाधारा में अभिस्नात होकर भक्त कृतार्थ हो जाता है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—'मैं अधम चण्डाल हूँ। वैष्णवों के मुख से सुना है कि तुम दया के ठाकुर हो, तभी तुम्हारे आगे प्रार्थना का साहस कर रहा हूँ। ("आपना अयोग्य देखि मने पाउँ क्षोभ। तथापि तोमार गुणे उपजाय लोभ॥" चै०च०) तुम अपने गुण से कृपाकर मुझे वृन्दावन ले जाओ ताकि मैं सुखपूर्वक वंशीवट के दर्शन कर सकूँ।' यहाँ 'सुखे' द्वारा अनुभव के सुख की ओर ही लक्ष्य किया गया है। वंशीवट-दर्शन से अनुरागी भक्तों को महारसमय रासलीला का उद्दीपन प्राप्त होता है। भावुक मानस-नेत्रों से देखते हैं—"वृन्दावन की कैसी मनोहर, कैसी अपूर्व नैसर्गिक शोभा है। ज्योत्सना पुलकित रजनी है। तरुलताओं से भरी श्यामल वृन्दावन की प्रकृति मल्लिका, मालती, चमेली, जूही आदि पुष्पों का राशि-राशि सम्भार लिये मानो महानन्द से हँस रही है।फूल-फूल पर भ्रमरों का रस-विलास चल रहा है। पक्षियों का कलकूजन, कोयलों का पंचमनाद। नील यमुना के वक्ष पर विकसित कुमुद, कमल, कल्हार! ऐसे शोभासम्पन्न परिवेश में भुवन को आलोकित करते श्यामसुन्दर वंशीवटमूल में त्रिभंग मुद्रा में खड़े होकर ब्रजसुन्दरियों को आकर्षित करते हुए वंशीवादन कर रहे हैं। उस वंशीनाद को सुनकर सहस्र-सहस्र ब्रजसुन्दरियाँ अपने अङ्गों के स्वर्ण आलोक से वृन्दावन को समुद्भासित करती भाव-स्रोत में डूबती आ पहुँची हैं। प्रत्येक ब्रजसुन्दरी प्रेमरस की एक अनवद्य छवि है। अन्त में आती हैं वृषभानुन्दिनी राधारानी! जिनके श्रीअङ्ग में है कोटि विद्युतों की दीप्ति! जिनकी अङ्गकान्ति ने, सौन्दर्य माधुर्य ने कोटि-कोटि ब्रजदेवियों के शोभा सौन्दर्य को पराजित कर दिया है। रासेश्वरी के आगमन के साथ ही साथ महारसक्रीड़ा रास आरम्भ हो गया है। "मण्डली-बन्धे गोपीगण करेन नर्तन। मध्ये राधासह नाचे ब्रजेन्द्रनन्दन॥" (चै०च०) मानो सौन्दर्य, माधुर्य, रूप, रस से सारा विश्व छा गया है। प्रेमिक उसी रस-स्रोत में बहता-बहता सुख से आत्महारा हो जाता है। ब्रजधाम के विभिन्न लीलाक्षेत्र, उनकी अपनी-अपनी नित्यलीलायें—प्रेमिक के प्रेम नेत्रों में स्फुरित हो उन्हें सुख-सिन्धु में डुबोये रखती हैं।

फिर कहते हैं—"कृपा करि आगुसरि, लहो मोरे केशे धरि, श्रीयमुना देहो पदछाया। अनेक दिनेर आश, नहे जेनो नैराश, दया करो ना करिहो माया॥" श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—'हा गोविन्द! गोपीनाथ! मदनमोहन! ब्रज की ओर एक पद भी अग्रसर होने की मुझमें शक्ति नहीं। तुम (सब) स्वयं मेरी ओर अग्रसर होकर मेरे केश पकड़कर वृन्दावन ले चलो। हा यमुने! अपने श्रीचरण-कल्पतरु की छाया में आश्रय दो। मेरी ब्रजवास की सुचिरकाल की आशा है, उसे पूरी करो; निराश मत करना; दया करो, माया मत करना।' भगवान् की करुणा के संयोग के बिना केवल साधन प्रयत्न से साधक की अभिलाषा पूरी नहीं होती। भगवान् भी भक्तसाधक पर कृपा करने के लिए सतत समुद्यत रहते हैं। साधन भजन की बात दूर, जीव की ओर से नामाभास आदि थोड़ा सा भी छल पाते ही भगवान् उसे अपने चरणों में खींच लेते हैं। भगवत्कृपा का यह रहस्य वृहद्भागवतामृत में व्यक्त हुआ है।

यदि श्रीगोविन्द, गोपीनाथ, मदनमोहन, या यमुना कहें—'देखो नरोत्तम! हमारे परमप्रिय श्रीजीव के आदेश या अनुप्रेरणा से तुम वृन्दावन छोड़कर वङ्गदेश आये हो। भक्त की इच्छा ही हमारी इच्छा है; इसलिये हमारी इच्छा से ही हमारी सेवा-विशेष के लिए ही तुम वङ्गदेश में वास कर रहे हो। तुम इसी सेवा में लगे रहो' यह सोचकर ही कहते हैं—'मेरी ब्रजवास की सुचिरकाल की आशा है, तुम सब मुझे निराश मत करना। तुम्हारी इच्छा से जीवोद्धार का कार्य होगा; मैं अधम हूँ, भक्ति-प्रचार भला मैं क्या करुँगा? इसलिये माया मत करना, दया करो—वृन्दावन ले चलो। मैं अपने उद्धार की चिन्ता में सतत व्यग्र हुआ पड़ा हूँ, मेरा उद्धार कर, श्रीचरणों में आश्रय दो।' फिर यदि अभीष्टदेव यह कहें—'ब्रजवास भी यथासमय होगा, अभी यहाँ रहकर भजन करो।' तो इसका उत्तर देते हैं—"अनित्य ए देह धरि, आपन आपन करि, पाछे पाछे शमनेर भय। नरोत्तमदास भणे, प्राण कान्दे रात्रिदिने, पाछे व्रजप्राप्ति नाहि हय॥" अनित्य देह; कब विनाश को प्राप्त हो जाय, कोई ठीक नहीं। फिर देहाविष्ट मानव देह-दैहिकादि विषयों में 'मेरा मेरा' कर बन्धनदशा प्राप्त करता है—तभी पीछे सतत यमराज का डर है। अहर्निश प्राण रो रहे हैं, पीछे ब्रजप्राप्ति नहीं होगी।' यहाँ ब्रजप्राप्ति के अर्थ दो हैं—एक, ब्रज धाम में वास करने का सौभाग्य; दूसरे रागानुगीय साधक का चरम साध्यः ब्रजधाम में मञ्जरीरूप से श्रीश्रीराधामाधव की निकुञ्ज-सेवा की प्राप्ति॥९॥

स्वनिष्ठा

धन मोर नित्यानन्द, पति मोर गौरचन्द्र, प्राण मोर युगलकिशोर।

अद्वैत आचार्य बल, गदाधर मोर कुल, नरहरि विलसइ मोर॥

वैष्णवेर पदधूलि, ताहे मोर स्नान-केलि, तर्पण मोर वैष्णवेर नाम।

विचार करिया मने, भक्तिरस आस्वादने, मध्यस्थ श्रीभागवत पुराण॥

वैष्णवेर उच्छिष्ट, ताहे मोर मन निष्ठ, वैष्णवेर नामेते उल्लास।

वृन्दावने चबुतारा, ताहे मोर मन घेरा, कहे दीन नरोत्तम दास॥१०॥

सुधाकणिका व्याख्या–

श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय इस पद्य में अपने उपास्य के प्रति मन की निष्ठा बता रहे हैं। पहले श्रीश्रीनिताइगौर एवं युगलकिशोर के प्रति निष्ठा की बात करते हैं–"धन मोर नित्यानन्द, पति मोर गौरचन्द्र, प्राण मोर युगलकिशोर।" गौड़ीय वैष्णवों के लिए पञ्चतत्त्व और श्रीराधागोविन्द एक साथ आराध्य तत्त्व हैं। पञ्चतत्त्व की आराधना के बिना परम रहस्यमय श्रीश्रीराधामाधव की उपासना का अधिकार प्राप्त नहीं होता, कारण—अन्यान्य युगों में जो युगल उपासना ब्रह्मा-महेश्वर आदि के लिये भी दुर्गम या दुर्लक्ष्य थी, वह इस विशेष कलियुग में श्रीमन्महाप्रभु की करुणा का ही अवदान है। तभी श्रीमन्महाप्रभु की उपासना ही इस युग में युगलमाधुरी आस्वादन का एकमात्र उपाय है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है–

"यथा यथा गौरपदारविन्दे, विन्देत भक्तिं कृतपुण्यराशिः।
तथा तथोत्सर्पति हृद्यकस्मात्, राधापदाम्भोजसुधाम्बुराशिः॥"

(चैतन्यचन्द्रामृतम्-८८)

अर्थात् 'पुण्यात्मा भक्तसाधक के हृदय में जिस परिमाण में श्रीगौर-चरणों में भक्ति का उदय होगा, उसी अनुपात में उसके हृदय में राधारानी की श्रीचरणकमल-सुधाम्बुराशि उच्छलित होगी।'

श्रील ठाकुर महाशय पतिपरायणा पतिव्रता का दृष्टान्त लेकर श्रीश्रीगौरगोविन्द-चरणों में स्वनिष्ठा व्यक्त कर रहे हैं। पतिव्रता रमणी को पतिसेवा के लिए धन की आवश्यकता होती है; धन के बिना पति सेवा कैसे करेगी? फिर पति का जीवित रहना भी एकान्त प्रयोजनीय है, अन्यथा उसका धन जीवन सभी व्यर्थ। सबसे बड़ी बात प्राण होने चाहिए; प्राणों के न रहने पर तो उसका सेव्य पति ही उसे आग में जला देगा। गौड़ीय वैष्णव साधक पतिव्रता रमणी तुल्य है। श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु ही उसके धन हैं। निताइचाँद के द्वारा ही वह श्रीगौर-सेवा करेगा; अर्थात् निताइचाँद में भक्ति होगी, तभी श्रीगौराङ्ग उस पर प्रसन्न होंगे। श्रीनिताइ-चरणों में भक्ति न होने पर श्रीगौराङ्ग को किसी प्रकार भी सुखी नहीं किया जा सकता। श्रीचैतन्यभागवत (अन्त्य—अध्याय ५) में आया है, पानिहाटि ग्राम में स्वयं श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीराघव पण्डित से कहा है–

"राघव! तोमारे आमि निज-गोप्य कहि।
आमार द्वितीय नाहि नित्यानन्द बहि॥
एइ नित्यानन्द जेइ कराय आमारे।
सेइ करि आमि—एइ बोलिलो तोमारे॥
आमार सकल कर्म नित्यानन्द-द्वारे।
एइ आमि, अकपटे कहिलो तोमारे॥
जेइ आमि, सेइ नित्यानन्द भेद नाइ।
तोमार घरेइ सब जानिबा एथाइ॥

महायोगेश्वरो जाहा पाइते दुर्लभ।
नित्यानन्द होइते ताहा पाइबा सुलभ॥
एतेके हइया तुम महा सावधान।
नित्यानन्द सेबिहो जे हेनो भगवान्॥"

नित्यानन्द-भक्ति के बिना श्रीगौराङ्ग प्राप्त नहीं होते, यह बात श्रीमन्महाप्रभु ने अपने श्रीमुख से श्रीमुरारिगुप्त को कही है (वही मध्य०—अध्याय २०)

"सत्य तुम मुरारि! आमार शुद्ध दास।
तुमि से जानिला नित्यानन्देर प्रकाश॥
नित्यानन्दे जाहार तिलेक द्वेष रहे।
दास होइलेओ से मोहर प्रिय नहे॥
घरे जाओ गुप्त तुमि आमारे किनिला।
नित्यानन्द तत्त्व गुप्त! तुमि से जानिला॥"

श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु ही गौड़ीयवैष्णव-साधकरूपी पतिव्रता रमणी के धन हैं; उन्हें महासम्पद की तरह हृदय में धारण करके ही श्रीश्रीगौरगोविन्द का भजन करना होगा। फिर कहते हैं—"पति मोर गौरचन्द्र"। पति के बिना पतिव्रता रमणी के लिए विश्व सूना होता है। उसी प्रकार गौड़ीयवैष्णवसाधक के लिए श्रीगौराङ्ग के बिना सभी सूना है। कोई-कोई ऐसा समझते हैं कि श्रीगौराङ्ग प्रेम के आश्रयतत्त्व हैं, उन्होंने भक्तिभाव से ब्रजरस का आस्वादन किया है; इसलिये ब्रजभाव के उद्दीपन के लिये उनका स्मरण-मनन आदि कर भी लें, विषयतत्त्व के लिये उनका भजन नहीं करना होगा; विषयतत्त्व श्रीश्रीराधाकृष्ण ही है। ऐसे लोग श्रील ठाकुर महाशय की 'पति मोर गौरचन्द्र' इस उक्ति का मर्म ध्यान देकर समझें। पति को छोड़ पतिव्रता का उपास्य तत्त्व और क्या है? तभी गौड़ीयवैष्णवों के विषयतत्त्व एक साथ पञ्चतत्त्व और श्रीश्रीराधागोविन्द हैं। वे श्रीराधागोविन्द की ही तरह पञ्चतत्त्व का मन्त्रगायत्री जप, नाम जप, कीर्तनादि ध्यान-धारणा, सेवा अर्चना आदि करते हैं। उपासना की सिद्धि होने पर 'साधने भाविवो जाहा, सिद्धदेहे पाबो ताहा' इस रीति के अनुसार किसी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से एक ही समय एक साथ नवद्वीप में श्रीमन्महाप्रभु के पार्षदरूप में और व्रज में श्रीराधा-किङ्करी या मञ्जरीस्वरूप से दोनों लीलाओं की रसमाधुरी आस्वादन कर धन्य होते हैं। जीवशक्ति चिन्मय भक्ति शक्ति की सहायता से जितने उन्नततर आस्वादन के राज्य में प्रविष्ट हो सकती है—यही उसका चरम पर्याय है।

इसके पश्चात् कहते हैं—"प्राण मोर युगलकिशोर"। देह में प्राण न हों, तो पतिव्रता का पति, धन सभी व्यर्थ है। उसी प्रकार श्रीराधामाधव की उपासना या ब्रजरसास्वादन के बिना श्रीगौरनित्यानन्द का श्रीचरणाश्रय विफल है। वस्तुत: निष्कपट भाव से गौरचरणों का आश्रय लेने से राधारानी की श्रीचरण-नखच्छटा से गौरभक्त की हृदयगुहा समालोकित हो उठेगी। श्रीगौराङ्ग के प्रिय पार्षद श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती ने लिखा है (श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम्—६८)—

"कदा शौरे गौरे वपुषि परमप्रेमरसपदे सवेकप्राणे निष्कपटभावोऽस्मि भविता।
कदा वा तस्यालौकिकसदनुमानेन मम हृद्यकस्मात् श्रीराधापदनखमणि ज्योतिरुदगात्॥"

अर्थात् 'श्रेष्ठ ब्रजप्रेमरस-प्रदाता, साधुओं के एकमात्र प्राणस्वरूप श्रीकृष्ण के गौरविग्रह में मेरी निष्कपट प्रेमभक्ति कब होगी? उस निष्कपट प्रेम के अलौकिक अनुमान द्वारा श्रीराधापदनखमणियों की ज्योति मेरे हृदय में अकस्मात् कब समुद्भासित होगी?'

कोई-कोई ऐसा सोचते हैं—जब श्रीगौराङ्ग ही श्रीश्रीराधाकृष्ण मिलित विग्रह हैं, तो श्रीगौराङ्ग की आराधना करने से ही श्रीराधाकृष्ण की आराधना हो गई; अलग से श्रीराधाकृष्ण-आराधना की क्या आवश्यकता? ऐसे लोग चैतन्यचन्द्रामृत के उक्त श्लोक को ध्यान से देखें—ब्रज की सर्वोत्कृष्ट युगल-उपासना या प्रेममाधुरी आपामर को दान करने के लिये श्रीगौराङ्गदेव अवतीर्ण हुए हैं; निष्कपट भाव से उनका श्रीचरणाश्रय लें, तो ब्रजप्रेममाधुरी आस्वादन की आकांक्षा हृदय में अवश्य ही जगेगी।

श्रीनिताइचाँद की करुणा से श्रीगौरचरणों की प्राप्ति और श्रीगौरकृपा से अति विचित्र युगल-माधुरी-रसास्वादन की प्राप्ति होती है। इस विषय में चरम दृष्टान्त हैं श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद। यद्यपि ये ब्रज की नित्यसिद्ध किङ्करी और मन्महाप्रभु के प्रिय पार्षद हैं, साधक जीव नहीं हैं; तथापि उन्होंने साधक की तरह स्वयं आचरण कर जग-जन को इस भजन-कौशल की शिक्षा दी है। अतुल राजवैभव के अधिकारी श्रीहिरण्य गोवर्धन के एकमात्र पुत्र श्रीरघुनाथ श्रीगौरचरण प्राप्ति के लिये अधीर उत्कण्ठा से व्याकुल हो गये थे, निदारुण बन्धन में पड़ गये थे। यह जानकर कि श्रीनिताइचाँद की करुणा के बिना गौरचरण-प्राप्ति सर्वथा असम्भव है, वे पानिहाटि मे श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु के निकट पहुँचे। दैन्य से भरकर दूर से उनके चरणों में प्रणत हुए, तो सेवक ने उनकी बात प्रभु निताइचाँद की बताई।

"शुनि प्रभु कहे—चोरा दिलि दरशन।
आय आय आजि तोरे करिमु दण्डन॥
प्रभु बोलाय, तेंहो निकट ना करे गमन।
आकर्षिया तॉर माथे धरिलो चरण॥
कौतुकी नित्यानन्द सहजे दयामय।
रघुनाथे कहे किछु हइया सदय॥
निकटे ना आइस मोर भागो दूरे-दूरे।
आजि लागि पाइयाछों दण्डिमु तोमारे॥
दधि चिड़ा भक्षण कराहो मोर गणे।
शुनि आनन्दित हैलो रघुनाथ मने॥"

(चै०च०)

श्रीनिताइचाँद ने श्रीरघुनाथ को 'चोर' कहा। चोर दूसरे का धन गुप्तरूप से लेने की चेष्टा करता है। उसी प्रकार रघुनाथ ने निताइ का धन गौरचरण उन्हें बताये बिना गुप्तरूप से पाने का प्रयास किया है। इस चोरी के लिये निताइचाँद ने उन्हें जो दण्डादेश किया, वह भी अति अपूर्व! एक तो निताइचाँद की करुणा, दूसरे उनके पार्षद परम महद्गण की सेवाजनित कृपा—मणि-काञ्चन संयोग। इस प्रकार श्रीनिताइचाँद ने रघु के सभी प्रकार

के बन्धन छिन्न कर उन्हें शीघ्र ही गौरचरणों की प्राप्ति करा दी थी। निताइचाँद की करुणा से पुष्ट रघुनाथ सपार्षद महाप्रभु की अजस्र करुणाधारा में स्नान कर धन्य हुए थे। श्रीमन्महाप्रभु के अन्तर्धान के पश्चात् श्रील रघुनाथ ब्रज में आगमन कर ब्रजमुकुटमणि श्रीराधाकुण्ड का आश्रय लेकर श्रीराधापादपद्मों की प्राप्ति की लालसा में कैसे तन्मय हुए थे—

फिर कहते हैं—"अद्वैत आचार्य बल, गदाधर मोर कुल, नरहरि विलसइ मोर"—गौर को लाने वाले ठाकुर श्रीअद्वैत आचार्य ही बल या शक्ति हैं। देह में शक्ति न हो तो पतिसेवा नहीं होती, प्राणशक्ति भी दुर्बल क्षीण पड़ जाती है। उसी प्रकार, जिनकी करुणा से जगजन ने श्रीगौरसुन्दर प्राप्त किये हैं, ब्रजरस-साधना का सौभाग्य पाया है, उनकी आराधना के बिना अकृतज्ञता दोष के कारण साधक की अन्तरात्मा कलुषित हो जायेगी; वह गौरकृपा या ब्रजप्रेम कुछ भी पाने में समर्थ नहीं होगा। श्रीमन्महाप्रभु ने अपने श्रीमुख से श्रीरूप-सनातन से कहा--

प्रेमभक्ति वाञ्छा यदि करहो एखने।
तबे धरि पड़ो एइ अद्वैत-चरणे॥
भक्तिर भाण्डारी श्रीअद्वैत महाशय।
अद्वैतेर कृपाय से कृष्णभक्ति हय॥
शुनिया प्रभुर आज्ञा दुइ महाजने।
दण्डवत् पड़िलेन अद्वैत-चरणे॥
जय जय श्रीअद्वैत पतित-पावन।
मुइ दुइ पतितेर करहो मोचन॥
प्रभु बोले शुनो शुनो आचार्य गोसाँइ।
कलियुगे एमन विरक्त झाट नाइ॥
राज्य सुख छाड़ि काँथा करङ्ग लइया।
मथुराय थाकेन कृष्णेर नाम लैया॥
अमायाय कृष्णभक्ति देहो ए दोंहारे।
जन्म-जन्म जेनो आर कृष्ण ना पासरे॥
भक्तिर भाण्डारी तुमि, बिने तुमि दिले।
कृष्णभक्ति, कृष्णभक्त, कृष्ण कारे मिले?"

(चैतन्य भागवत)

इसलिये गौड़ीय वैष्णवों के लिये श्रीगौरकृष्ण सेवा की मूलशक्ति श्रीअद्वैताचार्य की आराधना एकान्त अपेक्षित है। फिर कहते हैं—"गदाधर मोर कुल"। ब्रज के ठाकुर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण श्रीराधा की भाव-माधुरी आस्वादन के लोभ से राधाभावकान्ति अङ्गीकार कर गौर हुए। श्रीमती राधारानी ने अपने प्राणनाथ की अभिलाषा की पूर्ति के लिए उन्हें भाव-कान्ति तो दी है, पृथक् एक प्रकाश से गदाधर रूप में सतत श्रीगौराङ्ग के निकट रहकर आनन्द में आत्महारा भी हुई—व्रजेन्द्रनन्दन उनकी भावमाधुरी के आस्वादन का कार्य कैसे करते हैं, इसका प्रत्यक्ष अनुभव कर। उसी गौरशक्ति गदाधर की आराधना से ही साधक गौर-कृष्ण की आराधना की उपयोगी

शक्ति प्राप्त कर श्रीगौर-गोविन्द की सेवामाधुरी आस्वादन कर धन्य या कृतार्थ हो सकता है। पतिव्रता सभी प्रकार से कुल की मर्यादा की रक्षा करके ही पति की आराधना करती है। उसी प्रकार भक्त साधक गौरशक्ति श्रीगदाधरतत्त्व की यथायोग्य मर्यादा-रक्षा करके ही श्रीगौराङ्ग की आराधना करेगा।

कोई-कोई सोचते हैं कि 'गदाधर मोर कुल' कहकर श्रील ठाकुर महाशय ने अपने मन्त्रगुरुकुल या गुरुपरम्परा का परिचय दिया है। श्रीयदुनाथदास कृत 'श्रीगदाधरशाखा-निर्णयामृत' ग्रन्थ में लिखा है कि श्रीगौरशक्ति श्रीगदाधरपण्डित गोस्वामी के श्रीलोकनाथ गोस्वामी हैं और लोकनाथ के मन्त्रशिष्य श्रीनरोत्तम हैं।

फिर कहते हैं—"नरहरि विलसइ मोर"। श्रीनरहरि सरकार ठाकुर सतत मेरे हृदय में विहार करते हैं। पञ्चतत्त्व में ईश्वरतत्त्व हैं श्रीगौराङ्ग, श्रीनित्यानन्द और श्रीअद्वैत। गदाधर शक्तितत्त्व हैं; श्रीवास भक्ततत्त्व। यहाँ श्रीवास के स्थान पर नरहरि नाम का उल्लेख भक्ततत्त्व की ओर इङ्गित करता है।

फिर वैष्णवों के प्रति निष्ठा व्यक्त करते हैं—"वैष्णवेर पदधूलि, ताहे मोर स्नानकेलि, तर्पण मोर वैष्णवेर नाम।" वैष्णवों की पदरज से अभिषिक्त हुए बिना भगवान् में रति-मति का उदय हो ही नहीं सकता— यह बात सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत में बार-बार बताई गई है। जैसे नित्य स्नान से देह-मन पवित्र होते हैं, स्वस्थ रहते हैं, वैसे ही भक्तिकामी साधक वैष्णवों की श्रीचरणरज नित्य अङ्ग पर लगाकर अपने भजन-विग्रह को पवित्र एवं स्वस्थ रखें। 'केलि' शब्द से यही समझा जायेगा कि उस रज का सेवन महानन्द के साथ या सुख का अनुभव कर किया जाना चाहिये; उसमें लेशमात्र घृणा-लज्जा या सङ्कोच आदि का उदय न हो। और की तो बात ही क्या, स्वयं श्रीमन्महाप्रभु ने भक्तों की चरणधूलि लेकर विश्वसाधकों को शिक्षा दी है कि भक्ति पाने के लिये यह एकान्त अपेक्षित है—"सभार चरणधूलि लय विश्वम्भर"। (चै० भा०)

"तर्पण मोर वैष्णवेर नाम"। मनुसंहिता में पितृयज्ञ को तर्पण कहा गया है। पितृऋण-शोधन के लिये मनुसंहिता ने पितृतर्पण का विधान दिया है। जो लोग भक्तिपथ का आश्रय लेकर भगवच्चरणों में शरणागत हुए हैं, वे देव ऋषि पिता आदि के निकट कभी ऋणी नहीं रहते। "काम त्यागि कृष्णभजे शास्त्र आज्ञा मानि। देव-ऋषि पित्रादिकेर कभु नहे ऋणी॥" (चै०च०) श्रीमद्भागवत (११/५/४१) में महर्षि श्रीकरभाजन ने विदेहराज निमि से कहा है—

"देवर्षिभूताप्तनृणां पितृनृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥"

'हे राजन्! जिस व्यक्ति ने कृत्याकृत्य कर्मों का परित्याग कर सभी प्रकार से शरण्य श्रीमुकुन्द की शरण ली है, वह देवता, ऋषि, भूत, पोष्य कुटुम्बादि या पितृ पुरुषादि के निकट ऋणी नहीं रहता; इसलिये वह उनका किङ्कर भी नहीं।' जिस कुल में एक वैष्णव अवतीर्ण हो जाता है, उस वंश के पितृ पुरुष महानन्द में नृत्य करते हैं—"नृत्यन्ति स्वर्गे पितरोऽपि तेषां येषां कुले वैष्णवो नामधेय।" अतएव श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं कि वैष्णवों का नामकीर्तन ही मेरा पितृतर्पण है।

फिर कहते हैं—"विचार करिया मने, भक्तिरस आस्वादने, मध्यस्थ श्रीभागवतपुराण"— अर्थात् यदि विचार करके देखें, तो समझ में आयेगा कि सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत ही भक्तिरस-आस्वादन के मामले में मध्यस्थ या पञ्च है—समस्त विवाद और समस्या का समाधानकारी सर्वनिरपेक्ष सार्वभौम प्रमाण है। महामुनि वेदव्यास ने ही कहा है—

"अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ-विनिर्णयः।
गायत्री-भाष्यरूपोहसौ वेदार्थपरिवृहितः।
पुराणानां सामरूपः साक्षात्भगवतोदितः॥"

अर्थात् श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्र का प्रकृत अर्थनिर्णायक शास्त्र है। ब्रह्मसूत्र अति दुरधिगम्य है; "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" "जन्माद्यस्य यतः" "शास्त्रयोनीत्वात्" "तत्त समन्वयात्"— इन समस्त सूत्रों का प्रकृत तात्पर्य क्या है, किस गम्भीर उद्देश्य को लेकर ब्रह्मर्षि वेदव्यास ने इन सभी सूत्रों का प्रणयन किया है, इन बात को लेकर महानुभव आचार्यों में भी मत-वैषम्य देखा जाता है। आचार्य शङ्कर ने इन सब सूत्रों को जो अर्थ ग्रहण किया है, श्रीपाद रामानुज ने उसका ठीक विपरीत अर्थ लिया है। श्रीमध्वाचार्य, निम्बार्क आदि आचार्यों में इन सूत्रों के तात्पर्य को लेकर भारी मतभेद देखा जाता है। तब परमार्थ-विषय में दिक्भ्रान्त साधारण व्यक्ति किस अर्थ को लेकर प्रकृत सत्य के पथ पर चलेगा? सूत्रकर्ता महामुनि वेदव्यास कहते हैं—श्रीमद्भागवत ही वेदान्त का प्रकृत अर्थग्रन्थ है। सभी प्रकार से इसी का अवलम्बन करना है। यह महाभारत का भी अर्थनिर्णायक ग्रन्थ है। यहाँ तक कि वेद सार गायत्री का भी यह भाष्यस्वरूप है। इसमें वेदवाक्यों को उत्तम रूप में सजाया गया है। यह पुराण शिरोमणि या महापुराण है, साक्षात् भगवान् द्वारा प्रकाशित है। इसीलिए ब्रह्मर्षि वेदव्यास ने इसे निगमकल्पतरु का सुपरिपक्व रसमय फल कहा है। इसलिए जो संसार-बन्धन छिन्न कर भजनरस या भक्तिरसास्वादन से धन्य होने की इच्छा रखते हैं, उन्हें श्रीमद्भागवत की सुधामय कृष्ण-कथा से अवश्य ही परिचित होना होगा। भक्तिरसास्वादन में ऐसा महत्वपूर्ण मध्यस्थ या पञ्च अथवा निर्भरयोग्य शास्त्र विश्व में और नहीं।

अन्त में कहते हैं—"वैष्णवेर उच्छिष्ट, ताहे मोर मन निष्ठ, वैष्णवेर नामेते उल्लास। वृन्दावने चबुतारा, ताहे मोर मन घेरा, कहे दीन नरोत्तम दास॥" वैष्णव-अधरामृत भक्ति प्राप्त करने की महाशक्तिसम्पन्न साधना है, इसलिये भक्तिकामी साधक का कर्तव्य है कि निष्ठा के साथ परम भक्तिपूर्वक उसका सेवन करे।

"ताते वैष्णवेर झुटा खाओ छाड़ि घृणा लाज।
जाहा हैते पाये निज वाञ्छित सब काज॥
कृष्णेर उच्छिष्ट हय 'महाप्रसाद' नाम।
भक्तशेष हैले 'महा महाप्रसाद' आख्यान॥
भक्तपदधूलि आर भक्त पदजल।
भक्तभुक्त-अवशेष-तिन महाबल॥

एइ तिन सेवा हैते कृष्णप्रेमा हय।
पुनः पुनः सर्वशास्त्रे फुकारिया कय॥
ताते बारबार कहि शुनो भक्तगण।
विश्वास करिया करो ए तिन सेवन॥"

वैष्णव के नाम के श्रवण-कीर्तन से हृदय उल्लसित हो उठता है, कारण—वैष्णवभक्ति भगवत् प्राप्ति का अव्यभिचारी उपाय है। 'वृन्दावनेर चबुतारा' का अर्थ है—ससखी श्रीराधामाधव का मिलनस्थान महायोगपीठ, अथवा वृन्दावन में वे सब रत्नमय चत्वर या वेदिकायें, जिनके ऊपर श्रीराधामाधव बैठकर सखियों के साथ हास्य-परिहासरस में मग्न होते हैं। कुछ लोग 'चबुतारा' या चत्वर को रासस्थली भी समझते हैं। श्रीराधामाधव के अति रसमय लीलाविलास-स्थान को मन सतत घेरे रहे, अर्थात् उसे छोड़ अन्यत्र निविष्ट न हो। 'भोरा' पाठ मिलता है। उसका अर्थ होगा—मन सतत उसी चबूतरे में विभोर रहे॥१०॥

मनः शिक्षा

निताइ पदकमल, कोटिचन्द्र सुशीतल, जे छायाय जगत जुड़ाय।
हेनो निताइ बिने भाइ, राधाकृष्ण पाइते नाइ, दृढ़ करि धरो निताइयेर पाय॥
से सम्बन्ध नाहि जार, वृथा जन्म गेलो तार, सेइ पशु बड़ो दुराचार।
निताइ ना बोलिलो मुखे, मजिलो संसार सुखे, विद्या कुले कि करिबे तार॥
अहङ्कारे मत्त हइया, निताइ पद पासरिया, असत्येरे सत्य करि मानि।
निताइयेर करुणा हबे, ब्रजे राधाकृष्ण पावे, धरो निताइयेर चरण दुखानि॥
निताइयेर चरण सत्य, ताँहार सेवक नित्य, निताइ पद सदा करो आश।
नरोत्तम बड़ो दुखी, निताइ मोरे करो सुखी, राखो राङ्गा चरणेर पाश॥११॥

सुधाकणिका व्याख्या—

श्रील ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में अपने मन को उपदेश दे रहे हैं—श्रीश्रीनित्यानन्दपादपद्मों के आश्रय का और निताइ-भजन का। पहले कहते हैं—"निताइ पदकमल, कोटिचन्द्र सुशीतल, जे छायाय जगत छुड़ाय"। श्रीनिताइचाँद के श्रीचरणकमल कोटि चन्द्रों की तरह सुशीतल हैं, जिनकी छाया में जगजन की त्रिताप-ज्वाला शान्त होती है। निताइचाँद के चरणों की तुलना करते हैं कमल से, फिर चन्द्र कहते हैं। कमल और चन्द्रमा में नितान्त विरोध है। फिर कहते हैं—"जे छायाय जगत् जुड़ाय' चन्द्र में प्रकाश रहता है, छाया नहीं। यह भी विरोधी बात हुई। प्रश्न उठेगा—श्रील ठाकुर महाशय परस्पर विरोधी उपमाओं को योजना क्यों कर रहे हैं? वस्तुतः यहाँ निताइचरणों की तुलना एक साथ कमल, चन्द्र और कल्पतरु से कर श्रीचरणों के कुछेक विशेष गुण बताये गये हैं। कमल में शीतलता और उसके मकरन्द की मादकता है; चन्द्र में शीतलता और अमृत की स्वादुता है; कल्पतरु

में शीतलता के साथ-साथ सर्वाभीष्ट-प्रदायकता गुण है। श्रीश्रीनिताइचाँद के श्रीचरणाश्रय में भक्त प्रेमरस की उन्मादना में प्रमत्त हो जाते हैं; श्रीश्रीगौर-गोविन्द-सेवामृत का आस्वादन पाकर सर्वाभीष्ट-प्राप्ति से धन्य होते हैं और आनुषङ्गिक रूप से उनके समस्त ताप अर्थात् त्रितापज्वाला नष्ट हो जाती है।

कारण यह है कि गौरलीला में हमें प्रधानत: दो भाव देखने को मिलते हैं—एक आकर्षण, दूसरा भगवत्प्रेम या विश्वप्रेम। आकर्षण ही प्रेम की प्रधानतम क्रिया है। प्रेम सजातीय विजातीय सभी वस्तुओं को आकर्षित कर अपना बनाना चाहता है—प्रेम का यही स्वरूपगत धर्म है। जहाँ प्रेम, वहीं आकर्षण। प्रेम और आकर्षण मानो एक ही वस्तु है। प्रेम कारण है, आकर्षण उसका कार्य। श्रीकृष्ण चैतन्य स्वरूप हैं—विश्व को प्रेमदान कर धन्य करने की व्यापक आकांक्षा उनके हृदय में विराजती है। उस आकांक्षा की पूर्ति के क्षेत्र में जो सभी को आकर्षित कर रहे हैं, वे ही महासङ्कर्षण के भी अंशी मूलसङ्कर्षण श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु। प्रेममय विग्रह श्रीगौरहरि के चरणों में जगजन को आकर्षित करने के लिये उनका मानो कितना दाय (कर्तव्य-विवशता) है—"दन्ते तृण धरि निताइ नगरे बेड़ाय.....जारे देखे तारे कहे दन्ते तृण धरि। आमारे किनिया लहो बोलो गौरहरि॥" ऐसे करुणामय प्रभु के पादकल्पतरु की सुशीतल छाया के आश्रय को छोड़ और क्या उपाय है, जिससे त्रितापदग्ध कलिजीव अपना हृदय शान्त कर सके और श्रीराधाकृष्ण के चरणों में प्रेम पा सके—अनर्पितचरी प्रेम (जो पहले कभी किसी ने नहीं दिया और श्रीगौराङ्ग ने ही लुटाया)।

तभी श्रील ठाकुर महाशय अपने मन को सम्बोधित कर कहते हैं—"हेनो निताइ बिने भाइ, राधाकृष्ण पाइते नाइ, दृढ़ करि धरो निताइयेर पाय।" अरे भाइ मन! श्रीनिताइचाँद के आश्रय के बिना श्रीराधाकृष्ण को पाने की चेष्टा मत करना; निताइ के बिना श्रीराधाकृष्ण को नहीं पाया जाता या पाना उचित नहीं, पा भी जाओ, तो उनका माधुर्य आस्वादन नहीं कर पाओगे।' जब अभीष्ट का माधुर्यास्वादन ही भक्तिसाधना का चरम लक्ष्य है, तब माधुर्यास्वादनविहीन अभीष्ट-प्राप्ति भी अप्राप्ति के तुल्य है। प्रश्न हो सकता है—श्रीराधाकृष्ण के माधुर्य के आस्वादन के लिये श्रीनिताइचाँद की कृपा या उनके भजन की इतनी अपेक्षा क्यों? एकमात्र प्रेम ही भगवन्माधुरी आस्वादन का कारण या उपाय है। फिर जिसका जैसा और जितना प्रेम, वह उसके अनुरूप ही भगवन्माधुरी आस्वादन करता है। श्रीश्रीराधाकृष्ण के माधुर्यास्वादन में एकमात्र गोपीभाव की ही उपयोगिता है। व्यासावतार श्रील वृन्दावनदास ठाकुर ले लिखा है—"जे भक्ति गोपिकागणे कहे भागवते। नित्यानन्द हइते ताहा पाइलो जगते॥" (चै० भा० अन्त्य०, अ० ५) करुणामय श्रीमन्महाप्रभु परमकरुण निताइचाँद को इस रहस्यमय गोपीप्रेम के प्रचार का भार देकर निश्चिन्त हो गये थे। तभी कहा है--"दृढ़ करि धरो निताइयेर पाय।" दृढ़ता के साथ श्रीनिताइचरणों में शरणागत होने से ही माधुर्यास्वादन के साथ-साथ श्रीश्रीराधाकृष्ण की सेवाप्राप्ति सुसिद्ध होगी।

इसके बाद उन लोगों के प्रति, जो निताइचाँद के भजन से विमुख हैं, आक्षेप करते हैं—"से सम्बन्ध नाहि जार, वृथा जन्म गेलो तार, सेइ पशु बड़ो दुराचार। निताइ ना बोलिलो मुखे, मजिलो संसार-सुखे, विद्या कुले कि करिबे तार॥" श्रीगौराङ्ग-भजन या उनकी प्रसन्नता को छोड़ श्रीराधाकृष्ण प्राप्ति का कोई उपाय नहीं और श्रीनिताइचाँद की कृपा को छोड़ श्रीगौराङ्ग की प्रसन्नता पाने का भी अन्य उपाय नहीं। इसलिये पतितपावन निताइ-गौराङ्ग के युग में जो व्यक्ति गौड़ीयवैष्णवभजन के इस मौलिक तत्त्व के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर

पाया, उस जैसा हतभाग्य (अभागा) विश्व में और कौन है? जो नित्यानन्द प्रभु जीव-निस्तार की अदम्य वासना, विशाल विपुल सङ्कल्प लेकर आविर्भूत हुए हैं, जिन्होंने महा तूफान की तरह विश्व के आपामर नर-नारियों में नाम-प्रेम का सञ्चार किया है, उनके साथ जिसका सम्बन्ध नहीं, उसका जन्म वृथा व्यतीत हुआ। वह तो नराकृति पशुविशेष और अत्यन्त दुराचारों है। कृष्णदास जीव का मूल दुराचारी ही है श्रीकृष्ण की विस्मृति। उसी से समस्त दुराचारी की उत्पत्ति है। जो करुणा-विगलित मूर्ति धारण किये प्रत्येक कलिहत जीव के द्वार पर स्वयं उपस्थित होकर ताल ठोंककर उसके उद्धार का दायित्व लेकर हरिनाम-प्रचार कर रहे हैं, उन जैसे दयाल प्रभु के साथ जो सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाया, उस-जैसा पशुप्रकृति या दुराचारी विश्व में दूसरा नहीं। श्रील वृन्दावनदास ठाकुर ने श्रीनित्यानन्दाष्टक में लिखा है—

"यथेष्टं रे भ्रातः कुरु हरि हरि-ध्यानमनिशं
ततो वः संसाराम्बुधि-तरणदायो मयि लगेत्।
इदं वाह्वास्फोटैः रटति रटयन् यः प्रतिगृहं
भजे नित्यानन्दं भजनतरु-कन्दं निरबधि॥"

अर्थात् 'हे भाइ, तुम सर्वदा यथेष्ट 'हरि हरि' ध्वनि करो— तुम लोगों को संसार-सागर पार करने का दायित्व मैंने लिया।' ऐसा कहकर जो ताल ठोंककर लोगों के द्वार-द्वार पर नामप्रेम-प्रचार कर रहे हैं, उन्हीं भजन-तरु के मूल श्रीनिताइचाँद का मैं सतत भजन करता हूँ।

नित्यानन्द नित्यानन्द ही हैं। श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द स्तुति के प्रसङ्ग में कहा है—"नामे नित्यानन्द तुमि रूपे नित्यानन्द। एइ तुम नित्यानन्द—राम मूर्तिमन्त॥ नित्यानन्द—पर्यटन भोजन, व्यवहार। नित्यानन्द बिना किछु नाहिक तोमार॥" (चै०भा०—मध्य०, अ०१२) चिर आनन्दलिप्सु जीव यदि उस नित्यानन्द या शाश्वत आनन्द को हाथ में पाकर भी अवहेलना कर त्याग दे और अनित्य विषयसुखों में डूब जाय, जो उस जैसा महामूर्ख और कौन होगा? उच्चवंश में जन्म लेकर भी उसके आभिजात्य का और बहुत विद्या-अर्जन करके भी उसकी उस विद्या का क्या फल होगा? "निताइ ना बोलिलो मुखे, मजिलो संसार सुखे, विद्या कुले कि करिवे तार॥" निताइ-भजनविहीन व्यक्ति की विद्या, धन अभिजात्य केवल अहङ्कार को बढ़ाकर उसे सत्यस्वरूप श्रीहरि के चरणों से हटाकर मिथ्या देह-दैहिकादि विषयों में आविष्ट किये रखती हैं। तभी कहते हैं—"अहङ्कारे मत्त हैया, निताइ पद पासरिया, असत्येरे सत्य करि मानि।" जो धन-जन आदि की अहङ्काररूपी सुरा का पानकर प्रमत्त हैं, उसे छोड़कर इस गौर-निताइ के युग में परमकरुणाघन-विग्रह श्रीनिताइ के चरणों को और कोई नहीं भूल सकता। प्रेमावतार श्रीगौरसुन्दर ने स्वयं श्रीमुख से निताइचरणोदक का महिमा-कीर्तन कर उसका भक्तजनों को सेवन कराया था—

"प्रभु बोले शुनो सकल भक्तगण।
नित्यानन्द-पादोदक करहो ग्रहण॥
करिले इँहान पादोदक - रसपान।
कृष्णे दृढ़ भक्ति हय इथे नाहि आन॥"

प्रभु का आदेश पाते ही भक्तजन निताइचाँद के श्रीचरण प्रक्षालन कर बार-बार पादोदक पान करने लगे। उस महामहिम पादोदक का जो प्रभाव हुआ हम व्यासावतार श्रील वृन्दावनदास ठाकुर की भाषा में ही आस्वादन करेंगे—

"सबे नित्यानन्द-पादोदक करि पान।
मत्तप्राय 'हरि' बोलि करये आह्वान॥
केहो बोले-'आजि धन्य होइलो जीवन।
केहो बोले-'आजि सब खण्डिलो बन्धन॥
केहो बोले-'आजि होइलाम कृष्णदास।
केहो बोले-'आजि धन्य दिवस-प्रकाश॥
केहो बोले-'पादोदक बड़ो स्वादु लागे।
एखनओ मुखेर मिष्टता नाहि भागे॥
कि से नित्यानन्द-पादोदकेर प्रभाव।
पान-मात्र सबे हैला चञ्चल स्वभाव॥
केहो नाचे केहो गाय केहो गड़ि जाय।
हुंकार गर्जन केहो करये सदाय॥
उठिलो परमानन्द कृष्णेर कीर्तन।
विह्वल हइया नृत्य करे भक्तगण॥"

(चै० भा० मध्य०, परि० १२)

श्रीनिताइचाँद के श्रीचरणों का स्पर्श प्राप्त किये जल के बिन्दुमात्र पान करने से भक्तमण्डली में श्रीकृष्णप्रेम की यह जो महाझंझा प्रवाहित हुई वह किस अचिन्त्य शक्तिशाली वस्तु का अमोघ प्रभाव था? प्रशान्त नील आकाश में सहसा विद्युतगति से जिस 'टॉर्नेडो' की पुष्टि होती है, उसके विषय में आपने निश्चय ही सुना होगा। सभी के अनजाने में शान्त स्निग्ध प्रकृति का सहसा रौद्र रूप धारण करना—विशाल, भयावह, प्रलयङ्कर वैद्युतिक तूफान की सृष्टि। उसी प्रकार निताइचाँद के एक बिन्दु पादोदक का पान करने से परम गम्भीर भक्तगण में प्रमत्त नामकीर्तन, उछलकूद के साथ भूकम्पवत् ताण्डव नृत्य—यह ऐश्वरिक प्रेमभक्ति के महाप्रभाव को छोड़ और कुछ भी नहीं। ऐसे कृष्णप्रेम की महाशक्ति से सम्पन्न निताइ-चरणों को भूलकर—धन, विद्या, आभिजात्य आदि के मद में भूलकर जो लोग अनित्य देह-दैहिकादि को सत्य मानकर उसी में डूबे हुए हैं, वे ही सही माने में शोचनीय है।

तभी श्रील ठाकुर महाशय अपने मन को उपदेश देते हैं—"निताइयेर करुणा हबे, ब्रजे राधाकृष्ण पाबे, धरो निताइयेर चरण दुखानि।" हे मन! उन्हीं अचिन्त्य महाप्रभावसम्पन्न श्रीनिताइ-चरणों को पकड़ो, उनका

आश्रय लो। ऐसा करने से तुम श्रीनिताइचाँद की करुणा प्राप्त कर सकोगे और उसके फलस्वरूप तुम अपना चिर अभीष्ट ब्रज में श्रीश्रीराधाकृष्ण की पादपद्मसेवा—पाकर धन्य हो सकोगे।'

अन्त में कहते हैं—"निताइयेर चरण सत्य, ताँहार सेवक नित्य, निताइपद सदा करो आश। नरोत्तम बड़ो दुखी, निताइ मोरे करो सुखी, राखो राङ्गा चरणेर पाश॥" महामुनि वेदव्यास ने सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ही "जन्माद्यस्य" इत्यादि मङ्गलाचरण श्लोक में "सत्यं परं धीमहि" कहकर जिन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का स्तव किया है, उन्हीं श्रीकृष्ण के अभिन्नस्वरूप श्रीबलदेव ही श्रीनित्यानन्द रूप में अवतीर्ण हैं।"सेइ ब्रजेश्वर इहाँ—जगन्नाथ पिता। सेइ ब्रजेश्वरी इहाँ शचीदेवी माता॥ सेइ नन्दसुत इहाँ —चैतन्यगोसाईं। सेइ बलदेव इहाँ—नित्यानन्द भाइ॥ वात्सल्य दास्य सख्य—तिन भावमय। सेइ नित्यानन्द कृष्णचैतन्य सहाय॥ प्रेमभक्ति दिया तिहो भासाइलो जगते। ताँहार चरित्र लोक ना पारे बुझिते॥" (चै०च०आदि०,परि०१७) श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने श्रीपाद स्वरूप दामोदर के कड़चा से श्रीनित्यानन्दतत्त्व के जो श्लोक अपने ग्रन्थ में उद्धृत किये हैं, उनमें से पहला यह है—

"सङ्कर्षणः कारणतोयशायी गर्भोदशायी च पयोहब्धिशायी।
शेषश्च यत्स्यांशकलाः स नित्यानन्दाख्य रामः शरणं ममास्तु॥"

'परव्योम में चतुर्व्यूह के अन्तर्गत सङ्कर्षण, कारणार्णवशायी प्रकृति के अन्तर्यामी प्रथमपुरुष, गर्भोदशायी ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी द्वितीय पुरुष, क्षीरोदकशायी व्यष्टि के अन्तर्यामी तृतीय पुरुष एवं अनन्तदेव—ये सब जिनके अंश और कलाये हैं, उन्हीं नित्यानन्दराम का मैं शरणागत हुआ।' श्रील बलरामदास ने गाया है—

"शेषशायी सङ्कर्षण, अवतार नारायण, जार अंश-कलाय गणन।
कृपासिन्धु भक्तिदाता, जगतेर हितकर्ता, सेइ राम रोहिणीनन्दन॥
जार लीला लावण्यधाम, आगमे निगमे गान, जार रूप मदन-मोहन।
एबे अकिञ्चन वेशे, फिरे पहुँ देशे-देशे, उद्धार करये त्रिभुवन॥
ब्रजेर वैदग्धी-सार, जतो जतो लीला आर, पाइबारे यदि थाके मन।
बलराम दासे कय, मनोरथ सिद्ध हय, भजो भजो श्रीपादचरण॥"

'अतएव परमतत्त्वमय श्रीनिताइ-चरण परम सत्य हैं, उनके सेवकगण सब ब्रज के पार्षद हैं—सभी ब्रज के सखा हैं, अतएव परम नित्य हैं। हे मन! तुम उन्हीं निताइ-पादपद्मों की आशा हृदय में सतत पोषण करो। हा कारुण्यघनविग्रह निताइचाँद! नरोत्तम बड़ा ही दुःखी है, तुम अहैतुकी कृपा वितरण कर इसे सुखी करो, सदा अपने रक्ताभ चरणों में स्थान दो।' निताइचाँद की करुणा से डगमगाती, प्रेमरसदान से मधुर-उदार मूर्ति का वर्णन पदकर्ता ने चित्तद्रावक भाषा में किया है—

"आनन्दकन्द निताइचन्द अरुण नयान बयान छन्द
करुणा-पूर सघने झूर हरि हरि बोलि बोलि रे।

नटन -रङ्ग भक्त सङ्ग विविध भाष रस-तरङ्ग
ईषत हास मधुर भाष सघने गीम दोल रे॥
पतित कोर जपत गौर एदिन रजनी आनन्दे भोर
प्रेम-रतन करिया यतन जग जने करु दान रे"॥११॥

मनः शिक्षा

ओरे भाइ! भजो मोर गौराङ्ग-चरण।
ना भजिया मैनु दुखे, डुबि गृह-विषकूपे, दग्ध कैलो ए पाँच पराण॥
तापत्रय विषानले, अहर्निश हिया ज्वले, देह सदा हय अचेतन।
रिपुवश इन्द्रिय हैलो, गोरापद पासरिलो, विमुख हैलो हेनो धन॥
हेनो गौर दयामय, छाड़ि सब लाज भय, काय मने लहोरे शरण।
पामर दुर्मति छिलो, तारे गोरा उद्धारिलो, तारा हैलो पतितपावन॥
गोरा द्विज नटराजे बान्धहो हृदय-माझे, कि करिबे संसार शमन।
नरोत्तम दासे कहे, गोरा सम केहो नहे, ना भजिते देय प्रेमधन॥१२॥

सुधाकणिका व्याख्या–

श्रील ठाकुर महाशय इस पद्य में अपने मन को गौराङ्ग-भजन का उपदेश दे रहे हैं। कहते हैं–"ओरे भाइ! भजो मोर गौराङ्ग चरण" सहोदय भ्राता सञ्चित पैतृक सम्पदा का समान अधिकार पाता है, सुख-दुख बराबर भोगता है। उसी प्रकार देह-दैहिकादि में अभिनिवेश के कारण जीव जो त्रिताप ज्वाला आदि भोगता है, वह मन को भी भोगनी पड़ती है। इसीलिए कहा जाता है कि जगत् में मायाबद्ध मानव आधि-व्याधि भोगता है। मन की पीड़ा ही आधि है और देह की पीड़ा व्याधि। उसी प्रकार जीव जब भजनरस का आस्वादन प्राप्त करता है, तो मन भी भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला की रसमाधुरी आस्वादन कर धन्य होता है। तभी बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह मन को समझाकर विषय-अभिनिवेश से हटाकर भगवान् के भजन में लगाये। प्रेम की मूर्ति श्रील ठाकुर महाशय का प्रेममय मन सतत भजनरस में निमग्न रहता है, फिर भी भक्ति का स्वभाव है अतृप्त रहने का, तभी वे भजनसाधनहीन साधारण मानव की तरह मन से प्रार्थना कर विश्वसाधक को यह मूल्यवान् शिक्षा दे रहे हैं। मन ही साधक के भगवद्भजन में परम सहायक है। अथवा, मन को शिक्षा देने के बहाने श्रील ठाकुर महाशय श्रीगौराङ्ग के युग के समस्त विश्व-साधकों को 'भाई' सम्बोधित कर उन्हें श्रीगौर-भजन की प्रेरणा दे रहे हैं।

ब्रज के ठाकुर स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन इस विशेष कलियुग में श्रीराधा की भावकान्ति लेकर गौराङ्ग बने हैं। तभी श्रीमत् रूप गोस्वामिपाद ने लिखा है–"न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्त्वं परमिह"–श्रीकृष्ण

चैतन्य की अपेक्षा और कोई श्रेष्ठ परतत्त्व विश्व में नहीं है। परतत्त्व की उपासना समस्त श्रुतिशास्त्रों में प्रसिद्ध है। 'चरण' शब्द शक्ति से भरकर ही प्रयुक्त किया है; इसलिये 'गौराङ्गचरण' से गौराङ्ग के भजन का ही उपदेश दिया है, यह समझना होगा। यहाँ 'भजन' का अर्थ श्रीमद्भागवत-प्रतिपादित श्रवण-कीर्तन आदि नवधा भक्ति ही है। इस गौर-युग के लोग श्रीगौराङ्ग को उपास्य या भजनीय विषयतत्त्व के रूप में ग्रहण कर श्रवण-कीर्तिनादि नवधा भक्ति द्वारा उनका भजन करें। इस विशेष कलियुग में प्रेमसम्पदा पाने के लिए प्रेमावतार श्रीगौराङ्ग की उपासना ही शास्त्रविहित है। यशस्वी पण्डितशिरोमणि वासुदेव सार्वभौम आदि ने भी श्रीगौराङ्ग का महैश्वर्य देखकर उनका कलियुग के उपास्य के रूप में निरूपण किया है। परम विद्वान श्रीगौराङ्ग-पार्षदप्रवर श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती पाद ने लिखा है—(श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम्—२०)

"श्रवणमननसङ्कीर्त्यनादिभक्त्या मुरारेर्यदि परमपुमर्थ साधयेत् कोऽपि भद्रम्।
मम तु परमपारप्रेमपीयूषसिन्धोः किमपि रसरहस्यं गौरधाम्नो नमस्यम्॥"

अर्थात् 'यदि कोई भाग्यवान् जन मुरारि की श्रवण-मनन-सङ्कीर्तनादि भक्ति द्वारा परम पुरुषार्थ प्राप्त करने में समर्थ होता है तो बहुत ही अच्छा, किन्तु अपार प्रेमामृतसिन्धु श्रीगौराङ्ग का रसरहस्य ही मेरा भजन है' प्रश्न सम्भव है—श्रीराधाकृष्ण के मिलित विग्रह ही श्रीगौरसुन्दर हैं; उन्होंने जगजन को श्रीराधाकृष्ण की मधुररस की उपासना ही प्रदान की है; इसलिये श्रीराधाकृष्ण का भजन करने से ही तो गौराङ्ग का भजन हो जाता है, फिर अलग से विषयतत्त्व के रूप में श्रीगौराङ्ग की उपासना की क्या आवश्यकता? इसका उत्तर श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती ही देते हैं (वही—२७)—

"भ्रातः कीर्तय नाम गोकुलपतेरुद्दामनामावलीं
यद्वा भावय तस्य दिव्यमधुररूपं जगन्मङ्गलम्।
हन्त प्रेममहारसोज्ज्वलपदे नाशापि ते
सम्भवेत् श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्यदि कृपादृष्टिः पतेन्न त्वयि॥"

'हे भाइ! तुम श्रीकृष्ण की सर्वसमर्थ नामावली का उच्च स्वर से कीर्तन करो, अथवा उनकी जगन्मङ्गलदिव्य मधुर श्रीमूर्ति का ध्यान करो—यदि श्रीचैतन्य की करुणादृष्टि तुम पर नहीं पड़ती, तो महाप्रेममय उज्ज्वलरस आस्वादन की आशा कभी पूर्ण नहीं होगी।' इस सन्दर्भ का मर्मार्थ यही है कि साधक श्रीगौराङ्ग की कृपा से ही मञ्जरीस्वरूप से ब्रज में श्रीश्रीराधामाधव की रहस्यमय प्रेमसेवा पाकर धन्य होगा।

फिर कहते हैं—"ना भजिया मैनु दुखे, डूबि गृह विषकूपे, दग्ध कैलो ए पाँच पराण"। श्रील ठाकुर महाशय श्रीगौराङ्गभजन-विमुख व्यक्ति की दुरवस्था या दुर्गति की बात कह रहे हैं। 'श्रीगौराङ्ग का भजन न कर गृहरूपी विषकूप में डूबकर दुःख से मर गया।' विषकूप की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है। जो कुआ ज्वालामय विषजल से भरा है, वह विषकूप है। फिर अरण्यस्थित कूप, जिसमें साँप-बिच्छू आदि विषधर प्राणी रहते हैं—उसमें गिरे आदमी की देह उनके दंशन से ज्वालामय हो जाती है। वह भी विषकूप है। गृह ही विषकूप है। इस गृह की भी दो व्याख्यायें सम्भव हैं। पहली, गृह-विष-कूप का अर्थ है गृहाश्रम मानो विषकूप की तरह

ज्वालामय है। गृही व्यक्ति देह-दैहिकादि में अभिनिवेश के कारण स्त्री-पुत्र, अर्थ सम्पदा आदि में आसक्त होकर सतत इस प्रकार अस्थिर चित्त हो समय बिताता है कि वह भक्तिपथके आश्रय की या भजनसाधन की सामर्थ्य से रहित हो जाता है और पशुवत् आहार-निद्रा आदि को लेकर ही जीवन-यापन करने लगता है। यह अवस्था विषकूप में रहने-जैसी ज्वालामय स्थित है। साधारण मानव उस ज्वाला का अनुभव न भी करे, साधक करता है। साँप के भीतर विष रहता है, पर साँप को स्वयं उसका अनुभव नहीं होता—वह तो वरन् उसके न रहने से निर्वीर्य हो जाता है; किन्तु जब अन्य प्राणी को डसता है, तो उस प्राणी को उस ज्वाला का अनुभव होता है। इसी प्रकार संसारी दशा में घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, अर्थ-सम्पदा आदि सब सुखमय लगते हैं। इनके न रहने पर ही संसारी व्यक्ति दु:ख पाता है; किन्तु वह जब भजनपथ पर चलता है, तब वही जड़ीय विषयरूपी विषधर सर्प उसे डसने लगता है; तब यही कह सकता है—

"ना भजिया मैनु दुखे, डूबि गृह-विषकूपे।"

फिर 'ग्रह' धातु से 'गृह' शब्द निष्पन्न है। ग्रहण और आश्रय के अर्थ में 'ग्रह' धातु का प्रयोग होता है। जो आश्रय देता है, यही गृही है। यह देहरूपी गृह ही मायाबद्ध जीव का प्रथम आश्रय है। चिदानन्दसत्वा जीव ने आनन्दस्वरूप होकर भी श्रीकृष्णबहिर्मुख दशा में बहिरङ्गा माया का अवदान यह देहरूपी गृह पाया है। उस देहरूपी गृह में अभिनिवेश के कारण वह अनादिकाल से अपने स्वरूप को विस्मृत होकर देह को ही 'मैं' समझकर चौरासी लाख योनियों में अवर्णनीय दु:ख ज्वाला भोगता घूम रहा है। वह कैसी विषकूप-ज्वाला है, सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। अति गहरे कुए में गिरने पर उससे निकलने का कोई उपाय नहीं रहता। उसी प्रकार जीव इस देहरूपी गृहकूप से अपनी चेष्टा से किसी भी प्रकार नहीं निकल सकता। इस प्रकार कुए में गिरे व्यक्ति को यदि कोई कृपालु ऊपर से सुदृढ़ रज्जु डालकर सहारा दे दे और वह व्यक्ति उसे दृढ़ता से पकड़ ले, तो वह कृपालु उस रज्जु को खींचकर उसे कुए से निकाल सकता है। उसी प्रकार इस देहरूपी गृहकूप में गिरे व्यक्ति का साधु-शास्त्र और गुरु ने साधन-रज्जु दी है। जीव दृढ़ता के साथ इस साधन-भजन-रज्जु को पकड़ ले, तो विषकूप से निकल सकता है और स्वरूप के जागरण से आनन्दमय भगवान् की सेवा पाकर सदा-सदा के लिए सुखी हो सकता है। "कृष्ण-नित्यदास जीव ताहा भूलि गेलो। सेइ दोषे माया तार गलाय बान्धिलो॥ ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन। मायाजाल छुटे, पाय कृष्णेर चरण॥" (चै०च०)तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है—"ना भजिया मैनु दुखे, डूबि गृह विषकूपे।"

फिर कहते हैं—"दग्ध कैलो ए पाँच पराण"। प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान—ये पाँच प्राण देह में अवस्थान करते हैं। नि:श्वास-प्रश्वास वायु को 'प्राण' कहा जाता है। निम्नवायु ही अपान वायु है। ऊर्ध्ववायु 'उदान' है। सारी देह में स्थित वायु 'व्यान' और नाभिमूल में स्थित वायु 'समान'। यह समान या नाभिमूलस्थ वायु ही प्राणवायु को आकर्षित-विकर्षित करती है। ये पञ्चप्राण ही जीवनधारण के उपाय हैं। ❋ आयुर्वेदशास्त्र में लिखा है कि इन वायुओं के कुपित होने से ही देह में नाना प्रकार के रोगों का प्रादुर्भाव होता है और देह-दु:खों

❋ प्राण से रक्त सञ्चालन, अपान से आहार्य चालन, उदान से वमन, उद्‌गार, श्वास खाँसी आदि कार्य, समान से पाचन, व्यान से सर्वाङ्ग में सामञ्जस्य।

का स्थान बन जाती है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं—गौराङ्गभजन के बिना मेरे ये पंचप्राण दग्ध हो गये। भजनहीन देह से जीव कितने दु:ख में रह रहा है—इस बात का किञ्चित आभास होता है इस महद अनुभव से। मुझ जैसे भजनविमुख जीव को इस ज्वाला का कोई अनुभव नहीं।

गौरभजन-विमुख व्यक्ति के अति निदारुण दु:ख की बात करते हैं—"तापत्रय विषानले, अहर्निशि हिया ज्वले, देह सदा हय अचेतन"। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—ये त्रिताप हैं। विषाग्नि की तरह इनकी भी तीव्र ज्वाला होती है। अति उग्र विषधर सर्प के डसने पर लगता है जैसे देह आग में जल गई—वही विषानल की ज्वाला है। देह में रोग-शोक आदि, आधि-व्याधि आदि—आध्यात्मिक ताप। चोर-दस्यु-शत्रु आदि का दिया ताप आधिभौतिक। अतिवृष्टि अनावृष्टि का दुर्भिक्ष, वज्रपात, भूकम्प आदि—आधिदैविक ताप है। इन सबकी ज्वाला भी अति भयङ्कर होती है। भजन को छोड़ त्रिताप-ज्वाला से मुक्ति पाने का और कोई उपाय नहीं। प्रश्न हो सकता है-जो भजन करते हैं, उन्हें भी त्रितापज्वाला भोगते देखा जाता है। उनकी देह में भी रोग-व्याधि देखते हैं; उनके प्रति भी चोर-दस्युओं का उत्पात देखने में आता है; दुर्भिक्ष भूकम्प आदि का ताप उन्हें भी भोगना पड़ता है। भजन से त्रिताप-ज्वाला का उपशम होता है, इसका प्रमाण क्या?

इसके उत्तर में कहा जा रहा है—त्रिताप ज्वाला का नाश भजन का फल नहीं; भजन का मुख्यफल है भगवान् के नाम गुण लीलारस का आस्वादन, प्रेम-प्राप्ति और भगवत्सेवा-प्राप्ति। भगवद्भजन के आनुषङ्गिक फल से ही त्रिताप ज्वाला का उपशम हो जाता है। भगवान् या भक्तिमहारानी भक्ति के रहस्यत्व की रक्षा के लिये भक्त की देह में भी उक्त त्रितापादि दिखाती हैं, किन्तु बहिर्मुख व्यक्ति की तरह भक्त के हृदय में उसकी कोई ज्वाला अनुभव नहीं होती। भक्त भजनरस के आस्वादन में ऐसा तन्मय रहता है कि उसके भजननिष्ठ मन पर त्रितापादि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे तो भक्त की दैन्य-आर्ति बढ़ाकर शीघ्र ही प्रेम प्राप्त कराते हैं, उसका परम हित ही करते हैं।

फिर कहते हैं—"रिपुवश इन्द्रिय हैलो, गोरापद पासरिलो, विमुख हइलो हेनो धन"। इन्द्रियों द्वारा भगवान् की सेवा का नाम ही 'भक्ति' है। "हृषीकेण हृषीकेषसेवनं भक्तिरुच्यते" '(नारदपञ्चरात्र) आँखों से श्रीभगवद्विग्रह और भक्त का विग्रह दर्शन; कानों से हरिनाम हरिकथा श्रवण; जिह्वा से हरि का गुण-लीला-कीर्तन; हाथों से श्रीहरि का विग्रह-अर्चन; पैरों से हरिनाम-हरिकथा स्थल पर एवं श्रीधाम में गमन; मन से भगवान् का स्मरण आदि—यह साक्षात् भक्ति है। हृदय में काम-क्रोध आदि जो षड्रिपु वास कर रहे हैं, इनके सतत अधीन हो गई हैं ये इन्द्रियाँ। अर्थात् इन प्रबल शक्तिशाली षड्रिपुओं ने भजनोपयोगी इन्द्रियों को विषयक्षेत्र में खींचकर भजनविमुख कर डाला है। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं कि इन्द्रियों के सतत रिपुवश होने के फलस्वरूप श्रीगौरचरण या श्रीगौराङ्ग को भूल गया, श्रीगौराङ्ग जैसा परमदुर्लभ धन पाकर भी उससे विमुख हुआ। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने गौराङ्गरूपी धन का महत्त्व निरूपित करते हुए लिखा है—

"सौन्दर्ये कामकोटिः सकलजनसमाल्हादने चन्द्रकोटि—
र्वात्सल्ये मातृकोटिस्त्रिदशविपटिनां कोटिरौदार्यसारे।

गाम्भीर्येहम्भोधिकोटिर्मधुरिमणि सुधाक्षीरमाध्वीककोटि-
गौरो देवः स जीयात् प्रणयरसपदे दर्शिताश्चर्यकोटिः॥"

'जो सौन्दर्य में कोटि-कोटि कन्दर्पों की तरह सुन्दर हैं; जगजनों की त्रितापज्वाला को शान्तकर उन्हें परमानन्द देने में जो कोटि चन्द्रों की तरह सुशीतल हैं; जो वात्सल्य में कोटि-कोटि जननियों के तुल्य सुवत्सल हैं; जो कोटि कल्पतरुओं से भी अधिक परम उदार हैं; जो कोटि समुद्रों की तरह गम्भीर है; माधुर्य में जो कोटि-कोटि सुधा, क्षीर और मधु से भी अधिक परम मधुर हैं; जिन्होंने प्रेमरस में कोटि-कोटि आश्चर्यजनक अनुभाव प्रदर्शित किये हैं—वे लीलामय श्रीगौरसुन्दर सर्वोत्कर्ष पर विराजें।'

तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है—"हेनो गौर दयामय, छाड़ि सब लाजभय, कायमने लहो रे शरण। पामर दुर्मति छिलो, तारे गोरा उद्धारिलो, तारा हैलो पतितपावन॥" दया या कृपा भगवत्स्वरूप की ही अनन्त सम्पदा है। विश्व में जो पाँच तत्व देखे जाते हैं—ईश्वर, जीव, काल, कर्म, माया—इनमें ईश्वर में ही करुणा विराजती है, अन्य चार में करुणा नहीं है। करुणा का प्रकृत कार्य ही है—कृष्ण-विमुख, स्वरूपभ्रान्त, मायाबद्ध जीव को प्रेमदान कर धन्य करना। काल, कर्म, माया और जीव में प्रेमदान की सामर्थ्य नहीं। वह भक्त जीव में है, किन्तु यह समझना होगा कि प्रेमदान के लिए उपयोगी भगवान् की करुणा ही भक्त के हृदय में कार्य करती है। श्रीगौरहरि 'दयामय' हैं। 'दया' शब्द के साथ प्राचुर्य अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है। श्रीगौरहरि में पतितपावनी दया प्रचुर मात्रा में विराजती है। अन्यान्य सभी भगवत्स्वरूपों की अपेक्षा श्रीकृष्ण में अधिक दया विराजती है, इसलिए वे 'परम करुण' हैं। फिर वे ही अपार करुणासागररूपिणी राधारानी की भावकान्ति लेकर गौर हुए। करुणा भी एक प्रकार का भाव है; इसलिए श्रीकृष्ण के करुणासिन्धु के साथ श्रीराधा के करुणासिन्धु के मिल जाने से उद्वेलित करुणा-वारिधि ने समस्त विश्व को आप्लावित कर डाला। पामर-दुर्मति आदि सभी गौर की प्रेम-वन्या में डूब गये। वे स्वयं ही प्रेम प्राप्त कर धन्य हुए हों सो नहीं—उन्होंने पतितपावन होकर विश्व का उद्धार करने की सामर्थ्य पा ली। दक्षिणयात्रा में प्रभु के प्रेम प्रचार के विषय में श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है (चै० च०)

"प्रेमावेश हासि कान्दि नृत्य गीत कैला।
देखि सर्वलोकेर चित्ते चमत्कार हैला॥
आश्चर्य शुनि सब लोक आइला देखिबारे।
प्रभुर रूप-प्रेम देखि हैलो चमत्कारे॥
दर्शने वैष्णव हैला—बोले 'कृष्ण हरि'।
प्रेमावेशे नाचे लोक ऊर्ध्वबाहु करि॥
कृष्णनाम लोकमुखे शुनि अविराम।
सेइ लोक वैष्णव कैलो अन्य सब ग्राम॥
एइमत परम्पराय देश वैष्णव हैलो।
कृष्ण नामामृत वन्याय देश भासाइलो॥"

अतएव लाज-भय सब त्यागकर कार्य-मन से श्रीगौरचरणों की शरण लेनी होगी। कुछ लोग हैं जो इच्छा होते हुए भी माला-तिलकादि वैष्णव-चिह्न धारण करने के पीछे श्रीगौरचरणाश्रय नहीं ले पाते। जिन लोगों के उपहास से लज्जित होकर आध्यात्मिक साधना से वञ्चित होकर निदारुण क्षति भोगते हैं, वे बन्धुबान्धव क्या उनकी इस अपरिमित क्षति की थोड़ी भी पूर्ति करेंगे? "नायमात्मा बलहीलेन लभ्यः" दुर्बलचेता व्यक्ति भगवान् को कभी प्राप्त नहीं करता। फिर कोई-कोई इस भय से श्रीगौरचरणाश्रय नहीं लेते कि भजनपथ पर चलने से देह-दैहिकादि विषयों की क्षति होगी। किन्तु काल उनकी मृत्यु के साथ ही साथ देह-दैहिकादि वस्तुओं के साथ उनका समस्त सम्पर्क सदा-सदा के लिए धो-पोंछ देगा, उन्हें यह भय नहीं? मरणवारण गौरचरणाश्रय से दैह-दैहिकादि की किञ्चित क्षति की सम्भावना मानकर वे भजनपथ से वञ्चित रहते हैं? इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति कायमन से श्रीगौरचरणाश्रय लेकर धन्य होगा। "तवास्मीति वदन् वाचा तथैव मनसा विदन्। तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः॥" अर्थात् मैं तुम्हारा हुआ' ऐसा मुँह से कहकर, मन में भी ऐसा मानकर, देह से उनके लीला-स्थान का आश्रय लेकर शरणागत आनन्द प्राप्त करता है। मानस शरणागति ही प्रकृत शरणागति है। श्रीगौरचरणों में शरणागति का फल भी अति अपूर्व है—

"संसारसिन्धुतरणे हृदयं यदि स्यात् सङ्कीर्तनामृतरसे रमते मनश्चेत्।
प्रेमाम्बुधौ विहरणे यदि चित्तवृत्तिश्चैतन्यचन्द्रचरणे शरणं प्रयातु॥"

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम्—९३)

'हे भाइ! यदि दुष्पार संसारसागर पार करने की तुम्हारी वासना है, यदि तुम्हारा मन संङ्कीर्तनामृतरस में मग्न होना चाहता है, यदि तुम्हारा चित्त प्रेमामृत सागर में अवगाहन करने को उत्कण्ठित है, तो चैतन्यचन्द्र के चरणों की शरण लो।'

अन्त में कहते हैं—"गोरा द्विज नटराजे, बान्धहो हृदय माझे, कि करिबे संसार शमन। नरोत्तम दासे कहे, गोरासम केहो नहे, ना भजिते देय प्रेमधन॥" ब्रज में सर्वलीलामुकुटमणि रासलीला में जिन्होंने अपनी सुमोहन नृत्यभङ्गिमा से शतकोटि ब्रजबालाओं को विमुग्ध किया था, वे ब्रज-नटराज ही नटिनीशिरोमणि श्रीराधा की भावकान्ति लेकर गौर बने हैं। अब और गोप नहीं, अब द्विज हो गये हैं, तभी 'गोरा द्विज नटराज'। रास-विलास की परिणति ही राइकानु एकाकृति श्रीगौरसुन्दर हैं। ब्रज में रस की प्रधानता से भाव का आस्वादन, नवद्वीप में भाव की प्रधानता से रस का आस्वादन—सुमोहन नृत्य उसी आस्वादन का ही अनुभाव है। सङ्कीर्तनानन्द में नृत्यच्छन्द से सुदीप्त सात्त्विकभरे कलेवर से ब्रजरस के आस्वादन की धारा!! वह त्रिभङ्ग आकृति अब और नहीं; अब तो वे सरला ब्रजवाला का भाव अङ्गीकार करके बन गये हैं—न्यग्रोधपरिमण्डलतनु चैतन्य गुणधाम!

नृत्यरस का आस्वादन करते हुए भावावेश में जो अश्रुधारा प्रवाहित होती है, उनमें धरा डूबी जा रही है। तभी अन्तः कृष्ण बहिर्गौर—गोरा द्विज नटराज। श्रील प्रबोधानन्द ने लिखा है (श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम्-१७)—

"पूर्णप्रेमरसामृताब्धिलहरी-लोलाङ्ग-
गौरच्छटा-कोट्याच्छादित-विश्वमीश्वरविधि-व्यासादिभिः संस्तुतम्।
दुर्ल्लक्ष्यां श्रुतिकोटिभिः प्रकटयन्मूर्ति
जगन्मोहिनीमाश्चर्यं लवणोदरोधसि परंब्रह्म स्वयं नृत्यति॥"

'जो व्रज के पूर्णतम प्रेमरससागर की तरङ्गमाला से अति चपल हैं; जिनके श्रीअङ्ग से गौर- कान्तिधारा निःसृत होकर विश्व को आच्छादित कर रही है; ब्रह्मा व्यास शुक आदि जिनका स्तव कर रहे हैं, वे स्वयं परब्रह्म श्रीगौराङ्ग श्रुतियों के लिये दुर्लक्ष्य आश्चर्यजनक जगन्मोहिनी मूर्ति प्रकट कर लवणसिन्धु के तट पर सुमोहन नृत्य कर रहे हैं।' हे मन! इन नृत्यचपल नटराज को अपने हृदय में बाँधकर रखो। बाँधने से तो उन्हें कष्ट होगा, यह मोहन नृत्य भी बन्द हो जायेगा?! नहीं, विश्व की किसी भी रज्जु से नटराज बँधने में नहीं आते; ये तो बँधते हैं प्रेमरज्जु से। यह बन्धन बड़ा ही सुखमय है, उससे नृत्य के बन्द होने की भी सम्भावना नहीं। तुम्हारी हृदय-मन्दाकिनी के तट पर वे सतत नृत्य करें। तब यह संसार एवं शमन तुम्हारा क्या करेगा? महाजन गाते हैं-"देखिया शुनिया, तरास पाइया, (शमन) कवाट हानिलो द्वारे"। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं कि गौराङ्ग-जैसा प्रेमदाता और कोई नहीं-जो बिना भजन के ही प्रेमदान करते हैं! श्रील प्रबोधानन्दपाद ने लिखा है-

"पात्रापात्रविचारणं न कुरुते न स्वं परं वीक्ष्यते,
देयादेय-विमर्शको न हि वा कालप्रतीक्षः प्रभुः।
सद्यो यः श्रवणेक्षणप्रणमनध्यानादिना दुर्लभं
दत्ते भक्तिरसं स एव भगवान् गौरः परं मे गतिः॥"

'जो प्रेमदान में परम समर्थ हैं; जो पात्रापात्र विचार नहीं करते; जो अपना पराया कुछ नहीं देखते; देय-अदेय नहीं सोचते; जो काल की भी प्रतीक्षा नहीं करते; जो श्रवण, विग्रह-दर्शन, प्रणाम, ध्यान आदि से भी दुर्लभ हैं-ऐसे गौराङ्गदेव बिना भजन के ही आपामार को भक्तिरस प्रदान करते हैं। वे भगवान् श्रीगौरसुन्दर ही मेरी एकमात्र गति हैं।' "मागे वा ना मागे केहो, पात्र वा अपात्र। इहार विचार नाहि, जाने दिबो मात्र" (चै० च०) ॥१२॥

श्रीगौरभक्त-महिमा

गौराङ्गेर दुटि पद, जार धन सम्पद, से जाने भकति-रससार।
गौराङ्गेर मधुर लीला, जार कर्णे प्रवेशिला, हृदय निर्मल भेलो तार॥
जे गौराङ्गेर नाम लय, तार हय प्रेमोदय, तारे मुइँ जाइ बलिहारी।
गौराङ्ग-गुणेते झुरे, नित्यलीला तारे स्फुरे, से जन भकति अधिकारी॥
गौराङ्गेर सङ्गीगणे, नित्यसिद्ध करि माने, से जाय व्रजेन्द्रसुत पाश।
श्रीगौड़मण्डल भूमि, जेबा जाने चिन्तामणि, तार हय व्रजभूमे वास॥
गौर-प्रेम रसार्णवे, से तरङ्गे जेबा डुबे, से राधामाधव अन्तरङ्ग।
गृहे बा वनेते थाके, हा गौराङ्ग बोले डाके, नरोत्तम मागे तार सङ्ग॥१३॥

सुधाकणिका व्याख्या -

श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय इस त्रिपदी में गौरभक्तों की महिमा वर्णन करते हुए रागभजन के कुछेक अति रहस्यमय या निगूढ़ तथ्य प्रस्तुत करते हैं। जो गौरचरणों में शरणागत हैं अथवा जिन्होंने गौर को हृदय में बाँध लिया है, आनुषङ्गिक रूप में उनके संसार-नाश की बात एवं फल के रूप में प्रेमधन-प्राप्ति की बात पिछली त्रिपदी में कह चुके हैं। किन्तु जाति या परिमाण के हिसाब से वह प्रेम कितना उन्नत है या कैसा है, यह नहीं बताया गया। इसलिये इस पद्य के आरम्भ में ही कहते हैं-"गौराङ्गेर दुटि पद, जार धन सम्पद, से जाने भकतिरस-सार"। श्रीगौराङ्ग के श्रीपादपद्म जिसकी धन-सम्पदा हैं, अर्थात् जो गौरभक्त हैं-भक्त को छोड़ और कोई भगवान् के चरणों को धनसम्पदारूप में ग्रहण नहीं कर सकता-वे भक्तिरससार या सर्वोत्कृष्ट भक्तिरस जानते हैं, अनुभव करते हैं। धनसम्पदा रहने से भोग होता है और आनुषङ्गिकभाव से ही दु:ख-दरिद्रता का नाश हो जाता है। उसी प्रकार गौरचरणों को जिन लोगों ने धनरूप में ग्रहण किया है, उन्हीं गौरभक्तों को सर्वोत्कृष्ट भक्तिरस का आस्वादन मिलता है ('जाना' का अर्थ है अनुभव करना, आस्वादन करना) और आनुषङ्गिक रूप से ही संसाररूपी दरिद्रता आदि का नाश हो जाता है। वह सर्वोत्कृष्ट भक्तिरस या भक्तिरससार है-परम माधुर्यमय व्रजभक्ति की सबसे ऊपर की कक्षा में स्थित राधादासी या मञ्जरी का प्रेमरस। यह सर्वोत्कृष्ट प्रेमरस गौरभजन करनेवालों के चित्त में स्वत: स्फूर्त की तरह समुदित होता है। इसी प्रेमरस-वन्या में विश्व को डुबोने के लिये ही श्रीगौराङ्ग का प्रेममय अवतार है। इस भक्तिरस का आस्वादन इतना चमत्कारपूर्ण है कि श्रीराधामाधुरी आस्वादन के पश्चात् इस प्रेमरसास्वादन की वासना स्वयं श्रीगौराङ्गदेव के ही हृदय में जग उठी। तभी श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है-

"आपनि करि आस्वादने, शिखाइलो भक्तगणे, प्रेमचिन्तामणिर प्रभु धनी।
नाहि जाने स्थानास्थान, जारे तारे कैलो दान, महाप्रभु दाता-शिरोमणि॥
ओइछे गुप्त भावसिन्धु, ब्रह्मा ना पाय जार बिन्दु, हेनो धन बिलाइलो संसारे।
ओइछे दयालु अवतार, ओइछे दाता नाहिं आर, गुण केहो नारे वर्णिबारे॥"

(चै० च०)

अथवा, प्रेमरसमय अवतार श्रीगौर के भक्त भक्तिरस को ही सकल साध्य-साधना का सार या श्रेष्ठरूप जानते हैं, अनुभव करते हैं, कारण-प्रेमरसमय मूर्ति गौरसुन्दर के पादपद्मों से निकले मकरन्द-रसपान में उन लोगों को इतना आस्वादन मिलता है कि उन्हें अन्य सभी तुच्छातितुच्छ लगता है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है-

"अपारावारञ्चेदमृतमयपाथोधिमधिकं, विमथ्य प्राप्तं स्यात् किमपि परमं सारमतुलम्।
तथापि श्रीगौराकृति-मदनगोपालचरणच्छटास्पृष्टानां तद्वहति विकटामेव कटुताम्॥"

(चैतन्यचन्द्रामृतम्-८४)

'श्रीगौरभक्तों ने श्रीगौरपादपद्म-मकरन्दरस का जो आस्वादन पाया है, वह अति अतुलनीय है। समुद्रमन्थन से जो अमृत निकला था-जिसके आस्वादन के लोभ से देवासुर सभी प्रमत्त हो गये थे-यदि उसी अमृत का अपार सिन्धु होता, उसके मन्थन से यदि कोई अनिर्वचनीय मधुरातिमधुर अमृतसार वस्तु प्राप्त होती, तो वह भी श्रीगौराकृति मदनगोपाल के श्रीचरण-मधुपान में मत्त भक्तभृङ्गों को नितान्त विरस लगती।'

फिर कहते हैं-"गौराङ्गेर मधुर लीला, जार कर्णे प्रवेशिला, हृदय निर्मल भेलो तार।" श्री गौराङ्ग-लीला अति मधुर है; इस मधुरता की तुलना कहीं नहीं। भगवान् की चेष्टायें दो प्रकार की हैं-एक कर्म, दूसरी लीला। वे किसी उद्देश्य को लेकर जो करते हैं, वह कर्म है, जैसे-भूभार-हरण, असुर-वध आदि। "स्वेच्छया हर्षात् अनायासेनैव क्रियमाणा चेष्टा लीला", अर्थात् स्वेच्छा से आनन्द-उल्लास के साथ अनायास की गई चेष्टा का नाम 'लीला' है। विशुद्ध लीला का क्षेत्र व्रजधाम है। यहाँ जो दैत्यवध आदि कार्य देखने में आये हैं, वे भी आनन्द-उल्लास से भरे हैं। माता-पिता, सखाओं और कान्ताओं के कौतुकरस एवं उल्लास के वर्धक बनकर ही आये हैं। तभी व्रजेन्द्रनन्दन को लीलापुरुषोत्तम कहा गया है। वे व्रजेन्द्रनन्दन ही प्रेममयी राधारानी की भावकान्ति लेकर गौर बने हैं; उन्होंने पाषाण को गलानेवाली प्रेम की लीलायें कर जगजन के चित्त को द्रवित किया है। इसीलिये श्रीगौर को प्रेम पुरुषोत्तम कहा जाता है। श्रीगौरसुन्दर के प्रेमामृतरसमय लीलामाधुर्य की कहीं तुलना नहीं। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है (चैतन्यचन्द्रामृतम्-८८)-

"सान्द्रानन्दोज्ज्वलरसमय - प्रेमपीयूषसिन्धोः
कोटिं वर्षन् किमपि करुणास्निग्ध-नेत्राञ्चलेन।
कोऽयं देवः कनककदलीगर्भगौराङ्गयष्टि-
श्चेतोहकस्मान्मभ निजपदे गाढ़युक्तं चकार॥"

'कनक-कदलीगर्भ की तरह सुचिक्कण उज्ज्वल गौरवर्ण अङ्ग यष्टि वाले ये कौन देवता हैं-जिन्होंने करुणास्निग्ध नयनाञ्चल से अति निविड़ आनन्दपूर्ण उज्ज्वलरसमय कोटि-कोटि प्रेमामृतसिन्धु बरसाकर मेरे चित्त को अपने चरणों से गाढ़रूप में सहसा बाँध दिया!' श्रीपाद स्वरूपदामोदर, श्री मुरारिगुप्त ने अपने कड़चाओं में; श्रील कवि कर्णपूर ने अपने चैतन्यचन्द्रोदय नाटक में; व्यासावतार श्रील वृन्दावनदास ठाकुर ने श्रीचैतन्यभागवत में; श्रीलोचनदास ने श्रीचैतन्यमङ्गल में; श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने अपने श्रीचैतन्यचरितामृत में श्रीगौराङ्ग की मधुर लीला का वर्णन कर जगजन का महाकल्याण किया है। मधुमय गौरलीला के कानों में प्रवेश करते ही हृदय निर्मल हो जाता है। महा शक्तिशाली श्रवणमङ्गलमय श्रीगौरलीला कानों का स्पर्श करते ही अर्थबोध की कोई अपेक्षा रखे बिना ही चित्त को शुद्ध कर प्रेम का सञ्चार कर देती है। श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है-

"जेबा नाहि बुझे केहो, शुनिते शुनिते सेहो, कि अद्‌भुत चैतन्यचरित।
कृष्णे उपजीवे प्रीति, जानिबे रसेर रीति, शुनिलेइ हैबे बड़ो हित॥"

(चै० च०)

श्रीगौराङ्ग की मधुरलीला के कानों में प्रवेश करने पर चित्त निर्मल होगा–यह गौरलीला श्रवण का आनुषङ्गिक फल है। व्रजमाधुरी आस्वादन कर साधक धन्य होता है–यह मुख्य फल है। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने अपनी मधुस्रावी लेखनी से श्रीचैतन्यलीला का जो महत्व और फल वर्णन किया है, वह विश्व में वस्तुतः अतुलनीय है–

"कृष्णलीलामृतसार, तार शत-शत धार, दशदिगे बहे जाहा हैते।
से चैतन्यलीला हय, सरोवर अक्षय, मन-हंस चराहो ताहाते॥
भक्तगण! शुनो मोर दैन्यवचन।
तोमा सबार पदधूलि, अङ्गे विभूषण करि, किछु मुइँ करों निवेदन॥
कृष्णभक्ति-सिद्धान्तगण, जाते प्रफुल्ल पद्मवन, तार मधु करो आस्वादन।
प्रेमरस-कुमुद-वने, प्रफुल्लित रात्रिदिने, ताते चराओ मनोभृङ्गगण॥
नानाभावे भक्तगण, हंस-चक्रवाकगण, जाते सभे करेन विहार।
कृष्णकेलि सुमृणाल, जाहा पाइ सर्वकाल, भक्तहंस करये आहार॥
सेइ सरोवरे गिया, हंस चक्रवाक हैया, सदा ताँहा करहो विलास।
खण्डिबे सकल दुःख, पाइबे परम सुख, अनायासे हबे प्रेमोल्लास॥
एइ अमृत अनुक्षण, साधु महान्त मेघगण, विश्वोद्याने करे वरिषण।
ताते फले प्रेमफल, भक्त खाय निरन्तर, तार शेषे जीये जगजन॥
चैतन्यलीलामृत पूर, कृष्णलीला-सुकर्पूर, दोंहे मेलि हय सुमाधुर्य।
साधु गुरु प्रसादे, ताहा जेइ आस्वादे, सेइ जाने माधुर्य-प्राचुर्य॥"

(चै० च०)

फिर कहते हैं–"जे गौराङ्गे नाम लय, तार हय प्रेमोदय, तारे मुइँ जाइ बलिहारि। गौराङ्ग गुणेते झुरे, नित्यलीला तार स्फुरे, सेजन भकति अधिकारी॥" श्रील ठाकुर महाशय ने श्रीगौराङ्गलीला की महिमा का वर्णन किया है। यद्यपि लीला में नाम रूप गुण सभी आ जाते हैं, तथापि नाम–सङ्कीर्तन कलि का युगधर्म और सर्वश्रेष्ठ भजनाङ्ग होने के कारण गौरनाम कीर्तन की महिमा बता रहे हैं। 'जो गौराङ्ग का नाम जपता है या कीर्तन करता है, उसके हृदय में प्रेमोदय होता है; मैं उसकी बलिहारी जाता हूँ, अर्थात् उसकी महिमा बखान करने में हार जाता हूँ (बोली+हार)। इसलिये गौरनाम का जप या कीर्तन करने वाले का माहात्म्य अवर्णनीय है। निरपराध चित्त हो, तो कृष्णनाम–कीर्तन से अनायास प्रेमोदय होता है। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है (चै० च०)–

"एक कृष्णनामे करे सर्वपाप नाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश॥
प्रेमेर उदये हय प्रेमेर विकार।
स्वेद कम्प पुलकादि गद्गदाश्रुधार॥
अनायासे भवक्षय, कृष्णेर सेवन।
एक कृष्णनामेर फल पाइ एतो धन॥

हेनो कृष्णनाम यदि लय बहुबार।
तबु यदि प्रेम नहे, नहे अश्रुधार॥
तबे जानि अपराध ताहाते प्रबुर।
कृष्णनामबीज ताहे ना हय अंकुर॥"

एकमात्र नामापराध को छोड़ अन्य किसी अनर्थ की ऐसी सामर्थ्य नहीं कि नाम की प्रेमदान करने वाली अति प्रबल शक्ति को विफल कर सके। श्रीनाम अपराधी के प्रति प्रसन्न नहीं होते, इसलिये अपराध का विनाश न होने से नाम कभी प्रेमदान नहीं करते। तभी शास्त्र और महाजन वाणियों में सर्वत्र निरपराध होकर नामकीर्तन करने का विधान है। निरपराध हो नामकीर्तन करने से सञ्चित अपराध नष्ट होते हैं और श्रीनाम प्रसन्न हो प्रेमदान करते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत के उक्त अंश के ठीक पीछे आया है–

"चैतन्य नित्यानन्दे एसब नाहिक विचार।
नाम लइते प्रेम देन बहे अश्रुधार॥
स्वतन्त्र ईश्वर प्रभु अत्यन्त उदार।
ताँरे ना भजिले कभु ना हय निस्तार॥"

श्रीचैतन्य–नित्यानन्द यह सब विचार नहीं करते, इसका अर्थ यह नहीं कि वे अपराध के विषय में नहीं सोचते। महाप्रभु ने स्वयं गोपाल–चापाल के वैष्णवापराध का विचार किया है। यहाँ तक कि अपनी माता शचीदेवी के श्रीअद्वैत आचार्य के प्रति अपराध की बात कही है। अपराध का विचार सर्वत्र है। इतना ही है कि प्रकटलीला में स्वयं कोई विलक्षण शक्ति प्रकट कर अपराधी के अपराध को नष्ट कर प्रेमदान किया है। यह स्थिति प्रकटलीलाकाल तक ही है। उनके अन्तर्धान पर यह शक्ति विशेष भी अन्तर्हित हो गई है। फिर भी इतना सुनिश्चित है कि अन्यान्य भगवन्नामों की अपेक्षा प्रेममय गौराङ्ग के नाम की शक्ति–शीघ्र अपराध नाश और प्रेमदान की शक्ति–अब भी विद्यमान है। इसीलिये श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने उक्त अंशों के आरम्भ में ही लिखा है–

"अद्यापिह देखो–चैतन्यनाम जेइ लय।
कृष्णप्रेमे पुलकाश्रु विह्वल से हय॥
'नित्यानन्द' बोलिते हय कृष्णप्रेमोदय।
आउलाय सर्व अङ्ग, अश्रुगङ्गा बय॥"

इसीलिये गौड़ीयवैष्णवसम्प्रदाय में 'हरे कृष्णेति' बत्तीस अक्षरवाले महामन्त्र जप या कीर्तन से पूर्व श्री गौरनाम जप या कीर्तन का विशेष विधान देखा जाता है।

इसके पश्चात् गुण की बात कहते हैं–"गौराङ्ग–गुणेते झुरे, नित्यलीला तारे स्फुरे, से जन भकति अधिकारी।" भगवान् आनन्दमय या रसमय हैं; उनके नाम, गुण, लीला में उसी आनन्दरूपता या रसरूपता की अभिव्यक्ति होती है। श्रीगौराङ्ग प्रेममय विग्रह हैं, तभी उनके नाम गुण लीला में प्रेम की ही पूर्ण अभिव्यक्ति है।

उसी गौरगुण का श्रवण कर जो लोग अश्रुजल से सिक्त होते हैं, उनके चित्त में प्रेम की ऐसी अभिव्यक्ति होती है कि स्वप्रकाश श्रीगौराङ्ग की नित्यलीला और व्रज में श्रीश्रीराधामाधव की रहस्यमय लीला उनकी आँखों के आगे स्फुरित हो जाती है। यद्यपि स्फूर्ति साक्षात् दर्शन नहीं, तथापि स्फुरणकाल में साक्षात्कार की तरह ही आस्वादन प्राप्त होता है, यह समझना होगा। इसलिये वस्तुतः उन लोगों ने ही अति रहस्यमय व्रजभक्ति का अधिकार प्राप्त किया है, यह समझना चाहिये-"से जन भकति अधिकारी'।

फिर श्रीगौराङ्ग के परिकरतत्त्व की महिमा का निरूपण करते हुए कहते हैं-"गौराङ्गेर संगिगणे, नित्यसिद्ध करि माने, से जाय व्रजेन्द्रसुत पाश।" व्रज के ठाकुर राधारानी की भावकान्ति लेकर गौर हुए और व्रज के ही सभी नित्यसिद्ध परिकरगण को अपने पार्षदों के रूप में नवद्वीप में अवतीर्ण कराया। श्रीमन्महाप्रभु के प्रिय पार्षद श्रीपाद कवि कर्णपूर ने श्रीन्महाप्रभु की कृपा से अपने श्रीगौरगणोद्देश-दीपिका ग्रन्थ में यह निरूपण किया है कि व्रज के कौन-से पार्षद नवद्वीप में किस पार्षद के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। इसलिये गौराङ्ग के लीलासङ्गियों में से कोई भी तटस्था जीवतत्त्व नहीं; वे अनादिसिद्ध नित्यपरिकर हैं। श्रीगौर की तरह उनके चिदानन्दमय विग्रह हैं; उन्हीं की तरह गुणावली सम्पन्न हैं, अपने से कोटि गुना प्रेम करते हैं श्रीगौरसुन्दर को।

फिर श्रीगौर के धामतत्त्व के विषय में कहते हैं-"श्रीगौड़मण्डल भूमि, जेबा जाने चिन्तामणि, तार हय व्रजभूमे वास"। व्रज के अभिन्न चिन्मयधाम श्रीनवद्वीप में श्रीमन्महाप्रभु का आविर्भाव हुआ है। नवद्वीप धाम को मध्यमणि की तरह केन्द्र बनाकर गौड़मण्डल के जिन विभिन्न गाँव-नगरों में गौरपार्षदों के आविर्भावस्थान या लीलास्थल हैं, वे जड़ीय विश्व की तरह प्रकृति के परिणाम मात्र नहीं। जैसे चिन्तामणि सर्वाभीष्ट पूरा करने में समर्थ होती है, वैसे ही ये सब चिन्मय स्थान आश्रित को प्रेमदान से धन्य करने में समर्थ हैं; वे आश्रितजन ही व्रजवास के अधिकारी हैं। प्रश्न उठेगा-श्रीमन्महाप्रभु के पार्षद गौड़ या बङ्गदेश में प्राय सर्वत्र ही अवतीर्ण हुए हैं; तो क्या बङ्गदेश पूरा ही चिन्तामणि की तरह सर्वाभीष्टप्रद है और वहाँ के सभी अधिवासी व्रजवास के अधिकारी हैं? श्रील ठाकुर महाशय ने इसका उत्तर दिया है-"जेबा जाने चिन्तामणि"। श्रीगौड़मण्डल श्रीगौराङ्ग और श्रीगौरपार्षदों का आविर्भावपीठ है, इसलिये चिन्तामणिस्वरूप है-जो लोग यह जानते हैं, अर्थात् जिन्हें इस प्रकार की उपलब्धि प्राप्त है, वे भक्तजन ही उस पारमार्थिक गौड़ के अधिवासी हैं, वे ही व्रजवास के अधिकारी हैं। उस अनुभूति से हीन साधारण लोगों के आगे उस पारमार्थिक गौड़ का प्रकाश नहीं; वे तो मायिक पार्थिव गौड़ में ही रह-सह रहे हैं-यह समझना होगा। महाकवि कर्णपूर ने भी श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक में यह पार्थक्य दिखाया है-

"गौड़क्षौणी जयति कतमा पुण्यतीर्थावतंस-
प्राया यासौ बहति नगरीं श्रीनवद्वीपनाम्नीम्।
यस्यां चामीकरवररुचेरीश्वरस्यावतारो
यस्मिन्मूर्त्ता पुरिपुरि परिस्पन्दते भक्तिदेवी॥"

अर्थात् 'कोई गौड़भूमि सर्वोत्कर्ष के साथ विराजमान् है; सभी पुण्यतीर्थों की शिरोमणि गौड़भूमि ने श्रीनवद्वीप नगरी को धारण किया है-उस नवद्वीपधाम में उत्तम हेमकान्ति परमेश्वर का अर्थात् श्री गौराङ्ग का अवतार हुआ है; गौर-अवतार में भक्तिदेवी मूर्तिमती होकर नगर-नगर में परिस्फूर्ति प्राप्त कर रही हैं।'

अन्त में कहते हैं-"गौरप्रेम-रसार्णवे, से तरङ्गे जेबा डुबे, से राधामाधव अन्तरङ्ग। गृहे वा वनेते थाके, हा गौराङ्ग! बोलि डाके, नरोत्तम मागे तार सङ्ग॥" गौरप्रेम मानो एक अति विशाल रस का अर्णव या महासिन्धु है। गौरपार्षदभाव से भावनिधि श्रीगौराङ्ग के सङ्कीर्तन रसरङ्ग में विचित्र भाव-माधुरी का आस्वादन करना-साथ ही साथ, मञ्जरी या राधाकिङ्करीभाव से अति रहस्यमय व्रजमाधुरी के अद्‌भुत आस्वादनसिन्धु की तरङ्गों में तैरना-कभी डूबना, कभी तैरना! गौरप्रेमरसार्णव में डूबने का परिणाम ही है-राधामाधव की अति अन्तरङ्ग किङ्करी के रूप में रहस्यमय निकुञ्जसेवा की प्राप्ति! गौरभक्त गृहस्थाश्रम में रहे चाहे त्यागाश्रम में, जो सतत 'हा गौराङ्ग!' कहकर पुकारता है या अनुरागमय भजनजीवन-यापन करता है, उसका दुर्लभ सङ्ग अति अभिलषित है-"नरोत्तम मागे तार सङ्ग"॥१३॥

सपार्षद श्रीगौर-चरणों में प्रार्थना

श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु! दया करो मोरे।
तोमा बिना के दयालु जगत संसारे॥
पतितपावन हेतु तव अवतार।
मो सम पतित प्रभु ना पाइबे आर॥
हा हा प्रभु नित्यानन्द! प्रेमानन्द सुखी।
कृपावलोकन करो आमि बड़ो दुखी॥
दया करो सीतापति अद्वैत गोसाईं।
तव कृपाबले पाइ चैतन्य निताइ॥
हा हा स्वरूप! सनातन! रूप! रघुनाथ!
भट्टयुग! श्रीजीव! हा प्रभु लोकनाथ!!
दया करो श्रीआचार्य प्रभु श्रीनिवास।
रामचन्द्र सङ्ग मागे नरोत्तमदास॥१४॥

सुधाकणिका व्याख्या -

श्रील ठाकुर महाशय अतिशय दैन्य के उदय होने पर स्वयं को नितान्त अधम पतित या अयोग्य जानकर सपार्षद श्रीमन्महाप्रभु की कृपा के लिये प्रार्थना कर रहे हैं। श्रीगौराङ्ग की करुणा प्रार्थना में उनके 'श्रीकृष्णचैतन्य' नाम का उल्लेख करते हैं। श्रीगौराङ्ग का श्रीकृष्णचैतन्य स्वरूप अर्थात् संन्यास-विग्रह अधम पतित अपराधी के उद्धार में अतिशय करुण है। कर्मनिष्ठ, मायावादी, कुतार्किक, निन्दक, पाषण्डी, अधम पढ़ाकू (विद्यार्थी) आदि अपराधियों के उद्धार के लिये ही श्रीगौराङ्ग की संन्यास-लीला या श्रीकृष्णचैतन्यरूप में आत्मप्रकाश है।

"उथलिलो प्रेमवन्या,-चौदिके बेड़ाय।
स्त्री वृद्ध बालक युवा सभारे डुबाय॥
सज्जन दुर्जन पङ्गु जड़ अन्धगण।
प्रेमवन्याय डुबाइलो जगतेर जन॥
× × ×
मायावादी कर्मनिष्ठ कुतार्किकगण।
निन्दुक पाषण्डी जतो पढुया अधम॥
सेइ सब महादक्ष धाइया पलाइलो।
सेइ वन्या ता सबारे छुँइते नारिलो॥
ताहा देखि महाप्रभु करेन चिन्तन।
जगत् डुबाइते आमि करिलो जतन॥
केहो केहो एड़ाइलो-प्रतिज्ञा हैलो भङ्ग।
ता-सभा डुबाइते पातिबो किछु रङ्ग॥
एतो बोलि मने किछु करिया विचार।
संन्यास-आश्रम प्रभु कैला अङ्गीकार॥"

(चै० च०)

तभी कहते हैं-'हे श्रीकृष्णचैतन्य! तुमने अपराधी को भी कृपाकर प्रेमदान कर धन्य किया है और इस विषय में तुम परम समर्थ हो, तभी तुम 'प्रभु हो; अतएव मुझ-जैसे दीनजन पर दया करो'। महाप्रभु यदि कहें-'ऐसे समर्थ दयालु तो विश्व में और भी अनेक हैं, अतएव उनसे प्रार्थना करो।' तो इसके उत्तर में कहते हैं-'प्रभु! तुम्हारी तरह प्रेमदान कर विश्व को धन्य करे, ऐसा दयालु और कौन है?' श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने अपने लघुभागवतामृत (पूर्व ५/३७) में लिखा है-

"सन्त्ववतारा वहवः पुष्करनाभस्य सर्वतोभद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लताष्वपि प्रेमदो भवति॥"

अर्थात् 'पद्मनाभ श्रीकृष्ण के सर्वमङ्गलप्रद बहुत अवतार हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के अतिरिक्त ऐसा और कौन है, जो लता तक को प्रेमदान करता हो?' व्रजलीला में यह प्रेमदानोपयोगी दया व्रज की सीमा में ही निबद्ध रही; अब गौर अवतार में यह करुणा समस्त विश्व में प्रसारित है। तभी श्रीकृष्णचैतन्य-जैसा दयालु विश्व में और कोई नहीं।

श्रीकृष्णचैतन्य की कृपा विशेषतः दीनगामिनी है। पतितों का उद्धार करने के लिये ही उनकी कल्याणमय करुणा का अवतार है। गौर को लानेवाले ठाकुर श्रीअद्वैत ने अधम-पतित पर करुणा करने के लिये श्रीगौराङ्ग से वर माँगा है-"अद्वैत बोलये यदि भक्ति बिलाइबा। स्त्री शूद्र आदि जतो मूर्खेरे से दिबा॥××× अद्वैतेर वाक्य शुनि करिला हुंकार। प्रभु बोले सत्य से तोमार अङ्गीकार॥" श्रीठाकुर महाशय कहते हैं-'प्रभु! पतितोद्धार के लिये ही

तुम्हारा अवतार है। मुझ-जैसा पतित विश्व में और नहीं देखोगे, इसलिये मेरा उद्धार करने से ही तुम्हारा पतितपावनगुण यथार्थत: सार्थक होगा।' प्रेम की मूर्ति होकर भी श्रीठाकुर महाशय स्वयं को सर्वापेक्षा अधम पतित समझ रहे हैं; यही प्रकृत दैन्य है। "सर्वोत्तम अपनाके हीन करि माने।" प्रेमिक का यह दैन्य ही भगवान् के हृदय को अतिशय विगलित कर उनकी करुणाधारा से भक्त को अभिसिञ्चित करता है।

इसके पश्चात् श्रीश्रीनिताइचाँद की करुणा के लिये प्रार्थना करते हैं-"हा हा प्रभुनित्यानन्द! प्रेमानन्द सुखी। कृपावलोकन करो आमि बड़ो दुखी॥" हा प्रभु निताइचाँद! तुम्हारा नाम 'नित्यानन्द' है, तुम नित्य शाश्वत आनन्दस्वरूप हो; तभी तुम प्रेमानन्द में सतत सुखी हो। तुम प्रेमानन्द के अपार अगाध सिन्धु हो। यदि कोई अमृत के सिन्धु के पास आकर प्यासा मर जाय, तो कलङ्क सिन्धु को ही लगेगा। उसी प्रकार तुम हो नित्य शाश्वत सुख-आनन्दस्वरूप; तुम्हारे पादपद्मों के निकट आकर भी यदि मैं दु:खी रहता हूँ, तो सुखसिन्धु तुम्हें कलङ्क लगेगा। अतएव मुझ पर कृपादृष्टिपात करो।

श्रीअद्वैतप्रभु की करुणा की कामना करते हुए कहते हैं-"दया करो सीतापति अद्वैत गोसाईं। तव कृपाबले पाइ चैतन्य निताइ॥" 'हा सीतानाथ अद्वैताचार्य! मुझ पर करुणा करो। तुम गौर को लानेवाले ठाकुर हो, तुम्हारी करुणा से ही विश्व ने निताइ-चैतन्य प्राप्त किये हैं।' श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है (चै० च०)-

"अद्वैत आचार्य ईश्वरेर अंशवर्य।
ताँर तत्त्व नाम गुण-सकल आश्चर्य॥
जाँहार तुलसीदले जाँहार हुंकारे।
स्वगण सहित चैतन्येर अवतारे॥
जाँर द्वारा कैलो प्रभु कीर्तन-प्रचार।
जाँर द्वारा कैलो प्रभु जगत निस्तार॥"

श्रीअद्वैत की चरणधूलि लेकर स्वयं श्रीमन्महाप्रभु ने अपने श्रीमुख से श्रीआचार्य की महिमा का वर्णन किया है-

"विश्वम्भर बोले तुमि भक्तिर भाण्डारी।
एतेके तोमार चरणेर सेवा करि॥
तोमार चरणधूलि सर्वाङ्गे लेपिले।
भासये पुरुष कृष्ण - प्रेमरस - जले॥
बिना तुमि दिले भक्ति केहो नाहि पाय।
तोमार से आमि हेनो जानो सर्वथाय॥
तुमि आमा यथा बेचो तथाइ बिकाइ।
एइ सत्य कहिलाम तोमार से ठाँइ॥"

(चै० च० मध्य-अ० १६)

फिर श्रीगौरसुन्दर के पार्षदों की करुणा की कामना–"हा हा स्वरूप! सनातन! रूप! रघुनाथ! भट्टयुग! श्रीजीव! हा प्रभु लोकनाथ॥ दया करो श्रीआचार्य प्रभु श्रीनिवास! रामचन्द्र सङ्ग मागे नरोत्तम दास॥" श्रीस्वरूपदामोदर महाप्रभु के द्वितीय स्वरूप हैं, नीलाचल में उनकी रहस्यमय लीलाओं के सङ्गी। श्रीचैतन्यचरितामृत (मध्य–अ० १०) में लिखा है–

"पाण्डित्येर अवधि कथा नाहि कारो सने।
निर्जने रहेन, सब लोक नाहि जाने॥
कृष्णरस - तत्त्ववेत्ता - देह प्रेमरूप।
साक्षात् महाप्रभुर द्वितीय स्वरूप॥
ग्रन्थ श्लोक गीत केहो प्रभु आगे आने।
स्वरूप परीक्षा कैले पाछे प्रभु शुने॥
भक्तिसिद्धान्त-विरुद्ध जेइ, आर रसाभास।
शुनिते ना हय प्रभुर चित्तेर उल्लास॥
अतएव स्वरूप आगे करे परीक्षण।
शुद्ध हय यदि कराय प्रभु के श्रवण॥
विद्यापति चण्डीदास श्रीगीतगोविन्द।
एइ तिन गीते करे प्रभुर आनन्द॥
सङ्गीते गन्धर्वसम, शास्त्रे वृहस्पति।
दामोदर-सम आर नाहि महामति॥"

श्रीरूप, सनातन, रघुनाथ दास, गोपाल भट्ट, रघुनाथ भट्ट और श्रीजीव–ये ही विश्ववरेण्य षड् गोस्वामिपाद हैं। इनकी भक्ति का आचार–प्रचार क्षेत्र श्रीवृन्दावन है। ये श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित रहस्यमय व्रजभक्ति के या श्रीराधादास्य रूपी मञ्जरीभावसाधनाके आचार्य हैं। स्वयं आचरण कर और बहुत–से मूल्यवान ग्रन्थों की रचना कर ये लोग जगत् को आध्यात्मिकता या भजनसाधन की जो अमूल्य सम्पदा दान कर गये हैं, उसकी तुलना कहीं खोजने पर भी नहीं मिलेगी। भजन–साधना, त्याग–वैराग्य, नियम–निष्ठा, पाण्डित्य, विशाल अनुभूति इत्यादि में ये सब अनन्य हैं। श्रीलोकनाथप्रभु श्रील ठाकुर महाशय के दीक्षागुरु हैं। श्रीनिवास आचार्य को महाप्रभु का द्वितीय प्रकाश माना जाता है। वे महामहोपदेशक, आध्यात्मशिक्षक, वैष्णव वेदान्त और साहित्य के तथा श्रीरूप–सनातन आदि द्वारा रचित भक्तिशास्त्रों के महाप्रचारक हैं। श्रील ठाकुर महाशय ने इन सभी की करुणा की कामना की है। साथ ही श्रीनिवासाचार्यप्रभु के शिष्यवर्ग में अन्यतम एवं श्रील ठाकुर महाशय के परम सुहृद् अभिन्नप्राण श्रील रामचन्द्र कविराज के सङ्ग की प्रार्थना की है॥१४॥

सपार्षद भगवद्विरह–जनित विलाप

जे आनिलो प्रेमधन करुणा प्रदुर।
हेनो प्रभु कोथा गेला आचार्य ठाकुर॥

काँहा मोर स्वरूप रूप काँहा सनातन।
काँहा दास रघुनाथ पतितपावन॥
काँहा मोर भट्टयुग काँहा कविराज।
एककाले कोथा गेला गोरा नटराज॥
पाषाणे कुटिबो माथा अनले पशिबो।
गौराङ्ग गुणेर निधि कोथा गेले पाबो॥
से सब सङ्गीर सङ्गे जे कैलो विलास।
से सङ्ग ना पाइया कान्दे नरोत्तमदास॥१५॥

सुधाकणिका व्याख्या -

श्रील नरोत्तम दास ठाकुर महाशय ने पिछली बार सपरिकर श्रीमन्महाप्रभु की कृपा के लिये प्रार्थना की थी। सपार्षद श्रीगौरसुन्दर की विशेष स्मृति से हृदय में उन सबका विरहानल प्रदीप्त हो उठा है। उनकी विच्छेद-ज्वाला में अतिशय दग्धचित्त से अब विलाप करते हुए रोदन कर रहे हैं। प्राण भगवान् और उनके प्रिय भक्तों का विरह-दु:ख भोगना चाहता है। वह विरह बाहर से दु:ख और आर्तिमय दीखने पर भी परम आस्वाद्य है; इसीलिये महाजनों ने विरह को 'रस' आख्या दी है। "बहिर्विष-ज्वाला हय, अन्तर आनन्दमय, कृष्णप्रेमार अद्भुत चरित" (चै० च०)। जड़ जगत् का खाना-पहनना, भोगविलास का सुख, सुख की तरह लगने पर भी दु:ख ही होता है, कारण-जगत् में जो सुख दीखता है, वह प्रचुर दु:खमिश्रित होता है; इसलिये बुद्धिमान व्यक्ति उसे दु:ख ही समझता है। सांख्यदर्शन में देखते हैं-"कुत्रापि कोऽपि सुखी तदापि दु:खकारणम्", "इति दु:ख पक्षे निक्षिप्यन्ते विवेचका:", अर्थात् 'अनन्त जीवयोनियों में मनुष्य और देवता आदि सुखी हैं, वह सुख भी दु:खमिश्रित होने के कारण मीठे विष-मिले अन्न की तरह ज्ञानियों द्वारा परित्यज्य है। इसीलिये विवेचक पुरुष जड़ीय सुख को दु:ख की कोटि में ही डालते हैं।' विचारकुशल व्यक्ति संसार में सुख जैसी कोई वस्तु नहीं देखता। उसी प्रकार भगवद् राज्य का प्रियमिलन-जनित सुख और प्रियविरहजनित दु:ख सभी आनन्दमय या रसमय है। कारण यह है कि प्रेम के ही दो कलेवर हैं-एक मिलन, दूसरा विरह। जब आनन्द चिन्मयरस प्रेम ही विरह का उपादान है, तो विरह में प्रचुर आस्वादन या आनन्द निहित होगा, यह कहना ही पर्याप्त। यहाँ तक कि महाजन विरहजनित आनन्द को मिलनानन्द से भी श्रेष्ठ आसन देते हैं। श्रीवृहद्भागवतामृत (१/७/२२५-२२६) में आता है-

"प्राग्यद्यपि प्रेमकृतात् प्रियाणां विच्छेद-दावानल वेगतोहन्त:।
सन्तापजातेन दुरन्तशोकावेशेन गाढ़ं भवतीव दुखम्॥
तथापि सम्भोगसुखादपि स्तुत: स कोऽप्यनिर्वाच्यतमो मनोरम:।
प्रमोदराशि: परिणामतो ध्रुवं तत्र स्फुरेत्तद्रसिकैकवेद्य:॥"

अर्थात् 'यद्यपि प्रेम के कारण प्रियजन के विरहरूपी दावानलवेग से अन्त:करण में पहले तीव्र सन्ताप उत्पन्न होता है और उससे असीम शोक प्रकट होता है, उस शोकावेश के कारण हृदय में प्रगाढ़ दु:ख होता है-तथापि वही दु:ख

परिणाम में सुखस्वरूप होने के कारण सम्भोगानन्द से भी अधिक प्रशंसनीय कोई एक अनिर्वचनीय मनोरम प्रमोद राशि का स्फुरण करा देता है-यह बात एकमात्र रसिकजन ही जानते हैं।'

श्रील ठाकुर महाशय को श्रील श्रीनिवासाचार्य की याद आती है। रोते-रोते विलाप करते हैं-"जे आनिलो प्रेमधन करुणा प्रचुर। हेनो प्रभु कोथा गेला आचार्य ठाकुर॥" श्रील नरहरि चक्रवर्ति महोदय ने श्रीनरोत्तमचरित में लिखा है-"श्रीनिवासाचार्य सने, जे मर्म ता केबा जाने, प्राण एक भिन्न मात्र देह।" उन्हीं अभिन्नप्राण श्रीआचार्यप्रभु के अन्तर्धान पर उनकी गुणावली का स्मरण करते हुए ठाकुर महाशय रोदन कर रहे हैं-'जो विश्व में प्रेमधन और प्रचुर करुणा लाये हैं, वे श्रीनिवासाचार्य प्रभु कहाँ हैं?' श्रीआचार्यप्रभु श्रीचैतन्य के प्रेम के प्रकाश हैं, यह विख्यात है। श्रीगौरनिताइ ने स्वप्न के बहाने उन्हें दर्शन दिये थे। श्रीमन्महाप्रभु ने कहा-'श्रीनिवास! तुम वृन्दावन जाओ; वहाँ रूप-सनातन ने जो ग्रन्थ रचे हैं-जिनके अक्षर प्रेममय हैं, मैं तुम्हारे द्वारा उनका प्रचार करूँगा।' यह कहकर प्रभु ने हँसते-हँसते आचार्यप्रभु को श्रीनिताइचाँद के हाथों सौंप दिया। स्वप्न-भङ्ग हुआ। आचार्य प्रभु व्याकुल प्राणों से प्रेमावेश में व्रजधाम मथुरा पहुँचे, तो श्रीरूप-सनातन के अप्रकट होने की बात सुनकर मूर्छित हो गये। श्रीरूप-सनातन स्वप्न में दर्शन देकर, श्रीगोपालभट्ट के चरणों में आत्मसमर्पण करने का आदेश देकर अन्तर्हित हो गये। आचार्यप्रभु ने श्रीगोपालभट्ट से दीक्षा ली; श्रीजीव के निकट भक्तिशास्त्रों का अध्ययन किया और उनके आदेश से श्रील नरोत्तम एवं श्रीश्यामानन्द के साथ ग्रन्थरत्नों को बङ्गदेश ले जाकर उनका प्रचार किया, दीक्षा-शिक्षादि द्वारा सर्वत्र प्रेम प्रकाशित किया। महाजन ने गाया है-

"अनुखन गौर, प्रेमरसे गरगर, ढरढर लोचने लोर।
गदगद भाष, हास खने रोयत, आनन्दे मगन सघने हरिबोल॥
पहुँ मोर श्रीश्रीनिवास।
अविरत राम-, चन्द्र पहुँ विहरत, सङ्गे नरोत्तम दास॥
व्रजपुर-चरित, सकल अनु-मोदइ, रसिक भकतजन पाश।
भकति-रतन-धने, जाचत जने-जने, पुन कि गौर-परकाश॥
ऐछे दयाल, कबहुँ नाहि हेरिये, भुवन चतुर्दश-माझे।
दीन-हीन पतिते, परमपद देयल, धरणी वञ्चित निज काजे॥"

सर्वविदितचरित श्रीमन्महाप्रभु के द्वितीयस्वरूप श्रीपाद स्वरूपदामोदर, विश्ववन्दित चरणरेणु श्रीपाद रूप-सनातन, पतितपावन श्रीपाद रघुनाथ दासगोस्वामी, श्रीपाद गोपालभट्ट एवं रघुनाथभट्ट गोस्वामी, श्रीमत् कृष्णदास कविराज गोस्वामी के लिये श्रील ठाकुर महाशय विलापसहित रोदन कर रहे हैं-"काँहा मोर स्वरूप रूप काँहा सनातन" आदि। सर्वत्र 'काँहा' शब्द प्रयोग कर 'तुम सब कहाँ हो-दर्शन दो' कहकर अति खेद या आर्ति के साथ प्रार्थना की गई है। तात्पर्य यह है कि लीला का प्रकाश दो प्रकार का है-प्रकट और अप्रकट। परिकरों के साथ भगवान् की लीला जब मानवनेत्रों को गोचर होती है, तो उसे 'प्रकट प्रकाश' कहा जाता है। जब वह नेत्रगोचर नहीं होती, केवल प्रेमिक के प्रेमनेत्रों को दीखती है, तब अप्रकट प्रकाश होता है। "अद्यापिह सेइ लीला करे गौरराय। कोनो कोनो भाग्यवान् देखिबारे पाय॥" श्रीगौरहरि अप्रकट लीला में पार्षदों के साथ नित्य

ही विहार कर रहे हैं। यह अप्रकट प्रकाश कोई-कोई भाग्यवान् देख पाते हैं। भाग्यवान् अर्थ है वे प्रेमीजन, जो सपार्षद भगवान् की लीला दर्शन करने के लिये विरहातुर होकर महाआर्ति से भरकर रोदन और विलाप करते हैं। ऐसे प्रेमातुर भक्तों की आँखों के आगे लीला अपनी अनन्त माधुरी लेकर स्वयं ही प्रकाशित होती है। सपार्षद भगवान् के दर्शन के लिये विलाप एक ओर आर्ति-उत्कण्ठामय प्रेम को पाने का श्रेष्ठतम साधना है, तो दूसरी ओर अभीष्ट के दर्शन और साक्षात् सेवा पाने की भी महासाधना है। श्रीनिवासाचार्यप्रभु ने श्रीश्री षड् गोस्वामिपाद के अष्टक में लिखा है-

"हे राधे व्रजदेविके च ललिते हे नन्दसूनो कुतः
श्रीगोवर्द्धन-कल्पपादपतले कालिन्दीवन्ये कुतः।
घोषन्ताविति सर्वतो व्रजपुरे खेदैर्महाविह्वलौ
वन्दे रूप-सनातनौ रघुयुगौ श्रीजीव-गोपालकौ॥"

'जो षड्गोस्वामिपाद सपार्षद श्रीश्रीराधामाधव के दर्शन के लिये प्रेमोन्मत्त दशा में महाआर्ति से भरकर रोदन करते-करते "हे राधे! हा व्रजदेविगण! हा ललिते! हे श्रीनन्दनन्दन! तुम सब कहाँ हो, दर्शन दो! श्रीगोवर्धन के कल्पतरु के तले अथवा यमुनातटवर्ति कुञ्जवन में-इस समय कहाँ अवस्थान कर रहे हो?" इस प्रकार खेद से भरकर महाविह्वल अवस्था में समस्त व्रजपुर में अभीष्ट को खोजते घूम रहे हैं-उन्हीं षड् गोस्वामिपाद के श्रीचरणों की वन्दना करता हूँ।' ऐसी भावदशा का उदय होना प्रेम के राज्य में बहुत उच्चकोटि की परम आकांक्षित सम्पदा है। विरह ही साध्य है, विरह ही साधना है। इष्टदेव आड़ में खड़े होकर भक्त की इस भावविह्वल अवस्था का आस्वादन करते हैं-"भक्तेर प्रेमचेष्टा देखि कृष्णेर चमत्कार" (चै० च०), इसलिये ऐसी आर्ति-उत्कण्ठामय भावविह्वल दशा भगवत्प्राप्ति से भी कहीं अधिक आकांक्षित वस्तु है, यह जानना होगा।

जो भी हो, श्रील ठाकुर महाशय पार्षदगण के नामों का उल्लेख कर अन्त में कहते हैं-"एक काले कोथा गेला गोरा नटराज"। परिकरों के साथ एक ही समय वे महासङ्कीर्तन नटनरङ्गी अनेक प्रकार से भक्तिरसास्वादन में नृत्य-परायण श्रीगौरहरि कहाँ गये? पार्षदगण के साथ गोरा-नटराज के सुमोहन नटनरङ्ग को देखने की लालसा किसको नहीं होगी? श्रील राय शेखर गाते हैं-

"मधुर मधुर गौरकिशोर मधुर मधुर नाट।
मधुर मधुर सब सहचर मधुर मधुर हाट॥
मधुर मधुर मृदङ्ग बाजत मधुर मधुर तान।
मधुर रसे मातल भकत गावये मधुर गान॥
मधुर हेलन मधुर दोलन मधुर मधुर गति।
मधुर मधुर वचन सुन्दर मधुर मधुर भाति॥
मधुर अधर जिनि शशधर मधुर मधुर हास।
मधुर आरति मधुर पिरिति मधुर मधुर भाष॥
मधुर युगल नयन रातुल मधुर इंगिते चाय।
मधुर प्रेमेर मधुर बादरे वञ्चित शेखर राय॥"

इस मधुर नटराज की नृत्यमाधुरी के दर्शन की बात दूर, जो इस नृत्यमाधुरी की बात सुनते हैं, कीर्तन करते हैं, ध्यान करते हैं-उनका चित्त भी इस नटराज के नृत्यचपल चरणों के ताल-ताल पर नाचता है। सपार्षद श्रीगौरसुन्दर की सुमोहन नृत्यमाधुरी के दर्शन के अभाव में श्रील ठाकुर महाशय की कैसी उत्कण्ठा, कैसी आर्ति!! रोदन के साथ अति करुण स्वर में विलाप करते हैं-"पाषाणे कुटिबो माथा, अनले पशिबो। गौराङ्ग गुणेर निधि कोथा गेले पाबो॥" सहृदय पाठकवृन्द! इस हृदयविदारक आर्तिमय विलाप की कोई व्याख्या नहीं होती। इस दीन लेखक की लेखनी स्तम्भित है! अभीष्ट की प्राप्ति के लिये इस हृदयविदारक आर्तिमय वाणी की व्याख्या आपके अश्रुजल में है! हम इतना ही कह सकते हैं कि अभीष्ट के दर्शनाभाव में प्रेमिक की यह आन्तरिक आर्ति, यह वाणी इतनी शक्तिशाली है कि इसके श्रवण-कीर्तन चिन्तन आदि से साधक का चित्त विशेषरूप से प्रगाढ़रूप से शोधित, विगलित होगा और अभीष्ट-माधुरी के आस्वादन के लिये उन्मुख, उपयोगी होगा। इस महाअनुभवमय वाणी के श्रवण-कीर्तन का यही चरम लाभ है।

अन्त में कहते हैं-"से सब सङ्गीर सङ्गे जे कैलो विलास। से सङ्ग ना पाइया कान्दे नरोत्तम दास॥" ठाकुर महाशय के भाव की गति में सहसा परिवर्तन आ गया। वे सोचते हैं-'हाय! मुझ-जैसे अपात्र के लिये सपार्षद श्रीगौराङ्ग के दर्शन की कामना करना बौना होकर चाँद पकड़ने की इच्छा की तरह हास्यास्पद चेष्टा मात्र है। जिन्होंने श्रीगौर के लीलासङ्गियों का भी सङ्ग और कृपालाभ किया है; पर्शमणि के स्पर्श की तरह श्रीगौर पार्षदों के संस्पर्श से जिनके देह मन प्रेममय हो गये हैं-कम से कम उनका भी साथ पा जाता, तो प्राणों को सान्त्वना मिलती। किन्तु हाय! वह भी नहीं मिला; अब रोदन ही सार है'॥१५॥

पुनः सदैन्य विलाप

हरि हरि! बड़ो शेल मरमे रहिलो।
पाइया दुर्लभ तनु, श्रीकृष्ण-भजन बिनु जन्म मोर विफल हइलो॥
व्रजेन्द्रनन्दन हरि, नवद्वीपे अवतरि, जगत् भरिया प्रेम दिलो।
मुइँ से पामर मति, विशेषे कठिन अति, तेंइ मोरे करुणा नहिलो॥
स्वरूप सनातन रूप, रघुनाथ भट्टयुग, ताहाते ना हैलो मोर मति।
दिव्य चिन्तामणिधाम, वृन्दावन हेनो स्थान, सेइ धामे ना कैनु बसति॥,
विशेष विषये मति, नहिलो वैष्णवे रति, निरन्तर खेद उठे मने।
नरोत्तम दास कहे, जीवार उचित नहे, श्रीगुरु-वैष्णव-सेवा बिने॥१६॥

सुधाकणिका व्याख्या -

श्रील ठाकुर महाशय ने पिछले पद्य में सपार्षद श्रीमन्महाप्रभु के विरह में अधीर होकर उनके दर्शन के लिये आर्ति से भरकर विलाप किया था। पद्य के अन्त में दैन्य के उदय होने पर पार्षदगण के सङ्गियों के साथ के लिये प्रार्थना की। पुनः दैन्य का उद्रेक हुआ है। इस पद्य में स्वयं को भजन-साधन-हीन साधारण विषयी मायाबद्ध मानव जानकर सदैन्य विलाप करते हुए भजन के लिये प्रार्थना कर रहे हैं-"हरि हरि! बड़ो शेल मरमे

रहिलो। पाइया दुर्लभ तनु, श्रीकृष्णभजन बिनु, जन्म मोर विफल हइलो।" अतिशय खेद के साथ विलाप करते हैं-हाय! हाय! मर्म (हृदय) में बड़ा काँटा चुभा हुआ है-दुर्लभ मानवदेह पाकर भी श्रीकृष्णभजन के बिना यह जन्म विफल रहा। श्रीमद्भागवत-वचन है-"दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुर"-क्षणभंगुर होने पर भी यह परमार्थप्रद मानवदेह अति दुर्लभ है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के पश्चात् प्राप्त हुई है यह सुदुर्लभ मानव देह। बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिये कि वह और विलम्ब न कर गोविन्दभजन करे। श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से अपने प्रिय भक्त उद्धवजी से कहा है (भा० ११/९/२०)-

"लब्धा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्ण यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन् निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥"

अर्थात् 'बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिये कि वह बहुत जन्मों के बाद यह सुदुर्लभ एवं परमार्थप्रद अनित्य मनुष्यदेह पाकर और समय खोये बिना मरणशील देह के पतन से पूर्व ही परममङ्गल के लिये यत्न करे, अर्थात् गोविन्द भजन करे। विषयभोग सर्वत्र अर्थात् पशु आदि जन्मों में भी मिल जाते हैं, किन्तु मानवेतर देहों में परमार्थ-प्राप्ति की सम्भावना नहीं।' यह देवदुर्लभ मानव देह पाकर भी जो गोविन्दभजन नहीं करते, वे पशुवत् गृहरूपी अन्धकूप में गिरते हैं। श्रीमुचुकुन्द ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा है-

"लब्धो जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ।
पादारविन्दं न भजत्यसन्मतिर्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः॥"

(भा० १०/५१/४७)

'हे अनघ! मनुष्य इस कर्मभूमि में भाग्यवश बिना यत्न के दुर्लभ और अविकलाङ्ग मनुष्य देह पाकर भी आपके पादपद्मों की सेवा नहीं करता, पर पशु की तरह विषयवासनाओं के पीछे गृहरूपी अन्धकूप में गिर जाता है।' अतएव श्रीकृष्णभजन के न होने में ही मनुष्यजन्म की विफलता है।

विशेषतः यह विशेष कलियुग या महाप्रभु का कलियुग श्रीकृष्णभजन का या कृष्णप्रेम-प्राप्ति का एक महासन्धिक्षण है। "व्रजेन्द्रनन्दन हरि, नवद्वीपे अवतरि, जगत भरिया प्रेम दिलो। मुइँ से पामर मति, विशेषे कठिन अति, तेंइ मोरे करुणा नहिलो॥" श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीराधा की भावकान्ति लेकर श्रीगौराङ्गरूप से नवद्वीप में अवतीर्ण हुए। उनके अवतरण का मुख्य हेतु था श्रीराधाभाव से स्वमाधुर्य का आस्वादन और आनुषङ्गिक हेतु सारे विश्व को व्रजप्रेम-दान। श्रील रामानन्दराय ने श्रीमन्महाप्रभु से कहा है-

"राधिकार भावकान्ति करि अङ्गीकार।
निजरस आस्वादिते करियाछो अवतार॥
निज गूढ़ कार्य तोमार प्रेम आस्वादन।
आनुषङ्गे प्रेममय कैले त्रिभुवन॥"

(चै० च०)

'जगत भरिया' से प्रेमदान का व्यापकत्व समझ में आता है। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने वन्या (बाढ़) के साथ तुलना कर श्रीमन्महाप्रभु के प्रेमदान की व्यापकता समझाने की चेष्टा की है-

"उथलिलो प्रेमवन्या-चौदिके बेड़ाय।
स्त्री वृद्ध बालक युवा सबारे डुबाय॥
सज्जन दुर्जन पंगु जड़ अन्धगण।
प्रेमवन्याय डुबाइलो जगतेर जन॥
जगत डुबिलो, जीवेर हैलो वीजनाश।
ताहा देखि पाँचजनेर परम उल्लास॥
जतो जतो प्रेमवृष्टि करे पञ्चजने।
ततो ततो बाड़े जल-व्यापे त्रिभुवने॥"

(चै० च०)

प्रभु के प्रेम की उस बाढ़ में सारा विश्व डूब गया। श्रील ठाकुर महाशय सदैन्य कहते हैं-"मुइँ से पामर मति, विशेषे कठिन अति, तेंइ मोरे करुणा नहिलो"। 'मैं अति पापात्मा या नीचमति हूँ, अर्थात् स्वभाव से ही मेरी पाप-पङ्किल बुद्धि है, विशेषतः अपराध के कारण मेरा चित्त पाषाणतुल्य कठोर है। इसीलिये मेरे प्रति ऐसे करुणामय की करुणाधारा नहीं बरसी।' अपराध का गुरुत्व 'पाप' से अधिक होता है, यही बताने के लिये 'विशेष' शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रेम की मूर्ति श्रील ठाकुर महाशय अपनी बात कहकर जगजन को शिक्षा दे रहे हैं। ऐसे करुणामय महाप्रभु के युग में जो उनकी करुणा से वञ्चित हैं, वे ही सही माने में भाग्य-विड़म्बित मानव हैं। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है (श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम्-१०६)-

"धिगस्तु कुलमुज्ज्वलं धिगपि वाग्मितां
धिग् यशो, धिगध्ययनाकृतिं नववयः श्रियञ्चास्तु धिक्।
द्विजत्वमपि धिक् परं विमलमाश्रमाद्यञ्च
धिक्, न चेत् परिचितः कलौ प्रकटगौरोगोपीपतिः॥"

"गोपीनाथ" श्रीकृष्ण इस विशेष कलियुग में व्रज की उज्ज्वलरसमय प्रेममाधुरी जगजन को प्रदान करने के लिये श्रीगौराङ्ग रूप में आविर्भूत हुए हैं। उनकी करुणा के साथ जिसका परिचय नहीं हुआ, उसके उज्ज्वल कुल को धिक्कार; उसके यश, अध्ययन, सुन्दर रूप, नवीन वयस, प्रचुर ऐश्वर्य, द्विजत्व अथवा संन्यास आदि आश्रम को शत-शत धिक्कार।'

श्रील ठाकुर महाशय सोचते हैं-यदि श्रीगौराङ्ग के प्रेममय पार्षदगण के श्रीचरणों में मेरी रति-मति होती, तब भी मेरी पाप-पङ्किल मति श्रीगौराङ्गचरणों में निविष्ट हो पाती, किन्तु हाय! उन सबके प्रति भी तो रति-मति नहीं हुई-"स्वरूप सनातन रूप, रघुनाथ भट्टयुग, ताहाते ना हैलो मोर मति।" श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने

लिखा है कि श्रीगौरभक्तगण की कृपा या सङ्ग से कर्मी, ज्ञानी, योगी आदि सभी भक्तिरस का आस्वादन कर धन्य होते हैं-

"तावद्ब्रह्मकथा विमुक्तिपदवी तावन्न तिक्तीभवेत्तावच्चापि
विशृङ्खलत्वमयते नो लोकवेदस्थितिः।
तावच्छास्त्रविदां मिथः कलकलो नानावहिवर्त्मसु
श्रीचैतन्यपदाम्बुज-प्रियजनो यावन्न दृग्गोचरः॥"

अर्थात् 'जब तक गौरभक्तों के दर्शन नहीं मिलते, उनकी कृपा प्राप्त नहीं होती, तभी तक ज्ञानियों को ब्रह्मतत्त्व की या योगियों को योगमार्ग की बात अच्छी लगती है; लोकमर्यादा और वेदमर्यादा का भी पालन करना तभी तक सम्भव होता है; तभी तक वैदान्तिक पण्डितगण परस्पर नाना वाग्वितण्डा में प्रभृत्त रहते हैं। गौरभक्तों की कृपा होने पर ये सब तुच्छातितुच्छ हो जाते हैं; तब प्रेमामृत आस्वादन के लिये पिपासित प्राण रोने लगते हैं।'

"दिव्यचिन्तामणिधाम, वृन्दावन हेनो स्थान, सेइ धामे ना कैनु वसति।" श्रीवृन्दावनधाम दिव्य या अप्राकृत है, प्रपञ्च में अवस्थित होकर भी प्रपञ्चातीत चिन्मय है। श्रीकृष्ण की ही तरह उनकी सन्धिनी शक्ति का वैभव है श्रीवृन्दावनधाम, सर्वव्यापी विभु और महान्। श्रीकृष्णविग्रह की ही तरह श्रीधाम परव्योम के ऊपर और भूतल पर एक साथ दोनों स्थानों पर अवस्थान करता है। यह धाम चिन्तामणि की तरह आश्रितजन को प्रेमदान कर धन्य करता है। "अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी। दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते॥" (पद्मपुराण) 'अहा! धन्य है यह मधुपुरी (व्रज धाम); वैकुण्ठ से भी गरीयसी; जहाँ एक दिन वास करने से भी हरिभक्ति प्राप्त होती है।' श्रील ठाकुर महाशय निर्वेद के साथ कहते हैं-'मैंने ऐसे दिव्य चिन्तामणिधाम में वास नहीं किया।'

अन्त में कहते हैं-"विशेष विषये रति, नहिलो वैष्णवे मति, निरन्तर खेद उठे मने। नरोत्तम दास कहे, जीवार उचित नहे, श्रीगुरु वैष्णव सेवा बिने॥" श्रील ठाकुर महाशय विषयरति को भगवत् पादपद्मों में रति-मति प्राप्त करने में विशेष बाधक बताते हैं। विषयों में रति का अर्थ है जड़ीय रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि में अथवा अर्थ-सम्पदा आदि में आसक्ति। वैष्णवों में मति हो या भक्तसङ्ग हो, तो विषयनिष्ठ मति भगवद्भक्तिनिष्ठ हो सकती है, कारण-सर्वमङ्गल के आधारस्वरूप भक्तसङ्ग के प्रभाव से मानवजीवन में आमूल परिवर्तन हो जाता है और सर्वदा भगवत् चिन्तन रहने से हृदय में विषय-चिन्तन की छाया भी नहीं पड़ती। साधुसङ्ग के प्रभाव से जिसके हृदय से विषय-मलिनता दूर हो जाती है, वह साधुमुख से हरिकथा श्रवण कर उनका सङ्ग त्यागने में कभी समर्थ नहीं होता-"सत् सङ्गान्मुक्त दुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः" (भागवत) "ईश्वरस्वरूप भक्त ताँर अधिष्ठान। भक्तेर हृदये कृष्णेर सतत विश्राम॥" (चै० च०) भक्तों के हृदय में श्रीकृष्ण सर्वदा आनन्द से वास करते हैं और उनके प्रेमानुभवपूर्ण हृदय की वाणी विषयवासनातप्त जीव के हृदय-मरुस्थल में भक्तिसुधारस का सिञ्चन करती है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-"ऐसे वैष्णवों में मेरी मति नहीं रही, तभी मन में निरन्तर खेद जगता है-श्रीगुरु-वैष्णव की सेवा के बिना जीवित रहना उचित नहीं" ॥१६॥

वैष्णव महिमा

ठाकुर वैष्णव-पद, अवनीर सम्पद, शुनो भाइ हइया एकमन।
आश्रय लइया भजे, तारे कृष्ण नाहि त्यजे, आर सब मरे अकारण॥
वैष्णव-चरण जल, प्रेमभक्ति दिते बल, आर केहो नहे बलवन्त।
वैष्णवचरण रेणु, मस्तके भूषण बिनु, आर नाहि भूषणेर अन्त॥
तीर्थजल पवित्रगुणे, लिखियाछे पुराणे, से सब भक्तिर प्रवञ्चन।
वैष्णवेर पादोदक, सम नहे एइ सब, जाते हय वाञ्छितपूरण॥
वैष्णव सङ्गेते मन, आनन्दित अनुक्षण, सदा हय कृष्ण-परसङ्ग।
दीन नरोत्तम कान्दे, हिया धैर्य नाहि बान्धे, मोर दशा केनो हैलो भङ्ग॥१७॥

सुधाकणिका व्याख्या -

श्रील ठाकुर महाशय ने पिछली त्रिपदी में इस बात को लेकर खेद व्यक्त किया था कि वैष्णवों के प्रति उनकी रति नहीं हुई। उनके विशुद्ध-सत्त्वोज्ज्वल चित्त में वैष्णव-महिमा का स्फुरण हुआ है, अतः एक के बाद एक चार पद्यों में वैष्णव-महिमा और वैष्णवों के प्रति विज्ञप्ति व्यक्त कर रहे हैं। इस पद्य में वैष्णवमहिमा का निरूपण करते हुए पहले कहते हैं-"ठाकुर वैष्णव-पद, अवनीर सम्पद, शुनो भाइ हइया एकमन। आश्रय लइया भजे, तारे कृष्ण नाहि त्यजे, और सब मरे अकारण॥"

श्रीहरिभक्तिविलास में पुराण-प्रमाणनुसार वैष्णव के लक्षण बताये गये हैं-

"गृहीतविष्णुदीक्षाको विष्णुसेवापरो नरः।
वैष्णवश्चात्र संग्राह्यः स्कान्दाद्युक्तानुसारतः॥
परमापदमापन्ने हर्षे वा समुपस्थिते।
नैकादशीं त्यजेद् यस्तु यस्य दीक्षास्ति वैष्णवी॥
समात्मा सर्वजीवेषु निजाचारादविप्लुतः।
विष्ण्वार्पिताखिलाचारः स हि वैष्णव उच्यते॥"

(२/१२।३३८-३४०)

अर्थात् 'जो वैष्णवी दीक्षा लेकर विष्णुसेवापरायण हुए हैं; जो अतिशय हर्ष या विपद आने पर भी एकादशीव्रत कभी नहीं त्यागते; जो सभी जीवों के प्रति समबुद्धि रखते हैं-अतएव हिंसा द्वेषादि से रहित हैं, सभी के हितकारी हैं, जो वैष्णवाचार से कभी परिभ्रष्ट नहीं होते और जिन्होंने विष्णु को स्वधर्मादि सब अर्पित कर दिया है-वे ही वैष्णव हैं।'

श्रीमन्महाप्रभु ने कुलीनग्रामवासी भक्तों से वैष्णवों का तारतम्य निरूपण करते हुए कहा है-"अतएव जाँर मुखे एक कृष्णनाम। सेइ वैष्णव-करि ताँर परम सम्मान॥ कृष्णनाम निरन्तर जाँहार वदने। सेइ से वैष्णव

भजो ताँहार चरणे॥ जाँहार दर्शने मुखे आइसे कृष्णनाम। ताँहारे जानिओ सबे वैष्णवप्रधान॥" (चै० च०) यहाँ वैष्णव, वैष्णवतर और वैष्णवतम के तारतम्य के अनुसार उनकी महिमा और सेवा का भी तारतम्य निरूपित हुआ है। श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है-प्रेम के तारतम्य से ही भक्तमहद्गण का मुख्य तारतम्य समझना होगा-"ततः प्रेमतारतम्येनैव भक्तमहत्तारतम्यं मुख्यम्" (भक्तिसन्दर्भ, अनु० १९७) श्रीमद्भागवतादि शास्त्रों में मानस और वाह्य लक्षण-निरूपण में वैष्णवों के उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ आदि भेद बताये गये हैं।

जो भी हो, श्रील ठाकुर महाशय ने वैष्णव महिमा 'एक मन' होकर सुनने को कहा है, कारण-भक्तिप्राप्ति की साधना वैष्णवसङ्ग और वैष्णवकृपा-जैसी और कुछ नहीं है। फिर वैष्णव-अवमानना या वैष्णवपराध-जैसा भक्ति-विघातक भी और कुछ नहीं। यहाँ वैष्णवचरणों को पृथ्वी की सम्पदा कहा गया है-"ठाकुर वैष्णव पद, अवनीर सम्पद"। वैष्णवगण धरणी के अलङ्कार हैं। उनके श्रीचरण-स्पर्श से पृथ्वी के सभी विघ्न दूर होते हैं, परम मङ्गल होता है, तभी उन्हें 'अवनीर सम्पद' कहा गया है। श्रीहरिभक्तिसुधोदय में लिखा है-"बहुधोत्सार्यते हर्षाद्विष्णुभक्तस्य नृत्यतः पद्भ्यां भूमेर्दिशोहक्षिभ्यां दोर्भ्यां वाहमङ्गलं दिवः॥" 'विष्णुभक्त वैष्णवों के नृत्य के समय उनके चरणों से पृथ्वी का, नेत्रों से चारों ओर की और भुजाओं से स्वर्ग का अमङ्गल बहुत प्रकार से विनष्ट होता है।'

फिर कहते हैं-"आश्रय लइया भजे, तारे कृष्ण नाहि त्यजे, आर सब मरे अकारण।" जो लोग वैष्णव-चरणों का आश्रय लेकर भजन करते हैं, कृष्ण उन्हें कभी नहीं त्याग सकते। वैष्णव-चरणाश्रयी को छोड़ और किसी के लिये भगवदुन्मुखता या भक्तिपथ का आश्रय सम्भव नहीं, इसलिये उन्हें अकारण ही बार-बार जन्म-मृत्यु के कवल में जाना पड़ता है। आदिपुराण में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है-"न मे भक्तजनाः पार्थ मे भक्ताश्च ते जनाः। मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः॥" अर्थात् 'हे पार्थ! जो लोग केवल मेरे भक्त हैं, वे मेरे भक्त नहीं, जो मेरे भक्तों के भी भक्त हैं, वे ही मेरे श्रेष्ठ भक्त हैं।' कारण यह है कि वैष्णव-आश्रय के बिना भगवान् के प्रति उन्मुखता या भगवान् के चरणों में शरणागति नहीं होती। पद्मपुराण के वचन हैं-"रसायनमयी शीता परमानन्ददायिनी। नानन्दयति कं नाम वैष्णवाश्रयचन्द्रिका॥" 'वैष्णवाश्रयरूपी चन्द्रिका किसे आनन्द नहीं देती। वह 'रसायनमयी' अर्थात् भवरोगनाशिनी, 'शीता' अर्थात् त्रितापज्वाला को सुशीतल करनेवाली और 'परमानन्ददायिनी' अर्थात् प्रेमानन्ददायिनी है।' इसलिये जो लोग महद् वैष्णवों के आश्रय में उनके आनुगत्य में भजन करते हैं श्रीकृष्ण उनका कभी त्याग नहीं करते।

"आश्रय लइया सेवे, सेइ कृष्णभक्ति लाभे" यह पाठ भी मिलता है। इसमें वैष्णव-सेवा से कृष्णभक्ति-प्राप्ति की बात कही गई है। श्रीमद्भागवत कहती हैं-"यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्। शीतं भयं तमोहप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥" (भा० ११/२६/३१) श्रीकृष्ण कहते हैं-'हे उद्धव! जैसे अग्नि के आश्रय में शीत, भय और अन्धकार विनष्ट होते हैं, वैसे ही साधु की सेवा से कर्मों की जड़ता, संसारभय और अज्ञान विनष्ट होते हैं।' इस श्लोक की टीका में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है-"स्वीयौदनसिद्ध्यर्थमुप- श्रयमाणस्य अप्येति नश्यति। तथैव भजन सिद्ध्यर्थं साधून् संसेवमानस्य कर्मादि जाड्यं संसारभयं भजनविघ्नश्च।" अर्थात् जैसे अपना अन्न सिद्ध करने के लिये अग्नि का आश्रय लेने वाले व्यक्ति का भी शीत आदि नाश हो जाता है, वैसे ही

भजनसिद्धि के लिये साधु-सेवन करनेवाले की आनुषङ्गिक रूप से ही कर्मजड़ता आदि नष्ट हो जाती है।' यहाँ तक कि वैष्णव-सेवा से तीव्र प्रेमोत्सव-प्राप्ति की बात जानी जाती है-"यत्सेवया भगवतः कुटस्थस्य मधुद्विषः। रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः॥" (भा० ३/७/१९) अर्थात् महद् वैष्णवगण की सेवा से निखिल संसार-दुःखनाशी एवं नित्यस्वरूप भगवान् मधुसूदन के पादपद्मों में तीव्र प्रेमोत्सव उत्पन्न होता है।

"आर सब मरे अकारण"-जो वैष्णवों के पादपद्मों का आश्रय नहीं लेते, वे बार-बार जन्म-मरणादि से भरी संसारदशा प्राप्त करते हैं।

"यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कहिंचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥"

(भा० १०/८४/१३)

अर्थात् 'वायु-पित्त-कफादि से दूषित मृत्युतुल्य देह में जिसकी आत्मबुद्धि है; स्त्री-पुत्रादि में आत्मीयबुद्धि है; साधारण देव-प्रतिमा आदि में पूज्यबुद्धि और जल में तीर्थबुद्धि है, किन्तु अभिज्ञ भक्तों के प्रति प्रीत्यास्पद बुद्धि नहीं है (भक्तों को अपना नहीं समझता)-वही व्यक्ति गो-गर्दभ के तुल्य है, ऐसा जानना होगा।'

फिर कहते हैं-"वैष्णवचरण जल, प्रेमभक्ति दिते बल, आर केहो नहे बलवन्त। वैष्णव चरणरेणु, मस्तके भूषण बिनु, आर नाहि भूषणेर अन्त॥" श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने श्रीचैतन्यचरितामृत (अन्त्य०, परि० १६) में लिखा है-

"भक्तपदधूलि आर भक्तपद-जल।
भक्तभुक्त अवशेष-तिन महाबल॥
एइ तिन-सेवा हैते कृष्णप्रेमा हय।
पुनः पुनः सर्वशास्त्रे फुकारिया कय॥
ताते बार बार कहि शुनो भक्तगण।
विश्वास करिया करो ए तिन सेवन॥
तिन हैते कृष्णनामप्रेमेर उल्लास।
कृष्णेर प्रसाद ताते साक्षी कालिदास॥"

वैष्णव के श्रीचरणामृत और अधरामृत में परम निष्ठावान् श्रीकालिदास राय ने नीलाचल में दूसरे को अलभ्य श्रीमन्महाप्रभु का श्रीचरणामृत उन्हीं के सामने तीन अञ्जलियाँ भरकर पान करने का सौभाग्य प्राप्त किया था और प्रभु ने कृपाकर गोविन्द के द्वारा उन्हें अपना अधरामृत दिलाकर धन्य किया था। "वैष्णवेर शेष भक्षणेर एतेक महिमा। कालिदासे पाबाइलो प्रभुर कृपा-सीमा॥" (वही) इसलिये भक्तिपूर्वक वैष्णव का पादोदक सेवन करने के बराबर प्रेम की वलिष्ठ साधना और कुछ नहीं। ब्रह्मर्षि जड़भरत ने महाराज रहूगण से कहा है (भा० ५/१२/१२) -

"रहूगणैतत्तपसा न याति, न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-र्बिना महत्पादरजोहभिषेकम्॥"

'हे महाराज रहूगण! महद्गण की चरणरज से अभिषिक्त हुए बिना तपस्या, वैदिककर्म, अन्नादि दान, गृहादि निर्माण से परोपकार, वेदाभ्यास, जल-अग्नि-सूर्य उपासना-इन सबके द्वारा भी भगवत्तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया जाता।'

"तीर्थजल पवित्रगुणे, लिखियाछे पुराणे, से सब भक्तिर प्रवञ्चन। वैष्णवेर पादोदक, सम नहे एइ सब, जाते हय वाञ्छित पूरण॥" तीर्थ-सेवन के जिस स्वर्गादि फल की बात पुराण आदि में कही गई है, वह शुद्धभक्ति को आच्छादन करने या छिपाने के उद्देश्य से साधारण कर्मियों के लिये कही गई है, यह जानना होगा। किन्तु वैष्णव-पादोदक सेवन से भक्तिप्राप्ति की बात ही सर्वत्र वर्णित है-इससे कृष्णनित्यदास जीव के सभी अभीष्ट सिद्ध होते हैं।

अन्त में कहते हैं-"वैष्णव सङ्गेते मन, आनन्दित अनुक्षण, सदा हय कृष्ण-परसङ्ग। दीन नरोत्तम कान्दे, हिया धैर्य नाहि बान्धे, मोर दशा केनो हैलो भङ्ग॥" वीतराग भजननिष्ठ साधु-वैष्णव महात्माओं के दर्शन और सङ्ग से संसारी मनुष्य का भी विषयवासना-दुष्ट मन निर्मल होता है, भजन-सम्पदा प्राप्तकर मन आनन्दित होता है-यह सभी शास्त्रों का निर्विवाद सिद्धान्त है। "साधुसङ्ग साधुसङ्ग सर्वशास्त्रे कय। लवमात्र साधुसङ्गे कृष्णभक्ति लभ्य हय॥" (चै० च०) ऐसे महत् के सङ्ग में सदा ही कृष्णप्रसङ्ग अर्थात् कृष्णकथा श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। साधु-वैष्णवों की स्वाभाविक बात भी हरिकथा होती है, कारण-वे भगवत् प्रसङ्ग को छोड़ इतर प्रसङ्गों से विमुख होते हैं। फिर वे रसमयी भागवती कथा वर्णन कर साथी-सङ्गियों को धन्य करते हैं, कारण-उनके श्रीमुख की भागवती कथा स्वाभाविकरूप से ही सभी के लिये हृत्कर्ण-रसायन होती है; शीघ्र ही श्रोता के अनर्थ नष्ट होते हैं और वह भक्ति प्राप्त करता है। इसीलिये श्रीमद्भागवत के वचन हैं-"अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः" अर्थात् साधुसमागम ही जीव का एकमात्र परमलाभ है। श्रील ठाकुर महाशय वैष्णवसङ्ग की महिमा का स्मरण कर रोते-रोते कहते हैं-'हाय! वैसे महत् सङ्ग के अभाव में मेरा धैर्य जाता रहा। मैं वैष्णवसङ्ग से वञ्चित हुआ; न जाने क्यों मेरी ऐसी दुर्दशा हुई'॥१७॥

वैष्णवों के प्रति विज्ञप्ति

ठाकुर वैष्णवगण, करि एइ निवेदन, मो बड़ो अधम दुराचार।
दारुण संसार निधि, ताहे डुबाइलो बिधि, केशे धरि मोरे करो पार॥
विधि बड़ो बलवान्, ना शुने धरम ज्ञान, सदाइ करमपाशे बान्धे।
ना देखि तारणलेश, जतो देखि सब क्लेश, अनाथ कातरे तेइँ कान्दे॥
काम क्रोध लोभ मोह, मद अभिमान सह, आपन-आपन स्थाने टाने।
आमार ऐछन मन, फिरे जेनो अन्धजन, सुपथ विपथ नाहि जाने॥
ना लइनु सत् मत, असते मजिलो चित, तुया पदे ना करिनु आश।
नरोत्तम दासे कय, देखि शुनि लागे भय, तराइया लहो निज पाश॥१८॥

सुधाकणिका व्याख्या -

श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय ने पिछले पद्य में और इस पद्य में वैष्णव शब्द से पूर्व 'ठाकुर' शब्द का प्रयोग किया है। भगवान् को ठाकुर कहा जाता है और पूज्य के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। "वैष्णवा विष्णुवत् पूज्या" (स्कन्दपुराण) अर्थात् वैष्णव विष्णु की तरह पूज्य हैं। सुधीजन वैष्णवचिह्नमात्र धारण करनेवाले को विष्णुवत् सम्मान दें, कारण-वैष्णवों को अभिवादन न करना या उन्हें देखकर आनन्दित न होना भी भक्ति-विघातक वैष्णवापराध गिना जाता है। "हन्ति निन्दन्ति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नभिनन्दति। क्रुध्यते जाति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट्॥" (वही) अर्थात् 'वैष्णवों का हनन करना, उनकी निन्दा करना, उनसे द्वेष करना, उनका अभिनन्दन न करना, उनके प्रति क्रोध करना और उनके दर्शन से आनन्दित न होना-ये छह वैष्णवापराध पतन के कारण हैं।' तभी कहा गया है-"वैष्णवेर ठाइँ सदा हवे सावधान। कोनोरूप कारो जेनो नहे अपमान॥"

श्रील ठाकुर महाशय इस पद्य में अतिशय दैन्य के उदय होने पर अपने को अति अधम दुराचार समझकर वैष्णवों के चरणों में प्रार्थना करते हुए संसारी आदमी की दुरवस्था का सटीक चित्राङ्कन कर रहे हैं। पहले कहते हैं-"ठाकुर वैष्णवगण, करि एइ निवेदन, मो बड़ो अधम दुराचार। दारुण संसार निधि, ताहे डुबाइलो विधि, केशे धरि मोरे करो पार॥" 'हे कृपामय ठाकुर वैष्णवगण! मैं अति अधम-दुराचारी हूँ; आप सब मेरा कुछ निवेदन सुनें। संसार-समुद्र अति दारुण है, विधाता ने मुझे उसमें डुबो दिया है, आप सब केश पकड़कर मुझे संसारसिन्धु के पार ले चलें।' संसारसिन्धु अति दुस्तर है, नाना दु:खतापरूपी भयावह तरङ्गों से भरा।

"संसारदु:खजलधौ पतितस्य कामक्रोधादिनक्रमकरै: कवलीकृतस्य।
दुर्वासनानिगड़ितस्य निराश्रयस्य चैतन्यचन्द्र! मम देहि पदावलम्बम्॥"

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृत-९१)

'हे चैतन्यचन्द्र! मैं दुर्वासनारूपी शृङ्खला में बँधा संसारसागर में गिर पड़ा हूँ। काम-क्रोध आदि मकर-कुम्भीरों ने मुझे अपने कवल में ले लिया है। मुझ निराश्रय पर कृपाकर अपनी चरण-नौका का आश्रय दो।'

जन्म-मरण आदि तरङ्गों से भरा ऐसा निदारुण संसारसिन्धु है। "ताहे डुबाइलो बिधि"-विधि या विधाता ने डुबो दिया है, इससे यही समझना होगा कि अपने कर्मफल की ओर ही लक्ष्य किया है, कारण-विधाता कर्मफल के अनुसार ही जीवसृष्टि और जीवों का सुख-दु:खादि तय करते हैं। श्री वैष्णवचरणों में प्रार्थना करते हैं-"केशे धरि मोरे करो पार"-केश पकड़कर मुझे दुस्तर संसारसिन्धु के उस पार ले चलो। केवल संसारसिन्धु के दूसरी पार जाना ही वैष्णवकृपा का फल नहीं; इष्ट की प्रेमसेवा के लिये भी प्रार्थना की गई है। संसारसिन्धु पार होना आनुषङ्गिक बात है। श्रील राधामोहन ठाकुर ने अपने पदामृतसमुद्र की 'महाभावानुसारिणी टीका' रची है, उसमें उद्धृत इस पद की व्याख्या-भूमिका में उन्होंने लिखा है-"प्रेमसेवा-सम्पादिकां श्रीवैष्णवकृपां 'ठाकुर वैष्णवगण! करो' इत्यादिना प्रार्थयते।" अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रेमसेवा सम्पादित करनेवाली वैष्णवकृपा के लिये ही इस पद में प्रार्थना की गई है।

फिर कहते हैं–"बिधि बड़ी बलवान, ना शुने धरम ज्ञान, सदाइ करमपाशे बान्धे। ना देखि तारण लेश, जतो देखि सब क्लेश, अनाथ कातरे तेइँ कान्दे॥" यहाँ भी 'विधि' का प्रयोग उसी प्रबल कर्मसंस्कार के अर्थ में किया गया है। प्रबल कर्मसंस्कार मानव के चित्तमन को प्राकृत कर्मों में ही आसक्त किये रखते हैं, धर्म–ज्ञान आदि की बात नहीं सुनने देता। "स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे" (भा० १/२/६) अर्थात् 'अधोक्षज भगवान् के प्रति भक्ति ही जीव का परमधर्म है'; "धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो" (भा० ११/१९/२७) 'जिसके द्वारा मुझमें भक्ति उत्पन्न हो, वही धर्म है'–इन श्रीमद्भागवत–वचनों के अनुसार भगवद्भक्ति ही 'धर्म' है। भगवान्, भक्ति और प्रेम विषयक या सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजनतत्त्व विषयक भजनोपयोगी तत्त्वज्ञान ही 'ज्ञान' है, यह जानना होगा। प्रबल कर्म–संस्कारों से बँधा चित्त है मानव का। मानव भजन–साधन विषयक बातें खूब सुनता है, स्वयं ग्रन्थादि पढ़ता है, तथापि विषयवासना या कर्म संस्कार त्यागकर श्रीहरिचरणों में शरणागत होकर निष्ठापूर्वक भजन–साधन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। तभी महत् सङ्ग या महत् कृपा परम आवश्यक है। वृहन्नारदीय पुराण में आया है–"भक्तिस्तु भगवद्भक्तसङ्गेन परिजायते। सत्सङ्ग प्राप्यते: पुम्भि: सुकृतै: पूर्वसञ्चितै:॥" अर्थात् एकमात्र भगवद्भक्त के सङ्ग से ही भक्ति प्राप्त होती है; सत्सङ्ग भी अति दुर्लभ है; पूर्वसञ्चित सुकृति के फलस्वरूप ही सत्सङ्ग मिलता है। यहाँ तक कि सत्सङ्ग को भक्ति का फल भी कहा गया है। भक्ति के फलस्वरूप भगवान् की जो वश्यता है, वह सत्सङ्ग के फलस्वरूप ही प्राप्त होती है। श्रीकृष्ण ने स्वयं उद्धवजी से कहा है–

"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव वा।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टा पूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमा:।
यथावरुन्धे सत्सङ्ग: सर्वसङ्गापहो हि माम्॥"

'हे उद्धव! मुझे सर्वविषयासक्ति–विनाशक साधुसङ्ग जितना वशीभूत कर सकता है, उतना अष्टाङ्गयोग, सांख्ययोग, अहिंसादि धर्म, वेदाध्ययन, तपस्या, सन्यास, इष्टापूर्ति (अग्नि–होत्रादि याग, कूप–उद्यान आदि निर्माण), दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, मन्त्र, तीर्थ, यम–नियम आदि नहीं कर सकते।' इसीलिये साधुसङ्ग भक्ति का कारण है, भक्ति का कार्य है और साधुसङ्ग ही साक्षात् भक्ति है। यही कारण है कि साधुसङ्ग को स्वयं पुरुषार्थ के रूप में उल्लेख किया गया है–

"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिष:॥"

(भा० १/१८/१३)

'भगवद्भक्तों के साथ जो लवमात्र सङ्ग है, उसके साथ स्वर्ग और मुक्ति की तुलना नहीं होती; पृथ्वी की राज्य–सम्पदा आदि उसके तुल्य नहीं, यह तो कहना ही पर्याप्त।' तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं–"हे वैष्णवगण! आपके सङ्ग और कृपा के बिना इस संसारसिन्धु से तरने का लेशमात्र उपाय नहीं दीखता। सत्सङ्ग

में हरिभजन को छोड़ सभी व्यर्थ क्लेशमात्र है। 'ना देखि तारण लेश, जतो देखि सब क्लेश।' कर्म की बात दूर, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान के लिये ज्ञानी की जो ज्ञानसाधना है, वह भी क्लेश मात्र है।

ब्रह्माजी ने श्रीकृष्ण के स्तव-प्रसङ्ग में कहा है-

"श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद्यथा स्थूलतूषावघातिनाम्॥"

(भा० १०/१४/४)

'हे विभो! जो लोग समस्त मङ्गलों की हेतु तुम्हारी भक्ति का त्यागकर निर्विशेष ब्रह्मज्ञान पाने के लिये क्लेश स्वीकार करते हैं, उन्हें थोथी भूसी कूटनेवाले की तरह क्लेश मात्र ही हाथ लगता है, और कुछ नहीं मिलता।' तभी कहा है-'अनाथ कातरे तेइँ कान्दे।' तुम सबकी कृपा के बिना यह अनाथ तुम्हारे चरणों में पड़ा रो रहा है।

"काम क्रोध लोभ मोह, मद अभिमान सह, आपन आपन स्थाने टाने। आमार ऐछन मन, फिरे जेनो अन्धजन, सुपथ विपथ नाहि जाने॥" काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद अर्थात् मत्तता एवं अभिमान या अहङ्कार-ये सब उद्दाम रिपु मानव के हृदय में सर्वदा वास करते हैं और उसके मन को अपनी-अपनी ओर प्रबल रूप से आकर्षित करते हैं। मन दुर्बल और अन्धा है, तभी सुपथ-विपथ नहीं जानता। उसमें शक्ति नहीं कि विचार कर असत् पथ त्याग सत् पथ पर चले। फलस्वरूप वह इन रिपुओं के बहुमुखी आकर्षण में पड़ दिशाहारा हो जाता है। उनके अधीन हो सतत असत् कार्य में निविष्ट रहता है। तभी कहते हैं-"ना लइनु सत् मत, असते मजिलो चित, तुया पाये ना करिनु आश। नरोत्तम दासे कय, देखि शुनि लागे भय, तराइया लहो निज पाश॥" रिपुओं के कवल में पड़कर मानव के मन की जो अवस्था हो गई है, उसके कारण उसकी सामर्थ्य नहीं रही कि साधुओं के मतानुसार भक्तिपथ का आश्रय ले। वह सतत असत् अर्थात् विषय-वासना में मग्न रहता है। वैष्णवों के सङ्ग और कृपा के फलस्वरूप भक्तिपथ का आश्रय मिलेगा, किन्तु वैष्णवचरणों के आश्रय की आशा मन में कभी जगती नहीं! तभी श्रील ठाकुर महाशय दैन्य से भरकर अपनी बात कर जगजन को शिक्षा दे रहे हैं-आदमी अपनी ऐसी दुरवस्था या दुर्गति की बात याद कर डरकर वैष्णवचरणाश्रय ग्रहण कर ले, तो वे संसार-बन्धन खोलकर अपने पास रखकर भक्तिरसास्वादन करा धन्य कर देंगे॥१८॥

वैष्णवों के प्रति विज्ञप्ति

एइ बार करुणा करो वैष्णव गोसाइँ। पतितपावन तोमा बिने केहो नाइ॥
काहार निकटे गेले पाप दूरे जाय। एमन दयाल प्रभु केबा कोथा पाय॥
गङ्गार परश हैले पश्चाते पावन। दर्शने पवित्र करो एइ तोमार गुण॥
हरिस्थाने अपराधे तारे हरिनाम। तोमा स्थाने अपराधे नाहिक एड़ान॥
तोमार हृदये सदा गोविन्द विश्राम। गोविन्द कहेन मम वैष्णव पराण॥
प्रति जन्मे करि आशा चरणेर धूलि। नरोत्तमे करो दया आपनार बोलि॥१९॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय वैष्णवचरणों में दैन्य-ज्ञापन करते हुए उनकी करुणा के लिये प्रार्थना कर रहे हैं। 'हे वैष्णव गुसाईं! इस बार करुणा करो; तुम्हारे-जैसा पतितपावन विश्व में और कोई नहीं।' श्रीमद्भागवत-वचन है-"भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्। छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः॥" (भा० १/३/६) 'जो लोग देवताओं को जिस भाव से भजते हैं, छाया की तरह कर्म के साक्षी देवगण उन्हें उसी भाव से फल देते हैं। किन्तु साधुगण ऐसे नहीं, वे दीनवत्सल हैं। उनका भजन करेंगे या सेवा करेंगे, तो वे कृपा करेंगे-ऐसा नहीं। दीन-दुःखी पतित आदि पर तो साधुजन पूरी-पूरी कृपा करते हैं। "सतां कृपा च दुरवस्थादर्शनमात्रोद्भवा न स्वोपासनाद्यपेक्षा, यथा श्रीनारदस्य नलकूवरमणिग्रीवयोः" (भक्तिसन्दर्भ-अनु० १८३)-साधुगण की कृपा तो जीव की दुरवस्था देखकर ही उत्पन्न हो जाती है, इसके लिये जीव को उनकी उपासनादि की आवश्यकता नहीं। जैसे कुबेरनन्दन नलकूबर-मणिग्रीव की दुरवस्था देखते ही उनपर नारदजी की कृपा हुई थी।

"काहार निकटे गेले पाप दूरे जाय। एमन दयाल प्रभु केबा कोथा पाय॥" वृहन्नारदीय में देखने में आता है-"हरिभक्तिपराणान्तु सङ्गिनां सङ्गमात्रतः। मुच्यते सर्वपापेभ्यो महापातकवानपि॥" अर्थात् 'हरिभक्तिपरायण भक्तों की बात दूर, उनके सङ्गियों के सङ्गमात्र से ही महापातकी भी सभी पापों से मुक्ति पा लेता है।' केवल पापनाश ही नहीं-पद्मपुराण के वचन हैं-"अपाकरोति दुरितं श्रेयः संयोजयत्यपि। यशो विस्तारयत्याशु नृणां वैष्णवसङ्गमः॥" "वैष्णव के सङ्ग मात्र से पापी के समस्त पाप दूर होते हैं, परम मङ्गल होता है और मुक्तजनों से भी अधिक श्रेष्ठ यश का सर्वत्र विस्तार होता है-अर्थात् वह भक्ति प्राप्त कर धन्य होता है, यही समझा जा रहा है।' इसलिये समस्त पापराशि का विनाश कर भक्ति देने में ऐसे दयालु या समर्थ प्रभु और कहीं नहीं।

"गङ्गार परश हैले पश्चाते पावन। दर्शने पवित्र करो एइ तोमार गुण॥" श्रीमद्भागवत में है-"न ह्यस्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः। ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥" (१०/८४/१२) 'जलमय तीर्थ एवं मृत्शिलामय देवमूर्ति साधुगण की तरह जीवों को पवित्र नहीं कर सकते, कारण-ये बहुत दिनों में या परकाल में पवित्र करते हैं, किन्तु साधुगण दर्शनमात्र से ही सबको पवित्र कर देते हैं।'

श्रीकृष्ण ने नलकूबर-मणिग्रीव से कहा है-'सर्वत्र समदृष्टा, मेरे प्रति समर्पितचित्त साधुओं के दर्शनमात्र से भवबन्धन नष्ट हो जाता है, जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार नष्ट हो जाता है।' "साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्। दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोहक्षोः सवितुर्यथा॥" (भा० १०/१०/४१) पद्मपुराण में देखते हैं-"गङ्गादि पुण्यतीर्थेषु यो नरः स्नातुमिच्छति। यः करोति सतां सङ्गं तयोः सत्सङ्गमो वरः॥ यः स्नातः शान्तिसितया साधुसङ्गतिगङ्गया। किन्तस्य दानैः किन्तीर्थैः किन्तपोभिः किमध्वरैः। यानि यानि दुरापाणि वाञ्छितानि महीतले। प्राप्यन्ते तानि तान्येव साधूनामेव सङ्गमात्॥" अर्थात् जो गङ्गादि पुण्यतीर्थों में श्रद्धापूर्वक स्नान करते हैं और जो साधुसङ्ग करते हैं, उनमें साधुसङ्ग ही श्रेष्ठ है। जो स्निग्ध-उज्ज्वल साधुसङ्गरूपी मन्दाकिनी में अवगाहन करते हैं, उन्हें दान, तीर्थाटन, तपस्या, यज्ञ की क्या आवश्यकता? इस विश्व में जो-जो सुदुर्लभ और काम्य वस्तुएँ हो

सकती हैं, वे सभी साधुसङ्ग से मिल जाती हैं।' इसलिये गङ्गास्नान की अपेक्षा साधुसङ्गरूपी गङ्गा में स्नान करने का बड़ा उत्कर्ष देखा जाता है।

"हरिस्थाने अपराधे तारे हरिनाम। तोमा स्थाने अपराधे नाहिक एड़ान॥" श्रीहरि के निकट किसी भी प्रकार का अपराध हो, तो उसे श्रीहरि का नाम नष्ट कर देता है। इसी प्रकार भक्त के अनजाने में हुआ सेवापराध आदि नित्य नामकीर्तन से विनष्ट हो जाता है। किन्तु वैष्णव के निकट अपराध होने पर वह प्रबल नामापराध गिना जाता है, श्रीहरिनाम उसे नष्ट नहीं करता। जिन वैष्णवों के प्रति अपराध है, उनके प्रसन्न होने पर ही उसका विनाश होता है-अन्य उपाय नहीं। नामापराध-वर्णन के प्रसङ्ग में पद्मपुराण में पहले ही कहा गया है-"सतां निन्दा नाम्नः परमपराधं वितनुते। यतः ख्यातिं यातं कथमुसहते तद्विगर्हाम्॥" 'महद्गण की निन्दा श्रीनाम के निकट प्रबल अपराध का विस्तार करती है। श्रीनाम जिन सज्जनों के द्वारा विश्व में ख्याति प्राप्त कर रहे हैं, उनकी निन्दा वे कैसे सहन करेंगे?'

"तोमार हृदय सदा गोविन्द विश्राम। गोविन्द कहेन मम वैष्णव पराण॥" श्रीमद्भागवत (११/२/५५) में देखते हैं-

"विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवंशाभिहितोहप्यघौघनाशः।
प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः सभवति भागवतप्रधान उक्तः॥"

अर्थात् 'जिनका नाम विवशता से उच्चारित होने पर भी तत्क्षणात् समस्त पाप-पुञ्ज नष्ट हो जाते हैं, वे श्रीहरि स्वयं प्रेमरज्जु से बद्धचरण हो जिनका हृदय नहीं त्यागते, वे ही भागवतप्रधान या उत्तम भक्त कहे जाते हैं।' "ईश्वरस्वरूप भक्त ताँर अधिष्ठान। भक्तेर हृदये कृष्णेर सतत विश्राम॥" (चै० च०)

भगवान् ने स्वयं कहा है कि वैष्णव उनके प्राण हैं। श्रीदुर्वासा ऋषि से कहते हैं-"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥" (भा० ९/४/६८) 'हे ब्रह्मण! साधुगण मेरे हृदय या प्राण हैं और मैं भी साधुओं का प्राणस्वरूप हूँ। वे मुझे छोड़ और कुछ भी नहीं जानते, मैं भी उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता।'

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-"प्रति जन्मे करि आशा चरणेर धूलि। नरोत्तमे करो दया आपनार बोलि॥" श्रील ठाकुर महाशय तो प्रेम की मूर्ति हैं। जो प्रकृत भक्त हैं, उन्हें कर्म-वाध्य जीवों की तरह बार-बार जन्म-मरण आदि का दुःख नहीं भोगना पड़ता। वे भगवान् के लीलाराज्य में भगवान् की साक्षात् सेवा पाकर धन्य होते हैं। भगवान् चाहें तो उन्हें भजनरसास्वादन के लिये एक-दो जन्म दे भी सकते हैं; वह भी कर्मबाध्य जीव की तरह दुःखमय नहीं। तथापि प्रेमिक दैन्यवश सोचते हैं-'जो कर्म किये हैं, उनसे बार-बार जन्म-मरणादि के क्लेश भोगना अनिवार्य है।' इसलिये वे जन्म-मृत्यु के नाश के लिये श्रीहरिचरणों में प्रार्थना नहीं करते; जन्म-जन्मान्तर श्रीहरि का भजन कर सकें-उनकी प्रार्थना की विषय-वस्तु यही होती है। श्रील ठाकुर महाशय ने प्रति जन्म में भक्ति की अमोघ साधक वैष्णव-पदधूलि और वैष्णवों की आत्मीयता की कामना की है॥१९॥

वैष्णवों के प्रति विज्ञप्ति

किरूपे पाइबो सेवा मुइँ दुराचार। श्रीगुरु वैष्णवे रति ना हैलो आमार॥
अशेष मायाते मन मगन हइलो। वैष्णवेते लेशमात्र रति ना जन्मिलो॥
विषये भुलिया अन्ध हैनु दिवानिशि। गले फाँस दिते फिरे माया से पिशाची॥
इहारे करिया जय छाड़ानो ना जाय। साधुकृपा बिना आर नाहिक उपाय॥
अदोषदरशि प्रभु! पतित उद्धार। एइ बार नरोत्तमे करहो निस्तार॥२०॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय दैन्यवश आत्मनिर्वेद दिखाते हैं-"किरूपे पाइबो सेवा मुइँ दुराचार। श्रीगुरु वैष्णवे रति ना हैलो आमार॥" श्रीराधामाधव की सेवा ही शुद्ध जीव की परम काम्य सम्पदा है। अनादि काल से कृष्ण-बहिर्मुख मायाबद्ध जीव भगवान् की सेवा भूलकर रूप-रस आदि विषयों की सेवा में लगकर अनादि काल से कर्मबाध्य दशा में संसार-भोग भोगता घूम रहा है। वह भगवान् की सेवा पाकर धन्य हो सके, इसीलिये श्रीहरि की साक्षात् करुणा श्रीगुरु-वैष्णव मूर्ति धारण कर विश्व में विचरण कर रही है। जो लोग भगवद्भक्तियुक्त जीवन प्राप्त कर चिरकृतार्थ होना चाहते हैं, उनके लिये भगवान् के करुणाघन विग्रह श्रीगुरु एवं महाभागवत श्रीवैष्णव की सेवा तथा उनके पादपद्मों में रति-मति नितान्त आवश्यक है। शास्त्रों में श्रद्धा रखनेवाले साधक का श्रीगुरु-वैष्णव की सेवा की अतिशयता से श्रवण-कीर्तनादि शुद्ध भजन सम्पन्न होता है। वही भजन जब उत्कण्ठामय होकर कामना-वासना-संस्काररूपी चित्त के मल को धोकर चित्त को कृष्णानुरागमय बना देता है, तब साधक का विशेष भजन सम्पादित होता है और साधक श्रीराधामाधव के चरणों में प्रेम एवं सेवा प्राप्तकर चिरकृतार्थ होता है। तभी श्रीनारदपञ्चरात्र में देखा जाता है-"वैष्णवाणां पराभक्तिराचार्याणां विशेषतः" अर्थात् कल्याणकामी साधक को वैष्णवों के चरणों में पराभक्ति एवं श्रीगुरुचरणों में विशेष भक्ति की आवश्यकता है।

प्रेम की मूर्ति श्रील ठाकुर महाशय भक्ति के अतृप्ति-स्वभाववश अपनी बात कहकर जगजन की दुरवस्था बता रहे हैं-"अशेष मायाते मन मगन हइलो। वैष्णवेते लेशमात्र रति ना जन्मिलो॥" श्री हरि की बहिरङ्गामाया या मिथ्या को सत्यरूप से प्रकाशित करनेवाली शक्ति अपनी आवरिकावृत्ति द्वारा चित्कण जीवस्वरूप के ऊपर सूक्ष्मदेह (मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार) एवं सप्तधातुयुक्त स्थूलदेह-यह द्विविध आवरण डालकर विक्षेपिकावृत्ति द्वारा जीव के चित्त को विषय-विक्षिप्त कर संसारभोग करा रही है। जीव भी अपना चिदानन्द स्वरूप भूलकर मायारचित देह-दैहिकादि में 'मैं' 'मेरा' बुद्धि स्थापित कर विविध संसार-क्लेश भोग रहे हैं। माया के इस मोहन प्रभाव से मायारचित वस्तुओं में जीव का मन मग्न है, कारण-यह अशेष माया है, अर्थात् जीव अपनी शक्ति से इसका शेष या अन्त या ओरछोर नहीं पा सकता। भगवान् ने अपने श्रीमुख से कहा है-"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।" (गीता ७/१४)-'हे अर्जुन! मेरी यह जीवमोहिनी गुणमयी माया अति दुरतिक्रमणीय है; जो लोग मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, वे ही इस मायासागर को पार कर सकते हैं।' भगवान् के चरणों में उन्मुखता हो, शरणागति हो, इसके लिये भगवान् की करुणा चाहिये।

यह करुणा भगवान् ने अपने हाथ में न रखकर भक्तों को सौंप दी है। इसलिये भक्तों में अवस्थान करनेवाली भगवान् की वह करुणा भक्तों की कृपा को वाहन बनाकर ही जीवों में संक्रमित होती है-स्वतन्त्र रूप से नहीं।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'उन्हीं वैष्णवों में मेरी लेशमात्र रति नहीं हुई; इसलिये मुझ-जैसे हतभाग्य जीव पर माया का अधिकार ही अक्षुण्ण रहा-"विषये भुलिया अन्ध हैनु दिवानिशि। गले फाँस दिते फिरे माया से पिशाची॥ इहारे करिया जय छाड़ानो ना जाय। साधुकृपा बिना आर नाहिक उपाय॥" अहर्निश शब्द-स्पर्श आदि विषयों में अथवा धन-सम्पदा आदि में स्वयं को भूलकर अन्धा हो गया, अर्थात् कृष्ण, कृष्णभक्ति और प्रेम-इन सब तत्त्व वस्तुओं को देखने या अनुभव करने की सामर्थ्य नहीं। अपने स्वरूप की उपलब्धि नहीं, देहावेश में मत्त हो गया। फलस्वरूप माया-पिशाचिनी नाना प्रकार के छल कर गले में फाँसी लगाकर हत्या करने के लिये चारों ओर घूम रही है। थोड़ा-सा सुयोग पाते ही निधन कर देगी। यह अति बलीयसी है, क्षुद्र जीवशक्ति अपनी स्वतन्त्र चेष्टा से इसके साथ प्रतिद्वन्द्विता कर नहीं जीत सकती, वैष्णवकृपा को छोड़ और उपाय नहीं।' माया को 'पिशाची' कहने का कारण है। जिस पर पिशाच आता है, जो व्यक्ति पिशाचाविष्ट होता है, वह पिशाच की बात ही बोलता है, उसी के अनुरूप आचरण करता है। जीव माया-पिशाचिनी द्वारा आविष्ट होकर मायिक देह-दैहिकादि में प्रबल आवेश होने के कारण अपना चिदानन्दमय स्वरूप भूल जाता है, देह के सुख में सुखी और दु:ख में दु:खी होकर संसार-यन्त्रणा भोगता घूमता है। साधु-महात्मा ही इस पिशाचिनी से मुक्ति दिलानेवाले वैद्य हैं। उनके उपदेश-मन्त्रों से माया-पिशाचिनी भाग जाती है। जीव भगवत्तत्त्व, माया तत्त्व, भक्तितत्त्व और स्वरूपतत्त्व विषयक ज्ञान प्राप्त कर भजन-सम्पदा उपलब्ध कर धन्य होता है।

"सेइ विभिन्नांश जीव दुइ तो प्रकार।
एक नित्यमुक्त एकेर नित्य संसार॥
'नित्यमुक्त'-नित्य कृष्णचरणे उन्मुख।
'कृष्णपारिषद' नाम भुञ्जे सेवा-सुख॥
'नित्यबद्ध'-कृष्ण हैते नित्य बहिर्मुख।
नित्यसंसारी भुञ्जे नरकादि दु:ख॥
सेइ दोषे मायापिशाची दण्ड करे तारे।
आध्यात्मिकादि तापत्रये जारि तारे मारे॥
काम क्रोधेर दास हइया तार लाथि खाय।
भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु वैद्य पाय॥
तार उपदेश-मन्त्रे पिशाची पालाय।
कृष्णभक्ति पाय तबे कृष्णनिकट जाय॥"

(चै० च०)

श्रील ग्रन्थकार कहते हैं-'हे वैष्णवठाकुर! मुझमें बहुत दोष हैं; मेरे दोषों पर दृष्टिपात करोगे, तो मेरा कभी निस्तार नहीं होगा। तुम अदोषदर्शी और 'प्रभु' अर्थात् दोषयुक्त व्यक्ति का भी उद्धार करने में परम समर्थ हो, इसलिये अहैतुक कृपाकर इस पतित जीव का निस्तार करो-"अदोषदरशि प्रभु! पतित उद्धार। एइ बार नरोत्तमे करहो निस्तार" ॥२०॥

दैन्यबोधिका प्रार्थना

हरि हरि, कि मोर करम अभाग।
विफले जीवन गेलो, हृदये रहिलो शेल, नाहि भेलो हरि अनुराग॥
यज्ञ दान तीर्थस्नान, पुण्यकर्म जप ध्यान, अकारणे सब गेलो मोहे।
बुझिलाम मने हेनो, उपहास हय जेनो, वस्त्रहीन आभरण देहे॥
साधुमुखे कथामृत, शुनिया विमल चित, नाहि भेलो अपराध कारण।
सतत असत् सङ्ग, सकलि हइलो भङ्ग, कि करिबो आइले शमन॥
श्रुति स्मृति सदा रबे, शुनियाछि एइ सबे, हरिपद अभय शरण।
जनम लइया सुखे, कृष्ण ना बोलिनु मुखे, ना करिनु से रूप भावन॥
राधाकृष्ण दुहुँ पाय, तनु मन रहु ताय, आर दूरे जाउक वासना।
नरोत्तमदासे कय, आर मोर नाहि भय, तनु मन सौपिनु आपना॥२१॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय इस दैन्यबोधिका प्रार्थनापद में साधारण मायाबद्ध मानव की दुर्दशा का सटीक चित्राङ्कन कर श्रीराधामाधव के चरणों में शरणागत हो रहे हैं। पहले कहते हैं-"हरि हरि, कि मोर करम अभाग। विफले जीवन गेलो, हृदये रहिलो शेल, नाहि भेलो हरि अनुराग।" हाय! हाय! मेरा कैसा दुर्भाग्यपूर्ण कर्मफल, कैसा दुरदृष्ट! यह दुर्लभ मानवजीवन विफल हुआ, काँटे की चुभन की तरह हृदय में दु:ख रहा-हरिभजन में अनुराग नहीं हुआ। कर्मफल या अदृष्ट के साथ हरिभजन का कोई सम्पर्क नहीं, यह केवल महत् कृपाजनित सुकृति-सापेक्ष है। इसलिये कर्मफल या दुर्भाग्य की बात केवल आक्षेप से भरकर ही कही है। मानवदेह श्रीहरिभजन के निमित्त ही है; भजनविहीन मानव जीवन व्यर्थ है। "तरव: किं न जीवन्ति भस्त्रा: किं न शसन्तुत। न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामे पशवोहपरे॥" (भा० २/३/१८) यदि कोई कहे कि बचे रहना ही जीवन की सार्थकता है, तो इसका उत्तर है-क्या वृक्ष जीवित नहीं है? एक-एक वृक्ष बहुत समय तक जीवित रहता है। यदि जीवित रहना ही सार्थकता है, तो वृक्ष-जीवन ही सार्थक है। यदि कोई कहे कि नि:श्वास-प्रश्वास आदि जीवन के कोई लक्षण वृक्ष अनुभव नहीं करते, तो उत्तर है-क्या धौंकनी साँस नहीं लेती-छोड़ती? यदि कोई कहे कि वह क्या आदमी की तरह उत्तम द्रव्य खाती-पीती है, मैथुन आदि करती है? इसका उत्तर है-क्या ग्राम्य पशु नहीं खाते, मैथुन नहीं करते? उनकी भोजनादि की सामर्थ्य तो मनुष्य से कहीं अधिक है। इसलिये भजनविहीन मानव-जीवन निष्फल या पशुजीवनतुल्य है।

श्रील ठाकुर महाशय भजनविहीन निष्फल जीवन के लिये खेद करते हैं–"विफले जीवन गेलो, हृदये रहिलो शेल, नाहि भेलो हरि–अनुराग।" मुझ–जैसे जीव को भजन–विहीन जीवन बीतने पर भी उसके लिये किसी प्रकार के दु:ख का अनुभव नहीं। महाजनगण अपनी बात कहकर जगत् के साधकों को शिक्षा दे रहे हैं–जो भजन को प्रेम कर पाये हैं, वे भजन करने पर भी भक्ति के अतृप्ति–स्वभाववश भजन का अभाव अनुभव करेंगे और उसके लिये चित्त में थोड़े–बहुत दु:ख का भी अनुभव होगा। मुझ–जैसे जीव के चित्त–मन में लाभ पूजा प्रतिष्ठा देह–दैहिकादि प्राकृत वस्तुओं के अभाव में सदा ही कितना दु:ख जागता है, पर भजन का अभाव या तज्जनित दु:ख किसी दिन अनुभूत नहीं होता। जितना कर रहे हैं, उसी से तृप्त हैं; भजन भेड़चाल से चल रहा है। यह प्रकृत भजन–जीवन का स्वभाव नहीं। उसमें तो प्राणों में थोड़ा–बहुत भजन का अभाव जगेगा ही, चित्त में यथासम्भव दु:ख का भी उद्रेक होगा। भजननिष्ठ साधक के मन में सतत ही यह बात जगेगी–'भजन नहीं कर पाया, हाय! ऐसा दुर्लभ जीवन व्यर्थ ही बीत गया, मेरी क्या गति होगी!' यही क्रमश: दैन्य, आर्ति, उत्कण्ठा जगाकर साधक को शीघ्र ही प्रेम के राज्य में ले जायेगी। जिसे भजन में तृप्ति मिल गई, उसका अग्रगति का पथ रुद्ध हो गया, यह जानना होगा।

ठाकुर महाशय कहते हैं–"नाहि भेलो हरि अनुराग"। तृष्णामय अनुराग नित्य अनुभूत वस्तु में नयी–नयी विचित्रता अनुभव कराता है। अनुरागमय भजनजीवन प्राप्त होने पर एक ओर साधक निरवधि भजन करके भी भजनपिपासा से अधीर होगा, तो दूसरी ओर उसे श्रीहरि के नाम रूप गुण लीलादि का माधुर्य प्रति क्षण नवनवायमान रूप में अनुभूत होगा।

किसी के मन में यह बात आ सकती है कि भजन न करने से ही जीवन विफल होने का क्या कारण? याग–यज्ञ, दान, पुण्यतीर्थस्नान, पुण्यकर्म, जप, ध्यान आदि से क्या मानव जीवन सफल नहीं होगा? श्रील ठाकुर महाशय अपनी बात कर ऐसे प्रश्न का उत्तर देते हैं–"यज्ञ दान तीर्थस्नान, पुण्यकर्म जप ध्यान, अकारणे सब गेलो मोहे। बुझिलाम मने हेनो, उपहास हय जेनो, वस्त्रहीन आभरण देहे॥" जीव नित्यकृष्णदास है, कृष्णबहिर्मुखता दोष ही उसके संसाररोग का निदान है। श्रीकृष्णदास्य या कृष्णसेवा ही उसके स्वरूप की काम्य वस्तु है; इसे छोड़ अन्य सब जीवस्वरूप की कपटता है, और कुछ नहीं। भक्ति या भजन ही श्रीकृष्णदास्य या सेवा पाने का एकमात्र उपाय है। श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है (भा० ११/१४/२०) : "न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥" 'हे उद्धव! प्रगतिशील साधनभक्ति मुझे जितना वशीभूत कर सकती है, उतना योग, सांख्य, धर्म, वेदपाठ, तपस्या, त्याग आदि नहीं कर सकते।' प्रह्लादजी ने कहा है–"प्रियतेहमलया भक्त्या हरिरण्यद्विड़म्बनम्" (भा० ७/७/५२) अर्थात् 'शुद्धा या निर्गुणा भक्ति से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं, भक्ति को छोड़ अन्यान्य सभी विडम्बनामात्र है।' "विड़म्बनं नटनमात्रम्' (श्रीधर स्वामी) "विड़म्बनं पुंस: प्रत्युत तिरस्कार कारणमित्यर्थ:" (श्रील विश्वनाथ) अर्थात् उक्त श्लोकांश के 'विड़म्बनम्' शब्द की टीका में श्रीधरस्वामी ने लिखा है–'भक्ति के अतिरिक्त ज्ञानयोग, यागयज्ञ, पुण्य कर्म आदि सभी अभिनेता का अभिनय मात्र है।' श्रील विश्वनाथ ने लिखा है–'वस्तुत: भक्ति को छोड़ वे सब जीव के तिरस्कार के ही योग्य हैं।' "ज्ञान कर्म योग धर्मे

नहे कृष्ण वश। कृष्णवश हेतु एक प्रेमभक्तिरस॥" (चै० च०) इसलिये यज्ञ, दान, तीर्थस्नान, पुण्यकर्म आदि सभी अकारण हैं; वस्त्रहीन नङ्गा व्यक्ति यदि नाना अलङ्कारों से भूषित हो, तो वह उसके उपहास का ही कारण बनता है। उसी प्रकार भक्ति के बिना सभी आत्मा के लिये उपहास का हेतु होता है, यह जानना होगा।

फिर कहते हैं-"साधु मुखे कथामृत, शुनिया विमल चित, नाहि भेलो अपराध कारण।" साधु-मुख से हरिकथामृत श्रवण करने से चित्त-शुद्धि, कथारस के आस्वादन और भक्तिप्राप्ति की फलश्रुति श्रीमद्भागवत में देखते हैं। भगवान् श्रीकपिलदेव अपनी माता देवहूति से कहते हैं (भा० ३/२५/२४)-

"सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥"

'हे मातः! साधुगण का प्रकृष्ट सङ्ग मिले, तो मेरी महिमासूचक हृत्कर्णरसायन कथा की अवतारणा होती है; उस कथा के श्रवण करने से अविद्या-निवृत्ति के उपायस्वरूप क्रमशः श्रद्धा रति एवं भक्ति मुझमें उत्पन्न होती है।' तात्पर्य यही है कि मनुष्य जब साधुसङ्ग पाकर धन्य होता है, तो साधुमुख से भगवान् की पतितपावनता आदि की अलौकिक चरितकथायें सुनते-सुनते भगवच्चरणों में उसकी दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है। उन सब कथाओं से चित्त निर्मल होता है और कथायें हृत्कर्णरसायन बन जाती हैं। क्रमशः निष्ठा रुचि आसक्ति स्तर पार कर साधक रति एवं प्रेम प्राप्त कर धन्य होता है। किन्तु महद् अवज्ञा आदि अपराधों के रहते साधमुख से हरिकथा सुनकर भी चित्त की कालिमा दूर नहीं होती; फलस्वरूप कथा-श्रवण के उल्लिखित फल से श्रोता वञ्चित रहता है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-अपराधों के कारण साधुमुख से हरिकथा सुनकर चित्त तो निर्मल हुआ ही नहीं, ऊपर से "सतत असत् सङ्ग, सकलि हइलो भङ्ग, कि करिबो आइले शमन॥" श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने कहा है-"असत्सङ्ग त्याग एइ वैष्णव-आचार। स्त्री-सङ्गी एक असाधु-कृष्णाभक्त आर॥" (चै० च०) श्रीकृष्ण का अभक्त ही मुख्य असाधु है-"भगवद्भक्तिहीना ये मुख्याहसन्तस्त एव हि। तेषां निष्ठा शुभा क्वापि न स्यात् सच्चरितैरपि॥" (ह० भ० वि० १०/३०१) अर्थात् 'स्त्रीसङ्गी और श्रीकृष्ण के अभक्त में भक्तिहीन लोग ही मुख्य असत् हैं; समस्त दोषों के आश्रय होने के कारण उनकी गति कभी शुभ नहीं होती।' इन सब असतों के साथ सभी भङ्ग अर्थात् नष्ट हो जाता है। श्रीकपिलदेव ने कहा है (भा० ३/३१/३३-३५)-

"सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीयशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद् याति संक्षयम्॥
तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु योषितक्रीड़ामृगेषु च।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु खण्डितात्मस्वसाधुषु॥
न तथास्य भवेद्बन्धो मोहश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥"

'हे मातः! जिनके सङ्गफल से सत्य, शौच, दया, मौन, बुद्धि, लज्जा, सम्पदा, यश, क्षमा, शम (अन्तरेन्द्रियों का संयम), दम (बहिरेन्द्रियों का संयम), सौभाग्य आदि समस्त गुण सम्पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाते हैं, उन अशान्त मूढ़ स्त्रियों के खिलौने, देह में आत्मबुद्धि रखनेवाले या अस्थिरचित्त एवं शोचनीय व्यक्तियों का सङ्ग कदापि मत करना। पुरुष को स्त्रीसङ्ग और स्त्रीसङ्गी के सङ्ग से जैसा मोह और संसार-बन्धन होता है, वैसा अन्य लोगों के सङ्ग से कदापि नहीं होता।' श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'अविरत असत् सङ्ग से सभी विनष्ट हो गया, अब मरणकाल भी आने को है; यम आयेगा तो क्या उपाय करूँगा, इसी चिन्ता से अधीर हूँ।'

फिर कहते हैं-"श्रुति स्मृति सदा रवे, शुनियाछि एइ सबे, हरिपद अभय शरण। जनम लइया सुखे, कृष्ण ना बोलिनु मुखे, ना करिनु से रूप भावन॥ राधाकृष्ण दुँहु पाय, तनु मन रहु ताय, आर दूरे जाउक वासना। नरोत्तम दासे कय, आर मोर नाहि भय, तनु मन सौंपिनु आपना॥"

'श्रुति स्मृति सदा रवे'-श्रुति स्मृति आदि सर्वदा 'रवे' अर्थात् उच्चस्वर से घोषणा करती हैं कि श्रीहरि के चरण ही जीव की एकमात्र अभय शरण हैं। श्रीमद्भागवत (१०/३/२७) में देवकीस्तव में देखते हैं-

"मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्, लोकान् सर्वान् निर्भयं नाध्यगच्छत्।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य, स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति॥"

'हे भगवन्! मर्त्यमानव मृत्युरूपी कालसर्प से डरकर समस्त लोकों में पलायन करके भी निर्भय नहीं होता, परन्तु हे आद्य! वह जब किसी परम स्वतन्त्र महत् कृपा के फलस्वरूप तुम्हारे पादपद्मों में शरण लेता है, तो स्वस्थ चित्त से शयन करने में समर्थ होता है, मृत्यु उसके पास से भाग जाती है।'

श्रील ठाकुर महाशय अपनी बात कहकर जगजन को शिक्षा दे रहे हैं-'ऐसा भजनोपयोगी मानवजन्म पाकर ऐसे सुख का कृष्णभजन (मुँह से कृष्णनाम लेने से ही कृष्णकृपा प्राप्त होती है-वही सुखमय कृष्णभजन) नहीं किया, मुँह से कृष्णनाम नहीं बोला; उस मधुर रूप का चिन्तन नहीं किया। श्रीराधाकृष्ण-चरणों में मेरे देह-मन समर्पित रहें-कृष्णेतर वासनायें दूर हों। इस समर्पण के बाद मुझे और कोई भय नहीं'॥२१॥

साधकदेहोचित श्रीवृन्दावनवास-लालसा

हरि हरि! आर कि एमन दशा हबो।
ए भव संसार त्यजि, परम आनन्दे मजि, आर कबे व्रजभूमे जाबो॥
सुखमय वृन्दावन, कबे हबे दरशन, से धूलि माखिबो कबे गाय।
प्रेमे गदगद हइया, राधाकृष्ण नाम लइया, कान्दिया बेड़ाबो उभराय॥
निभृत निकुञ्जे जाइया, अष्टाङ्गे प्रणाम हइया, डाकिबो हा राधानाथ बोलि।
कबे यमुनार तीरे, परश करबो नीरे, कबे पिबो करपुटे तुलि॥

आर कबे एमन हबो, श्रीरासमण्डले जाबो, कबे गड़ागड़ि दिबो ताय।
वंशीवट छाया पाइया, परम आनन्द हइया, पड़िया रहिबो तार छाय॥
कबे गोवर्द्धन गिरि, देखिबो नयन भरि, कबे हबे राधाकुण्डे वास।
भ्रमिते भ्रमिते कबे, ए देह पतन हबे, कहे दीन नरोत्तम दास॥२२॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय इस पद्य से आरम्भ कर एक के बाद एक पाँच पद्यों में अभीष्टचरणों में साधकदेहोचित श्रीवृन्दावनवास की लालसामयी प्रार्थना प्रस्तुत कर रहे हैं। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने रागानुगीय साधकों को अभीष्टसिद्धि के लिये सतत व्रजवास का परामर्श दिया है-"कुर्याद्वासं व्रजे सदा" (भ० र० सि०)। भावुक रागसाधक को वृन्दावन-वास से अनुरागमय भजनसम्पदा प्राप्त होती है। श्रीवृहमद्भागवतामृत में इसका हेतु दिखाया गया है (२/५/२४२-२४३)-

"तत्रैवोत्पद्यते दैन्यं तत्प्रेमापि सदा सताम्।
तत्तच्छून्यमिवारण्यसरिद्गिर्यादि पश्यताम्॥
सदा हा हा रवाक्रान्त-वदनानां तथा हृदि।
महासन्तापदग्धानां स्वप्रियं परिमृग्यताम्॥"

उद्धवजी ने श्रीनारद और गोपकुमार से कहा-"भौमव्रज में ही व्रजरससाधकों में शून्यमय अरण्य, नदी, गिरि-समूह के दर्शन कर विपुल दैन्य का उदय होता है और तदनुरूप प्रेम भी उत्पन्न होता है। वहाँ वे लोग विपुल सन्तापदग्ध चित्त एवं व्याकुल प्राणों से उच्च स्वर से हाहाकार करते हुए परम प्रिय अभीष्टदेव को खोजते घूमते हैं।"

जो रागसाधक देह से व्रजवास करने में अक्षम हैं; उन्हें मन से व्रजवास का या व्रजवास की लालसा का पोषण करने का उपदेश दिया गया है। श्रील ठाकुर महाशय व्रज में आये थे, पर श्रीमत् जीव गोस्वामिपाद के आदेश और इच्छा से भक्तिप्रचार के लिये बङ्गदेश लौट गये। वहाँ रहते हुए उन्होंने महा अनुरागमय व्रजवास की जो लालसा व्यक्त की है, उसके श्रवण-कीर्तन से एक ओर वृन्दावनवासी साधकों का अनुरागमय व्रजवास सुसिद्ध होगा, तो दूसरी ओर जो देह से व्रजवास करने में अक्षम हैं उनके चित्त में भी व्रजवास की अनुरक्ति या व्रजभक्ति जगेगी और वह उन्हें व्रजवास का फल प्रदान कर धन्य करेगी।

पहले कहते हैं-"हरि हरि! आर कि एमन दशा हबो। ए भव-संसार त्यजि, परम आनन्दे मजि, आर कबे व्रजभूमे जाबो॥" श्रील राधामोहन ठाकुर ने अपने पदामृतसमुद्र में उद्धृत इस पद्य के 'हरि हरि!' अंश की महाभावानुसारिणी टीका में लिखा है-"हरि हरि इति खेदे सम्बोधने वा हे हरे! इति" अर्थात् श्रील ठाकुर महाशय व्रजवास के अभाव में अति खेद के साथ कहते हैं-'हरि हरि!' या हाय, हाय! क्या मेरी ऐसी दशा होगी? अथवा अभीष्ट को सम्बोधित कर कहते हैं-'हे हरे!' क्या मेरी ऐसी दशा होगी? मैं कब यह भवसंसार त्यागकर परम आनन्द में डूबकर वृन्दावन जाऊँगा?

श्रील ठाकुर महाशय जब यह कहते हैं-"ए भवसंसार त्यजि, परम आनन्दे मजि, आर कबे व्रजभूमे जाबो", तो समझना होगा कि व्रजधाम भव-संसार में अवस्थान करने पर भी संसार के अन्तर्गत नहीं है। पृथ्वी पर अवस्थान करते हुए भी श्रीधाम सर्वव्यापी और विभु है, तभी भगवान् की अचिन्त्यशक्ति से चिन्मयलोक में और पृथ्वी पर एक साथ विद्यमान है। यदि व्रजधाम प्रेमभूमि न होता, तो ब्रह्मा उद्धव आदि व्रज में तृणगुल्म आदि निकृष्ट जन्म के लिये प्रार्थना क्यों करते? (श्रीमद्भागवत १०/१४/३४ और १०/४७/६१) श्रीमत् जीव गोस्वामिचरण ने भौमव्रज को सभी का 'दृश्यमान प्रकाश' कहा है। यह प्रकाश जीवों पर करुणा करके ही पृथ्वी को स्पर्श कर या पृथ्वी का धर्म अङ्गीकार कर विश्व में अवस्थित है। यदि कोई दुष्पार सिन्धु के दूसरे पार से किसी का आह्वान करता है, तो वह आहूत (पुकारा गया) व्यक्ति वहाँ नहीं जा सकता; किन्तु यदि वे सज्जन जलयान लेकर इस पार आते हैं, तभी उनकी समधिक करुणा प्रकाशित होती है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण भवसागर के उस पार चिन्मयलोक में जाने के लिये जीवों का नाना प्रकार से आह्वान कर रहे हैं; जीव को अक्षम जानकर उन्होंने व्रजधाम को जलयान की तरह भवसिन्धु के किनारे लगा रखा है जिससे वह इसका आश्रय लेकर अनायास ही भवसागर के उस पार श्रीकृष्ण के निकट जा सके। भला कौन बुद्धिमान साधक होगा, जो प्राकृत-अप्राकृत के महामिलन केन्द्र इस धाम का आश्रय ग्रहणकर धन्य होने की इच्छा न करेगा? श्रीमत् प्रबोधानन्द सरस्वतिपाद ने लिखा है (वृ० म० ५/८५)-

"श्रीवृन्दावनमेव पावनतमं विज्ञानमुख्याखिलात्
श्रीवृन्दावनमेव साधनतमं सर्वार्थलब्धौ हठात्।
श्रीवृन्दावनमेव साध्यपरमोत्कर्षैक-विश्रामभूः
श्रीवृन्दावनमात्मकोटि परमप्रेष्ठं न सेवेत कः॥"

'श्रीवृन्दावन ही अखिल मुख्य विज्ञानों से भी पावनतम है, अर्थात् परम पवित्र मुख्य मधुर-रसानुभूति का एकमात्र धाम वृन्दावन है; श्रीवृन्दावन ही अनायास सर्वार्थ-प्राप्ति का साधनतम या महासाधन है; श्रीवृन्दावन ही साध्य परमोत्कर्ष की या साध्यसीमा की एकमात्र विश्रामभूमि है-आत्मा से कोटि गुने परम प्रिय ऐसे श्रीवृन्दावन की सेवा करना किसके लिये उचित नहीं?'

फिर कहते हैं-"सुखमय वृन्दावन, कबे हवे दरशन, से धूलि माखिबो कबे गाय। प्रेमे गदगद हइया, राधाकृष्ण नाम लइया, कान्दिया बेड़ाबो उभराय॥"

वृन्दावन सुखमय है। 'सुख' शब्द में प्राचुर्य के अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् प्रचुर सुख या आनन्द का स्थान है यह वृन्दावन। यह सुख प्राकृत विश्व के जड़ीय सुख की तरह नहीं, यह चिन्मय सुख या अप्राकृत आनन्द है। सौन्दर्य में, माधुर्य में, रस में, कृपा में, उदारता में वृन्दावन अनन्त है। अनन्त इन्द्रियों से इसकी अनन्त माधुरी आस्वादन करके भी तृष्णा शान्त नहीं होती। जितनी पिपासा, उतना आस्वादन-जितना आस्वादन, उतनी पिपासा। श्रील प्रबोधानन्दपाद ने लिखा है-

"सुरूपेणानन्तं मधुरिमभरेणान्तरहितं,
रुचानन्तं कृष्णप्रणयरसतोहप्यन्तरहितम्।
कृपौदार्यानन्तं निजपरमहिम्नान्तर हितं
तदानन्तं भाग्यं भजति यदि वृन्दावनमिदम्॥
वीक्षे दिव्याक्षिलक्षैः स्थिरचरसुषमा सौरभं घ्राणलक्षै-
र्जिघ्राम्याकर्णये च श्रवणवितितिभिस्त्वद्-गुणानत्युदारान्।
पत्कोट्या तय्यटेयं यदि च करशिरः कोटिभिस्त्वां नमेयं
नो तृप्तिर्मे तथापि प्रियतमपरमानन्द-वृन्दावनाद्य॥"

(वृ० म० ४/५२-५३)

"जो सौन्दर्य में अनन्त, माधुर्य में अनन्त, कान्ति-विस्तार में अनन्त, कृष्णप्रणयरस में भी अनन्त, कृपा और उदारता में अनन्त, अपनी महिमा में भी अनन्त है-इस अनन्त सुखमय श्रीवृन्दावन का भजन कर पाऊँ, तो मेरे ..... सौभाग्य का ही उदय होगा।

हे प्रियतम परमानन्दमय वृन्दावन! यदि मैं अपने लाख-लाख दिव्य चक्षुओं से भी तुम्हारे स्थावर-जङ्गम की सुषमा का दर्शन करूँ, लाख-लाख नासिकाओं से तुम्हारी सुगन्ध का घ्राण करूँ, बहुत-से कानों से तुम्हारी अति उदार गुणराजि की बातें सुनूँ, कोटि-कोटि पैरों से तुम्हारा पर्यटन कर पाऊँ और कोटि-कोटि हाथों-सिरों के संयोग से भी तुम्हें प्रणाम कर सकूं-तब भी मेरी तृप्ति नहीं होगी।"

श्रील ठाकुर महाशय उसी सुखमय वृन्दावन को दर्शन-कामना कर व्रजरज शरीर पर मलना चाहते हैं-"से धूलि माखिबो कबे गाय।" "धूलि नय धूलि नय, गोपीपदरेणु। जेइ धूलि मेखेछिलो नन्दसुत कानु॥" (महाजन-पद) श्रीउद्धव ब्रह्मा आदि के लिये स्पृहणीय यह व्रजरज शरीर से मलकर कौन भाग्यवान् अपने को धन्य नहीं समझता? श्रील प्रबोधानन्द ने लिखा है-

"श्रीवृन्दावनवासि - पादरजसा - सर्वाङ्ग-
मागुण्यठयन् श्रीवृन्दावनमेकमुज्ज्वलतमं पश्यन् समस्तोपरि।
श्रीवृन्दावनमाधुरिभिरनिशं श्रीराधाकृष्णयो-
रप्यावेशमनुस्मरन्नधिवस श्रीधाम - वृन्दावनम्॥"

अर्थात् 'श्रीवृन्दावनवासियों की चरणरज से सर्वाङ्ग लिप्त कर, एकमात्र उज्ज्वलतम श्रीवृन्दावन को ही सर्वोपरि विद्यमान जानकर, श्रीवृन्दावन-माधुर्य में सर्वदा श्रीराधाकृष्ण का आवेश अनुस्मरण कर श्रीधाम वृन्दावन में वास करो।'

श्रीवृन्दावन प्रेमानुभूति का स्थान है। श्रीश्रीराधाकृष्ण की रसमय लीलाभूमि व्रजधाम-यहाँ सर्वत्र ही लीलारस का उद्दीपन है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'प्रेमरुद्ध कण्ठ से श्रीराधाकृष्ण का नाम लेता उच्च स्वर

से रोता हुआ श्रीवृन्दावन में कब घूमूँगा।' 'हा राधे! हा राधानाथ! कहाँ हो, दर्शन दो। यही तो है तुम्हारी नित्यलीलाभूमि वृन्दावन; यहीं तुम्हारी वह मधुरातिमधुर लीला चल रही है। तुम दोनों किस कुञ्ज में विहार कर रहे हो, कृपा कर एक बार दर्शन देकर प्राणरक्षा करो"-भावुक भक्त श्रीवृन्दावन के दर्शन कर इस प्रकार की भाव-दशा पाकर व्रज में सर्वत्र अपने अभीष्टदेव को खोजते घूमते हैं। इसीलिये तो वृन्दावन आते हैं। उसी प्रेमधाम वृन्दावन में वास करके भी मुझ-जैसे अपराधी जीव को कोई अनुभव नहीं। खाना-पहनना, वेशभूषा, आमोद-प्रमोद सभी है-यन्त्र की तरह गतानुगतिकभाव से भजन चल रहा है। धामापराध, नामापराध, वैष्णवापराध ने मुझ-जैसे हतभाग्य जीव के चित्त को कैसा रिक्त कर दिया है-इन महाजन-वाणियों के आलोक में वह सुस्पष्ट रूप से दीखता है।

श्रील ठाकुर महाशय व्रज की लीलास्थलियों में कैसी भावचेष्टायें प्रकट कर परिभ्रमण करेंगे-इस पद्य के अगले अंश में यही बताया है-"निभृत निकुञ्जे जाइया..... कहे दीन नरोत्तम दास।" श्रीवृन्दावन के निभृत निकुञ्जों में पहुँचकर श्रीश्रीराधामाधव के रहस्यमय लीला-विलास की स्मृतियाँ भावुक साधक के प्राणों में आलोड़न की सृष्टि करती हैं। साधक भावावेश में यहाँ साष्टाङ्ग प्रणत हो 'हा राधानाथ! कहाँ हो, दर्शन दो' कहकर अश्रुजल से भीगता अभीष्ट का आह्वान करता है। कभी यमुना-तट पर जाता है, श्रीश्रीराधामाधव की मधुर लीला की शत-शत छवियाँ उसके स्मृतिपटल पर फूट उठती हैं। वह भावावेश में यमुनाजल स्पर्श करता है। श्रीराधामाधव के जलविहार की स्मृति से हृदय भावाप्लुत हो जाता है। श्रीराधारानी के कुचों की कस्तूरी से काला हुआ पवित्र यमुनाजल करपुट से पीकर साधक स्वयं को धन्य समझता है।

फिर रासमण्डल में पहुँचता है, तो उसके चित्त में रासलीला की मधुर स्मृति विपुल आलोड़न जगाती है। वह अश्रुजल से भीगता-भीगता सोचता है-'यहीं मेरी ईश्वरी ने श्यामसुन्दर के साथ रासनृत्य किया है। यहीं शतकोटि गोपियों के साथ श्रीश्रीराधामाधव ने रासरसमाधुरी का आस्वादन किया है।' साधक पुलकित देह से उस रज में लोटपोट करता है। बंशीवट जाकर परमानन्द से श्यामसुन्दर का मोहन वंशीनाद, शतकोटि गोपियों का आगमन, श्यामसुन्दर और गोपियों की परस्पर उक्ति-प्रत्युक्ति स्मरण कर भावाविष्ट हो बंशीवट की छाया में पड़ा रहता है।

फिर कभी गिरिराज गोवर्धन आकर भाव में डूबकर गिरिराज की शोभा दर्शन करते-करते गिरिराज-परिक्रमा करता है। वहाँ श्रीराधामाधव की शत-शत लीला-छवियाँ उसके चित्त में फूटती हैं। श्रीराधाकुण्ड पर कुण्डशोभा देख विमोहित होता है। "कुण्डेर माधुरी जेनो राधार मधुरिमा। कुण्डेर महिमा जेनो राधार महिमा॥" (चै० च०) कुण्डलीला की मधुस्मृति और कुण्डमाधुरी से प्रलुब्ध हो साधक श्रीकुण्ड-वास का सङ्कल्प करता है। कभी भावावेश में द्वादश वनों में परिभ्रमण करता है, उन स्थानों की लीला दर्शन कर लीलामय-लीलामयी के दर्शन और सेवा के लिये उसके प्राण व्याकुल हो उठते हैं। श्रीश्रीराधामाधव के विरह में दैन्य, आर्ति, उत्कण्ठा से वह रह-रहकर मोहदशा को प्राप्त होता है। श्रीश्रीराधामाधव की करुणा उतर आती है। श्रीमती प्रिय किङ्करी को सेवा के लिये श्रीचरण-सान्निध्य में ले लेती हैं। साधक की साधकदेह पवित्र व्रजरज में मिल जाती है॥२२॥

श्रीवृन्दावन-वास की लालसा

हरि हरि! आर कबे पालटिबे दशा।
ए सब करिया वामे, जाबो वृन्दावन धामे, एइ मने करियाछिं आशा॥
धन जन पुत्र दारे, ए सब करिया दूरे, एकान्त हइया कबे जाबो।
सब दुःख परिहरि, वृन्दावने वास करि, माधुकरि मागिया खाइबो॥
यमुनार जल जेनो, अमृत समान हेनो, कबे पिबो उदर पूरिया।
कबे राधाकुण्ड जले, स्नान करि कुतुहले, श्यामकुण्डे रहिबो पड़िया॥
भ्रमिबो द्वादश वने, रसकेलि जे जे स्थाने, प्रेमावेशे गड़ागड़ि दिया।
सुधाइबो जने जने, व्रजवासिगण स्थाने, निवेदिबो चरणे धरिया॥
भोजनेर स्थान कबे, नयनगोचर हबे, आर जतो आछे उपवन।
तार मध्ये वृन्दावन, नरोत्तमदासेर मन, आशा करे युगलचरण॥२३॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय यहाँ सब कुछ त्यागकर श्रीवृन्दावन-आगमन और अनुरागमय व्रजवास की लालसा व्यक्त कर रहे हैं। पहले कहते हैं-"हरि हरि! आर कबे पालटिबे दशा। ए सब करिया वामे, जाबो वृन्दावन धाम, एइ मने करियाछि आशा॥" 'हरि हरि! हाय हाय! अथवा हे हरे! मेरी इस अवस्था में परिवर्तन और कब होगा; कब धन-जन गृहादि सब त्यागकर वृन्दावन जाऊँगा-मन में यही आशा की है।' साधक वर्तमान में जिस अवस्था में है, उसमें परिवर्तन होना आवश्यक है। यदि प्रगतिशील भजन-जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आता, तो भक्तिसाधन निर्जीव लगता है। असत् सङ्ग, अपराध आदि चित्त-कालिमा से भक्ति में अग्रगति का मार्ग रुक जाता है। श्रीगुरु वैष्णव की कृपा का आश्रय लेकर सत्सङ्ग में निरपराध हो भजन कर साधक को अग्रसर होना है। श्रील ठाकुर महाशय की वाणी 'आर कबे पालटिबे दशा' से साधक को यही सारशिक्षा मिलती है।

श्रील ठाकुर महाशय धन-सम्पदा आदि से विमुख होकर वृन्दावन धाम आने का सङ्कल्प करते हैं। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है-

"न कुरु न कुरु मिथ्या देहगेहाद्यपेक्षां मृतिमखिलपुमर्थ-भ्रंशिकां विद्धि मूर्ध्नि।
चल चल सुहृदद्यैवाभिमुख्येन वज्रादपि च हृदि कठोरः श्रील वृन्दावनस्य॥
अद्यैव मूर्ख चल सर्वमिदं विहाय वृन्दावनाय सकलार्थ - सुरद्रुमाय।
श्रीराधिका-सुरतनाथ - विशुद्धभाव सत्राय मैव कुरु कृत्यसमाप्त्यपेक्षाम्॥"

(वृ० म० १/७०-७१)

'मिथ्या देह-गेहादि से और कभी अपेक्षा मत करना, अखिल पुरुषार्थनाशक मृत्यु मस्तक पर खड़ी है। हे बन्धो! हृदय को वज्र से भी कठोर कर अभी श्रीवृन्दावन के लिये चल पड़ो। अरे मूर्ख! अभी इन सब

(विषय-सम्पदादि) का परित्याग कर सर्ववाञ्छा-कल्पतरु श्रीराधा-सुरतनाथ के विशुद्ध-भावसत्र (विशुद्धभाव का सुलभ प्राप्तिस्थल) श्रीवृन्दावन की यात्रा करो। आरम्भ किये कार्यों की समाप्ति तक अपेक्षा मत करना।'

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-"एइ मने करियाछि आशा।" रति और प्रेम स्तर पर अभीष्ट के दर्शन एवं सेवाप्राप्ति का दृढ़ विश्वास (आशाबन्ध) हृदय में प्रबल हो जाता है-"उद्धवदास, आश करे हेरइते, सखीसह युगलकिशोर॥" साधनदशा में भजन का आशाबन्ध साधक के हृदय में जगता है। श्रील ठाकुर महाशय प्रेम की मूर्ति होकर भी दैन्यवश या भक्ति के अतृप्ति-स्वभाव के वश स्वयं को साधारण साधक समझकर भजन का आशाबन्ध व्यक्त कर रहे हैं।

फिर कहते हैं-"धन जन पुत्र-दारे, ए सब करिया दूरे, एकान्त हइया कबे जावो। सब दु:ख परिहरि, वृन्दावने वास करि, माधुकरि मागिया खाइबो॥" धन, जन, पुत्र, स्त्री-इन सबको दूर से त्यागकर सुधी एकनिष्ठ होकर वृन्दावन आयेंगे। श्रीपाद प्रबोधानन्द ने लिखा है-

"नाहन्ता-ममते वृथा कुरु सखे! देहालयस्त्र्यादिके
छित्वा दुर्जरशृङ्खलं गुरुगिरा ते मोहमात्रोदितम्।
वृन्दारण्यमुपेत्य शीघ्रमखिलानन्दैकसाम्राज्यसत्-
कन्दं कन्दफलादि वृत्तिरनिशं तन्नाथलीलां स्मर॥"

(वृ० म० १/६९)

'हे सखे! देह, घर, स्त्री, पुत्र आदि में और वृथा 'मैं' 'मेरा' बुद्धि मत रखना। मोहमात्रमूलक इस दुर्जर शृङ्खला को गुरुवाक्य से काटकर अखिल सुख-साम्राज्य के उत्तम बीजस्वरूप श्रीवृन्दावन में शीघ्र पहुँचकर श्रीवृन्दावनचन्द्र की लीला का निरन्तर स्मरण करो।'

एकनिष्ठ होकर श्रीवृन्दावन गमन के विषय में लिखते हैं-

"राज्यं निष्कण्टकमपि परित्यज्य दिव्याश्च रामाः
कामान् सर्वानपि च विहितांस्तिक्ततिक्तान् विदन्तः।
हित्वा विद्या-कुल-धन-जनाद्याभिमानं प्रविष्टा
ये श्रीवृन्दाविपिनमपुनर्निर्गमास्तान्नमामः॥"

'जो लोग निष्कण्टक राज्य का एवं दिव्य-दिव्य रमणियों का भी परित्याग कर, सभी प्रकार से बिहित वासनाओं को अत्यन्त तिक्त समझकर और विद्या-कुल-धन-जन आदि का अभिमान त्यागकर श्रीवृन्दावन में प्रविष्ट हो फिर बाहर नहीं आते, उन्हें नमस्कार करता हूँ।' श्रील ठाकुर महाशय ने सभी दु:खों का त्यागकर माधुकरी भिक्षा कर जीविका निर्वाह करते हुए परम सुख से वृन्दावन-वास का सङ्कल्प लिया है।

इसके पश्चात् "यमुना जल जेनो.....आशा करे युगलचरण"-इस अंश में श्रील ठाकुर महाशय भावदशापूर्ण व्रजवास का सङ्कल्प ग्रहण करते हैं। 'हाय! मेरा ऐसा सौभाग्य कब होगा कि परमामृतवाहिनी यमुना का

अमृतोपम जल पेट भरकर पीऊँगा। कब श्रीराधाकुण्ड के प्रेममय नीर में स्नान करते-करते श्रीराधामाधव के जलविहार की स्मृति मेरे हृदय में समुदित होगी; उस रस में मग्न हो कौतूहल के साथ श्रीकुण्डजल में स्नान करूँगा और श्यामकुण्ड के तट पर पड़ा रहूँगा। श्रीराधामाधव की कुण्डलीला की स्मृति मेरे हृदय में भावोच्छ्वास जगायेगी। कभी श्रीश्रीराधामाधव की लीलास्थली द्वादशवन में भ्रमण करूँगा। जहाँ-जहाँ जो-जो रसक्रीड़ा हुई है, वहाँ-वहाँ उस-उस लीला का स्मरण कर देह-मन उन्मुक्त होंगे, प्रेमावेश में पुलकित देह से वहाँ लोटपोट करूँगा। प्रत्येक व्रजवासी के पैर पकड़ कर पूछकर लीलास्थानों का पता लगाऊँगा। उनसे लीलास्थलियों की बात सुनकर मेरे चित्त में विपुल भाव-आलोड़न जगेगा। काम्यवन आदि में 'भोजनथाली' नाम से प्रसिद्ध जो स्थान है-जहाँ श्रीकृष्ण ने सखाओं के साथ भोजन किया है, वह नयनगोचर कब होगा? ('भोजनेर स्थान कबे, नयनगोचर हबे'- इस वाक्य में यही तत्त्व व्यञ्जित हुआ है कि चिन्मय लीलास्थली का दर्शन कोई स्वयं नहीं कर सकता, स्वप्रकाश लीलास्थली स्वयं ही आँखों के आगे प्रकाशित होती है।) व्रज-उपवनों में भी इसी प्रकार भाव से भरकर घूमूँगा। वन-उपवनों में श्रीराधामाधव की सर्वलीला-मुकुटमणि रासरसलीला हुई है-मेरा मन उसी वृन्दावन में श्रीराधामाधव युगल-चरणों के दर्शन की आशा का सतत पोषण करता है'॥२३॥

श्रीवृन्दावन-वास की लालसा

करङ्ग कौपीन लइया, छेंड़ा कान्था गाय दिया, तेयागिया सकल विषय।
कृष्णे अनुराग हबे, व्रजेर निकुञ्जे कबे, जाइया करिबो निजालय॥
हरि हरि कबे मोर हइबे सुदिन।
फलमूल वृन्दावने, खाइया दिवा अवसाने, भ्रमिबो हइया उदासीन॥
शीतल यमुना जले, स्नान करि कुतूहले, प्रेमावेशे आनन्दित हइया।
बाहुर उपर बाहु तुलि, वृन्दावने कुलि कुलि, कृष्ण बोलि बेड़ाबो कान्दिया॥
देखिबो संकेत स्थान, जुड़ाबे तापित प्राण, प्रेमावेशे गड़ागड़ि दिबो।
काँहा राधा प्राणेश्वरि, काँहा गिरिवरधारि, काँहा नाथ! बोलिया डाकिबो॥
माधवी कुञ्जेर उपरि, सुखे बसि शुकशारी, गाइबेक राधाकृष्णरस।
तरुमूले बसि ताहा, शुनि जुड़ाइबे हिया, कबे सुखे गोआँबो दिवस॥
श्रीगोविन्द गोपीनाथ, श्रीमती राधिका साथ, देखिबो रतन-सिंहासने।
दीन नरोत्तमदास, करये दुर्लभ आश, एमति हइबे कतो दिने॥२४॥

सुधाकणिका व्याख्या-

व्रजवास की विपुल लालसा श्रील ठाकुर महाशय के चित्त में सुमेरु-शिखर की तरह सिर उठाये खड़ी है। श्रीवृन्दावन-वास की शत-शत लालसा-तरङ्गें उनकी हृदय-सरिता में उद्वेलित हो रही हैं! राजकुमार नरोत्तम सब कुछ त्यागकर दीनातिदीन भाव से वृन्दावन-वास का सङ्कल्प लेते हैं-"करङ्ग कौपीन लइया, छेंड़ा कान्था

गाय दिया, तेयागिया सकल विषय। कृष्णे अनुराग हबे, व्रजेर निकुञ्जे कबे, जाइया करिबो निजालय॥" श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है (वृ० म० १/६४)-

"कन्था-कौपीनवासास्तरुतलपतितैः फलाद्यैः क्लप्तवृत्तिः
कुर्वन्न व्यर्थवार्तां कथमपि न वृथा-चेष्टया कालयापी।
त्यक्त्वा सर्वाभिमानं प्रतिगृहमटनं तुच्छभैक्ष्याय कुर्वन्
वृन्दारण्ये निवत्स्याम्यनिशमनुसरन् राधिकैकात्मलोकान्॥"

'कन्था-कौपीन धारण कर, पेड़ों के नीचे गिरे फलादि से जीविका निर्वाह कर, किसी प्रकार की व्यर्थ बातों और चेष्टाओं में समय बिताये बिना, सारा अभिमान त्यागकर, तुच्छ भिक्षा के लिये प्रत्येक घर जाकर, श्रीराधिका के ही निजजनों (मञ्जरियों) का अनुसरण कर मैं निरन्तर वृन्दावनवास करूँगा।' श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-श्रीकृष्णपादपद्मों में मेरा ऐसा अनुराग कब होगा कि सभी विषयों का त्यागकर निष्किञ्चन भाव से व्रजनिकुञ्ज में अपना आलय बनाऊँगा या व्रजनिकुञ्ज का एकान्तभाव से आश्रय लूँगा।

फिर कहते हैं-"हरि हरि कबे मोर हइबे सुदिन? फलमूल वृन्दावने, खाइया दिवा अवसाने, भ्रमिबो हइया उदासीन॥" हाय हाय! मेरा ऐसा शुभ दिन कब होगा कि देह की रक्षा के लिये दिनान्त में एकबार मात्र अनायास-लब्ध फलमूल आदि खाकर उदासीन होकर अर्थात् विषय-वितृष्ण होकर वृन्दावन में घूमूँगा। यह उदासीनता या विषय-वितृष्णा व्रजमाधुरी आस्वादन का ही अनुभाव है, ऐसा जानना होगा। श्रील प्रबोधानन्दपाद ने लिखा है-

"वृन्दाकानन! काननस्य परमा शोभा परातः परानन्द!
त्वद्गुणवृन्दमेव मधुरं येनानिशं गीयते।
हा वृन्दावन! कोटिजीवनमपि-त्वत्तोऽतितुच्छं
यदि ज्ञातं तर्हि किमस्ति यत्तृणकवच्छक्येत नोपेक्षितुम्॥"

'हे वृन्दावन! तुम्हारी वनशोभा परात्परा है। हे परमानन्द! साधक तुम्हारी मधुर गुणावली अहर्निश गाते हैं। हे वृन्दावन! साधक कोटि-कोटि जीवन भी तुम्हारे लिये अति तुच्छ समझते हैं। संसार में ऐसी क्या वस्तु है, जिसकी वे तृणवत् उपेक्षा न कर सकें? इस मधुर वृन्दावन में मधुरातिमधुर युगलमाधुरी आस्वादन में साधक का चित्तमन ऐसा तन्मय हो जाता है कि इतर वस्तुओं में उदासीनता स्वतः जग जाती है।'

"स्वात्मेश्वर्या ममाद्य प्रणयरस महामाधुरीसारमूर्त्या
कोहपि श्यामः किशोरः कनकवररुचा श्रीकिशोर्या कयापि।
क्रीड़ात्यानन्दसारान्तिम-परमचमत्कारसर्वस्वमूर्ति-
र्नित्यानङ्गोत्तरङ्गैर्यदधि भज तदेवाद्य वृन्दावनं भोः॥"

(वृ० म० २/२९)

'आनन्दसार की परावधि परम चमत्कार-सर्वस्वमूर्ति कोई श्यामकिशोर नित्य अनङ्ग तरङ्ग में उन्मत्त हो मेरी प्राणेश्वरी आद्य-प्रणयरस की महामाधुर्य सारमूर्ति किसी स्वर्णकान्ति किशोरी के साथ जिस स्थल पर नित्य क्रीड़ा कर रहे हैं, आज से उस वृन्दावन का ही भजन करो।'

इसके पश्चात् पद के शेष अंश में वृन्दावन-वास में भावचेष्टाओं का मनोरथ व्यक्त करते हैं-"शीतल यमुनाजले.....एमति हइबे कतो दिने।" 'श्रीवृन्दावन में यमुनाजी के निर्मल सुशीतल जल में स्नान कर मेरा वासना-पङ्किल चित्त निर्मल और प्रेमस्निग्ध कब होगा? मैं प्रेमावेश में परमानन्द से बाहु के ऊपर बाहु रखकर भुजायें उठाये वृन्दावन की गली-गली में या रास्ते-रास्ते पर 'हा कृष्ण! कहाँ हो, कहता रोदन करता घूमूँगा।' जो विरही भक्त महादैन्य से भरकर उत्कण्ठा आकुल चित्त से प्रेमावेश में हाहाकार करते हुए वृन्दावन में सर्वत्र अभीष्ट को खोजते घूमते हैं, वे अति धन्य हैं। वृन्दावनमहिमामृत (२/५४-५५) में देखते हैं-

"क्रन्दन्नार्तस्वरेण क्षितिषु परिलुठन् संनमन् प्राणबन्धुं
कुर्वन् दन्ते तृणान्यादधदनु करुणा-दृष्टये काकुकोटीः।
तिष्ठन्नेकान्त-वृन्दाविपिन-तरुतले सव्यपाणौ कपोलं
न्यस्याश्रूण्येव मुञ्चन्यति दिननिशां कोहपि धन्योऽत्यनन्यः॥
मुञ्चन् शोकाश्रुधारां सततमरुचिमान् ग्रासमात्राग्रहेऽपि
क्षिप्तो बद्धो हतो वा गिरिवदविचलः सर्वसङ्गैर्विमुक्तः।
निष्किञ्चन्यैककाष्ठां गत उरुतरयोत्कण्ठया चिन्तयन् श्री-
राधाकृष्णाङ्घ्रि-पंकेरुह-दलसुषमां कोहपि वृन्दावनेऽस्ति॥"

'आर्तकण्ठ से रोदन के साथ धरणी पर लोटपोट करते-करते, प्राणबन्धु को दण्डवत् प्रणाम करते हुए, दाँतों में तृण दवाकर कृपा-कटाक्षपात के लिये कोटि-कोटि काकुवाद के साथ वृन्दावन के वृक्षों के नीचे निर्जन में वास कर, हथेली पर कपोल रखे, शोकाश्रु बहाते रातदिन बिताते हैं-ऐसे अनन्य धन्य कोई महापुरुष भी वहाँ हैं।

निरन्तर शोकाश्रुपात, ग्रासमात्र आहार में भी अरुचि, उन्मत्त, बद्ध, हत अथवा पर्वत की तरह अविचल होकर सभी प्रकार का सङ्ग त्यागकर परम निष्किञ्चनव्रत लिये अत्यन्त उत्कण्ठा के साथ श्रीराधाकृष्ण के पादपद्मदलों की सुषमा का चिन्तन करते हैं-ऐसे कोई भाग्यवान् पुरुष भी वृन्दावन में विराज रहे हैं।'

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'संकेतस्थान (प्रेमसरोवर और श्रीनन्दग्राम के बीच स्थित स्थान, जहाँ संकेत से श्रीराधाकृष्ण का मिलन होता है)-उस संकेतस्थान के दर्शन कब करूँगा; मेरे तप्त प्राण सुशीतल होंगे, उससे जुड़ी युगल-लीलामाधुरी की मधुर छवि हृदय में फूट उठेगी-मैं प्रेमावेश में उस स्थान पर लोटपोट करूँगा और 'हा प्राणेश्वरि! श्रीराधारानि! तुम कहाँ हो। हा गिरिवरधारि! हा नाथ! तुम कहाँ हो' कहकर रोते हुए उच्चस्वर से उनका आह्वान करूँगा।'

'भजन' शब्द का प्रकृत अर्थ ही है खोजना या अन्वेषण करना। उस भजन का स्थान ही है वृन्दावन। प्रकृत रागसाधक यहाँ स्थिर नहीं रह सकता। वृन्दावन की सुषमा उसके हृदय में आलोड़न की सृष्टि करती है। वह रोदन करता-करता व्रज में सर्वत्र अपने प्राणप्रिय को खोजता घूमता है। उस वृन्दावन में आकर भी मुझ-जैसे जीव को बिन्दुमात्र अनुभव नहीं। देह-दैहिकादि लिये सतत व्यस्त। स्वरूप निद्रित। स्वयं को स्वयं ही नहीं पहचाना। अभीष्ट को लेकर अभाव जगेगा कैसे? अपराध से अनुभव का पथ रुद्ध हो गया है।

श्रील ग्रन्थकार कहते हैं-'शुकसारिका माधवीकुञ्ज पर सुख से बैठकर श्रीराधाकृष्ण का रसगान करेंगे, मैं वृक्ष के नीचे बैठ उसे सुनकर हृदय शान्त करूँगा-इस प्रकार वृन्दावन में सुखपूर्वक दिन कब बिताऊँगा?' श्रीवृन्दावन में वृक्षों की डालों पर बैठकर शुकसारिकायें श्रीराधाकृष्ण की रसकथाओं का गायन करती हैं, पर हम कहाँ सुन पाते हैं? सभी प्राकृत-जैसा लगता है। श्रील सरस्वतीपाद ने लिखा है-

"राधाकृष्ण रहःकथानुवदनादाश्चर्यमाधुर्यवद्-
ध्वानैः श्रीशुकशारिका-व्यतिकरैरानन्दसर्वस्वदम्।
कर्णाकर्षि-कुहूः कुहूरिति कलालापैर्वृतं कोकिलै-
र्नृत्यन्मत्तमयूरमन्यविहगैश्चानन्दकोलाहलम्॥"

(वृ० म० ४/१०५)

'शुकसारिकायें उच्चस्वर से श्रीराधाकृष्ण की रहस्यमय कथाओं का आश्चर्यजनक माधुर्य से परिपूर्ण गायन करती हैं, श्रीवृन्दावन उस आनन्द-अतिशयता का दान करनेवाला है-कानों को आनन्द देनेवाली 'कुहू कुहू' की अव्यक्त मधुर वार्ता करती कोयलों से मण्डित है-नृत्यपरायण मत्त मयूरों की शोभा से भूषित और नाना प्रकार के पक्षियों के आनन्द-कोलाहल से मुखरित है।'

फिर श्रीवृन्दावन में व्रजेन्द्रनन्दन श्रीगोविन्द-गोपीनाथ विग्रहों के रूप में राधारानी के साथ स्वयं विराज रहे हैं-उनके दर्शन कर धन्य होने के लिये श्रील ठाकुर महाशय ने प्रार्थना की है। श्रीमत् कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है-

"साक्षात् व्रजेन्द्रसुत इथे नाहि आन।
जेबा अज्ञे करे ताँरे प्रतिमादि ज्ञान॥
सेइ अपराधे तार नाहिक निस्तार।
घोर नरकेते पड़े, कि बलिबो आर॥"

(चै० च०)

अन्त में श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'मैं जिस दुर्लभ आशा का पोषण कर रहा हूँ, वह कब पूरी होगी?' "दीन नरोत्तमदास, करये दुर्लभ आश, एमति हइबे कतो दिने" ॥२४॥

श्रीवृन्दावनवास की लालसा

हरि हरि कबे हबो वृन्दावनवासी। निरखिबो नयन युगल-रूपराशि॥
त्यजिया शयन-सुख विचित्र पालङ्क। कबे व्रजेर धूलाय धूसर हबे अङ्ग॥
षड्रस भोजन दूरे परिहरि। कबे व्रजे मागिया खाइवो माधुकरी॥
परिक्रमा करिया बेड़ाबो वने-वने। विश्राम करिबो जाइ यमुना-पुलिने॥
ताप दूर करिबो शीतल वंशीवटे। कबे कुञ्जे प्रवेशिबो वैष्णव निकटे॥
नरोत्तमदास कहे करि परिहार। कबे बा एमन दशा हइबे आमार॥२५॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय साधकावेश में वृन्दावन-वास की लालसा बराबर व्यक्त करते आ रहे हैं। श्रीवृन्दावन-माधुरी ने उनके चित्त में विपुल आलोड़न जगाया है। जगायेगी क्यों नहीं? श्रील प्रबोधानन्द पाद ने लिखा है (वृ० म० ६/७८-७९)-

"अनन्तब्रह्माण्डावलि - वलित - मूलप्रकृतितः
सुदूरे स्वादीयो जयति भगवज्ज्योतिरमृतम्।
तदन्तर्वैकुण्ठं तदतिरहसि स्वादिम-महो-मनोभू
बीजात्मद्युतिमदिह वृन्दावनमिदम्॥
स्थलं वृन्दारण्ये मृदुलविपुल-स्वच्छमधुरं
महाचिन्तारत्नप्रचयमयमानन्दसदनम्।
महादिव्यामोदं प्रणयरस - साराकरमहं परागाणां
पुञ्जोज्ज्वलमतिविचित्रच्छवि भजे॥"

'अनन्त ब्रह्माण्डों से युक्त मूल प्रकृति से बहुत दूर अमृतमय आस्वाद्य भगवज्ज्योति (ब्रह्म) जयशील हो रही है-उसके अन्तःस्थल में वैकुण्ठ है-उसके भी अति रहःस्थल (गुप्त स्थान) में कामबीजात्मकद्युतिशील परम आस्वाद्य श्रीवृन्दावन अवस्थित है।

श्रीवृन्दावन-मृदुल, अति स्वच्छ, मधुर, महाचिन्तामणियों से युक्त आनन्दनिकेतन, महादिव्य आमोद (सुगन्ध) - पूर्ण, प्रणयरससागर का आकर, पुष्परेणुसमूह (पराग) से उज्ज्वलीकृत और अति विचित्र कान्ति से युक्त-मैं इसी का भजन करता हूँ।' वह चिन्मय गोलोक-वृन्दावन ही अपनी अचिन्त्य शक्ति से दोनों जगह विद्यमान है। भौमव्रज प्रकृति का रूप अङ्गीकार किये है, किन्तु भावुक भक्तों की आँखों के आगे उसकी स्वप्रकाश अप्राकृत शोभामाधुरी फूट उठती है! श्रील ठाकुर महाशय वृन्दावनवासी होकर युगल-रूपराशि दर्शन करने की वासना रखते हैं।

श्रील राधामोहन ठाकुर ने इस पद्य की महाभावानुसारिणी टीका में लिखा है-"हरि हरि कबे हबो वृन्दावनवासी' इत्यादि गीतद्वयेन साधकावस्थायां प्रार्थयते। तत्र श्रीराधामदनमोहनादि- श्रीविग्रहदर्शनाकांक्षया 'निरखिबो नयने युगलरूपराशि' इत्युक्तम्। परचरणेषु सर्वत्र साधकदेहोचित प्रार्थना प्रतीते:।" अर्थात् इस पद्य में साधकावस्था में ही प्रार्थना कर रहे हैं, इसलिये यहाँ श्रीराधागोविन्द श्रीराधामदनमोहन आदि श्रीविग्रहों के दर्शन की आकांक्षा से ही कहा है 'निरखिबो नयने युगल रूपराशि'। बाद के पदों में भी साधकदेहोचित प्रार्थना ही देखने में आती है।

भावुक भक्त साक्षात्कार की तरह ही विग्रह-माधुरी का आस्वादन करते हैं, इसीलिये 'रूपराशि' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

श्रील ग्रन्थकार महोदय देह-दैहिकादि का सुख-स्वाच्छन्द्य त्यागकर एकान्त वैराग्य के साथ व्रजवास की कामना कर रहे हैं-"त्यजिया शयन-सुख विचित्र पालङ्क। कबे व्रजेर धूलाय-धूसर हबे अङ्ग॥ षड् रस भोजन दूरे परिहरि। कबे व्रजे मागिया खाइबो माधुकरी॥" श्रीभगवन्माधुरी आस्वादन से साधक का देह-दैहिकादि का सुख-स्वाच्छन्द्य स्वत: छूट जाता है और उसे यथार्थ निष्किञ्चन-पदवी प्राप्त हो जाती है। महाजनों ने भी उसी भाव से व्रजवास का परामर्श दिया है-

"भ्रातस्तिष्ठ तले तले विटपिनां ग्रामेषु भिक्षामट
स्वच्छन्दं पिव यामुनं जलमलं चीरै: सुकन्थां कुरु।
सम्मानं कलयातिघोर-गरलं नीचापमानं सुधां
श्रीराधा-मुरलीधरौ भज रसाद् वृन्दावनं मा त्यज॥"

(वृ० म० १/४८)

'हे भाई! एक-एक वृक्ष के नीचे रहो, गाँव-गाँव भिक्षा करो, स्वच्छन्द चित्त से यथेष्ट यमुना जल पीओ, छिन्न वस्त्र से उत्तम कन्था तैयार करो, सम्मान को अति घोर विष समझो, नीचापमान को ही सुधा मानो। श्रीराधामुरलीधर का नित्य रसपूर्वक भजन करो। वृन्दावन कभी मत त्यागना।'

"त्यजिया शयन-सुख विचित्र पालङ्क। कबे ब्रजेर धूलाय धूसर हबे अङ्ग॥" इस अंश का तात्पर्य यही है कि विचित्र पलङ्ग के शयनसुख की उपेक्षा कर सकें, तभी व्रजरज में लेटकर ब्रह्मा-उद्धव आदि की स्पृहणीय गोपीपगरज से अङ्ग धूसरित होगा। गोपी-आनुगत्यमय प्रेम पाने की यह महा साधना है। श्रील ठाकुर महाशय ने षड् रस भोजन त्यागकर माधुकरी वृत्ति से जीवनधारण करने की इच्छा व्यक्त की है। माधुकरी निष्किञ्चन लोगों की भिक्षाविशेष है। वैरागी भिक्षु की भिक्षा पाँच प्रकार की है-"माधुकरमसंक्लप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम्। तात्कालिकोपपन्नञ्च भैक्ष्यं पञ्चविधं स्मृतम्॥" (स्मृति) (१) माधुकरी-मधुमक्खी पुष्प का पीड़न किये बिना विभिन्न पुष्पों से बिन्दु-बिन्दु मधु संग्रह कर जीविका निर्वाह करती है। उसी प्रकार किसी का भी पीड़न न कर व्रजवासियों के घर से स्वल्प भोज्य-भिक्षा करने को 'माधुकरी' कहा जाता है। (२) असंक्लप्त-कोई भिक्षा देगा या नहीं देगा, यह न जानकर की गई भिक्षा। (३) प्राक्प्रणीत-पूर्वनिर्दिष्ट दाता अवश्य ही भिक्षा देगा, इस विचार

से की गई भिक्षा। (४) अयाचित-बिना माँगे प्राप्त हुई भिक्षा। (५) तात्कालिक-अकस्मात् द्रव्य की प्राप्ति। वृन्दावनवासी निष्किञ्चन वैष्णवों की 'व्रज की माधुकरी' प्रसिद्ध भिक्षा है। इससे अपने वैराग्य धर्म का पालन होता है और व्रजवासियों की कृपा-प्राप्ति के साथ-साथ भिक्षु के दैन्य की परिपुष्टि होती है।

फिर विश्राम, परिक्रमा, वैष्णव-सङ्ग आदि के लिये प्रार्थना करते हैं-"परिक्रमा करिया बेड़ाबो वने-वने. .....कबे बा एमन दशा हइबे आमार" इत्यादि। 'मैं द्वादश वनों और उपवनों की परिक्रमा करता घूमूँगा, उन वन-उपवनों से जुड़ी श्रीयुगल की रसमयी लीलाओं की माधुरी मेरे हृदय में विपुल आलोड़न जगायेगी। उसी लीलारस में तन्मय हो समय बिताऊँगा। यमुना-पुलिन पर जाकर विश्राम करूँगा। यमुना जलकणास्पर्शी सुशीतल समीर के सेवन से देह-मन को विश्राम मिलेगा, साथ ही यमुनातीर पर तथा यमुना-नीर में ससखी श्रीराधामाधव की लीलाओं के चिन्तन से अपने स्वरूप का सेवासुख-अनुभव प्राप्त होगा। ग्रीष्म आदि में सुशीतल वंशीवट जाकर देह-ताप नष्ट होगा; रासरस की मधुर स्मृति से हृदय का ताप भी विनष्ट होगा। वृन्दावन में कुञ्ज-कुञ्ज में महानुभव वैष्णव मिलकर परस्पर इष्टगोष्ठी या कृष्णकथा चर्चा करेंगे; मैं उन्हीं कुञ्जों में प्रवेश कर वैष्णवों के निकट बैठकर रसमयी कृष्णकथा का आस्वादन कर धन्य होऊँगा। श्रील ठाकुर महाशय अति विनय के साथ कहते हैं-मेरी ऐसी दशा कब होगी, इसी प्रतीक्षा में बैठा हूँ-"नरोत्तम कहे करि परिहार। कबे बा एमन दशा हइबे आमार" ॥२५॥

सविलाप श्रीवृन्दावन-वास की लालसा

आर कि एमन दशा हबो। सब छाड़ि वृन्दावन जाबो॥
आर कबे श्रीरासमण्डले। गड़ागड़ि दिबो कुतूहले॥
आर कबे गोवर्द्धन गिरि। देखिबो नयनयुग भरि॥
श्यामकुण्डे राधाकुण्डे स्नान। करि कबे जुड़ाबे पराण॥
आर कबे यमुनार जले। मज्जने हइबो निरमले॥
साधुसङ्गे वृन्दावने वास। नरोत्तमदास करे आश॥२६॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय बार-बार अनुराग के साथ वृन्दावन-वास की लालसा व्यक्त कर रहे हैं। इससे व्रजधाम के प्रति उनकी परम अनुरक्ति ही प्रकट होती है। वृन्दावन के प्रति स्वल्प प्रीति को भी श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने परम पुरुषार्थ कहा है (वृ० म० ४/६५)-

"राधा-मुरलिमनोहर-चरणविलासेन धन्यायाम्।
वृन्दाावनभुवि मन्ये परमपुमर्थो मनागपि प्रणयः॥"

'श्रीराधामुरली-मनोहर के चरण-विलास से धन्य इस वृन्दावनभूमि से यदि किञ्चित् भी प्रणय होता है, तो हम लोग उसी को परम पुरुषार्थ समझते हैं।' श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'मेरी ऐसी दशा और कब होगी कि सब छोड़कर वृन्दावन जाऊँगा।'

"नश्वरसुतजनजायादिषु हरिमायामयेषु न प्रयासम्।
कुरु पुरुषार्थशिरोमणिमाचिनु वृन्दावने स्वयं पतितम्॥"

(वृ० म० २/६५)

'अरे श्रीहरि की बहिरङ्गा माया द्वारा रचित नश्वर पुत्र, धन, स्त्री आदि वस्तुओं से जुड़ा प्रयास त्यागो। वृन्दावन में स्वत: गिरी पुरुषार्थशिरोमणि को उठाओ।' तात्पर्य यही है कि यदि कोई नश्वर धन-जन आदि के प्रति प्रीति सम्पूर्णरूप से त्यागकर वृन्दावन-वास की एकान्त निष्ठा लेकर वृन्दावन आता है, तो वह पुरुषार्थशिरोमणि प्रेम अनायास ही प्राप्त कर धन्य होता है-जैसे वन में प्रविष्ट व्यक्ति वृक्ष से गिरे सुपक्व मीठे फल आदि अनायास उठा सकता है।

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर महाशय इस पद्य में भी भावदशामय व्रजवास की इच्छा व्यक्त करते हैं-"आर कबे श्रीरासमण्डले नरोत्तमदास करे आश।" श्रील ठाकुर महाशय वृन्दावन में वास कर कौतूहल के साथ श्रीरासमण्डल में लोटपोट करने की वासना व्यक्त करते हैं। यमुनातट पर रासमण्डल में ही श्रीश्रीराधामाधव की सर्वलीलामुकुटमणि श्रीश्रीरासलीला का अनुष्ठान है। महाभाव नामक रस का महामहोत्सव है श्रीरासलीला। भावुक भक्त का चित्त रासलीला के स्मृतिरस में डूब जाता है। रासवक्ता श्रीपाद शुकमुनि ने वर्णन किया है किस प्रकार रासरजनी में श्रीकृष्ण का वंशीनाद सुनकर आकृष्ट-चित्त व्रजरमणियों ने श्रीकृष्ण के निकट आगमन किया था। वे अपने वर्णन में ऐसे तन्मय हो गये थे कि 'व्रजसुन्दरियों ने श्रीकृष्ण के निकट गमन किया' न कहकर 'व्रजसुन्दरियों ने श्रीकृष्ण के निकट आगमन किया' (आजग्मु:) कह दिया। इस प्रसङ्ग में वैष्णवतोषणी टीका में लिखा है-"तासां तद्गमनवार्तया भावविशेषोदयेन तासामिव स्वस्यापि तत्र गमनस्फूर्त्या साक्षादिव श्रीकृष्णान्तिकताया स्फुरणात्" अर्थात् 'रासवर्णन के आरम्भ में व्रजदेवियों के श्रीकृष्ण के निकट गमन-वर्णन में श्रीशुक मुनि में ऐसे भावविशेष का उदय हुआ था कि उन्होंने स्वयं भी व्रजदेवियों की तरह गोपिकारूप में श्रीकृष्ण के निकट उपस्थित होकर ही उन लोगों का वहाँ आगमन वर्णन किया।' भावुक भक्तगण उसी रासस्थली में उपस्थित होने पर रासलीला की स्मृति से विशेष भावदशा प्राप्त करेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। 'कुतूहल' शब्द से वही भावदशा व्यञ्जित हुई है।

फिर नयन भरकर (जी भरकर) गिरिराज गोवर्धन दर्शन की बात कही है। श्रीश्रीराधामाधव की अशेष लीलाओं का स्थान है गिरिराज गोवर्धन! श्रीगोवर्धन ने श्रीराधामाधव की अति सुगुप्त या रहस्यमय विलासलीला के सम्पादन के लिये अपने अङ्ग में अति विचित्र मणिरत्नमय गुफायें धारण कर रखी हैं। उनमें मणिरत्न पात्रों में सभी अद्भुत विलास-उपकरण सुसज्जित रहते हैं। इन गुफाओं में श्रीराधामाधव को जिस रहस्यमय विलासानन्द का आस्वादन होता है, वह अन्यत्र कहीं सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त दानलीला, मानलीला, रास, मानसगङ्गा में नौकालीला आदि रहस्यमय लीलाओं का अनन्य निकेतन है श्रीगिरिराज गोवर्धन। एक तो वैसे ही गिरिराज की भक्त-नयनमन-रसायन अपूर्व शोभा, ऊपर से युगल की इन सब लीलाओं की स्मृति-भक्त के प्राणों में विविध भाव-दशाओं का उद्गम हो जाता है।

सर्वोपरि व्रजमुकुटमणि श्रीराधाकुण्ड-श्यामकुण्ड! जैसे श्रीमन्महादेव श्रीविष्णु-चरणों से निकली गङ्गा को मस्तक पर सतत धारण कर त्रिलोक पवित्र कर रहे हैं, वैसे ही कोटि गङ्गाओं से भी अधिक माहात्म्ययुक्त सर्वतीर्थमय श्रीकृष्णपादपद्म-मकरन्द श्यामकुण्ड और राधारानी के ही अभिन्न स्वरूप श्रीराधाकुण्ड को हरिदासवर्य गिरिराज ने भक्ति से भरकर अपने मस्तक पर धारण कर रखा है। श्रील ठाकुर महाशय ने उन्हीं कुण्डद्वय में स्नान कर प्राणों को शीतल करने की इच्छा व्यक्त की है। प्राण शीतल करनेवाला ऐसा स्नान और किस तीर्थ में हो सकता है? श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है-"कुण्डेर माधुरी जेनो राधार मधुरिमा। कुण्डेर महिमा जेनो राधार महिमा॥ सेइ कुण्डे एक बार जेइ करे स्नान। तारे राधासम प्रेम कृष्ण करे दान॥" (चै० च०) यह कुण्डतट ही श्रीश्रीराधामाधव की रहस्यमय मध्याह्न लीलाओं का स्थान है। श्रीकुण्ड पर उन्हीं अनन्त मधुमय लीलाओं की मधुस्मृति भावुक भक्त की हृदय-सरिता में अशेष भावतरङ्गें जगाती है।

फिर कहते हैं-"आर कबे यमुनार जले। मज्जने हइबो निरमले॥" श्रील ठाकुर महाशय दैन्यवश स्वयं को मलिनचित्त मानकर कहते हैं-'यमुना के पावन नीर में स्नान करने से ही मेरा चित्त निर्मल होकर व्रजवास और व्रजलीला-रसास्वादन की योग्यता प्राप्त करेगा।' (राधारससुधानिधि-६०)-श्रीराधा के कुचतटों से लिप्त कस्तूरी से पङ्किल हुए यमुनाजल में बार-बार स्नान कर मैं कुदेह में आत्माभिमान कब त्यागूँगा?

अन्त में कहते हैं-"साधुसङ्गे वृन्दावने वास। नरोत्तमदास करे आश॥" श्रीवृन्दावन धाम का आश्रय लेकर जो विशिष्ट भजनानन्दी साधु-महात्मा रहते हैं, उनके दर्श-पर्श और उनके श्रीमुख से हरिकथा-श्रवण आदि रूपी सङ्ग-द्वार से भक्ति की जो आलोक-माला छिटकती है, उससे सामान्य व्यक्ति का चित्त भी सहसा प्रदीप्त हो उठता है! साधुसङ्ग की ऐसी अमोघ शक्ति है। हमने कहा है, साधुसङ्ग भक्ति का कारण है, भक्ति का कार्य है और साधुसङ्ग ही साक्षात् भक्ति है। "साधुसङ्ग साधुसङ्ग सर्वशास्त्रे कय। लवमात्र साधुसङ्गे कृष्णभक्ति हय॥" (चै० च०) तभी श्रील ठाकुर महाशय वृन्दावनवासी साधु-महात्माओं के सङ्ग व्रजवास की अभिलाषा व्यक्त कर साधकों के चित्त में भी उसकी प्रेरणा जगा रहे हैं।

"साधुरत्र सदाचारः", "साधवः क्षीणदोषास्तु", "साधवोहदोषदर्शिनः" आदि वाक्यों से जानना होगा कि जो सदाचारनिष्ठ हैं; लाभ-पूजा-प्रतिष्ठा आदि की वासना से रहित हैं; द्वेष-मात्सर्य आदि दोषों से मुक्त हैं; अदोषदर्शी, व्रजवासनिष्ठ, भजनानन्दी महानुभवगण हैं, वे ही यथार्थ सङ्गयोग्य साधु हैं॥२६॥

श्रीरूप-रति म रियों के प्रति विज्ञप्ति

राधा कृष्ण सेवों मुइँ जीवने मरणे।
ताँर स्थाने ताँर लीला देखों रात्रिदिने॥
जे स्थाने जे लीला करे युगल-किशोर।
सखीर सङ्गिनी हइया ताहे हउँ भोर॥
श्रीरूपमञ्जरीपद सेवों निरवधि।
ताँर पादपद्म मोर मन्त्र महौषधि॥

श्रीरतिमञ्जरी देवि करो मोरे दया।
अनुक्षण देहो तुया पादपद्मछाया॥
श्रीरसमञ्जरी देवि करो अवधान।
अनुक्षण देहो तुया पादपद्म - ध्यान॥
वृन्दावने नित्य नित्य युगल - विलास।
प्रार्थना करये सदा नरोत्तम दास॥२७॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय इस पद्य से आरम्भ कर लगातार सिद्धस्वरूप के आवेश में श्रीश्रीराधाकृष्ण के दर्शन और साक्षात् सेवा के लिये प्रार्थना करते हैं। पहले कहते हैं-"राधाकृष्ण सेवों मुइँ जीवने मरणे। ताँर स्थाने ताँर लीला देखों रात्रिदिने॥" गौड़ीय वैष्णवों की मञ्जरीभाव की उपासना है-इस विशेष कलियुग में यही श्रीमन्महाप्रभु की अनर्पितचरी करुणा का अवदान है। श्रीराधाकृष्ण ही गौड़ीय वैष्णव साधक के उपास्य हैं-जीवन में, मरण में। जीवन में : वह साधकदेह से निष्ठापूर्वक श्री श्रीराधाकृष्ण का मन्त्र-गायत्रीजप, नामजप, कीर्तन, श्रीविग्रहसेवा, व्रजवास आदि करता है और सिद्ध स्वरूप का चिन्तन करते हुए श्रीराधामाधव की अष्टकालीन लीलाओं का स्मरण कर उनमें अपने अभीष्ट की सेवा का चिन्तन करता है। "सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि। तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥" (भ० र० सि० १/२।२९५)-'अपने अभीष्ट श्रीश्रीराधाकृष्ण की रति पाने का इच्छुक व्यक्ति साधकरूप से या यथावस्थित देह से और सिद्धरूप से या श्रीगुरुप्रदत्त मञ्जरीस्वरूप से व्रज के लोगों (साधकदेह से श्रीरूप-सनातन आदि, सिद्धदेह से ललिता-विशाखा रूपमञ्जरी आदि) के अनुसरण या आनुगत्य में सेवा करे।' "बाह्य अन्तर इहार दुइतो साधन। बाह्य-साधकदेहे करे श्रवण-कीर्तन॥ मने-निज सिद्धदेह करिया भावन। रात्रिदिन चिन्ते राधाकृष्णेर सेवन॥" (चै० च०) इस प्रकार 'जीवन में' साधक श्रीराधाकृष्ण का सेवन करता है। 'मरण में' अर्थात् साधकदेह का अवसान होने पर "साधने भाविबो जाहा, सिद्धदेहे पाबो ताहा, पक्वापक्व मात्र से विचार" (प्रेमभक्तिचन्द्रिका)-श्रील ठाकुर महाशय की इस उक्ति के अनुसार साधक अपने सिद्धस्वरूप से साक्षात् लीलाराज्य में श्रीश्रीराधाकृष्ण की सेवा पाकर धन्य होता है। इसीलिये कहा गया है-"ताँर स्थाने ताँर लीला देखों रात्रिदिने"। साधनकाल में साधक दिवारात्रि अपने सिद्धस्वरूप से स्मरण-चिन्तन में लीलाराज्य में श्रीश्रीराधामाधव की लीलाओं का दर्शन करता है, उनकी सेवा करता है। साधनदेह-भङ्ग होने पर श्रीकृष्ण की अघटन-घटन-पटीयसी (अनहोनी को होनी बनाने में निपुण) शक्ति योगमाया साधकात्मा को उसके अन्तश्चिन्तित सिद्धस्वरूप से लीलाराज्य में साक्षात् सेवा देकर धन्य करती हैं।

फिर कहते हैं-"जे स्थान जे लीला करे युगलकिशोर। सखीर सङ्गिनी हइया ताहे हओं भोर॥" श्रीश्रीराधामाधव अष्टप्रहरों में जहाँ जो लीला करते हैं, साधक को सखियों की सङ्गिनी बनकर तदनुसार लीलारस में तन्मय होना होगा। रागानुगीय साधक अपनी सिद्धदेह और लीला-चिन्तन में तन्मय नहीं होगा, तो

रागानुगा भजन में अग्रसर नहीं हो सकेगा। भावतन्मयता पाने के लिये उसे पाञ्चभौतिक देह का आवेश त्यागकर हर समय सिद्धस्वरूप के आवेश में रहना होगा। "आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्। रूप-यौवन-सम्पन्नां किशोरी प्रमदाकृतिम्॥ सखीनां सङ्गिनीरूपामात्मानं वासनामयीम्। आज्ञासेवापरां तत्तद्यूपालङ्कारभूषिताम्॥" (सनत्कुमार संहिता) अर्थात् 'रागानुगीय साधक श्रीकृष्णप्रिया गोपियों के बीच स्वयं का रूपयौवन-सम्पन्न मनोरम किशोरी प्रमदा के रूप में चिन्तन करेंगे। श्रीललिता, विशाखा, रूपमञ्जरी आदि सखियों की सङ्गिनी; उन लोगों की आज्ञानुसार श्रीश्रीराधामाधव की सेवा में रत; राधारानी के प्रसादी वस्त्र-भूषणों से भूषित-ऐसी अपनी वासनामयी मूर्ति का चिन्तन करेंगे।' 'चिन्तयेत्' का तात्पर्य यही है कि नित्यसिद्धा श्रीरूपमञ्जरी, रति-मञ्जरी आदि के सदृश भाव-रूप आदि से युक्त अपनी आत्मा का ईक्षण करेंगे या साक्षात्कारतुल्य अनुभव करेंगे। अर्थात् 'मैं इस भाव-रूप आदि से सम्पन्न देह ही हूँ'-ऐसा दृढ़ अभिमान पोषित करेंगे। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है (वृ० म० ४/३६-३७)-

"कालिन्दी-पुलिने सुरद्रुमतले श्रीमल्लतामण्डपे
संसेव्यं ललितोपहारनिकरैदिव्यैः किशोरीगणैः।
गौरश्यामकिशोरधामयुगलं तत् कर्हि वृन्दावने
तद्भाव-स्फुरदाकृतिः परिचराम्याश्चर्यलीलामयम्॥
शिञ्जन्मञ्जीरपादा विपुलकटितटप्रस्फुरत्काञ्चिदामा
मध्ये क्षामा किशोरी कुचमुकुलयुग-प्रोल्लसत्तारहारा।
लोलद् वेण्यग्रगुच्छा कनकमणिलसच्चारुनासाग्रमुक्ता
चित्रक्षौमं वसाना मम कनकरुचिर्भातुराधैकदासी॥"

'श्रीवृन्दावन में कालिन्दीपुलिन पर कल्पवृक्ष के नीचे सुन्दर लतामण्डप में दिव्य किशोरियों के साथ सुललित उपहारों द्वारा सम्यक् रूप से सेव्य उस आश्चर्यजनक लीलामय गौरश्यामयुगल की तद्भावभावित आकृति की स्फूर्ति के साथ नित्य परिचर्या कब करूँगा?

चरणों में नूपुर बज रहे हैं, विशाल नितम्बदेश में काञ्चीदाम शोभा विस्तार कर रहा है, मध्यदेश क्षीण है, वयस में किशोरी हैं, कुचमुकुलों पर उज्ज्वल ताराहार झूल रहा है, वेणी का अग्रगुच्छ इधर-उधर सञ्चालित हो रहा है, सुन्दर नासाग्र में स्वर्णमणिमण्डित मुक्ता विराज रही है, विचित्र पट्टवस्त्र धारण किये हैं, स्वर्णवर्णा श्रीराधा-दासी का ऐसा स्वरूप मेरे हृदय में स्फुरित हो।' साधक श्रीगुरुप्रदत्त एकादश भावों से सम्पन्न अपने सिद्धस्वरूप के अभिमान में देह-दैहिकादि भूलकर सखियों के सङ्ग में युगल के लीलारस में तन्मय होंगे।

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर महाशय अपने मञ्जरीस्वरूप में तन्मय होकर श्रीयुगल की रूप-गुण-लीला-माधुरी और सेवा-माधुरी के आस्वादन की आकांक्षा से मञ्जरीगण-अध्यक्षा एवं नित्यसिद्ध मञ्जरियों की करुणा की कामना करते हैं। पहले मञ्जरियों में सर्वप्रमुख श्रीरूपमञ्जरी की कृपा के लिये प्रार्थना

करते हैं–"श्रीरूपमञ्जरीपद सेवों निरवधि। ताँर पादपद्म मोर मन्त्र महौषधि॥" श्री रूपमञ्जरी की करुणा से और उनकी अध्यक्षता में साधनसिद्ध मञ्जरीभाव–साधक श्रीराधामाधव की सेवा प्राप्त कर धन्य होता है। श्रील ठाकुर महाशय ने ही पद संख्या ४०–४२ में इसका सुन्दर वर्णन किया है। निरवधि श्रीरूपमञ्जरी की सेवा से ही मञ्जरीभाव–उपासक श्रीराधामाधव की परिचर्या का सौभाग्य प्राप्त करेंगे। महौषधि से असाध्य व्याधि का नाश होता है; उसी प्रकार श्रीरूप की पादपद्म–सेवा से साधक की अनादिकाल की दुरारोग्य भवव्याधि अनायास नष्ट हो जायेगी, अर्थात् वह देह–दैहिकादि का आवेश त्यागकर अपने मञ्जरीस्वरूप के आवेश में दिवारात्रि मग्न रह सकेगा। फिर मन्त्र की बात। मन्त्र दूरस्थ वस्तु को खींच लाता है। उसी प्रकार रूपमञ्जरी की पादपद्म–सेवा से ससखी श्रीराधामाधव चिन्मय लीलाधाम से आकृष्ट हो साधक के नयनगोचर होंगे। इस विशेष कलियुग में व्रज की वे रूपमञ्जरी ही श्रीमत् रूप गोस्वामिपाद के रूप में श्रीमन्महाप्रभु के साथ अवतीर्ण हुई हैं और उन्होंने आचरण एवं ग्रन्थादि–रचना द्वारा व्रज की रहस्यमय मञ्जरीभावसाधना सभी के आगे प्रकट की है।

फिर नित्यसिद्धा श्रीरतिमञ्जरी और रसमञ्जरी की करुणा के लिये प्रार्थना करते हैं–"श्रीरतिमञ्जरी देवि. .....पादपद्म ध्यान॥" 'हे रतिमञ्जरी! मुझ पर करुणा करो, निरन्तर अपनी पादपद्म छाया में आश्रय देकर मुझे धन्य करो।' 'पादपद्म छाया' की व्यञ्जना यही है कि श्रीरतिमञ्जरी के श्रीचरणाश्रय में साधक की जड़ीय देह–दैहिकादि की त्रितापादि ज्वालायें शान्त हो जाती हैं और वह भक्तिरसधारा में सुशीतल होकर युगलसेवा–माधुरी का आस्वादन कर धन्य होता है। श्रीरतिमञ्जरी ही इस महाप्रभु के युग में श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद के रूप में अवतीर्ण हुई हैं और उन्होंने आचार–प्रचार द्वारा मञ्जरीभावसाधना का चरम आदर्श रखा है। "श्रीरसमञ्जरी देवि करो अवधान। अनुक्षण देहो तुया पादपद्म ध्यान॥" निरन्तर श्रीरसमञ्जरी के पादपद्म–ध्यान से साधक को श्रीराधामाधव के लीलारस–माधुर्य और सेवारस के आस्वादन का सौभाग्य प्राप्त होगा। ये ही श्रीमन्महाप्रभु की लीला में श्रीरघुनाथभट्ट ❋ के रूप में अवतीर्ण हुई हैं और इन्होंने विश्व–साधकों को युगलरसमाधुरी के आस्वादन का सौभाग्य दिया है। श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय श्रीवृन्दावन में नित्य युगलविलासमाधुरी आस्वादन के सौभाग्य के लिये नित्यसिद्धा मञ्जरियों से प्रार्थना करते हैं–"वृन्दावने नित्य नित्य युगलविलास। प्रार्थना करये सदा नरोत्तमदास" ॥२७॥

सखीवृन्द के प्रति विज्ञप्ति

राधाकृष्ण प्राण मोर युगल - किशोर।
जीवने मरणे गति आर नाहि मोर॥
कालिन्दीर कूले केलि कदम्बेर वन।
रतन - वेदीर उपर बसाबो दुजन॥
श्यामगोरी अङ्गे दिबो (चुया) चन्दनेर गन्ध।
चामर ढुलाबो कबे हेरि मुखचन्द्र॥

❋ श्रीगौरगणोद्देश–दीपिका के मतानुसार ये रागमञ्जरी हैं।

गाँथिया मालतीर माला दिबो दोंहार गले।
अधरे तुलिया दिबो कर्पूर ताम्बूले॥
ललिता विशाखा आदि जतो सखीवृन्द।
आज्ञाय करिबो सेवा चरणारविन्द॥
श्रीकृष्णचैतन्यप्रभुर दासेर अनुदास।
सेवा अभिलाष करे नरोत्तम दास॥२८॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय ने स्वरूपाविष्ट अवस्था में पिछले पद्य में श्रीरूपमञ्जरी, श्रीरतिमञ्जरी और श्रीरसमञ्जरी के चरणों में शरणागत होकर श्रीयुगलचरण-सेवन और उनकी लीलामाधुरी आस्वादन के लिये प्रार्थना की थी। अब ललिता-विशाखा आदि परमप्रेष्ठ सखियों की आज्ञा से श्रीश्रीराधामाधव की पादपद्म-सेवा कर सकें, इसके लिये प्रार्थना कर रहे हैं। पहले कहते हैं-"राधाकृष्ण प्राण मोर युगलकिशोर। जीवने मरणे गति आर नाहि मोर॥" 'युगलकिशोर श्रीश्रीराधकृष्ण ही मेरे प्राण हैं। जीवन-मरण में युगल-चरणों को छोड़ मेरी और कोई गति नहीं।' रागानुगीय साधक की साधनदशा भी अति मनोरम या आस्वाद्य दशा होती है। स्वरूपाविष्ट साधक रह-रहकर स्वयं को मञ्जरीभाव का उपासक समझता है और स्वरूपावेश को प्रगाढ़ता में रह-रहकर स्वयं को मञ्जरीभाव का उपासक समझता है और स्वरूपावेश की प्रगाढ़ता में रह-रहकर राधारानी की सेवापरायण किङ्करी समझता है। दोनों ही दशाओं में उसे युगलकिशोर श्रीराधाकृष्ण ही प्राण लगते हैं और तद्गतप्राण साधक की जीवन-मरण में श्रीयुगल-चरण छोड़ अन्य गति नहीं रहती। इस प्रकार स्वरूपावेश की तरलता हो, चाहे प्रगाढ़ता-अटूट भाव से भजनरस की आस्वादनधारा चलती रहती है। श्रीयुगल की साक्षात् सेवाप्राप्ति की वासना की तरङ्ग हृदय-सरिता में समुच्छ्वसित हो उठती है!! और तभी कण्ठ में इस प्रकार की प्रार्थना ध्वनित होती है-"कालिन्दीर कूले केलि कदम्बेर वन.....अधरे तुलिया दिबो कर्पूर ताम्बूले" इत्यादि। प्रेम की मूर्ति श्रील ठाकुर महाशय ने राधारानी की प्रिय चम्पकमञ्जरी होकर भी साधक की तरह जो सब प्रार्थनायें की है, वह गौड़ीय वैष्णवों की अति मूल्यवान् भजन-सम्पदा है। साधक की स्वयं की प्रार्थना सुन्दर नहीं, महाजनों की इस महाशक्तिशाली प्रार्थना का अनुशीलन करने से प्रार्थना खरी होगी और अभीष्ट श्रीराधामाधव के चित्त को द्रवित कर साधक के प्रति उनकी करुणाराशि आकर्षित कर लायेगी।

श्रील ठाकुर महाशय ने स्वरूपाविष्ट अवस्था में जैसे ही कहा-"राधाकृष्ण प्राण मोर युगलकिशोर। जीवने मरणे गति आर नाहि मोर", (तैसे ही) राधारानी की कृपा से चम्पकमञ्जरी के रूप में उन्हें कालिन्दीतट पर केलिकदम्बवन में युगल की एक मधुर लीला का स्फुरण हुआ। वे चम्पक-मञ्जरीरूप में स्फुरण में देखते हैं-कालिन्दीतटवर्ती वन की अपूर्व शोभा है!

"मधुर - मधुर - नानापुष्प - सौरभ्य - लुभ्यन्
मधुर - मधुर - भृङ्गश्रेणिझङ्कार - रम्यम्।
मधुर - मधुर - गायत् कोकिलं शारि
कीरैर्मधुर - मधुर - घुष्टप्राणबन्धु - प्रबन्धम्॥
मधुर - मधुर - राधाकिङ्करी - क्लप्त - शय्यं
मधुर - मधुर - राधाकृष्ण - केलि - निकुञ्जम्।
मधुर - मधुर - तत् प्रेमोन्मदान्धालिवृन्दं
मधुर - मधुर - वृन्दारण्यमेवाश्रितोऽस्मि॥"

(वृ० म० १२/२५-२६)

'मधुर-मधुर विविध कुसुमसौरभ के कारण लोभनीय; मधुर-मधुर भृङ्गश्रेणियों की झङ्कार से रमणीय; मधुरातिमधुर कोकिलों की पञ्चम तान से और शुक-सारिकाओं के मधुर-मधुर युगलप्रबन्धपाठ से मुखरित; राधाकिङ्करियों द्वारा रचित मधुरातिमधुर कुसुमशय्याओं के कारण मनोहर; श्रीराधाकृष्ण के विलास-निकुञ्जों से भूषित; मधुर-मधुर श्रीयुगलकिशोर के प्रेम में उन्मत्त सखियों द्वारा परिवेष्टित-ऐसे मधुरातिमधुर श्रीवृन्दावन का मैं आश्रय लेता हूँ।' उसी रमणीय वृन्दारण्य में कालिन्दीतट पर केलिकदम्बवन में एक विलासकुञ्ज में मधुर युगलविलास! सखीमञ्जरियाँ कुञ्जरन्ध्रों पर आँखें रख युगलविलासमाधुरी का आस्वादन कर रही हैं! कैसी अपूर्व विलास-परिपाटी! सखी-मञ्जरियों की नयन-सफरियाँ युगलविलास-सरोवर में जी भरकर तैर रही हैं!! विलास का अवसान होता है। श्रीयुगल विलासशय्या पर बैठे हैं। ललिता-विशाखा आदि सखियाँ चम्पकमञ्जरी को आदेश देती हैं-युगल को कुञ्ज से बाहर रत्नवेदी पर बिठाकर सेवा करने का। किङ्करी चम्पकमञ्जरी कुञ्ज में प्रविष्ट हो श्रीराधामाधव को लाकर कालिन्दीतट पर कोलिकदम्बवन में रत्नवेदी पर बिठाती है। कालिन्दी के जलकणों का स्पर्श लिये और पुष्पगन्ध को बहन करता शीतल-सुवासित जो समीर है, उसके द्वारा सेवित रत्नवेदी!

चम्पकमञ्जरी श्रीराधामाधव के श्रीअङ्गों पर चूयाचन्दन का लेप कर रही हैं। (एक प्रकार के वृक्ष की जड़ से विशेष प्रक्रियाा द्वारा निकाले गये सुगन्धी द्रव्यविशेष को चूया कहा जाता है)। फिर असीम रूपमाधुर्यमण्डित श्रीयुगलकिशेर के वदनचन्द्रों की सुधाराशि का अपने नयन-चषकों से पान करते-करते चँवर झलती हैं। सुगन्धी मालती पुष्पों की मालायें तैयार कर युगल के कण्ठदेश में पहना दी हैं। स्वर्णवर्ण सुपक्व पान के पत्तों से मधुर-सरस बीड़े बनाये हैं, कपूर आदि द्रव्यों से उन्हें सुवासित किया है-ये श्रान्ति (थकान) हारक बीड़े श्रीयुगल के श्रीमुखों में अर्पित किये हैं। प्राण उड़ेलकर की गई कैसी अपूर्व सेवा है! राधकिङ्करी द्वारा की गई ऐसी मर्म की सेवा और कोई भगवत्सेवक नहीं जानता। कारण यह है कि ये किङ्करियाँ सेवारस की ही मूर्तियाँ हैं, सेवारस से ही गढ़े हैं इनके स्वरूप। यद्यपि स्फुरण है, तथापि साक्षात्कार की तरह ही सेवारस का आस्वादन निहित है। पान का बीड़ा पुनः अर्पित करने को होती है, पर वे श्रीमुख और नहीं दीखते, स्फूर्ति में विराम आ गया। स्फूर्ति में जो सेवायें प्राप्त हुई थीं, उनके लिये ललिता-विशाखा आदि सखियों से अतिशय लालसा के साथ प्रार्थना करते हैं।

अन्त में साधकावेश में अतिशय दैन्य के उदय होने पर कहते हैं–"श्रीकृष्णचैतन्य प्रभुर दासेर अनुदास। सेवा अभिलाष करे नरोत्तमदास॥" श्रीमन्महाप्रभु का दासानुदास या वैष्णव का दास होने की अभिलाष भला किसमें नहीं जगती? परतत्त्व की चरमसीमा श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने स्वयं अपनी बात कहकर विश्व–साधकों को वैष्णवदास होने की प्रेरणा दी है–

"नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे–
र्गोपीभर्त्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥"

(पदावली)

"मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, क्षत्रिय वैश्य शूद्र नहीं; मैं ब्रह्मचारी नहीं, गृहस्थ वाणप्रस्थ संन्यासी भी नहीं; किन्तु प्रकृष्टरूप से प्रकटित निखिल परमानन्दपूर्ण सुधासिन्धुतुल्य श्रीगोपीनाथ–पादपद्मद्वय का दासानुदास हूँ।' तभी श्रील ठाकुर महाशय ने श्रीकृष्णचैतन्यप्रभु का दासानुदास होना चाहा है। अथवा, श्रील ठाकुर महाशय के श्रीगुरुदेव श्रीलोकनाथप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य के दास हैं, उनके 'अनु' या अति दीन–हीन दास श्रील नरोत्तम ठाकुर हैं।

श्रील ठाकुर महाशय श्रीकृष्णचैतन्यप्रभु के दासानुदास होकर सेवा की अभिलाषा कर रहे हैं। भक्ति का अर्थ ही सेवा है। जिसके हृदय में सेवा की अभिलाषा जगेगी, वही सेवा चाहेगा और उपाय भी वही काम में लेगा। सेवाप्राप्ति के अनुकूल विषयों में उसकी चेष्टा या प्रवृत्ति होगी और प्रतिकूल विषयों में वितृष्णा या अरुचि निश्चय ही जगेगी। मुझ–जैसे जीव में लाभ पूजा प्रतिष्ठा आदि शत–शत वस्तुओं की अभिलाष सतत जगती है, सेवा–अभिलाष तो कभी नहीं जगती। महापुरुष कहते हैं–देहावेश ही अनर्थ हे, कृष्णेतर विषयों की अभिलाष जगाता है। देहावेश त्यागकर सतत स्वरूपावेश में अवस्थित रहने की चेष्टा करनी होगी। स्वरूप–जागरण के अनुरूप सेवाभिलाषा भी साधक के हृदय में अवश्य ही जगेगी॥२८॥

स्वअभीष्ट की लालसा

हरि हरि कबे मोर हइबे सुदिन?
केलिकौतुक रङ्गे करिबो सेवने।
ललिता विशाखा सने, जतेक सखीर गणे, मण्डली करिबो दोंहो मेलि।
राइ कानु करे धरि, नृत्य करे फिरि फिरि, निरखि गोआँबो कुतुहली॥
अलस–विश्राम घरे, गोवर्द्धन गिरिवरे, राइ कानु करिबे शयने।
नरोत्तम दासे कय, एइ जेनो मोर हय, अनुक्षण चरण सेवने॥२९॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय ने पिछले पद में स्वरूपावेश में एक मधुर लीला की स्फूर्ति प्राप्त की और उस स्फूर्ति में विराम आ जाने पर उत्कण्ठा से भरकर उसी लीलागत सेवा के लिये प्रार्थना की। इस पद में पहले आर्ति से भरकर उसी सेवा के लिये प्रार्थना करते हैं। साधकाभिमान में भी स्वरूप का अति प्रगाढ़ आवेश है। प्रति मुहूर्त साक्षात् सेवा-प्राप्ति की अभिलाषा जगती है। प्रार्थना कर रहे हैं-"हरि हरि कबे मोर हइबे सुदिन। केलिकौतुक रङ्गे करिबो सेवने॥" 'हाय हाय! ऐसा सुदिन कब आयेगा जब मैं श्रीयुगल के केलिकौतुक-रङ्ग के समय उनकी सेवा का सौभाग्य प्राप्त करूँगा।' युगल का जब केलिकौतुक चलता है, तो उनकी सेवा का मुख्य अधिकार किङ्करियों को ही होता है। युगल के लीलाविलास में उन्हें किञ्चित् भी सङ्कोच नहीं होता। उल्टे उन लोगों के दर्शन और सान्निध्य से केलि कौतुक का रङ्ग और बढ़ जाता है, कारण-ये लोग युगलविलास के आवेश की ही मूर्तियाँ हैं। इसीलिये विलास के समय ललिता आदि सखियाँ भी युगल-सेवा के लिये किङ्करियों को ही विलासकुञ्ज में भेजती है।

श्रील ठाकुर महाशय बड़ी आर्ति के साथ सेवा के लिये प्रार्थना करते होते हैं कि उन्हें स्फूर्ति होती है। प्रेमिक की आँखों के आगे चिन्तनीय लीला ही स्फूर्ति में उदित होती है। ध्यान गाढ़ा होते ही स्फुरण होता है। लीला साक्षात्कार की ही तरह दीखती है। आँखें बन्द कर ध्यान का आस्वादन, आँखों से देखकर ही स्फूर्ति का आस्वादन। स्फुरण में श्रील ठाकुर महाशय देखते हैं-गोवर्धन पर रास हो रहा है। वसन्त रास! ललिता-विशाखा आदि सखियाँ मण्डली (घेरा) बनाकर नृत्य कर रही हैं, बीच में श्रीराधाकृष्ण अपूर्व भङ्गिमा के साथ नृत्यरस में मग्न हैं! श्रीराधमाधव परस्पर का हाथ पकड़े घूम-फिर कर नृत्य कर रहे हैं। श्रील ठाकुर महाशय चम्पकमञ्जरी के रूप में अतिशय कौतूहल के साथ युगल की मोहन नृत्यमाधुरी देख रहे हैं, उसका आस्वादन कर रहे हैं। लगता है जैसे कि किसी अभिनव या अकल्पनीय रससिन्धु की माधुर्य तरङ्गें ऊँचे उठ-उठकर विश्व को डुबो रही हैं! क्या भक्त, क्या भगवान्-रासरस की वह उत्ताल तरङ्गमाला दोनों को ही आत्महारा बना देती है। भगवान् ने अपने श्रीमुख से कहा है-"सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्नास्ता मनोहराः। नहि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशं भवेत्"-'यद्यपि मेरी बहुत लीलायें हैं और सभी अत्यन्त मनोहर हैं, तथापि रासलीला की स्मृति मात्र से मेरा मन न जाने कैसे हो जाता है, मैं स्वयं नहीं समझ पाता।'

माथुर विरह-कातर व्रजदेवियाँ! विरह के उन विषम दिनों में भी रासरजनी की स्मृति ने उनके चित्त को आलोड़ित कर दिया था। उद्धव जी से प्रश्न किया था-

"ता किं निशा स्मरति यासु तदा प्रियाभिर्वृन्दावने कुमुदकुन्दशशांकरम्ये।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्यामस्माभिरीड़ितमनोज्ञकथः कदाचित्॥"

(भा० १०/४७/४३)

'हे यदुप्रवीर! तुम्हारे प्रभु मथुरा-नागरियों को पाकर हम लोगों को भले ही स्मरण न करें, पर क्या वे रासरजनियों की बात भी स्मरण नहीं करते? अन्य सभी हम लोगों से उसकी बात सुनते थे, आज हम ही तुमसे

उसकी बात पूछ रही हैं। उन रातों की बात याद आते ही हृदय एक अनिर्वचनीय उन्मादना से अधीर हो जाता है। उन रातों में कालिन्दी के काले जल में कुमुद आदि शुभ्र पुष्पों के विकसित होने से कृष्णा का कृष्णवर्ण जल दूध की तरह शुभ्र हो गया था। वृन्दावन राशि-राशि कुन्द आदि शुभ्र पुष्पों के खिलने से मानो हँसता था। शारदीय पूर्ण चन्द्रमा को शुभ्र किरणमालाओं से भूलोक और द्युलोक (स्वर्ग) शुभ्र हो गये थे। उस रासरजनी में शतकोटि गोपिकाओं के साथ उसका रास नृत्य हुआ था। सभी के पैरों के नूपुरों की मनोहर ध्वनि से रासस्थली मुखरित हो गई थी। जिन प्रियाओं के साथ उसका वह मनोहर नृत्य हुआ था, वे अब इस जगत् में नहीं, कारण-जिन्होंने वह सौभाग्य प्राप्त किया था, उन्हें क्या ऐसा विरह हो सकता है?' यद्यपि वे लोग ही वह रासनायिकायें हैं, तथापि विरह में उन्हें वे रासरजनियाँ इतनी दुर्लभ प्रतीत हो रही हैं।

जो भी हो, श्रील ठाकुर महाशय ने स्फुरण में चम्पकमञ्जरी के रूप में गोवर्धनतट पर रासरसमाधुरी आस्वादन की है। रासनृत्य के अवसान पर सखियोंसहित युगलकिशोर विश्राम कर रहे हैं। किङ्करी के रूप में श्रील ठाकुर महाशय ने उन सबकी सेवा का-वीजन, ताम्बूलदान, जलदान, माल्यदान, पादमर्दन आदि का सौभाग्य प्राप्त किया है।

विश्राम के पश्चात् निकटस्थ पृथक् पृथक् कुञ्जों में राधारानी और उनकी साथियों के साथ श्रीकृष्ण ने विलासरसास्वादन किया है। तत्पश्चात् रतिरस से अलसाये श्रीराधामाधव गोवर्धनगिरिगुहा में शयन कर रहे हैं। चम्पकमञ्जरी युगल-चरण वक्ष पर रखकर सेवा कर रही हैं; इसी बीच स्फूर्ति रुक जाती है। श्रील ठाकुर महाशय हाहाकार करते हुए उसी सेवा के लिये आर्ति से भरकर प्रार्थना करते हैं-"अलस विश्राम घरे, गोवर्धन गिरिवरे, राइ कानु करिबे शयन। नरोत्तमदासे कय, एइ जेनो मोर हय, अनुक्षण चरण सेवने॥"२९॥

स्वअभीष्ट की लालसा

गोवर्द्धन गिरिवर, केवल निर्जन स्थल, राइकानु करिबे विश्रामे।
ललिता विशाखा सङ्गे, सेवन करिबो रङ्गे, सुखमय रातुल चरणे॥
कनक सम्पुट करि, कर्पूर ताम्बूल भरि, जोगाइबो वदन-कमले।
मणिमय किङ्किणी, रतन नूपुर आनि, पराइबो चरण-युगले॥
कनक कटोरा पूरि, सुगन्धि चन्दन पुरि, दोंहाकार श्रीअङ्गे ढालिबो।
गुरुरूपा सखी वामे, त्रिभङ्ग भङ्गिम ठामे, चामरेर बातास करिबो॥
दोंहार कमल आँखि, पुलक हइया देखि, दुहुँ पद परशिबो करे।
चैतन्यदासेर दास, मने मात्र अभिलाष, नरोत्तम दासे सदा स्फुरे॥३०॥

सुधाकणिका व्याख्या-

स्फुरण में विराम आने पर श्रील ठाकुर महाशय ने सतत श्रीराधामाधव की सेवाप्राप्ति के लिये प्रार्थना

की। जैसे मायाबद्ध जीव की स्त्री-पुत्र-धन-ऐश्वर्य के प्रति स्वाभाविक प्रीति होती है, वैसे ही प्रीतिमान् भक्त की इष्ट के प्रति स्वाभाविक है। स्वरूप के आवेश में अभीष्ट के प्रति भाव की स्वाभाविकता आती है। रतिदशा में स्वरूप का आवेश प्रबल होता है, रतिमान् साधक यथावस्थित देह को मानो भूल ही जाता है। प्रेमस्तर पर स्वरूप का आवेश उससे भी अधिक गाढ़ा होता है। श्रील ठाकुर महाशय निताइचाँद के प्रेम की मूर्ति हैं, इसलिये स्वयं को चम्पकमञ्जरी ही समझ रहे हैं। तभी सतत सेवा की कामना हृदय में जगी है।

श्रील ठाकुर महाशय सेवा के अभाव में रो रहे थे, तभी उसी लीला का स्फुरण हुआ। रास-नृत्य के अन्त में श्रीराधामाधव गिरिवर गोवर्धन की निर्जन गुहा में विश्राम कर रहे हैं। ललिता-विशाख आदि के आदेश से चम्पकमञ्जरी श्रीयुगल के सुखमय लाल-लाल चरण दबा रही हैं। 'सुखमय' से सुख या आनन्द का प्राचुर्य ही समझना होगा। अर्थात् सेवा के समय आँखों से युगलरूप-माधुरी का दर्शन, कानों से दोनों का अति रहस्यमय रसालाप श्रवण, जीभ से युगल के चबाये ताम्बूल आदि का आस्वादन, नाक से युगल की अङ्गगन्ध-माधुरी का घ्राण और त्वक् (त्वचा) से उनके श्रीअङ्गों का मधुमय स्पर्श इत्यादि-प्रत्येक इन्द्रिय से सुखमय-सुखमयी के सुख का आस्वादन! जिनके रूप का ध्यान और गुण-लीला आदि का स्मरण-मनन कर भक्त का चित्तमन अपार सुख-सागर में तैरता है, उनके माधुर्य का आस्वादन एक साथ पञ्चेन्द्रिय से कर किङ्करियों को कितना सुख या आनन्द होता है, कौन कह सकता है? वस्तुतः राधाकिङ्करियों को आत्मसुख की चाह नहीं। किसी भी गोपिका में आत्मसुख की कामना नहीं, फिर भी उन्हें सुख होता है। इसका कारण बताते हुए श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है-

"गोपीगण करे जबे कृष्ण दरशन।
सुखवाञ्छा नाहि, सुख हय कोटिगुण॥
गोपिका-दर्शने कृष्णेर जे आनन्द हय।
ताहा हैते कोटिगुण गोपी आस्वादय॥
ता सभार नाहि निज सुख अनुरोध।
तथापि बाड़ये सुख, पड़िलो विरोध॥
ए - विरोधेर एक एइ देखि समाधान।
गोपिकार सुख कृष्णसुखे पर्यवसान॥"

(चै० च०)

उसी प्रकार युगल के सुख में ही राधाकिङ्करी के सुख का पर्यवसान होता है, अर्थात् राधामाधव को निरतिशय सुखी देखकर सुखी होकर ही किङ्करी ने यह बात कही है-"सुखमय रातुलचरणे"।

श्रीललिता-विशाखा आदि सखियों के आदेश और इङ्गित पर किङ्करी चम्पकमञ्जरी ने युगल की कुछेक अति सरस-मधुर सेवाओं का सौभाग्य प्राप्त किया है। स्वर्ण-मणिमय ताम्बूल-सम्पुट में जो कर्पूरवासित सरस पान के बीड़े सजाकर रखे थे, उनमें से बीड़े लेकर श्रीयुगल को खिला दिये हैं। श्रीराधामाधव किङ्करी-प्रदत्त

सरस ताम्बूल चबा रहे हैं, नाना प्रकार के सरस मधुर रसालाप में मग्न हो रहे हैं। रास के अन्त में विलासभवन में उद्दाम विलास की अतिशयता में राधारानी की मणिमय किंकिणी और रत्ननूपुर निकल गये थे। किङ्करी ने देख लिया। प्राणनाथ के साथ रसालाप में प्रेममयी स्वामिनी को तो कुछ ध्यान नहीं, किन्तु श्रीमती की अभिन्नप्राण किङ्करी जानती है। किसी छल से विलासकुञ्ज से उक्त दोनों वस्तुएँ लाकर पहनानी होंगी। वह किसी छल से विलासकुञ्ज जाकर गुप्तरूप से नूपुर किंकिणी ले आई है; श्रीचरण-सम्वाहन का छल कर श्रीमती के कटिदेश में किंकिणी और श्री चरणों में नूपुर पहना दिये हैं। इतनी कुशलता से श्रीमती की यह गुप्त सेवा की है कि श्रीमती की अन्तरङ्ग सखियों को भी पता नहीं चला। किङ्करी के प्रति श्रीमती का कैसा सन्तोष! सब समझकर श्रीमती ने कैसे करुणनेत्रों से किङ्करी की ओर देखा है! दासी के प्रति कैसा करुणनिर्झर नेत्रों से झर पड़ा है! यह अति गुप्त सेवा ही राधादासी की सम्पदा है-ऐसी सम्पदा जिस पर उसका एकाधिकार है!

ग्रीष्मकाल है, युगल के श्रीअङ्गों पर सुशीतल सुगन्धी चन्दन का लेप करेंगी। जिस पात्र में चन्दन भरा है, उसमें स्वर्ण कटोरा डुबाकर चन्दन लिया है; श्रीराधामाधव के श्रीअङ्गों पर उड़ेल कर लेप कर दिया है। अब चम्पकमञ्जरी अपनी श्रीगुरुदेवी मञ्जरी की बायीं ओर त्रिभङ्गी मुद्रा में खड़ी हो चँवर झल रही हैं। कितनी मार्मिक, कितनी प्राणवन्त सेवा!

श्रीयुगल चम्पकमञ्जरी की सेवा से परम सुखी हैं। उनके विशाल नेत्रों में सेवासुख की अभिव्यक्ति है, जिसे देखकर किङ्करी की देह पुलकित है; वह आनन्द में आत्महारा है! सेवारस की मूर्ति किङ्करी-सेवा से युगल को सुख हुआ है, यह सोचकर उसके आनन्द की सीमा नहीं। पुलकित हो युगल के पाद-सम्वाहन हेतु श्रीचरण स्पर्श करती है कि स्फुरण रुक गया। लीलारस की मन्दाकिनीधारा से विरह की मरुभूमि में आ गिरती है। स्फुरण होते हुए भी स्फूर्तिकाल में साक्षात्कार की ही तरह प्रत्यक्ष अनुभूति होती है और स्फुरण में विराम आने पर उतना ही हाहाकार, दैन्य, आर्ति उत्कण्ठा-यह सब जगते हैं। श्रील ठाकुर महाशय अति दैन्य के उदय होने पर सोचते हैं-किसी अज्ञात सुकृति के फलस्वरूप श्रीयुगल-सेवा का सौभाग्य मिला; उससे अधिक किसी दुष्कृति के फलस्वरूप ही सब खो बैठा। उस महानिधि के हाथ में आने की और कोई सम्भावना नहीं। श्रीमन्महाप्रभु के प्रिय भक्तगण की करुणा की बात मन में आती है। सोचते हैं, श्रीचैतन्यदासों की करुणा हो, तो सभी सम्भव है। तभी कहते हैं-"चैतन्यदासेर दास, मने मात्र अभिलाष, नरोत्तम दासे सदा स्फुरे॥"३०॥

स्वअभीष्ट की लालसा

हरि हरि आर कि एमन दशा हबो।
कबे वृषभानुपुरे, आहीरी गोपेर घरे, तनया हइया जनमिबो॥
जावटे आमार कबे, ए पाणि ग्रहण हबे, बसति करिबो कबे ताय।
सखीर परम श्रेष्ठ, जे ताहार हय प्रेष्ठ, सेवन करिबो तार पाय॥
तेंहो कृपावान् हइया, रातुल चरणे लइया, आमारे करिबे समर्पण।
सफल हइबे दशा, पूरिबे मनेर आशा, सेवि दुहाँर युगल-चरण॥

वृन्दावने दुइजन, चतुर्दिके सखीगण, सेवन करिबो अवशेषे।
सखीगण चारिभिते, नाना यंत्र लइया हाते, देखिबो मनेर अभिलाषे॥
दुँहु चाँदमुख देखि, जुड़ाबे तापित आँखि, नयने बहिबे अश्रुधार।
वृन्दार निदेश पाबो, दोंहार निकटे जाबो, हेनो दिन हइवे आमार॥
श्रीरूपमञ्जरी सखी, मोरे अनाथिनी देखि, राखिबे रातुल दुटि पाय।
नरोत्तमदास भणे, प्रिय नर्मसखीगणे, कबे दासी करिबे आमाय॥३१॥

सुधाकणिका व्याख्या-

स्फूर्ति में विराम आ जाने से श्रील ठाकुर महाशय के चित्त में विपुल आर्ति उत्कण्ठा का उदय हुआ है। साधक-आवेश में प्रार्थना करते हैं-"हरि हरि आर कि एमन दशा हबो। कबे वृषभानुपुरे, आहीरी गोपेर घरे, तनया हइया जनमिबो।" 'हाय हाय! मेरा ऐसा सौभाग्य कब होगा कि वृषभानुपुर या बरसाना में अहीर गोप ❋ के घर तनया बनकर जन्म लूँगा।' गौड़ीय वैष्णव साधकगण श्रीगुरुप्रदत्त सिद्धस्वरूप का और श्रीश्रीराधाकृष्ण की सेवा का चिन्तन करते हैं। प्रेमप्राप्ति के पश्चात् साक्षात् सेवा-प्राप्ति के विषय में श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ति महोदय ने श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ की आनन्दचन्द्रिका टीका में जिस युक्तिपूर्ण सिद्धान्त की अवतारणा की है, उसका मर्मार्थ इस प्रकार है : युगल-उपासक को साधकदेह में प्रेम स्तर तक की प्राप्ति ही सम्भव होती है। प्रेम से ऊपर के स्नेह, मान, प्रणय आदि जो स्तर हैं, उनकी साधनभूमि भौमव्रज में प्रकट लीलाक्षेत्र ही है। इन स्तरों को पार कर महाभाव के स्तर पर पहुँचा जाता है सिद्धदेह से नित्यसिद्धाओं के सङ्ग में। महाभाव से ही श्रीराधाकृष्ण की सेवा-प्राप्ति सम्भव होती है। जिस ब्रह्माण्ड में साधक ने प्रेम प्राप्त किया है, उस ब्रह्माण्ड के भौमव्रज में लीला जाने कब प्रकट हो; तब तक प्रेमप्राप्त उत्कण्ठाशील साधक को रखना कभी सम्भव नहीं, कारण-उसके प्राण सेवाप्राप्ति की उत्कण्ठा से नितान्त कातर होते हैं। इसलिये साधक के प्रेम प्राप्त करते ही श्रीकृष्ण की अघटन-घटन-पटीयसी योगमाया जातप्रेम साधकात्मा को उस ब्रह्माण्ड में ले जाती है, जिस ब्रह्माण्ड में कृष्णलीला प्रकट है। वहाँ भौमव्रज में वृषभानुपुर में किसी अचिन्त्य शक्ति के बल पर साधक के अन्तश्चिन्तित किशोरी स्वरूप को ही गोपीगर्भ में स्थापित कर देती हैं; कारण-जन्म लिये बिना और बाल्य पौगण्ड कैशोर प्राप्त किये बिना नरलीला-अभिमान भी सिद्ध नहीं होता। नरलीलाभिमान अर्थात् वह किसकी कन्या, किसकी पत्नी इत्यादि है-इस बात का ज्ञान। उसी स्थान पर प्रेमिका के परकीया-अभिमान की सिद्धि के लिये जावट में पतिन्मन्य गोप के साथ योगमाया-कल्पित स्वाप्निक परिणय भी होता है। फिर श्रीराधा-ललिता आदि का सङ्ग मिलता है, उन लोगों के सङ्ग और कृपा से महाभाव की प्राप्ति होती है तथा श्रीयुगल की साक्षात् सेवा मिलती है। इसीलिये कहा गया है-"जावटे आमार कबे, ए पाणिग्रहण हबे, बसति करिबो कबे ताय। सखीर परम श्रेष्ठ, जे ताहार हय प्रेष्ठ, सेवन करिबो तार पाय॥" यहाँ सखियों की परम श्रेष्ठ श्रीललिता; वे अपनी प्रेष्ठ श्रीरूपमञ्जरी के हाथों

❋ उत्तर पश्चिम प्रदेश की गोप (ग्वाला) जाति को आभीर या अहीर कहा जाता है।

साधकमञ्जरी को समर्पित करेंगी। साधकमञ्जरी श्रीरूपमञ्जरी की श्रीपादपद्मसेवा में आत्मनियोग करेगी। श्रीरूपमञ्जरी आदि नित्यसिद्धा मञ्जरियों की कृपा से साधकमञ्जरी को युगल की विविध सेवा की परिपाटी सीखने को मिलेगी। उन लोगों के सङ्ग और कृपा के फलस्वरूप वह उस सेवा-परिपाटी में परम निपुण हो जायेगी और श्रीरूपमञ्जरी उसे सभी प्रकार से युगल-सेवा के योग्य समझेंगी, तब कृपाकर उसे युगलसेवा में नियुक्त करेंगी। साधकात्मा की सुचिरकाल की आशा पूरी होगी; वह सदा-सदा के लिये धन्य कृतार्थ हो जायेगी। तभी कहा है-"तेंहों कृपावान् हइया, रातुल चरणे लइया, आमारे करिबे समर्पण। सफल हइबे दशा, पूरिबे मनेर आशा, सेवि दुँहार युगल चरण॥"

समस्त मञ्जरियों की अध्यक्षा श्रीरूपमञ्जरी करुणा कर साधकमञ्जरी को युगल-सेवा न दें, तो उस सुदुर्लभ सेवा को पाने का अधिकार किसी को नहीं-यह समझा जा रहा है। वे अपार करुणा का सागर हैं; विश्व के युगल-उपासकों को युगलसेवा देकर धन्य करने को सतत उत्सुक आग्रही। ऐसा न होता, तो इस श्रीमन्महाप्रभु के युग में श्रीरूप गोस्वामी के रूप में अवतीर्ण होकर इतने ग्रन्थ लिखकर लोगों को श्रीश्रीराधामाधव की इतनी रहस्यमय लीलाकथा क्यों बतातीं ? स्पष्ट है कि उनकी करुणा में कोई कृपणता नहीं; वे विश्वभर के युगल-उपासकों की परम-चरम आशा हैं, भरोसा हैं। पहले दिन वे साधकमञ्जरी को किस प्रकार साथ लेकर श्रीयुगल-सेवा में नियुक्त करती हैं, श्रील ठाकुर महाशय ने स्वयं वर्णन किया है (पद संख्या ४०-४२)। हम लोग यथास्थान उसका आस्वादन करेंगे। श्रीरूपमञ्जरी द्वारा श्रीयुगलचरण-सेवा में नियुक्त करने पर साधकमञ्जरी की दशा सफल होगी-उसके हृदय में युगल-सेवा का जो दृढ़ विश्वास सुचिरकाल जड़ जमाये था, वह पूरा होगा; युगल की श्रीपादपद्म-सेवा पाकर वह अनन्तकाल के लिये धन्य या कृतार्थ होगी।

श्रीरूपमञ्जरी की करुणा से श्रीश्रीयुगलसेवा प्राप्त कर धन्य हुई साधकमञ्जरी को जो सौभाग्य-सम्पदा मिलेगी, वही वर्णन कर रहे हैं इस त्रिपदी के शेष अंश में-"वृन्दावने दुइजन.....कबे दासी करिबे आमाय॥" मधुर वृन्दावन में मधुर युगलकिशोर विराजेंगे। उनके नि:सीम रूपमाधुर्य से जगत् छा जायेगा। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है-

"अङ्गेऽङ्गेऽनन्तपारा: किरदतिमधुराश्चर्यलावण्यवण्या
गौरश्यामाभिरामा: स्मरविकृतिचमत्कारकोटिश्च विभ्रत्।
नित्याश्चर्यं किशोरद्वयमुरुपुलकं यद्रसाविष्टमुच्चै:
कुञ्जे कुञ्जे विहारि स्मर हृदय सदा श्रील-वृन्दावनं तत्॥"

(वृ० म० ६/८)

'गौर-श्याम कान्ति अति नयनाभिराम है, प्रत्येक अङ्ग से मधुर आश्चर्यजनक लावण्यवन्या की अनन्त अपार कान्तिच्छटा छिटका रहे हैं, स्मर-विकारजनित कोटि-कोटि चमत्काररराशि धारण किये हैं-ऐसे युगल पुलकित देह से रसाविष्ट चित्त से जिस वृन्दावन के कुञ्ज-कुञ्ज में विहार कर रहे हैं, हे मन! तुम उसी वृन्दावन का स्मरण करो।'

जिनका अनन्त सौन्दर्य, अनन्त कान्ति, असीम सुषमा दिग्‌दिगन्त में खेल रही है, वे ही माधुर्यवारिधि युगलकिशोर वृन्दावन में विराज करेंगे। वैसे ही सौन्दर्य-माधुर्य से मण्डिता सखियाँ उन्हें घेरे रहेंगी। श्रीयुगलसेवा के अन्त में मञ्जरी सखियों की भी यथायोग्य सेवा करेगी। सखियाँ सितार, इसराज, वीणा, पखावज, मृदङ्ग आदि लेकर युगल का मधुर लीला-गुणगान करेंगी। यह देखकर किङ्करी धन्य होगी। श्रीश्रीराधामाधव युगल के अनन्य सौन्दर्य-माधुर्य-विमण्डित चन्द्रमुख देखकर मञ्जरी के चिरतापित नयन सुशीतल होंगे। नेत्रों से अश्रुधार बहेंगी। वनदेवी वृन्दा की कृपा भी प्राप्त करेगी। वृन्दा श्रीयुगल के निकट जाकर उनकी सेवा का आदेश देंगी, तो वह उनकी आज्ञा से श्रीयुगल की श्री अङ्गसेवा पाकर धन्य होगी।

श्रीरूपमञ्जरी नवागत किङ्करी को अनाथिनी देखकर उसे अपने लाल-लाल चरणों में स्थान देंगी। मञ्जरी अन्यान्य सभी प्रियनर्मसखियों अर्थात् नित्यसिद्धा मञ्जरियों की भी कृपा पाकर धन्य होगी। सभी उसे अपनी किङ्करी बनाकर श्रीचरणों में आश्रय देंगी। इसी में गौड़ीय वैष्णवों की साधना की चरम पूर्णता है। श्रील ठाकुर महाशय ने अपनी प्रार्थना में जो आकांक्षा व्यक्त की है, उसी शाश्वत आकांक्षा से गौड़ीय वैष्णवों का जीवन भरा होता है। वे यही आकांक्षा लेकर साधन-भजन करते हैं और सिद्धि में तदनुरूप सेवा पाकर धन्य होते हैं॥३१॥

लालसामयी

हरि हरि आर कि एमन दशा हबो।

छाड़िया पुरुष देह, कबे बा प्रकृति हबो, दुँहु अङ्गे चन्दन पराबो॥
टानिया बाँधिबो चूड़ा, नव गुञ्जाहारे बेड़ा, नाना फूले गाँथि दिबो हार।
पीतवसन अङ्गे, पराइबो सखी सङ्गे, वदने ताम्बूल दिबो आर॥
दुँहु रूप मनोहारि, हेरिबो नयन भरि, नीलाम्बरे राइ साजाइया।
नवरत्नजरि आनि, बान्धिबो विचित्र वेणी, ताहे फूल मालती गाँथिया॥
से ना रूपमाधुरी, देखिबो नयन भरि, एइ मने करि अभिलाष।
जय रूप सनातन, देहो मोरे एइ धन, दिवेदये नरोत्तम दास॥३२॥

सुधाकणिका व्याख्या-

स्वरूपाविष्ट अवस्था में श्रील ठाकुर महाशय अभीष्ट के चरणों में लालसामयी प्रार्थना प्रस्तुत कर रहे हैं। "हरि हरि आर कि एमन दशा हबो। छाड़िया पुरुष देह, कबे बा प्रकृति हबो, दुँहु अङ्गे चन्दन पराबो॥" मञ्जरी भाव के साधकों को जड़ीय स्त्री-पुरुष आदि देह का अभिमान त्यागकर गोपी-प्रकृति बनना होगा। रागानुगीय साधक श्रीगुरुदेव से अपने सिद्धस्वरूप का या एकादश भाव का परिचय प्राप्त करते हैं। वे जड़ीय मायिक नश्वर

देह का आवेश त्यागकर सतत उसी मञ्जरीदेह के आवेश को लेकर भजन करते हैं। साधन-भजन जब परिपक्व होता है, तो साधक जड़ीय देह-दैहिकादि में मैं-मेरा अभिमान त्याग कर प्रकृति-अभिमान से विभावित होता है। पहले यह बुद्धिपूर्वक या यत्न के साथ अभ्यास करना पड़ता है, फिर रति स्तर पर स्वाभाविक हो जाता है। तब साधक मानो यथावस्थित पुरुषदेह त्यागकर ही रहता है। प्रेमप्राप्ति के पश्चात् साधकदेह के भङ्ग होने पर प्रकृतिरूप में लीलाराज्य में श्रीयुगलकिशोर की साक्षात् सेवा पाकर साधकात्मा धन्य हो जाता है। पुरुषदेह त्याग कर प्रकृति होने का यही रहस्य है। इसलिये 'प्रकृति' का अर्थ गोपी-प्रकृति है, यही समझ में आता है। गोपियाँ महाभाववती हैं; राधारानी साक्षात् महाभाव की ही मूर्ति हैं; भाव और मूर्ति एक ही वस्तु है। श्रीराधाकिङ्करियाँ राधारानी की ही अभिन्नदेह अभिन्नप्राण हैं, इसलिये साधक की गोपीप्रकृति-देह भाव की ही देह है, यह कहना ही पर्याप्त है। प्रकृतिस्वरूप के चिन्तन में भाव के चिन्तन की प्रधानता ही रहेगी। रागानुगा भजन के अधिकारी निरूपण में "तेषां भावाप्तये लुब्धः" "तद्भावाकांक्षिणो ये स्युः" इत्यादि महाजनवाक्यों में भाव के प्रति लोभ या आकांक्षा को ही ग्रहण किया गया है। भाव के प्रति लक्ष्य न रहने से तद्भाव-भावित अन्तःकरण का गठन साधक के लिये अति दुष्कर है। तद्भाव-भावित अन्तःकरण की अस्पष्टता से सिद्धदेह का चिन्तन भी अस्पष्ट रह जायेगा। साधकों में गोपिका-भाव के प्रति जिसका जिस मात्रा में लोभ बढ़ेगा अथवा अन्तःकरण तद्भाव से संस्कारबद्ध होगा, वह उसी मात्रा में रागानुगा भजन में अग्रसर हो सकेगा, यह समझना होगा।

श्रील ठाकुर महाशय ने इसके पश्चात् "दुँहु अङ्गे चन्दन पराबो.....निवेदये नरोत्तम दास" इस शेष अंश में श्रीयुगल को सेवामाधुरी और उसके साथ उनकी रूपमाधुरी के आस्वादन के लिये प्रार्थना की है। सेवाप्राण राधाकिङ्करी का हृदय सतत सेवा-कामना से ही भरा रहता है। सेवा में ही अति अद्‌भुत युगलमाधुरी का आस्वादन निहित होता है। स्वरूपाविष्ट श्रील ठाकुर महाशय राधाकिङ्करी के रूप में युगल के श्रीअङ्गों पर चन्दन लगायेंगे। श्रीअङ्गों को सुशीतल रखने के लिये ही पहले चन्दन की बात कही है। श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है-"कृष्णअङ्ग सुशीतल, कि कहिबो तार बल, छटाय जिने कोटीन्दुचन्दन"-वही श्रीकृष्णअङ्ग स्मर ताप से तप्त होता है, तो श्रीराधा के स्पर्श से सुशीतल हो जाता है। ऐसे परम सुशीतल युगल के श्रीअङ्गों पर चन्दन लगाकर राधाकिङ्करी सुशीतल करेगी। यही प्रीति की रीति या स्वभाव है। वनविहार के अन्त में, नृत्यविनोद के पश्चात् या विलास के अन्त में श्रीयुगल की वेशभूषा अस्तव्यस्त या शिथिल हो जाती है, तो किङ्करी अभिलाषा व्यक्त करती है-अति मनोहर चूड़ा कसकर बाँधने की, नवगुञ्जाहार से वेष्टित करने की। नाना प्रकार के पुष्पों से विचित्र मनोहर हार तैयार कर युगल के गलों में पहनायेगी। सखियों के साथ श्यामसुन्दर के श्रीअङ्ग पर पीत वस्त्र धारण करा, नीलाम्बर राइ (राधारानी) को सजाकर नवरत्नों की जरी और मालती पुष्पों की मालाओं से उनकी विचित्र वेणी बाँधेगी। तत्पश्चात् युगल के वदनों में ताम्बूल देकर मनोहर नयनाभिराम युगलरूप दर्शन करेगी। युगलरूप-माधुरी दर्शन के मोह से अधीर होकर ही दो बार कहा है-"दुँहु रूप मनोहारि, हेरिबो नयन भरि" और "से ना रूपमाधुरी, देखिबो नयन भरि"। मधुर वृन्दावन में मधुर युगल-रूप देखने का मोह किसके प्राणों में नहीं जगता? श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती ने लिखा है (वृ० म० ६/९२-९३)-

"तत् कालिन्दीविपुलपुलिनं सा च

वृन्दावनश्रीः, सा सुच्छाया निविड़निविड़ा श्रीकदम्बद्रुमाणाम्।

सा वैदग्धीमयनववयः श्रीसखीमण्डली ते,

गौरश्यामे रसिकमहसि कस्य नो मोहनाय?

प्रत्यङ्ग दिव्यवास प्रसरति मधुराश्चातिनिर्भान्ति भासः

प्रेम्णो नाना-विकाराः प्रतिपदमधिको माधुरीर्णा प्रवाहः।

सौन्दर्याम्भोधिभूमा निरवधिरतिवर्द्धिष्णु-कन्दर्पलौल्यं

वृन्दारण्येशयोर्ये हृदि दधति पदं तान्नमो भूरिभागान्॥"

'वही विपुल कालिन्दीपुलिन-वही वृन्दावन-शोभा-सुन्दर कदम्बो की वही अति निविड़ सुशीतल छाया-वही वैदग्धीमय नववयः-शोभायुक्त सखीमण्डली और वे ही गौर-श्याम रसिकविग्रह युगल-भला यह सब किसमें मोह उत्पन्न नहीं करता?

जिनके प्रति अङ्ग में दिव्य सुगन्ध फैली है-अति मधुर प्रभाराशि फूट रही है-पग-पग पर नाना प्रकार का भाव और माधुरीप्रवाह अत्यन्त बढ़ रहा है-सौन्दर्यसिन्धु की पराकाष्ठा और निरन्तर रतिवर्धनशील कन्दर्प-चञ्चलता प्रकट हो रही है; जिन लोगों ने इस वृन्दावनाधीश युगल के पदकमल हृदय में धारण कर लिये हैं-उन महाभाग्यवान् जनों को प्रणाम करता हूँ।'

उन्हीं प्रणम्य व्यक्तियों में अन्यतम हैं श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय। श्रीश्रीराधाश्याम उनके हृदय में विराज रहे हैं, अन्यथा प्रार्थना की माधुरी क्या इतनी अपूर्व होती? भाव की परिपाटी, भाषा का लालित्य, लालसा की अतिशयता-लगता है जैसे साक्षात् सेवा ही कर रहे हैं। प्रार्थना कर रहे हैं, यह बात तो मन में ही नहीं आती। तभी तो महाशक्तिशाली प्रार्थना है-इन प्रार्थना-वाणियों के अनुशीलन या श्रवण-कीर्तन से साधक के प्रति श्रीयुगल की करुणा उतर आयेगी। साधक युगल-सेवारस का आस्वादन कर धन्य होगा। श्रील ठाकुर महाशय दैन्य से भरकर सोचते हैं-युगल के चरणों में जो सेवा-अभिलाषा व्यक्त की है, वह क्या मुझ-जैसे दीनहीन भजनसाधनशून्य व्यक्ति के लिये सम्भव है? परम करुण श्रीरूप-सनातन की करुणा का स्मरण होता है, तो सोचते हैं-'रूप सनातन की वस्तु है यह सेवा-सम्पदा। यदि वे कृपाकर प्रदान करें, तो मुझ-जैसा अधम जीव भी उसे पा सकता है।' यह सोचकर सेवा-लालसा से उत्फुल्ल हो कहते हैं-"जय रूप-सनातन, देहो मोरे एइ धन, निवेदये नरोत्तम दास।" व्रज की श्रीरूपमञ्जरी और लवङ्गमञ्जरी के अवतार, श्रीमन्महाप्रभु के प्रिय पार्षद-श्रीश्रीरूप-सनातन। इन दोनों के आनुगत्य में श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु के विमल भजन-पथ पर चलने से श्रीरूपसनातन की कृपा से इस त्रिपदी में व्यक्त सेवासम्पत्ति प्राप्त होगी-यही व्यंजित है॥३२॥

सिद्धदेहेन श्रीवृन्दावनेश्वर्यां साक्षाद्विज्ञप्ति

(सिद्धदेह से श्रीवृन्दावनेश्वरी को विज्ञप्ति)

प्राणेश्वरि! एइबार करुणा करो मोरे।
दशनेते तृण धरि, अञ्जलि मस्तके करि, एइजन निवेदन करे॥
प्रिय सहचरी सङ्गे, सेवन करिबो रङ्गे, अङ्गे वेश करिबेक साधे।
राखो एइ सेवाकाजे, निज पदपङ्कजे, प्रिय सहचरीगण माझे॥
सुगन्धि चन्दन, मणिमय आभरण, कौषिक वसन नाना रङ्गे।
एइ सब सेवा जार, दासी जेनो हउँ ताँर, अनुक्षण थाकि ताँर सङ्गे॥
जल सुवासित करि, रतन भृङ्गारे भरि, कर्पूर वासित गुयापान।
एसब साजाइया डाला, लवङ्ग मालती माला, भक्ष्यद्रव्य नाना अनुपाम॥
सखीर इङ्गित हबे, एसब आनिबो कबे, जोगाइबो ललितार काछे।
नरोत्तम दासे कय, एइ जेनो मोर हय, दाँड़ाइया रहु सखीर पाछे॥३३॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय ने राधारानी की किङ्करी के रूप में श्रीयुगल की प्रेम-सेवा की कामना की है। स्वरूप का निविड़ आवेश है; स्वयं को चम्पकमञ्जरी ही समझ रहे हैं। देहावेश जाता है स्वरूप के आवेश से; श्रील ठाकुर महाशय के साथ यही हुआ है। राधारानी के श्रीचरणों में प्रार्थना करते हैं-"प्राणेश्वरि! एइ बार करुणा करो मोरे। दशनेते तृण धरि, अञ्जलि मस्तके करि, एइजन निवेदन करे॥" 'प्राणेश्वरि!' सम्बोधन से चम्पकमञ्जरी ने राधारानी की सेवा के अभाव में प्राणों की कातरता ईश्वरी के चरणों में निवेदन की है। यद्यपि राधारानी के श्रीचरणाश्रित भक्त उनकी करुणाधारा में सतत अभिसिंचित (भीगे) रहते हैं, तथापि अभीष्ट की करुणा से भक्त को कभी तृप्ति नहीं होती, इसलिये वे सतत करुणा के लिये प्रार्थना करते रहते हैं। जैसे अतिशय वुभुक्षु-स्वभाव विप्र भूरिभोजन करके भी सोचता है कि कुछ भी नहीं खाया, वैसे ही भक्त प्रचुर भगवत्कृपा पाकर भी 'हा कृपा! हा कृपा!' कहता कृपाभिक्षा में तन्मय रहता है। श्रील ठाकुर महाशय स्वयं को राधारानी की अतिशय दीन किङ्करी समझकर अति दैन्यवश दाँतों में तृण दबाकर और सिर पर अञ्जलि बाँधकर प्रार्थना कर रहे हैं-"प्रिय सहचरी सङ्गे, सेवन करिबो रङ्गे, अङ्गे वेश करिबेक साधे। राखो एइ सेवा काजे, निज पदपङ्कजे, प्रिय सहचरीगण माझे॥" यहाँ 'प्रिय सहचरी' का अर्थ अन्यान्य सेवापरायण किंङ्करियाँ ही है। इनकी परस्पर की प्रियता और साहचर्य अति विलक्षण है। मानो एक ही प्राण अनन्त देह धारण कर युगलसेवा में तन्मय हो इधर-उधर घूम रहा है। इन लोगों के स्वरूप-निरूपण में कहा गया है (वृ० म० २/८६)-

"श्रीराधापादपद्मच्छविमधुरतर-प्रेमचिज्ज्योतिरेका-
म्भोधेरुद्भुत-फेनस्तवकमयतनूः सर्ववैदग्ध्यपूर्णाः।
कैशोरव्यञ्जितास्तद्घनरुगपघन-श्रीचमत्कार-भाजो
दिव्यालङ्कारवस्त्रा अनुसरत सखे राधिका-किङ्करीस्ताः॥"

'हे सखे! श्रीराधारानी की पादपद्मच्छवि मधुरतर प्रेम-चिद्घन ज्योति की एकमात्र सिन्धु है-उससे उत्पन्न फेनसमूह ही जिन लोगों के शरीर हैं; जो सर्ववैदग्धपूर्णा हैं; किशोरियाँ हैं; घनीभूत तारुण्यच्छटा से जिनके अवयव परम सुन्दर और चमत्कार-भाजन हो गये हैं, दिव्य वस्त्र-अलङ्कारों से सुशोभिता उन राधाकिङ्करियों का अनुसरण करो।'

स्वरूपाविष्ट दशा में श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'प्रिय सहचरियों के साथ रङ्गपूर्वक सेवा करूँगी, तुम्हारे अङ्ग पर वेश-रचना करूँगी-मेरी बड़ी साध है। तुम अपने सेवाकार्यों में अपने श्री पादपङ्कजों में प्रिय सहचरियों में मुझे रख लो।' अन्य सेवकों द्वारा की गई सेवा की तरह राधाकिंकरियों की सेवा नहीं। इन लोगों का दास्य है मधुर रस के अन्तर्गत-सर्वोपरि परकीय मधुर रस। सखी होकर भी दासी, सख्यरस की सेवाधिकारिणी-इसीलिये प्रत्येक सेवा 'रङ्ग' या कौतुक के साथ चलती है। राधारानी के श्रीअङ्ग पर किङ्करी चम्पकमञ्जरी वेश-रचना करेगी-यही उनके मन की सुचिर आशा है। तभी राधारानी के श्रीचरण-सान्निध्य में उनकी प्रिय सहचरियों के साथ रहने की वासना ईश्वरी के चरणों में प्रस्तुत की है। महाभाव के अङ्ग पर वेश-रचना करनी है, वैसी योग्यता न हो तो यह सम्भव नहीं। केवल वेशरचना ही नहीं, परिचर्या-सेवा के साथ निहित रहेगी-अपूर्व प्रसङ्गरूपा सेवा! ❋ राधारानी की प्रिय नित्यकिङ्करियों के साहचर्य में ही उस सेवा की शिक्षा मिलेगी, तभी कहा है-"सुगन्धि चन्दन, मणिमय आभरण, कौषिक वसन नाना रङ्गे। एइसब सेवा जाँर, दासी जेनो हमों ताँर, अनुक्षण थाकि ताँर सङ्गे॥" राधारानी की वेशरचना-सेवा जिन नित्य किङ्करियों की (अपनी वस्तु) है, अर्थात् जो सुगन्धी चन्दन, मणिमय अलङ्कार और परिधेय पट्टवस्त्र आदि सेवा करती हैं, उनके दास्य और आनुगत्य में सतत उनके निकट रहने के लिये ईश्वरी के चरणों में प्रार्थना की गई है। तभी तो इन सब सेवाओं की परिपाटी या कुशलता सीखने को मिलेगी।

इसके अतिरिक्त निकुञ्जमन्दिर में श्रीयुगलकिशोर की जिन सेवाओं की अभिलाषा व्यक्त की है, वे इस शेष अंश में हैं-"जल सुवासित करि...दाँड़ाइया रहु सखीर पाछे"। चम्पकमञ्जरी श्रीयुगल की सेवा के लिये सोने के भृङ्गार में सुवासित जल भरकर रखेंगी। सुपारी, कत्था आदि से युक्त कर्पूरवासित पान के बीड़े सजायेंगी; लवङ्ग और मालती पुष्पों से मालायें तैयार कर रत्नपात्र में सेवा के उपकरण सजाकर रखेंगी। सखी का इङ्गित पाकर ये सब द्रव्यादि ललिता के पास ले जायेंगी और सेवा का संकेत पाने की आशा में सतर्क प्राणों से सखी के पीछे खड़ी रहेंगी। स्वरूपाविष्ट श्रीपाद ग्रन्थकार की अपूर्व सेवा-वासना की परम्परा चल रही है॥३३॥

पुनस्तथैव विज्ञप्तिः

(पुनः वही विज्ञप्ति)

अरुण कमल-दले, शेज बिछाइबो, बसाइबो किशोर-किशोरी।
अलका-आवृत मुख, पंकज मनोहर, मरकत श्याम-हेमगोरी॥

❋ श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद की विलापकुसुमाञ्जलि (श्लोक १८-४४) और हमारी परिमलकणा व्याख्या देखिये।

प्राणेश्वरि! कबे मोरे हबे कृपादिठि।
आज्ञाय आनिया कबे, विविध फूलवर, वचन शुनबो दुँहु मिठि॥
मृगमद-तिलक, सिन्दूर बनायब, लेपब चन्दन गन्धे।
गाँथि मालती फूल, हार पहिराओब, धाओयाब मधुकरवृन्दे॥
ललिता कबे मोरे, बीजन देओब, बीजब मारुत मन्दे।
श्रमजल सकल, मिटब दुँहु कलेवर, हेरब परम आनन्दे॥
नरोत्तम दास, आश पदपंकज, सेवन माधुरी पाने।
होओब हेनो दिन, ना देखिये कोनो चिन, दुँहुजन हेरब नयाने॥३४॥

सुधाकणिका व्याख्या-

स्वरूपाविष्ट श्रील ठाकुर महाशय का चित्त-सेवा-वासना से भरपूर है। सेवा के माध्यम से युगलमाधुरी आस्वादन की कैसी विपुल अभिलाषा! उस परम लोभनीय वस्तु को पाने के लिये हृदय में कैसी प्रबल छटपटाहट! इस पद में भी युगल की विविध सेवा की अभिलाषा व्यक्त की है। पिछले पद में सेवा-सामग्री सजाकर ललिता के पास रखने के लिये प्रार्थना की थी; अब श्रीयुगल की साक्षात् सेवा के लिये प्रार्थना कर रहे हैं।

निभृत निकुञ्ज में श्रीराधामाधव का विलास होगा। विलास की अतिशयता से कुशुमशय्या विमर्दित होगी। विलासकुञ्ज में गमनागमन का अबाध अधिकार किङ्करियों को ही है। सखियाँ भी सेवा के लिये इन्हीं को कुञ्ज में भेजती हैं। किङ्करी के रूप में श्रील ठाकुर महाशय विलासकुञ्ज में प्रवेश कर देखेंगे-विलासशय्या मर्दित है। वे अरुण-वर्ण कमलों की पंखुड़ियों से शय्या-रचना करेंगे और किशोर-किशोरी श्रीराधाश्यामसुन्दर को उस पर बिठायेंगे। विलास के अन्त में श्रीराधामाधव की कैसी अपूर्व शोभा! स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णतम तत्त्व हैं। वेद कहते हैं-पूर्ण स्वरूप में ह्रास-वृद्धि नहीं; किन्तु वेदसार श्रीमद्भागवत कहती हैं-अतिशयता है। श्रीपाद शुकमुनि ने इसका समाधान किया है-स्वरूप की अतिशयता नहीं, किन्तु प्रकाश की अतिशयता है। श्रीवृन्दावन में वही अतिशयता घटित होती है। "तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः। मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा॥" (भा० १०/३३/६) अर्थात् श्रीवृन्दावन में श्रीरासमण्डल में व्रजदेवियों के साथ मधुर मिलन में श्रीकृष्ण के निरतिशय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई थी। हेममणियों के बीच महामरकतमणि की तरह श्रीकृष्ण ने निरतिशय शोभा धारण की थी। भगवान् का ऐसा असमोर्ध्व रूपलावण्य और कहीं प्रकट नहीं होता। सबसे ऊपर राधारानी के सान्निध्य में इस रूप-सिन्धु में प्लावन (ज्वार) जगता है। फिर विलास के अन्त में यह जानकर कि दोनों एक-दूसरे को सुखी कर पाये हैं दोनों के रूप-सिन्धु माधुर्य की तरङ्गों से उत्ताल हो उठे हैं। श्रील ठाकुर महाशय उसी रूप का अति संक्षिप्त वर्णन करते हैं-"अलका-आवृत मुख-पङ्कज मनोहर, मरकत श्याम हेमगोरी"। विलासान्त में केशराजि अस्त-व्यस्त है, मुखमण्डल चूर्णकुन्तलों से आवृत हैं, मानो शैवालमण्डित नीलकमल और स्वर्णकमल माधुर्य रस से दमक रहे हैं! राधारानी की तप्तस्वर्णच्छटा ने श्रीकृष्ण की नवनीरद कान्ति को मरकतमणि की तरह थोड़ा श्यामल कर दिया है। उधर श्रीकृष्ण की श्याम कान्ति ने श्रीराधा की गलितस्वर्णकान्ति को गौराभ कर दिया है। तभी-"मरकत श्याम हेम गोरी"। यह श्यामगोरी अति अद्भुत मिथुन है।

"एकप्राणं तदतिमधुरं द्वन्द्वमेकात्मभाव-
मेकाक्रीड़ं निरवधि समुन्मीलदेक स्मरार्ति।
एकानन्द-प्रणयसुषमाध्येक-सर्वेन्द्रियेहं
वृन्दारण्येऽद्भुतरसमयं गौरनीलं स्मरामि॥"

(वृ० म० १५/४०)

'वेह अति मधुर युगल एकप्राण हैं, एकात्म भाव हैं, एकखेलपरायण हैं और निरन्तर एक ही काम-आर्ति प्रकट करनेवाले हैं। वे दोनों एक ही आनन्द के प्रणयसुषमास्वरूप हैं और दोनों ही की सर्वेन्द्रिय चेष्टा एक ही प्रकार की है। श्रीवृन्दावन में ऐसे अद्भुत रसमय गौर-नीलात्मक युगल का स्मरण करता हूँ।'

स्वरूपाविष्ट श्रील ठाकुर महाशय "प्राणेश्वरि, कबे मोरे हबे कृपादिठि.....दुँहुजन हेरबो नयाने" इस अवशिष्ट पदांश में उस रतिश्रान्त युगल की सेवा के लिये राधारानी के श्रीचरणों में प्रार्थना कर रहे हैं। 'हे प्राणेश्वरि! तुम्हारी कृपादृष्टि मुझ पर कब होगी? वह दिन कब आयेगा जब मैं तुम्हारे आदेश से या तुम्हारी सखियों के आदेश से विविध उत्तम कुसुम अर्थात् सद्य प्रस्फुटित और भौंरों द्वारा अनाघ्रात (अछूते) पुष्प चयन कर लाऊँगा तथा तुम लोगों का मधुर वचनामृतरस कर्णचषकों से पान करूँगा?' उस वचनामृत का रसास्वादन करनेवाले वास्तव में अति धन्य हैं। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है-

"श्रीराधामाधव-श्रीवदनकमलयोः कोटिचन्द्रातिकान्त्योः
संफुल्लस्वर्णकोषस्फुटित-मरकताम्भोज-सौभाग्यभाजोः।
पायं पायं सुशीता मधुरतर-वहन्धासपीयूषवाणी-
र्माद्यद्वृन्दावनेऽहं निरवधि ललिताद्यालिवृन्दं भजामि॥"

(वृ० मा० १०/२३)

'कोटि चन्द्रमाओं की प्रभा को म्लान करनेवाले, प्रफुल्ल स्वर्णकोष के भीतर प्रस्फुटित नील-पद्म की शोभा-सौभाग्यधारी श्रीराधामाधव के वदनकमलों से निकली सुशीतल और मधुरतर अमृतवाणी पानकर जो ललिता आदि सखियाँ मत्त हुई हैं-मैं उनका नित्य भजन करता हूँ।'

श्रील ग्रन्थकार कहते हैं-'मैं राधामाधव के श्रीअङ्गों पर विलास से लुप्त हुए मृगमद आदि के तिलक उज्ज्वल कर दूँगा। राधारानी के ललाट पर और माँग में सिन्दूर-रचना करूँगा। युगल-अङ्गों पर सुगन्धी चन्दन का लेप करूँगा। मालती पुष्पों के हार तैयार कर पहनाऊँगा। माल्यगन्ध से और श्रीयुगल के वदन-सौरभ से आकृष्ट होकर भौंरों का दल जब श्रीयुगल के वदनों के चारों ओर झङ्कार करता फिरेगा और श्रीराधाकृष्ण उस बाधा से वित्रस्त होंगे, तो उन भ्रमरों को भगा दूँगा। श्रीललिता सखी कृपा कर युगल के वीजन के लिये मेरे हाथ में पङ्खा देंगी, तो श्रीयुगल की मृदुमन्द हवा करूँगा। युगल के श्रीअङ्गों के श्रमजल कण (पसीने की बूँदें) सूख गये, यह देखकर परमानन्द से युगलमाधुरी आस्वादन करूँगा। श्रीश्रीराधामाधव युगल की ऐसी

पादपद्मसेवनामृतमाधुरी पान करने की एकान्त आशा इस दीन नरोत्तमदास के हृदय में जगती है, किन्तु हाय! ऐसा शुभ दिन कभी आयेगा, जब मैं युगलमाधुरी जी भरकर आस्वादन करूँगा–इसका कोई चिह्न नहीं देखता॥३४॥

स्वाभीष्ट लालसा

कुसुमित वृन्दावने, नाचत शिखिगणे, पिककुल भ्रमर झंकारे।
प्रिय सहचरी सङ्गे, गाइया जाइबे रङ्गे, मनोहर निकुञ्ज कुटीरे॥
हरि हरि मनोरथ फलिबे आमारे?
दुहुँक मन्थर गति, कौतुके हेरब अति, अङ्ग भरि पुलक अन्तरे॥
चौदिके सखीर माझे, राधिकार इङ्गिते, चिरुणी लइया करे करि।
कुटिल कुन्तल सब, बिथारिया आँचरब, बनाइब विचित्र कवरी॥
मृगमद मलयज, सब अङ्गे लेपब, पराइब मनोहर हार।
चन्दन कुंकुमे, तिलक बनाइब, हेरब मुख सुधाकर॥
नील पटाम्बर, जतने पराइब, पाये दिबो रतन-मञ्जीरे।
भृङ्गारेर जले राङ्गा, चरण धोयाइब, मूछब आपन चिकुरे॥
कुसुम कमलदले, शेज बिछाइब, शयन कराबो दोंहाकारे।
धवल चामर आनि, मृदु मृदु बीजब, छरमित दुँहुक शरीरे॥
कनक सम्पुट करि, कर्पूर ताम्बूल भरि, जोगाइबो दोंहार वदने।
अधर सुधारसे, ताम्बूल सुवासे, भोखब अधिक जतने॥
श्रीगुरु करुणासिन्धु, लोकनाथ दीनबन्धु, मुइ दीने करो अवधान।
राधाकृष्ण वृन्दावन, प्रिय नर्मसखीगण, नरोत्तम माँगे एइ दान॥३५॥

सुधाकणिका व्याख्या–

पिछले पद में स्वरूपाविष्ट अवस्था में श्रील ठाकुर महाशय ने श्रीयुगल की अन्तरङ्ग सेवा के लिये प्रार्थना की। सेवा के अभाव में उत्कण्ठा से चित्त अधीर हो गया था। देखते-देखते श्रीयुगल की एक मधुर लीला का स्फुरण प्राप्त हुआ। चम्पकमञ्जरी–रूप में देखते हैं–ऋतुराज वसन्त का आविर्भाव हुआ है। श्रीवृन्दावन की कैसी अपूर्व शोभा है! "कुसुमित वृन्दावने, नाचत शिखिगणे, पिककुल भ्रमर झङ्कारे।" स्वाभाविक रूप से सुन्दर श्रीवृन्दावन के वृक्ष–लताओं पर राशि–राशि पुष्प विकसित हैं; ऋतुराज के आगमन पर व्रजवन मानो महा आनन्द से हास्य कर रहा है! सौरभ से समाकृष्ट हुआ भ्रमर–दल पुष्पगन्ध से उन्मत्त होकर गुच्छे–गुच्छे पर झङ्कार करता घूम रहा है। शिखिकुल (मोर) नृत्य कर रहा है। कोयलों के कूजन से वृन्दावन मुखरित है। यही वृन्दावन भक्तों की ध्यान–ध्येय सम्पदा है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा (वृ० म० ५/१९)–

"सङ्गीतोत्सवरङ्गि कोकिलगणं नाट्योल्लसट्वर्हि सद्-
भृङ्गीझंकृत-दिव्यवाद्यमधुरं स्फुर्जल्लतामण्डपम्।
राधाकृष्णनिषेवणातिरसवद्दासीजनापेक्षिता-
र्थापूरि द्रुमवल्लिवृन्दमुदियाद्वृन्दावनं सुन्दरम्॥"

'सङ्गीत-उत्सवरङ्गी कोयलों से मुखरित, नृत्यपरायण मयूरों द्वारा उल्लसित, सुन्दर भ्रमर-झङ्काररूपी दिव्य मधुर वाद्य से निनादित, लतामण्डपों से शोभित एवं श्रीराधाकृष्ण की सेवापरायणा अतिरसमयी दासियों के अपेक्षित अर्थ या प्रयोजन को सम्यक् रूप से पूरा करनेवाले वृक्ष-लताओं से शोभित सुन्दर वृन्दावन मेरे हृदय में उदित हो।' श्रीश्रीराधाकृष्ण ललिता-विशाखा आदि सखियों से घिरे मधुर मदनगान करते-करते एक अति मनोहर निकुञ्जमन्दिर की ओर जा रहे हैं। गजराज-करिणी की तरह युगल की स्वच्छन्द मन्थर-अलस गति है। गति-भङ्गिमा देखकर किङ्करी का चित्त मुग्ध है। सोचती है, मेरी मनोरथ-लता आज सचमुच ही फलित हुई! पुलकित देह से परमानन्दपूर्वक युगल-माधुरी दर्शन कर रही है। श्रीराधामाधव निकुञ्जमन्दिर में प्रवेश कर रत्नपालङ्क पर बैठ गये हैं। चारों ओर से उन्हें घेर कर सखीमण्डली विराज रही है। वनभ्रमण से युगल के केश-वेश आदि अस्त-व्यस्त हो गये हैं; चम्पकमञ्जरी वेशरचना करेंगी। पहले कंघी लेकर केश-संस्कार करने को होती हैं कि राधारानी नेत्रों से कुछ संकेत करती हैं। राधारानी के समस्त इङ्गितों को समझने वाली किङ्करी जान गई है कि ईश्वरी विपरीत विलासरस आस्वादन के लिये श्रीकृष्ण को रमणी-वेश में सजाने का आदेश दे रही हैं। इस पद में ऐसे इङ्गित का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, फिर भी पदकल्पतरु में उद्धृत इस पद के बाद ही श्रीबलराम कविराज का एक प्रार्थना-पद दिया गया है, जिसमें विलास के अन्त में वेशरचना की लालसा व्यक्त की गई है। वह प्रार्थना-पद इस प्रकार के अर्थबोध के अनुकूल है, यह समझकर हम उसे रागानुगीय सहृदय साधकों के आस्वादन के लिये उपहार के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं-

"विपरीत अम्बर, पालटी पिन्धायब, बान्धब कुन्तलभार।
गाँथि दुँहुक हिये, पुनः पहिराओब, टूटल मोतिम हार॥
हरि हरि! कबे नवपल्लव शयने।
रतिरस छरम, घरमे दुँहु बैठब, बीजब किशलय बीजने॥
लोचन खञ्जन, काजरे रञ्जब, नव कुवलय दुइ काने।
सिन्दूर चन्दने, तिलक बनाओब, अलका करब निरमाणे॥
दुँहु मुख ज्योति, मुकुरे दरशाओब सुकपूर पाने।
बलराम दासक, चिर दुख मेटब, दुँहु जब हेरब नयाने॥"

श्रीचम्पकमञ्जरी ने युगल के सुकुञ्चित केशों का परम यत्नपूर्वक संस्कार कर सद्य-प्रस्फुटित मल्लिका-मालाओं से विचित्र कवरी-बन्धन कर दिया है। मृगमद चन्दन आदि श्रीअङ्गों पर लगाकर मनोहर हार पहना दिये हैं। चन्दन-कुंकुम आदि से तिलक रचना कर युगल के मुख-सुधाकरों का शोभामृत पानकर

आत्महारा हैं। अति यत्नपूर्वक नीलपट्टवस्त्र पहनाकर श्रीचरणों में रत्ननूपुर धारण करा दिये हैं। रत्नभृङ्गार के सुवासित जल से युगल के श्रीचरण धोकर अपना केशकलाप खोलकर उससे पौंछ दिये हैं। कैसी अपूर्व है यह प्राण उड़ेल कर की गई सेवा! वर्णन क्या है, मानो सेवारस प्राणवन्त हो उठा है!! इस सेवा की बात सुनकर ही कितना आनन्द आता है; फिर जिन्हें यह सेवा सचमुच ही प्राप्त हुई है, उनके आनन्द की बात कौन कह सकता है? सेवारस की मूर्ति राधाकिङ्करी की सेवा के आगे सारी सेवायें हार मानती हैं। मुझ-जैसा हत्भाग्य जीव-ऐसे महाप्रभु के युग में ऐसे आचार्य महाजनों को पाकर भी ऐसे दुर्लभ युगल-सेवासुख का कोई सन्धान नहीं पाया। स्वरूप का जागरण नहीं; देह में प्रचण्ड आवेश; भक्तों के लिये अस्पृश्य लाभ, पूजा, प्रतिष्ठारूपी शूकरी-विष्ठा में मन मत्त रहा। महत् कृपा को छोड़ कोई रास्ता नहीं। महाजनों की इन महाशक्तिशाली महावाणियों के अनुशीलन से साधक के प्रति उनकी करुणा उतर आयेगी, उसका कामना-मलिन चित्त निर्मल होगा। कृष्णेतर वासनायें दूर होंगी और सेवावासना रूपी परिमल से चित्त सुवासित होगा।

जो भी हो, वेशरचना के पश्चात् परस्पर की शोभामाधुरी देख युगल के मन में विलास-वासना जग गई है। मर्मज्ञ सखियाँ कुसुम-चयन के बहाने कुञ्ज से बाहर चली गई हैं। किङ्करी चम्पकमञ्जरी ने बिना डण्ठल कुसुमदलों से युगल की विलासशय्या तैयार की है और युगल को ले जाकर उस पर लिटा दिया है। विलास की बात समझकर किङ्करी कुञ्ज से बाहर आकर कुञ्जरन्ध्रों पर आँखें रख युगल के उद्दाम विपरीत विलास की रसमाधुरी आस्वादन का सौभाग्य प्राप्त कर रही है। परकीयरस की परम आश्रय श्रीराधा और विषयतत्त्व श्रीकृष्ण की महाउल्लासमय सम्प्रयोग लीला में विपरीत विलासरस का आस्वादन अभीष्ट-लालसा की परावधिस्वरूप है।

विलास का अवसान हो गया है, श्रीयुगल विलासशय्या पर बैठे हैं। सेवा का समय जान किङ्करी कुञ्ज में प्रवेश करती है। धवल चँवर लेकर रतिश्रान्त युगल के श्रीअङ्गों पर बीजन करती है। श्रमबिन्दुओं के सूख जाने पर स्वर्ण सम्पुट से कर्पूरादि-वासित सरस पान के बीड़े लेकर युगल के श्रीमुखों में अर्पित करती है। ऐसी भङ्गिमा के साथ ताम्बूल अर्पित किये हैं कि दोनों ही एक-दूसरे के मुख से खींच कर चबा रहे हैं। तभी कहा है-"अधर सुधारसे, ताम्बूल सुवासे, भोखब अधिक जतने", अर्थात् एक-दूसरे के अधर-सुधारस से सुवासित ताम्बूल दोनों ही परम यत्न से चर्वण कर रहे हैं। किङ्करी एक बार पुनः पान खिलाने को होती है, पर मुख नहीं मिलता। स्फूर्ति में विराम आ गया। बाह्यदशा में हाहाकार कर उठते हैं। अतिशय दैन्य के उद्रेक में सोचते हैं-श्रीगुरुकृपा से वह सुदुर्लभ वस्तु प्राप्त की थी; दुर्भाग्य से पुनः खो दी। "हा श्रीगुरु करुणासिन्धु, हा दीनबन्धु प्रभु लोकनाथ! एक बार इस दीनातिदीन के प्रति करुणादृष्टि से देखो। हाय! कहाँ हैं वे श्रीराधाकृष्ण, कहाँ वह वृन्दावन; कहाँ वे प्रिय नर्मसखियाँ! हा गुरुदेव! दीनातिदीन पर कृपाकर उनके एक बार दर्शन कराओ'-"श्रीगुरु करुणा सिन्धु, लोकनाथ दीनबन्धु, मुइ दीने करो अवधान। राधाकृष्ण वृन्दावन, प्रिय नर्मसखीगण, नरोत्तम मागे एइ दान" ॥३५॥

पुनः स्वाभीष्ट लालसा

हरि हरि कबे मोर हइबे सुदिन।
गोवर्द्धन गिरिवरे, परम निभृत घरे, राइ-कानु कराबो शयन॥
भृङ्गारेर जले राङ्गा, चरण धोयाइब, मुछाइब आपन चिकुरे।
कनक सम्पुट करि, कर्पूर ताम्बूल पूरि, जोबाइब दुँहुक अधरे॥
प्रिय सखीगण सङ्गे, सेवन करिबो रङ्गे, चरण सेविबो निज करे।
दुँहुक कमल दिठि, कौतुके हेरब, दुँहु अङ्ग पुलक अन्तरे॥
मल्लिका मालती जूथी, नाना फूले माला गाँथि, कबे दिबो दोंहार गलाय।
सोनार कटोरा करि, कर्पूर चन्दन भरि, कबे दिबो दोंहाकार गाय॥
आर कबे एमन हबो, दुँहु मुख निरखिबो, लीलारस निकुञ्ज-शयने।
श्रीकुन्दलतार सङ्गे, केलि-कौतुक-रङ्गे, नरोत्तम करिबे श्रवणे॥३६॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय ने स्फूर्ति में श्रीराधामाधव की मर्मसेवा की है। स्फुरण में विराम आया, तो विरह-उत्कण्ठा से प्राणों में कातरता जगी। साक्षात् सेवाप्राप्ति के लिये ही सुतीव्र लालसा। स्फुरण का आस्वादन साक्षात् प्राप्ति की लालसा को तीव्रतर रूप से जगाये रखता है। सुतीव्र आकांक्षा प्राणों में विपुल आलोड़न उत्पन्न करती है। तब प्रेमिक रोता-रोता प्रार्थना करता है-"आज ही दर्शन दो, अभी दो; और समय नहीं कटता। तुम्हारी सेवा के बिना क्या लेकर रहूँगा?" तब स्फुरण पुनः जगता है, भक्त के प्राणों में शान्ति भर जाता है। इस प्रकार बार-बार की स्फूर्ति ही भक्त के प्राण-धारण का अवलम्बन बनती है।

श्रील ठाकुर महाशय स्फुरण के अभाव में रोदन कर रहे थे। पुनः स्फुरण प्राप्त हुआ है। गिरिराज गोवर्धन के तटवर्ती अरण्य में सखियों के साथ श्रीराधामाधव विहार कर रहे हैं। अपरूप रूप-लावण्य से गिरिराज का तटदेश उद्भासित है। गिरिराज गोवर्धन श्रीराधामाधव के अति मर्मी सेवक हैं; श्रीयुगल का मर्म समझकर उनके विविध सेवा-उपकरण अपने अङ्ग में धारण कर रखे हैं। तभी वे हरिदासवर्य हैं। श्रीकृष्ण अपनी आजानुलम्बित वाम भुजा द्वारा प्रियाजी का कण्ठ-आलिङ्गन कर चल रहे हैं। और प्रियाजी अपनी दार्यी भुजा से प्रियतम का कटिप्रदेश घेरे अपनी देहलता उनके अङ्ग पर डाले चल रही हैं। श्रीकृष्ण शृङ्गाररसमय वाणी से वन-शोभा का वर्णन कर प्रियाजी के हृदय में शृङ्गार-रसावेश जगा रहे हैं। सखियाँ मधुर स्वर में युगलमाधुरी का गायन करती चल रही हैं। श्रील ठाकुर महाशय चम्पकमञ्जरी के रूप में जलझारी, ताम्बूल सम्पुट आदि सेवा-उपकरण लिये चल रहे हैं।

वनशोभा का दर्शन और वर्णन करते-करते युगल के मन में विपुल विलास-वासना का उद्रेक हुआ है। सखियाँ किङ्करी चम्पकमञ्जरी को इङ्गित करती हैं निभृत गिरिगुहा में युगल को ले जाने का। इङ्गित कर वे स्वयं

वनशोभा देखने के बहाने अन्यत्र चली जाती हैं। चम्पकमञ्जरी युगल को निभृत गिरिगुहा में ले जाकर रत्नपालङ्क पर शयन करा देती हैं और स्वयं झरोखे पर आँखें रख अति आवेशमय युगलविलास-माधुरी आस्वादन करती हैं।

विलास का अवसान हो गया है; सेवा का अवसर जानकर किङ्करी ने गुहा में प्रविष्ट होकर जो सेवा की है, उसी का वर्णन है इस अंश में-"भृङ्गार जले राङ्गा.....कबे दिबो दोंहाकार गाय"। किङ्करी ने स्वर्णझारी के सुवासित जल से युगल के श्रीचरण धोये हैं; अपना सुकुञ्चित विपुल केशपाश खोलकर उससे श्रीचरण पोंछ दिये हैं। स्वर्णसम्पुट में से कर्पूरवासित ताम्बूल निकालकर युगल-अधरों को अर्पित कर दिये हैं। प्रिय सखियाँ भी आ गई हैं; उनके साथ मिलकर चम्पकमञ्जरी कौतुक के साथ युगल की विविध सेवा कर रही हैं। युगलचरण वक्ष पर रखकर चरण-सम्वाहन करते-करते पुलकित चित्त से अपने नयनचषकों से युगल के नयनकमलों और श्रीअङ्गों की सुषमा-माधुरी का पान कर रही हैं। तत्पश्चात् बाहर आकर मल्लिका, मालती, चमेली, जूही आदि सुगन्धी पुष्प चयन कर माल्यरचना कर श्रीराधामाधव को पहना दी हैं। स्वर्णपात्र से चन्दन-कपूर लेकर श्रीयुगल के श्रीअङ्गों पर लगा दिया है। श्रील ठाकुर महाशय की वर्णन-माधुरी से सेवारस मानो मूर्त हो उठा है। सहज सरल भाषा में उन्होंने इन पदों में युगलसेवा का जो सुन्दर चित्राङ्कन किया है, वह सत्य ही विश्व में अति अतुलनीय भावसम्पदा है। साधक स्वरूपाविष्ट दशा में इस समस्त सेवा-माधुरी का रसास्वादन करेंगे। देहावेश को लेकर इसके माधुर्य की उपलब्धि नहीं होगी। मुझ-जैसे हतभाग्य जीव को वृन्दावन-वास करके भी कोई अनुभव नहीं; देह-दैहिकादि के आवेश में दिवानिशि मत्त; स्वरूप की स्मृति मन में भी नहीं जगती-सब कुछ भजन के प्रतिकूल।

श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है-

"वीभत्सं वपुरेतदत्र पतिताश्चेष्टाः समस्ता अपि
व्यालुप्य प्रकृतिं भजन् रसमयीमन्तस्तथैवाकृतिम्।
श्रीवृन्दाविपिनेऽत्यकिञ्चनतया यत्र क्व चावस्थितः
श्रीराधाचरणारविन्दमनिशं प्रेम्णा कदा राधये॥

(वृ० म० ९/७९)

'इस वीभत्स देह और इससे सम्बद्ध समस्त चेष्टायें विशेष रूप से त्यागकर, अन्तश्चिन्तित देह से रसमयी प्रकृति और आकृति का भजन-ध्यान कर, वृन्दावन के किसी भी स्थान में अति अकिञ्चन भाव से रहकर, प्रेम के साथ निरन्तर श्रीश्रीराधापादपद्मों की आराधना कब करूँगा?'

जो भी हो, श्रीयुगल-अङ्गों पर कपूरमिले चन्दन का प्रलेप करते-करते ही किङ्करी के स्फुरण में विराम आ गया था। ठाकुर महाशय बाह्यावस्था में हाहाकार कर उठे-"हाय हाय! ऐसा सुदिन और कब आयेगा, जब मैं निकुञ्ज-शयन में सम्प्रयोगलीला में युगल की मुखमाधुरी दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करूँगा? कुन्दलता के साथ युगल की केलि-कौतुक-रङ्गमय विविध नर्मरसभरी बातें सुनकर मेरे कान कब सार्थक होंगे? !३६॥

श्रीकृष्ण के प्रति विज्ञप्ति

प्रभु हे! एइबार करहो करुणा।
युगल चरण देखि, सफल करिबो आँखि, एइ मोर मनेर कामना॥
निजपद-सेवा दिबा, नाहि मोरे उपेखिबा, दुँहु पँहु करुणासागर।
दुँहु बिना नाहि जानों, एइ बड़ो भाग्य मानों, मुइ बड़ो पतित पामर॥
ललिता आदेश पाइया, चरण सेविबो जाइया, प्रियसखी-सङ्गे हय मने।
दुँहु दाताशिरोमणि, अति दीन मोरे जानि, निकटे चरण दिबे दाने॥
पाबो राधाकृष्ण-पा, घुचिबे मनेर घा, दूरे जाबे एसब विकल।
नरोत्तम दासे कय, एइ वाञ्छा सिद्धि हय, देह प्राण सकल सफल॥३७॥

सुधाकणिका व्याख्या-

स्फूर्तिभङ्ग होने पर श्रील ठाकुर महाशय के हृदय में अतिशय दैन्य का उदय हुआ। अब वे साधकावेश में श्रीकृष्ण के आगे युगल-सेवा के लिये प्रार्थना कर रहे हैं। पहले कहते हैं-"प्रभु हे! एइ बार करहो करुणा। युगलचरण देखि, सफल करिबो आँखि, एइ मोर मनेर कामना॥" 'हे प्रभु श्रीकृष्ण! इस बार मुझ पर करुणा करो; युगल-चरण देखकर अपने नेत्र सफल करूँगा-यही मेरे मन की चिर अभिलाषा है।'

श्रीकृष्ण के आगे युगल-चरणों अर्थात् श्रीश्रीराधाकृष्ण के श्रीचरणों के दर्शन की अभिलाषा व्यक्त कर रहे हैं। श्रीकृष्ण 'प्रभु' या परम समर्थ हैं, अधम पतित जनों पर भी कृपा कर उन्हें धन्य करते हैं। श्रीवृन्दावन में वृक्ष-लताओं, स्थावर जाति तक को प्रेमदान किया है-ऐसी प्रसिद्धि है। "कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति" (लघुभागवतामृतम्) श्रीश्रीराधामाधव के श्रीचरण-दर्शन कर नयन सफल करेंगे, यही श्रील ठाकुर महाशय की चिर कामना है। श्रीमद्भागवत में व्रजदेवियों ने श्रीकृष्ण के दर्शन को ही नयन-धारण करने का फल बताया है-"अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम"। "कृष्णावलोकन विना नेत्रे फल नाहि आन। जेइ जन कृष्ण देखे सेइ भाग्यवान्॥" (चै० च०) किन्तु युगल-उपासक गौड़ीय वैष्णव के नयन श्रीराधामाधव युगल के दर्शन बिना सफल नहीं होते। युगल-माधुरी का अतिशय आश्चर्यजनक प्रभाव वर्णित है (वृ० म० ११/८३)-

"गौर-श्यामलमेतदद्भुततमं दिव्यं किशोरद्वयं-
श्रीवृन्दाविपिने महास्मररसोन्मत्तं सदा क्रीड़ति।
रूपेनाथ वयः श्रिया मधुरवैदग्ध्यात्मतुल्यं परे-
शस्याप्याहित मूर्छा-मङ्घ्रि-नखरच्छाया मनाग् दृष्टितः॥"

'गौर श्यामल अद्भुततम दिव्य किशोर-युगल श्रीवृन्दावन में महा स्मररस (मदनरस) में मत्त हो सर्वदा क्रीड़ा कर रहे हैं। वे अपने अनन्यसाधारण रूप, वयस, सौन्दर्य, मधुर वैदग्धी और पगनखों की छाया से ईषत् दृष्टिमात्र से ही निजतुल्य परमेश्वर तक को मूर्छित कर देते हैं।'

फिर कहते हैं–"निजपद–सेवा दिबा, नाहि मोरे उपेखिबा, दुँहु पहुँ करुणासागर। दुँहु बिना नाहि जानों, एइ बड़ो भाग्य मानों, मुइ बड़ो पतित पामर॥" 'हे कृष्ण! तुम दोनों करुणा के सिन्धु हो। मैं भी कृपा पाने के योग्य ही हूँ, कारण–मैं नितान्त पतित–पामर हूँ। मेरी उपेक्षा मत करना।' भगवान् की करुणा सर्वत्र समान रूप से बरसती है, फिर भी पतित–पामर जन ही उस करुणा के निश्छिद्र पात्र हैं। यही कारण है कि भगवान् की करुणा पाने के लिये अधम और पतित होना होगा, अर्थात् दैन्य की साधना कर कायमनोवाक्य से दीन बनना होगा। श्रीकृष्ण मानो कह रहे हैं–'तुम पर क्या कृपा करनी है?' इसके उत्तर में कहते हैं–'दोनों की पदसेवा देनी होगी; तुम्हें (युगलकिशोर को) छोड़ और कुछ भी न जानूँ। तुम दोनों के चरणों की सेवाप्राप्ति और तद्गत होना–इसी को महाभाग्य मानूँ।' भक्ति का अर्थ ही है सेवा, और सेवा का अर्थ है सेव्य का सुख–विधान। यथार्थ सेवक इसी चिन्ता में सतत तन्मय रहते हैं कि सेव्य को कैसे सुखी किया जाय। श्रीश्रीराधामाधव की सेवा में तन्मय होने–जैसा महाभाग्य विश्व में और कुछ भी नहीं।

वह सेवा भी सर्वप्रधान सखी के आदेश से और समप्राण मञ्जरियों के आनुगत्य में तथा उन लोगों के सङ्ग में ही होगी, यही अपनी प्रार्थना में कह रहे हैं–"ललिता आदेश पाइया, चरण सेविबो जाइया, प्रिय सखी सङ्गे हय मने। दुँहु दाताशिरोमणि, अति दीन मोरे जानि, निकटे चरण दिबे दाने॥" 'हे प्रभु श्रीकृष्ण! ललिता सखी का आदेश प्राप्त कर मैं प्रियनर्मसखी–मञ्जरियों के सङ्ग तुम दोनों की–युगलकिशोर की सेवा करूँगा; यही मेरे मन की शाश्वत वासना है। तुम दोनों दाता–शिरोमणि हो, मुझे अति दीन जानकर तुम्हारे चित्त द्रवित होंगे; मुझ में सेवा करने की किसी प्रकार की भी योग्यता न होने पर भी तुम दोनों अपने गुणों से कृपा कर मुझे सतत अपने निकट रखकर सेवादान कर धन्य करोगे। "आपना अयोग्य देखि मने पाउँ क्षोभ। तथापि तोमार गुणे उपजाय लोभ॥" (चै० च०)

अन्त में कहते हैं–"पाबो राधाकृष्ण–पा, घुचिबे मनेर घा, दूरे जाबे ए सब विकल। नरोत्तम दासे कय, एइ वाञ्छा सिद्धि हय, देह प्राण सकल सफल॥" अभीष्ट के लिये अभाव–बोध का नाम ही 'प्रेम' है। यह अभावबोध ही भक्त के मन का क्षत (घाव) है। देह पर भीषण क्षत रहते हैं, तो आहार–निद्रा आदि कुछ भी सुखकर नहीं लगता; दिवारात्रि व्यथा या कातरता प्रकट होती है। उसी प्रकार प्रेमिक को कृष्ण के बिना और कुछ भी रुचिकर नहीं लगता, मन को विश्रान्ति नहीं मिलती; हर समय मन में दु:ख या कातरता रहती है। यह दु:ख–कातरता ही आर्ति–उत्कण्ठा के रूप में अभिव्यक्त होकर प्रेमिक के प्रति भगवान् के चित्त को विगलित कर देती है। भगवान् करुणा कर उसे दर्शन या साक्षात् सेवा देकर धन्य करते हैं। भक्त–हृदय में जिनकी विरह–अग्नि जाने कब से धू–धू कर जल रही थी, वह मिलन–आनन्द में निर्वापित हुई। उस अवस्था में और दु:ख या विकलता कहाँ? श्रुति कहती हैं–"त्वमात्मस्थं ये नु पश्यन्ति धीरास्तेषं सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।" जो धीर व्यक्ति उनका (ईश्वर का) दर्शन प्राप्त करता है, वही शाश्वत सुख या पराशान्ति पाता है। तब दु:ख, शोक, मृत्यु नहीं, केवल पूर्णानन्द, पूर्णरस, पूर्ण अनुभूति!।३७॥

अथ आक्षेपः

हरि हरि! कि मोर करम अनुरत।
विषय-कुटिलमति, सत्सङ्गे ना हइलो रति, किसे आर तरिबार पथ॥
स्वरूप सनातन रूप, रघुनाथ भट्टयुग, लोकनाथ सिद्धान्तसागर।
शुनिताम शे सब कथा, घुचितो मनेर व्यथा, तबे भालो हइतो अन्तर॥
जखन गौर नित्यानन्द, अद्वैतादि भक्तवृन्द, नदीया नगरे अवतार।
तखन ना हइलो जन्म, एबे देहे किबा कर्म, मिछा मात्र बहि फिरि भार॥
हरिदास आदि बुले, महोत्सव आदि करे, ना हेरिनु से सुखविलास।
कि मोर दुःखेर कथा, जनम गोआँनु वृथा, धिक् धिक् नरोत्तम दास॥३८॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय का दैन्य-उच्छ्वास और भी बढ़ गया है। वे स्वयं को कर्मबाध्य विषयासक्त साधारण मानव मानकर आक्षेप कर रहे हैं-"हरि हरि! कि मोर करम अनुरत। विषय कुटिल मति, सत्सङ्गे ना हइलो रति, किसे आर तरिवार पथ॥" 'हरि हरि! हाय हाय! मेरा प्रारब्धकर्म विषयभोग कराने के लिये सतत कमर कसे हुए है।' भक्त के ऊपर प्रारब्धकर्म का कोई प्रभाव नहीं। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने श्रीकृष्णनामाष्टक में लिखा है-

"यद्ब्रह्मसाक्षात्कृतिनिष्ठयापि विनाशमायाति बिना न भोगैः।
अपैति नाम-स्फुरणेन तत्ते प्रारब्धकर्मेति विरौति वेदः॥"

'जो प्रारब्धकर्म अविच्छिन्न तैलधारावात् ब्रह्मचिन्तन से भी किसी प्रकार नष्ट नहीं होता, भोग ही कराता है, हे श्रीनाम! वही प्रारब्ध कर्म जिह्वाग्र पर तुम्हारा स्फुरण होते ही नष्ट हो जाता है-यह वेद कहते हैं।' इसलिये भजननिष्ठ भक्त के प्रारब्ध का रहना कभी सम्भव नहीं; उसका सुख-दुःख आदि भोग भगवान् की इच्छा से ही होता है। तथापि दैन्यवश भक्त सोचता है कि उसका भजन-साधन नहीं है, अतएव उसके प्रारब्धकर्म का प्रभाव अक्षत बना हुआ है। तभी श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं कि उनके प्रारब्ध ने उन्हें विषयभोग के लिये बाध्य कर दिया है। इसीलिये उनकी मति स्वभावतः विषय कुटिल है। सत्सङ्ग में श्रीहरिकथा श्रवण-कीर्तन से उनकी मति भगवन्निष्ठ हो सकती थी, पर हाय! सत्सङ्ग में भी उनकी रति नहीं हुई। दुरन्त संसार से निस्तार पाने का और कोई उपाय नहीं। विषय-कुटिल या विषयनिष्ठ मति सत्सङ्ग में विषयनिष्ठा त्याग कर शुद्ध होती है। श्रील ध्रुव महाशय ने भगवान् की स्तुति में कहा है (भा० ४/९/१२)-

"ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं, ये चन्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द,-सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः॥"

'हे कमलनाभ! जिन्होंने तुम्हारे चरणकमलों की सुगन्ध पर लुब्धचित्त भक्तों का सङ्ग किया है, वे जीव की अतिप्रिय मर्त्यदेह का और देह सम्बन्धवाले स्त्री-पुत्र, सुहृद्, गृह, सम्पदा आदि का स्मरण भी नहीं करते।' भगवद्भक्त के सङ्ग में विषयनिष्ठ मति भगवन्निष्ठ हो जाती है। श्रीमुचुकुन्द स्तव में देखने में आता है-

"भवापवर्गो-भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥"

(भा० १०/५१/५३)

'हे अच्युत! संसार-मरुस्थल में भ्रमण करते जीव का जब संसारनाश का समय आता है, तभी उसे सत्समागम प्राप्त होता है और सत्सङ्ग होने से ही महद्गण की एकमात्र गति कार्य-कारण-नियन्ता तुम में मति उत्पन्न होती है।' इसलिये सत्सङ्ग ही विषयकुटिल मति के भगवन्निष्ठ होने का अमोघ साधन है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-सत्सङ्ग के बिना तरने का मार्ग नहीं। श्रीभागवत के वचन हैं-"महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः" अर्थात् महत्सङ्ग या महत्सेवा ही विमुक्ति का द्वार है। आचार्य शङ्कर ने भी अपने मोहमुद्गर ग्रन्थ में लिखा है-"क्षणमिहा सज्जनसङ्गतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका"-क्षणभर महत्सङ्ग भी संसारसिन्धु-तरण की उत्तम नौका है, इत्यादि।

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर महाशय पतित-पावन श्रीगौराङ्ग, श्रीनित्यानन्द, श्रीअद्वैताचार्य एवं श्रीमन्महाप्रभु के पार्षदवृन्द का स्मरण कर "स्वरूप सनातन रूप.....धिक् धिक् नरोत्तमदास" इस अवशिष्ट अंश में आर्ति से भरकर आक्षेप करते हैं। श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीसनातन, श्रीरूप, श्रीरघुनाथ दास, श्रीरघुनाथभट्ट, श्रीगोपालभट्ट और गुरुदेव श्रीलाकनाथप्रभु-वे सभी भक्तिसिद्धान्तों के सागरतुल्य हैं। आचार-प्रचार द्वारा व्रज की उन्नत उज्ज्वल रसमयी अति रहस्यमय भजनसाधना आपामर जगजनों को बाँटने के लिये ही श्रीमन्महाप्रभु के साथ इन सबका अवतार है। यह भजनसाधना है अनर्पितचरी, जो श्रीमन्महाप्रभु की करुणा का अवदान है। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'यदि इन लोगों के श्रीमुख से श्रीश्रीगौरगोविन्दकथा सुन पाता, तो मन की व्यथा दूर होती और मेरी विषयकुटिल मति शुद्ध होकर श्रीभगवत्पादपद्मों में निविष्ट हो पाती।'

अपार करुणा के पारावार पतितपावन श्रीगौरसुन्दर, निताइचाँद, अद्वैतप्रभु और गदाधर-श्रीवास आदि भक्तवृन्द का स्मरण कर कहते हैं-'जब महाप्रभु ने नवद्वीप में अवतीर्ण होकर सपार्षद प्रेमवितरण किया, तब मेरा जन्म क्यों नहीं हुआ? तब जन्म होता, तो वह पत्थर पिघलानेवाली करुणा की लीला, वह अति अद्भुत प्रेम-वितरण-कौतुक, वह अपूर्व नृत्य-कीर्तनरङ्ग देखकर नेत्रों को धन्य कर पाता। हाय! अब इस देह की क्या आवश्यकता, देह-भार ढोने के अतिरिक्त इस व्यर्थ जीवन की कोई सार्तकता नहीं।' श्रीनारायणीनन्दन व्यासावतार श्रील वृन्दावनदास ठाकुर ने भी स्थान-स्थान पर आक्षेप किया है-"हइलो पापिष्ठ जन्म तखने ना हइलो। हेनो महा महोत्सव देखिते ना पाइलो॥" (चै भा०) दैन्य की मूर्ति श्रील हरिदास ठाकुर ने किस अद्भुत आर्ति और दैन्य के साथ महाप्रभु के सङ्ग विहार किया; किस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु ने पार्षदवृन्द के साथ महा महा सङ्कीर्तन भोजनविलास आदि महोत्सव किये-उस सुखविलास का दर्शन नहीं कर पाने के कारण श्रील ठाकुर महाशय का

हृदय भरा है आर्ति से और वे आक्षेप करते हैं-"कि मोर दु:खेर कथा, जनम गोआँनु वृथा, धिक् धिक् नरोत्तमदास" ॥३८॥

लालसा

श्रीरूपमञ्जरीपद, सेइ मोर सम्पद, सेइ मोर भजन-पूजन।
सेइ मोर प्राणधन, सेइ मोर आभरण, सेइ मोर जीवनेर जीवन॥
सेइ मोर रसनिधि, सेइ मोर वाञ्छासिद्धि, सेइ मोर वेदेर धरम।
सेइ व्रत सेइ तप, सेइ मोर मन्त्रजप, सेइ मोर धरम करम॥
अनुकूल हबे विधि, से पदे हइबे सिद्धि, निरखिबो ए दुइ नयाने।
सेरूप माधुरीराशि, प्राणकुवलय-शशी, प्रफुल्लित हबे निशिदिने॥
तुया अदर्शन अहि, गरले जारल देहि, चिरदिन तापित जीवन।
हाहा प्रभु करो दया, देहो मोरे पदछाया, नरोत्तम लइलो शरण॥३९॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय स्वरूपाविष्ट अवस्था में मञ्जरियों की अध्यक्ष श्रीरूपमञ्जरी के चरणों में ऐकान्तिक से शरणागत होकर श्रीश्रीराधामाधव के दर्शन और पादपद्माश्रय की कामना कर रहे हैं। पहले "श्रीरूपमञ्जरीपद. .....सेइ मोर धरम करम" इस पद्यांश में यह बताते हैं कि उन्होंने श्रीरूपमञ्जरी के श्रीचरणों को किस प्रकार सर्वस्वसम्पदा के रूप में वरण किया है।

श्रीरूपमञ्जरी के चरण ही स्वरूपाविष्ट ग्रन्थकार की सम्पदा है। सम्पदा होती है तो भोग-सुख प्राप्त होता है; उसी प्रकार श्रीरूपमञ्जरी की चरणरूपी सम्पदा द्वारा श्रीचम्पकमञ्जरी को श्रीराधाकृष्ण के रूप, गुण, लीला एवं सेवारस के आस्वादन का सौभाग्य प्राप्त होगा, कारण-श्रीरूपमञ्जरी ही मञ्जरियों की अध्यक्ष हैं; उनकी करुणा और उनके आनुगत्य से ही सभी मञ्जरियों की युगलसेवा सुसिद्ध होती है। प्रश्न उठ सकता है-अभीष्ट श्रीश्री राधामाधव के रूप, गुण, लीलारस एवं सेवारस का आस्वादन पाने के लिये युगल के भजन-पूजन की एकान्त आवश्यकता है, कारण-भजन ही श्रीकृष्णप्राप्ति का एकमात्र उपाय है। "कृष्णप्राप्तिर उपाय आर नाहि भजन बिने" (चै० च०)। श्रीरूपमञ्जरी के चरणाश्रय से वह किस प्रकार सुसिद्ध हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं-"सेइ मोर भजन-पूजन।" अर्थात् श्रीरूपमञ्जरी की कृपा हो जाय, तो श्री युगलकिशोर अपने स्वयं के भजन की कोई अपेक्षा रखे बिना ही श्रीरूप के कृपापात्र को अङ्गीकार कर लेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। इसके पीछे दो प्रबल शास्त्रीय युक्तियाँ भी हैं-श्रीराधारानी के साथ श्रीरूपमञ्जरी का भावतादात्म्य इतना अधिक है कि राधारानी उन्हें किसी भी अंश में अपने से पृथक् नहीं समझतीं। फिर तत्त्व की दृष्टि से भी कोई पृथकता नहीं, कारण-श्रीमत् रघुनाथदास गोस्वामिपाद के श्रीविलाप-कुसुमाञ्जलि के प्रथम श्लोक में वर्णित है कि श्रीकृष्ण द्वारा राधारानी के अधरों पर किया गया क्षत श्रीरूपमञ्जरी के अधरों पर अङ्कित हो गया था। दूसरी बात, जब

परमभक्त की सेवा होती है या उसका भजन होता है, तो भगवान् अपनी सेवा या भजन की अपेक्षा किये बिना ही प्रसन्न होते हैं, करुणा करते हैं-यह बात भक्तिशास्त्रसम्मत है।

फिर कहते हैं-"सेइ मोर प्राणधन, सेइ मोर आभरण, सेइ मोर जीवनेर जीवन।" श्रीरूप मञ्जरी के चरण मेरी केवल बाहरी सम्पदा हों, सो नहीं। वे प्राणों की सम्पदा या धन भी हैं। आदमी महामूल्यवान् धन-रत्न को यत्नपूर्वक छिपाकर रखता है। उसी प्रकार इन चरणों को मैं सतत प्राणों के भीतर छिपाकर रखूंगी। ये चरण मेरी देह के आभरण भी होंगे; आत्मा की शोभा और देह की शोभा दोनों ही बढ़ायेंगे। सभी जान जायेंगे कि मैं श्रीरूपमञ्जरी के चरणों में समर्पितप्राण किङ्करी हूँ। इतना ही नहीं, ये चरण मेरे जीवन के भी जीवन हैं। देह में जीवन या प्राण रहने पर ही देह सजीव या सक्रिय रहती है, अन्यथा शृगाल-कुक्कुर की भक्ष्य बनती है या श्मशान में दग्ध होती है। उसी प्रकार मेरे प्राणों में श्रीरूपमञ्जरी के चरण सतत विराजित रहेंगे, तभी उनकी सजीवता या सक्रियता रहेगी, अन्यथा मेरा जीवन जड़वत् हेय तुच्छ है।'

फिर कहते हैं-"सेइ मोर रसनिधि, संई मोर वाञ्छासिद्धि, सेइ मोर वेदेर धरम। सेइ व्रत सेइ तप, सेइ मोर मन्त्र-जप, सेइ मोर धरम करम॥" श्रीरूपमञ्जरी के चरण ही मेरी रसनिधि हैं, अर्थात् वे केवल युगलमाधुरी का आस्वादन देकर मुझे धन्य करेंगे, इतना ही नहीं; श्रीरूप-चरण ही मेरा रस या आस्वादन की निधि अथवा सम्पदातुल्य हैं। वे चरण ही मेरी समस्त वाञ्छाओं की सिद्धि हैं; वे ही मेरा वेदधर्म, व्रत, तपस्या, मन्त्रजप, धर्म, कर्म सभी कुछ है। अर्थात् भीतर बाहर, इहलोक परलोक में जो कुछ सत्, शुभ, मङ्गलमय या आनन्द की वस्तु हो सकती है-श्रीरूपमञ्जरी के श्रीचरण ही मेरा सर्वस्व हैं।' श्रीरूपमञ्जरी के श्रीचरण मञ्जरीभाव-साधकों के सर्वार्थसाधक और साध्य हैं-श्रील ठाकुर महाशय ने इस बात का बड़े प्राञ्जल रूप में वर्णन कर मञ्जरीभाव-साधकों को ऐकान्तिकभाव से श्रीरूप का श्रीचरणाश्रय ग्रहण करने की प्रेरणा दी है।

तत्पश्चात् कहते हैं-"अनुकूल हबे बिधि, से पदे हइबे सिद्धि, निरखिबो ए दुइ नयाने। से रूपमाधुरीराशि, प्राण-कुवलयशशी, प्रफुल्लित हबे निशिदिने॥" श्रील ठाकुर महाशय सोच रहे हैं- उन्होंने श्रीरूपमञ्जरी के श्रीचरणों को अपनी सर्वस्वसम्पदा कहा, यह क्या केवल मुँह की बात है, अथवा वे वस्तुतः इन चरणयुगल को आन्तरिक रूप से वैसा सर्वस्व बना पाये हैं? दैन्य से भरकर कहते हैं-ऐसी सामर्थ्य ऐसा सौभाग्य मेरा कहाँ? यदि विधाताा मेरे प्रति एकान्त ही अनुकूल हों, तो श्रीरूप के चरणों में मेरी समस्त अभिलाषा सुसिद्ध होगी और श्रीरूपमञ्जरी के श्रीचरणों में ऐसा एकान्त आत्मसमर्पण सुसिद्ध होने पर मेरी आँखों के आगे युगलरूपराशि सहसा फूट उठेगी। उस असीम युगल-रूप-माधुरी का दर्शन कर मेरा नित्यसङ्गीस्वरूप प्राणरूपी नीलकमल अहर्निश विकसित रहेगा। युगलरूप-माधुरी दर्शन की बात करते ही श्रील ठाकुर महाशय के हृदय में युगल का विरहानल प्रदीप्त हो उठा। विष-ज्वाला की तरह श्रीराधाकृष्ण की विरहज्वाला भोगकर विपुल आक्षेप से भरकर कहने लगे-"तुया अदर्शन अहि, गरले जारलो देहि, चिरदिन तापित जीवन। हा हा प्रभु करो दया, देहो मोरे पद छाया, नरोत्तम लइलो शरण॥" 'हा हा प्रभु श्रीराधाकृष्ण! तुम्हारे अदर्शनरूपी सर्प के विष से मेरा देही या आत्मा जर्जरित है, तभी यह जीवन चिरदिन परितप्त है। इस दीन नरोत्तम ने अनन्योपाय होकर तुम्हारी शरण ली, समस्त ज्वालाहारक मृतसञ्जीवनी की तरह अपनी पदपल्लव-छाया देकर प्राणरक्षा करो।' सर्पदंश की विषज्वाला से देह

ही दग्ध होती है, किन्तु राधाकृष्ण के अदर्शनरूपी सर्प के दंशन से प्रेमिक का आत्मा दग्ध हो जाता है। श्रीमत् रघुनाथ दास गोस्वामिपाद ने लिखा है-"त्वदलोकनकालाहि-दंशैरेव मृतं जनम्। त्वत्पादाब्ज-मिलल्लाक्षाभेषजैर्देवि जीवय॥" 'हे देवि श्रीराधिके! तुम्हारे अदर्शनरूपी कालसर्प के दंशन से मैं मृत हो गया हूँ, अपनी पादपद्ममिलित लाक्षा- (महावर) रूपी औषध से मुझे जीवित करो।' जो मृत हैं, वे बात कैसे कर रहे हैं? देह का मरण नहीं, देही या आत्मा का मरण है; विरह-ज्वाला से आत्मा पिसा जा रहा है। सर्पकाटे व्यक्ति की विषज्वाला से मृत्यु होती है, ज्वाला शान्त हो जाती है; किन्तु आत्मा का तो मरण नहीं, तभी चिरकाल ताप भोगना पड़ता है-"चिरदिन तापित जीवन।" श्रीयुगल-चरणों के दर्शन के बिना इस ताप या ज्वाला की शान्ति का और कोई उपाय नहीं। तभी कहा है-"हा हा प्रभु करो दया, देहो मोरे पदछाया, नरोत्तम लइलो शरण"॥३९॥

स्वाभीष्ट लालसा

शुनियाछि साधुमुखे बोले सर्वजन।
श्रीरूपकृपाय मिले युगलचरण॥
हा हा प्रभु सनातन गौर-परिवार।
सबे मिलि वाञ्छा पूर्ण करहो आमार॥
श्रीरूपेर कृपा जेनो आमा प्रति हय।
से पद आश्रय जार सेइ महाशय॥
प्रभु लोकनाथ कबे सङ्गे लइया जावे।
श्रीरूपेर पादपद्मे मोरे समर्पिवे॥
हेनो दिन कि हइबे मोर नर्मसखीगणे।
अनुगत नरोत्तमे करिबे शासने॥४०॥

सुधाकणिका व्याख्या-

व्रज की श्रीरूपमञ्जरी अब श्रीमत् रूपगोस्वामी के रूप में अवतीर्ण हुई हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, विदग्धमाधव, ललितमाधव नाटक, दानकेलि कौमुदी, स्तवमाला, निकुञ्जरहस्यस्तव आदि ग्रन्थों के माध्यम से व्रजनिकुञ्ज का रहस्यमय समाचार प्रकाशित किया है। इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु के युग के आदमी को व्रजनिकुञ्ज में पहुँचने का प्रकृष्ट पथ दिखाया है। श्रीरूप की कृपा से ही इस विशेष कलियुग के मानव के लिये युगलचरण-प्राप्ति का मार्ग सुगम हुआ है, यह जानना होगा। साधन के क्षेत्र में भी श्रीगौरलीला में श्रीरूपगोस्वामिपाद की और श्रीव्रजलीला में श्रीरूपमञ्जरी की कृपा से ही श्रीश्रीराधाकृष्ण-युगल की श्रीचरणसेवा प्राप्त होती है-ऐसी साधु महाजनों की उक्ति देखने में आती है। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने ही अपने भक्तिरसामृतसिन्धु (१/२/२९५) में लिखा है-"सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि। तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥" अर्थात् 'व्रजभावलिप्सु साधक को साधकदेह से और सिद्धदेह से व्रज के लोगों के आनुगत्य में श्रीराधापादपद्मों की सेवा करनी होगी।' इस श्लोक की टीका में श्रीमत् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है-"साधक

रूपेण यथावस्थित देहेन। सिद्धरूपेण अन्तश्चिन्तिताभीष्ट-तत्सेवोपयोगिदेहेन। ..... व्रजलोकास्त्वत्र कृष्णप्रेष्ठजनास्तदनुगताश्च तदनुसारतः।" 'साधकरूप में अर्थात् यथावस्थित साधकदेह से और सिद्धदेह से अर्थात् अन्तश्चिन्तित श्रीगुरुप्रदत्ता श्रीश्रीराधाकृष्ण की सेवापयोगी मञ्जरीदेह से। व्रजलोक का अर्थ है श्रीकृष्ण के प्रियजन, उनके आनुगत्य में अथवा अनुसरण (अनुकरण नहीं) में सेवा करनी होगी।''सिद्धरूपेण मानसी-सेवा श्रीराधा-ललिता-विशाखा-श्रीरूपमञ्जर्यादीनामनुसारेण कर्तव्या। साधकरूपेण कायिक्यादिसेवा तु श्रीरूपसनातनादि-व्रजवासिजनानामनुसारेण कर्तव्यत्यर्थः।" (श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती) अर्थात् 'सिद्धरूप से मानसीसेवा श्रीराधा, ललिता, विशाखा, श्रीरूपमञ्जरी आदि के अनुसार और साधकदेह से श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दना आदि सेवा श्रीरूप-सनातन आदि व्रजवासियों के अनुसार करनी होगी।' इसलिये यह समझ में आता है कि श्रीरूपगोस्वामिपाद और श्रीरूपमञ्जरी की करुणा से ही युगल-चरणसेवा प्राप्त होती है।

"हा हा प्रभु सनातन गौर-परिवार। सबे मिलि वांछा पूर्ण करहो आमार॥" 'हा गौरपार्षद प्रभु सनातन! तुम सब मिलकर मेरी मनोवासना पूरी करो।' अथवा, श्रीसनातन प्रभु और श्रीगौरपार्षदगण सभी के आगे अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिये प्रार्थना प्रस्तुत की है। यदि ये लोग कहें कि तुम्हारी क्या वांछा पूरी करनी है, तो इसका उत्तर देते हैं-"श्रीरूपेर कृपा जेनो आमा प्रति हय। से पद आश्रय जार सेइ महाशय॥" मेरे प्रति श्रीरूपगोस्वामिपाद की या श्रीरूपमञ्जरी की करुणा निपतित हो, कारण-जिसे श्रीरूप के पादपद्मों का आश्रय मिलता है, वह महाशय है। महात्मा, महामना या उदारचित्त इत्यादि आभिधनिक अर्थ हैं 'महाशय' शब्द के। श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने 'महाशय' शब्द की एक व्याख्या लिखी है-"प्रेमभक्तिरसैकलम्पट" (वृ० भा० २/५/१७८ टीका)। यहाँ महाशय शब्द के उल्लिखित सभी अर्थों की उपयोगिता रहते हुए भी श्रील ठाकुर महाशय ने स्वयं प्रेमभक्ति-चन्द्रिका में इस शब्द की जो व्याख्या की है, प्रसङ्ग के अनुरूप उसी व्याख्या की यहाँ सर्वाधिक उपयोगिता है-जो राधिका-चरणाश्रय लेता है, वह 'महाशय' है। श्रीरूप के श्रीचरणाश्रय से ही राधारानी का श्रीचरणाश्रय मिलता है; राधारानी का श्रीचरणाश्रय प्राप्त होने पर महाशय शब्द की अन्यान्य व्याख्याओं की भी वे उत्तम आश्रय हो जाती हैं।

इसके पश्चात् कहते हैं-"प्रभु लोकनाथ कबे सङ्गे लइया जाबे। श्रीरूपेर पादपद्मे मोरे समर्पिबे॥" श्रील ठाकुर महाशय के गुरुदेव श्रीलोकनाथप्रभु उन्हें ले जाकर श्रीरूपगोस्वामिपाद के हाथों सौंपेंगे और सिद्धस्वरूप से श्रीमञ्जुलालीमञ्जरी चम्पकमञ्जरी को लेकर श्रीरूपमञ्जरी के हाथों समर्पित करेंगी। श्रीगुरुरूपा सखी रागानुगीय साधकमञ्जरी को श्रीश्रीराधाकृष्ण की कुञ्जसेवा में किसी विशिष्ट अधिकारी की प्राप्ति के लिये श्रीरूपमञ्जरी के पादपद्मों में समर्पित करती हैं। (अगले दो पदों में यह विस्तार से बताया जायेगा)

अन्त में कहते हैं-"हेनो दिन कि हइबे मोर नर्मसखीगणे। अनुगत नरोत्तमे करिबे शासने॥" श्रीरूपमञ्जरी, रतिमञ्जरी आदि ही नर्मसखियाँ हैं। ये सब नवागत मञ्जरी को युगल-सेवा की शिक्षा देकर धन्य करती हैं और स्नेहपूर्वक कोमल शासन भी करती हैं। शासन स्नेह-प्रीति से भी अधिक करुणा का चिह्न है, इसलिये स्वरूपाविष्ट श्रील ठाकुर महाशय ने श्रीरूपमञ्जरी रतिमञ्जरी आदि नर्मसखियों के शासन की कामना की है॥४०॥

स्वाभीष्ट लालसा

एइ नव दासी बोलि श्रीरूप चाहिबे।
हेनो शुभक्षण मोर कतो दिने हबे॥
शीघ्र आज्ञा करिबेन दासी हेथा आय।
सेवार सुसज्जा कार्य करहो त्वराय॥
आनन्दित हइया हिया ताँर आज्ञा वले।
पवित्र मनेते कार्य करिबो तत्काले॥
सेवार सामग्री रत्न-थालेते करिया।
सुवासित वारि रत्न झारिते पूरिया॥
दोंहार सम्मुखे लये दिबो शीघ्र गति।
नरोत्तमेर दशा कबे हइबे एमति॥४१॥

श्रीरूप-पश्चाते आमि रहिबो भीत हइया।
दोंहे पुनः कहिबेन आमा पाने चाइया॥
सदय हृदये दोंहे कहिबेन हासि।
कोथाय पाइले रूप! एइ नव दासी॥
श्रीरूपमञ्जरी तबे दोंहा वाक्य शुनि।
मञ्जुलाली दिलो मोरे एइ दासी आनि॥
अति नम्रचित्त आमि इहारे जानिलो।
सेवाकार्य दिया तबे हेथाय राखिलो॥
एइ तत्त्व दोंहाकार साक्षाते कहिया।
नरोत्तमे सेवाय दिबे नियुक्त करिया॥४२॥

सुधाकणिका व्याख्या-

रागानुगीय मञ्जरीभाव के साधक का इहलोक में साधन पूरा होने पर प्रेम प्राप्त कर लेने के पश्चात् श्रीकृष्ण की अघटन-घटन-पटीयसी शक्ति योगमाया उसके अन्तश्चिन्तित सच्चिदानन्दमय शरीर को लीलाराज्य में गोपीगर्भ से प्रादुर्भूत कराती हैं। श्रीश्रीराधाकृष्ण की साक्षात् सेवा के लिये उपयोगी गोपिका-शरीर प्राप्त कर

प्रेमिक वय:सन्धि दशा में पहुँचता है, तो श्रीगुरुरूपा सखी ❋ का सङ्ग पाता है। उसके पश्चात् गुरुमञ्जरी प्रसन्न होकर नवागत मञ्जरी को श्रीरूपमञ्जरी को अर्पित करती हैं। श्रीरूप मञ्जरी श्रीवृन्दावनेश्वरी और श्रीव्रजेन्द्रनन्दन को दिखाकर उनकी साक्षात् सेवा के कार्य में उसे नियुक्त करती हैं। इन दो पदों में वही रीति दिखाई गई है।

श्रीलोकनाथ प्रभु या श्रीमञ्जुलाली मञ्जरी श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय को या चम्पकमञ्जरी को लेकर श्रीरूपमञ्जरी के श्रीचरणों में समर्पित करेंगे। श्रीरूपमञ्जरी 'यह नयी दासी' कहकर चम्पकमञ्जरी के प्रति कृपादृष्टिपात करेंगी। श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-वह शुभ क्षण कितने दिनों में आयेगा, जब श्रीरूपमञ्जरी नवदासी कहकर मुझ पर करुणादृष्टि डालकर अपनी श्रीचरणाश्रिता अनुचरी के रूप में ग्रहण करेंगी और तत्क्षणात् आदेश देंगी-'अरी दासि! यहाँ आ, श्रीयुगलकिशोर की सेवा की सामग्री सुसज्जित कर।' यद्यपि मैं नितान्त अयोग्य हूँ, तथापि श्रीरूपमञ्जरी के आज्ञाबल से मेरा हृदय सेवा-प्राप्ति की आशा में परमानन्द से उल्लसित होगा। मैं पवित्र मन से तत्काल सेवा-कार्य में लग जाऊँगा। रत्न-थाल में पुष्पमाला, चन्दन, सुवासित पान-बीड़े आदि सजाकर स्वर्णझारी में सुवासित जल भरकर शीघ्र श्रीराधामाधव के सम्मुख ले जाऊँगा। हाय! मेरी ऐसी दशा कब होगी?

युगल-सेवा का सम्भार सुसज्जित कर मैं श्रीरूपमञ्जरी के पीछे डरता हुआ खड़ा होऊँगा। यहाँ भय ऐश्वर्यज्ञानियों की तरह सम्भ्रम-सङ्कोचजनित नहीं, कारण-"ऐश्वर्यज्ञाने ना पाइ व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन।" नवदासी के लिये सेवा का पहला दिन है, सेवाकार्य में कुछ त्रुटि-विच्युति रह सकती है; इसी लिये यह भीति है, एक सञ्चारी भावविशेष। मेरी ओर देखकर श्रीराधामाधव सकरुणहृदय से हँसते-हँसते कहेंगे-'हे रूप! यह नयी दासी कहाँ मिली?' श्रीरूपमञ्जरी दोनों की बात सुनकर कहेंगी-'मञ्जुलाली ने लाकर मुझे दी है, मैंने इसे अतिशय नम्रचित्त जानकर सेवाधिकार देकर रखा है।' विनीत, नत, शान्त, शिष्ट या कोमलचित्त ही नम्रचित्त। राधाकिङ्करी मञ्जरियों-जैसा विनीत, शान्त या कोमल चित्त और किसी का नहीं, कारण-इन्हीं लोगों में होती है आत्मेन्द्रिय-सुख-वासनाराहित्य की पराकाष्ठा। श्रील ठाकुर महाशय व्रज की चम्पकमञ्जरी हैं, तभी श्रील रूपमञ्जरी ने उन्हें 'अतिनम्रचित्त' कहा है। यह तत्त्व श्रीश्रीराधामाधव के सामने कहकर श्रीरूपमञ्जरी मुझे युगलसेवा में नियुक्त कर देंगी।

मञ्जरीभाव के साधक प्रेमसिद्धि के पश्चात् लीलाराज्य में पहुँचकर श्रीगुरु मञ्जरी की करुणा से और श्रीरूपमञ्जरी के आनुगत्य में एवं आदेश से पहले दिन किस प्रकार श्रीयुगल के साक्षात् सेवाकार्य में नियुक्त होंगे, श्रील ठाकुर महाशय ने इन दो पदों में यह बात अति सुन्दर ढङ्ग से बताई है॥४१-४२॥

स्वाभीष्ट लालसा

हा हा प्रभु लोकनाथ! राखो पदद्वन्द्वे।
कृपादृष्टे चाहो यदि हइया आनन्दे॥

❋ जो इहलोक में साधक को मन्त्र देने के पश्चात् रागानुगीय भजनशिक्षा देते हैं, वे ब्रज में नित्यलीला में गुरुरूपा सखी नाम से ख्यात हैं।

मनोवाञ्छा सिद्धि तबे हओं पूर्णतृष्ण।
हेथाय चैतन्य मिले सेथा राधाकृष्ण॥
तुमि ना करिले दया के करिबे आर।
मनेर वासना पूर्ण करो एइबार॥
ए तिन संसारे मोर आर केहो नाइ।
कृपा करि निज पदतले देहो ठाइँ॥
राधाकृष्ण-लीला-गुण गाउँ रात्रिदिने।
नरोत्तम-वाञ्छा पूर्ण नहे तुया बिने॥४३॥

लोकनाथ! प्रभु तुमि दया करो मोरे।
राधाकृष्ण-चरणे जेनो सदा चित्त स्फुरे॥
तोमार सहिते थाकि सखीर सहिते।
एइतो वासना मोर सदा उठे चिते॥
सखीगण ज्येष्ठ जेंहो ताँहार चरणे।
मोरे समर्पिंबे कबे सेवार कारणे॥
तबे से हइबे मोर वाञ्छित पूरण।
आनन्दे सेविवो दोंहार युगल चरण॥
श्रीरूपमञ्जरि! सखि! कृपादृष्ट्ये चाइया।
तापी नरोत्तमे सिञ्चो सेवामृत दिया॥४४॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय दो छन्दों में अपने दीक्षागुरु श्रीलोकनाथ प्रभु के चरणों में शरणागत हो अभीष्ट सिद्धि के विषय में प्रार्थना कर रहे हैं। श्रीगुरुचरणों में दृढ़ शरणागति के फलस्वरूप श्रीगुरु पादपद्मों में निष्ठामय भक्तिराग से साधक का चित्त सुरञ्जित हो उठता है, तो श्रीगुरुकृपा से साधक श्रीवृन्दावन निकुञ्जमन्दिर में श्रीराधाकृष्ण की प्रेमसेवा पाकर धन्य होता है।

श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं-'हा हा प्रभु लोकनाथ! यदि तुम मुझे अपने श्रीपादपद्मों में स्थान देकर सानन्दचित्त से कृपादृष्टि से मेरी ओर देखो, तभी मेरी मनोवाञ्छा सिद्ध हो और मैं पूर्ण-तृष्ण या पूर्णकाम हो धन्य होऊँ।' भक्त की मनोवाञ्छा या तृष्णा क्या है? समस्त अनर्थों का विनाश, सप्रेम भगवत्प्राप्ति या भगवत्सेवा-प्राप्ति ही भक्त-साधक का मनोभीष्ट है, इसी बात के लिये उसकी तृष्णा है। श्रीगुरुचरण-शरणागति या श्रीगुरुप्रसाद से यह अति सहज ही सुसिद्ध होती है। "तत्प्रसादो हि स्वस्वनानाप्रतीकारदुस्त्यजानर्थहानौ परमभगवत्प्रसादसिद्धौ च मूलम्" (भक्तिसन्दर्भ) अर्थात् 'साधक के स्वयं के द्वारा किये गये नाना प्रकार के प्रतिकारों द्वारा भी दुस्त्यज जो अनर्थ हैं, उनके विनाश में और भगवान् की परमप्रसन्नता सिद्धि में श्रीगुरु का प्रसाद या कृपा ही मूल कारण है।'

गौड़ीय वैष्णव साधक की भगवत्प्राप्ति का प्रकार अत्यन्त विलक्षण है। श्रीमन्महाप्रभु का श्रीचरणाश्रित साधक किसी अचिन्त्य शक्ति के बल पर एक साथ श्रीधाम नवद्वीप में श्रीमन्महाप्रभु का पार्षद किशोरस्वरूप और श्रीव्रजधाम में राधारानी की किङ्करी या मञ्जरी का स्वरूप प्राप्त करता है। श्रीमन्महाप्रभु राधाभाव में आविष्ट होकर व्रजमाधुरी आस्वादन करते हैं, तब साधक भी अपने मञ्जरीस्वरूप से व्रजमाधुरी या ससखी युगल की सेवा-माधुरी आस्वादन कर धन्य होता है। इसी प्रकार नवद्वीप में भाव की प्रधानता से रस की और व्रजलीला में रस की प्रधानता से भाव की आस्वादनधारा चलती रहती है। जीवशक्ति साधनभजन द्वारा आध्यात्मराज्य के जितने उन्नत स्तर पर चढ़ सकता है-यही उसका चरम सोपान (सीढ़ी) है। तभी श्रील ठाकुर महाशय ने कहा है-श्रीगुरु की प्रसन्नता प्राप्त होने से 'हेथाय चैतन्य मिले सेथा राधाकृष्ण"। श्रील ग्रन्थकार महोदय तब गौड़मण्डल में वास कर रहे थे, इसीलिये 'हेथाय' अर्थात् श्रीनवद्वीप में और 'सेथा' अर्थात् श्रीवृन्दावन में कहा है।

तत्पश्चात् कहते हैं-'हे प्रभु लोकनाथ! तुम कृपा नहीं करोगे तो और कौन करेगा? और किसके पास करुणा की कामना करूँगा? अतएव कृपा कर मेरी मनोवासना पूरी करो। इस त्रिभुवन में तुम्हें छोड़ मेरा और कोई नहीं, इसलिये कृपा कर अपने श्रीचरणतल में आश्रय दो।' यदि प्रभु लोकनाथ कहें-'मेरे आश्रय में रहकर तुम क्या अभिलाष करते हो?' तो कहते हैं-"राधाकृष्ण-लीला-गुण गाउँ रात्रिदिने।" 'मैं अहर्निश श्रीराधाकृष्ण का लीला-गुणादि कीर्तन करने की अभिलाषा करता हूँ।' यहाँ कीर्तन उपलक्षण से श्रवण-स्मरण आदि भी समझना होगा। 'हे प्रभो! तुम्हारी करुणा के बिना नरोत्तम की यह वासना पूरी होने का और दूसरा उपाय नहीं।'

'हा प्रभो लोकनाथ! तुम यह करुणा करो कि चित्त में सदा श्रीराधाकृष्णचरण स्फुरित हो।' अन्य स्फूर्तिरूपी मल चित्त से निकालकर चित्त में सतत भगवत् स्फूर्ति जगाना ही उपासना का कार्य है। आचार्य शङ्कर ने छान्दोग्य-श्रुति भाष्य-भूमिका में लिखा है-"उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्पितं किंचिदालम्बनमुपादाय तस्मिन् समान-चित्तवृत्ति सन्तान-करणं-तद्विलक्षण प्रत्ययान्तरितम्।" अर्थात् 'उपासना का अर्थ है-शास्त्रानुसार व्यवस्थित ध्यान का एक विषय अवलम्बन कर उसमें चित्तवृत्ति का एकाकार प्रवाह इस प्रकार उत्पन्न करना होता है कि उसमें अन्य वस्तु की स्फूर्ति व्यवधान के रूप में न आ सके।' भगवान् श्रीकपिलदेव ने भी श्रीमद्भागवत (३/२९/११-१२) में भगवान् के प्रति भक्त की गङ्गाधारा की तरह अविच्छिन्न मनोगति को 'निर्गुणाभक्ति' आख्या दी है-

"मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोहम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥"

श्रीकपिलदेव ने देवहूति से कहा-'हे मातः! जिस प्रकार गङ्गा का प्रवाह अखण्डरूप से समुद्र की ओर चलता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणों के श्रवणमात्र से सर्वगुहाशय मेरे प्रति श्रोता की जो अविच्छिन्न मनोगति हो जाती है, उसी को मुझ पुरुषोत्तम में अहैतुकी और अबाध निर्गुण भक्तियोग का लक्षण कहा गया है।' इसी को भक्तिशास्त्र ध्रुवानुस्मृति कहते हैं। श्रील ठाकुर महाशय ने श्रीश्रीराधाकृष्ण की ध्रुवानुस्मृति की कामना की है।

फिर स्वरूपाविष्ट दशा में श्रीगुरुमञ्जरी या मञ्जुलाली मञ्जरी से लीलाराज्य में श्रीराधाकृष्ण की सेवा के लिये प्रार्थना की इस पद्यांश में-"तोमार सहित थाकि सखीर सहिते..... आनन्दे सेविबो दोंहार युगल-चरण"। 'हे सखि गुरुमञ्जरि! तुम्हारे सङ्ग नित्यसिद्धा सखीमञ्जरियों के निकट सतत रहूँ-सहूँ-यही वासना मेरे चित्त में बराबर जग रही है। जो सखियों में ज्येष्ठ हैं, उन ललिताजी के चरणों में मुझे युगलसेवा के लिये कब समर्पित करोगी? मेरी समस्त वाञ्छायें तभी पूरी होंगी-मैं सानन्द श्रीश्रीराधामाधव के श्रीपादपद्म सेवन करूँगी।' 'हा सखि रूपमञ्जरि! तुम एक बार कृपादृष्टि डालो, नरोत्तम को सेवामृत रस से सींच कर धन्य करो।' श्रील ठाकुर महाशय की प्रार्थना के माध्यम से गौड़ीयवैष्णवों की हार्द्य या काम्य वस्तु को समझना होगा। वे लोग साधना में जो चिन्तन करते हैं, सिद्धि में वही प्राप्त करते हैं-इस वैज्ञानिक तथ्य का कभी व्यभिचार या अन्यथा नहीं होता। महाजन की इन प्रार्थनाओं के श्रवण, कीर्तन या चिन्तन से साधक की प्रार्थना अति शक्तिशाली होगी और वह शीघ्र अभीष्ट की आहट पाकर धन्य होगा॥४३-४४॥

स्वाभीष्ट लालसा

हा हा प्रभु करो दया करुणा तोमार।
मिछा मायाजाले तनु दहिछे आमार॥
कबे हेनो दशा हबे सखीसङ्ग पावो।
वृन्दावने फूल गाँथि दोंहाके पराबो॥
सम्मुखे वसिया कबे चामर ढुलाबो।
अगुरु चन्दन गन्ध दोंहे अङ्गे दिबो॥
सखीर आज्ञाय कबे ताम्बूल जोगाबो।
सिन्दूर तिलक कबे दोंहाके पराबो॥
विलास-कौतुक-केलि देखिबो नयने।
चन्द्रमुख निरखिबो बसाये सिंहासने॥
सदा से माधुरी देखि मनेर लालसे।
कतो दिने हबे दया नरोत्तम दासे॥४५॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय दैन्यवश अपने को साधारण मायाबद्ध मानव समझकर भगवान् की करुणा के लिये प्रार्थना कर रहे हैं। बाह्यदशा में भी स्वरूपावेश अति सान्द्र (गाढ़ा) है; अपने को श्रीराधा की किङ्करी ही समझ रहे हैं। प्रार्थना की परिपाटी से वही समझ में आता है। पहले कहते हैं-"हा हा प्रभु करो दया करुणा तोमार। मिछा मायाजाले तनु दहिछे आमार॥" प्रेम की मूर्ति होकर भी दैन्यवश स्वयं को संसारी व्यक्ति जानकर

श्रीकृष्णचरणों में प्रार्थना करते हैं-'हा हा प्रभु श्रीकृष्ण! इस दीनजन पर कृपा करो। मिथ्या मायाजाल में मेरी देह दग्ध हो रही है। तुम्हारी करुणा के अतिरिक्त इस मायाकवल से निस्तार पाने का और उपाय नहीं।' श्रील ठाकुर महाशय की इस उक्ति से साधकजगत् को यही शिक्षा मिलती है कि श्रीकृष्णबहिर्मुख जीव को दण्ड देने के लिये माया ने जीव के शुद्ध चिदात्मस्वरूप को ढककर पाञ्चभौतिक नश्वर देह में मैं बुद्धि और देह-सम्पर्कीय स्त्री-पुत्रादि में ममत्व बुद्धि दी है। यह मिथ्या मायाजाल मात्र है। इसी के कारण स्वरूपभ्रान्त जीव चिदात्मा या आनन्दस्वरूप होकर भी देह-दैहिकादि में मैं-मेरा अभिमान रखता है, इसी अभिमान के वश नाना योनियों में त्रिताप आदि ज्वाला और पापकर्मों के कारण नरक आदि में भयावह दु:ख ज्वालादि भोगता घूमता है। श्रीकृष्ण की बहिरङ्गा शक्ति माया श्रीकृष्ण की शक्ति से शक्तिमती है, इसलिये क्षुद्र जीवशक्ति ज्ञान-योगादि साधन-सम्पन्न होकर भी इस मायाशक्ति से प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर पाती। एकमात्र भगवत् पादपद्मों में शरणागति से ही मायाकार्य का निराकरण होता है। भगवान् ने अपने श्रीमुख से कहा है-

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥"

(गीता ७/१४)

'हे अर्जुन! जीवमोहिनी गुणमयी मेरी बहिरङ्गा मायाशक्ति अति दुस्तर है। जो मेरे चरणों में शरणगत हैं, वे ही इस माया को अतिक्रम कर पाते हैं।' इसीलिये मायाजाल से निकलने के लिये श्रीकृष्ण की करुणा की कामना की गई है। भक्त की प्रार्थना मायाजाल से विमुक्ति पाने के लिये ही नहीं है, उसकी प्रकृत आकांक्षित वस्तु भगवान् की सेवा-प्राप्ति ही है। मायामुक्ति आनुषङ्गिक है। इसीलिये स्वरूपाविष्ट श्रील ठाकुर महाशय ने 'कबे हेनो दशा हबे.....कतो दिन हबे दया नरोत्तमदासे' इस अविशिष्ट पद्यांश में श्रीश्रीराधामाधव की सेवा और उनके माधुर्यास्वादन के लिये प्रार्थना प्रस्तुत की है।

'हाय! मेरी ऐसी दशा कब होगी कि मैं सखियों का सङ्ग प्राप्त करूँगा? वही चिर-प्रतीक्षा हृदय में भरे बैठा हूँ।' गौड़ीय वैष्णव साधकों को भी इसी अनन्य प्रतीक्षा की आवश्यकता है। स्वरूप का आवेश अति सुन्दर वस्तु है; इस आवेश में ही यह प्रतीक्षा साधक के चित्त में उदित होती है। 'मैं श्रीराधा की दासी हूँ, भला इस मायिक विश्व के साथ मेरा क्या सम्पर्क? मायिक देह-दैहिकादि सभी नश्वर है, सभी जायेगा; श्रीराधा-चरणतल छोड़ मेरे खड़े होने का तो और स्थान नहीं।' स्वरूपाविष्ट साधक का यह भाव जगेगा ही। सखियों के दर्शन के लिये, उन लोगों की सङ्ग-प्राप्ति के लिये हृदय व्याकुल होगा। श्रील ठाकुर महाशय के चित्त की कैसी व्याकुलता है! आर्तिभरे प्राणों से प्रार्थना कर रहे हैं-'हाय! कब मिलेगा सखियों का सङ्ग? कब उनके आदेश से वृन्दावन के पुष्प चयन कर माला गूँथकर रत्नासन पर उपविष्ट श्रीराधामाधव के गलों में पहनाऊँगा? श्रीश्रीराधामाधव के रूप-गुण-लीला के माधुर्य से सारा विश्व उज्ज्वल हो उठेगा। सखियाँ श्रीराधामाधव को घेरकर बैठेंगी। परिहास रस की शत-शत तरङ्गें फूटेंगी! मैं उन्हीं अपूर्व रसतरङ्गों में तैरता हुआ युगल के निकट बैठकर चँवर ढुलाऊँगा। कभी सुवासित अगुरु-चन्दन से युगल अङ्ग चर्चित करूँगा। कभी सखियों के आदेश से युगल के श्रीमुखों में सुवासित पान के बीड़े अर्पित करूँगा। कभी दोनों को तिलक सिन्दूर आदि धारण कराऊँगा। परस्पर

की रूपमाधुरी देखकर दोनों ही विलासवासना से अधीर हो उठेंगे। उनकी वह वासना जानकर सखी-मञ्जरियाँ सभी कुञ्ज से बाहर चली जायेंगी। कुञ्ज के भीतर युगल अपूर्व केलि-विलास में मग्न हो जायेंगे। मैं कुञ्जरन्ध्रों पर आँखें रखे प्राण भरकर उस केलिविलासकौतुक के दर्शन करूँगा। विलास का अवसान होगा; सेवा का समय जानकर कुञ्ज में प्रविष्ट होकर युगल की वेशभूषादि सम्पन्न कर उन्हें रत्नसिंहासन पर बिठाऊँगा, फिर चँवर-व्यञ्जन आदि करते-करते जी भरकर उस युगलरूप-माधुरी को निहारूँगा-मेरी यह चिरलालसा है। हा प्रभु! इस दीन नरोत्तमदास के प्रति तुम्हारी करुणा कब होगी; मेरी यह सुचिरलालसा या वासना कब पूरी होगी!' यह शाश्वत वासना रागसाधकों के हृदय में भी भरी रहती है। लालसा या लोभ ही रागभजन की प्राणवस्तु है। महाजन कहते हैं-"गाढ़लौल्यैक लभ्या:"। युगल के प्रति नित्यसिद्ध सखीमञ्जरियों की भाव-परिपाटी की बात सुनते-सुनते ही लोभ उत्पन्न होता है।

"तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र ज्ञास्त्रं न युक्तिञ्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥"

(भ० र० सि० १/२/२९२)

'श्रीमद्भागवत में या रसिकभक्तों के लीलाग्रन्थों में श्रीकृष्ण के प्रति नित्यसिद्ध व्रजवासी पार्षदों की जो भावपरिपाटी वर्णित है, उसकी माधुर्यवार्ता श्रवण कर शास्त्रयुक्ति-निरपेक्ष वैसी ही भाव-माधुरी की जो अभिलाषा जगती है, उसी को लोभोत्पत्ति का लक्षण कहा गया है।' श्रील ठाकुर महाशय के इन प्रार्थना-पदों के श्रवण-कीर्तन से भी मञ्जरीभाव-साधकों के चित्त में श्रीश्रीराधामाधव की सेवामाधुरी के आस्वादन की लालसा जगेगी, इसमें सन्देह नहीं॥४५॥

श्रीकृष्ण के प्रति विज्ञप्ति

हरि हरि कबे हेनो दशा हबे मोर।
सेविबो दोंहार पद आनन्दे विभोर॥
भ्रमर हइया सदा रहिबो चरणे।
श्रीचरणामृत सदा करिबो आस्वादने॥
एइ आशा करि आमि जतो सखीगण!
तोमादेर कृपाय हय वाञ्छित पूरण॥
बहुदिन वाञ्छा करि पूर्ण जाते हय।
सबे मिलि दया करो हइया सदय॥
सेवा आसे नरोत्तम कान्दे दिवानिशि।
कृपा करि करो मोरे अनुगत दासी॥४६॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय इस पद में स्वरूपाविष्ट दशा में राधारानी की सब सखियों से युगलसेवा के लिये प्रार्थना कर रहे हैं। अतिशय आक्षेप के साथ कहते हैं-"हरि हरि! कबे हेनो दशा हबे मोर। सेविबो दोंहार पद आनन्दे विभोर॥" 'हाय हाय! मेरी ऐसी दशा कब होगी कि मैं आनन्द में विभोर होकर श्रीश्रीराधामाधव की चरणसेवा करूँगा?' भक्त सतत सेवानन्द की ही कामना करता है। सेवानन्द के अतिरिक्त स्वतन्त्र अन्य किसी आनन्द या सुख की कभी आकांक्षा नहीं करता। अन्य आनन्द की बात दूर रही, सेवानन्द में बाधक होने पर तो भगवत्प्रेमानन्द की भी आकांक्षा शुद्धभक्त नहीं करता। "निज प्रेमानन्दे कृष्ण-सेवानन्द बाधे। से आनन्देर प्रति भक्तेर हय महाक्रोधे॥" (चै० च० आदि०, परि० ४) द्वारकालीला में श्रीकृष्ण के सारथी दारुक जब श्रीकृष्ण को चँवर ढुला रहे थे, तब अपने अङ्ग की जड़ता बढ़ानेवाले प्रेमानन्द ने प्रकट रूप से अतिशय विघ्न उत्पन्न किया था, इसलिये दारुक ने उस प्रेमानन्द का अभिनन्दन नहीं किया।

"अङ्गस्तम्भारम्भमुत्तुङ्गयन्तं प्रेमानन्दं दारुको नाभ्यनन्दत्।
कंसारातेर्वीजने येनं साक्षादक्षोदीयानन्तरायो व्यधायि॥"

(भ० र० सि० ३/२/६२)

राधाकिङ्करियाँ साक्षात् सेवारस की ही मूर्तियाँ हैं। सेवागतप्राण ये किङ्करियाँ सतत श्रीराधा माधव के सेवानन्द में ही विभोर या तन्मय रहती हैं। इसके पश्चात् कहते हैं-"भ्रमर हइया सदा रहिबो चरणे। श्रीचरणामृत सदा करिबो आस्वादने॥" जैसे भ्रमर सदा कमल का मकरन्दरस आस्वादन करता है, वैसे ही किङ्करियाँ सतत युगल के सेवानन्द में तन्मय रहकर ही श्रीश्रीराधामाधव के पदारविन्द-मकरन्दरस का आस्वादन करती हैं। यहाँ श्रीचरणकमल-मकरन्द का अर्थ श्रीश्रीराधाकृष्ण के रूप-गुण-लीलामाधुर्य का आस्वादन ही है। भक्ति से भरकर ही 'श्रीचरणामृत' लिखा गया है, यह समझना होगा। 'श्रीचरण-मकरन्द' न कहकर 'श्रीचरणामृत' कहा है। भ्रमर मकरन्द का ही आस्वादन करता है, अमृतास्वादन नहीं करता, फिर भी यहाँ 'श्रीचरणामृत' शब्द का प्रयोग कर श्रीराधाकृष्ण के माधुर्य की आस्वादन-चमत्कारिता और मत्तता दोनों एक साथ बताई गई हैं।❋

फिर "एइ आशा करि आमि जतो सखिगण! ..... कृपा करि करो मोरे अनुगत दासी॥" इत्यादि अवशिष्ट पद्यांश में श्रीराधारानी की सखियों से युगलसेवा के लिये प्रार्थना कर रहे हैं। 'हे सखिगण! यह दीनजन इसी आशा में बैठा है कि युगल-सेवानन्द में तन्मय होकर भ्रमर की तरह श्रीयुगल-चरणमाधुरी सतत आस्वादन करेगा। यह आशा तुम सबकी करुणा के बिना कभी पूरी नहीं होगी; कृपाकर तुम सब मेरी वासना पूरी करो। सकरुण होकर सब मिलकर ऐसी दया करो कि मेरी सुचिरकाल की आशा पूरी हो।' यहाँ 'जतो सखीगण' कहकर ललिता-विशाखा आदि प्रधान सखियों से और श्रीरूपमञ्जरी आदि नर्मसखियों से प्रार्थना की है। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने अपने उत्कलिकावल्लरी स्तव में प्रार्थना की है-

---

❋ अमृत आस्वाद्य है और मकरन्द मत्तताजनक।

"गिरिकुञ्जकुटीरनागरौ, ललिते देवि सदा तदाश्रवौ।
इति ते किल नास्ति दुष्करं, कृपयाङ्गी-कुरु मामतः स्वयम्॥" (२२)

"भाजनं वरमिहासि विशाखे, गौरनीलवपुषोः प्रणयानाम्।
त्वं निजप्रणयिनोर्मयि तेन, प्रापयस्व करुणार्द्रकटाक्षम्॥" (२३)

'हे देवि ललिते! व्रजनिकुञ्जनागर श्रीश्रीराधाकृष्ण सदा तुम्हारे वाक्याधीन हैं; तभी कहता हूँ कि तुम्हारे लिये असाध्य कुछ भी नहीं। तुम स्वयं कृपाकर मुझे अङ्गीकार करो। (अर्थात् युगल-सेवा में नियुक्त कर धन्य करो)

हे विशाखे! इस वृन्दावन में तुम गौरी-श्याम श्रीश्रीराधामाधव की श्रेष्ठ प्रणयपात्र हो। तुम मुझे अपने प्रणयी श्रीराधाकृष्ण का कृपाकटाक्ष प्राप्त कराओ।' फिर श्रीरूपमञ्जरी आदि राधाकिङ्करियों से प्रार्थना की है-

"शृणुत कृपया हन्त प्राणेशयोः प्रणयोद्धुराः
किमपि यदयं दीन प्राणी निवेदयति क्षणम्।
प्रवणितमनाः किं युस्माभिः समं तिलमप्यसौ
युगपदनयोः सेवां प्रेम्ना कदापि विधास्यति?" (२५)

'हे किङ्करीगण-मेरे प्राणेश्वर श्रीश्रीराधाकृष्ण की प्रिय किङ्करियों! यह दीनजन विनम्र चित्त से जो निवेदन कर रहा है, उसे क्षणभर सुनो। मैं तुम सबके साथ मिलकर क्या कभी कुछ समय के लिये भी उनकी प्रेमसेवा कर पाऊँगा?'

अन्त में कहते हैं-"सेवा आशे नरोत्तम कान्दे दिवानिशि। कृपा करि करो मोरे अनुगत दासी॥" प्रेमिक प्रेम से उत्पन्न निरतिशय दैन्य के उदय होने पर स्वयं को अभीष्ट की सेवाप्राप्ति के सर्वथा अयोग्य समझता है; दूसरी ओर सेवा की प्रबल आशा भी नहीं छोड़ी जाती। तब भक्त अहर्निश रोदन करता है और केवल कृपा की ओर दृष्टि रखता है। करुणामय श्रीश्रीराधामाधव की कृपा भी उस पर अजस्र रूप से झरती है! इस दशा को प्रेमिक की परम आकांक्षित दशा जानना होगा॥४६॥

लालसा

जय जय श्रीकृष्णचैतन्य नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥
कृपा करि सबे मिलि करहो करुणा।
अधम पतित जने ना करिहो घृणा॥

ए तिन संसार-माझे तुया पद सार।
भाविया देखिनु मने गति नाहि आर॥
से पद पाबार आशे खेद उठे मने।
व्याकुल हृदय सदा करिये क्रन्दने॥
किरूपे पाइबो किछु ना पाइ सन्धान।
प्रभु लोकनाथ पद नाहिक स्मरण॥
तुमि तो दयाल प्रभु चाहो एकबार।
नरोत्तम - हृदयेर घुचाओ अन्धकार॥४७॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय ने स्वरूपाविष्ट दशा में श्रीराधाकृष्ण की सेवा के लिये रह-रहकर प्रार्थना की है। इस विशेष कलियुग में अति रहस्यमय श्रीश्रीराधामाधव की सेवा सपार्षद श्रीमन्महाप्रभु की ही करुणा का अवदान है। श्रीमन्महाप्रभु के श्रीचरणाश्रय के बिना, उनकी करुणा के बिना श्रीराधाकृष्ण की प्रेमसेवा पाने का और उपाय नहीं। तभी श्रील ठाकुर महाशय इस पद्य में सपार्षद श्रीमन्महाप्रभु की करुणा के लिये प्रार्थना कर रहे हैं। 'हे कृपामय महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य! तुम्हारी जय हो, तुम सर्वोत्कर्ष के साथ विराजित होओ। तुमने विश्वमानवों को श्रीकृष्ण का ज्ञान करा या प्रेम देकर धन्य किया है, इसीलिये तुम श्रीकृष्णचैतन्य हो। इस दीनातिदीन के चित्त में एक बिन्दु प्रेम देकर, श्रीराधामाधव की प्रेमसेवा देकर इसे धन्य करो। हा प्रभु नित्यानन्द! नित्य या शाश्वत प्रेमानन्द दान करने के लिये ही तुम्हारा करुणामय अवतार है। तुम्हारी करुणा को छोड़ श्रीगौराङ्गचरण या श्रीराधाकृष्ण की प्रेमसेवा पाने का कोई उपाय नहीं। कृपा कर इस दीनजन की अभिलाषा पूरी करो। हा सीतापति श्रीअद्वैतचन्द्र! तुमने श्रीगौर-निताइ को लाकर विश्ववासियों को व्रज के उन्नत उज्ज्वल रस से युक्त मञ्जरीभाव का आस्वादन देकर धन्य या कृतार्थ किया है, अतएव तुम सर्वोत्कर्ष के साथ विराज रहे हो। मुझ पर करुणा कर अपने द्वारा प्रचारित प्रेमरस की एक बूँद का आस्वादन देकर धन्य करो। हे गौरभक्तवृन्द! तुम सब व्रज के ही पार्षद हो, जगजन को व्रजरसमाधुरी आस्वादन कराने के लिये महाप्रभु के साथ अवतीर्ण हुए हो, तुम सबकी जय हो; तुम लोग करुणा कर मेरा अभीष्ट सिद्ध करो।'

इसके पश्चात् तीनों प्रभुओं और समस्त गौर-पार्षदों के चरणों में निवेदन करते हैं-'तुम सभी मिलकर अपने गुणों से करुणा कर मुझे धन्य करो। मैं अधम पतित हूँ, इसलिये घृणा कर मुझे त्यागना नहीं। मैं अधमपतित हूँ तो क्या, तुम सब भी तो अधमतारण पतितपावन हो-यही भरोसा लेकर तुम्हारे श्रीचरणों में शरण ली है।'

यदि श्रीमन्महाप्रभु कहें कि मुझसे क्या चाहते हो, यह बताओ। इसका उत्तर देते हैं-"ए तिन संसारमाझे तुया पदसार। भाविया देखिनु मने गति नाहि आर॥" 'हा प्रभु! तुमसे और दूसरी क्या वस्तु चाहूँगा; इस त्रिभुवन

में तुम्हारे चरण ही तो सभी प्रार्थनाओं के सार हैं, प्राणवस्तु हैं। मैंने विचार कर देख लिया, तुम्हारे चरणों को छोड़ मेरी और कोई गति नहीं।' प्रश्न हो सकता है–श्रील ठाकुर महाशय श्रीराधाकृष्ण की श्रीपादपद्म–सेवा की कामना करते हैं, यह बात प्रार्थनापदों में सर्वत्र ही सुस्पष्ट है। फिर यहाँ क्यों कह रहे हैं कि गौरचरण ही उनकी एकमात्र काम्य वस्तु है? व्रजलीला 2का ही परिशिष्ट है श्रीगौरलीला। व्रज के ठाकुर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण श्रीराधा की भावकान्ति अङ्गीकार कर राधा–माधुरी आस्वादन के लिये ही गौर हुए हैं और (उन्होंने) अपने आश्रित जनों को व्रज के निगूढ़ रस के आस्वादन का सौभाग्य देकर धन्य किया है। श्रीराधाकृष्ण के अनन्त लीलाप्रवाह का मूल उत्स ही गौरलीला है। "कृष्णलीलामृतसार, तार शत–शत धार, दशदिगे बहे जाहा हैते। से चैतन्यलीला हय, सरोवर अक्षय, मनोहंस चराहो ताहाते॥" (चै० च०) इसलिये जैसे–जैसे साधक का मन श्रीगौरचरणों में एकान्तभाव से निविष्ट होगा, उसी के अनुरूप उसके हृदय में श्रीराधा–पादपद्म–सुधाम्बुराशि उच्छलित होगी!

"यथा यथा गौरपदारविन्दे, विन्देत भक्तिं कृतपुण्यराशिः।
तथा तथोत्सर्पति हृद्यकस्मात्, राधापदाम्भोजसुधाम्बुराशिः॥"

(चै० चन्द्रा०)

अतएव श्रील ठाकुर महाशय कहते हैं, मेरे हृदय में श्रीगौरचरण–प्राप्ति के लिये सतत खेद या आर्ति जगती है, मैं सर्वदा व्याकुलचित्त हो रोदन करता रहता हूँ। "से पद पाबार आशे खेद उठे मने। व्याकुलहृदय सदा करिये क्रन्दने॥" भगवान् के अभाव में हृदय की व्याकुलता या सुतीव्र आकूति ही प्रेम का अनुभाव है। अभीष्टवस्तु पाने के लिये प्रेमिक के हृदय को महाव्याकुलता से अनुप्राणित करना ही प्रेम का कार्य है। यह प्रेम ही चरम उत्कर्ष पाकर 'महाभाव' होता है। यह महाभाव एकमात्र गोपियों का हृदय ही जानता है। श्रीमद्भागवत में देखने में आता है कि रासरजनी में श्रीकृष्णहारा होकर गोपियों ने मालती, माधवी, आम्र–अशोक आदि विटपीवितान से कृष्ण के विषय में पूछा है। महाव्याकुलता में वे तन्मयी हो गई हैं, बाह्यजगत् का ज्ञान तक खो बैठी हैं। इन प्रेम–पगलियों ने कहीं भी श्रीकृष्ण की खोज न पाकर अन्त में यमुनातट पर व्याकुलभाव से श्रीकृष्ण के लिये रोदन किया है। उनका वही महाव्याकुलतामय रोदन रासलीला की मध्यमणि 'गोपी–गीत' नाम से प्रसिद्ध है। उस महाशोकोच्छ्वास की करुण ध्वनि आज भी नीरव निशीथ में यमुना–पुलिन पर प्रेमिक साधक की हृदय–तन्त्री में झंकृत होती है; आकाश वायुमण्डलव्यापी वह विशाल आर्तनाद मानो सारी विश्व प्रकृति को अश्रुस्नात कर रहा है! उस करुण गोपीगीत झङ्कार का विराम नहीं, विश्राम नहीं!! यह भक्त की परम आस्वाद्य है–करुण या व्याकुलतामय होने के कारण ही इतनी मधुर है! उसी गोपीभाव के साधक के चित्त में इष्ट के लिये यदि कुछ भी व्याकुलता या अभाव नहीं जगता, तो उसकी साधना निष्प्राण लगती है। श्रीरूप–सनातन– रघुनाथ आदि गोस्वामिपादगण ने इसी वृन्दावन में बैठकर कैसा अद्भुत व्याकुलतामय भजन किया है–उसका स्मरण करके भी साधक का चित्त व्याकुल हो उठता है। श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय उन लोगों के अशेष करुणापात्र हैं, तभी श्रीगौरगोविन्द के लिये उनका ऐसा व्याकुलतामय रोदन है!

इसके पश्चात् कहते हैं–"किरूपे पाइबो किछु ना पाइ सन्धान। प्रभु लोकनाथ–पद नाहिक स्मरण॥" 'हाय, श्रीगोरचरण कैसे प्राप्त करूँगा, कोई उपाय नहीं। यदि श्रीगुरुचरणों में निष्ठा होती तो श्रीगुरुकृपा से अभीष्ट–सिद्धि हो जाती, किन्तु श्रीगुरु प्रभु लोकनाथ का श्रीचरण–स्मरण नहीं कर पाता। हा प्रभो! हा श्रीगुरो! तुम कृपामय हो, अपने गुणों से करुणा कर एक बार दीनजन पर कृपादृष्टिपात करो–इसके हृदय का अविद्या–तिमिर नष्ट कर प्रकाशमय भक्तिराज्य में ले जाओ।' "तुमि तो दयाल प्रभु चाहो एक बार। नरोत्तम–हृदयेर घुचाओ अन्धकार" ॥४७॥

माथुर विरहोचित दर्शन–लालसा

कबे कृष्ण धन पाबो, हियार माझारे थोबो, जुड़ाइबो ए पाँच पराण।
साजाइया दिबो हिया, बसाइबो प्राणप्रिया, निरखिबो से चन्द्रबयान॥
हे सजनि! कबे मोर हइबे सुदिन।
से प्राणनाथेर सङ्गे, कबे बा फिरिबो रङ्गे, सुखमय यमुनापुलिन॥
ललिता विशाखा निया, ताँहारे भेटिबो गिया, साजाइया नाना उपहार।
सदय हइया बिधि, मिलाइबे गुणनिधि, हेनो भाग्य हइबे आमार॥
दारुण बिधिर नाट, भाङ्गिलो प्रेमेर हाट, तिलमात्र ना राखिलो तार।
कहे नरोत्तमदास, कि मोर जीवने आश, छाड़ि गेलो व्रजेन्द्रकुमार॥४८॥

सुधाकणिका व्याख्या–

श्रील ठाकुर महाशय ने पिछले पद्य में सपार्षद श्रीमन्महाप्रभु के चरणों में शरणागत होकर अभीष्टसिद्धि की कामना की। श्रीमन्महाप्रभु की करुणा से माथुर विरहकातर राधारानी का स्फुरण प्राप्त हुआ है, तो इस त्रिपदी में श्रीकृष्णविरहिणी राधारानी के विलाप–वाक्यों की आवृत्ति कर रहे हैं। श्रील ठाकुर महाशय चम्पकमञ्जरी–रूप में राधारानी के निकट रहकर ईश्वरी के साथ रोदन करते–करते उनकी प्रलापवाणी की आवृत्ति कर रहे हैं।

श्रील गोस्वामिपादगण ने कृष्ण–विरह की रसता प्रतिपादित की है। श्रीकृष्णविरह में प्रेमिक के बाहर विपुल दु:ख और आर्ति दिखाई देते हैं, फिर भी वे दु:ख–आर्ति परम आस्वाद्य, मधुर और सरस होते हैं। प्राचीन महाजनों की उक्ति है–

"सङ्गम–विरह–विकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्या:।
सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥"

अर्थात् 'मिलन और विरह में विरह ही श्रेष्ठ है, कारण–मिलनकाल में प्रियजन को एकाकी ही प्राप्त किया जाता है, किन्तु विरहकाल में त्रिभुवन प्रियजनमय हो जाता है; अर्थात् सर्वत्र ही प्रियजन की स्फूर्ति होती है।' व्रजवासियों के प्रेम में सतत विरह का प्राचुर्य देखा जाता है। विरह ने ही उनके प्रेम को इतना उत्पन्न, इतना महान

कर रखा है। कृष्णविरहजनित प्रेमविशेष का महत्त्व एवं स्वादुता व्रजवासी ही आस्वादन करते हैं। भगवत्प्राप्ति के अभाव में थोड़ी-बहुत विरह-दशा का उदय सभी भक्तों में होता है, यह सही है, किन्तु अन्यान्य भक्तों में वैसे प्रेम के अभाव के कारण व्रजवासियों की तरह सम्यक् विरह-आर्ति प्रकट नहीं होती-इसीलिये वैसा महासुखविशेष भी सम्पन्न नहीं होता। विशेषतः महाभाववती व्रजसुन्दरियों के विरह का परम आधिक्य है। परकीयभाव के कारण क्या मिलन में, क्या विरह में, किसी भी समय उनकी विरहार्ति का अवसान नहीं होता। सर्वोपरि हैं महाभावमयी राधारानी; माथुर विरह में उनके मोहनाख्य भाव में दिव्योन्माद, चित्रजल्प आदि अतर्क्य भावदशायें प्रकट होती हैं।

श्रीकृष्ण अक्रूरजी के साथ मथुरा प्रस्थान करते हैं; उद्धवजी व्रज में आगमन करते हैं-दोनों अवसरों पर श्रीमद्भागवत में व्रजसुन्दरियों के विरहरस का अपूर्व वर्णन देखने को मिलता है। व्रजदेवियाँ उद्धवजी से श्रीकृष्ण के विषय में पूछती हैं, उस समय श्रीकृष्णकान्ता-शिरोमणि राधारानी की विरह-विलापमय 'भ्रमरगीता' श्रीमद्भागवत का सर्वश्रेष्ठ आस्वाद्य अंश है। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने श्री ललितमाधवनाटक, उद्धव-सन्देश एवं हंसदूत महाकाव्य में श्रीराधा के विरहरस का अति मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। सहृदय भक्तवृन्द! उक्त ग्रन्थों में आप श्रीमती के विरहरस का प्रचुर आस्वादन प्राप्त करेंगे; यहाँ हम केवल महाजन-पदों में विरहरस का किञ्चित् उपहार आपके करकमलों में अर्पित कर रहे हैं। श्रीराधा का विलाप-

"फुटिल कुसुम नवकुञ्जकुटिर वन कोकिला पञ्चम गावइ रे।
मलयानिल हिम-शिखरे सिधारल पिया निजदेश ना आवइ रे॥
चाँद चन्दन तनु अधिक उतापइ उपवने अलि उतरोल।
समय बसन्त कान्त रहु दूरदेश जानलूँ बिहि प्रतिकूल॥
अनिमिख नयने कानुमुख निरखिते तिरपित ना हये नयान।
ए सुख समये सहये एत सङ्कट अबला कठिन पराण॥
दिने दिने क्षीणतनु हिमे कमलिनी जनु ना जानि कि इह परियन्त।
विद्यापति कह धिक् धिक् जीवन माधव निकरुण अन्त॥"

(पद कल्पतरु)

जो भी हो, राधारानी श्रीकृष्णविरह में चम्पकमञ्जरी के आगे विलाप करती हैं-"हाय सखि! कृष्णधन कब प्राप्त करूँगी; इस बार मिल जाय, तो उस कृष्णरत्न को हृदय के भीतर धारण कर रखूँगी; मेरे प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान-ये पञ्चप्राण सुशीतल हो जायेंगे। अपने उन हृदयनाथ को सुसज्जित कर प्राणप्रिया ❋ को गोद में लेकर बैठूँगी और युग-युगान्तर तक उस चन्द्रवदन का अपलक नेत्रों से दर्शन करूँगी।" श्रीकृष्ण विरह में क्षणकल्पता और मिलन में कल्पक्षणता महाभाव का ही अनुभाव है। महाभाववती गोपिकाओं की श्रीकृष्णमाधुरी-आस्वादन की पिपासा शान्त नहीं होती। एकमात्र गोपिकायें ही कह सकती हैं-

---

❋ प्रेमभ्रान्तिवश 'प्राणप्रिय' के स्थान पर 'प्राणप्रिया' कहा है।

"जन्म अवधि हाम रूप नेहारिनु नयन ना तिरपित भेल।
लाख लाख युग हिये हिये राखिनु तबु हिया जुड़न ना गेल॥
वचन अमियरस अनुखन पियलुँ श्रुतिपटे परश ना भेल।
कत मधु यामिनी रभसे गोआँइनु ना बुझिनु कैछन केल॥"

(विद्यापति)

यह विशाल पिपासा ही श्रीकृष्णमाधुरी के आस्वादन की परिमापक है। राधारानी ने अपने महाभाव से उत्पन्न अपरिमेय तृष्णा द्वारा अगस्त्य ऋषि की तरह श्रीकृष्णमाधुर्यसिन्धु को अपनी कुक्षि में भर रखा है।

फिर कहते हैं-'हे सखि! मेरा ऐसा शुभदिन कब आयेगा, जब मैं प्राणनाथ के साथ सुखमय यमुना-पुलिन पर विहार करती घूमूँगी। नाना उपहार सुसज्जित कर ललिता-विशाखा को साथ लेकर प्राणनाथ से मिलूँगी। हाय! क्या मेरा ऐसा शुभ दिन आयेगा? विधाता मेरे प्रति सदय होंगे, उन गुणनिधि श्यामसुन्दर के साथ मेरा मिलन करायेंगे-हाय, मेरा ऐसा भाग्य कब होगा?' श्रीश्रीराधाकृष्ण की लीला में विधाता का कोई कर्तृत्व नहीं। यह लीला ब्रह्मा-महादेव आदि के लिये अति दुर्ज्ञेय है, फिर भी लोकवत् लीला है-वे समझते हैं कि वे भी साधारण गो-गोपियाँ हैं और उनके संयोग-वियोग आदि सब विधाता के अधीन हैं। इसी प्रकार शुद्ध नरलीला की रसमाधुरी का आस्वादन होता है, सो जानना होगा। राधारानी विलाप करते-करते बोलीं-'हाय सखि! विधाता का यह कैसा निदारुण खेल है, विधाता ने प्रेम का ऐसा हाट उठा दिया, उस हाट का तिलभर भी बाकी न रखा!' महाजन ने भी गाया है-

"प्रेमक अंकुर जात आत भेल ना भेल युगल पलाशा।
प्रतिपद चाँद उदय जैसे यामिनी सुख-लव भै गेल निराशा॥
सखि हे, अब मोहे निठुर मधाइ-अवधि रहल बिसराइ।
सुरतरु-तल जब, छाया छोड़ल हिमकर बरिखय आगि॥
दिनकर दिनफले शीत न बारल हम जीयब कथि लागि॥
सजनि! आर नाहि बुझिये विचार!
धनका आरति धनपति न पूरल, रहल जनम-दुःख-भार॥
को जाने चाँद चकोरिणी वञ्चब माधवी मधुप सुजान।
अनुभवि कानु-पिरीति अनुमानिये विघटित विहि निरमान॥
पाप पराण मम आन नाहि जानत कान्ह कान्ह करि झुर।
विद्यापति कह-निकरुण माधव गोविन्ददास रसपूर॥"

स्फुरण में विराम आ गया। श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय कहते हैं : व्रजेन्द्रकुमार मेरी राधारानी को छोड़कर जब मथुरा चले गये, तो किस आशा में मेरा यह जीवन बचा हुआ है? स्वरूपाविष्ट श्रील ठाकुर महाशय

के हृदय में राधारानी की विरहपीड़ा मिटाने के लिये व्रजेन्द्रनन्दन के दर्शन की विपुल लालसा जगी है। उस लालसा को हृदय में लेकर ही प्रियाजी की विलापवाणी की आवृत्ति की है॥४८॥

पुनः वही लालसा

एइबार पाइले देखा चरण दुखानि। हियार माझारे राखि जुड़ाबो पराणी॥
तारे ना देखिया मोर मने बड़ो ताप। अनले पशिबो किम्वा जले दिबो झाँप॥
मुखेर मुछाबो घाम खाओयाबो पान गुया। श्रमेते बातास दिबो चन्दनादि चुया॥
वृन्दावनेर फुलेर गाँथिया दिबो हार। विनाइया बान्धिबो चूड़ा कुन्तलेर भार॥
कपाले तिलक दिवो चन्दनेर चाँद। नरोत्तम दास कहे पिरीतेर फाँद॥४९॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय को स्फूर्ति में राधारानी के विरहरस का आस्वादन प्राप्त हुआ। स्फूर्ति में विराम आया, तो हाहाकार जगा। अब पुनः विरहवती राधारानी का स्फुरण पाकर पिछले पद की तरह उनके विरह-विलाप का अनुवाद कर रहे हैं। राधारानी विलाप कर रही हैं-'हाय! यदि एक बार अपने प्राणनाथ श्रीश्यामसुन्दर के श्रीचरणों का दर्शन पा जाऊँ, तो उन चरणों को हृदय में रखकर अपने चिरतापित प्राणों को सुशीतल कर लूँ।' श्रील कवि कर्णपूर ने अपने श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में श्रीकृष्णपदारविन्द-युगल को प्रेममयी व्रजसुन्दरियों के हृदय का नित्यसङ्गी कहा है-

"वन्दे कृष्णपदारविन्दयुगलं यस्मिन् कुरङ्गीदृशां
वक्षोज प्रणयीकृते विलसति स्निग्धोऽङ्गरागः स्वतः।
काश्मीरं तलशोणिमोपरितनः कस्तूरिकां नीलिमा
श्रीखण्डं नखचन्द्रकान्ति-लहरी निर्व्याजमातन्वते॥"

'श्रीकृष्ण के पदारविन्दयुगल की वन्दना करता हूँ, जिन (चरणों) में व्रजसुन्दरियों का कुंकुम आदि स्निग्ध अङ्गराग स्वाभाविकरूप से विद्यमान है, कारण-मृगनयना व्रजसुन्दरियों के वक्षोजयुगल का आलिङ्गनरूपी निरन्तर सख्य उन्हें प्राप्त है। अर्थात् व्रजसुन्दरियों के स्तनों के अग्रभाग में लगे अरुण वर्ण कुंकुम के निरन्तर सङ्ग से श्रीचरणतल की अरुणिमा, स्तनमण्डल के निम्नभाग के मृगमद के सङ्ग से श्रीचरणों के ऊपरी भाग की नीलिमा एवं स्तनमण्डल के मध्यवर्ती चन्दन के सङ्ग-गुण से नखों की चन्द्रकान्ति-लहरी की धवलता प्रकाशित है।' राधारानी के वक्षोजयुगल के नितान्त प्रणयी हैं ये श्रीचरण युगल।

राधारानी विलाप करती हैं-"तारे ना देखिया मोर मने बड़ो ताप। अनले पशिवो किम्वा जले दिबो झाँप॥" माथुर विरहकातर राधारानी के हृदय में श्रीकृष्ण-विरहताप कितना विशाल या महत्तर है-इस विषय में उन्होंने स्वयं विशाखाजी से कहा है-

"और्वस्तोमात् कटुरपि कथं दुर्बलेनोरसा मे
तापः प्रौढ़ा हरिविरहजः सह्यते तन्न जाने।
निष्क्रान्ता चेद्भवति हृदयाद्षस्य धूमच्छटापि
ब्रह्माण्डानां सखि! कुलमपि ज्वालया जाज्वलीति॥"

(उ० नी०)

'हे सखि विशाखिके! श्रीकृष्ण की विरहवह्नि बड़वानल से भी कटुतर है; मैं इसे कैसे सह रही हूँ, नहीं जानती। मुझे लगता है, यदि इस ताप की धूमच्छटा भी मेरे हृदय से निकले, तो अनन्त ब्रह्माण्ड उस ज्वाला में भस्म हो जायेंगे।' उस ताप की अतिशयता ने ही समस्त चिज्जगत् एवं अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के परम आश्रय श्रीमन्महाप्रभु की देह को दीर्घाकृति और कूर्माकृति कर अपना अप्रतिम प्रभाव व्यक्त किया है! उसी श्रीकृष्णविरहताप की ज्वाला में राधारानी की अग्नि में प्रवेश करने की या जल में कूद पड़ने की इच्छा का उद्गम कुछ भी विचित्र नहीं। वस्तुतः इस रस में साक्षात् मृति (मृत्यु) नहीं, मृति की चेष्टामात्र प्रकट होती है, ऐसा जानना होगा।

श्रीकृष्ण का साक्षात्कार होने पर श्रीकृष्ण-आराधिका राधारानी अपने हाथों प्राणप्रियतम की कैसी सेवा करेंगी, यही पद्य के अवशिष्ट अंश में बताया गया है। राधारानी कहती हैं-'जब प्राणप्रिय श्यामसुन्दर मेरे कुञ्ज में आयेंगे, मैं उन्हें गोद में बिठाकर बड़े प्रेम से उनके श्रीमुख के धर्मबिन्दु (पसीने की बूँदें) अपने नीलवस्त्र के अञ्चल से पोंछूँगी। श्रीमुख में कर्पूरादि-वासित पान का बीड़ा अर्पित करूँगी। मेरे पास आने में उनके कोमल अङ्ग को जाने कितना परिश्रम होगा; पङ्खा झलकर उनकी थकान दूर करूँगी। श्रीअङ्ग पर शीतल चन्दन सुगन्धी चुआ (गन्धद्रव्य) में मिलाकर लगाऊँगी। अपने हाथों से वृन्दावन के पुष्प चयन कर माला बनाकर गले में पहनाऊँगी। केश-संस्कार कर अपने हाथों चूड़ा बाँधूँगी। कपाल पर मनोहर चन्दन का तिलक लगाऊँगी।' स्फुरण में विराम आने पर श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय कहते हैं-'राधारानी का लगाया श्रीकृष्णललाट का वह पूर्णचन्द्र-सा चन्दन-तिलक प्रीतिरस का फन्दा-जैसा होगा।' महाजन ने भी गाया है-

"कपाले चन्दन, फोंटार छटा, लागिलो हियार माझे।
ना जानि कि व्याधि, मरमे बाधल, ना कहि लोकेर लाजे॥
एमन कठिन, नारीर पराण, बाहिर नाहिक हय।
ना जानि कि जानि, हय परिणामे, दास गोविन्द कय॥"

(पदकल्पतरु)

और भी कहा गया है-"भाले से चन्दन-चान्द, नागरी मोहन फान्द" (बलराम दास)। "चन्दनेर चान्द माझे मृगमद धान्दा। तार माझे पराण पुतली रैलो बान्धा॥" (ज्ञानदास) राधारानी की विरहपीड़ा नष्ट करने के लिये स्वरूपाविष्ट श्रील ठाकुर महाशय के चित्त में श्रीकृष्ण-दर्शन की शाश्वत आकांक्षा जगी है॥४९॥

आक्षेप

गोरा पँहु ना भजिया मैनु। प्रेम रतन धन हेलाय हाराइनु॥
अधने जतन करि धन तेयागिनु। आपन करम दोषे आपनि डुबिनु॥
सत्सङ्ग छाड़ि कैनु असते विलास। ते कारणे लागिलो जे कर्मबन्ध फाँस॥
विषय विषम विष सतत खाइनु। गौर-कीर्तन रसे मगन ना हैनु॥
केनो बा आछये प्राण कि सुख लागिया। नरोत्तम दास केनो ना गेलो मरिया॥५०॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय स्फूर्ति के विराम में अतिशय दैन्य के उदय होने पर स्वयं को साधनभजनहीन साधारण विषयी मानव समझ रहे हैं और प्रेमावतार श्रीगौराङ्ग के युग में प्रेमधन से वञ्चित मानकर हाहाकार कर रहे हैं-"गोरा पँहु ना भजिया मैनु। प्रेम रतन धन हेलाय हाराइनु॥ अधने जतन करि धन तेयागिनु। आपन करम-दोषे आपनि डुबिनु॥" 'हाय! श्रीगौराङ्गप्रभु को न भजकर मर गया। करुणामय श्रीगौराङ्ग महाप्रभु ने सारे विश्व में प्रेमधन वितरण कर जगजीवों को धन्य किया, किन्तु हाय! एक मैं ही उन्हें न भजकर मर गया। ऐसे प्रेमावतार के युग में प्रेमरत्नधन असावधानी से खो दिया। उस कृष्णप्रेमरूपी रत्नधन को त्यागकर अधन अर्थात् कृष्णेतर कामिनी-काञ्चन विषय में यत्न किया, अतएव अपने कर्मदोष से स्वयं ही डूब गया।' प्रेम की मूर्ति होकर भी श्रील ठाकुर महाशय ने दैन्य से भरकर जो अतिशय गहन आक्षेप किया है, उससे श्रीगौराङ्ग के युग के आदमी को अति मूल्यवान् उपदेश दिया गया है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है-

"अवतीर्णे गौरचन्द्रे विस्तीर्णे प्रेमसागरे।
सुप्रकाशितरत्नौधे यो दीनो दीन एव स॥"

(चै० चन्द्रा० ४०)

अर्थात् 'श्रीगौराङ्ग के अवतरण से प्रेमसिन्धु ने उच्छ्वसित होकर विश्व को आप्लावित कर दिया है। उस सिन्धुगर्भ से भक्तिरत्न निकले हैं, जिनसे सर्वत्र सुप्रकाश फैल गया है। इस युग में भी जो लोग प्रेमधन से वञ्चित हैं, उन्हीं को यथार्थ रूप से वञ्चित या दीन समझना होगा।' श्रीपाद आनन्दी ने इस श्लोक की जो टीका की है, उसका मर्मार्थ इस प्रकार है-'श्रीगौराङ्ग के आविर्भाव से प्रेमसागर में जो अद्‌भुत उच्छ्वास या ज्वार आया है, उससे उस सिन्धुगर्भ में स्थित श्रवण-कीर्तन आदि रूपी नवधा भक्ति, विभाव अनुभाव सात्त्विक व्यभिचारी आदि रस-उपकरण या हरेकृष्णेति नामरूपी रत्नसमूह सभी के सामने आ गिरे हैं। कोई मन्दभाग्य व्यक्ति चन्द्रमा के उदय होने पर सिन्धुगर्भ से प्रकाशित रत्नों के निकट रहकर भी उन्हें न पहचाने और लौहमल की खोज में इधर-उधर भागे, तो उसकी दरिद्रता कभी दूर नहीं होती। उसी प्रकार गौरचन्द्र के उदय होने से सभी लोग प्रेमरत्न पाकर धनी हो गये, पर जिन्होंने उनका चरणाश्रय नहीं लिया या जो उनका भजन नहीं करते, उनकी मूढ़ता और ताप दूर होने के नहीं।'

फिर कहते हैं-"सत्सङ्ग छाड़ि कैनु असते विलास। ते कारणे लागिलो जे कर्मबन्ध फाँस॥" 'यदि गौरभक्तों का-सत् या महद्गण का सङ्ग किया होता, तो उनकी कृपा से गौरभजन कर सकता था।' "साधुसङ्ग साधुसङ्ग सर्वशास्त्रे कय। लवमात्र साधुसङ्गे कृष्णभक्ति लभ्य हय॥" (चै० च०) अति अल्प काल का सत्सङ्ग भी कृष्णभक्ति पाने का सशक्त हेतु होता है। "दर्शनस्पर्शनालाप-सहवासादिभिः क्षणात्। भक्ताः पुनन्ति कृष्णस्य साक्षादपि च पुक्कशम्" (ब्रह्माण्डपुराण) "कृष्णभक्त क्षणभर मात्र के दर्श-पर्श, आलाप एवं सहवास आदि से चण्डाल तक को पवित्र कर देते हैं।" 'ऐसा सत्सङ्ग त्यागकर असत् सङ्ग में आनन्द पाया, तभी कर्मबन्धन का फन्दा गले में कस गया।' "असद्भिः सह सङ्गस्तु न कर्तव्यः कदाचन। यस्मात् सर्वार्थहानिः स्यादधः पातश्च जायते॥' (ह० भ० वि०) 'कल्याणकामी व्यक्ति का कभी भी असत्-सङ्ग करना उचित नहीं; असत् लोगों के सङ्ग से इहलोक-परलोक सभी प्रकार की साध्य-साधना की हानि होती है। इतना ही नहीं, महादुःखमय नरक आदि यातना भी भोगनी पड़ती है।' इसीलिये महर्षि कात्यायन ने कहा है-"वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः। न शौरीचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम्॥" 'भले ही ज्वालामय अग्निपञ्जर में रह लूँगा, पर कृष्णचिन्तनविमुख लोगों के साथ रहने का दुःख कभी न भोगना पड़े।'

अन्त में कहते हैं-"विषय विषम विष सतत खाइनु। गौरकीर्तनरसे मगन ना हैनु॥ केनो बा आछये प्राण कि सुख लागिया। नरोत्तम दास केनो ना गेलो मरिया॥" 'जड़ीय शब्द-स्पर्श आदि विषय या अर्थसम्पदा आदि विषय के रूप में अति विषम (सद्य प्राणहारक) विष जानबूझ कर पीया। अमृतपान से विष की क्रिया विनष्ट होती है और आदमी अमर होता है; यदि श्रीगौराङ्ग के नाम-कीर्तनामृत में मग्न हो पाता, तो विषय-विष की विषम पीड़ा से बचता, किन्तु गौरकीर्तनरस में नहीं डूब सका। अब किस सुख के लिये, भला क्यों, इस देह में प्राण विद्यमान हैं-नहीं जानता। हाय! मैं मर क्यों नहीं गया।' प्रेम की मूर्ति श्रील ठाकुर महाशय ने महादैन्य से भरकर स्वयं को साधारण विषयी व्यक्ति समझ कर जो आक्षेप किया है, वह मृतसञ्जीवनी की तरह साधकों के लिये परम हितकर है॥५०॥

आक्षेप

वृन्दावन रम्यस्थान, दिव्य चिन्तामणिधाम, रतन मन्दिर मनोहर।
आवृत कालिन्दीनीरे, राजहंस केलि करे, ताहे शोभे कनक कमल॥
तार मध्ये हेमपीठ, अष्टदलेते वेष्टित, अष्टदलेते प्रधान नायिका।
तार मध्ये रत्नासने, बसि आछेन दुइजने, श्याम सङ्गे सुन्दरी राधिका॥
ओ रूप लावण्यराशि, अमिया पड़िछे खसि, हास्य-परिहास सम्भाषणे।
नरोत्तम दास कय, नित्यलीला सुखमय, सदाइ स्फुरुक मोर मने॥५१॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय ने दैन्य से भरकर श्रीमन्महाप्रभु के भजन की उत्कण्ठा से युक्त आक्षेप व्यक्त किया है। श्रीमन्महाप्रभु की करुणा से वृन्दावन-माधुरी का स्फुरण हुआ है, तो इस पद्य में उसी को प्रकट

कर रहे हैं। अप्राकृत चिन्मय सन्धिनीशक्ति का विलास श्रीधाम वृन्दावन मायाशक्ति का वैभव या प्रकृति का परिणाम नहीं, अतएव श्रीधाम प्रपञ्च में रहकर भी प्रपञ्चातीत चिन्मय है, तभी परम रमणीय है! श्रीवृहद् गौतमीय तन्त्र में श्रीकृष्ण ने स्वयं व्रजधाम की रम्यता के विषय में देवर्षि नारद से कहा है–"इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम्"–'यह रमणीय वृन्दावन केवल मेरा ही धाम है।' इस वृन्दावन की रम्यता के विषय में श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने श्रीवृन्दावनमहिमामृत (१/४) में लिखा है–

"राधाकृष्ण विलासपूर्ण सुचमत्कारं महामाधुरी-
सारस्फार चमत्कृतिं हरिरसोत्कर्षस्य काष्ठां पराम्।
दिव्यं स्वाद्यरसैकरम्यसुभगाशेषं न शेषादिभिः
सेशैर्गम्यगुणौघपारमनिशं संस्तौमि वृन्दावनम्॥"

'जो वृन्दावन श्रीराधाकृष्ण के विलासरस से पूर्ण होने के कारण अति चमत्कारजनक हैं; जो स्थान महामाधुर्य-सार होने से अत्यन्त विस्मयकर और श्रीहरि के रसोत्कर्ष (शृङ्गाररस) की पराकाष्ठा का प्रतिपादक है; अप्राकृत उन्नत उज्ज्वलरस से पूरी तरह रमणीय है; ईश्वरसहित शेषजी आदि भी जिसकी गुणराशि का वर्णन कर पार नहीं पाते, उसी वृन्दावन का मैं अहर्निश सम्यक्रूप से स्तव करता हूँ।'

दिव्यचिन्तामणिधाम श्रीवृन्दावन का सभी कुछ दिव्य है–

"दिव्यानेकविचित्र-पुष्पफलवद्वल्लीतरूणां तति-
दिव्यानेक-मयूर-कोकिल-शुकाद्यानन्दमाद्यत्खगः।
दिव्यानेकसरः - सरिद्गिरिवरः प्रत्यग्रकुञ्जावली
दिव्या काञ्चन - रत्नभूमिरपि मां वृन्दावनेऽमोहयत्॥"

(वृ० म० २/२)

'श्रीवृन्दावन की दिव्य-दिव्य विचित्र पुष्पफलयुक्त बहुत वृक्षलतायें-दिव्यातिदिव्य बहुत मयूर, कोकिल, शुक आदि पक्षियों की आनन्दोन्मत्त ध्वनि, दिव्य-दिव्य बहुत-से सरोवर, नदी, पर्वत आदि से शोभित नये-नये कुञ्जों और दिव्य कञ्चनरत्नभूमि ने मुझे मोहित कर दिया है।'

उसी दिव्यातिदिव्य सर्वअभीष्टप्रद चिन्तामणि धाम में मनोहर रत्नमन्दिर शोभा पा रहा है! वह रत्नमन्दिर कालिन्दी-प्रवाह से आवृत है, अर्थात् कालिन्दी के मूल प्रवाह और निर्झर द्वारा चारों ओर से घिरा है। यमुना के काले जल में राजहंस खेल रहे हैं और स्वर्ण-कमलवन शोभा पा रहे हैं। यमुना की वेष्टनी (घेरे) के भीतर हेमपीठ या हेमस्थली स्वर्णकान्ति से झिलमिला रही है। उसके भीतर अष्टदल पर आठ प्रधान नायिकायें विराज रही हैं। उसके बीच अपूर्व रत्नासन पर श्रीश्यामसुन्दर के साथ परम सुन्दरी राधारानी उपविष्ट हैं। श्रीयुगल के अपरूप रूप-लावण्य से श्रीवृन्दावन चमक रहा है!! हास्य-परिहास और पारस्परिक सम्भाषण से मानो अमृतराशि झर-झर रही है!

"नवोद्यत्कैशोरं नवनव-महाप्रेमविकलं, नवानङ्गक्षोभात्तरलतरलं नव्यललितम्।
नवीनादृष्ट्यङ्गोक्तिषु मधुरभङ्गीर्दधदहो, महो गौरश्यामं स्मरत नवकुञ्जे तदुभयम्॥"

(वृ० म० २/६२)

'जो नवकैशोर प्राप्त हैं; नव-नव महाप्रेमविवश हैं; नवीन अनङ्गक्षोभवश अति चञ्चल हैं; नव ललित दृष्टि में, अङ्ग में, वाक्य में नव-नव मधुर भङ्गिमा धारण कर रहे हैं; नवीन कुञ्ज में उन्हीं गौरश्याम ज्योतियुगल को स्मरण करो।'

श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय कहते हैं-श्रीश्रीराधामाधव की नित्यसंयोगमयी वही अतिसुख-स्वरूप नित्यलीला मेरे चित्त में सर्वदा स्फुरित हो॥५१॥

आक्षेप

कदम्ब तरुर डाल, नामियाछे भूमे भाल, फुटियाछे फूल सारि सारि।
परिमले भरल, सकल वृन्दावन, केलि करे भ्रमरा भ्रमरी॥
राइकानु विलसइ रङ्गे।
किबा रूप लावनि, वैदगधि-खनि धनि, मणिमय आभरण अङ्गे।
राधार दक्षिण कर, धरि प्रिय गिरिधर, मधुर मधुर चलि जाय।
आगे पाछे सखीगण, करे फुल वरिषण, कोनो सखी चामर ढुलाय॥
परागे धूसरस्थल, चन्द्र करे सुशीतल, मणिमय वेदीर उपरे।
राइकानु करजोड़ि, नृत्य करे फिरि फिरि, परशे पुलके तनु भरे॥
मृगमद चन्दन, करे करि सखीगण, बरिखये फुल गन्धराजे।
श्रमजल बिन्दु बिन्दु, शोभा करे मुखइन्दु, अधरे मुरली नाहि वाजे॥
हास विलास-रस, सरल मधुर भाष, लोचन मोहन लीला करु।
दुँहुक विचित्र वेश, कुसुम रचित केश, नरोत्तम मनोरथ भरु॥५२॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय को वृन्दावन-शोभा वर्णन करने के पश्चात् यमुनातट पर नित्यरास का स्फुरण प्राप्त हुआ है। श्रीश्रीराधामाधव ने सखियों के साथ यमुनातट पर आगमन किया है। स्थान की कैसी अपूर्व शोभा है! कदम्बतरु की शाखायें सघन पुष्प-पल्लव आदि के भार से अवनत होकर पृथ्वी को छू रही हैं। कुसुम-सम्भार के परिमल से वृन्दावन परिपूरित है। कुसुमों के सौरभ से आकृष्ट होकर भ्रमरों के दल के दल पुष्पों के

गुच्छे-गुच्छे पर झङ्कार करते उड़ रहे हैं। कुसुम-मधुपान से उन्मत्त होकर वे केलिरस में मत्त हो गये हैं। कैसी अपूर्व नैसर्गिक शोभा है! श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है (वृ० म० ९/५०-५२)-

"नाना - रत्नमयस्थलीभिरमितामोदाभिरत्यद्भुतं
क्रीड़ाकुट्टिमकोमलाभिरमितं कुञ्जावलीमञ्जुभिः।
नित्योत्सर्पि - परागपुञ्ज - मकरन्दौघैर्महासुन्दरं
सान्द्रानन्द - महारसेन विवशीकुर्वत् सहेशं जगत्॥
कालिन्द्याः कलहंससारस - लसत्कारण्डवाद्यैः
खगैराश्चर्यैः परिघुष्टयाद्विजकुलैर्मत्तालिझङ्कारया।
कल्हारैः कमलैः सदा विकशितैदिव्यैर्विचित्रोत्पलै
र्भ्राजन्त्या पुलिनश्रिया मणितटोद्दीप्तश्रिया चावृतम्॥
तस्याः प्रोज्ज्वल निर्मलाद्भुत-रसान्दैकसन्दोह-वाः
पूरायास्तटरत्नभूमि - लसितोत्तुङ्गा कदम्बाटवी।
तत्संसर्गि सुगन्धमन्दशिशिरैर्मन्दानिलैर्लालिता
तत्राभाति निकुञ्जपुञ्जमुदयत्कन्दर्पपुञ्जं सदा॥"

'अपरिसीम आनन्ददायक नानारत्नमय स्थलों से, अति अद्भुत क्रीड़ाकुट्टिमों (चबूतरों) की कोमलता से, असीम कुञ्जराजि की मनोज्ञता से, नित्य उड़ते परागपुञ्ज से और मकरन्दसप्रवाह से महासुन्दर (बना) यह वृन्दावन-सान्द्रानन्दमहारस से ईश्वरसहित सारे विश्व को विवश कर रहा है।

कालिन्दी के कलहंस सारस और मनोहर कारण्डव (बत्तख) आदि पक्षियों द्वारा तथा इनके अतिरिक्त अन्यान्य आश्चर्यजनक विहगों द्वारा निनादित; मत्त भृङ्गों की झङ्कार से शब्दायमान; कमल, कल्हार, दिव्य विचित्र उत्पल आदि से शोभित पुलिन के सौन्दर्य से और मणिबद्ध तटों की प्रदीप्त शोभा से आवृत है यह वृन्दावन।

प्रोज्ज्वल निर्मल अद्भुत रसानन्दराशिरूपी जल से भरी कालिन्दी के तट पर रत्नभूमि पर ऊँचा कदम्बवन प्रकाशित है-यमुना के संस्पर्श से शीतल सुगन्धी मन्द वायु द्वारा यह कदम्बकानन स्निग्ध हो रहा है। उसी स्थान पर नित्य कामराशि-उद्दीपक निकुञ्जपुञ्ज दिखाई दे रहा है।'

ऐसे अपूर्व शोभासिन्धु में अवगाहन करते श्रीराधाश्याम महारङ्ग से विलास कर रहे हैं। युगल का कैसा अद्भुत रूप-लावण्य है; नानारस-केलिविलास में दोनों ही अति सुनिपुण हैं। दोनों के श्रीअङ्गों पर विविध मणिरत्नों के अलङ्कार शोभा पा रहे हैं। श्रीवृन्दावनमहिमामृत के उक्त श्लोकों के बाद ही वर्णित है-

"तत्रानङ्गारसोन्मदैकसहजावाश्चर्यकैशोर-

कावाश्चर्योज्ज्वलगौरनीलमधुराकारौ महामोहनौ।

वेणीदण्ड - शिखण्डमण्डित - महाचूड़ामणी हारिणी

राधा - माधव - नाम-नागरवरौलावण्यमूर्ती स्मर॥"

'उसी श्रीवृन्दावन में सहजरूप से अनङ्ग के ही रस में उन्मत्त, आश्चर्यजनक किशोर अवस्था वाले, आश्चर्यजनक गौरनीलाकृति, महामोहन, वेणीदण्ड और मयूरपुच्छ से शोभित मस्तकों पर महाचूड़ामणियाँ विराज रही हैं-ऐसे मनोहर श्रीराधामाधव नामक महालावण्यमूर्ति नागरश्रेष्ठ श्रीयुगलकिशोर का स्मरण करो।'

इसके पश्चात् श्रील ठाकुर महाशय "राधार दक्षिण कर.....नरोत्तम मनोरथ भरु" तक पद के अवशिष्ट अंश में श्रीराधामाधव की रसामृतमाधुरी का वर्णन करते हैं। श्रीगिरिधारी अपने बायें हाथ से राधारानी का दायाँ हाथ पकड़े मृदुमधुर भङ्गिमा के साथ चल रहे हैं। 'गिरिधर' का तात्पर्य यही है कि जिस बायें हाथ पर सात दिन सात रात अनायास गिरिराज धारण किये हैं, वही वाम बाहु इस समय प्रेममयी राधारानी के कण्ठ के स्पर्श के कारण आनन्द का भार न सह पाने से पुलकित-कम्पित हो रही है। सखियाँ युगल को घेरे पुष्प बरसा रही हैं, कोई-कोई चँवर झल रही है। पुष्पपराग से धूसरित, चन्द्रकिरणों से शीतल एवं उज्ज्वल मणिमय नृत्यवेदी पर श्रीराधामाधव एक-दूसरे का हाथ पकड़कर घूम-फिर कर नृत्य कर रहे हैं। परस्पर के स्पर्श से दोनों की देहें पुलकित हैं! चारों ओर से सखियाँ मृगमद-चन्दन आदि गन्धद्रव्य और गन्धराज पुष्प वर्षण कर रही हैं। नृत्यश्रम के कारण दोनों के मुखचन्द्रों पर नीलमणि और स्वर्णमणि के दर्पणों पर मुक्ताबिन्दुओं की तरह बिन्दु-बिन्दु श्रमजल शोभा पा रहा है। श्रीकृष्ण के नृत्यालस अधरों पर मुरली और नहीं बज रही। सखियों के साथ युगल के हास्यविलासरस एवं सहज सरल मधुर वाणी के माधुर्य से रासस्थल विमण्डित है!! दोनों अति नेत्र-विमोहन लीला दिखा रहे हैं। दोनों की विचित्र वेशभूषा है और कुसुमराजि से केशराशि परिशोभित है। श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय कहते हैं-(उनका) मनोरथ पूरा हो गया॥५२॥

आक्षेप

आजि रसे बादर निशि। प्रेमे भासल सब वृन्दावन वासी॥

श्याम घन बरिखये प्रेमसुधाधार। कोरे रङ्गिणी राधा बिजुरी सञ्चार॥

प्रेमे पिछल पथ गमन भेलो बङ्क। मृगमद चन्दन, कुंकुमे भेलो पङ्क॥

दिग विदिग नाहि प्रेमेर पाथार। डुबिलो नरोत्तम ना जाने साँतार॥५३॥

सुधाकणिका व्याख्या-

श्रील ठाकुर महाशय को श्रीश्रीराधामाधव के नृत्यरस का स्फुरण प्राप्त हुआ है। श्रीश्रीराधामाधव ने प्रेमवन्या में वृन्दावनवासियों को आप्लावित कर श्रील ठाकुर महाशय को भी मग्न किया है-उपसंहार के इस पद्य

में यही वर्णन कर रहे हैं। आज इस रासरजनी में श्रीवृन्दावन के आकाश में रस के बादल उदित हुए हैं। "रसो वै स:" "आनन्दं ब्रह्म" "रसानां रसतम:"-साक्षात् शृङ्गार रसराज श्यामसुन्दर ही ये रस-बादल हैं। मेघों की गोद में चपला शोभा पाती है; इस श्याम नवघन में स्थिर विद्युल्लता रासरसरङ्गिणी श्रीराधा सुशोभित हैं। राधाविद्युत से समालिङ्गित होकर श्याम नवजलधर प्रेमसुधाधारा बरसा रहे हैं। वर्षा के जल से वनपथ पिच्छल और कर्दमाक्त (कीचड़युक्त) हो जाता है; यहाँ प्रेमरस-वर्षण से श्रीवृन्दावन का पथ पिच्छलं हो गया है। पिच्छल युक्त मार्ग पर पथिक सीधी तरह नहीं चल पाता, वक्रपथ से चलना पड़ता है। उसी प्रकार वृन्दावन प्रेमरस-वन्या के कारण पिच्छल है, मृगमद चन्दन और कुंकुम से कर्दमाक्त हो गया है; प्रेमावेश के कारण वनपथ पर सखीमञ्जरियों का गमन वक्र हो गया है। श्रावण-मेघों की प्रचुरतर महावृष्टि से सर्वत्र जल-प्लावित हो जाता है, दिग्विदिक् का पता नहीं चलता। उसी प्रकार आज श्रीवृन्दावन में राधाविद्युत-समालिङ्गित श्याम-जलधर की महा प्रेमरसवृष्टि से प्रेम का सागर बन गया है। दिग्विदिक् समझ में नहीं आता। उसी प्रेम के समुद्र में श्रीनरोत्तम ठाकुर महाशय डूबे हैं, कारण-वे तैरना नहीं जानते। इससे प्रेम की मूर्ति श्रील ठाकुर महाशय की श्रीश्रीराधाकृष्ण-प्रेमरस वन्या में एकान्त निमग्नता समझ में आती है॥५३॥

❋❋❋

पण्डित श्रीमद् अनन्तदास बाबाजी महाराज सम्पादित बंगला एवं हिन्दी में प्रकाशित ग्रन्थावली—

हिन्दी में प्रकाशन —

१) श्रीश्रीराधारससुधानिधिः
२) श्रीश्रीकृष्णकर्णामृतम्
३) श्रीश्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिका
४) श्रीश्रीविलापकुसुमांजलि
५) माधुर्यकादम्विनी व रागवर्त्मचन्द्रिका
६) श्रीश्रीवृहद्भागवतामृत-मर्मानुवाद
७) श्रीशिक्षाष्टकम्
८) श्रीश्रीराधाकुण्ड महिमा व इतिहास
९) संसार कूपमें जीव की गति
१०) साधुमुखे हरिकथा (१,२ खण्ड)
११) गीत पंचकम्
१२) श्रीश्रीगौरगोविन्दलीलामृत गुटिका
१३) साधनभक्ति और उसकी महिमा

बंगला में प्रकाशन —

१) श्रीश्रीराधारससुधानिधिः
२) श्रीश्रीकृष्णकर्णामृतम्
३) श्रीश्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिका
४) श्रीश्रीविलापकुसुमांजलि
५) माधुर्यकादम्विनी व रागवर्त्मचन्द्रिका
६) श्रीश्रीवृहद्भागवतामृत-मर्मानुवाद
७) श्रीशिक्षाष्टकम्
८) श्रीश्रीराधाकुण्ड महिमा व इतिहास
९) संसार कूपमें जीव की गति
१०) साधुमुखे हरिकथा
११) गीत पंचकम्
१२)श्रीश्रीस्तवावली १ खण्ड (अनुवाद व व्याख्या सहित)
१३) श्रीश्रीस्तवावली २ खण्ड (अनुवाद व व्याख्या सहित)
१४) श्रीश्रीगीतपचंक
१५) साध्यसाधनतत्त्व विज्ञान
१६) श्रीश्रीगौरगोविन्दलीलामृत गुटिका
१७) श्रीश्रीनित्यानन्द महिमा
१८) साधन-भक्ति व तार महिमा
१९) तीन वांछा
२०) माधुर्यतत्त्व विज्ञान
२१) श्रीश्रीउत्कलिकावल्लरिः
२२) मंजरीस्वरूप-निरूपन
२३) भक्तिकल्पलता (१,२,३ स्तवक एकत्र में)
२४)श्रीराधिकाष्टोत्तरशतनाम स्तोत्रम् व श्रीराधिकाष्टकम्
२५) परतत्त्व-साम्मुख्य
२५) संकल्प-कल्पद्रुम
२६) रसदर्शन (रसतत्त्व का दार्शनिक विचार-पद्धति)
२७) भक्तिरस प्रसंग
२८) श्रीगुरुतत्त्व विज्ञान
२९) श्रीभक्ततत्त्व विज्ञान
३०) श्रीभगवत्तत्त्व विज्ञान
३१) श्रीकृष्णतत्त्व विज्ञान
३२) श्रीराधातत्त्व विज्ञान
३३) श्रीभक्तितत्त्व विज्ञान
३४) श्रीनामतत्त्व विज्ञान
३५) रागानुगाभक्ति विज्ञान
३६) प्रेमतत्त्व विज्ञान
३७) रसतत्त्व विज्ञान
३८) मजंरीभाव-साधन पद्धति
३९) दण्डमहोत्सव व श्रीरघुनाथ
४०) श्रीश्रीगुरुकृपा (१म खण्ड)
४१) श्रीश्रीगुरुकृपा (२ खण्ड)
४२) प्रयोजनतत्त्व-प्रेम
४३) भ्रमरगीत

पण्डित श्रीमद् अनन्तदास बाबाजी महाराज सम्पादित बंगला एवं हिन्दी में प्रकाशित ग्रन्थावली—

हिन्दी में प्रकाशन —

१) श्रीश्रीराधारससुधानिधिः
२) श्रीश्रीकृष्णकर्णामृतम्
३) श्रीश्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिका
४) श्रीश्रीविलापकुसुमांजलि
५) माधुर्यकादम्विनी व रागवर्त्मचन्द्रिका
६) श्रीश्रीवृहद्भागवतामृत-मर्मानुवाद
७) श्रीशिक्षाष्टकम्
८) श्रीश्रीराधाकुण्ड महिमा व इतिहास
९) संसार कूपमें जीव की गति
१०) साधुमुखे हरिकथा (१,२ खण्ड)
११) गीत पंचकम्
१२) श्रीश्रीगौरगोविन्दलीलामृत गुटिका
१३) साधनभक्ति और उसकी महिमा

बंगला में प्रकाशन —

१) श्रीश्रीराधारससुधानिधिः
२) श्रीश्रीकृष्णकर्णामृतम्
३) श्रीश्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिका
४) श्रीश्रीविलापकुसुमांजलि
५) माधुर्यकादम्विनी व रागवर्त्मचन्द्रिका
६) श्रीश्रीवृहद्भागवतामृत-मर्मानुवाद
७) श्रीशिक्षाष्टकम्
८) श्रीश्रीराधाकुण्ड महिमा व इतिहास
९) संसार कूपमें जीव की गति
१०) साधुमुखे हरिकथा
११) गीत पंचकम्
१२)श्रीश्रीस्तवावली १ खण्ड (अनुवाद व व्याख्या सहित)
१३) श्रीश्रीस्तवावली २ खण्ड (अनुवाद व व्याख्या सहित)
१४) श्रीश्रीगीतपचंक
१५) साध्यसाधनतत्त्व विज्ञान
१६) श्रीश्रीगौरगोविन्दलीलामृत गुटिका
१७) श्रीश्रीनित्यानन्द महिमा
१८) साधन-भक्ति व तार महिमा
१९) तीन वांछा
२०) माधुर्यतत्त्व विज्ञान
२१) श्रीश्रीउत्कलिकावल्लरिः
२२) मंजरीस्वरूप-निरूपन
२३) भक्तिकल्पलता (१,२,३ स्तवक एकत्र में)
२४)श्रीराधिकाष्टोत्तरशतनाम स्तोत्रम् व श्रीराधिकाष्टकम्
२५) परतत्त्व-साम्मुख्य
२५) संकल्प-कल्पद्रुम
२६) रसदर्शन (रसतत्त्व का दार्शनिक विचार-पद्धति)
२७) भक्तिरस प्रसंग
२८) श्रीगुरुतत्त्व विज्ञान
२९) श्रीभक्ततत्त्व विज्ञान
३०) श्रीभगवत्तत्त्व विज्ञान
३१) श्रीकृष्णतत्त्व विज्ञान
३२) श्रीराधातत्त्व विज्ञान
३३) श्रीभक्तितत्त्व विज्ञान
३४) श्रीनामतत्त्व विज्ञान
३५) रागानुगाभक्ति विज्ञान
३६) प्रेमतत्त्व विज्ञान
३७) रसतत्त्व विज्ञान
३८) मजंरीभाव-साधन पद्धति
३९) दण्डमहोत्सव व श्रीरघुनाथ
४०) श्रीश्रीगुरुकृपा (१म खण्ड)
४१) श्रीश्रीगुरुकृपा (२ खण्ड)
४२) प्रयोजनतत्त्व-प्रेम
४३) भ्रमरगीत